वर्ष 12, अंक 40, जनवरी -मार्च 2022

मूल्य
₹120/-

UGC Care Listed
त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

ISSN-2321-1504 Naagfani RNI No.UTTHIN/2010/34408

नागफनी

भाग- 1

अस्मिता, चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला साहित्य

नागफनी

A Peer Reviewed Referred Journal

(अस्मिता, चेतना और स्वाभिमान जगाने वाला साहित्य)

UGC Care Listed त्रैमासिक साहित्यिक पत्रिका

ISSN-2321-1504 Naagfani RNI No. UTTHIN/2010/34408

वर्ष 12,अंक 40,जनवरी - मार्च 2022 भाग 1

संपादक
सपना सोनकर

सह-संपादक
रूपनारायण सोनकर

कार्यकारी संपादक
डॉ. एन. पी. प्रजापति
प्रोफेसर बलिराम धापसे

अतिथि संपादक
प्रोफेसर दिनेश कुशवाह

सलाहकार मंडल (Peer Review Committee)

प्रोफेसर विष्णु सरवदे, हैदराबाद (तेलंगाना)
प्रोफेसर किशोरी लाल रैगर, जोधपुर (राजस्थान)
प्रोफेसर आर.जयचंद्रन तिरूअनंतपुरम (केरल)
डॉ. एन. एस. परमार, बड़ोदा (गुजरात)
डॉ. दिलीप कुमार मेहरा, बी.बी. नगर (गुजरात)
प्रोफेसर विजय कुमार रोड़े, पुणे (महाराष्ट्र)
प्रोफेसर संजय एल. मादार, धारवाड (कर्नाटक)
प्रोफेसर गोविन्द बुरसे, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
डॉ. दादासाहेब सालुंके, औरंगाबाद(महाराष्ट्र)
प्रोफेसर अलका गड़करी, औरंगाबाद (महाराष्ट्र)
डॉ. साहिरा बानो बी. बोरगल, हैदराबाद (तेलंगाना)
डॉ. बलविंदर कौर, हैदराबाद (तेलंगाना)
डॉ.उमाकांत हजारिका,शिवसागर (असम)

मुख पृष्ठ- डॉ.शेख आजम,मैत्री ग्राफिक्स,सावंगी (ह),औरंगाबाद

प्रकाशन/मद्रण

प्रकाशक रूपनारायण सोनकर की अनुमति से डॉ. एन. पी. प्रजापति एवं प्रोफेसर बलिराम धापसे द्वारा
नमन प्रकाशन 423/A अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली 11002 में प्रकाशन एवं मुद्रण कार्य

संपादकीय / व्यवस्थापकीय कार्यालय

दून व्यू काटेज स्प्रिंग रोड, मसूरी-248179, उत्तराखण्ड दूरभाष: 0135-6457809 मो. 09410778718

शाखा कार्यालय

पी.डब्ल्यू. डी.आर-62 ए, ब्लाक कालोनी बैढ़न, जिला-सिंगरौली म.प्र. 486886, मो. 097529964467

सहयोग राशि-150/- रुपये, वार्षिक सदस्यता शुल्क (संस्था के लिए)-1000, रुपये पंचवार्षिक सदस्यता शुल्क (व्यक्ति के लिए)-2000/- रुपये
पंचवार्षिक संस्था और पुस्तकालयों के लिए 3000/- रूपये, विदेशों में $50 आजीवन व्यक्ति 6000/- रुपये 10000/- रुपये

सदस्यता शुल्क एवं सहयोग राशि-इंडिया पोस्ट पेमेंट बैंक AC8367100138282 IFSC Code-IPOS0000001,Branch -SIDHI(NIRAT Prasad Prajapati)

नोट:- पत्रिका की किसी भी सामग्री का उपयोग करने से पहले संपादक की अनुमति आवश्यक है। संपादक - संचालक पूर्णतय: अवैतनिक एवं अध्यावसायिक है। **नागफनी'** में प्रकाशित शोध-पत्र एवं लेख, लेखकों के विचार उनके स्वंय के हैं, जिनमें संपादक की सहमति अनिवार्य नहीं। **"नागफनी"** से संबंधित सभी विवादास्पद मामले केवल देहरादून न्यायालय के अधीन होंगे। अंक में प्रकाशित सामग्री के पुनर्प्रकाशन के लिए लिखित अनुमति अनिवार्य है। सारे भुगतान मनीआर्ड बैंक/चेक/ बैंक ट्रांसफर /ई-पेमेन्ट आदि से किये जा सकते हैं। देहरादून से बाहर के चेक में बैंक कमीशन 50/- अतिरिक्त जोड़ दें।

नागफनी
वर्ष-12 अंक 40, जनवरी-मार्च 2022 Volume-I

अनुक्रम पृष्ठ क्रमांक

संपादकीय 1

English

1. Serious About Fatness: A Critical Reading of Fay Weldon's *The Fat Woman's Joke*-Mr. Satyabrata Malik, Dr Bindu Singh 2-6
2. The Impact of Traditional Games on Enhancing Physical Fitness: An Analytical Study of North Eastern States' Athletes- Mohit Morya, Dharmander Kumar, Rishabh Singh, Dr. Kunal 7-15
3. Feminist Facets: Subverting Patriarchy in Girish Karnad's *Naga-Mandala*-Upakul Patowary, Dr. Jeuti Talukdar 16-19
4. Health and Nutrition Status of Scheduled Tribes Community-Neetu Punetha, Dr Lata Pandey 20-23
5. Traversing Existential Chaos and Absurdity: Navigating Manasi's Pragmatism vs. Indrajit's Rebellion in Badal Sircar's Absurdist Play *Evam Indrajit*-Harneet Kaur 24-27
6. A Study of Early Childhood Care and Education from the Parent's Perspective in the context of National educational policy, 2020-Shikha Kothari (Raturi), Dr. Tanuja Melkani 28-34
7. Harvesting Humanity: Organ Trade Dynamics and Its Detrimental Ramifications in Manjula Padmanabhan's Dystopian Play *Harvest* -Dr. Suruchi Sharma 35-38
8. Stress Factors and its Management Among the Working Peoples-Dr Subash Chand 39-43
9. Retranslation: Text and Context—Towards a Pedagogy of Literary Translation-Dr Bindu Singh 44-48
10. Conception of Women Liberation in the Feminist Writings of Margaret Atwood-Dr. Vijay Singh Mehta 49-52
11. Shakuntala: A Paragon, Submissive, or the Woman Wronged- Shruti Pareek 53-55
12. The Paradox of Hybrid Inheritance in Derek Walcott's "A Far Cry from Africa"-Dr. Suresh Frederick 56-58
13. Environmental Consciousness among Primary School Teachers-Vinita Rani, Prof. B. R. Kukreti 59-72
14. The Politics of Alienation: Ethnic and National Identities in Rohinton Mistry's *Such a Long Journey*-Dr. Naveen Kumar Vishwakarma 73-76
15. The Magical Power of Language in Yoga: A Semantic Appraisal-Vijay Laxmi Rai 77-82
16. Monsters and Mothers: Maternal Sacrifice in Kashmiri Folktales -Adil Hussain, Dr Khursheed Ahmad Qazi 83-88
17. *Laburnum For My Head*: An Appraisal-Dr. Najmul Hasan 89-95
18. A Study of Relevance of Constructivist Approach for Teachers-Kamaljeet Kaur, Prof. VR Dhoundiyal 96-101
19. Material Evidence and its Operational Challenges in Criminal Trials in Indian Legal System-Dr. Sonam Y. Bhutia 102-108
20. A Study of Moral Ethics and Life Skills in *Panchatantra*-Dr. Rachana 109-112
21. Stylistics and Narratology: A Blended Approach to Selected Lyrics by William Blake-Pijush Bhadra 113-118
22. Chasing the Unattainable: Lacanian Desire & Real in Narayan's *The English Teacher* and *The Painter of Signs*-Dr Khursheed Ahmad Qazi 119-126
23. Informal Sector in India and the Policies-Dr. Ashok Kumar Maurya, Dr. Sunil Kumar Maurya 127-129
24. Gogamedi: Exploring Heroic Abode of Divinely Goga in Medieval Rajasthan-Dr. Mayurakshi Kumar 130-132
25. Molestation and Maternal Missteps: Mala's Misery in Mahesh Dattani's *Thirty Days in September*-Dr. Kusum Kangar 133-136
26. Folktales as a Source of Morality: A Comparative Study-Dr. Rohit Raj 137-142
27. Swami Vivekananda's Teachings, Philosophies and Missions-Dr. Mamta Rani 143-147

साहित्यिक विमर्श

1. साहित्य क्या है-ज्योति चव्हाण 148-149
2. रामानुजाचार्य सम्मत भक्ति में कर्म और ज्ञान की उपयोगिता -डॉ. महीप कुमार मीना 150-153
3. गुरू ग्रंथ साहिब में संकलित संत कवि -डॉ.दीपिका वर्मा 154-156
4. समकालीन महिला नाटककारों के नाटको में अभिव्यक्त सांस्कृतिक चेतना -डॉ. राकेश डबरिया 157-159
5. लोक साहित्य और लोक परम्परा में लोकदेवता - डॉ. दिनेश बिवाल 160-162
6. संस्मरण कला की कसौटी पर देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'यादों के काफिले' - सुगन्धि गुप्ता 163-166
7. गया जिला 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का हिन्दी काव्य के विकास में योगदान-नचिकेता वत्स, प्रो. सुरेश चन्द्र 167-170
8. गोविंद मिश्र के कथा साहित्य में महानगरीय बोध- नीतीश कुमार 171-173
9. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में शिवपूजन सहाय का अवदान-कुमारी सोनी 174-176
10. हिंदी सिनेमा पर महात्मा गाँधी के विचारों का प्रभाव -नीरज कुमार 177-181
11. वैदिक वाङमय में वर्णित गुरू-शिष्य सम्बन्ध की वर्तमान में उपादेयता- रेवती मेहता, प्रोफेसर शालिनी शुक्ला 182-184

नागफनी
वर्ष-12 अंक 40, जनवरी - मार्च 2022 Volume-I

अनुक्रम पृष्ठ क्रमांक

12. प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना एक व्यवसायिक प्रशिक्षण-डॉ.कोकिल 185-187
13. हरिशंकर परसाई के रचनाओं में व्यंग्य-डॉ.राजकुमार एस.नाईक 188-190
14. वर्तमान समय में हिन्दी भाषा का महत्त्व-डॉ.शिखा रानी 191-194
15. भारतीय ज्ञान-परम्परा के सतत प्रवाह की संवाहिका कृति 'श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण': एक अमूल्य वैश्विक धरोहर-डॉ. राजीव रंजन,डॉ. अवधेश प्रताप सिंह 195-200
16. रेडियो नाटक की रचनाधर्मिता का शिल्पगत वैशिष्ट्य-सोहन कुमार 201-204
17. हिंदी के विद्यार्थी बनाम 'सेल्समैन'-मनोजकुमार शर्मा (अवशेष) 205-205
18. भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में श्रीमद्भगवद्गीता-डॉ शालिनी मिगलानी 206-208
19. वंदना टेटे के काव्य में आदिवासी जीवन का यथार्थ -ज्ञान्ती, प्रोफेसर सुरेश चन्द्र 209-212
20. औपनिवेशिक भाषा विमर्श और भारतेन्दु हरिश्चंद्र का भाषा चिंतन-सर्वेश कुमार 213-215
21. प्रसाद की कहानियों में संदेश-मनोजकुमार सुभाष शर्मा 216-219
22. बनारस की लोक-सांस्कृतिक विरासत: नाग-नथैया लोक-नाट्य-प्रियंका राजेन्द्रप्रसाद चौहान 220-223
23. औपनिवेशिक काल में प्रतिबंधित हिंदुस्तानी साहित्य में सोज़े-वतन-दिवेश कुमार चंद्रा 224-226
24. माखनलाल चतुर्वेदी के कहानियों में राष्ट्रीय चेतना-डॉ.राजकुमार एस.नाईक 227-228
25. आधुनिकता के संदर्भ में राम-मनु पाण्डेय 229-231
26. रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आँचलिकता-डॉ. अनिरुद्ध कुमार 232-234

स्त्री विमर्श

1. मेघ सिंह 'बादल' के उपन्यासों में नारी की स्थिति-सोनाली राजपूत, प्रोफेसर सुरेश चन्द्र 235-238
2. 'जया जादवानी' की कहानियों में स्त्री चेतना का स्वर-सुमन कुमारी 239-247
3. भारतीय हिंदी सिनेमा में स्त्री बदलता का स्वरूप -राकेश कुमार त्रिपाठी 248-251
4. तीसरा आदमी : उत्तर आधुनिकता एवं स्त्री विमर्श-प्रमांशु यादव, प्रभा साह 252-255

आदिवासी विमर्श

1 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी में आदिवासी दृष्टि-पवन कुमार 256-259
2 आदिवासी जीवन में व्याप्त विषमताओं को उकेरता 'जंगल की ललकार' -सायरा बानो 260-263
3 आदिवासी साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्न -कुलदीप कुमार गौतम 264-266
4 आत्मकथा के बहाने आदिवासी साहित्य से साक्षात्कार-डॉ. विनोद कुमार 267-270
5 समकालीन आदिवासी हिन्दी कविता: लोक जीवन और साहित्य का बदलता स्वरूप-प्रफुल्ल कुमार रंजन 271-275
6 'आदिवासी संस्कृति और आंदोलन' ग्रंथ आदिवासी वर्ग की आचारसंहिता --डॉ. गोरख निळोबा बनसोडे 276-278

अन्य विमर्श

1. उपयोगकर्ताओं को सूचना सेवाएँ प्रदान करने में विशिष्ट कृषि पुस्तकालय की प्रभावशीलता का विश्लेषणात्मक अध्ययन-राम प्रसाद कुर्रे, डॉ.कल्पना चंद्राकार 279-287
2. कोविड-19 लॉकडाउन के दौरान कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय में पुस्तकालय सूचना संसाधनों और सेवाओं के साथ उपयोगकर्ता संतुष्टि की खोज : एक व्यावसायिक परीक्षा -हर्षा एम.पाटील, डॉ.कल्पना चंद्राकर 288-300
3. व्यावसायिक संरचना का अध्ययन जनपद उधम सिंह नगर के विशेष संदर्भ में -रेखा देवी, डा. पूनम शाह गंगोला 301-303
4. स्थानीय स्वशासन में ग्रामीण महिलाओं की भूमिका (जनपद पिथौरागढ़ के विकास खंड डीडीहाट के विशेष संदर्भ में)-रेनू भंडारी 304-309
5. अधिक समावेशी समाज की ओर: जगदगुरू रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय में दिव्यांग सशक्तिकरण के लिए पुस्तकालय सेवाओं का महत्व - श्रीमती रेनू कपूर 310-320
6. सार्वजनिक पुस्तकालय: सामाजिक परिवर्तन और विकास के उत्प्रेरक-तृप्ति ताम्रकर, डॉ. कल्पना चंद्राकार 321-326
7. पर्यावरण चेतना के विकास में 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका का योगदान --रूचि कुमारी, प्रोफेसर सुरेश चन्द्र 327-329

नागफनी
वर्ष-12 अंक 40, जनवरी - मार्च 2022 Volume-I

अनुक्रम पृष्ठ क्रमांक

8. शिक्षा के नए आयाम: भारतीय भाषा दर्शन और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020-रौशन सिंह 330-332
9. राष्ट्र एवं समाज के निर्माण में संस्कृत की भूमिका-डॉ.सुनिता मीना 333-335
10. भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में कारण और कार्य के मध्य 'सम्बन्ध' का दार्शनिक विश्लेषण-डॉ. दीपक कुमार गुप्ता 336-338
11. भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन : डॉ.भीमराव अम्बेडकर की भूमिका –श्वेता सिंह 339-341
12. प्राथमिक स्तर पर अधिगम परिणामों के विकास का विश्लेषणात्मक अध्यन –मोर पाल सिंह , प्रो. रूचि हरीश आर्या 342-348
13. यौगिक अभ्यासों का महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन- श्वेता कुर्रे, डॉ- सुनील कुमार मिश्र 349-353
14. औपनिवेशवाद के दौरान नगरीकरण का प्रारूप नगर अल्मोड़ा-हेम चन्द्र आर्या, डॉ.महिराज मेहरा 354-356
15. अँधेरे तले प्रकाश की तलाश करती कविताएँ-विनीता सिंह 357-359
16. अम्बेडकरवादी साहित्य और डॉ.तेज सिंह-विष्णु 360-362
17. 'दिव्या' उपन्यास में चित्रित नारी-चेतना का आधुनिक रूप-रामचंद्र मीणा 363-365
18. ग्रामीण भारत के उन्नयन में स्वामी सहजानंद सरस्वती की भूमिका-अनन्त कुमार राय 366-371
19. आपातकाल का आत्मकथ्य-डॉ. प्रदीप कुमार सिंह 372-374
20. उपन्यास की लोकप्रियता और पाठक समुदाय-डॉ. कानाराम मीणा 375-377
21. समकालीन कविता में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर- समकालीन कविता में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर 378-381
22. महाभारत आधारित भास कृत रूपकों में रस-डॉ. संजीव कुमार सिंह 382-385
23. महाकाव्य महाभारत में नैतिक दुविधाओं का दार्शनिक अन्वेषण-डॉ.प्रियंका मिश्रा 386-388
24. औपनिवेशिकता और स्त्री-प्रसंग : खानाबदोश ख्वाहिशें -अनामिका 389-394
25. भारतीय उपमहाद्वीप में शास्त्रीय नृत्य भरतनाट्यम् एवं कथकलि का उद्भव एवं विकास-डॉ.कुन्दन कुमार 395-403

संपादकीय .....

जन्म से लेकर मृत्यु तक के संबंधित सारे कार्यक्रम पंडितों, पुरोहितों द्वारा कराए जाते हैं। यह एक हिंदू प्रथा बन गई है। यह एक ऐसी अभेद परंपरा बन गई है किसको तोड़ना बड़ा मुश्किल है। शादी ब्याह बिना पंडित के मंत्रोच्चारण के पूरे नहीं होते हैं। यह एक ऐसा अंध विश्वास है जो हिंदू समाज में फैला हुआ है। कुछ ज्ञानवान लोग जिनको बुद्धिजीवी कहा जाता है वे जीवन भर इनका विरोध करते है। लेकिन अंत में उन्ही धार्मिक कर्मकांडों में फंस जाते हैं। लव मैरिज और लिविंग इन रिलेशनशिप का दौर चला है युवा उन अंधविश्वास से भरी सामाजिक रीति रिवाजों, कुप्रथाओं और रूढ़ीवादी परंपराओं को ठुकराने लगे हैं। उनके अंदर विज्ञान से भरी सोच उफान ले रही है। वे लोग कुछ नया करके इतिहास बनाना चाहते हैं।

आज का युवा रूढ़िवादी, पुरातन और अवैज्ञानिक सोच से बाहर निकल रहा है। वह नवीनतम और विज्ञान से ओतप्रोत विचारों को अपना रहा है। वह एकदम नवीन समाज का निर्माण कर रहा है। उनके इन विचारों से पुरानी पीढ़ी आहत हो सकती है। अब युवाओं ने शादी रचाने की एक नवीन परंपरा डाली है। वे लोग पंडित द्वारा पोथी पत्रा पढ़वा कर शादी नही रचा रहे हैं। वे लोग डॉक्टर अंबेडकर द्वारा रचित संविधान की समानता, मौलिक अधिकारों की धाराएं और प्रिएंबल का पाठ करा कर शादी कर रहे हैं। यह एक क्रांतिकारी समाज को बदलने वाला कदम है।

मैंने अपने उपन्यास सूअरदान में ब्राह्मण लड़कियों की शादियां, दलित और पिछड़े वर्ग के युवाओं से उपरोक्त तरीके से कराई हैं। मेरे उपन्यास का असर यह हुआ कि लखनऊ वि वि के पिछड़ी जाति के युवाओं और युवतियों ने डॉक्टर अंबेडकर के संविधान की समानता, मौलिक अधिकारों की धाराएं और प्रिएंबल का पाठ करके शादी संपन्न कराई। पुरोहित की भूमिका लखनऊ वि वि के प्रोफेसर श्री कालीचरण स्नेही ने निभाई। यह मेरे और दलित व पिछड़े समाज के लिए गर्व का विषय हो सकता है। सूअरदान उपन्यास में वर्णित शादी प्रकरण का तेजी से पालन किया जा रहा है।

रुपनारायण सोनकर.....!

English

Serious About Fatness: A Critical Reading of Fay Weldon's *The Fat Woman's Joke*

-Mr. Satyabrata Malik
Research Scholar,
Department of English
Banaras Hindu University
Email – kpsatya22@gmail.com

-Dr Bindu Singh
Assistant Professor,
Department of English
Mahila Mahavidyalaya, Banaras Hindu University
Email- bindusingh@bhu.ac.in

Abstract

In deconstructing stereotypes, the British writer Fay Weldon exposes the adverse effect of archetyping in the contemporary world. Weldon's disobedient female protagonists-madwoman and outcasts- assert the power of the Other and makes the readers view critically forms of idealised female bodies that are constructed as well as endorsed through the agencies of mass culture and media. The following discussion of *The Fat Woman's Joke* illustrates how Fay Weldon debunks the sexual objectification by situating a fat woman as the principal protagonist of the novel and giving it a subversive twist.

Keywords: Diet, Female Fat, Gluttony, Obesity

The Fat Woman's Joke in acerbic and comic overtones probes into the profound anxiety of people – made conscious of their bodies. Being born a female involves women in the prescribed norms of physical appearance, facial features; the shape of one's body defines their identity. The agencies of culture also encourage notions of the female body as measured in terms of vital statistics. The shape of men's clothing conceals body forms and hides bulges, while women's clothing is designed to reveal the shape of the body. This knowledge deeply embedded in our cultural ethos causes an obsession with shape in a large population. Women are supposed to conform to the norms of appearance laid by their cultures. Appearing demure, delicate, meek, receptive, domestic, and most importantly looking pleasantly attractive makes them worthy of attention. Fatness through the ages is considered a bane of feminine existence. Fat women are looked down upon as stupid, laughable, or as one who has a larger appetite or is responsible for their sagging shapeless bodies. Naomi Wolf notes:

> …female fat is the subject of public passion and women feel guilty about female fat because we implicitly recognize that under the myth, women's bodies are not our own but society's and that thinness is not private aesthetics, but hunger, a social concession exacted by the community. A cultural fixation on female thinness is not an obsession about female beauty but an obsession about female obedience. Women's dieting has become what Yale psychologist Judith Rodin calls a "normative obsession", a never ending passion play that gave international coverage out of all proportion to the health risks associated with obesity and using emotive language that does not figure even in discussions of alcohol or tobacco abuse. The nations seize with compulsive attention on this melodrama because women and men understand that it is not about cholesterol or heart rate or the disruption of a line of tailoring, but about how much social freedom women are going to get away with or concede. [1]

The protagonist Esther in *The Fat Woman's Joke* is married to Alan and as a wife and mother to a son she played the role of a perfect housewife. Exposure to friends possessed with perfect shapes makes the couple conscious of their growing fat. The couple in deep frustration practice dieting, but not gaining any imme-

diate result aggravates their frustration and manifests in their frequent quarrels and bitter exchange. Weldon makes us see the different ways men and women (housewives) respond to obesity. While Alan deviates his attention to his secretary, Esther grows more introverted, bored because dieting – special diets have taken away from her the past time of elaborate cooking, recipes that earlier gave her a sense of worth. Ultimately when she discovers that her husband is unfaithful to her, she deserts him and goes on a sudden spree of gluttony in a London basement hideaway. Fay Weldon replays in flash-back fashion the steps that have led this fat woman to her downstairs lair.

Esther's narrative is infused with images of ennui and inertia, pigeonholed in a basement. The legs she beholds walking past, from the bars of her basement window belonged to strangers with whom she would have no connection. This is a state of intense forlornness as if Esther is waiting for the same daily routine to begin and end when 'she would wake and get up, and make herself a cup of cocoa and eat a piece of chocolate cake, icing first."[2] Weldon's syntax in one breathless sentence evokes images of greasy rich items and sweet, sweetened drinks are ushered:

> She ate frozen chips and peas and hamburgers and sliced bread with bought jam and fishpaste, and baked beans and instant puddings, and tinned porridge and tinned suet pudding, and cakes and biscuits from packets. She drank sweet coffee, sweet tea, sweet cocoa, and sweet sherry. (7)

Women's condition has been considered a trap, kind of a slow death of the self like being buried alive. Weldon's Esther feels that she is trapped in her body, marriage, and house. She challenges her known universe by challenging her husband lusting after his nubile secretary. Her middle-class world collapses and she leaves to be holed up in the dark and damp flat at Earls Court, eating her way through her food cupboards, reading science-fiction, and watching television. Images of entrapment describe her situation. Her days are passing by gorging on foodstuff realizing and remembering that the act of cooking had once been almost as absorbing as the act of eating. Her eating can be viewed as an act of rebellion rather than simple gluttony.

She recalls it had been her husband's idea that they went on a diet. Together they would fight middle-age flab and feel young again. It was the diet that had made Esther leave home. When her husband and she decide to go on a diet she is relieved from the banality of household jobs but is suddenly engulfed with the feeling of uselessness, reflecting on her life she finds nothing substantial. The lack of food had made her see things very clearly and she had looked at her life — the daily dusting, sweeping, cooking, washing-up — and found it all pointless. Esther's story unfolds further in the conversation with Phyllis and as the story moves forward many more narratives of Susan and Brenda grow simultaneously and we have a larger view of Esther's past and present. Narrating her true story to her dainty, thin, pretty and "feminine" friend Phyllis, the reason behind the dissolution of her marriage to Alan, she states:

> Alan and I were accustomed to eating a great deal, of course. We all have our cushions against reality: we all have our little treats to look forward to...with Alan and me it was eating food. So you can imagine how vulnerable a diet made us."(17)

Alan insists that they go on a diet which starves them not only physically, but emotionally and psychologically as well, since their daily phone conversations had been serious discussions about what they were to enjoy for dinner together in the evening, an activity they both relished. Esther, like a traditional housewife, would devote her entire afternoons to creating tasteful, if not gourmet foods, while Alan was at the office. Preparing, tasting, and eating could be considered the basis of their relationships, and to withdraw the main substance of their lives did indeed have serious consequences for each of them. On a diet, Alan is depicted as being not only easily irritated and light-headed due to hunger but changed and vulnerable to Susan, his seductress/secretary that he seems drugged and does not consider himself responsible for his ac-

tions.

Esther, on the other hand, becomes more emotional, bored, insecure, and "paranoiac" about herself since she is trying to please her husband and keeps scrutinizing her faults in anticipation of Alan's opinion. Talking to Phyllis, she reflects:

> One of the terrible things about marriage is the dread of change that goes with it...any change and you begin to worry. Either Alan wanted me to be thin because he was fancying his secretary, or he wanted me to be thin because he was ashamed of me the way I was. Either way, he wanted me to be different from what I was, and this to me seemed the most devastating insult. (43)

After so many years of intimacy with Alan, Esther is hurt by his apparent criticism and rejection of her external appearance. Esther believes that her husband's love for her and his acceptance for her should not be altered at this point in their relationship, but rather should grow stronger and more secure because that was what she had been offering him all along.

While relating her conditions to Phyllis the reasons that ultimately led her to leave her home Esther realizes that men do not make women happy but they make them unhappy. She hated Alan's writing because after coming back from office he had his dinner and went into the bedroom and took out his typewriter, least bothered about Esther. She questions:

> And what would he have done if I'd gone off myself and typed in the evenings? He wouldn't have stood for it. That's another of the rules of marriage. Husbands can snub wives but wives aren't allowed to indulge themselves in artistic endeavors: wives can only do so in secret when husbands are out of the house. Wives are a miserable lot. I shall never be a wife again. (75-76)

Listening to her, Phyllis suggests that she consult a doctor because it was very unnatural and unfeminine to think so. In fact, she blames her unsupportive attitude for pushing Alan into infidelity. But Esther points to the fact that his whole creative pursuit was an act of aggression done to annoy her and he wanted to demonstrate that she had stifled his talents and his personality. He used to eat his dinner hurriedly as if gobbling it down his throat pretending not to notice what she had prepared and then announce in a challenging tone "I am going away to write now. I do not want to be disturbed —" (76) He baited her to ask questions but she did not so he had to go on writing and before he knew what had happened, he had finished. Esther comments that Alan should be grateful to her but "he preferred to believe he had done it all in spite of me and not to spite me, as was the truth.' (76)

Like the madwoman in the attic in the nineteenth-century novel, the figure of the isolated woman going mad 'despite husband or children or rather because of them' is an arresting image that prompts questions about the links between the society in which the woman lives and her precarious state of mental health. The image of Weldon's gargantuan compulsive eater, Esther who is disappointed by her expectations of marriage suggests that madness is not a purely individual phenomenon rather an involuntary response to the pressures which all women experience. Breakdown in this novel has a complicated relationship with femininity. The focus on conforming to traditional sex roles represented an act of "domestic containment". Some women, in reality, may not be only oppressed because of their diagnosed madness, but their madness may have been caused by oppressive and dominating societal institutions. Women learn that their life choices are limited — they are supposed to find love, marriage, have children, and provide service in the domestic sphere; traditionally definitions of femininity.

There is no doubt that the problematical relationship Esther has with her own body is because of the constraints of the patriarchal society. Observing the drift of contemporary culture, Judith Butler says "the female body is a region of cultural unruliness and disorder"[3] which is contained/ controlled by prescribing definite size, shape, and nature to the female body that women are forced to emulate. Esther however comes to this recognition and revolts against it and

resolves not to repress her desires. But going against the grain has fallout. She swings to the side of consumption and rebels against the tyranny of slenderness. Moreover, she also rejects eighteen years of married life and flees to an Earls Court basement. She gives up an unfaithful husband, an indifferent son, and the endless drudgery of housework only to find, as is usually the case in the early feminist fictions of the 1960s, that there is no way out for her: no alternative work, no love interest or supportive community for women. Her only relief lies in trash food. Esther's single-minded dedication to the consumption of trashy fattening food is a desperate attempt to fight the image of the desirable female body inscribed upon womanhood by gorging food and bulging like a balloon.

The psychological damage caused by the socialization to be a 'good wife' depresses Esther to the extent that she goes to the extreme and abandons her home and domestic duties. She tries to foster rebellion by revealing the contradictions of the feminine mystique to her friend Phyllis. Using the example of making curry from scratch, Esther explains to Phyllis the primary purpose of domestic tasks is to fill time: "it keeps woman occupied, and that's important" (72). Otherwise, women might revolt. Esther couches this rebellion in terms of laughter: "If they had a spare hour or two they might look at their husbands and laugh, mightn't they?"(72) The implication is that laughter will diminish men's authority, thereby upsetting not only the domestic balance of power but also the social order. As Regena Barreca notes, "the unsolicited laughter of women spells trouble to those in power." [4]

The breakdown of Esther's marriage had other reasons as well. Alan considers himself superior to her as he is the breadwinner of the family. He is least concerned with having a partnership with his wife and more focused on his personal affairs like writing his novel which is ultimately rejected by the publisher. He feels that marriage and family life stifled his creativity and dashed his hopes of being an artist. He confesses to Susan, "Then I married. You have to earn a living. Once you embark on family life it is too late to do anything else. Thoughts of self-expression fly out the window." (56) The narrative tone is infused with a sense of irony in describing Alan's growing assumption of himself as an immensely creative artist. Weldon keenly observes the psychopathology of the couples on diet. Starving brings about in the famished husband deep frustrations and grouses about not being able to fulfil his ambition. The conscious self-discipline — withholding him from the temptation of good sumptuous meals results in bouts of rage. Esther, being his wife, has to be the recipient of his aggression. In a fit of anger once he grabs Esther's throat and squeezes so hard that she sustains bruises on her neck. Moreover, after choking her he leaves her lying on the floor gasping for breath. In presenting Alan's callous sexism and misogyny Weldon sees him as representing the middle-class patriarchy. In his opinion women rely and are dependent on men for value, status, and worthiness in society as he indifferently comments, "Women are only considered to exist through the merit of their relationships" (77) and he believes that wives need husbands more than husbands need wives. The male misogyny thus unleashed creates strong resentment in Esther:

In the end, the narrative closes with the fat woman or Esther returning home with her husband. There is no escape from the closed circle life as she has no other option and no sister's solidarity supporting her. She has no alternative option but to return to her old life and the same kitchen sink. John Berger says:

> to be born, a woman has been to be born, within an allotted and confined space, into the keeping of men, the social presence of woman has developed as a result of their ingenuity in living under the tutelage within such a limited space.[5]

Women, as Weldon sees, are hostage to the myth created by the patriarchal discourse of power and imagination. The "doublethink" involved in women places them in contradictory situations. They may be free as human beings, but invariably heckled and bound in terms of set attributes that appropriate male desire. The Fat Woman's Joke has invited several percep-

tions; one of the most insightful is Maroula Joannou intertextual "seeing" of Margaret Atwood's The Edible Woman and Fay Weldon's The Fat Woman's Joke:

> Consumption of junk food is Esther's way of coping with her husband's serial adultery, and she became a compulsive eater after her children left home. Anorexia is for Marion in The Edible Woman what compulsive eating is for Esther in The Fat Woman's Joke. Marion instinctively turns away from meat, which is a trope for marriage and the ritual exchanges of women, at the same time as she turns away sexually from her fiancé. The novel finishes with her baking a pink cake in the shape of a woman, which she devours as a symbolic victory over the feminine body-shape... [6]

Atwood's The Edible Woman's concerns with anorexia complement Weldon's explanation of the issues that beset female existence. In fact, eating disorder is mostly seen in women and is the result of stress and strain mostly imposed by the culture of media, films, and advertisements that abound in the representation of the "most desirable woman" as perfectly shaped, sexually attractive — an ideal partner. In compulsive eating disorder that Esther undergoes reveal that often food functions as a 'symbolic language' and that 'appetite as voice' rendered an idiom for women to say things about themselves.[7] Finding no outlet for their emotions or seeking ways to protest but not finding any, frustrated, they indulge in excessive eating – something within their reach to do. Weldon's story of Esther is a discourse on the traps of "femininity" and female roles made stable as the product of the conspiracy of culture.

References

1. Noami Wolf. *The Beauty Myth*. London: Vintage, 1991. p. 187.

2. Fay Weldon. *The Fat Woman's Joke.* Great Britain: Hodder and Stoughton,1982. p.7. Subsequent references are to this edition.

3. Sara Salih and Judith Butler. Ed. *The Judith Butler Reader.* Oxford: Blackwell Publishing, 2004. p. 106

4. Regena Barreca. *Untamed and unabashed: Essays on women and humour in British Literature*. p. 22.

5. John Berger. *Ways of Seeing.* London: BBC and Penguin, 1997. p. 46

6. Maroula Joannou. Contemporary women's writing: From the golden notebook to the color purple. Manchester University Press, 2000. p. 20-21.

7. Joan Jacobs Brumberg quoted in Noami Wolf's *The Beauty Myth*. London: Vintage, 1991. p. 188

******

The Impact of Traditional Games on Enhancing Physical Fitness: An Analytical Study of North Eastern States' Athletes

-Mohit Morya
Department of Physical Education and Sports Science
University of Delhi
Delhi, India
E-mail: Mohitmorya121@gmail.com

-Rishabh Singh
Department of Physical Education and Sports Science
University of Delhi
Delhi, India
E-mail: rishabhsingh1792@gmail.com

-Dharmander Kumar
Associate Professor in Indira Gandhi Institutes of Physical Education and Sports Sciences
University of Delhi
Delhi, India
E-mail: dharamigipess@yahoo.in

-Dr. Kunal
Assistant Professor
Department of Physical Education
Satyawati College evening
University of Delhi
Email:
Kunal.phy.edu@satyawatie.du.ac.in

Corresponding Authors: Dr. Kunal, E-mail: Kunal.phy.edu@satyawatie.du.ac.in, Dharmander Kumar, E-mail: dharamigipess@yahoo.in

Abstract: *This paper delves into the significant role traditional games play in promoting physical fitness among the populations of North Eastern states in India. With a rich cultural heritage and diverse traditional practices, these states offer a unique perspective on how indigenous games contribute to physical health and athletic performance. Utilizing data from a comparative analysis of 50-meter dash times among athletes from Assam, Mizoram, Nagaland, Manipur, and Arunachal Pradesh, this study seeks to underscore the potential benefits of integrating traditional games into mainstream sports training programs. Through statistical analysis, including descriptive statistics, tests of between-subjects effects, pairwise comparisons, and graphical representations, we explore the correlation between traditional game participation and enhanced athletic performance. Our findings aim to illuminate the broader implications of traditional games for physical fitness, potentially guiding policy and fostering a deeper appreciation for cultural practices in sports science.*

Keywords: *North Eastern India, Traditional Games, Physical Fitness, Athletic Performance, Cultural Preservation, 50-meter Dash, Sports Science, Community Cohesion, Holistic Well-being.*

Introduction

The North Eastern region of India stands as a vibrant mosaic of cultures, traditions, and unique landscapes, making it a treasure trove of diversity and heritage. Among its most cherished assets are the indigenous games that have woven themselves into the fabric of its communities. These traditional games, which span from simple physical contests to elaborate team sports, encapsulate centuries of history, social interaction, and communal bonding. Despite their rich cultural significance, these games have largely remained on the periphery of mainstream sports science, often overshadowed by more globalized sports disciplines. Yet, nestled within these traditional practices lies a reservoir of potential for physical conditioning, fitness enhancement, and the promotion of a holistic approach to health and well-being.

Methodology

The study utilized a sample of 1000 athletes, evenly distributed across five North Eastern states (Assam, Mizoram, Nagaland, Manipur, and Arunachal Pradesh), participating in both experimental (traditional game players) and control (non-traditional game players) groups. Performance in the 50-meter dash served as the primary measure of physical fitness. Descriptive statistics, ANOVA, and post hoc Tukey HSD tests were employed to analyze the data, with particular attention paid to the mean sprint times, standard deviations, and inter-state comparisons.

Table 1.1

Descriptive Statistics of 50 m dash Dependent Variable: FIFTY METER DASH

GROUP	STATE	Mean	Std. Deviation	N
EXPERIMENTAL	ASSAM	6.6469	.72386	100
	MIZORAM	6.8931	.79707	100
	NAGALAND	6.9383	.80798	100
	MANIPUR	6.8553	.82177	100
	ARUNACHAL PRADESH	6.7340	.72403	100
	Total	6.8135	.78043	500
CONTROL	ASSAM	6.7604	.89670	100
	MIZORAM	8.2306	1.04442	100
	NAGALAND	7.4987	.66961	100
	MANIPUR	7.4752	.68166	100
	ARUNACHAL PRADESH	7.1382	.50341	100
	Total	7.4206	.91869	500
Total	ASSAM	6.7037	.81482	200
	MIZORAM	7.5619	1.14377	200
	NAGALAND	7.2185	.79167	200
	MANIPUR	7.1653	.81466	200
	ARUNACHAL PRADESH	6.9361	.65415	200
	Total	7.1171	.90446	1000

Table 1.1 details the performance in the 50-meter dash across different groups and states, categorized under experimental and control conditions. This descriptive analysis offers a nuanced view into how athletes from Assam, Mizoram, Nagaland, Manipur, and Arunachal Pradesh fare in sprinting, both within a structured intervention (experimental) and without (control). The table meticulously outlines the mean and standard deviation of sprint times for each group, offering insights into the average performance and variability among participants. For instance, athletes from Assam in the experimental group show an average time of 6.6469 seconds with a standard deviation of 0.72386, highlighting a relatively tight performance range. In contrast, the control group from Mizoram displayed a broader spread in performance, as indicated by a higher standard deviation of 1.04442 around the mean time of 8.2306 seconds.

The aggregated data across all states reveal a discernible difference in performance between the experimental and control groups. The total average for the experimental group is marked at 6.8135 seconds, suggesting a generally faster sprint time compared to the control group's 7.4206 seconds. Such distinctions underscore the potential impact of specific training or interventions aimed at enhancing sprint performance. Furthermore, the comparison across states within each group illustrates the diversity in athletic capability and the influence of geographic and perhaps training variability. For instance, the relatively lower standard deviation in Arunachal Pradesh's control group suggests a more consistent performance level among participants, possibly pointing to uniform training methodologies or physical attributes within this cohort. This comprehensive breakdown serves not only to highlight the efficacy of targeted interventions in improving athletic performance but also emphasizes the rich tapestry of physical capabilities across different regions. It offers a foundation for further inquiry into the factors contributing to these performance disparities, such as training intensity, access to facilities, or inherent physical conditioning.

Table 1.2

Tests of Between-Subjects Effects

Dependent Variable: FIFTY METERE DASH

Source	Type III Sum of Squares	Df	Mean Square	F	Sig.	Partial Eta Squared
Corrected Model	215.995[a]	9	23.999	39.518	.000	.264
Intercept	50652.685	1	50652.685	83406.361	.000	.988
GROUP	92.143	1	92.143	151.725	.000	.133
STATE	82.821	4	20.705	34.094	.000	.121
GROUP * STATE	41.032	4	10.258	16.891	.000	.064
Error	601.227	990	.607			
Total	51469.908	1000				
Corrected Total	817.223	999				

a. R Squared = .264 (Adjusted R Squared = .25 8)

Table 1.1 offers a detailed overview of the performance metrics in the 50m dash across five different states, segmented into experimental and control groups. This data is instrumental in comparing physical performance among participants from Assam, Mizoram, Nagaland, Manipur, and Arunachal Pradesh, providing insights into regional differences in athleticism. The mean scores and standard deviations indicate variability in performance, with each state showing unique patterns of speed. For instance, the experimental group from Assam exhibits a mean time of 6.6469 seconds, suggesting quicker dash times compared to the control group's mean of 6.7604 seconds, indicating the potential impact of specific interventions or training methods. The comprehensive aggregation of this data across both experimental and control groups, with a total N of 1000, illuminates the broader trends in physical fitness and the effectiveness of training programs across these regions.

Table 1.2 delves into the analysis of between-subjects effects for the 50m dash, shedding light on the statistical significance of group and state factors, as well as their interaction, on performance. The data, illustrated through Type III Sum of Squares, degrees of freedom, Mean Square, F-values, and significance levels, reveals a clear impact of these variables on dash times. A significant F-value for the group indicates that the experimental interventions have a meaningful effect on performance. Similarly, the significant state effect suggests that regional differences substantially influence 50m dash outcomes. The interaction effect between group and state being significant points to the nuanced way in which the impact of experimental interventions might vary across different regions. This statistical evidence supports the hypothesis that both the training program (group) and regional characteristics (state) play critical roles in athletic performance, with a partial Eta Squared indicating the size of these effects. Such insights are crucial for developing more customized and effective training programs that consider both individual and regional differences.

The comprehensive analysis presented in Tables 1.1 and 1.2 provides a robust framework for understanding the dynamics of athletic performance across different demographics and geographical locations. The detailed statistical exploration offers a solid foundation for further research into the factors affecting physical performance, enabling stakeholders in sports science and physical education to make informed decisions. This data not only highlights the variability in athletic capability across states but also underscores the potential for targeted interventions to enhance performance, encouraging a more personalized approach to athletic training and development.

Table 1.3 Pairwise Comparisons

Dependent Variable: FIFTY METERE DASH

(I) GROUP	(J) GROUP	Mean Difference (I-J)	Std. Error	Sig.[b]	95% Confidence Interval for Difference[b]	
					Lower Bound	Upper Bound
EXPERIMENTAL	CONTROL	-.607*	.049	**.000**	-.704	-.510
CONTROL	EXPERIMENTAL	.607*	.049	**.000**	.510	.704

Based on estimated marginal means

*. The mean difference is significant at the .05 level.

b. Adjustment for multiple comparisons: Least Significant Difference (equivalent to no adjustments).

Table 1.3 provides a detailed analysis of the pairwise comparisons between the experimental and control groups

concerning their performance in the 50-meter dash, a fundamental indicator of short-distance speed. The statistical analysis reveals a significant mean difference of -.607 ($p < .000$), firmly establishing that the performance between the two groups is not only statistically significant but also practically significant. This difference is highlighted further by the standard error of .049, indicating a high level of precision in the measured outcomes. The 95% confidence interval, extending from .704 to -.510 for the experimental group compared to the control group, solidifies the reliability of this finding, underscoring a consistent and meaningful advantage of the experimental group's performance over that of the control group. The significance of these findings lies not just in the numerical values but in their implications for understanding the impact of the interventions or conditions experienced by the experimental group. This substantial performance gap suggests that whatever training, strategies, or conditions applied to the experimental group contributed to a notable enhancement in their short-distance sprinting capability. Furthermore, the use of the Least Significant Difference method for adjustment indicates that these results are robust and not influenced by the potential inflation of Type I error often associated with multiple comparisons. In essence, Table 1.3 illuminates a clear and significant effect of the group's differential experiences on their physical performance, offering valuable insights for trainers, coaches, and researchers focused on optimizing athletic performance in short-distance dash events.

Table 1.4 Pairwise Comparisons

Dependent Variable: FIFTY METERE DASH

(I) STATE	(J) STATE	Mean Difference (I-J)	Std. Error	Sig.[b]	95% Confidence Interval for Difference[b]	
					Lower Bound	Upper Bound
ASSAM	MIZORAM	-.858*	.078	.000	-1.011	-.705
	NAGALAND	-.515*	.078	.000	-.668	-.362
	MANIPUR	-.462*	.078	.000	-.615	-.309
	ARUNACHAL PRADESH	-.232*	.078	.003	-.385	-.080

MIZORAM	ASSAM	.858*	.078	.000	.705	1.011
	NAGALAND	.343*	.078	.000	.190	.496
	MANIPUR	.397*	.078	.000	.244	.550
	ARUNACHAL PRADESH	.626*	.078	.000	.473	.779
NAGALAND	ASSAM	.515*	.078	.000	.362	.668
	MIZORAM	-.343*	.078	.000	-.496	-.190
	MANIPUR	.053	.078	.495	-.100	.206
	ARUNACHAL PRADESH	.282*	.078	.000	.129	.435
MANIPUR	ASSAM	.462*	.078	.000	.309	.615
	MIZORAM	-.397*	.078	.000	-.550	-.244
	NAGALAND	-.053	.078	.495	-.206	.100
	ARUNACHAL PRADESH	.229*	.078	.003	.076	.382
ARUNACHAL PRADESH	ASSAM	.232*	.078	.003	.080	.385
	MIZORAM	-.626*	.078	.000	-.779	-.473
	NAGALAND	-.282*	.078	.000	-.435	-.129
	MANIPUR	-.229*	.078	.003	-.382	-.076

Based on estimated marginal means

*. The mean difference is significant at the .05 level.

b. Adjustment for multiple comparisons: Least Significant Difference (equivalent to no adjustments).

Table 1.4 presents the pairwise comparisons for the 50-meter dash across different states, showcasing the mean differences between each pair of states, their associated standard errors, significance levels, and the 95% confidence intervals for these differences. This analytical approach reveals the nuances in performance metrics, illuminating how athletes from different geographic locales within the same experimental framework can exhibit varying levels of proficiency in the same physical task. The statistical significance marked by asterisks indicates where these differences are not merely random variations but reflect genuine disparities in athletic performance, likely rooted in regional training methodologies, genetic predispositions, or even environmental factors.

The significance values, particularly the p-values less than 0.05, highlight statistically significant differences in performance across the states, indicating that these are not due to chance. This finding underscores the diversity in physical prowess among participants from different regions, possibly reflecting varied cultural practices, dietary habits, and levels of access to training facilities. The exception of Manipur and Nagaland, where the p-value exceeds 0.05, suggests no significant difference in performance, pointing towards similarities in these states' physical fitness levels or sports training approaches. This nuanced data analysis enables a richer understanding of regional strengths and weaknesses in sports, offering a pathway to bespoke interventions aimed at enhancing athletic performance on a state-by-state basis.

Furthermore, the practical application of these findings can extend beyond the athletic domain, informing broader health and education policies to foster physical fitness across diverse populations. By identifying specific states where athletes perform exceptionally well or need further support, policymakers and sports organizations can allocate resources more effectively, promoting physical education, sports participation, and healthy lifestyles tailored to regional needs. This approach not only elevates the standard of competitive sports but also contributes to the overall well-being and social development of the communities involved, showcasing the profound impact of sports science research on societal progress.

Table 1.5 Post hoc test

Multiple Comparisons

Dependent Variable: FIFTY METERE DASH Tukey HSD

(I) STATE	(J) STATE	Mean Difference (I-J)	Std. Error	Sig.	95% Confidence Interval	
					Lower Bound	Upper Bound
ASSAM	MIZORAM	-.8582*	.07793	.000	-1.0712	-.6452
	NAGALAND	-.5149*	.07793	.000	-.7278	-.3019
	MANIPUR	-.4616*	.07793	.000	-.6746	-.2486
	ARUNACHAL PRADESH	-.2324*	.07793	.024	-.4454	-.0195
MIZORAM	ASSAM	.8582*	.07793	.000	.6452	1.0712
	NAGALAND	.3433*	.07793	.000	.1304	.5563
	MANIPUR	.3966*	.07793	.000	.1836	.6096
	ARUNACHAL PRADESH	.6258*	.07793	.000	.4128	.8387
NAGALAND	ASSAM	.5149*	.07793	.000	.3019	.7278
	MIZORAM	-.3433*	.07793	.000	-.5563	-.1304
	MANIPUR	.0533	.07793	.960	-.1597	.2662
	ARUNACHAL PRADESH	.2824*	.07793	.003	.0694	.4954
MANIPUR	ASSAM	.4616*	.07793	.000	.2486	.6746
	MIZORAM	-.3966*	.07793	.000	-.6096	-.1836
	NAGALAND	-.0533	.07793	.960	-.2662	.1597
	ARUNACHAL PRADESH	.2292*	.07793	.028	.0162	.4421
ARUNACHAL PRADESH	ASSAM	.2324*	.07793	.024	.0195	.4454
	MIZORAM	-.6258*	.07793	.000	-.8387	-.4128
	NAGALAND	-.2824*	.07793	.003	-.4954	-.0694
	MANIPUR	-.2292*	.07793	.028	-.4421	-.0162

Based on observed means.

The error term is Mean Square (Error) = .607.

*. The mean difference is significant at the .05 level.

Tuckey's post hoc analysis verifies the findings of table 1.4. it also suggest that subjects form Manipur and Nagaland have performed more or less same in case of 50 m dash.

Table 1.5 provides a detailed examination of the pairwise performance differences in the 50-meter dash across various states, employing the Tukey HSD method for post hoc analysis. This methodological approach allows for a comprehensive understanding of how the performance in the 50-meter dash significantly differs among participants from different states, highlighting the nuanced regional variations in physical capabilities. The analysis reveals a pattern of significant differences, indicating that athletes from Assam exhibit superior performance compared to their counterparts from Mizoram, Nagaland, Manipur, and Arunachal Pradesh. Conversely, when comparing Mizoram to other states, a notable advantage in speed is observed, suggesting a distinct hierarchy of athletic prowess among the regions studied. This gradient of performance levels underscores the potential influence of geographical, cultural, or training differences across the states, providing valuable insights into regional disparities in sports performance.

Moreover, the table further illuminates the competitive landscape among the states, with Assam and Mizoram standing out for their remarkable performance in the 50-meter dash. The statistical significance of these differences, marked by p-values below the .05 threshold, confirms the reliability of these findings. Interestingly, the comparison between Manipur and Nagaland presents a unique case where no significant difference is detected, indicating a level of parity in athletic performance between these two states. This parity could suggest similarities in training methodologies, genetic factors, or environmental conditions conducive to similar athletic outputs. This nuanced analysis offered by Table 1.5 not only highlights the competitive edge of certain states but also opens up avenues for further research into the underlying factors contributing to these regional differences in athletic performance. Understanding these disparities is crucial for developing targeted training programs, identifying talent, and fostering a competitive but equitable environment for athletes across the region. Such insights could ultimately contribute to elevating the overall standard of athletic performance at national and international levels, promoting a culture of excellence and inclusivity in sports.

Figure 1.1

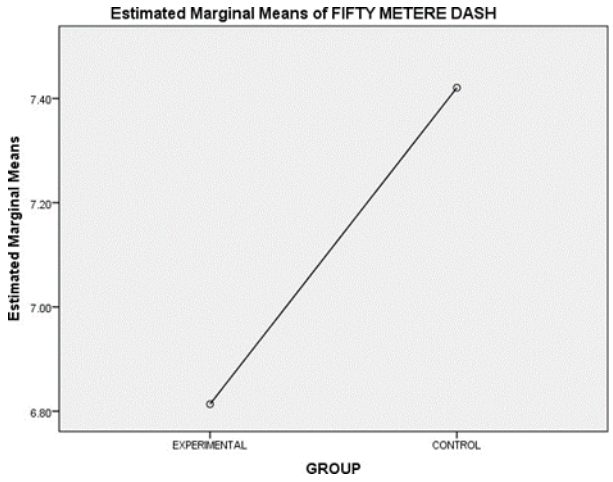

Figure 1.1 is showing the performance of experimental and control group on 50 m dash graphically. By observing the graph one can conclude that experimental group has performed better as figure is showing it took less time to cover the distance of 50 m.

Figure 1.2

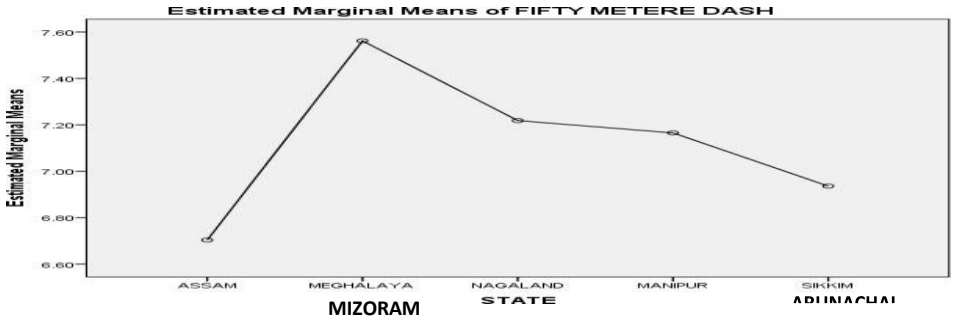

Figure 1.2 shows state wise performance of subjects on 50 m dash variable. According to graph presented in figure 1.2 the performance of different states in descending order would be Assam, Arunachal Pradesh, Manipur, Nagaland, Mizoram. Although it has been previously stated that Manipur and Nagaland have almost similar performance.

Figure 1.3

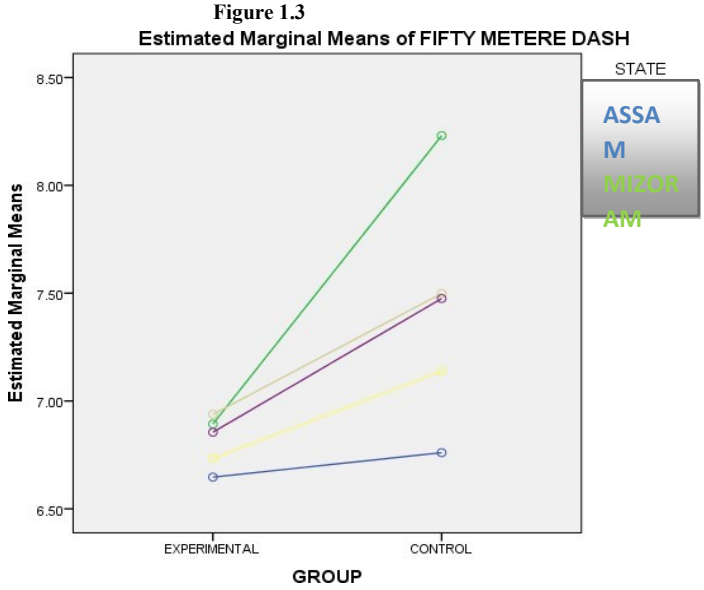

Figure 1.3 shows that Assam is the best state amongst all the 5 selected states of north east region as far as 50 m dash is concerned. The previously marked statement is true at least on the basis of present data set.

The analysis revealed a discernible advantage in 50-meter dash performance among athletes engaged in traditional games, with significant differences noted between experimental and control groups across all states. Notably, Assam and Mizoram showed the most pronounced benefits, suggesting a strong link between traditional game participation and sprinting capability. The interaction effects between group and state further highlighted the nuanced impact of traditional games on physical fitness, varying across different cultural and geographical contexts within the North Eastern region.

Discussion

The analysis conducted in this study presents compelling evidence that traditional games hold a significant place in promoting physical fitness, as seen in the enhanced performance in the 50-meter dash among participants from the North Eastern states of India. This finding is not merely a reflection of the physical demands these games place on individuals, but it also emphasizes the broader, multifaceted benefits that such activities offer. Traditional games, often rich in physical diversity, require a variety of skills such as speed, agility, and coordination, which are directly transferable to athletic performance in more formalized sports settings. This inherent versatility makes traditional games an invaluable resource for sports training programs, suggesting a paradigm shift towards incorporating these indigenous practices into physical education and athletic training curricula. Beyond the physical benefits, this study illuminates the crucial role of cultural preservation in the realm of sports and physical fitness. Traditional games act as living repositories of cultural heritage, embodying the histories, values, and communal bonds of the North Eastern communities. Integrating these games into mainstream sports science and physical education not only enhances physical fitness but also enriches the cultural fabric of the participants. This dual benefit underscores the importance of a holistic approach to fitness, one that values the preservation of cultural identity as much as the development of physical prowess. As such, the promotion and revitalization of traditional games could serve as a cornerstone in building a more inclusive and culturally sensitive sports training environment. Moreover, the study's findings advocate for the recognition of traditional games as a means to foster community cohesion and social integration. In many cases, these games are communal activities, rooted in collective participation and shared experience. Their practice within modern sports training can bridge generations, bringing together the young and old in a shared pursuit of physical fitness and cultural celebration. This intergenerational exchange not only strengthens community ties but also ensures the continuity and evolution of these traditional practices, making them relevant to contemporary societal needs.

The research conducted provides a strong foundation for reevaluating the role of traditional games in the promotion of physical

fitness and the development of athletic talent. It calls for a nuanced understanding of these practices, recognizing their value beyond mere physical activity to encompass cultural heritage, community building, and social well-being. As we move forward, there is a pressing need for policymakers, educators, and sports professionals to integrate traditional games into their programs, thereby honoring and revitalizing the rich cultural legacies of the North Eastern states while advancing the physical fitness of their populations. This study not only highlights the untapped potential of traditional games in enhancing athletic performance but also champions them as a vital component of a comprehensive approach to health, fitness, and cultural sustainability.

Conclusion

Traditional games in the North Eastern states of India significantly contribute to physical fitness, as evidenced by the superior athletic performance of individuals participating in these activities. This study advocates for the inclusion of traditional games in sports science research and training programs, emphasizing the value of cultural practices in promoting physical health and enhancing athletic performance. Further research is encouraged to explore the specific elements of traditional games that lead to improved fitness outcomes and to consider their application in broader athletic and health contexts.

References

1. *Akbari, H. (2009). The Effect of Traditional Games in Fundamental Motor Skill Development in 7–9 Year Old Boys. Iranian Journal of Pediatrics, 19(2), 123-129.*
2. *B A Dennison, J H Straus, E D Mellits, E Charney (1988). Childhood physical fitness tests: predictor of adult physical activity levels, Pediatrics; 82(3):324-30.*
3. *Boro, J., Daimary, R., & Narzaree, B. (2015). Impact of Globalization to Traditional Games and Recreation of the Bodos. IOSR Journal of Humanities and Social Science, 20(3), 87-91.*
4. *Bronikowska, M. (2015). History and Cultural Context of Traditional Sports and Games in Selected European Countries. TAFISA, Recall Games of the Post-Sports for Today.*
5. *Chakraborty, B. K. (2001). Banglar Lokokriya. Kolkata: Pustak Bipani.*
6. *Das, M., & Chatterjee, K. (2015). Traditional Games & Sports of the Especially Hilly Tribe Called Toto Community. International Journal of Novel Research in Humanity and Social Sciences, 2(3), 1-5.*
7. *Deve, L.P.,(2011) "A study of Physical Fitness of Primary schools children of Imphal", Unpublished Doctoral Thesis.*
8. *Ernest, S., & Ryszard, C. (2013). Fun and Games as a Form of Physical Culture in the Traditional Religious and Social Rituals of the Lemkos: The Ethnomethodological Approach. Polish Journal of Sport Tourism, 20, 44-50.*
9. *Jerzy F. Miller, Zbigniew Bujak, Marta Miller (2011), Sports result vs. general physical fitness level of junior taekwondo athletes, Journal of Combat Sports and Martial Arts, ; 1(2); Vol. 2, 39-44*
10. *Kriemler et.al. (2009) "Effect of school-based physical activity programme (KISS) on fitness and adiposity in primary schoolchildren: cluster randomised controlled trial". BMJ 2010;340:c78*
11. *Lasse Mikkelsson et. al. (2006). School fitness tests as predictors of adult health- related fitness. Am J Hum Biol. MayJun 2006;18(3):342-9.*
12. *Lee, D., & Schoenstedt, L. (2011). Comparison of eSports and Traditional Sports Consumption Motives. SD Journal of Research, .6(2), 39-44.*
13. *Lyall, C. (1997). The Karbis. Guwahati: Spectrum Publication.*
14. *Manoj, K.P,(2013), conducted a study on A Cross-sectional analysis across class and Sex on the concept of fitness of HRPFKT in high school and higher secondary school students in Kerala, Scientific Journal in Sport and Exercise, Vo.09, No:01 Jun.*
15. *Ozdirenç et. al. (2005). "Physical fitness in rural children compared with urban children in Turkey". Pediatric Journal Volume 47, Issue 1, February 2005 Pages 26–31.*

******

Feminist Facets: Subverting Patriarchy in Girish Karnad's *Naga-Mandala*

Upakul Patowary
M.A. (English)
North-Eastern Hill University, Shillong, Meghalaya

Dr. Jeuti Talukdar
Associate Professor, Department of English
Tihu College, Tihu, Assam

Abstract
The fact cannot be denied that both divine forces and nature have discriminated against women since their descent to earth, imposing onerous biological burdens on them. Despite all these challenges, men have exerted relentless efforts to marginalise, oppress, suppress and subjugate women further. Women are often considered as mere instruments to gratify men's carnal desires, procreate, and perform the hard domestic duties. Husbands expect their wives to remain loyal consorts while they flagrantly flout societal norms to assert their autonomy. They don't hesitate to establish illicit relationships even with the untouchables as is depicted in U.R. Ananthamurthy's *Samskara: A Rite for a Dead Man* also, where a Brahmin, Naranappa, has a sexual relationship with Chandri, an untouchable woman. In Girish Karnad's play *Naga -Mandala*, is a story of **epistemic injustice** because Appanna locks his newlywed wife, Rani, at home while he goes to meet a concubine. *Naga-Mandala* deftly critiques androcentrism by highlighting her confinement and marginalisation, juxtaposed against strong patriarchal pressure. The play takes a twist as Rani unknowingly subverts patriarchy and breaks her husband's heart by becoming pregnant without having slept with him even once. When he calls a panchayat, luck favours her, and she is declared a Devi by the prominent people of their village. The villagers hold her in high esteem, worshiping her when the cobra does not bite her. Thus, the present paper attempts to examine the play from a feminist stance and analyse Rani's character from that perspective.

Keywords: *Naga-Mandala*, Folklore, Mythology, Gender Discrimination, Patriarchy, Marginalisation, Feminism, Andocentrism.

It is a universally accepted notion that drama captures the essence of human life and it projects the real life images of human society. To some extent, drama can be called a mirror to the society because it attacks on the follies of man and the evils prevalent in the society. What a mob cannot do, a play can work better than that because it evokes empathy of the people also. Drama plays an indispensable role in Indian Writing in English because it is closer than any other genre. Many dramatists have tried their hand to project human reality through it. Among the prominent dramatists, Girish Karnad stands out as a great Kannada writer who has adeptly translated his works into English. He is a distinguished playwright, actor, and filmmaker. He was born in Matheran near Bombay in 1938 and was raised in Sirsi, Karnataka. He completed his graduation from Karnataka University and a master's degree from Oxford University in 1963.

Karnad's literary oeuvre is quite remarkable because it is the exploration of gender, mythology, folklore, history and socially pertinent themes. His well-known works include *Maa Nishaadha* (1959), *Yayati* (1961), *Tughlaq* (1964), *Hayavadana* (1972), *Anjulimallige* (1977), *Hittina Hunja* (1980), *Naga-Mandala* (1988), *Taledanda* (1990), *Agni Mattu Male* (1995), *Tippuvina Kanasugalu*, *Maduve Album* (2006), *Flowers* (2012), and *Benda Kaalu on Toast* (2012).

Karnad has garnered international acclaim, earning him numerous prestigious awards, including the Sangeet Natak Akademi Award (1972), Padma Shri (1974), Padma Bhushan (1992), Kannada Sahitya Academy Award (1992), Sahitya Akademi Award (1997), Jnanpith Award (1998), and Kalidas Samman (1998). He was also conferred with a D.Litt. from Karnatak University (1994) and an honorary doctorate from the University of Southern California, Los Angeles (2011).

This paper aims to illuminate the marginalised status of women in patriarchal society through the character of Rani in Girish Karnad's play *Naga-Mandala*. By examining Rani's story, this paper seeks to underscore the feminist themes and the subversion of patriarchal norms embedded within the play. In this play, the female protagonist Rani is kept just like a captive or a maid in the house, with no right to step outside.

Indian Writing in English has a rich and diverse legacy of addressing themes where women were forced to remain within the fourwalls of the house. They were confined and restricted within their homes after marriage. It is a stark reality that while husbands seek modern, attractive women in lesser

clothes, they do not allow their wives to cross the threshold of the household. This is evident in Arundhati Roy's *The God of Small Things*, where Mammachi is confined within the home, abused, bullied, and tyrannised by her husband, Pappachi. Similarly, in Manju Kapur's *Difficult Daughters*, Virmati struggles against the patriarchal pressures imposed upon her. After marriage, she finds herself confined, her dreams and aspirations stifled by a male-dominated society. In Anita Nair's *Ladies Coupe*, Akhila feels suffocated in her house because her family exploits her. Her mental confinement drives her to decide against marriage until the age of forty-five, only to realise that her family never considered her marriage. Her train journey to Kanyakumari and her meeting with five other women reveals the true plight of women.

Anita Desai's *Cry, the Peacock* portrays a woman so nervous and restless from staying home that she murders her husband. A similar story follows in Bharati Mukherjee's *Wife*, where Dimple Dasgupta's arranged marriage leads to her feeling suffocated, culminating in her murdering her husband. Kamala Das' husband also suppresses her extremely, forbidding her from going outside, which drives Kamala to break societal taboos and start illicit relationships with other men. Meena Kandasamy's *When I Hit You* tells the story of a domineering husband who does not allow his wife to use Facebook, deletes her profile, and takes full control of her life. He mentally tortures, beats, and rapes her and ultimately, the narrator has to desert her husband. Many Dalit women's autobiographies and memoirs narrate harrowing tales of women's unheard cries. Phoolan Devi's memoir, *I, Phoolan Devi*, depicts her revenge after her brutal rape by Thakurs. In this way Indian Writing in English is replete with women's woes, worries and subjugated position. Girish Karnad's plays are the rich commentary on the societal evils. His play *Nagamamdala* also depicts almost the same marginalised position of its central female character, Rani. Manju Joshi also writes that, "The play, *Naga-Mandala*, is based on the oral tales heard by the playwright from A. K. Ramanujan" (Joshi 76).

The play *Naga-Mandala* tells the story of a woman named Rani who is kept entrapped by her husband in his house. Simone de Beauvoir rightly opines that "One is not born a woman, but rather, becomes a woman" (Beauvoir 351). The play narrates the mental and physical suffering of a woman named Rani. She was born into a family where a woman is considered just like a product. Rani stays at home because of the social norms of marriage. Her husband, Appanna, is a symbol of a male-dominated society. Rani becomes the prototype of her submission in her new home, where there is no one but her husband who does not care for her. Appanna always locked her up "like a caged bird" (10). Rani lives a miserable life under the male-hegemonic social system as Dr. Somveer also writes:

> Deprived of decent and dignified life as human beings, their position is analogous to that of slaves and animals in the contemporary democratic and civilised world where the constitutional bodies like Human Rights Commission operate on various levels with a view to ensure justice to those who are meted out injustice. (Somveer 1)

Appanna and Rani's marriage is by no means a celebration of joy and love. Appanna does not want to listen to Rani's complaints. He wants to keep her silent so that she may not intervene in his personal affairs. He orders her, "Look, I don't like idle chatter. Don't question me. Do as you are told and you won't be punished" (Karnad 7). She was literally imprisoned in her husband's house and it can be called a solitary confinement. Appanna decides everything for her. He says, "She won't talk to anyone. And no one need talk to her" (Karnad 14). Right after the wedding, her husband is reluctant to spend time with her. Here is the conversation:

> Appanna: Have we brought in all the bundles?
> Rani: Yes.
> Appanna: Well, then, I'll be back tomorrow at noon. Keep my lunch ready. I shall eat and go. (Rani looks at him nonplussed. He pays no attention to her, goes out, shuts the door, locks it from outside and goes away. She runs to the door, pushes it, finds it locked, peers out of the barred window. He is gone). (Karnad 28)

It is seen from this play that Appanna does not want anything from his wife except food. The beginning of the play suggests that Appanna had married Rani only for food. He does not give her equal status a wife deserves. The below conversation shows it:

> Kurrudeva: Appanna in his concubine's courtyard. He has got himself a bride and is still goes after that harlot? (Karnad 29)
> Kurrudeva: You don;t think he could have sent his wife back to her parents already. Do you? (Karnad 29)
> Kappanna: Mother, what does it mean when a man locks his wife in?
> Kurrudeva: You tell me.
> Kappanna: It means he does not want anyone to talk to his wife.
> Kurrudeva: ... He keeps his wife locked up like a caged bird? I must talk to her. (Karnad

30)

Women are made to realise that they are women. When Rani complains about it, her husband tells her to remain silent, "What is there to be afraid of? Just keep to yourself. No one will bother you. Give me some rice now" (Karnad 28). He comes only for lunch and locks her, "Appanna washes his hands, locks her in and leaves. Rani keeps on watching him through the window" (Karnad 28). Sharma remarks, "Marriage for her becomes loss of the secure world of childhood and parental love, and she has to re-imagine that world in her fantasies merely to keep herself from psychic collapse" (Sharma 1). A. Jaganmohana Chari also writes about this play, "The dichotomy of lover and husband is in the tradition she has inherited" (Chari 152).

Rani's life becomes miserable as it is not easy to remain alone. Her old and blind neighbour Kurudavva takes pity on her. She gives her a root and tells her to feed her husband by grinding it. She says that her husband will start loving her after eating it. She says to Rani, "Take it! Grind it into a nice paste and feed it to your husband and watch the result. Once he smells you he won't go sniffing after that bitch. He will make you a wife instantly" (Karnad 34).

When she mixes the paste of root into curry, its colour turns red like blood. She gets terribly afraid and has doubt about her husband's health. She thinks, "Oh my god! What horrible mess is this? Blood. Perhaps poison. Shall I serve him this?" (Karnad 37). She thinks that this drink may be dangerous for her husband and she thinks it just like a crime. She thinks, "Suppose something happens to my husband? What will my fate be? That little piece made him ill…No. No. Forgive me God. This is evil. I was about to commit a crime" (Karnad 37). She pours this mixture in a hole of her husband in which a cobra lived. He falls in love with Rani by drinking this mixture. The cobra could assume any shape. When Rani's husband is not there, the cobra comes in Appana's form and makes love with Rani.

On the other side, Rani becomes nonplussed to see the changed behaviour of her husband who remained indifferent towards her during the day and makes love with her very passionately at night. But she remains quiet and after some time, when she conceives, she shares this news with her husband. When Appanna comes to know about it, he becomes angry because he had not slept even for a single night with her. He calls her a harlot, "Aren't you ashamed to admit it, you harlot? I locked you in, and yet you managed to find a lover! Tell me who it is. Who did you go to with your sari off?" (Karnad 52).

Rani tries to convince her that she has done nothing wrong or immoral because she has slept only with her husband, but her husband does not rely on her. He calls it an act of adultery. He says angrily, "You haven't and yet you have a bloated tummy. Just pumped air into it, did you? And you think I'll let you get away with that? You shame me in front of the whole village, you darken my face, you slut! (He beats her)" (Karnad 52). Janardan Roy comments about it:

> Appanna's violent reaction to his wife's infidelity does not make him consider a moment his own infidelity towards her. The other villagers also ignore this lapse on his part but they emphasise the institution of marriage and the procreative function of the couple. (Roy 645)

Apanna takes this matter to the village panchayat. The panchayat tells Rani for the snake or fire ordeal. Rani gets ready for the snake ordeal. One man warns her for the snake ordeal saying, "Listen to us even now. If something goes wrong and the Cobra bites you, not just your life but the life of the child you carry will be in jeopardy. We risk the sin of killing your unborn child" (Karnad 55). She takes the oath by putting her hand in the cobra hole:

> Since coming into this village, I have held by this had, only two…..my husband and this Cobra. Yes, my husband and this King Cobra. Except for these two I have not touched any one of the male sex. Nor have I allowed any other male to touch me. If I lie, let the Cobra bite me. (Karnad 58)

In fact, it was the same cobra who had made love to her. He does not bite her because Rani had not touched anyone else except this cobra and her husband. When the cobra does not bite her, the panchayat adores and worships her like a queen. The cobra slips back into the anthills and all the people get surprised to see this miracle. The village people elevate her to the level of a goddess. One of the village men appreciates Rani in the following words:

> Elder I: Appanna, your wife is not an ordinary woman. She is a goddess incarnate. Don't grieve that you judged her wrongly and treated her badly. That is how goddesses reveal themselves to the world. You were the

chosen instrument for revealing her divinity. (Karnad 59)

This incident reminds the readers of Sita's fire ordeal when she returns from Ravana's kingdom. She has to give fire ordeal to prove her chastity. Rakesh Joshi remarks about the real position of Indian women, "Girish Karnad's *Naga-Mandala* presents the deplorable state of women in Indian society. The playwright wants to say in the prologue that man is a bundle of weakness, but he is either not aware of them, or he cannot get rid of them" (Joshi 143). Thus, this play narrates the challenges of a woman.

Thus, Girish Karnad's play *Naga-Mandala* sheds light on the life of a woman who remains marginalised due to her husband's arbitrary attitude. He just marries her and uses her as a maid servant who does all the work for him. He fulfills all his needs from his concubine and when his wife gets pregnant, he beats her saying her a harlot. Beena Mahida remarks about Rani, "Thus, in the end Rani emerges as a round character as she emerges from a very weak, frail Indian woman to an extremely bold person who knows the ways of the world" (Mahida 3). In this play, Rani subverts patriarchy and emerges as a triumphant. Alkesh Dalal writes about this play:

Naga-Mandala is not only an excellent example of Girish Karnad's great craft work but also a living tool to estimate the attitude of society towards women. The story deals with the dilemma of women and her true place in the society. (Dalal 368)

Works Cited

Beauvoir, Simon de. *The Second Sex*. Translated by H.M. Parshley, 1949. Vintage Books, 1997.

Chari, A. Jaganmohana. "Girish Karnad's *Hayavadana* and *Naga-Mandala*: A Study in Postcolonial Dialectics." *The Commonwealth Review*, vol. 7, no. 2, 1995-96, pp. 148-153.

Dalal, Alkesh. "The Place of Women in Girish Karnad's *Naga-Mandala*." *Pramana Research Journal*, vol. 8, no. 9, 2018, pp. 362-69.

Karnad, Girish. *Three Plays: Naga-Mandala, Hayavadana, Tughlaq*. Oxford U P, 2009.

Joshi, Manju. "Girish Karnad's *Naga-Mandala*: The Discourse of Empowerment." *Gap Interdisciplinarities: An International Peer-Reviewed Open Access Journal of Interdisciplinary Studies*, vol. 2, no. 3, 2019, pp. 76-80.

Joshi, Rakesh. *Girish Karnad's Plays*. Mark Publishers, 2011.

Mahida, Beena A. "Sexuality in Girish Karnad's *Naga-Mandala*." *Variorum: Multi-Disciplinary e-Research Journal*, vol. 1, no. 4, May 2011, pp. 1-3.

Roy, Janardan. "Girish Karnad's *Naga-Mandala*: A Challenge to the Patriarchal Moral Code." *IJELLH*, vol. 4, no. 5, 2016, pp. 641-47.

Sharma, Seema. "Voice of Imprisoned Woman in Girish Karnad's *Naga-Mandala*." *International Journal of Applied Research and Studies*, vol. 2, no. 6, June 2013, pp. 1-5.

Somveer. "Vision of Co-existence in Girish Karnad's *Naga-Mandala*." *Golden Research Thoughts*, vol. 1, no. 11, May 2012, pp. 1-4.

Health and Nutrition Status of Scheduled Tribes Community.

-Neetu Punetha
Research Scholar
D.S.B. Campus,
Kumaun University, Nainital
neetupathak0021@gmail.com

- Dr Lata Pandey
Supervisor
D.S.B. Campus,
Kumaun University, Nainital

Abstract

From the perspectives of study and education, academics from a variety of social science fields have focused on two interconnected issues: nutrition and health. Scholars have used both subjective and objective methods of inquiry to comprehend the ideas of nutrition and health. It is impossible to comprehend nutrition or health without also taking into account people's socioeconomic backgrounds and macro-micro Level socio-poetical undercurrents. Within this framework, academics have emphasised the significance of culture, encompassing native wisdom, in the handling of health and dietary concerns. Additionally, while talking about the nutrition and health of Scheduled Tribes (STs), the importance of culture and custom has been thoroughly investigated. These studies are important for understanding and formulating policy, both socially and academically points of view.

Keywords: - World Health Organisation, Health and nutrition, physical, mental and social well-being.

Introduction

"A state of complete physical, mental, and social well-being and nor merely the absence of disease and infirmity" is how the World Health Organisation (WHO) defines health. It is widely acknowledged that health is not only the purview of medical research because every culture, no matter how simple or complicated, has its own customs and beliefs regarding illness. No culture approaches the treatment of illness in a meaningless way. Every culture develops its own medical system to treat illnesses in a unique way. As a result, medical care may differ throughout groups. Understanding health and health-related issues from a proper perspective requires taking sociocultural issues, economic factors, and environmental factors into account.

This is especially important when considering tribal people, especially those who reside in rural areas. Scheduled Tribes are remote, underprivileged socially and economically, and they frequently have different cultural norms when it comes to cuisine and eating habits. Tribal people living in remote areas are by definition marginalised in society, poor, reliant on antiquated agricultural methods, unhealthy habits, and lack of access to formal education. Significantly, low nutritional intake from food is the primary cause of indigenous women's poor health status, which can have serious health effects like anaemia and under nutrition.

In India, around 23% of women are underweight, 21% are overweight, and 53% are anaemic, according to the most recent National Family Health Survey report from 2015–16. Of these, less than 1% of Indian women are obese, while one-third of Scheduled tribal women suffer from under nutrition, the highest rate among all social categories. Although the trends indicate a slow decline, the proportions are nonetheless concerning. According to recent studies, 78.3% of tribal women in Kerala and

74% of anaemic women in Orissa are underweight, which presents an inevitable difficulty for socially disadvantaged groups. Over half of the world's tribal population resides in India; they make up 8.6% of the country's overall population, which is four times greater than Australia's population. Maharashtra is one of the 29 states and nine union territories that make up India. Maharashtra has significant differences in geography, demography, and socioeconomic status. Despite having distinct racial, cultural, and background characteristics, 10.5 million tribal people live in the state, making it the second most populous tribal state in India, behind Madhya Pradesh. According to the 2001 Census, Bhils make up a larger percentage of the state's Scheduled tribe population—roughly 21.2%—than other tribal communities. The anaemia rate among indigenous women is significant, and the group as a whole consumes insufficient food.
It is necessary to have a thorough grasp of the different facets of tribal women's health in order to design and implement appropriate health interventions.

Notably there is an urgent need for a region-specific study of tribal women's health, as national-level studies may be insufficient to capture the geographical diversity of tribal populations.
One of the most important components of the Sustainable Development Goals is health for all, but it may not be fully realised unless more attention is paid to the most disadvantaged groups in society, namely tribals and particularly tribal women. According to the 2011 Indian Census, just 14% of tribal populations in rural areas lack access to drinking water, while 22.6% of households lack access to toilets. Maharashtra has India's second-largest tribal population (about 10.5 million), trailing only Madhya Pradesh.

About 2.9% of people in Uttarakhand are tribal, with the Jaunsari, Bhotiyas, Tharu, Raji, and Buksa being some of the most well-known tribes.
Numerous research on tribal health, child nutrition, cultural difficulties, eating patterns, and diets have been published. Nonetheless, there is a dearth of research on the factors that influence the geographical variability in nutritional status among tribal women throughout all Maharashtra districts. Given this context, the current study's goal was to determine the prevalence and contributing factors of nutritional status among Maharashtra's tribal women.
India is home to diverse ethnic groups, cultures, religions, and indigenous communities. The tribal community is widely regarded as the most underdeveloped and socially disadvantaged segment of society. Food intake and health-seeking behaviours among tribal groups are influenced by socio-cultural, socio-economic, and environmental factors. Multiple studies have shown that the nutritional status of tribal populations is influenced by both habitat conditions and socioeconomic conditions. The prevalence of non-communicable diseases (NCD) such as diabetes mellitus and hypertension is rapidly increasing worldwide, especially in emerging countries like India.

INDIAB conducted a recent study which found that the overall incidence of diabetes in 15 states is 7.3%, while the prevalence of pre-diabetes is 10.3%. Prevalence of diabetes and other non-communicable diseases is increasing in rural areas. A comprehensive study conducted over a period of three decades on the prevalence of hypertension in India's indigenous groups revealed a consistent increase in the occurrence of the disease. A decade ago, the National Nutrition Moni-

toring Bureau conducted a survey of tribal groups in multiple states. The survey findings indicated that the prevalence of hypertension varied from 8% in Gujarat to 51% in Orissa. The percentage in Tamil Nadu was 18.2%.

1. Nutritional and health status of people of tribal communities in the study area

The health condition of tribal people in India varies widely due to a number of factors such as geographical location, lifestyle, access to healthcare, and socio-economic conditions. Generally, tribal populations in India experience various health issues and have inferior health results compared to the wider population. Tribal people generally struggle with poor access to nutritional food, resulting to high rates of malnutrition, particularly elderly individuals. Tribal women and children have higher rates of maternity and new born mortality compared to the rest of the population. Limited access to quality healthcare, prenatal care, and skilled birth attendants contribute to these difficulties. As traditional lifestyles change, tribal communities are increasingly suffering the burden of non-communicable diseases (NCDs) such as diabetes, hypertension, and cardiovascular illnesses due to factors like bad diets, physical inactivity, and tobacco/alcohol consumption. Many indigenous people reside in distant and inaccessible places, making it difficult for them to get basic healthcare services. Government projects like the National Rural Health Mission and initiatives geared at tribal healthcare strive to enhance access to healthcare services, infrastructure, nutrition, and awareness among tribal communities. Nevertheless, more comprehensive measures are required to address the complex health determinants encountered by tribal people in India.

2. Factors of the present status of health condition of tribal people of the area under review

1. A component of scheduled human resource development is education. Traditionally, tribes have lived in rural areas, close to woods and other natural resources.

Tribal literacy rates, as reported by the 2011 census, are 58.96%, which is lower than the nation's average of 74.04%. For instance, the literacy rate of tribal people in West Bengal is 57.97%, which is lower than the state's overall average of 77.08%. It is also mentioned that, among tribes, female literacy was lower at 54.4% than male literacy, which was 71.7%. One of the most popular and important methods for figuring out what proportion of a population is literate is to look at its literacy rate. The percentage of literate tribal members has improved dramatically since 1961, when it was only 8.54%. 2011 saw an increase to 63.1% from the year before. In spite of this, women's literacy rates in tribes are just 54.4%, while men's literacy rates are 71.7%. After India gained its independence, the government passed laws and allocated funds to improve access to elementary education.

Conclusion

Health and nutrition are the two fundamental dimensions of the social development process, without having intake of nutritious food on a continuous basis sound health status is a distant dream. But nutritious food is a necessity and not a condition for good health. There are other factors - both heredity and environmental - which also influence one's health status. Status of health has both positive and negative impacts on the process of development at the levels of individual, community and society. If the he & h status of population, irrespective of their social background, as good as per the observation of health experts, it has positive socio-economic impact at all levels. Such population is considered physically fit to participate in the development process. But if the population is sick and suffering from various diseases and is also deprived of nutritious food, they have to

suffer at all levels. Including economically and educationally. Hence, it is very appropriate to say that "health is wealth".

Tribal people in India suffer from poor health due to a number of issues. There are sometimes few or no healthcare facilities available to tribal groups in rural places. To get to the closest medical facility, they frequently have to travel far. Tribal communities frequently experience significant levels of poverty, which restricts their capacity to pay for food and medical treatment. It is challenging for tribal people to adopt appropriate healthcare practices due to illiteracy and a lack of knowledge about basic health practices and healthcare facilities.

Traditional beliefs and methods of healing within tribal cultures frequently diverge from those used in contemporary medicine. This may make it more difficult to get the proper medical attention. The numerous unique languages and dialects of tribal societies make it challenging for medical professionals to interact. The implementation of nutritional interventions, health promotion activities, and educational strategies is necessary in order for tribal people to improve their occupational lifestyle, health status, and nutritional status.

References

Laxmaiah, A., Mallikharjuna Rao, K., Hari Kumar, R., Arlappa, N., Venkaiah, K., & Brahmam, G. N. V. (2007). Diet and nutritional status of tribal population in ITDA project areas of Khammam district, Andhra Pradesh. *Journal of Human Ecology*, *21*(2), 79-86.

Chattopadhyay, A., Singh, A., & Gupte, S. S. (2023). *Undernutrition in India: Causes, Consequences and Policy Measures*. Springer Nature.

Daripa, S. K. (2017). Tribal education in India: Government initiative and challenges. *International Journal of Research in Social Sciences*, *7*(10), 156-166.

Verma, A., Patyal, A., Mathur, M., Mathur, N., & Virmani, S. (2021). Noncommunicable diseases' risk factors in India: a review of the current situation. *International Journal of Community Medicine and Public Health*, *8*(8), 4094.

Habib, S. H., & Saha, S. (2010). Burden of non-communicable disease: global overview. *Diabetes & Metabolic Syndrome: Clinical Research & Reviews*, *4*(1), 41-47.

Nag, T., & Ghosh, A. (2013). Cardiovascular disease risk factors in Asian Indian population: A systematic review. *Journal of cardiovascular disease research*, *4*(4), 222-228.

Padulosi, S., Thompson, J., & Rudebjer, P. G. (2013). Fighting poverty, hunger and malnutrition with neglected and underutilized species: needs, challenges and the way forward.

Kaputjaza, D. M. (2017). *An epidemiological investigation of risk factors for hypertension in Windhoek, Khomas region Namibia* (Doctoral dissertation, University of Namibia).

Sheikh, M. A., & Islam, R. (2010). Cultural and socio-economic factors in health, health services and prevention for indigenous people.

Bango, M., & Ghosh, S. (2023). Reducing infant and child mortality: assessing the social inclusiveness of child health care policies and programmes in three states of India. *BMC Public Health*, *23*(1), 1-18.

Roy, A. D., Das, D., & Mondal, H. (2023). The Tribal Health System in India: Challenges in Healthcare Delivery in Comparison to the Global Healthcare Systems. *Cureus*, *15*(6).

Dolai, M. C., Chakrabarty, F., Emmanuel, D., Bordoloi, H., Butt, T. I., & Awoyemi-Arayela, T. (2013). Functional status of the elderly santal people. *Indian JGerontol*, *27*(4), 610-20.

******

Traversing Existential Chaos and Absurdity: Navigating Manasi's Pragmatism vs. Indrajit's Rebellion in Badal Sircar's Absurdist Play *Evam Indrajit*

Harneet Kaur
Assistant Professor, Department of English
Indira Gandhi National College
Ladwa (Dhanora), Kurukshetra, Haryana

Abstract

Badal Sircar's dramatic oeuvre has revolutionised Indian theatre by eschewing conventional norms, uprooting social evils and championing the "Third Theatre" movement. His minimalist productions, characterised by their spartan settings have appalling and appealing themes foregrounding the existential dilemma with unparalleled intensity. He has narrated such opposite and complex themes through its two main characters, Manasi and Indrajit. The play deals with the conflicting ideologies of pragmatism and rebellion, embodied by Manasi and Indrajit respectively. Manasi represents the pragmatic approach. She strives for her identity, existence, stability and conformity within societal norms. Her character is a manifestation of those who seek solace in predictability, adhering to the prescribed roles of society to find meaning and purpose. On the other side, Indrajit symbolises rebellion and existential angst, challenging the futility of conventional existence. He has been depicted as a rebel in this play. His defiance against societal expectations highlights the individual's struggle for authenticity and self-realisation in a seemingly meaningless world. Indrajit's rebellion is not just a personal battle but a philosophical stance against the absurdity of human existence. Manasi's pragmatism and Indrajit's rebellion underscores the central theme of existential conflict in the play. Their contrasting perspectives illuminate the tension between the acceptance of societal norms and the quest for individual freedom. Sircar uses these characters to critique the monotonous and mechanical nature of modern life, reflecting the broader human condition. In this way, *Evam Indrajit* becomes a powerful and a gripping novel exploring the dichotomy of human existence. The present paper is an attempt to explore these two characters from various perspectives.

Keywords

Indian English Drama, Badal Sircar, *Evam Indrajit*, Manasi, Indrajit, Existentialism, Absurdism, Pragmatism, Existential Angst, Ideological Conflict, Human Condition, Search for Meaning.

Badal Sircar was an influential Indian playwright and director, renowned for pioneering the "Third Theatre" movement, which sought to bridge the gap between street theatre and traditional proscenium theatre. Born on 15 July, 1925 in Kolkata, West Bengal, Sircar's early education took place in his hometown. He graduated with a degree in civil engineering from the University of Calcutta and later obtained a diploma in town planning from Leeds University in the UK. Despite his technical education, Sircar's passion for theatre persisted throughout his life. Sircar's theatrical career began with his involvement in Bengali theatre, but he soon became disillusioned with the limitations of conventional theatre. This led him to develop "Third Theatre," which focused on minimalistic productions, audience interaction, and social relevance. His plays often addressed issues of existentialism, human alienation, and social justice.

Among his notable works are *Evam Indrajit* (1963), *Baki Itihas* (1965), *Pagla Ghoda* (1967), and *Michhil* (1974). These plays are celebrated for their innovative use of space and non-linear narratives, exploring themes of absurdity and human struggle. *Evam Indrajit* is particularly famous for its exploration of the absurd and existential despair of middle-class youth.

Throughout his career, Sircar received numerous accolades, including the Padma Shri in 1972, the Sangeet Natak Akademi Award in 1968, and the Sangeet Natak Akademi Fellowship in 1997. His contributions significantly shaped modern Indian theatre, inspiring generations of playwrights and theatre practitioners. Sircar's legacy continues to influence contemporary theatre, making him a pivotal figure in the cultural landscape of India.

When questioned in an interview whether *Evam Indrajit* was a satire on contemporary politics, Sircar denied this, stating he was not aware of existential philosophy. Despite his claim, the influence of absurdist philosophy is palpable in the play. It reflects the notion of meaninglessness, epitomised in the line, "nothing worth mentioning ever happens" (Sircar 41). The play paints a vivid picture of the middle-class urban youth's prevailing attitudes and crises.

The play revolves around Manasi, an inspiration in the life of a playwright struggling to pen a play. It depicts the writer's inner turmoil, grappling with his integrity and honesty. It portrays his struggle to translate life's fragmentary nature into drama, revealing his view of life as more mechanical and less natural in the chaotic modern era. This perspective echoes the anxiety and despair of an artist keenly observing the critical aspects of modern life.

Throughout the play, the protagonist's journey begins with nothingness and culminates in despair, embodying the essence of absurdist philosophy. The writer's agony in crafting a play is constrained by vague feelings and undefined hopelessness. He finds himself devoid of inspiration, articulating his plight in the play's opening lines:

> What shall I write? Who shall I write about? How many people do I know? And what do I know about them? I know nothing about the suffering masses. Nothing about the toiling peasants. Nothing about the sweating coal-miners. Nothing about the snake-charmers, the tribal chieftains, or the boatmen. There is no beauty in the people around me, no splendor, no substance. Only the undramatic material. (Sircar 137)

The writer's expression reveals his sterile approach to life, showing his lack of knowledge and experience of its fundamental realities. He finds the people around him, whom he wishes to write about, undramatic. This point underscores the play's alignment with absurdist philosophy and existentialism.

Suddenly, the play takes an unexpected turn when the writer invites four audience members—Amal, Vimal, Kamal, and Nirmal—onto the stage. The writer doubts Nirmal's name, asking, "No. It can't be. You must have another name. You have to have. Tell me truly, what's your name?" (Sircar 4). Nirmal eventually confesses that his real name is Indrajit, named after the mythical rebel Meghnad who defeated Indra. He explains his choice of the name Nirmal, saying, "Scared of unrest. One invites unrest by breaking norms" (Sircar 5).

Indrajit contrasts sharply with Amal, Vimal, and Kamal, who have a pragmatic approach to life, concerned solely with their comfort and status. They ignore societal crises and are self-contained, indifferent to others' struggles. Sircar critiques these characters as embodying a meaningless approach to life. At one point, the writer asks Indrajit whether he is dead or alive, to which Indrajit responds absurdly, expressing doubt about his existence. The reader may wonder why the writer does not question the others similarly. The reason is clear: the writer has already deemed them lifeless.

The play unfolds the lives and psychologies of all the characters through their interactions. Sircar uses these portrayals to highlight the worthlessness of human existence in a world filled with inhumanity. Sircar not only focuses on the characters' external worlds but also delves into their internal conflicts, offering a new dimension to the framework of the play.

As a quintessential example of post-modern Indian drama, *Evam Indrajit* depicts the struggles of the middle-class individual striving for sustainable survival. The title itself, *Evam Indrajit* (translated as "And Indrajit" in English), signifies the individual's entrapment in chaotic circumstances. The conjunction "And" in the title suggests the imposed relationship between the individual and society. Indrajit's connection to society implies that he lacks true individuality.

Sircar deliberately contrasts Indrajit with the pseudo-modern people around him, highlighting his unique approach to life. Indrajit's resistance to exploitation is evident throughout the play. One striking example is the scene where Indrajit and others face a rigged interview process, knowing that the candidates have already been selected. This incident underscores the crisis facing modern Indian youth, where power outweighs talent.

The play also scrutinises the orthodox Indian middle-class society through the relationship between Indrajit and Manasi. Their relationship, challenged by societal norms, questions these very norms, as Manasi is Indrajit's cousin. Indrajit's un-

conventional approach to resolving this issue is met with resistance from Manasi, who is unwilling to disrupt societal norms. This dynamic reflects the middle-class individual's entrapment in chaotic modern circumstances.

Indrajit adopts the name "Nirmal" to conform to societal expectations while his other name, "Indrajit," connects him to mythology. In the *Ramayana*, Indrajit, Ravan's son, used clouds to hide his identity, earning him the name Meghnad. Similarly, Indrajit in the play has a superior understanding of existence but is reluctant to challenge societal norms. This is evident when he tells Manasi, "If I hadn't tested the fruit of knowledge I could have gone on living in his paradise of your blessed society of rules" (Sircar 23). This statement reveals Indrajit's awareness of the futility of his knowledge.

Manasi, another central character in Badal Sircar's play *Evam Indrajit* embodies a complex blend of independence and submission, revealing the nuanced layers of her personality and her role within the narrative. Introduced in the very first act, Manasi's character is pivotal in understanding the thematic concerns of the play and the dynamics between the characters. Her interactions with the Writer and Indrajit highlight her unique position as both a muse and a confidante, while also reflecting her own internal struggles and societal constraints.

In the opening act, Manasi's empathy for the Writer's struggles to create art contrasts sharply with Auntie's dismissive attitude. Auntie embodies the stereotypical Indian mother, trivializing the Writer's efforts by yelling at him, "Night and day scribble, scribble, scribble, just scribble. Only God knows what will come out of all this scribbling…" (Sircar 3). Manasi, however, shows genuine interest and encouragement, asking, "Won't you read out what you have written so far?" (Sircar 3). This interaction establishes her as an ally to the Writer, someone who not only understands his plight but also provides the necessary support to spur his creativity.

The writer names her 'Manasi', meaning 'creation of mind', suggesting that she is perhaps a figment of his imagination, designed to inspire and motivate him. This is further emphasised when Indrajit reveals that Manasi is not her real name, to which the writer responds, "I am going to call her only by the name I have given her" (Sircar 16). This insistence signifies Manasi's role as an idealised muse, a constant source of inspiration crafted by the Writer's creative mind. Satyadev Dubey, in his introduction to *Evam Indrajit*, refers to Manasi as "an Indian counterpart of Jung's anima," underscoring her symbolic significance in the play.

Manasi's relationship with Indrajit, her cousin, further develops her character as one who balances traditional roles with personal autonomy. Indrajit enjoys her company because it offers him a respite from the superficial chatter about "cricket, politics or literature" (Sircar 17). With Manasi, he feels free and unjudged, able to discuss anything without fear. This sense of comfort is crucial for Indrajit, who finds solace and happiness in her presence, stating that talking to Manasi makes him feel "happy" and "light" (Sircar 18).

A pivotal moment in the play occurs when Indrajit gifts Manasi something after passing an exam, leading to a discussion about societal rules. Manasi remarks that "Girls have to" follow rules, to which Indrajit retorts, questioning why there are separate rules for men and women and who makes such rules (Sircar 21). This conversation reveals the gendered expectations imposed on Manasi, highlighting her internalisation of these societal norms. Despite recognizing the unfairness of these rules, Manasi does not share Indrajit's rebellious spirit; instead, she opts for a more pragmatic acceptance of her circumstances. She admits feeling "a sense of pity" towards societal conditions and confesses to being "scared" (Sircar 23), a sentiment that underscores her submission to the patriarchal expectations.

However, Manasi's submission is not absolute. She exhibits a quiet strength and independence, choosing not to marry Indrajit despite her love for him. Her refusal is rooted in social taboos and familial obligations, as marrying her cousin would be considered incestuous and disgraceful. Yet, her decision also reflects a deeper autonomy. She values her independence and does not succumb to societal pressures entirely. This is evident when she asserts, "Not everything is achieved by mere wanting" (Sircar 40), indicating her realistic understanding of the limitations imposed by society.

Manasi's strength and autonomy are further highlighted when she continues to meet Indrajit even after his marriage to another woman coincidentally named Manasi. This continued relationship demonstrates her disregard for societal norms that would

typically frown upon such meetings. It shows that her earlier refusal to marry Indrajit was not out of fear but a conscious choice to maintain her independence and avoid binding commitments.

In the play's concluding act, Manasi's advice to Indrajit encapsulates her pragmatic and resilient outlook on life. When Indrajit expresses his desire to escape life's challenges, Manasi counsels him, saying, "You have to go on walking" and "There is no escape" (Sircar 55). Her words reflect her acceptance of life's hardships and her belief in persevering despite them. She embodies the play's message of enduring life's journey with resilience and optimism. Anjum Katyal's observation that Manasi's "quiet resigned acceptance of a woman's lot is as old as the Ramayana" (Katyal 197) captures the essence of her character. Manasi represents the long-suffering, self-sacrificing figure who fulfills societal roles without rebellion. Yet, unlike the traditional image, Manasi exhibits an inner strength and autonomy that defies victimhood. She is not afraid to voice her opinions, advise Indrajit, and make independent choices.

In this way, Manasi in Badal Sircar's *Evam Indrajit* is a multifaceted character who embodies both submission and independence. Her interactions with the Writer and Indrajit reveal her role as a muse, confidante, and a figure of quiet strength. While she outwardly conforms to societal norms, her actions demonstrate a deep-seated autonomy and resilience. Manasi's character challenges traditional notions of female submission and highlights the nuanced ways in which women navigate societal constraints while asserting their individuality.

Conclusively, in Badal Sircar's absurdist masterpiece *Evam Indrajit*, the contrasting paths of Manasi's pragmatic acceptance and Indrajit's rebellious defiance illuminate profound existential themes. Manasi embodies societal norms and pragmatic resignation, navigating life's absurdities with quiet strength and resilience. In contrast, Indrajit epitomises rebellion against conformity and embraces existential angst, challenging societal constraints with fervor. Their intertwining narratives reflect a universal struggle with identity and purpose in a chaotic world. Sircar's exploration of existential crisis through Manasi and Indrajit underscores the complexities of human existence, offering poignant insights into the eternal conflict between conformity and individuality amidst life's inherent absurdities. Binoy Chetia and Dr. Anup Kumar Dey also postulate regarding this play:

> The play *Evam Indrajit* depicts the frustration and angst developing within the mindset of the youth of this generation. This angst is due to the continuous disappointment that the 'self' has received from the society around it. They are not able to stabilize their 'self' and are in the process of becoming an 'other'. (2802)

Works Cited

Alam, Waliul. "Amalgamation of Mythical and Legendary Structure with Modernity and Existential Exigencies in Badal Sircar's *Evam Indrajit*." *International Journal of English Language, Literature and Translation Studies*, vol. 3, no. 1, 2016, pp. 306-315.

Jain, Nemichandra. *Indian Theatre: Tradition, Continuity and Change*. National School of Drama, 2012.

Naik, M.K. *Perspectives on Indian Drama in English*. Oxford U P, 1977.

Paul, Ankita, and Dr. Dipankar Sukul. "Independence Disguised As Submission: A Critical Analysis of the Character of 'Manasi' in Badal Sircar's *Evam Indrajit*." *International Journal of English Language, Literature and Translation Studies*, vol. 4, no. 2, Apr.-June 2017, pp. 363-368.

Shukla, Shashank Shekhar. "Badal Sircar's *Evam Indrajit*: A Critical Perspective." *The Literary Herald*, vol. 1, no. 3, Dec. 2015, pp. 134-139.

Sircar, Badal. *Evam Indrajit*. Translated by Girish Karnad, "Introduction" by Satyadev Dubey, Oxford U P, 1974.

Katyal, Anjum. *Badal Sircar: Towards A Theatre of Conscience*. Sage Publications India, 2015.

Chetia, Binoy, and Dr. Anup Kumar Dey. "Depiction of 'Self' and 'Other' Dichotomy in Badal Sircar's *Evam Indrajit*." *Think India Journal*, vol. 22, no. 14, Dec. 2019, pp. 2800-13.

******

A Study of Early Childhood Care and Education from the Parent's Perspective in the Context of National Educational Policy, 2020

Shikha Kothari (Raturi)
Research Scholar of the Education Department,
M.B.G.P.G. College Haldwani, Uttarakhand.

Dr. Tanuja Melkani
Assistant Professor
M.B.G.P.G. College, Haldwani, Uttarakhand.

Abstract: Early childhood care and education are considered the foundation of individual development, which is why the National Education Policy 2020 mainly focuses on early childhood care and education programs. Early childhood is the period from 0 to 8 years of age. It mainly focuses on physical socio-emotional, cognitive, and motor development. The early years are so important for cognitive development and good habit formation of child. So it is very important to pay attention to this concept. NCERT is also working in the area of early childhood care in education. Significant inputs and academic support are consistently provided to government and non-government organizations and agencies for preschool education, and NCERT started model preschool in 4 regional institutes of education in Bhopal, Bhubaneswar, Ajmer and Mysore. Recently, two important documents, 'The preschool Curriculum' and 'The Guidelines for preschool Education', have been developed by NCERT to guide schools towards early childhood care and education. This study is also a small effort to throw light on the concept of early childhood care education in the context of national education policy 2020 from the parent's perspective.

Significance of The Study: Early child care is a very significant aspect of education. The researcher saw in her surroundings that in the government school, children get admission at the age of 6 to at primary level. Before going to school, some students learn basic things in Anganwadicentres because Anganwadicentres work as ECCE centres. But most people who live in rural are benefitted from the Anganwadicentres. Urban people have knowledge to send their children to playschool and then send them to the primary level. People who belong to the middle class or higher class do not believe in the Anganwadicentres because of a lack of facilities. But They believe in Playschools run by a private organisation. Some children who belong to bad economic condition waste their time doing nothing. They waste their important early childhood golden years. That's why the Indian government is taking an interest in strengthening pre-primary education, and as such National Education Policy, 2020 holds an important place in early childhood care and education. So, the researcher wants to know more regarding whether parents are aware of the term ECCE or not.

Statement of The Problem:

A Study of Early Childhood Care and Education from the Parent's Perspective in the context of National Educational Policy, 2020.

Definition of Key Terms;

Perception

Perception is a procedure by which a person explains their experiences and gives interpretation to their surroundings. It is also a process of taking decisions. In other words, we can say that it is a process of acquiring knowledge about the surrounding and also it is a process of understanding.

B.V.H. Gilmer, " Perception is the process of becoming a year of situations, of adding meaningful associations to sensations."

Education: In the words of ***APJ Abdul Kalam***;

"Education is the most powerful weapon which you can use to change the world."

According to ***Pestalozzi***; "Education is natural, harmonious and progressive development of man's innate power."

National Education Policy, 2020

Education is fundamental for achieving full human potential, developing an equitable and just society, and promoting national development. This education policy emphasizes the development of the creative potential of each and every one. It aims at producing engaged, productive and contributing citizens for building an equitable and plural society as envisaged by our constitution. Its highest priority is to achieve foundation literacy and numeracy by all students by grade 3. It promotes Synergy in curriculum across all levels of education from early childhood care and education to school education to higher education. National Education Policy 2020 follows the 5 + 3 + 3 + 4 structure of school education.

Early Childhood Care and Education

ECCE is the preparation of a child for primary education and the holistic development of a child is the main aim of ECCE. It means it gives strength to primary education.

The whole ECCE program is;

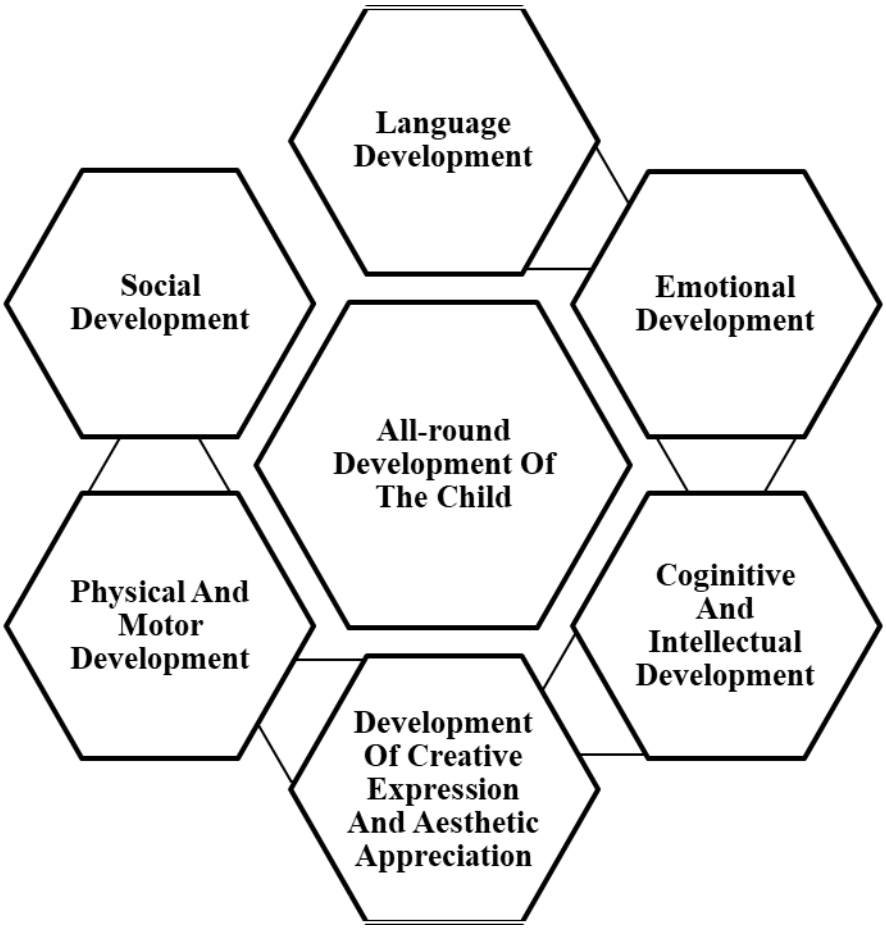

The ECCE program is a child-centered program that follows the play way and activity approach.

1 Its centers provide care and affection to the child which is helpful for child development. It is also helpful in habit formation, socialization and language development of the child. ECCE programs include a component of health, nutrition and pre-school education for ensuring the all-round development of the child. It gives an introduction to the 3Rs at an early stage of education.

2 Objectives of the study;

3 To know about early childhood care and education from the parent's perspective.

4 Delimitation;

5 The present study was delimited to only the Ramnagar block of the Nainital district.

6 Review of related literature;

7 Some recommendations of different Education Commissions give a base to the present study. The various education commissions during the post-independence period made remarkable recommendations for reforming the existing system of pre-primary education.

8 **The Secondary Education Commission (1952 -53)** evaluated the existing pattern of pre-primary education in India and reported as follows: "At the pre-primary stage, nursery schools of various types exist in some states but on a very small scale. At this stage, the child is introduced to the joy of learning through companionship and recreational activities and it is slowly guided in proper habits of life. In several states, there are a few such nursery schools run by a private organization, or by missionaries, and where they have been so established, they have done excellent work.

9 **The Education Commission (1964-66)** made the following recommendations regarding pre-primary education.

10 i) There should be a state-level centre for the development of pre-primary education located in the state Institute of Education.

11 ii) Encouragement should be given to experimentation, particularly in devising less costly methods of expanding pre-primary education. A local woman may be selected as a teacher on a small honorarium and should be given a short course of training and assisted in her work by the local Mahila Mandal.

12 iii) Children's play centres should be attached to as many pre-primary schools as possible. These should be connected by a specially trained teacher in primary school.

13 **The National Policy on Education (1986)** has given a great deal of importance to Early Childhood Care and Education (ECCE). NPE stresses the National policy on children and emphasizes the investment in the development of the young, giving focus to the holistic nature of child development, viz., nutrition, health, social, mental, physical, moral and emotional development. Early Childhood Care and Education (ECCE) will receive high priority and be suitably integrated with the Integrated Child Development Service Programmes, wherever possible.

14 **Ram Murti Review Committee (1990)** also considered the issue seriously. The report made the following recommendations regarding Early Childhood Care and Education.

15 The scope of the constitutional directive (Article 45) of providing, within a specified time frame, free and compulsory education for all children until they complete the age of fourteen should be enlarged to include ECCE.

16 The Department of Women and Child Development in the Ministry of HRD at the centre (and the Department of Social Welfare in the states) should be accountable for the imple-

mentation of ECCE in all aspects of its operational design, as recommended in the POA.

17 The basic principles of curriculum and content of ECCE should be translated into localized content.

18 The role of the State Government may be confined to ensuring essential funding (maybe on a per-child basis) for ECCE through the Panchayati Raj Institutions/Educational complexes;

19 **The National Curriculum Framework for School Education, 2000 (NCERT)** envisages two years of pre-schooling for every child. It states, "The experiences to be provided at the very beginning of education play a very crucial role in the development of child's personality and have a strong bearing upon later education of children. Learning at this stage may be characterized by group activities, play-way techniques, language games, number games and the activities directed to promote socialization and environmental awareness among children"

20 There are some more studies related to ECCE;

21 **Problem:** A study on Attitude of parents and teachers towards various aspects of pre-school education in Orissa.

22 **Researcher**: *Yasodhara (1991)*

23 **Objectives:**

24 (i). A study on Attitude of parents towards various aspects of pre-school education.

25 (ii). A study on Attitude of teachers towards various aspects of pre-school education.

26 **Findings:** The major findings of the study are the following;

27 Parents and teachers sampled were ignorant of the purpose of preschool education.

28 Education concerning compensatory and remedial education for the underprivileged children was essential for parents and teachers.

29 Parents and teachers were found to be more in favour of teaching English than the mother tongue, Oriya.

30 **Problem:** To study the objectives of Pre-school programmes.

31 **Researcher:** *Bhalla (1985)*

32 **Objectives:** To draw attention to the objectives of Pre-school programmes.

33 **Findings:** The objectives of Pre-school programmes are:

34 a) To provide daycare facilities for children of working mothers.

35 b) To provide education for the preschool child through play.

36 c) To provide nutrition, to improve the nutritional status of children below 5 years.

37 d) To provide at least minimum health care.

38 e) To inculcate good habits towards the overall development of personality.

39 f) To cultivate school-going habits leading to primary education.

40 **Problem:** To study the objectives of Pre-primary education.

41 **Researcher**: *Balagopalan, Helms and Turner* (1980)

42 **Objectives:** To know about the objectives for pre-primary education.

43 **Findings**: Researcher listed out the following objectives for pre-primary education.

44 Improvement of the health of children.

45 Inculcation of a sense of discipline and equality among the children.

46 Creation of attitude in children to go to school and to acquire knowledge.

47 Inculcation of healthy living habits.

48 **Research questions:**

1. Are the parents aware of the ECCE term?

To what extent do parents understand the term ECCE?

1 **Design of Study**;

2 Research is termed as the research design. It is helpful to answer all the questions in the researcher's mind. The present study was qualitative in nature.

3 **Methods of Research**;

4 The present study was conducted through a survey method. The survey was conducted to explore the term ECCE from a parent's perspective. This method is more significant and justified.

5 **Area of the study**;

6 Ramnagar block of Nainital district was the area of the present study.

7 Sampling and Techniques;

8 A sample is simply a subset of the population. The researcher used purposive sampling to choose 50 parents as a sample from the population.

9 The researcher used an interview schedule to collect information from parents regarding the ECCE. The researcher tried to contact some parents to learn their views about early childhood care and education.

10 Analysis and Interpretation;

11 Data collection through the self-made interview schedule.

12 Interpretation of parent's perspective About Early Childhood Care and Education

13 Q.1. Are you familiar with the ECCE program under the National Education Policy 2020?

14 **Interpretation**: 40% of parents said that they are aware of early childhood care and education programs, but 60% of parents are not aware of these programs.

15 Q.2. Does the comprehensive approach of the early childhood care and education program make the program complex?

16 **Interpretation:** 30% of parents said that the comprehensive approach to early childhood care and education programs does not make the program complex but makes it multitasking and multi-focusing, which is very essential for moving ahead in the 21st century, and it also gives a strong foundation to children. On the other hand, side, 70% of parents are not aware of and understand the comprehensive approach of ECCE.

17 Q.3 Does the early childhood care and education program have any impact on the quality of education?

18 **Interpretation:** 35% of parents believe that the quality of education increases with the early childhood care and education program because, in this, the children learn according to their interests and age. It gives permanent knowledge to children because they learn by playing and by experiences. But other parents (65%) are a little bit confused about giving a proper answer.

19 Q. 4. Is it appropriate to train Anganwadi workers for conducting the early childhood care and education program?

20 **Interpretation:** Only 33% of parents agree with this statement that for the smooth running of the early childhood care and education program, Anganwadi workers should be trained so that the teaching-learning process of early childhood care and education centers can be improved. Hence, according to the time and needs of the society, Anganwadi workers should update them with new teaching trends and techniques. On the other hand, side, other parents were not able to understand the importance of the training procedure.

21 Q.5. How would you rate the early childhood care and education program in the context of national education policy, 2020?

22 **Interpretation:** only 36% of parents give a five-star rating to early childhood care and education in the context of national education policy, 2020, and other parents do not understand the concept.

23 Q 6. What suggestions would you like to give for the smooth implementation of early childhood care and education?

24 **Interpretation:** According to parent's responses, some suggestions are given below;

25 Approximately 60% of parents were unfamiliar with the concept of early childhood care and education (ECCE), so they said that Anganwadi workers should arrange such type of programs through which they can understand this concept. If they can understand this concept, then they will be able to help the Anganwadi workers in the holistic development of children.

26 Many parents also suggest that Anganwadi workers should arrange parent-teacher meetings every month. So, that parents can know about the educational and health progress of their child.

27 The government should also keep taking progress reports of Anganwadi centers from time to time for the proper execution of early childhood care and education programs (ECCE).

28 If the early childhood care and education program works effectively and is executed properly in early childhood care and education (ECCE) centers, then it will be of great help to the parents because they will get their children involved in early childhood care and education centers instead of giving preference to private play group schools.

29 Parents who were aware of this concept also said that the government had made a very effective early childhood care and education (ECCE) program under the national education policy of 2020, but there should be proper monitoring in its execution. Only then it will be executed well and be fruitful to everyone.

30 **Conclusion:**

31 The researcher tries to study early childhood care and education from the parent's perspective in the context of National Education Policy, 2020. The results achieved as given below;

32 Some parents who were educated were aware of early childhood care and education, but on the other hand, those parents who were not educated were completely unaware of this concept. They could not understand the importance of early childhood care and education programs. Educated parents understand the importance of ECCE centers, and they also understand the focus of the National Education Policy, 2020 towards early childhood care and education. They appreciated its broader perspective. The educated parents were also aware of the objectives, curriculum and principles of the early childhood care and

education program, but on the other hand, it is a significant point in present research that the number of illiterate parents is high who were not aware of this concept at all. So, the government should work for the promotion of early childhood care and education programs and along with that, the Anganwadi workers should also be given the responsibility to go among the people and promote the early childhood care and education program. So, the enrollment of children in early childhood care and education centres increases, and at the same time, the early child care and education program gets promoted.

33 **Suggestions and Recommendations for Improvements;**

1. The government should take an interest in taking quarterly, half-yearly, or yearly progress reports of ECCE centres.

2. Certain programs of early childhood care and education, such as seminars and awareness programs, should be arranged for parent's awareness in routine manner.

The focus should be on improving preprimary education.

1 Education Implication of Present Study;

To draw the attention of people towards early childhood care and education.

1 Suggestion for Further Research;

1. There is a great need to do more research on related topics.

The study may be extended to a large sample.

1 Reference;

1. Alur, M. & Marcia, R. (2003).*Early childhood & Development.* Literature Reviews. UNICEF. New Delhi.

2. Balagopalan, C.P. (1980). *Composite programme for women and pre-school children*. New Delhi: Sterling Publishers Private Limited.

3. Bhalla, M.M. (1985). *Studies in Child Care.* New Delhi: National Institute of Public Co-operation and Child Development.

4. Strang, R. (1968). *An introduction to child study*. New York: The Macmillan Company.

Yashodara, P. (1991). An attitude of parents and teachers towards various aspects of preschool education. Unpublished PhD. Thesis, Utkal University.

1 REPORTS

Government of India. (1957). Report on the Secondary Education Commission - 1952-1953. Madras: Ministry of Education.

1. Government of India (1968). Report of Education Commission 1964-66. New Delhi: NCERT.

2. Government of India. (1986). National Policy on Education in 1986. New Delhi

3. Government of Kerala (1984). Report of the Preprimary Education Advisory Board. Thiruvananthapuram: Kerala Government Publication.

4. Ramamurthy, A. (1992). National policy on Education - Review committee (1990). Ministry of Human Resource Development, New Delhi.

National Council of Educational Research and Training (2005). National Curriculum Framework. NCERT, New Delhi.

******

Harvesting Humanity: Organ Trade Dynamics and Its Detrimental Ramifications in Manjula Padmanabhan's Dystopian Play *Harvest*

-Dr. Suruchi Sharma
Associate Professor, Department of English
RKSD College, Kaithal, Haryana

Manjula Padmanabhan can be considered a contemporary counterpart to the 20th-century literary giant Rabindranath Tagore because of her diverse talents across various genres such as plays, short stories, comic strips, children's books, travelogues, and illustrations. Her multifaceted personality and diverse talents have made her a unique and influential voice in Indian Writing in English. Born on 23rd June 1953 in Delhi to an Indian diplomat father serving in the Indian Foreign Services, she had the opportunity to explore different cultures from an early age, spending years in Sweden, Pakistan, and Thailand due to her father's postings. She developed a keen interest in cartoons and comics from a young age and displayed versatile artistic skills, starting her writing journey during childhood.

Padmanabhan's family returned to India after her father's retirement when she was sixteen years old. This return shocked her as she witnessed traditional Indian society and extreme poverty conditions, facing communication barriers because she did not know Hindi or Marathi. She attended Elphinstone College and worked at the small magazine *Parsiana* to achieve financial independence from her family, where she honed her storytelling skills through cartoons and satire.

Initially planning to follow her father's career path into the Indian Foreign Service, Padmanabhan had a change of heart by the age of 30. She opted instead to pursue her true passion for literature and the arts, dedicating herself to creative writing. Her notable works include plays like *Harvest* (1997), *Lights Out* (1984), and *Hidden Fire* (1991). She has also authored *The Artists' Model Sextet*, *The Gujarati Monologue*, and several collections of short stories, along with a travel memoir titled *Getting There*. For younger audiences, she wrote the children's book *Muse Attack* (2008).

Padmanabhan's creativity extends beyond writing; she is celebrated as an illustrator. Independently, she created works such as *I am Different! Can you Find Me?* (2011), *Unprincess* (2005), and *A Visit to City Market* (1986). Collaboratively, she worked on *Indrani and the Enchanted Jungle* (1979) with Tara Ali Baij, and *Dropsy Dragon* (1984) with Maithily Jagannath. Her comic strip *Double Talk* (2007), featuring the character Suki serialised in the *Sunday Observer*, and a daily cartoon strip in *The Pioneer* further showcase her artistic prowess.

Her most acclaimed work, *Harvest*, ventured into science fiction on the Indian stage, exploring themes of exploitation and technological dominance. It garnered international acclaim, winning the prestigious Onassis Award for Theatre in Athens, Greece, in 1997, chosen from over a hundred entries. Her literary oeuvre is marked by modern themes and literary techniques which attracts her readers.

Manjula Padmanabhan's play *Harvest* was first published in 1997. This play has been written in three Acts. The first Act has three scenes, the second four and the third Act has two scenes. In the beginning the play sheds light on the characters. The first character introduced to the readers is Om who is twenty-year-old. He has been laid off from his job as a clerk. He is the bread-earner of his small family. Om's wife, Jaya is nineteen-year-old thin and haggard woman. She is a spirited and vibrant woman but poverty has taken the charms of her life and that's why she looks older than her real age. "Her bright cotton sari has been faded with repeated washings, to a meek pink" (3).

In *Harvest*, the theme of organ trade serves as a critical lens through which she explores the ethical complexities and human costs of commodifying the human body in a dystopian future. Set in a futuristic Mumbai, the play portrays a society where economic desperation drives individuals to extreme measures, including selling their organs to survive. Here, organ trade emerges not only as a means of financial survival but also as a metaphor for the exploitation and dehumanisation inherent in global capitalism. This play is a profound critique of contemporary socio-economic and ethical issues, particularly in the context of post-colonial India. This play is set in a futuristic Mumbai and presents a chilling vision of a society where economic disparities and technological advancements have exacerbated the exploitation of the underprivileged by the privileged elite. Padmanabhan's plot unfolds in a cramped tenement where Om Prakash, the protagonist, makes a Faustian pact with InterPlanta Services to sell unspecified parts of his body in exchange for financial stability

for his family.

Om Prakash is compelled to enter into an organ donation contract with the American organ receiver named Ginny. Ginny provides all the facilities to make and keep Om's body parts hygienic. Omprakash does so primarily due to the dire economic circumstances that besiege his family. Unemployment and poverty are rampant in the dystopian future of Mumbai where the play is set. Om, having lost his job, faces a bleak reality where traditional employment opportunities are scarce, leaving him with limited means to support his family. This economic desperation is a driving force behind his decision to sign up with InterPlanta Services, a multinational corporation acting as an intermediary for wealthy organ recipients from the First World.

Om's decision is also influenced by the seductive promises made by InterPlanta Services. The corporation offers not only financial compensation but also significant improvements in the family's living conditions. This includes access to better housing, food, and amenities—luxuries that are otherwise unattainable for a family living on the margins of society. The allure of escaping the squalor and achieving a semblance of economic stability and comfort pushes Om towards making this Faustian bargain. The guard comes in the house and asks, "GUARD 1. InterPlanta services wishes to confirm that this is the residence of Om" (Padmanabhan 221).

Additionally, societal pressures and familial expectations play a crucial role. Om feels an immense responsibility to provide for his family, which includes his wife Jaya, his ailing mother Ma, and his brother Jeetu. The lack of viable alternatives and the urgent need to fulfill his familial obligations leave him with little choice but to accept the organ trade contract, despite the inherent risks and ethical compromises involved.

Padmanabhan astutely depicts the predatory nature of capitalism and neo-imperialism, drawing parallels to real-world socio-economic structures. She critiques the enduring legacies of colonialism that have left post-colonial countries politically, economically, and culturally vulnerable. The play's setting in a future Mumbai beset by unemployment and poverty mirrors the systemic failures of contemporary India, resonating with global concerns about the inequities perpetuated by globalisation and technological advancement. Abin Sojan also comments about this play:

> Padmanabhan's *Harvest* not only illuminates the tribulations of the marginalised people in the Third World but also delineates how the much celebrated progress in science and technology turns antagonistic to the underprivileged. The inescapable grip of capitalism and its close kin neo-imperialism, as portrayed in the play, has never been a mere dystopian nightmare. The increasing presence of organ-donation mafias and fertility tourist packages in our contemporary society testify to Padmanabhan's apprehensions. (Sojan 881)

Om Prakash's decision to become a donor reflects the desperation of the marginalised to escape poverty, even if it means sacrificing bodily autonomy. His wife, Jaya, emerges as a symbol of resistance, fiercely opposed to the commodification of human life and the invasive surveillance technology imposed by InterPlanta Services. This tension between survival and dignity underscores the ethical dilemmas faced by individuals in a society where economic imperatives often override moral considerations. Helen Gilbert in the "Introduction" to the *Anthology of the Postcolonial Plays* rightly comments about this play:

> Harvest can be read not only as a cautionary tale about the possible (mis)use of modern medical and reproductive science but also a reflection on economic and social legacies of Western imperialism, particularly as they coverage with new technologies (Gilbert 216)

The play also deals with the Foucauldian analyses of power and surveillance, particularly through the character of Ginni, the European buyer who exercises control over Om's life. Ginni's intrusion into Om's privacy through technology parallels Foucault's concept of disciplinary power, where surveillance becomes a tool for exerting dominance and maintaining social order. Foucauldian conception of the sovereign power which "was exercised over bodies through a system of surveillance and via a grid or network of material coercions which effected an efficient and controlled increase (minimum expenditure, maximum return) in the utility of the subjected body" (Smart 74).

Padmanabhan's portrayal of technology as both liberating and oppressive is nuanced. The contact module, symbolising technological intrusion, serves as a metaphor for the loss of privacy and autonomy in a hyper-connected world. Through Jaya's resistance to this surveillance, Padmanabhan critiques the erosion of individual agency in the face of technological advancement, echoing contemporary concerns about data privacy and digital surveillance.

The character of Ma, Om's mother, embodies

the consequences of technological seduction and societal complacency. Her immersion in virtual reality and indifference to Om's plight symbolise escapism and the abandonment of critical engagement with socio-political realities. Ma's characterisation reflects Padmanabhan's critique of consumerism and the allure of superficial comforts amidst systemic oppression.

In *Harvest*, Jaya emerges as a pivotal character whose journey encapsulates the moral and emotional complexities surrounding organ trade and economic desperation in a futuristic society. From the outset, Jaya's character embodies the initial shock and moral conflict that arise from Om's decision to participate in organ trade. At the beginning of the play, Jaya reacts with horror and disbelief upon learning about Om's agreement with InterPlanta. Her response reflects the ethical quandaries faced by individuals whose loved ones engage in extreme measures due to economic pressures. Jaya's initial reluctance to accept Om's decision underscores her deep-seated values regarding bodily integrity and human dignity.

As the play progresses, Jaya experiences profound emotional turmoil and inner conflict. She grapples with the implications of living with a spouse who has commodified parts of his body for financial gain. Her internal struggle is depicted through poignant dialogues and monologues that reveal her anguish, fear, and anger. Jaya's character development highlights the psychological toll of organ trade on individuals and families, illustrating how economic desperation can erode personal relationships and moral convictions.

Despite her initial shock and emotional turmoil, Jaya exhibits resilience and defiance in the face of adversity. She confronts Om and challenges him about the consequences of his decision, expressing her fears about the future and their relationship. Jaya's defiance is portrayed through her refusal to passively accept the circumstances thrust upon her family by external forces. Symbolically, Jaya represents the moral conscience and emotional anchor within the narrative of *Harvest*. Her character serves as a metaphor for the broader societal concerns surrounding the commodification of the human body and the erosion of personal autonomy in the face of economic exploitation. Through Jaya's journey, Padmanabhan prompts the audience to reflect on the ethical implications of organ trade and the enduring resilience of individuals amidst systemic injustices. Thus, Jaya is not merely a character; she embodies the ethical dilemmas, emotional turmoil, and resilience inherent in a society grappling with the commodification of human organs. Through her portrayal, Manjula Padmanabhan challenges audiences to confront uncomfortable truths about economic desperation, moral integrity, and the enduring human spirit in the face of adversity. Jaya's character remains a poignant reminder of the ethical responsibilities individuals bear in safeguarding human dignity and rights, even amidst the pressures of a dystopian future shaped by global capitalism.

Om's family is subjected to comprehensive surveillance through the "contact module" installed in their home by InterPlanta Services, the intermediary facilitating Om's organ transactions. This device serves multiple purposes: it monitors Om's physical condition to ensure his organs remain viable for potential buyers; it tracks the family's movements and activities within their own home; and it enables real-time communication and intervention by InterPlanta personnel, particularly Virgil, who represents the virtual entity overseeing Om's compliance.

The primary purpose of surveillance in *Harvest* is economic and disciplinary. From an economic standpoint, InterPlanta uses surveillance to maximise profit from Om's organs by ensuring they are healthy and available for sale at any moment. This economic motive drives the intrusive monitoring of Om's bodily functions and the strict control over his family's behavior. Disciplinarily, surveillance serves to enforce compliance and prevent resistance or attempts at circumventing the contract. By constantly monitoring the family, InterPlanta suppresses dissent and reinforces their control over Om's body and, by extension, his family's livelihood.

The pervasive surveillance in *Harvest* results in profound negative consequences for Om's family. Firstly, it erodes their privacy and autonomy, turning their home—a supposed sanctuary—into a space of constant scrutiny and control. This invasion of privacy extends beyond physical surveillance to emotional and psychological intrusion, as the family members must suppress their true feelings and thoughts under the watchful eye of the contact module. "Surveillance is a fundamental social and political activity. It involves control, influence and management through the medium of information, and as such is a combination of knowledge and intervention" (Barnard-Wills 2).

Secondly, the surveillance exacerbates the power imbalance between the wealthy, technologically advanced First World (represented by Ginni and InterPlanta) and the marginalised Third World family (Om's family). It reinforces the commodification of human life and dignity, reducing Om to a mere collection of body parts whose worth is deter-

mined by external forces. This dehumanisation is felt acutely by Jaya and others in the family who witness Om's physical and emotional deterioration under constant surveillance.

Overall, the surveillance in *Harvest* serves as a chilling commentary on the dehumanising effects of unchecked capitalism and technological advancement, where individuals and families become mere instruments for profit and exploitation. It underscores the ethical dilemmas and societal repercussions of sacrificing personal autonomy and privacy in exchange for economic survival in a dystopian world governed by global forces beyond their control.

In conclusion, Manjula Padmanabhan's *Harvest* starkly unveils the grim reality of organ trade, illustrating its catastrophic consequences on individual lives and familial bonds. Through the lens of Om's family, the play exposes how desperation and economic disparity drive exploitation, reducing human beings to mere commodities. This dystopian narrative serves as a powerful critique of the commodification of the human body, urging a reexamination of ethical boundaries in the face of advancing medical and technological landscapes. Rachana Pandey also opines about this novel:

> The play *Harvest* deals with the harm of the emerging organ transplant industry, resulting in the commoditisation of third world bodies and cases of abuse. It portrays a dystopian world where men and women from middle and lower class are either dragged into prostitution or forced to sell their body organs due to the state of poverty and unemployment. (Pandey 32)

Works Cited

Barnard-Wills, David. *Surveillance and Identity: Discourse, Subjectivity and the State*. Ashgate Publishing, 2012.

Bedre, R. T., and M.M. Giram. "Manjula Padmanabhan's *Harvest*: A Battle Between Machine and (Wo)Man." *Asian Journal of Multidisciplinary Studies*, vol. 1, no. 2, Sept. 2013, pp. 20-31.

Hind, Dan. *The Threat to Treason*. Navayana, 2008.

Padmanabhan, Manjula. *Harvest*. Kali for Women, 1997.

Pandey, Rachana. "Woman, Body and Virtual Space: A Critical Study of Manjula Padmanabhan's Play *Harvest*." *Proceedings of the International Conference on Future of Women*, TIIKM Publishing, vol. 1, issue 2, 2018, pp. 32-36.

Smart, Barry. *Michael Foucault*. Routledge, 2002.

Sojan, Abin. "Marauding Capitalism and the Marginalised People: A Contemporary Reading of Manjula Padmanabhan's *Harvest*." *International Journal of Creative Research Thoughts (IJCRT)*, vol. 6, no. 1, Jan. 2018, pp. 879-881.

Gilbert, Helen. *Post-Colonial Plays: An Anthology*. Routledge Taylor and Francis Group, 2001, pp. 1-6.

******

Stress Factors and its Management Among the Working Peoples

-Dr Subash Chand
Assistant Professor
Dept. Psychology
Jagatpur P.G. College Jagatpur Varanasi UP, India

Abstract

We live in a time of increased stress in the world. Almost each individual is prone to the ever-spreading syndrome called STRESS. We are going through many drastic shifts in the society and the world. Stress is part of being human. Everyone facing and experiences stress. 'stress' is a frustrating condition where it contains an excess of work and an overload which reduces the concentration, mentality and the normal working condition of any person. "stress" is the "psychological, physiological and behavioural response by an individual when they perceive a lack of equilibrium between the demands placed upon them and their ability to meet those demands which over a period; leads to 'ill - health." [Palmer 1989] stress is the body's natural response to challenges. Stress has direct effect on the brain and the whole anatomy of the body as such failure to adopt to a stressful condition can result in brain mal function, physiological problems and many areas of psychological challenges in the form of depression, anxiety, pain and burnet. The stress management training programme is one of the current hot talk concepts, which still waits for better and better solutions for numerous work life stressors.in recent walks of professionals and educational life is matter of worried among all working me and women to have a balanced living, during work and personal pressure. The essentials of an effective stress management programme, and the general critics which in turn reveals vital areas of focus and new methods to practice in the learning programme.

Keywords: - psychological, challenges, syndrome.

INTRODUCTION: -

We live in a time of increased stress in surroundings as well as in whole world. Stress is a part of day-to-day living in our daily lives. We are often exposed to situations that produce stress. We are going through many drastic shifts in the society and our working area. It is a part of being human, everyone is facing and experiences stress. Stress is a condition of mental pressure for individual facing problem environmental and social well-being which leads so many diseases. The interpretation and reaction to events that make stress are different in different people. Sometimes it can help you focus and get the task at hand done. But when stress is frequent and intense, it can strain your body and make it impossible to function. It affects your entire body, mentally as well as physically. Stress is a feeling of emotional or physical tension. It can come from any event or thought that makes you feel frustrated, angry or nervous. For example, dancing on stage can be stressful for many people but very relaxing and pleasureful for others.

Present study was designed to learning stress and stress management strategies for college students as well as working peoples. The objectives of the study were to find out the common symptoms of stress, causes and to give knowledge and awareness to stress management strategies used by college students and professionals. We cannot avoid stress, but we can learn to manage it, so it doesn't manage us. We cannot avoid stress, but we can minimize the harmful effects of stress, such as depression or hypertension. The key is to develop an awareness of how we interpret and react to circumstances.

DEFINITION OF STRESS: -The term 'stress' can be defined in many ways. In common term stress is pressure, tension unwanted external forces or an emotional response. Stress is abnormality in behaviour, psychology, emotional outburst or physiological changes in life. Stress is our body's reaction to a Challenge or demand. Stress is a frustrating condition where it contains an excess of work and an overload which reduces the concentration, mentality and the normal working condition of any working people or students. Stress is defined as a person's psychological response to the perception of a demand or challenge. Working people and students are most frequently affected by stress due to their hectic or academic and personal life. Stress is generally indicated as a deviation from normal functioning of body and mind.

CHARACTERSTICS:-The character of stress can be categorised into two: -

1.EXTERNAL STRESSORS: -external stressors: -

. physical environment
. Social interaction
. Organizational, rules regulations

. Major life events
. Social circle
. Working area
2. INTERNAL STRESSORS: -
. Lifestyle choices
. Overloaded schedule
. Negative thanking
. rigid thinking
. Overthinking

STRESS AT THE WORKPLACE: -Stress at working place has become an increasing phenomenon due to external factors. Stress can be considered as an inevitable condition. Our purpose for this study is to have a clear understanding of the causes of stress at a working place in present scenario. How stress by the employees as well as the company's management are managed.

External Factors of stress: -

We have discussed the causes of stress from an individual perspective as well as in the workplace. Here we focus to external factors of stress both on employees and organizations. Employees will be affected directly with external factors of stress, but companies are often affected indirectly. Employees usually feel stress at their jobs due to the following reasons.

1. Work overload
2. Misuse of power
3. Inadequate decisions or leader behaviour.
4. overcrowd, noise Work and workplace is itself a stressful phenomenon and therefore various aspects are connected to stress (Defrank & Ivancevich, 1998; Spark & Cooper, 1999; Taylor et al., 1997). According to Burke (1988), Nilsson & Burke (2000) the factors related to roles in a work environment are namely existence of low-level power, role indefiniteness or role dispute. They add that increasing in physical conditions at the workplace such as concurrent permanent noise, overcrowd and lack of secrecy are associated to stress. The behaviour of the leader or chief can also affect the level of stress (Fairbrother, & Warn, 2003 p. 9).

Table 1: The problem of stress

For the individual risk to	For the working area
Health, well being	Poor and lots of frustration
Quality time	Very short or rare
Goal achievement	Reduced quality and quantity of work
Self confidence	Reduced job satisfaction

OBJECTIVES OF THE STUDY: - This study is based on survey at different groups of people. Study on male and female groups of various work fields. The main objectives of this study are,

-To assess the level of stress among the: -
. Group of bankers
. Group of teachers
. Group of multinational companies
. Group of students
-To identify the factors causing stress
-To analyse the impact of stress
-To find out possible measures that would be helpful in reduce the stress level

Descriptive research was carried out based on information and measurement of data. Questionnaires was designed. It was kept in view that statement must express a definite idea. Questionnaire was selected for following reasons: -

The population of this survey was educated. This was a valid way to collect lot of information from a large group of different peoples. It was considered as a convenient method to get response.

LEVELS OF STRESS: -

1.ACUTE STRESS: -

Acute stress is the common form that everyone experienced during the different phases of their life. It arises quickly in response to unexpected or alarming events. Typically, it fades in short period once the stressful event is over it doesn't often lead to serious health problems. Some signs of acute stress include {Will, 2006}:

. Stomach pain
. High Blood Pressure
. Shortness of breath
. Chest pain

2.EPISODIC STRESS: -

Episodic stress is a type of stress happening over and

over. Individuals are ambitious, rigidly organised, impatient, anxious. People who suffer from episodic stress typically accept this kind of stress as a normal part of life and may not be aware of how negative its effects can be.

3.CHRONIC ACUTE STRESS: -

This type of stress can be thought of as never-ending stress. Chronic acute stress eventually begins to affect health and can lead to heart problems and strokes.

4.SITUATIONAL STRESS: -

This type of stress arises in different situation. People experience situational stress when they are in an upsetting or alarming situation.

Table 2: - Levels of stress

Working area	Acute stress	Episodic stress	Chronic acute stress	Situational stress
Bankers [male]	70%	50%	50%	75%
female	60%	40%	45%	65%
Teachers [male]	65%	50%	30%	50%
female	70%	30%	35%	55%
MNC [male]	80%	67%	58%	65%
female	75%	60%	50%	62%
Students	60%	65%	45%	55%
Engagements at another Platform	65%	55%	50%	45%

Steps towards Stress Management for employees and organizations. Productive management of stress includes three steps for both employees and organizations

1. Awareness: It helps to understand when there is decrease in performance and absenteeism.

2. Determining the source: Find out what causes this distress and its consequences.

3. Doing something constructive: Find solutions to existing problems Stress could be considered as an inevitable condition at one point. It complicates the situation to maintain productivity and also disturb to have pleasant work and social life. The first step towards stress management is to identify signs that indicate stress such as anxiety, anger, annoyance etc. After these signs are recognized, the next step is to find out the causes and figure out its impacts. The third and final step is to effectively deal with the stressful situation.

RESULT: -

1. Majority of the respondents from bankers' group [80%] admitted that they feel difficulty to concentrate under stress. They often feel headache, anxiety and feel irritable when stressed.
2. Slight majority of bankers [45%] agreed that they feel difficulty to remember things when they are in under stress.
3. Majority of teachers respondents [75%] agreed that they feel anxiety without knowing when stressed. Of-

ten, they feel loss of appetite or eat more.

4. Majority of multinational companies' employee [80%] agreed that lack of origination skills create stress.
5. Majority of students [60%] agreed that university environment create stress. They feel that burden of study increase stress level among university or college students.
6. They said that institutional environment create stress, and they get support of friends and family when in stress.
7. Majority of students agreed that the environment, different educational set up, competitive environment burden of study is the main cause of stress.

SYMPTOMS OF STRESS: -

. Moody
. Irritability
. Short temper
. Accelerated speech
. Restlessness
. Lack of confidence

Table 3: - Signs and symptoms ofstress: -

Anxious	Poor concentration and memory
Depressed	Poor organisation and decision making
Fatigue	Sense of isolation
Irritable/ Frustrated	Less creative in solving any problem
Headache	Unwanted thoughts
Trouble sleeping	Change in sleeping habits
Reduced desire for activities	Significant change in workplace
Chronic worrying	Pacing, nail biting
Restlessness	Abnormal lifestyle or delay to complete everyday activity

TECHNIQUES USED FOR MANAGING STRESS: -

. Yoga and meditation
. Physical exercise, nutrition and sleep
. Entertainment
. Medication
. Away from stressful environment
. Positive thinking
. Time management
. Prayer, spend time with loved Ones
. Being organised

CONCLUSION: -Stress among various people of society leads them to have bad performance in their working fields, a lack of concentration. The study has proved that more than 70% people agreed that their workload increases the stress. The level of experienced stress is influenced by the resources available for the person to deal with specific stressful events and situations. People facing stress are advised to attend stress management programme which will help them to build coping strategies and cause out their stress. The stress management cause comprises of a package programme consisting of

. Relaxation
. Self-analysis
. Interpersonal skill development
Protection yoga cum meditation

"Instead of rushing unconsciously into your day set aside a few minutes to sit quietly with yourself. Make sure you are calm, centred with your intention for the day. This way you are prepared for a harmonious positive experience"

Health is a major concern of everyone and therefore the promotion of healthy dietary and lifestyle habits should be encouraged.

REFERENCES: -

1.Agarwal, R.K. and Chahar, S.S. [2007] 'examining role stress among technical students in India' social physiology of education, vol.10 no. 1.

2.A Singh, S. Singh, Stress and adjustment among professionals and non-professional students, industrial psychiatry journal,2008.

3.D'zurilla, T.J. and Sheedy, C.F. [1991] The relation between social problems-solving ability and subsequent level of psychological stress in college students'' journal of personality and social psychology, vol 61, pp841-84.

4 Pratibha Tripathi, Journal of adhunik sahitya delhi.

******

Retranslation: Text and Context—Towards a Pedagogy of Literary Translation

-Dr Bindu Singh
Assistant Professor, Department of English

Mahila Mahavidyalaya, Banaras Hindu University

Email- bindusingh@bhu.c.in

Abstract

The paper emphasizes that translation is not merely linguistic transfer but a complex cultural negotiation. In the Indian context, terms like '*anuvad'* (Sanskrit) and '*tarjuma'* (Arabic) reflect a historically flexible approach to translation, blending it with paraphrase and interpretation. Retranslating literary texts plays a crucial role in achieving textual completeness. This paper examines how native speakers appropriate culturally embedded elements and approach texts rich in dialects and idiolects. Through analyses of excerpts from Geetanjali Shree's novel *Ret Samadhi* and Phanishwar Nath Renu's short story 'Laal Pan Ki Begum', it explores how translators, informed by lived experiences, make choices that capture deeper meanings beyond linguistic accuracy.

Keywords: Hindi Literature in Translation, Politics of Retranslation, Native speaker.

In his book *Mouse or Rat? Translation as Negotiation (2003)*, Umberto Eco asserts that translation represents a shift not merely between two languages, but rather between two cultures or knowledge frameworks. He emphasizes that translators must consider rules that extend beyond linguistic factors to encompass broader cultural considerations. There have also been different approaches to translation in the Indian Context. K. Satchidanandan aptly remarks:

> We do not even have a proper word for translation in the Indian context, we have, at different times borrowed *anuvad* (speaking after) from Sanskrit and *tarjuma* (explication or paraphrase) from the Arabic or created words like *rupantar* (Bengali), *bhashantar* (Hindi) *mozi paharppu* (Tamil) or *Paribhasha* (interpretation) *vivartanum* (one specific appearance of a phenomenon) and *mozhimattam* (changing the tongue) (all Malayalam). Our predecessors used texts as take-off points and freely told and re-situated them, as was done in the case of the many Ramayanas, Mahabharata and Bhagavatas in different languages.[1]

It is interesting to note that many versions are available of same literary text by different translators who attempt to finish the "incomplete act" as Antoine Berman[2] believes that the translation of literary texts is an "incomplete act" in itself and only through retranslations can it achieve completion, which, according to him, meant coming close to the source text. Not only this but discussions on the 'versions' of translations offer valuable insights in attaining practical skills in the field of Literary Translation. It makes a reader aware that each translation is imbued

significantly with the translator's approaches and methodologies in terms of translation choices. Understanding what drives these choices reveals the cultural context in which the translator operates and the target audience they envision. When a native reader engages with both the original text and its translation, many are motivated to create their own version. Is it a desire to capture nuances or stylistic elements that they feel may have been overlooked? What do they strive to achieve? In this context one can refer to Mikhail Bakhtin's influential ideas on language, dialogue, and the role of context in meaning that explains how the social language is deeply embedded in the context, and consciousness of individuals and groups[3] and carry specific world views situated in a specific locale as he rightly puts it-

> All words have the "taste" of a profession, a genre, a tendency, a party, a particular work, a particular person, a generation, an age group, the day and hour. Each word tasted of life; all words and forms are populated by intentions. (293)

This perspective brings to fore the idea that a native speaker's understanding of language is not merely a matter of vocabulary or grammar; it is deeply influenced by their lived experiences and cultural context and they are able to comprehend the nuances and subtleties of their language far more effectively than a non-native translator. It's not just words that need to be translated but the meaning it evokes has to be transported into the translated text. For instance, idiomatic expressions or culturally specific references may resonate with a native speaker in ways that are lost in translation, demonstrating that language is not just a set of words but a vehicle for cultural expression. Therefore, when considering retranslation, it is crucial to recognize that translation must go beyond linguistic fidelity; it must also strive to capture the rich cultural context that informs meaning. This approach not only enhances the accuracy of the translation but also respects the depth of the original text, ultimately fostering a more authentic connection between the cultures involved. Often what is not conveyed in formal language, but is articulated in literary language what Raymond Williams calls as "structures of feeling" [4] has to be rendered by the translator's as well. Something associated with the social shared cultural 'consciousness' of a society is very well deciphered by a discerning native reader. So, when a native reader engages with both the original text and its translation, and finds some 'incompleteness' and attempts to create their own version, what motivates them. Investigating this hypothesis can bring to the fore a new understanding in the pedagogy of Literary Translation. To test what would motivate me to re-translate and why would I translate made me realize most significantly that translating a literary work calls for not just translating words or syntax into the target language but comprehending the deeper meanings, suggestions, connotations in terms of the context of the narrative. The most elusive meanings cannot always be grasped by verbatim translation word by word, but by intuitively understanding the intent of the narrator. Moreover, one has to see to it that the translated sentences are grammatically correct and cohesive, in consonance with the text.

The following two excerpts: one from the novel, *Ret Samadhi* by Geetanjali Shree and the oth-

er, from the short story, "Laal Pan Ki Begum" by Phanishwar Nath Renu are retranslated keeping the perspectives of how I would have appropriated the text. Daisy Rockwell and Rakhshanda Jalil respectively translated the novel and the short story.

Excerpt 1- Tomb of Sand

Daisy Rockwell's Version

A tale tells itself. It can be complete, but also incomplete, the way all tales are. This particular tale has a border and women who come and go as they please. Once you've got women and a border, a story can write itself. Even women on their own are enough. Women are stories in themselves, full of stirrings and whisperings that float on the wind, that bend with each blade of grass. The setting sun gathers fragments of tales and fashions them into glowing lanterns that hang suspended from clouds. These two will join our story. The story's path unfurls, not knowing where it will stop, tacking to the right and left, twisting and turning, allowing anything and everything to join in the narration. It will emerge from within a volcano, swelling silently as the past boils forth into the present, bringing steam, embers, and smoke.

There are two women in this story. Besides these women, there are others who came and went, those who kept coming and going, those who always stayed but weren't as important, and those yet to be mentioned, who weren't women at all. For now, let's just say that two women were important, and of these, one was growing smaller, and the other bigger.

There were two women and one death.

Two women, one death. How nicely we'll get on, us and them, once we all sit down together! (1)

My Version

A story will tell itself. It will be complete, and unfinished too. The way stories are. Interesting indeed! Across a territorial border, women keep moving, to and fro. Women and the borders in themselves breed stories. A woman herself is a story, resonating the stirrings of secret selves. The wind flows and along flow stories. And the grass that sprouts with the drift of the wind titillates bodies. The setting sun too, hangs many glowing candles of stories along the skies, and they all keep adding to the story. The story's track moves forward– right and left, drifting, volatile, as if – lost the sense of where to pause. And everything is just as any story moves on; the dormant past like a volcano, silently brimming erupts in vapours, cinders and smoke.

In the story were two women. Other than those who appeared and left, or those who were usually coming and going or they too who were almost always there but were not of significance; why bother those who were not women. Two women were of principal concern. One of them was getting smaller and the other larger.

Two women and one death!

Two women, one death and I. Great! hitting it off together.

Since I am a native of the Hindi heartland, my sense of idiom is informed by both my cultural surroundings and my awareness of how men, women, and children communicate with one another. I tried to transcribe the spirit of the cultural scenario I am fa-

miliar with. The choice of words and terms varies from Rockwell's translation. The term 'unfinished' (line 1) with reference to story being told is more suggestive of a task undone, giving a clear picture that something remains half told. Both "incomplete" and "unfinished" can convey a similar idea, but they have slightly different nuances. "Unfinished" often implies that something was intended to be completed but remains in its current state, suggesting an ongoing process or potential for future development. "Incomplete" suggests that something lacks certain parts or elements, emphasizing that it doesn't fully meet a standard or expectation. When considering how to convey the idea of a story that invites further exploration, "unfinished" might be the most fitting term, suggesting potential and room for growth. On the other hand, if the focus is on elements that feel absent or lacking, "incomplete" may be more appropriate. Ultimately, the choice depends on the specific nuance that resonates with the translator. For me, "unfinished" captures the essence perfectly, evoking a sense of possibility and ongoing discovery. The border also calls for a little more explication as I could make out the succeeding events in the story will develop with reference to a space, a landscape where the borders of two neighboring states meet. In my translation the border is no longer a vague term. The usage 'unfurls' according to me does not transcribe the opening of a path. "The story's track moves forward" astutely puts the intent of the narrative.

Excerpt 2- Queen of Hearts

Rakshanda Jalil's version

'Hey, Birju's mother, won't you go to see the dance?'

Birju's mother was sitting in the courtyard, peeling sweet potatoes and simmering with quiet rage. Her seven-year-old son, Birju, had just been smacked several times and was now rolling in the dirt, getting himself thoroughly dirty. And that wretched girl, Champiya- there was no trace of her! She had been sent to the grocer to buy some gur when the sun had been only halfway across the courtyard; it was nearly time to light the lamps and she still hadn't returned. Let her come!

The poor billy goat was riddled with ticks, and so it was kicking its feet and running about. Birju's mother had already found an excuse to vent some of her pent-up rage on the goat. The green chilly bush that grew in the backyard. Who could have chewed it up except that miserable goat! She had picked up a clod of earth to hit it with, when that interfering old busy body, Makhni Phua, called out, "Hey, Birju's mother, won't you go to see the dance show?

'Birju's mother could have gone if she didn't have a nose ring in front and a tether at the back!' (79)

The jabbing words dunked in hot rage pierced Phua's body. Birju's mother dropped the clod of earth, muttering, 'Ooooh, the goat is troubled enough by the ticks. Aaahhhh! Hrrrrrrrr!'

My Version

"Why, Birju's Ma, won't you go to watch the *nach*?"

Birju's Ma, seething with rage, was sitting in the courtyard with a bowl of just boiled sweet potatoes in front of her. The seven-year-old Birju instead

of the sweet potatoes having received tight slaps from his mother, was rolling in the soil, rubbing it all over his body. "Champia head is possessed by a witch…she left the house when the sun had left half of the courtyard to buy jaggery syrup from the grocer, but hasn't returned yet. It's the hour of lighting lamps. Let her come back, I'll see!"

The body of the goat, Baangad, was infected with dog-flies. The poor Baangad was restlessly jumping and hopping. Birju's Ma was looking for some pretext to unleash her anger on Baangaad. Who would devour it except Bangaad, the fully bloomed shrub of chillies in the backyard! She picked a small clod of mud to hit Baangaad, in the meanwhile the neighbour Makhni Phua's voice was heard, "Why Birju's Ma, won't you go to watch *nach*?"

'How would it be possible for Birju's Ma, who is fettered from all sides, Phua!'

The sharp heat of the remark as if bruised Phua. Bhirju's Ma dropped the muddy clod nearby– "Poor Baangad is tormented by dog-flies. Aaa-ha, aay… aay…aay! Harr-r-r! Aah-aah!"

In order to remain as close to the Bihari, rustic idiolect, I have avoided some of the distinctly western usages employed by Jalil. The opening two lines are also marked by clubbing of words which show inconsistency in the narrative e.g., for Jalil's simmering with quiet rage I have used seething with rage. In Jalil's version, the moments of Birju's Ma's musings are not within inverted commas that confuse the reader. The verbatim translation of Jalil, "nose ring in front and a tether at the back" hardly transcribes the folk way of articulating the anxiety of a rural woman, who is tied to the routine of household chores.

Translation places a translator in a fraught situation and the translator struggles to translate idiolect and dialects. As a translator I attempted to convey the intent rather than attempting a verbatim transference. Harish Trivedi himself a translator shares his perception that variation in cultural sensibilities that manifest in idioms of language will continue to pose many questions to a translator. In the contemporary world, however, notwithstanding the many challenges it provokes and invokes, translation is inevitable as it promotes the possibility of greater intercultural empathy and understanding.

References

1. Gupta, N. (2016). *Translating Bharat, Reading India*. Aakar Books, p 1.

2. Berman, A. (1990). La retraduction comme espace de traduction. *Palimpsestes*, 13, 1-7.

3. Bakhtin, M. M. (2010). *The Dialogic Imagination: Four Essays*. United States: University of Texas Press. p.293.

4. Williams, R. (1977). *Marxism and Literature*. Oxford University Press. p.132

5. Shree, G. (2022). *Tomb of Sand*: WINNER OF THE 2022 INTERNATIONAL BOOKER PRIZE (D. Rockwell, Trans.). London: Tilted Axis Press.

Reṇu, P. (2010). *Panchlight and Other Stories.* (R. Jalil, Trans.). India: Orient Blackswan, p.79.

******

Conception of Women Liberation in the Feminist Writings of Margaret Atwood

-Dr. Vijay Singh Mehta
Assistant Professor
Department of English
Government Degree College, Dugnakuri, Bageshwar, Uttarakhand

ABSTRACT
The present paper is an endeavour to highlight a literature-based study of feministic orientation explored by the writing of eminent feminist writer Margaret Atwood. The Author, through her writings, wants to create a world free of any kind of discrimination based on sex. The writer in her works conceives of a society in which liberation of women from any kind of gender-based oppression is possible and women could flourish to enjoy every opportunity without sexist orientations.
Keywords: Margaret Atwood, Feminism, Literature, Equality.

Margaret Eleanor Atwood, as a feminist writer and a Canadian nationalist concentrates on the issue of gender inequality, women's problems and their quest for identity in her novels. As Eleonora Rao writes, "the majority of critical readings of Atwood's work, however, stress the presence of the motifs of the quest for unity and self-discovery." Her novels portray the power struggle between the sexes. Atwood, in her novels explores and illuminates the miserable condition of women in the suffocating patriarchal society. J. Brook Bouson remarks in this context, "Margaret Atwood's novels portray women's extreme anxieties about male domination and sexual exploitation that have always plagued women."

Atwood's novels depict women's subordination and oppression in the patriarchal society. Male manipulation and exploitation of the female body is a commonly-found phenomenon in her novels. There are so many writers who have dealt with the issue of gender inequality, women's victimization and power struggle between the sexes, but none portray them in such an appealing manner as does Atwood. The nameless protagonist from *Surfacing*, Elaine Risley from *Cat's Eye*, Marian from *The Edible Woman*, Joan foster from *Lady Oracle*, Elizabeth and Lesje from *Life before Man*, Rennie Wilford from *Bodily Harm*, and Offred from *The Handmaid's Tale*, all suffer varying form of victimization. These women protagonists are singled out of society and are forced to struggle both internally and externally. But despite facing varying form of victimization, Atwood's protagonists ultimately survive and achieve a new stage of self-awareness. They reach the creative non-victim position as discussed by Atwood in *Survival: A Thematic Guide to Canadian Literature* and metamorphose from being a helpless victim to a strong individual. As Rosenberg states:

> Margaret Atwood concludes with the poignant hope that, bored and hurting, caught in an imprisoning world that seems to offer no solace, we may possibly, somehow, survive after all.

Atwood raises her voice against the gender based injustice and proposes feminist alternatives through her writing. Her feminist vision is much broader than any of her contemporary feminist writers. She is versatile feminist writer who covers all aspects of feminism in her novels. As a feminist writer, Margaret Atwood cannot be associated with any particular stream of feminism. Indeed, she proposes a new unified theory which links all these different streams of feminism. Howells remarks:

> In her fiction Atwood handles a comprehensive range of social issues from such a variety of perspectives that it eludes the simplicity of any single feminist position.

As a feminist, Atwood is mainly concerned with various modes of women's victimization in this patriarchal society. In her novels, she examines gender-

based discrimination against women by this male-dominated society. Atwood challenges and criticizes this gender based discrimination. The aim of her feminist perspective is to establish a gender equitable society, which should be totally unbiased against women. Through her fictional characters like Marian, Joan Foster, Rennie, Elizabeth, Lesje, Offred and Elaine, Atwood shows a path to suffering women who are unable to assert and protect their basic human rights. Atwood's novels reflect different modes of victimization of women in the name of tradition, modernity and marriage. She tries to deconstruct gender power politics in her novels. She wants women to renounce their victimised position and become a creative non-victim. As Christine Gomez comments that Atwood wishes women "to repudiate their victim role, and try to reverse the victim-victim roles or come out of the gender-struggle situation by becoming creative non-victims."

Atwood's feminist vision is quite broad, comprehensive and offers a fresh perspective on women's problems. Atwood voices strong feminist themes through her writing. In fact, the issue of gender remains her major preoccupation. A careful scrutiny of Atwood's female protagonists from *The Edible Woman* to *Cat's Eye* shows that her female protagonist is a representation of that every women who is victimised and minimized by gender and politics. She portrays the sufferings of her female protagonists who are confined within the four walls of their houses. Her novels illustrate the strength and proactive nature of women as they fight against gender inequality and search for their independent identity. Rigney points out:

Atwood's protagonists are always explorers through tradition and myth in search of a new identity and in search of a voice... with which two proclaim that identity.

Atwood's novels grapple with the politics of gender. She draws attention of the readers to the deleterious dimensions of the gender discrimination. Her novels are indeed based on the politics of gender. Christine Gomez comments in this context:

At the thematic level, Atwood's novels examine themes related to the politics of gender, such as enforced alienations of women under patriarchy, the delimiting definition of woman as a function, the patriarchal attempt to annihilate the selfhood of women, the gradual carving out of the female space by women through various strategies and women's quest for identity, self-definition and autonomy.

Atwood's novels are governed by a strong feminist consciousness which runs as an undercurrent. Her protagonist eventually transcend their gender-assigned roles and urge for healthy human relationships between men and women. Though initially her female protagonists are victims in the hands of their male counterparts, yet they finally emerge as survivors. Sometime, in order to save their existence, Atwood's women protagonists also become rebellious. Her female protagonist's struggle hard to find the meaningful existence for them. Though they are victimized in a number of ways, yet they manage a successful survival at last. All protagonists are forced to endure varying degree of victimization but they don't give up and overcome their adversities. Finally, they are able to find their own distinct identity.

Atwood focuses on the pitiable condition of women in a society which is predominantly male-oriented. She raises the issue of woman's search for a discreet identity from a feminist point of view. According to Atwood, women, up to a large extent, are willing victims of this essentially male-oriented society. They are willing victim because despite being aware of this victimization, they do not take any preventive measure against this victimization and continue to be a victim of masculine hegemony.

Atwood also defies the notion that women must follow the norms of morality and become a role model for the society. She opposes this ideology by saying why we expect role modelhood from females only and why we do not expect from a male to be a role model as well. She wishes women to be strong so that they can oppose male domination. As critic Germaine Greer says that Margaret Atwood expects women:

to refuse hobbles and deformity and take pos-

session of their body and glory in its power, accepting its own laws of loveliness... have something to desire, something to make, something to achieve, and at last something genuine to give... To claim the masculine virtues of magnanimity, generosity and courage.

Atwood's novels tell us about the unequal general structure that is found in a patriarchal society, in which women are victimized, suppressed and exploited at every step. Her novels also reflect the struggle of her female protagonists to establish their independent identity. Atwood in fact dreams of a new world where there is no discrimination between men and women. Hence, she wants to place woman on equal footing with her male counterpart. In this way, Atwood wishes to demolish the gender power structure which does not let a woman grow as an individual. According to Atwood, women becomes a victim in the hands of patriarchal forces that subjugates her and creates a constant threat to her individuality.

Through the female characters of her novels, Atwood raises the question of woman's place in a patriarchal society. She expresses her anguish over the dominance of this male-oriented society which puts various obstacles in the path of a woman so that she cannot have an independent identity. Atwood also examines the various aspects of woman's search for an identity in her novels. Atwood's woman character initially fits herself within a male imposed identity but later resists this male imposed identity and starts looking for her own independent identity, and this quest for an identity ends at last when she becomes the decision maker of her life. In the beginning, these women protagonists seem to be very innocent and weak, whose life is fully dominated by the males. But ultimately they realise their victimization and decide to fight against this patriarchal culture. As a result, they turn out from a meek and docile woman to a powerful woman. As critic Goldblatt states:

After enduring, accepting, regurgitating, denying and attempting to please and cope, Margaret Atwood's woman protagonists begin to take action and change their lives.

In order to survive, Atwood's woman protagonist raise their voice against the inequalities of this gender biased society. Thus, they register their strong protest against male domination. Now they do not depend on their male companions for their identity and attain a distinct identity of their own. Her protagonists rebel against the possessive attitude of males and deny to be confined within four walls of their houses. Her novels throw light on how male sex victimizes female sex and also at their possessive attitude towards females. The protagonists of Atwood from *The Edible Woman* to *Cat's Eye*, revolt against male sexual politics. They rebel against male sexual politics which treats woman just as an object to satisfy male sexuality. The irony of the situation is that on one hand, male is completely free to fulfil his sexual requirements but on the other hand, woman has no choice on the matters of love and sex. She is even unable to express her sexuality just because of the social barriers put upon her. Thus, we notice double standards of morality that exists in the male-oriented society.

The women protagonists of Margaret Atwood's novels accept to fight the battle of life than to surrender. They do not surrender before adverse circumstances. They do not compromise with life and always try to give it a better shape. They all are resolved to live their life to the fullest. Thus, these women protagonists, during their quest for an identity, gain strength and become strong.

Thus, through her novels, Margaret Atwood gives a clear cut message that both men and women should be treated equally as they have the same human capabilities. She strictly opposes the gender-based discrimination and wishes that both sexes should be given equal opportunities to grow and prosper. Atwood also criticizes the stereotype gender roles imposed upon women in a patriarchal society. She tries to instill pride, confidence and dignity in women through her novels. She strongly urges to create a conducive atmosphere for the all around development of women. Atwood attacks on patriarchal power structure and male authority in her novels.

Her novels expose the hollowness of the double standards of morality and discrimination against women in this male-dominated society. Her female protagonists teach that the best way to resist the victimization of women is to rebel against the system which is responsible for this victimization.

Atwood's women protagonists act as spokespersons to those thousands of suffering women who are humiliated and victimized at every step of their life. These protagonists of Atwood become an embodiment of women empowerment who fight against these inequalities. They all quit their passive outlook towards life and condemn the unequal and unjust gender biased discrimination.

Thus, the woman protagonists of Atwood ultimately realise that they have their own identity, which is distinct and particular to each one alone. Atwood's major contribution to contemporary fiction is that she brings hope to the oppressed and victimized women protagonists. The moral of her novels is that there should be equality in social relationship between men and women and they should live united to keep the world free from sexual exploitation and molestation.

A critical study of Atwood's novels shows that her novels are feminist thought-provoking novels that rise above gender. They don't extend the gap between men and women but give way to develop a healthy and balanced human relationship between opposite sexes. Atwood claims freedom of interest and expression for women and also an equal status like men. Atwood pleads the human rights of women and gives a warning to the patriarchal society to demolish the gender-based social system. What she wants is to establish such a society that concentrates at the all-around development of women's personality. Hence, Margaret Atwood's feminism is neither male-oriented nor female-oriented but is a sort of midway in which both sexes should look upon themselves as equal partners.

References

Bousun, J. Brooks. "The Misogyny of Patriarchal Culture in *The Handmaid's Tale." Brutal Choreographies: Oppositional Strategies and Narrative Design in the Novels of Margaret Atwood*. Amherst: University of Massachusetts Press. 1993. 135. Print.

Goldblatt, Patricia F. "Reconstructing Margaret Atwood's Protagonists." *World Literature Today*. 1999. 275-82. Print.

Gomez, Christine. "From Being an Unaware Victim to Becoming a Creative Non-Victim: A Study of Two Novels of Margaret Atwood" in *Perspectives on Canadian Fiction*. 1994. 73-93. Print.

Greer, Germaine. *The Female Eunuch*. New York: McGraw-Hill Book Company. 1980. 328. Print.

Howells, Coral Ann. *Margaret Atwood*. London: Macmillan Press. 1966. 14. Print.

Prabhakar, M. "*Feminism/Postmodernism*" in Margaret Atwood's Fiction. New Delhi: Creative Books. 1999. Print.

Rao, Eleonora. *Strategies for Identity: The Fiction of Margaret Atwood*. New York: Pater Lang. 1993. 17. Print.

Rigney, Barbara Hill. *Madness and Sexual Politics in the Feminist Novel*. Wisconsin: University of Wisconsin Press. 1978. 104. Print.

Rosenberg, Jerome H. *Margaret Atwood*. Boston: Twayne Publishers. 1984. 133. Print.

******

Shakuntala: A Paragon, Submissive, or the Woman Wronged

-Shruti Pareek
Research Scholar
(Department of English)
Shyam University, Dausa, Rajasthan

Introduction:

This paper portrays a literary conversation between a research scholar and an author. It enlightens an ambitious interview with Utkarsh Patel aims at establishing several new standards for Feministic as well as myth-poetics study for readers, future scholars or learners as here, Feminism examines through the sufferings and struggles of the iconic feminine beauty, the legendary Shakuntala of Ved Vyas from Adi Parva of *Mahabharata* and dainty, delicate, and submissive Shakuntala of Kalidasa under modern Circumstances as presented by Patel in his revolutionary reworking of *Shakuntala: The Woman Wronged* in fictional Form published by Rupa Publication (2016).

Utkarsh Patel, a Professor of Comparative Mythology at the University of Mumbai, is a staunch Feminist and most strong advocate of feminine freedom and liberty. Patel places mythological women in modern situations and sees their way of action under similar circumstances with a modern perspective. Today is the time when we are ruled by the constitution not by religious scriptures, hence dehumanizing women on the pretext of religious norms and commandments is questionable and beyond authority. Shakuntala challenges this male hegemony and denies complying with it; in the end, she chooses a separate path for herself leaving both the males of her life viz. Dushyanta and her son, Bharata.

Conversation with Utkarsh Patel

❖ **Shruti Pareek:** I extend my enthusiastic warm welcome for this conversation, sir. It's a pleasure to have your views on such an interesting topic of ancient Indian mythology and contemporary perspectives.

❖ **Utkarsh Patel:** It's my pleasure to be the part of conversation.

❖ **Shruti Pareek: What is mythology for you? Is mythology religion?**

❖ **Utkarsh Patel:** For me, mythology is not religion. The mythology became religion is a different subject and it is true only for India. For the Greeks, Egyptians, and Chinese it did not. What happened was through mythical characters we defined our polytheistic religion and we continued with it. All the mythical characters started becoming Gods. The whole concept of Hinduism per as if you look at it is very open. Every other religion has a very clear code of conduct. There is only one book. Until the British did not come probably, we did not have the answer to which is our religious book. It was only when the British landed and asked how we would take the oath that we said *Gita.* Otherwise, why not the Vedas, why not the Puranas? The moment you turn mythology into religion it becomes a touch-me-not subject. To me, the hero of Ramayana is Ram and not lord Ram. He is a mythical figure for me.

❖ **Shruti Pareek: How would you explain the intolerance to other faiths that Hindus are increasingly displaying?**

❖ **Utkarsh Patel:** What we are witnessing is not more of I-love-my-religion sentiment. It is more of I-hate-your-religion sentiment as a way to prove I love my religion. This in his opinion is a dangerous trend because in the process many Hindus themselves will want nothing to do with Hinduism. It will create alienation. Besides, it will also create a confused generation. Why? Because while on the one hand, we are launching missiles and talking about development we are also bringing in a regressive backward thinking narrow mind set by referring to mythological stories that hold no relevance today besides being a looking glass into the way life once was.

❖ **Shruti Pareek: How would you explain the bans, etc., how would it explain the intolerance to other faiths that Hindus are increasingly displaying?**

❖ **Utkarsh Patel:** The sanitization has reached its peak. While the right-wingers are busily gutturalizing an already evolved culture, they forget Hinduism began as a philosophy of questioning. That it was a way of life and that it had no codification.

❖ **Shruti Pareek: Source of your heroine Shakuntala.**

❖ **Utkarsh Patel:** I teach mythology, but my novel *Shakuntala: The Woman Wronged* is fiction. Yes, my novel is based on Vyasa's characterization of Shakuntala in his *Mahabharata*, but given that I have

chosen to add two characters to further strengthen Shakuntala as a character, I chose to call it fiction. This is where I try to make my first point about mythology clear – that they are ancient original stories of a culture that have to be left that way. Calling it an interesting re-telling or reinterpretation of mythology for modern sensibilities is a dangerous trend because in the end – say a hundred years from now – these stories will camouflage the real stories. In the process it will influence minds and people will begin to accept and believe these changed facts, I mean, who while broadly accepting mythological stories for what they are – stories, also accepts that there must be grains of history in their weaving. For easier understanding, I divide tales from Hindu mythology into two distinct eras the Vedic and the Puranic. Vedic mythology involves simple shlokas that are left to the listener/reader to interpret.

❖ **Shruti Pareek: Difference between Shakuntala of Kalidasa and Utkarsh Patel.**

❖ **Utkarsh Patel:** Kalidasa's Shakuntala can be everything but a firebrand woman. Kalidasa's Shakuntala can be an epitome of beauty, patience, and perfection but she can't challenge the patriarchy while the modern Shakuntala questions all the biased rules and regulations set by the patriarchy.

❖ **Shruti Pareek: Your views on Vedic Mythology.**

❖ **Utkarsh Patel:** The Vedic Hindu mythology is all about questioning; right from the self to God. But the Puranic has no space for questioning. Probably because there were several aspects of the way of life of that time that the Puranic generation had started to grow ashamed of. They did not want to talk about it neither did they want to debate it.

❖ **Shruti Pareek: Why is this generation of readers suddenly so hooked on tales from the past?**

❖ **Utkarsh Patel:** Probably the English-educated Indian populace brought up on a diet of Western mythology reached a point where they had had just too much of Percy Jackson and Harry Potter. It was time for introspection. Additionally, the Indians settled abroad and needed something more than traditional attire and food to build links for their children with India. The time was right for the serving, look and, behold Indians were hit from every side with 'retellings' of mythology – be it in the form of Chhota Bheem or a slew of books re-interpreting/re-telling the story of mythological characters. Let me get this clear, I am professor of mythology, but my novel *Shakuntala: The Woman Wronged* is fiction and inspired by Shakuntala of *Mahabharata*, but I have added two characters to strengthen Shakuntala as a strong feministic character, so I chose to call it fiction only.

❖ **Shruti Pareek: Why do the works of Kalidasa appeal most to modern readers?**

❖ **Utkarsh Patel:** The reason that Kalidasa's superb description of Nature. Kalidasa's heroines are invariably associated with light-hearted female friends, just as his heroes are always accompanied by light-minded jesters. In the Shakuntala, Priyamvada is, as her name signifies, sweet-tongued, affectionate, and given to good-humoured artillery. It is worth noting that flashes of wit and humour are more and more conspicuous in their successive speeches. The case of Kalidasa bears out the truth of our assertion. Though he is acknowledged by ancient and modern scholars to be the brightest star in the galaxy of classical Sanskrit poets, in India he is admiringly called the prince of poets by the connoisseurs of literary art and thought in the world's literature.

❖ **Shruti Pareek: What issues does you raise through Shakuntala?**

❖ **Utkarsh Patel:** Through Shakuntala, I raised many pertinent issues related to sexuality, morality, and heredity.

❖ **Shruti Pareek: What better way to meditate upon the world than through the safety net of a story – a story like Shakuntala?**

❖ **Utkarsh Patel**: My protagonist is not the demure Shakuntala made popular by the poet, Kalidasa. Kalidasa's famous play, *Abhijnanashakuntalam* (roughly translated to 'The recognition of Shakuntala'), was derived from an episode in the *Mahabharata*, which lay down the lineage of the kings of Hastinapura.

❖ **Shruti Pareek: Who are extra added fictional characters but kept the story very close to the original and what is their relevance?**

❖ **Utkarsh Patel**: To present the character of Shakuntala as a thoughtful, inquisitive, and protagonist, I introduced the story of Madhavi and Ahalya as rebellious well as the character of Priyamvada is also in stark contrast with that of Shakuntala. I am not a feminist in the true sense of the word but when it comes to women, I do not appreciate double standards. My Shakuntala questions all the set standards of erstwhile society. When Rishi Gautama comes to the Ashrama of Sage Kanva, Shakuntala is informed about his story and comes to know about the plight of Ahalya because of the act of adultery that she committed with Lord Indra which consequently invites a curse upon her by the Maharishi Gautama and she is transformed into stone till Lord Rama dissolves her sins. And Madhavi was the daughter of

the great king Yayati. This story from Mahabharat, although not very popular but her story also disturbs Shakuntala to the depth of her heart and she sympathizes with Ahalya who has to remain as stone for a sin she committed unmindfully. She questions vehemently the social standards which are completely inhumane toward women.

❖ **Shruti Pareek: Why did you decide to rewrite on a story of Indian Hindu Mythology?**

❖ **Utkarsh Patel**: I decided to write this book simply because, though Indian Hindu Mythology refers to a lot of strong women, these women only form a part of the narrative and are never assigned the role of the hero. In the *Mahabharata*, Shakuntala may be a small story, but it is the story of a fiercely independent woman. She is the hero of her story, but the rules of dramatization of those days did not allow women in that role. I have taken the lengthy monologue delivered by her in Dushyanta's court, where she is proving her identity as his wife and mother of his son, and novelized it. Taking poetic license he has introduced two characters – that of Ahalya and Madhavi – and presented them through the eyes of Shakuntala. And, Patel has not attempted cultural sanitization. Whether then they chose to shut their eyes or accept that this was the way things were – no more, no less – is up to them.

❖ **Shruti Pareek: What was the initial response of this as first-time author?**

❖ **Utkarsh Patel:** The initial response was good as for a first-time author many people rely on word of mouth. I received positive feedback from my publishers as well as the readers. Commenting on what sets this book apart from what has been portrayed earlier. This book compares Shakuntala to today's modern-day woman and wife. A woman who is independent, assertive, courageous, and yet endowed with tenderness, the capability of great love, and the ability to take risks as well as give of oneself unreservedly, and a wife who insisted on equality and respect from her man; who reminded her husband of his duty towards her; who told him what honour is and what an honourable man should do.

❖ **Shruti Pareek: What does mythological re-appropriation focus in *Shakuntala: The Woman Wronged* on?**

❖ **Utkarsh Patel:** The mythological re-appropriation in *Shakuntala: The Woman Wronged* focuses on the fossilized archetypal feminine identity and eclipses the dynamic side of the mythical Shakuntala.

❖ **Shruti Pareek: How does *Shakuntala: The Woman Wronged* end differently?**

❖ **Utkarsh Patel:** My Shakuntala finally got rebellious towards the god for making her life so miserable and also for being forgotten by her husband and chooses to stay away from her husband and son in the end. She practiced such harsh self-denial, that eventually her husband, as King of earth, never reconciles with the patriarchy. My Shakuntala is wronged yet she does not bear any grudges against any of the members of the patriarchal society instead chooses her path to find peace. She dared to stand up for her, to stand up for all the women exploited on any pretext, and above all, she revolted against the commodification of women.

❖ **Shruti Pareek: What message do you wish to deliver today's modern woman?**

❖ **Utkarsh Patel:** My mythical appropriation reinforces the archetypal identity and obscures the individuated identity of women. Such representation of women in passive roles as victims and puppets culminates in mythological oppression and calls for the revision of Indian feminist mythopoeia. Therefore, emancipation from myth-inspired archetypal deadlock is essential for the endorsement of a flourishing literary and social ambiance. It is essential for radical social change that women facilitated by the process of individuation tend to discover more about their existence than the societal position prescribed by the mythical persona. My book compares Shakuntala to today's modern-day woman and wife. A woman who is independent, assertive, courageous, and yet endowed with tenderness, the capability of great love, and the ability to take risks as well as give of oneself unreservedly, and a wife who insisted on equality and respect from her man; who reminded her husband of his duty towards her; who told him what honour is and what an honourable man should do. According to me modern women and girls have to learn these things.

******

The Paradox of Hybrid Inheritance in Derek Walcott's "A Far Cry from Africa"

Dr. Suresh Frederick
Associate Professor & UG Head, Department of English,
Bishop Heber College, Tiruchirappalli, Tamil Nadu
sfheber@gmail.com

Abstract

The poem "A Far Cry from Africa" by Derek Walcott exposes the split identity and anguish. Through the use of witty wordplay, the poet explores the inequalities that exist between the coloniser and the colonised. It also depicts the anguish experienced by a man who is caught between two different societies. This identity crisis, which he experiences as a direct result of his interactions with other people, is explored throughout the poem. Throughout the course of the poem, he decides to begin his search for his own identity; yet, his efforts ultimately prove fruitless because he eventually admits his love for both the English language and his own background. This article studies the split identity and anguish present in the poem.

Keywords: Derek Walcott, Split Identity, Anguish, Identity, Colonialism, Caribbean Poetry.

Introduction

"A Far Cry from Africa" is a poem by Derek Walcott. This poem belongs to postcolonial poetry. Mainly the poem discusses the events of the Mau uprising in Kenya. In his poem, Walcott explores the concept of split identity and the anguish it causes in the face of a conflict in which he cannot support either side. It is, in essence, about the poet's conflicted views between the counter-terrorist white colonial authority and the Kenyan terrorists, both of whom were inhuman, during the country's independence struggle in the 1950s. The persona, who is likely the poet himself, has both types of blood running through his veins, thus he cannot choose a side.

About the Writer

Derek Alton Walcott (1930 – 2017) is a poet and playwright noted for works that explore the Caribbean cultural experience. In addition to receiving various honours, Walcott has taught in the West Indies and America. He has held academic positions at Yale, Columbia, Harvard, New York University, and, since 1981, Boston University. Among his many honours are the 1965 Royal Society of Literature Heinemann Award for *The Castaway and Other Poems*, the 1971, Obie Award for the most eminent off-Broadway play for *Dream on Monkey Mountain*, the Guggenheim Award in 1977, and the MacArthur Foundation Award in 1981. Walcott has written more than twenty books. The Nobel Prize for Literature was awarded to Walcott in 1992.

Background for the Poem

Walcott was born in the capital city of Castries on the eastern Caribbean island of St. Lucia, a British colony at the time. Although English was St. Lucia's national language, Walcott also grew up speaking a French-English dialect. His grandparents were both black, whereas both of his grandfathers were white. Walcott was a bit of an outsider in St. Lucia from the beginning. His mother was a teacher at a Methodist grammar school who also worked in local theatre, and his father was a civil servant by profession and a fine artist and poet by passion. They lived in a developing nation that was predominantly Catholic, his parents were middle-class and Protestant.

Title of the Poem

"A Far Cry from Africa" by Derek Walcott is an intriguing title. The title of the poem contains an idiom, "a far cry", denoting an impossibility. The title implies in one sense that the poet is writing about an African subject from a distance, but the poet also seems to employ the terms in other contexts as well. He feels as though he is far away from Africa when he writes from the island of St. Lucia, both practically and figuratively speaking. The other level of

meaning of the title is the notion that Walcott heard the poem as a far cry travelling hundreds of miles across the ocean. Another interpretation of "a far cry" is that the actual situation of the African "paradise" is quite different from the descriptions of the continent's beautiful flora and fauna and fascinating village customs that everyone has read about.

Animal Images

A significant aspect of the poem is the use of animal imagery. The poet uses imagery of animals, such as lions, flies, worms, and ibises to express his thoughts and opinions. The noble lion, the most recognisable of all African animals, is present in many of the continent's nations. Africa resembles a lion with a "tawny pelt" in every way. Native Africans of the Kikuyu tribe are compared to bloodsucking flies. A horrible vision of a massacre committed by the British colonists is shown when they are compared to worms that eat human flesh. The ibises are African natives who roamed freely in the forests and meadows before the British invaded and seized control of their territory.

Walcott's Conscience

On the one hand, Derek Walcott likes having an English tongue, but on the other, he finds it intolerable to see African people, with whom he shares ancestry and some traditions, brutally murdered. He cannot support injustice because of his conscience. He is unsure of what to do, troubled, and eager to promote harmony and peace in the area. The dramatic opening of "A Far Cry from Africa" introduces a gruesome image of violence on African soil. "Batten upon the bloodstreams of the veldt. / Corpses are scattered through a paradise" (A Far Cry ll. 2, 3). "bloodstreams" and 'scattered bodies" depict horrifying battlefield scenes. "Only the worm, colonel of carrion, cries" (A Far Cry l. 6). The image of "the worm" is the ultimate symbol of death and decay. Following the murder of a white infant in its bed by blacks, native blacks are killed like Jews in the Holocaust.

Brutality in Kenya

The poet describes the "Kikuyu" and the brutality in Kenya, the bloodshed in a "paradise". "Scholars" have a tendency to cast their weight behind colonial policy by citing 'statistics" that do not signify anything. By the norms of the late 1960s, Walcott's fury seems very justified and even restrained. The poet's likeness at the poem's conclusion is even more startling than the animal metaphors. He is torn apart and unable to escape.

Pun on Colonel

The following are very poignant lines: "Only the worm, colonel of carrion cries / 'waste no compassion on their separated dead' " (A Far Cry ll. 4, 5). Additionally, the word "colonel" is a pun on the word "colonial". In the struggle for control of Africa and its people, the British, who are portrayed as a force with artificially boosted strength, and the Africans, who are thought of as having a primordial natural strength, are still on the same level.

Hunting as a Big Game

People put humanism in the background while they competed for wealth and territory. While hunting was a means of survival for primitive people, it is now recognised as an amateur or professional sport. "Threshed out by beaters, the long rushes break / In a white dust of ibises whose cries…" (A Far Cry ll. 11, 12). To terrorise and bait birds and animals out of their hiding places so they might be attacked, hunters used beaters to stir up the bushes. The ibises, which the locals revere as sacred, are scared away in the process. Consequently, even their nomadic ancestry taught that violence was a negative phenomenon.

Killing as a Natural Law

The "natural law" that prescribes that animals must eat and kill each other in order to exist is something that Walcott considers to be a reasonable kind of violence. However, human beings have turned even the repulsive behaviour of animals into something much more heinous and meaningless. Animals are superior to "upright man" due to the fact that animals do what they need to do and do not seek divinity via the infliction of pain. This gives animals an advantage over "upright man". Walcott contends that people, as opposed to animals, have no justification for killing civilians during the violence in Kenya. The violence that exists among them has evolved into a nightmarish, colour-based horror that cannot be tolerated.

Poisoned Blood

This tragic conclusion shows how being uprooted and alone can affect a person. "Where should I go if I've been poisoned by both of their blood, divided to the vein?" (A Far Cry ll. 26, 27). Due to his mixed blood, Walcott feels alien in both societies. Because of his mixed origin, the poet is unable to identify exclusively with any one culture; rather, his sense of identity is shaped by cultural influences, which establish his or her character in accordance with the norms of a given civilization. Thus, a sense of isolation is produced.

The Conqueror and the Conquered

Although Walcott describes the ruthless imperialist activities of the British without evoking sympathy for the African tribesmen, he presents Africa and Britain in the traditional roles of the conqueror and the conquered. This enables Walcott to analyse each culture's flaws objectively without returning to the bias brought on by focusing on moral issues.

However, Walcott disproves the idea that the British are the world's rescuer by giving them a negative description in the concluding lines.

Conclusion

Walcott's conflicted allegiances make him feel guilty since he longs to emulate the "civilised" lifestyle of the British but is unable to justify the British's unethical treatment of Africans. This causes him to feel guilty. The magnitude of Walcott's confusion is made clear in the poem by the poet's failure to overcome the paradox of his hybrid inheritance.

References

Ashcroft, Bill, and Gareth Griffiths. *Post-colonial Studies: The Key Concepts*. Routledge, 2007.

Als, Hilton. "Derek Walcott, a Mighty Poet, Has Died." *The New Yorker*, 2017, www.newyorker.com/culture/culture-desk/derek-walcott-a-mighty-poet-has-died.

Azam, Iftekarul. "Ambivalence in Derek Walcott's Poetry: A Comparative Study." *IJELLH*, vol. 4, no. 5, May 2016.

Baer, William, editor. *Conversations with Derek Walcott*. University Press of Mississippi, 1996.

Baugh, Edward. *Derek Walcott*. Cambridge University Press, 2006.

Bradley, Heather M. "Conflicting Loyalties in 'A Far Cry from Africa.'" *Postcolonial Web*, 1997, www.postcolonialweb.org/caribbean/walcott/bradley2.html.

Breslow, Stephen. "Derek Walcott: 1992 Nobel Laureate in Literature." *World Literature Today*, vol. 67, no. 2, Spring 1993, pp. 267–271.

Mahajan, Nidhi. "Cultural Tensions and Hybrid Identities in Derek Walcott's Poetry." *Inquiries Journal*, vol. 7, no. 9, 2015.

Mason, David. "Review: The Fame of Derek Walcott." *Hudson Review*, vol. 67, no. 3, 2014.

Spacey, Andrew. "Analysis of Poem 'A Far Cry from Africa' by Derek Walcott." *Owlcation*, 2020, owlcation.com/humanities/Analysis-of-Poem-Where-Im-From-by-George-Ellen-Lyon.

Walcott, Derek. *In a Green Knight: Poems, 1948–1960*. J. Cape, 2009.

****

Environmental Consciousness among Primary School Teachers

-Vinita Rani
Research Scholar
M.J.P. Rohilkhand University
Bareilly, U.P

-Prof. B. R. Kukreti
Ex. Head & Dean B.Ed/M.Ed Dept.
M.J.P. Rohilkhand University,
Bareilly, U.P.

Abstract

The most important strategy to fight against environmental degradation is to develop environmental consciousness, values and awareness among all children since the early stage. It is essential to make intensive efforts to modify the environmental behaviour of the children so that the future generations are made conscious towards the hazard and consequences of environmental degradation and pollution. Childhood is the best period to create feeling towards better environment because in this stage physical and psychological effects become more prominent. Teachers are the sacred trust of the future society and nation. Therefore, the teacher has a special responsibility to ensure that every teacher is responsible and endowed with strong character and unique abilities and in-depth knowledge of our environment. It is the teacher who will explain and disseminate the message of environmental education to the students, irrespective of the level of education he or she belongs to. A teacher equipped with the necessary knowledge, skills and attitude is an essential condition for successfully starting any programme of environmental education in schools. Therefore, keeping in view the importance of primary school teachers in creating environmental consciousness among children and the general public, it is essential to inculcate environmental consciousness, values and problem solving skills among primary teachers. In the this investigation, an attempt was made to study the environmental consciousness among primary school teachers in relation to their genders, locality and types of organization. Results of this study revealed that male teachers, urban teachers and teachers of Convent Schools had more environmental consciousness than their counterparts of female teachers, rural teachers and teachers of Parishadiaya Primary School and Saraswati Shishu Mandir respectively.

Keywords: Environmental consciousness, Primary School Teacher and Primary School.

Introduction

Environmental awareness provides the ability to recognize the assets of the environment and interpret the interrelationship between the physical and biological components of the environment for growth and development. Environmental consciousness is a response to the environment or environmental problem. It teaches people to care for their environment and equips them with the tools they need to deal with the problems they face. Environmental consciousness is also the first step toward realizing people's potential for responsible action. It is essential to make intensive effort and attempt to modify the environmental behaviour of our children, so that the future generations are made conscious towards the hazard and consequences of environmental degradation and pollution. Childhood is the best period to create feeling towards better environment among them, because in this stage physical and psychological effects become more prominent (Gihar 2002). Patanakar (2000), also suggested that proper orientation of teachers into Environmental Education in training

programme is a matter of vital importance. The environmentally educated teacher should be able to apply the knowledge of educational philosophy to achieve both general education and environment education goals.

Need and significance

Teachers have a vital role in educating students about the environment, its problems and solutions. For this, teachers themselves must have the necessary level of environmental awareness. This suggests the need to introduce and enrich environmental education programmes in in-service and pre-service teacher education programmes. More efforts should be made to encourage primary level female teachers from rural backgrounds and teachers with specialisation in social sciences and language subjects to participate and perform environmental activities and actions (Bhosale 2006).

Environmental education plays a crucial role in promoting ecological development, enhancing environmental quality, conserving natural resources, and preventing environmental degradation. This approach to education serves as a tool and process for fostering awareness of human interactions with the natural, social, and constructed environments. Its goal is to empower individuals and communities to comprehend the intricate makeup of the environment, which stems from the interplay between biological, physical, social, economic, and cultural factors, as well as the knowledge, values, awareness, and skills cultivated over time. (Neelima Deshmukh 2014)

Global warming currently has a huge impact on the entire planet. Human activities, primarily the burning of fossil fuels, contribute to increasing the levels of heat-trapping greenhouse gases in the Earth's atmosphere (NASA, 2021) leading to an increase in global average temperatures, which is also characterized by rising sea levels, ocean acidification, loss of ice in the Earth's poles and mountain glaciers, extreme weather events, changes in vegetation cover, loss of biodiversity and habitat degradation (National Academy of Sciences, 2020). Another important environmental issue is water-related problems. Global water resources are under increasing pressure due to population and economic growth, changes in production and trade patterns, rapidly increasing demands and climate change (Ersin, 2018; UNESCO, UN-Water, 2020;).

Environmental awareness is a subject that deals with the formation of thoughts, habits and execution of activities that respect the care and benefit of the environment. Development at an early age is very important, not only with the care of their ecosystem but also in their daily lives as part of society, to build people of integrity (Garre, J.P.P., Díaz, M.A.A., Baca, L.S.R., & Mejía, V.L.V. 2022).

Therefor now the time has come to understand the need of environmentally conscious citizens who will save the environment from further erosion and degradation.

Review of Previous Work

In India and abroad large number of educationist, environmentalist, social workers, NGO's and scientist etc. have tried to investigate environmental consciousness, behaviour, ethics and values among primary school teachers . Praharaj (1991) In this study on 'Environmental knowledge, environmental attitudes and perceptions about environmental education', pre-service and in-service secondary school teachers found that

pre-service teachers had low environmental knowledge and medium conceptual knowledge. While in-service teachers had high knowledge and attitudes towards environmental education.

Cin (2006) also reported remarkable misunderstanding and confusion among prospective teachers about green house effect with ozone-layer depletion. This allows future teachers to connect the cause and effect relationships between these two environmental issues. These similarities between the two environmental problems lead teachers and students to adopt simpler mental models for these issues. Michail et al. (2007) in their study expressed that teachers have little knowledge about real environmental problems, especially the greenhouse effect.

This explosion in consumer demand for more environmentally responsible products, practices and services can be seen as a paradigm shift in consumer attitudes, beliefs and behaviour, creating a state of 'environmental consciousness, (Kollmuss and Agyeman, 2002; Laroche et al., 2001). In attempts to explain and predict pro-environmental behavior, a wide range of studies across different disciplines have attempted to conceptualize, measure, and model the effects of 72 environmental consciousness, either viewing it as a unique, independent construct, or looking at the various components that make up environmental consciousness. Remar, D. A.(2015)

Kukreti and Gihar (2004) in their study an attempt has been made to analyse the impact of the video film on the environmental consciousness among students. The researchers have tried to investigate what role the video films an environmental concept, can play in educating male/female, rural/urban students towards environment. after getting intervention all male and female students scored higher mean scores in post intervention test on consciousness about causes of pollution, effects of pollution, measures of pollution control natural resources conservation, mass movement and environmental protection, waste management and ecological balance dimensions as well as an over all environmental consciousness. While the consciousness about environmental legislation dimension no significant effect was obtained between pre intervention and post intervention mean scores of male students. Rural and urban students had scored higher post - intervention mean scores on all the dimensions of consciousness about pollution and environmental protection scale, except natural resources conservation dimension.

Nagra (2007) too, states very clearly that teacher should have required environmental awareness and that suitable steps should be taken to prepare teachers to be eco conscious, suggesting that more attention must be given to teachers teaching at the school level.

Obviously, teachers have a important role to play in environmental education and consequently, the level of environmental awareness and commitment of pupils they teach in order to conserve the environment. In the formal education system, teachers can play an important role in educating their students about environmentally issues; however this is possible only when the teachers have adequate level of environmental awareness (Larijani, 2007). This view is also supported by Nagra and Dhillon (2006), as well as by Nagra (2007), who state that the more the teachers are aware of the environmental issues, the greater will be the awareness of their students.

In the formal education system, teachers play a very important role in developing more awareness

about environment among students to protect and preserve the environment. So it goes without saying that our education system needs a radical change right from school level to university level for sustainable development. A lot of work is being done towards integrating environmental concepts in the existing curriculum, developing new strategies, preparing instructional materials for effective implementation of environmental education in the formal system through the National Curriculum Framework. (Kankanala Sammaiah October, 2011).

Result of Kukreti and Jai Pal (2014) reveled in their study that male primary school teachers ,urban primary school teachers ,and teacher of convent school had more environmental awareness than their counterparts of female primary school teachers. The study of Hiramatsu, A., Kurisuke, K. and Hanaki, K., (2015) reported an increase in people's environmental awareness. In this, most surveys on environmental consciousness asked questions positively. To remove the "yes-bias" in previous surveys, this current study conducted a large-scale questionnaire survey on environmental consciousness in Japan, using negative prompts and free-answer prompts on which people feel good/bad/uncertain about the environment. This study also investigated people's psychological factors and concrete pro-environmental behavior (PEB) in daily life. The results of the questionnaire with negative prompts showed that the rate of people's consciousness to the environment was lower compared with other surveys. Similar common behaviors were highly ranked as both PEB and doubtful behaviors, indicating that people were worried about actions that involve a trade-off relationship from diversifie stand points.

Sarmah, S. (2016) conducted a study on "An analytical study of Environmental Education at the Elementary Level in Assam", was descriptive survey method and purposive sampling technique was used. The study revealed that the contents selected in the curriculum of environmental education at Elementary level were above average level and the status of Co- curricular activities on environmental education in the primary school of Assam was very poor.

Saini, S. (2018) did a study on "A study of Scientific Awareness of environment of students under science faculty in relation to certain variable" The main objective of the investigation was to study the scientific awareness of environment of college students of Central Gujarat who are belongs to science stream only. The major findings of the study revealed that there was no significant difference in scientific awareness on environment among students in respect to gender, region in which college are located.(Gogio, G., Saikia, N., 2020)

The study 'Strategies to Promote Environmental conservations Awareness and Attitudes of Secondary School Students in Dindigul District, Tamil Nadu, India' by N. Anandakumar, M. Deivam and A. Thangasamy (2024) investigated to highlights of environmental conservation awareness and the critical role of educational interventions in promoting responsible attitudes towards the environment. Analysis of interventions in secondary schools revealed an increase in environmental consciousness among students, evidenced by increased scores across various indicators.

On the basis of the review of aforesaid studies, related to the environmental consciousness and environmental sensitivity of teachers, it is very clear that although enough studies have been conducted on male,

female, rural and urban teachers, but the researchers could not find any study related to the effect of different organizational pattern (i.e., Parishadiya Vidyalaya, Saraswati Shishu Mandir and Convent Schools) on the level of Consciousness about Pollution and Environmental Protection of primary school teachers. Further, the findings of the different studies have no consistency and are not definite in nature. Therefore, to fill the gap in the knowledge, there is a great need to conduct further studies in this area.

Objectives of the Study

This study was aimed at the following objectives

1. To study the environmental consciousness among the primary school teachers in relation to their gender (male/female), locality (rural /urban), types of organization (Parishadiya Schools, Sarswati Shishu Mandir and Convent Schools).

Hypothesis

1. There exists no significant difference among primary school teachers in relation to their gender (male/female), locality (rural/urban), types of organization (Parishadiya Schools, Sarswati Shishu Mandir and Convent Schools) in their environmental

Population & Sample

This study was conducted in Bareilly district of Utter Pradesh. All

teachers of primary schools affiliated to different organization i.e. Parishadiya Schools, Saraswati Shishu and convent schools were considered as the population of the present investigation. Keeping in mind the adequacy and representative qualities of the sample, 480 teachers were selected from different rural and urban primary schools of Bareilly district. For the selection of sample, stratified random sampling technique was adopted.

Tool Used

In the present study for the collection of data regarding environmental consciousness of primary school teachers "Consciousness about Pollution and Environmental Protection Scale" (CPEPS) developed by Kukreti and Grihar, was used by the researchers.

Statistical technique used

To measure the level of environmental consciousness among the primary school teachers were analyzed by using mean, S.D. and 't'-test.

Data Analysis and Result

The result of the analysed data are presented in following tables :

Table-1, indicates that the mean scores of male primary school teachers are significant higher than female primary school teachers on all the dimensions of environmental "Consciousness about Pollution and Environmental Protection Scale". The mean scores of male teachers were found significantly higher at 0.05 level on the dimensions; Natural resources conservation (t=2.09; p=0.05). On the dimensions: Causes of Pollution, effects of pollution, Measures of Pollution

Table-1
Mean and S.D. scores of male and female primary school teachers on different dimensions of Consciousness about Pollution and Environmental Protection

Sl. No.	Dimensions of CPEPS	Male teachers (N=261)		Female teachers (N=219)		't' Values (df=478)
		Mean	S.D	Mean	S.D.	
Section 1: Consciousness about pollution						
1	Causes of Pollution	24.89	1.64	24.12	2.00	4.61**
2	Effects of Pollution	28.65	2.11	27.86	2.77	3.50**
3	Measures of Pollution control	16.15	1.10	15.70	1.62	3.63**
Section 2: Consciousness about environmental protection						
4	Natural resources conservation	7.02	1.10	6.80	1.14	2.09*
5	Environmental legislation	7.82	1.31	7.86	1.31	0.32(NS)
6	Mass movement and environmental protection	7.91	1.59	7.67	1.91	1.47 (NS)
7	Ecological balance	10.61	1.32	10.44	1.46	1.40 (NS)
8	Waste management	8.86	1.27	8.77	1.31	0.83 (NS)
9	Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection	111.92	7.88	109.22	9.54	3.39**

** Significant at .05 level ***
Significant at .01 level NS: Not Significant

control and Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection (t=4.61, 3.50, 3.63 and 3.39) the difference in mean scores were found significant at 0.01 level of significance. In the dimensions namely, environmental legislation, mass movement and environmental protection, ecological balance and waste management the difference in mean scores is there which is in favour of male primary school teachers but the difference is not significant. These results are found to be in consonance with the research conducted by Misra (2006) where the researcher reported that male teachers were more Consciousness about Pollution and Environmental Protection than female teachers . similarly Tripathi (2002) reported that male showd more environmental awareness than female. Jai Pal (2011) reveals that male primary school teachers more aware about cause of environmental pollution and knowledge of pollution control measures than female primary school teachers. Gihar(2002) reported that male students have higher consciousness about

couse of pollution ,effect of pollution and measure of pollution control. But it was contradictory to the study conducted by Shahnawaj (1990) and Larijani (2010) found that female teachers had better awareness than male teachers. Gopinsath (2014), found that girls had a higher environmental consciousness than boys. On the other hand Sundarajan and Rajshekhara (1993), Nagra (2010) and Kaur and Nagra (2013) found no difference between males and females regarding environmental awareness.

Table-2 shows that except for the dimension, Natural resources conservation (t-3.27, p-0.01) the Urban primary school teachers had scored significantly higher mean scores than the rural teachers. The mean scores of urban primary teachers were significantly high on the dimensions- Mass movement and environmental protection at 0.05 level of significance (t-2.44) whereas for the dimensions Causes of Pollution, Effects of Pollution, Measures of Pollution control, Environmental legisiation, Ecological balance, Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection they have also scored significantly higher mean scores (t-4.05, 3.18, 4.56, 3.44, 3.88, 3.84 respectively) significant at 0.01

Table-2
Mean and S.D. scores of rural and urban primary school teachers on different dimensions of Consciousness about Pollution and Environmental Protection

Sl. No.	Dimensions of CPEPS	Rural teachers (N=274)		Urban teachers (N=206)		't' Values (df=478)
		Mean	S.D	Mean	S.D.	
Section 1: Consciousness about pollution						
1	Causes of Pollution	24.25	2.03	24.93	1.51	4.05**
2	Effects of Pollution	27.99	2.68	28.70	2.07	3.18**
3	Measures of Pollution control	15.70	1.56	16.27	1.01	4.56**
Section 2: Consciousness aboutenvironmental protection						
4	Natural resources conservation	7.06	1.07	6.73	1.17	3.27**
5	Environmental legisiation legislation	7.66	1.39	8.07	1.15	3.44**
6	Mass movement and environmental protection	7.63	1.77	8.02	1.70	2.44*

7	Ecological balance	10.36	1.48	10.76	1.22	3.18**
8	Waste management.	8.72	1.33	8.94	1.21	1.85(NS)
9	Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection	109.37	9.80	112.44	6.83	3.84**

** Significant at .05 level ** Significant at .01 level NS:Not Significant*

level of significance. For the dimensions Waste Management the difference in mean scores was negligible. These results are in complement with what Shahnawaj (1990) and Mishra (2006) who found in their comparative study on rural and urban teachers where urban teachers had better environmental awareness. Gihar (2002), Bajpai (2009), Tiwari (2009), Bala (2015) and Bordhan (2017) through their studies deduced that students have better environmental awareness. Gopinsath (2014) and Yadav (2022) found that urban student have a heightened understanding of environmental consciousness than rural student. On its contrary, Kaur and Nagra (2013) observed no signific difference in environmental awareness.

It is clear from Table-3 that there is a significant difference in the mean scores of the teachers of Saraswati Shishu Mandir and

Table-3

Mean and S.D. scores of teachers belonging to parishadiya primary schools and saraswati shishu mandir on different dimensions of Consciousness about Pollution and Environmental Protection

Sl. No.	Dimensions of CPEPS	Parishadiya primary school teachers (N=154)		Saraswati shishu mandir teachers (N=172)		't' Values (df=324)
		Mean	S.D	Mean	S.D.	
Section 1: Consciousness aboutpollution						
1	Causes of Pollution	23.87	2.34	24.64	1.45	3.60**
2	Effects of Pollution	27.65	2.93	28.59	2.13	3.34**
3	Measures of Pollution control	15.66	1.76	16.15	1.05	3.06**
Section 2: Consciousness about environmental protection						
4	Natural resources conservation	6.88	1.09	7.05	1.04	1.42(NS)
5	Environmental legislation	7.81	1.31	7.82	1.35	0.09(NS)

6	Mass movement and environmental protection	7.82	1.87	7.69	1.79	0.59(NS)
7	Ecological balance	10.15	1.55	10.61	1.26	2.90**
8	Waste management.	8.66	1.37	8.80	1.25	1.00(NS)
9	Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection	108.51	10.34	111.38	7.74	2.84**

** Significant at .05 level ** Significant at .01 level NS:Not Significant*

Parishadiya Primary school teachers in all the dimensions of CPEP but the scores in favour of Saraswati Shishu Mandir teachers are significant on the dimensions - Causes of Pollution, Effects of Pollution, Measures of Pollution control, Ecological balance ,Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection (t=3.60 3.34, 3.06, 2.90, 2.84 respectively; p-0.01). Difference in mean scores on dimensions Natural resources conservation, Environmental legislation, Mass movement and environmental protection, Waste management was not found significant.

Table-4 shows that the Convent school teachers had scored significantly higher mean scores than the Parishadiya Primary school

teachers. The mean scores of Convent school teachers were significantly

high on the dimensions- Waste management at 0.05 level of significance

Table-4

Mean and S.D. scores of teachers belonging to parishadiya primary schools and convent schools on different dimensions of Consciousness about Pollution and Environmental Protection

Sl. No.	Dimensions of CPEPS	Parishadiya primary school teachers (N=154)		Convent school teachers (N=154)		't' Values (df=306)
		Mean	S.D	Mean	S.D.	
Section 1: Consciousness aboutpollution						
1	Causes of Pollution	23.88	2.34	25.09	1.47	5.44**
2	Effects of Pollution	27.65	2.93	28.59	2.18	3.19**
3	Measures of Pollution control	15.66	1.76	16.00	1.21	1.95 (NS)
Section 2: Consciousness about environmental protection protection						
4	Natural resources conservation	6.88	1.09	6.81	1.24	0.53 (NS)

5	Environmental legislation	7.81	1.31	7.88	1.26	0.44(NS)
6	Mass movement and environmental protection	7.82	1.86	7.90	1.57	0.39(NS)
7	Ecological balance	10.15	1.55	10.83	1.27	4.17**
8	Waste management	8.66	1.37	8.99	1.23	2.22*
9	Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection	108.51	10.34	112.09	7.37	3.43**

** Significant at .05 level ** Significant at .01 level NS: Not Significant*

(t-2.22) whereas for the dimensions Causes of Pollution, Effects of Pollution, Ecological balance, Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection they have also scored significantly higher mean scores (t- 5.44, 3.19, 4.17, 3.43 respectively) significant at 0.01 level of significance. For the dimensions Measures of Pollution control, Natural resources conservation, Environmental legislation, Mass movement and environmental protection the difference in mean scores was negligible. These result are in complement with what Bajaj and Khullar (2019) who found their comparative study on private school and government school student where private school student have more awareness about environment as compare to government school students.

Table-5

Mean and S.D. scores of teachers belonging to saraswati shishu mandir and convent schools on different dimensions of Consciousness about Pollution and Environmental Protection

Sl. No.	Dimensions of CPEPS	Saraswati shishu mandir teachers (N=172)		Convent school teachers (N=154)		't' Values (df=324)
		Mean	S.D	Mean	S.D.	
Section 1: Consciousness aboutpollution						
1	Causes of Pollution	24.64	1.45	25.09	1.47	2.74**
2	Effects of Pollution	28.59	2.13	28.59	2.18	0.00(NS)
3	Measures of Pollution control	16.15	1.05	16.00	1.21	1.20(NS)

Section 2: Consciousness aboutenvironmental protection						
4	Natural resources conservation	7.05	1.04	6.81	1.24	1.90(NS)
5	Environmental legislation	7.82	1.35	7.87	1.26	0.35(NS)
6	Mass movement and environmental protection	7.69	1.79	7.89	1.57	1.05(NS)
7	Ecological balance	10.61	1.26	10.83	1.27	1.56(NS)
8	Waste management.	8.80	1.24	8.99	1.23	1.34(NS)
9	Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection	111.38	7.74	112.09	7.73	0.82(NS)

*** Significant at .01 level of significance NS: Not Significant*

Table-5 reveals that not much of the significant difference

in their mean scores was seen teachers of Convent school teachers and Sarswati Shisu Mandir on many of the dimensions of the CPEP. For the dimension of Cause of Pollution Convent school teachers scored higher mean than teachers of Sarswati Shisu Mandir .The difference in mean scores was found significant at 0.01 level of significance (t=2.74;p=0.05). For the dimensions Effect of Pollution, Measures of Pollution control Natural resources conservation, Environmental legislation, Mass movement and environmental protection, Ecological balance, Waste management, Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection the difference in mean scores was negligible.

Findings of the Study

The findings of this study are as follows:

In comparison to the female primary school teachers, the mean scores of male teachers were found significant at 0.05 level of significance on the dimension Natural resources conservation and on the dimensions; Causes of Pollution, effects of pollution, Measures of Pollution control and Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection mean score between male and female primary school teachers were found significant at 0.01 level of significance.

On the environmental issues i.e., the mean score of rural and urban primary school teachers on the dimensions Causes of Pollution, Effects of Pollution, Measures of Pollution control Environmental legislation, Mass movement and environmental protection, Ecological balance and Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection were found significant at 0.01 level of significance.

In comparison of urban primary school teachers , rural primary school teachers scored higher mean on the dimension; Natural resources conservation

On the dimensions; Causes of Pollution, Effects of Pollution, Measures of Pollution control, Ecological bal-

ance ,Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection, Saraswati shisu Mandir school teachers have scored significantly higher mean scores than Parishadiya Primary School teachers at the significant level of 0.01.

In comparison to the parishadiya primary school teachers, the mean scores of convent school teachers were found significant at 0.05 level of significance on the dimension waste management and on the dimension; Causes of Pollution, Effects of Pollution, Ecological balance, Overall Consciousness about Pollution and Environmental Protection mean score between parishadiya primary school teachers and convent school teachers were found significant at 0.01 level of significance .

In comparison of saraswati shisu mandir, convent school teachers have scored significantly higher mean on the dimension; cause of pollution at 0.05 significant level .

Conclusion

The results of the present study indicate that there is a difference in the level of consciousness about pollution and environmental protection among different groups of primary school teachers. Therefore, in order to enrich the knowledge and experience towards environment, special efforts should be made to enhance the knowledge and consciousness level towards environmental protection among primary school teachers during their pre-service and in-service training programmes. Primary school teachers are in the best position to create environmental awareness, understanding and values among children and the general public as they are familiar with the local environmental problems and they are very close to the local people and children. But in this regard, it is important to note that only those teachers can play a vital role in creating environmental awareness among children and the general public who are fully equipped with environmental knowledge, sensitivity and skills. School teachers should be provided with proper orientation programmes about environmental education through training and inculcating new ideas, technologies and best practices for environmental protection which is of vital importance.

Reference

Anandakumar, N., Deivam, M. and Thangasamy, A. (2024). 'Strategies to Promote Environmental Protection Awareness and Attitude of Secondary School Students in Dindigul District, Tamil Nadu, India'. *Indian Journal of Natural Sciences :Vol.15 / Issue 83 / Apr / 2024*.

Bajaj, M. and Khullar, P. (2019) A comparative study of environmental awareness among government and private higher secondary schools students in Jammu city ISSN: 2249-894X

Bajpai, V. K., & Mishra, M.M. (2009). Environmental awareness: Need and approaches. Paper Presented in the National Seminar on Global Warming: Its Impact on Indian Economy, Organised by GUPG College Baheri, 15-16 March, 2009.

Bala, R. (2015). Comparative Study of Environmental Awareness among Secondary School Students. International Multidisciplinary e-Journal. Vol-4, (11), 166-169

Bhosle, S. (2006). Environmental education in schools, *University News,* Vol. 44, No. 12, pp. 114-124.

Bordhan, S. (2017). A study on the environmental awareness among secondary school students in a district of Assam. International Journal of Advanced Education and Research, 2(2), 17-19.

Cin, M. (2006). Sinifogretmeni adaylarinin sera etkisi hakkindaki kavram yanilgilari, Cukurova Universitesi Egitim Fakultesi Dergisi, 31 (1), 124-128:

Deshmukh, N. (2014), Environmental Education : Holistic approach for Environment Protection and Sustainable development in the Indian Context, *Indian Journal of public Administration* Vol. LX, No. 1, January March 2014.

Dinakara, S.A. (2000). Environmental awareness, Environmental Attitude and Teaching Practices of Elementary School Teachers of Mysore District in Environmental Related Topics. *M. Ed. Dissertation. Department of Education, Mysore University.*

Ercin, E. (2018). Overuse of water resources: Water stress and the implications for food and agriculture. In P. Ferranti, E. M. Berry, & J. R. Anderson (Eds.), *Encyclopaedia of Food Security and Sustainability (pp. 206–211). Elsevier. https://doi.org/10.1016/B978-0-08-100596-5.21998-7*

Ferronato, N., & Torretta, V. (2019). Waste mismanagement in developing countries: A review of global issues. *International Journal of Environmental Research and Public Health,16(6),1060.https://doi.org/10.3390/ijerph16061060*

Garay, J. P. P., Díaz, M. A. A., Baca, L. S. R., & Mejía, V. L. V. (2022). Good Environmental Practices To Develop Environmental Awareness In Basic Education Students. *International Journal of Health Sciences, 6(S7), 695–705. https://doi.org/10.53730/ijhs.v6nS7.11224*

Gihar, S. (2002). Effect of intervention on developing consciousness about pollution, environmental protection, promoting favouarable attitude and sense of responsibility among students, *Ph.D. Edu., MJP Rohilkhand University, Bareilly.*

Gogio, G. & Saikia,N. (2020). A Study On The Impact Of Environmental Education At Primary Level Students And Environmental Awareness Programmes Conducted By Teacher In Primary School With Special Reference To Sivasagar District, Assam. *,Palarch's Journal Of Archaeology Of Egypt\ Egyptology 17(9).ISSN : 1567-214x . Pp 6543*

Gopinath, G. (2014). A study on the environmental awareness among secondary school students in a district of Kerala state. International Journal of Education and Psychological Research, 3(2), 54-57. 6.

Hiramatsu,A., Kurisuk,K. & Hanaki,K. (2015). Environmental Consciousness I8n Daily Activities Measured By Negative Prompts. *Department Of Urban Engineering, The University Of Tokyo,7-3-1 Hongo ,Bunkyo-Ku, Tokyo 113-8656 Japan* .

Kaur, K., & Nagra, V. (2013). Environmental awareness among primary school teachers. Indian Streams Research Journals, 3(7), 1-4.

Kollmuss, A. & Agyeman, J. (2002). Mind the Gap: Why do people act environmentally and what are the barriers to pro-environmental behavior? *Environ. Educ. Res. 2002, 8, 239-260. [CrossRef]*

Kukreti, B. R. & Gihar, S. (2004). A study of the impact ef Video programmes on the Environment Consciousness of students, Indian *Journal of Educational Research* Vol. 23, 2. July-December 2004 pp. 17-23

Kukreti, B. R. & Pal, J. (2014). A study of Environmental awareness among primary school teachers, BRICS *Journal of Educational Research*, 4(1,2), 1-9.

Larijani, M. (2007). Teachers as Ethical Architects of Environmental Education. *Edutracks, 7(1).*

Larijani, M., & Yeshodhara, K. (2008). An empirical study of environmental attitude among higher primary school teachers of India and Iran. Journal of theman Ecology. 24(3),

Laroche, M., Bergeron, J. & Barbaro-Forleo, G. (2001). Targeting consumers who are willing to pay more for environmentally friendly products. *The Journal of Consumer Marketing, 18(6), 503-520.*

Michail, S., Stamou, A. G. & Stamou, G. P. (2007). Greek primary school teachers' understanding of current environmental issues: An exploration of their environmental knowledge and images of nature *Science Education*, 91, 244-25

Mishra, B.B. (2006). Environmental awareness of secondary school students with reference to their intelligence and school background. Journal of All India Association of Educational Researchers, 18(1-2), 71-73.

Nagra, V. & Dhillon, J. S. (2007). Environmental Education Awareness among Secondary School Teachers. *Perspectives in Education, 22(3), (186).*

Nagra, V. (2010). Environmental education awareness among school teachers. Environmentalist, 30,153-162.

NASA (2021, January 19). Overview: Weather, global warming and climate change, global climate change. *https://climate.nasa.gov/resources/global-warming-vs-climate-change/*

National Academy of Sciences. (2020). Climate change: Evidence and causes: Update 2020. *The National Academies Press. https://doi.org/10.17226/25733.*

Pal, J. (2011). An Analytical study of Environmental Awareness , Ethics and Skills among the Teachers of Primary School and Development of Environmental Orientation Strategy for them, *Ph.D. Edu., MJP Rohilkhand University, Bareilly.*

Patankar, P.S. (2000). An approach for integrating environmental eduation in D.Ed. Training Course, In *Yeole, C.M. and others, op.cit., pp. 23-24. 231*

Praharaj,B. (1991). 'Environmental knowledge, environmental attitude and perception regarding environmental education among pre-service and in-service secondary school teachers',*Ph.D.Education*. *The Maharaja Sayajerou University of Baroda*

Remar, D. A. (2015). The Effects of Environmental Consciousness and Menu Information on Consumers' Perceptions of Restaurant Image and Purchase Behavior Related to Local Foods. *University of South Carolina (Doctoral dissertation).* Retrieved from https://scholarcommons.sc.edu/etd/3657

Saini, Sunil. (2018). A study of scientific awareness of environment of students under science faculty in relation to certain variables.(Doctoral thesis, Sardar Patel University) Retrieved from http://hdl.handle.net/10603/218423

Sammaiah, K. (2011). Assessment of Environmental Awareness among Primary School Teachers*, Journal of Advances and Scholarly Researches in Allied Education,* Vol. II, Issue II, October-2011, ISSN 2249-4510

Sarmah S. (2016). An Analytical Study of Environmental Education at The Elementary Level In Assam. (Doctoral thesis, Dibrugarh University) Retrieved from http://hdl.handle.net/10603/250044

Shahnawaj, (1990). Environmental awareness and environmental attitude of secondary and higher secondary school teachers and students, *Ph.D. Education, University of Rajasthan.*

Sundararajan, S., & Rajasekar, S. (1993). Environmental awareness among the higher secondary students. Progress of Education, 67(3), 41-44.

Tewari, R. (2009). Pollution of environment and global warming. Paper Presented in the National Seminar on Global Warming: Its impact on Indian Economy. organized by GUPG College Baheri, 15-16 March, 2009.

Tripathi, M.P. (2002). A comparative study of environmental awareness of students studying in central schools and other schools at 10 + levels, *Indian Education Abstract 2:1.*

UNESCO, UN-Water. (2020). United Nations world water development report 2020: Water and climate change. *UNESCO. https://www.unwater.org/publications/world-water-development-report-2020/*

Yadav, V. (2022). A Study of Environmental Consciousness among the students of arts and science stream of the higher secondary school, *International Journal for Multidisciplinary Research (IJFMR), Volume 4, Issue 6, E-ISSN:2582-2160, November December 2022*

****

The Politics of Alienation: Ethnic and National Identities in Rohinton Mistry's *Such a Long Journey*

-Dr. Naveen Kumar Vishwakarma
Assistant Professor
Department of English
Baiswara Degree College, Lalganj, Raebareli, Uttar Pradesh

Rohinton Mistry's *Such a Long Journey*, published by McClelland and Stewart in 1991 is one of the most distinguished novels comprising politics of alienation and a detailed analysis of ethnic and nationalisms. Mistry's narrative provides a critical lens on post-colonial identity in India. As Tharu (2000) notes, "Mistry intricately weaves personal and political struggles, illustrating the complexity of modern Indian life" (p. 76). The novel based on 1970s Bombay (now Mumbai) offers a historical political description of Indira Gandhi rule, the Pakistan India war and the Parsis' struggles. From a cultural viewpoint Mistry is a firsthand observer and a second-hand participant given he emigrated to Canada in the mid-seventies and this puts him in a privileged position where he has a lot of insight into what it is like to be displaced culturally but he is still an outsider in the cultures he paints. According to Kaur (2006), "The sense of cultural dislocation in *Such a Long Journey* resonates deeply with the Indian diaspora" (p. 67).

Such a Long Journey is really about identity, or the lack thereof: of individuals and communities. The novel is devoted to the problem of ethical subjectivity and its actualization considers the opportunities and difficulties of the members of the minority throughout the conflicts between private conscience and cultural origins against the background of political actions. Thus, the particularist and isolated Parsi protagonist, Gustad Noble, embodies both the individual psychological pain and the political strife that results from corruption in a nation. The sense of loneliness is the second critical issue that is prevalent in most of Mistry's novels. Gustad was distanced from his family – especially his son Sohrab – because Sohrab does not want to follow the strict career blueprint that Gustad had set up for him. Desai (2014) argues, that the portrayal of familial relationships highlights the tensions between tradition and modernity in Indian society. Major Jimmy Bilimoria's betrayal deepens his sense of loneliness even further because Bilimoria is also his friend. On political level, Gustad like other middle-class residents of his community is politically infants and become victims of political chicanery and manipulations during Indo-Pak war of 1971.

It is a story of Gustad Noble, a middle aged Parsi, a clerk working in a bank in Bombay having his family in a small tenement. The narrative begins with a series of personal challenges: Sohrab, his son, rejects to go to the coveted Indian Institute of Technology (IIT), the daughter Roshan is chronically sick and the family is financially troubled publicly. Revolution replaces most of the unrest in Gustad's world when he receives a letter from his one time friend, Major Bilimoria who is now with the Indian secret service. According to Gustad, Bilimoria is seeking to help him with a money laundering plan with which Bilimoria will be implicated in a conspiracy connected with the Indian intelligence agencies. When Gustad struggles to make his moral decision the situation in political context of India such as tensions between India and Pakistan and declaration of a war depicted in Gustad's life. Finally, Gustad follows a journey of disillusion – of friendship, family, and government machinery all fail him.

Such a Long Journey, by Mistry has received potential appreciation for depicting Parsi community in India that post-colonial Indian literature has largely ignored. The greatness of the novel is in the view that it presents individual suffering stemming from a separate incident all along with the political instability of New Delhi, 1970s India. Singh (2008) notes, "The use of nonlinear narrative in *Such a Long Journey* reflects the chaos of life in India during the 1970s" (p. 51). Like with most personal struggles, Mistry builds a plot in which inner turmoil is a representation of external isolation that the community and the nation experience. Gustad, stands for the Parsis' as the community thrown to the background and threatened with erosion of their status.

On the ethnic account, *Such a Long Journey* has portrayed the Parsis more in the communal paradigm whereby this community had gained a recognition in the history of trading and boosting the Indian economy and cultural bowl. Nevertheless, by the time the novel takes place their power is fading away gradually but surely. According to Gupta (2015), "Mistry's exploration of memory intertwines personal and collective histories, making the past an integral part of the narrative" (p. 72). As for the nature of the alienation concern, Gustad's feeling is that his community is privileged, only to be disregarded by

the rest of the India society. This aspect of exclusion is well illustrated in representation of the national government in the novel that brought in corruption and political instability that amplifies exclusion of the population.

Regarding the question of the nation, Mistry reveals the cracks in the Indian political structure: in his critique of Indira Gandhi's government. It also drew the attention of the fact that these so called political leaders have become robbers with no respect for the democratic India for which the people of the country struggled in the independence struggle. One of the key quotes that encapsulate this feeling of alienation is when Gustad reflects on his place in the world: "The city had lost its mind. Everything had changed. Friends and family deceived him, and the country, too, seemed to have betrayed him" (Mistry, 1991, p. 221). This line paints a picture of how Gustad and the whole of the Parsi community feels, and the world that has pushed them out, and does not acknowledge their existence.

Such a Long Journey (1991) is also based on Bombay of 1971 and the main protagonist of the novel is Gustad Noble, a middle aged Parsi bank employee. Gustad's life in the beginning is presented as comfortably ordinary but full of ordinary woes of life – financial troubles, child rearing, and managing a home. Gustad is a man of family values and a Parsi who does not want to abandon traditions. Unfavourable conditions in his life deconstruct his world as the hero advances throughout progression; personal, familial, and political battles take place. Mistry uses rich internal conflicts dramatically depicted by Gustad's struggles with the external theme represented by the political instabilities in India in the early 1970s with Indira Gandhi's government, India- Pakistan war and birth of Bangladesh. Stress on aspects of isolation, duplicity and degeneration is realistic from the angle of the minority nationality that is Parsi, who are socially ostracized in India. Gustad Noble silently and still, in rather squalid and rusty Khodadad Building, Bombay, with his wife Dilnavaz and their three children Sohrab, Roshan and Darius. Nonetheless, Gustad is hopeful for the future and is a hardworking man with an integrity who brings food for his family from the bank relying only on muscle. Muslim Parsis like Gustad are depicted in social context as a diminishing force in terms of their authority and supposedly a diminishing constituency in the overpowering social organization of India. This leads to the ground work for Gustad to develop feelings of alienation from the rest of society. Jha (2012) suggests, "The journey in Mistry's narrative symbolizes the broader quest for meaning in a complex socio-political landscape" (p. 108).

The family that Mistry introduces at the beginning of the work is one on the cusp of transition. Sohrab is a devoted son of Gustad who works and has been preparing a great future for him. One of these is when the elder son Sohrab disobeys his father and does not get admission in the reputed Indian Institute of Technology –IIT. As a result of his decision, there is tension between Sohrab and his father as the following part of the relationship between a father and a son is ruined. It remains a mystery for Gustad to comprehend why Sohrab unwillingly let go such an opportunity, and such disappointment becomes the genesis of Gustad estrangement with his family. Dilnavaz is Gustad's wife, a very patient and loving lady who always tries to balance both Gustad and his son. She also struggles for her livelihood and more so when their young daughter Roshan gets sick. Therefore, as a mother Dilnavaz understands that such behaviour is necessary to resolve her child's issues, so she goes to Miss Kutpitia, the neighbour who practices black magic. While Dilnavaz turns to superstitions and spiritual treatments, Gustad is a man of reasonably practical and degenerating moral principles. This division within the family itself shows readers how willingly close relationship can be affected by outside factors.

Gustad's private crisis adds then an element of political strife as the novel quickly develops a new plot line more deeply involving him into a governmental intrigue. Three days later, Gustad gets a letter from his friend Major Jimmy Bilimoria from military background who also used to live in Khodadad Building, but leaves the address abruptly. The language used is rather mysterious yet the reader gains information that Bilimoria becomes involved in some secret governmental activity. He seeks assistance from Gustad in handling great deal of cash which in fact was involved in money laundry belonging to Indian intelligence. Despite the measure of hesitation from Gustad, the respect that he had for Bilimoria and the things that wanted desire language convinces him to agree on the plan. Just to camouflage the act of forgery, Gustad is instructed to transfer the money into a different account created for some charity purpose for the freedom fighters of Bengal in erstwhile East Pakistan during the war of liberation of Bangladesh and Pakistan in 1971. But as the story progresses the people gets to know that someone is just an insignificant cog in the big wheel of corrupt Indian Civil Service. Through a role in a call, Gustad feels the value of principles and at the same time questions the organization and the system he believes to be strong and infallible.

This subplot also serves the purpose of shed-

ding some light on the main political set–up of India during the period under discussion. As much as Mistry vivid portray the flawless opportunities and a wonderful life of the rich upper class in India, he paints a gloomy picture of the political environment of the country plagued by corruption, political violence and manipulation. As Bhattacharya (2011) points out, "Mistry's work serves as a critique of political corruption in India, offering readers a lens into the darker aspects of governance" (p. 42). Thus, after the optimism in the early 1990s, Gustad despairingly likens the government to the monster from Frankenstein and indicates the widespread betrayal felt by many Indians – particularly those from the middle class – during the final decade of the millennium. Indo Pakistan conflict and part played by India in Bangladesh war are background to the character and life of Gustad for which it is metaphor for his personal and existential struggle for loyalty, integrity and survival.

Indeed, the greatest asset of the novel is the large plurality of characters – all of who represent various aspects of otherness, subjectivity and rebellion. Mishra (2009) emphasizes the depth of Mistry's character that each character is meticulously crafted, revealing the multifaceted nature of human emotions in a tumultuous environment.

Gustad Noble is the key novel character in relation to which many of the novel ideas are discussed. He is Parsi, or Zoroastrian, which as a group, if not individuals, were struggling to maintain their foothold in face of post-Independence Indianization. Gustad is very responsible towards his family and has regular prayers, but his principles are continued being tested by the society. It is the sense of treachery – or, perhaps, spiritual whoredom – that sends him on his path of disillusionment. Dilnavaz Noble is the novel's heroine, the wife of Gustad and the very soul of the family, but she becomes a witch when, using black magic, she tries to restore Roshan's health and is a vulnerable woman, too. Her desire in supernatural cures to cure Roshan is portrayed in contrast with Gustad's mechanistic world and underlines the matter of isolation inside the family. Sohrab Noble, the eldest son, is a symbol of a new generation of Parsis who would not hesitate to cross the line all too often. Though self-recalcitrance of Peter who wants to free himself from the father's will against the Railway and forge his own destiny is progressive, the act throws him outside the father figure. Major Jimmy Bilimoria is the character through whom Gustad is introduced into the political aspect of the novel. In particular his part as a former hero, now a corrupt figure degraded and involved in the bribing of an election officer, represents the decline of moral as well as political values in India. His betrayal of Gustad in the latter half of the novel is one of the build-up episodes, which reiterate two major themes of the novel – isolation and duplicity. Dinshawji, another employee at the bank where Gustad works also provide light humour and at the same time observes and letting out clear protests pertaining the political affairs of India. In addition to expressing social critique, using comic approach, the comments on Parsi identity and Indian politics provide layers to the novel's discussion of social issues pertaining to belonging. As Verma (2010) states, "Mistry's nuanced portrayal of social issues serves as a mirror reflecting the realities of Indian life" (28).

Continuing in the narrative, the political intrigue in which Ghis, or Gustad, became entangled has deadly severity. His own bank is under probe with law enforcers, and has to wake up to reality that Bilimoria, a childhood friend, is all but noble and upright. It becomes worse when Gustad starts realization on the evil done by the government and how he was employed, this makes the heart broken worse. The build up leads to a point where Major. Bilimoria dies from unknown causes much to the lot of poor Gustad. It is also the death of political action in the story and it is also the end of Gustad's idealism. Gustad is alone to face the world that has no values like loyalty, honour and trust that can be bought by the higher bureaus.

However, more prominently the deterioration of Gustad's family life also progresses throughout the novel. He keeps distance from Sohrab and his wife Dilnavaz due to an act of believing in the superstitious woman who strongly believes in evil eye and other such things further estranges the family. Roshan's illness symbolizes the ability of the family to fail to cohere in the face of adversity making it lead a rather unstable life. This one makes it rather clear that towards the end of *Such a Long Journey*, Gustad for instance does feel the isolation once more. He has been let down by his own friends, separated from his son and finally disillusioned from politics. However, mixed in with this overload of despair, there is always light at the end of the tunnel. The final note of the novel is not despairing, however. However, Mistry provides a much more complicated ending, while Gustad moves forward and accepts all his losses and gains, the very string connections that are left for him to hold on to-the family, the loving relations, and faith.

The drudgery and the long-time span during which Gustad's works and endures, differential transformation, according to Mistry, are the vital forces that define a human being's capacity to reconstruct himself or herself in the official culture of a

globalized and detached world. Thus, for *Such a Long Journey* cultural disillusionment turns into a postcolonial survival saga where the pessimistic protagonist's gradual, yet stubborn, way to accepting the flaws in human nature reflects the main problems of postcolonial India as well.

The matter of contention is that Mistry's novel is a chronicle of loneliness in all its forms: individual, familial, and social. This is a life of Gustad – struggle of the man who still wants to be himself and who even at the end of the movie remains as honest as he could. This novel includes specific community, Parsis, which gives distinct cultural take on this theme of declining importance of a once-powerful but now dwindling minority group in India after colonial period. It also shows the distance of the gap between the Gustad and Sohrab which is the fight between this generation and the new generation. Gustad still has an emotional link with the traditional system and its orders, and on the other hand Sohrab is a young man eager to rebel against such an authority and create own life. This conflict can be attributed to alienation because there is always this development of a chasm between the two generations and before the father and the son can get to the final stage they do not know how to cross over.

Taking the examples from *Such a Long Journey*, the writer is absolutely right who manages to introduce the reader to personally developed characters with a clear and gilt-edged motivation behind their actions as far as it is possible. Gustad's flaws – his bullheadedness, vanity, impatience with other people's imperfections, and incapability of forgiving – bring the film a very believable, and the audience very recognizable hero to the foreground. Again, there is always a social backbone to his temper and hatred towards those closest to him as the readers notice that he is an alienated man. Like other novels of Mistry, *Such a Long Journey* does not offer the keys to the solution of any of the problems faced by characters. It is a novel that embraces the dual social reality of the postcolonial world – one side betrayal – of both self, and politics; the other, alienation as the new mode of existence. Nonetheless, while the overall mood of Mistry's novel might be one of despair and despair, it is impossible not to note that there is hope for people. Gustad's can be painful journey riddled with pains and betrayals also has proud moments and a deep and sturdy belief.

References:

Bhattacharya, R. (2011). *Political themes in contemporary Indian fiction*. Delhi: Penguin Books.

Desai, M. (2014). Family and social structure in Mistry's novels. *Contemporary Literature, 55*(3), 398-420.

Gupta, P. (2015). Memory and identity in Rohinton Mistry's fiction. *South Asian Review, 36*(2), 67-80.

Jha, R. (2012). Symbolism and thematic concerns in Indian English literature. *Journal of Literary Studies, 38*(4), 102-115.

Kaur, R. (2006). *Diasporic identities in contemporary Indian literature*. New Delhi: Routledge.

Mishra, A. (2009). Character and narrative in Mistry's works. *Journal of Indian Writing in English, 37*(2), 15-27.

Mistry, R. (1991). *Such a Long Journey*. McClelland & Stewart.

Singh, J. (2008). Narrative structures in Indian English novels. *Indian Literature Studies, 12*(1), 45-58.

Tharu, S. (2000). *Postcolonial perspectives in Indian literature*. New Delhi: Oxford University Press.

Verma, S. (2010). Social issues in Rohinton Mistry's works. *Literary Insight, 15*(2), 23-35.

****

The Magical Power of Language in Yoga: A Semantic Appraisal

-Vijay Laxmi Rai
M.A. (Philosophy)
Vijaylaxmirai9129@yahoo.com

Abstract

This study explores the profound influence of language in yoga, focusing on its semantic power and transformative potential. Rooted in ancient Indian traditions, yoga integrates linguistic elements, particularly Sanskrit, which serve not only as a means of communication but as essential tools for meditation, spiritual growth and personal transformation. The research examines key terms, such as "Om," "Prana," "Asana" and "Chakra," revealing their rich semantic layers and experiential significance. Additionally, the study investigates the role of mantras and effective verbal communication in shaping practitioner's psychological and physiological states. By integrating theories from semantics, phenomenology and cognitive linguistics, the findings highlight the interplay between language, meaning and the practitioner's experience. Implications for yoga practitioners and teachers are discussed, emphasizing the need to recognize the power of language in enhancing practice. The study calls for further research on the comparative effects of different mantras and instructional styles, contributing to a deeper understanding of language's role in yoga and its implications for health and well-being.

Keywords: Yoga Language, Mantras, Semiotics, Cognitive Linguistics, Phenomenology, Spiritual Transformation, Om, Prana, Asana and Chakras.

Introduction

Yoga, an ancient practice with roots in the Indian subcontinent, encompasses physical, mental and spiritual disciplines. Traditionally, it is deeply intertwined with linguistic elements, particularly Sanskrit, which is considered as a sacred language in many yoga traditions. The historical and cultural significance of yoga spans texts like the Vedas, Upanishads, Bhagavad Gita and the Yoga Sutras of Patanjali. Language in these texts is not merely a vehicle for communication but a tool for meditation, spiritual growth and transformation.

The purpose of this study is to investigate the semantic power of language in yoga, exploring how specific words and phrases shape understanding and practice. This involves examining both traditional texts and modern interpretations. The significance of the study lies in its potential to enhance the comprehension of yoga's linguistic aspects, thereby enriching the practice for both practitioners and teachers.

The research questions guiding this study are: How does language influence the practice and perception of yoga? What are the semantic properties of key terms in yoga? How do mantras and other linguistic tools affect the psychological and physiological states of practitioners?

Theoretical Framework

Semantic theory, which studies the meaning of words and how these meanings are constructed and understood, is central to this study. In the context of yoga, semantics goes beyond mere definition to encompass the experiential and transformative power of language. The study employs theories from struc-

turalism, which looks at the underlying structures of language and functionalism, which considers the practical uses of language in communication and ritual.

Phenomenology, which focuses on the subjective experience of individuals, is also pertinent, as it helps explore how practitioners perceive and internalize the language of yoga. Cognitive linguistics and semiotics offer additional insights into how linguistic signs (words, sounds, symbols) in yoga create meaning and affect cognition and emotion.

The theoretical framework integrates these perspectives to provide a comprehensive understanding of the role of language in yoga. By combining structural, functional, phenomenological and cognitive approaches, the study aims to uncover the multifaceted ways in which language influences yoga practice.

Analysis of Language in Yoga Texts

The analysis of language in yoga texts involves an in-depth examination of key terms and phrases within foundational texts such as the Vedas, Upanishads, Bhagavad Gita and the Yoga Sutras of Patanjali. Each term is imbued with layers of meaning that transcend their literal definitions, serving as potent tools for spiritual and practical guidance in yoga. Key terms and their semantic richness are explained below:

A "Om"

"Om" is perhaps the most recognized and revered mantra in yoga. Its significance is multifaceted, encompassing phonetic, symbolic and experiential dimensions. Phonetically, "Om" is composed of three sounds: 'A', 'U', and 'M', which represent the waking, dreaming and deep sleep states of consciousness, respectively. The sound "Om" is believed to encapsulate the essence of the universe, symbolizing the underlying unity of all existence. The vibration of "Om" during chanting is said to resonate with the cosmic vibration, aligning the practitioner with the universal consciousness.[1]

B "Prana"

"Prana," meaning life force or vital energy, is a fundamental concept in yoga that illustrates the intrinsic connection between breath and life. The term "prana" is derived from the root "pra" (to fill) and "an" (to breathe or to live), signifying the vital energy that permeates the universe and sustains life. In the context of yoga, prana is not just the breath but the energy that flows through the body's channels (nadis) and centers (chakras). Pranayama, the practice of controlling prana through breath techniques, is aimed at enhancing this vital energy, promoting physical health and facilitating spiritual growth.[2]

C "Asana"

"Asana" refers to the physical postures practiced in yoga. The term is derived from the Sanskrit root "as," meaning "to sit" or "to be." Traditionally, asanas were meant to prepare the body for prolonged meditation by cultivating physical stability and comfort. Each asana is more than a physical exercise; it embodies specific symbolic and energetic qualities that influence the practitioner's mental and emotional state. For example, the posture "Vriksasana" (Tree Pose) symbolizes rootedness and stability, encouraging a sense of groundedness and balance in the practitioner. [3]

D"Chakra"

"Chakra" translates to "wheel" or "disk" and refers to the centres of energy within the body. There are seven primary chakras, each associated with specific physical, emotional and spiritual functions. The chakras are thought to be spinning vortices of energy that regulate the flow of prana through the body's energetic system.[4] Language plays a crucial role in

the understanding and activation of chakras. Mantras, visualizations and affirmations are often used to balance and open these energy centres, demonstrating the performative and transformative power of language in yoga.

The semantic analysis of these terms reveals that they are not merely descriptive but are imbued with deep symbolic meanings. The study of these terms involves exploring their etymology, phonetic properties and contextual uses within yoga texts and practices. This analysis demonstrates how language in yoga functions as a bridge between the physical and the spiritual, guiding practitioners toward a deeper understanding and experience of yoga.

a. "Om" and its Vibrational Impact

The mantra "Om" is a prime example of the vibrational power of language in yoga. When chanted, the sound "Om" is believed to create vibrations that resonate through the body and mind, promoting a state of harmony and tranquility. This vibrational aspect is supported by research in cognitive linguistics and psycholinguistics, which suggests that certain sounds can have a calming or stimulating effect on the nervous system. In this sense, "Om" serves as both a linguistic and a somatic tool for achieving meditative states.

b."Prana" as a Concept of Vital Energy

The term "prana" illustrates the connection between language and the embodied experience of energy in yoga. Prana is not just a theoretical concept but a lived experience that practitioners seek to understand and control through practices like pranayama. The semantic richness of "prana" lies in its dual role as both breath and life force, reflecting the holistic nature of yoga, where the physical, mental and spiritual are interconnected.

c."Asana" and the Symbolism of Postures

Each "asana" carries symbolic meanings that enhance the practice beyond mere physical exercise. For instance, the posture "Tadasana" symbolizes strength and stillness, encouraging practitioners to embody these qualities. The names and descriptions of asanas often draw from nature and mythology, imbuing the practice with cultural and spiritual significance.[5] This symbolic layer adds depth to the practice, making each asana a meditation in movement.

d."Chakra" and Energetic Language

The concept of "chakras" highlights the role of language in shaping the understanding of the body's energetic system. The use of mantras and visualizations in chakra practices demonstrates how linguistic elements can influence the perception and experience of energy flow. Each chakra is associated with specific sounds (bija mantras) that are believed to activate and balance the energy centres. This performative use of language exemplifies the intersection of semantics and practice in yoga.[6]

The Power of Mantras

The power of mantras in yoga extends beyond their function as mere linguistic constructs; they are deeply rooted in the phonetic, semantic and symbolic dimensions of language. Mantras, derived from the Sanskrit roots "man" (to think) and "tra" (instrument or tool), are considered as instruments of thought. They are phrases or syllables that are chanted or recited to aid in meditation and spiritual practices.[7]

A Detailed Analysis of Mantras and Their Linguistic Significance

Mantras operate on multiple levels: phonetic, semantic and symbolic. Phonetically, the sounds of mantras are designed to resonate with specific vibrations that correspond to various energy centres in the body, known as chakras. The phonetic structure of mantras,

with its precise articulation and rhythmic repetition, plays a crucial role in their efficacy.[8] For example, the mantra "Om Mani Padme Hum," commonly used in Tibetan Buddhism, encapsulates profound spiritual meanings and is believed to embody the essence of the Buddha's teaching. Semantically, mantras convey meanings that are often layered and symbolic. The mantra "Om" alone, as previously discussed, is a rich tapestry of meaning, representing the ultimate reality and the interconnectedness of all things. Each syllable in a mantra can carry significant semantic weight, contributing to the overall purpose of the mantra, whether it be for protection, healing or enlightenment.[9]

B.Case Studies of Specific Mantras and Their Effects

Specific mantras such as the Gayatri Mantra, "Om Bhur Bhuvah Swaha," highlight the layered meanings and intended effects of mantras. The Gayatri Mantra, found in the Rigveda, is a prayer for enlightenment and wisdom, invoking the divine light to illuminate the mind. Studies have shown that regular chanting of the Gayatri Mantra can have a calming effect on the nervous system, reducing stress and promoting mental clarity.[10] Another notable example is the Maha Mrityunjaya Mantra, "Om Tryambakam Yajamahe," which is believed to have healing powers and is often recited for health and long life. The mantra's linguistic structure and its semantic invocation of Lord Shiva, the destroyer of evil, are intended to purify and heal the practitioner both physically and spiritually.[11]

C Psychological and Physiological Impacts of Mantra Chanting

The psychological and physiological impacts of mantra chanting are well-documented in both traditional texts and modern scientific research. Mantra chanting has been shown to activate the parasympathetic nervous system (PNS), promoting relaxation and reducing anxiety. The repetitive nature of chanting induces a meditative state, facilitating deep concentration and mindfulness. This, in turn, can lead to altered states of consciousness, where the practitioner experiences heightened awareness and a sense of unity with the divine.

Physiologically, chanting mantras can synchronize breathing patterns and heart rates, creating a state of coherence in the body's systems. This physiological coherence is linked to improved mental health, enhanced immune function and overall well-being. The vibrational quality of mantras, when chanted with intention and focus, is believed to resonate with the body's energy centres, promoting healing and balance.[12]

5. Language and Instruction in Yoga Practice

The language used in contemporary yoga teaching is a crucial element that shapes the practice and experience of yoga. Modern yoga instruction often blends traditional Sanskrit terminology with contemporary linguistic frameworks to make the practice accessible to a global audience.

In contemporary yoga classes, instructors use a mix of Sanskrit terms and their translations or explanations in the local language. This bilingual approach helps preserve the traditional essence of yoga while making it comprehensible for practitioners. Terms like "asana" (posture), "pranayama" (breath control) and "savasana" (corpse pose) are commonly used alongside their descriptive translations to ensure clarity and understanding. The language of instruction is often precise and directive, focusing on alignment cues, breath synchronization and mindfulness. Phrases like "ground through your feet," "lengthen your spine" and "breathe into the stretch" guide practitioners to embody the postures correctly while maintaining awareness of their breath and bodily

sensations. This language not only facilitates physical alignment but also encourages a deeper connection between the mind and body. Verbal cues and instructions are pivotal in shaping the yoga experience. Effective cues are clear, concise and descriptive, enabling practitioners to adjust their postures and enhance their practice. Instructors often use imagery and metaphors to convey complex concepts, such as "imagine your spine lengthening like a string of pearls" or "feel your breath like waves gently rolling in and out." These verbal cues engage the practitioner's imagination and enhance their kinaesthetic awareness, making the practice more intuitive and experiential. Moreover, the tone and pace of the instructor's voice play a significant role in creating the ambiance of the practice. A calm, steady voice can induce relaxation and focus, while a more energetic tone can invigorate and motivate practitioners. The language used in yoga instruction thus not only communicates physical instructions but also sets the emotional and psychological tone of the practice. Traditional yoga instruction, as depicted in ancient texts and practiced in classical yoga schools, often relies heavily on Sanskrit and the oral transmission of teachings. In traditional settings, the language is formal and imbued with spiritual significance, emphasizing the sacredness of the practice. Instructions are often minimalistic, with a focus on direct experience and self-inquiry rather than detailed bodily cues.[13]

In contrast, modern yoga instruction tends to be more detailed and inclusive, catering to diverse populations with varying levels of experience and physical ability. The language is more descriptive and anatomically oriented, reflecting a Western influence that prioritizes physical safety and accessibility. This shift in language use reflects the evolution of yoga as it adapts to contemporary contexts while striving to retain its traditional roots.

6.Findings

The key findings from the semantic analysis of language in yoga reveal the profound influence of linguistic elements on the practice and perception of yoga. The study highlights several critical insights:

A.Transformative Power of Mantras: Mantras like "Om," the Gayatri Mantra and the Maha Mrityunjaya Mantra demonstrate the potent vibrational and symbolic properties of language. These mantras are shown to induce states of relaxation, concentration and spiritual connection, underscoring their central role in yoga practice.

B.Role of Language in Instruction: The language used in yoga instruction, whether traditional or contemporary, significantly shapes the practitioner's experience. Effective verbal cues and instructions facilitate physical alignment, enhance mindfulness and create a conducive environment for practice.

C.Interplay between Language and Meaning : The study reveals a deep interplay between language, meaning and spiritual experience in yoga. Terms like "prana," "asana" and "chakra" carry rich semantic and symbolic meanings that influence the practitioner's understanding and embodiment of yoga.

7.Discussion

The findings of this study align with existing literature on the importance of language in spiritual and meditative practices. The transformative power of mantras is well-documented, with numerous studies highlighting their psychological and physiological benefits. The role of language in yoga instruction, particularly the use of effective verbal cues, is also

supported by research in cognitive and educational linguistics, which emphasizes the importance of clear and descriptive language in facilitating learning and embodiment.[14]

Implications for yoga practitioners and teachers include the need to recognize and harness the power of language in enhancing the practice. For practitioners, understanding the semantic richness of yoga terminology can deepen their engagement and experience. For teachers, developing skills in effective verbal communication and maintaining a balance between traditional and modern language use can enhance their instructional efficacy.[15]

Further research could explore the comparative effects of different mantras on specific psychological and physiological outcomes, as well as the impact of various instructional styles on practitioner experience. Such studies would contribute to a more nuanced understanding of the role of language in yoga and its broader implications for health and well-being.

Conclusion

At last we can say that this study underscores the magical power of language in yoga, highlighting its transformative potential through the analysis of mantras, instructional language and key terms. The findings reveal that language in yoga is not merely a tool for communication but a vital element that shapes understanding, experience and transformation. By appreciating the semantic and symbolic richness of yoga language, practitioners and teachers can deepen their practice and foster a more profound connection with the ancient tradition of yoga.

References :

1. Yoga Sutras of Patanjali, verse 1.27.
"Tasya Vachakah pranavah", which means "Oṃ is the sacred symbol for God"
2.S. Saraswati, *Asana Pranayama Mudra Bandha* (Munger: Yoga Publications Trust, 2001), p.378-381.
3.Saraswati, p. 13-16.
4.Anodea Judith, *Wheels of Life: A User's Guide to the Chakra System* (Woodbury: Llewellyn Worldwide, 2012), 3-54.
5.Saraswati, 2001, p. 87.
6.Judith, 2012, p. 3-55.
7. David Frawley, *Mantra Yoga and the Primal Sound: Secrets of Seed* (Bija) Mantras (Lotus Press, 2010), p. 21-45.
8.Thomas Ashley-Farrand, *Healing Mantras: Using Sound Affirmations for Personal Power, Creativity and Healing* (Wellspring/Ballantine, 1999), p. 23-27.
9. Farrand, 1999, p. 45-49.
10. Mitchell L. Gaynor, *The Healing Power of Sound: Recovery from Life-Threatening Illness Using Sound, Voice and Music* (Boulder: Shambhala Publications, 2002), p. 78-83.
11.Gaynor, *The Healing Power of Sound: Recovery from Life-Threatening Illness Using Sound*, Voice and Music (Boulder: Shambhala Publications, 2002), p. 95-99.
12.Gaynor, 2002, p. 21-35.
13.B.K.S. Iyengar, *Light on Life: The Yoga Journey to Wholeness, Inner Peace and Ultimate Freedom* (London: Hachette UK, 2019), p. 84-85.
14. Gaynor, 2002, p. 45-53.
15.Andrea Tyler, *Cognitive Linguistics and Second Language Learning: Theoretical Basics and Experimental Evidence* (London: Routledge, 2012), p. 66-72.

****

Monsters and Mothers: Maternal Sacrifice in Kashmiri Folktales

-Dr Khursheed Ahmad Qazi
Assistant Professor (Selection Grade), Dept. of English, North Campus
University of Kashmir, Baramulla, Jammu and Kashmir

-Adil Hussain
Research Scholar, North Campus
University of Kashmir, Baramulla, Jammu and Kashmir

Abstract
Kashmiri folklore has long served as a wellspring for Indian literary texts and scriptural narratives. Rooted in ancient traditions, texts such as the Nilamata Purana stand as enduring records of Kashmir's cultural heritage. Among these narratives, *Aka Nandun* emerges as a poignant poetic play, recounted through various versions penned by diverse poets across Kashmir. Central to *Aka Nandun*'s narrative are themes of sacrifice, motherhood and the unsettling spectre of cannibalism, each imbued with layers of complexity that challenge conventional understanding. Bhawani Bashir Yasir's adaptation of *Aka Nandun* into a theatrical production, alongside Moti Lal Kemmu's rendition spanning two acts, highlights the enduring relevance of this legend. For our analysis, we take *Aka Nandun* as well as two other tales from James Hinton Knowles' *Folk-Tales of Kashmir.* This paper aims to understand the symbolic significance of maternal sacrifice and its implications within Kashmiri folklore by analysing the sacrificial aspect of motherhood from different angles. Our findings suggest how monstrous motherhood provides an understanding of the abjection as a powerful means of asserting one's identity. Rituals play an important part in abjection. Ultimately, the monstrous motherhood counters traditional gendered heroism.

Keywords: Folklore, Kashmir, feminine-monster, abjection, gendered heroism, Aka Nandun

Gramsci considered folklore as "something which is very serious and must be taken seriously" (191). This, however, was his warning against folklores in general than an admiration for them as they provide one with an idea of "what other conceptions of the world and of life are actually active in the intellectual and moral formation of young people, in order to uproot them and replace them with conceptions which are deemed to be superior" (191).

Dawkins sees folktales as not merely consisting of stories that are orally transmitted but, he maintains, stories that "have been at first literary and passed later into oral tradition" (417). Depicting how folklore gives access to the ways humanity makes sense of the world, Bascom relates comments:

> Folklore reveals man's frustrations and attempts to escape in fantasy from repressions imposed upon him by society, whether these repressions be sexual or otherwise and whether they result from taboos on incest or polygamy, or from a taboo on laughing at a person afflicted by yaw…. folklore also reveals man's attempts to escape in fantasy from the conditions of his geographical environment and from his own biological limitations as a member of the genus and species *Homo sapiens*. (343)

Folktales are rich in cultural paraphernalia inasmuch as they are a vernacular record of the cultural, political, historical and mythical context as well as the imagination of a society. Kashmiri folklore is no exception. As a part of the missionary scheme of the west, a number of missionaries came to Kashmir and started recording the lifestyle, narratives, beliefs and myths that were transmitted orally or in vernacular literature. Rev. James Hinton Knowles opens his book *Folktales of Kashmir* (1888) with this pronouncement: "Kashmir as a field of Folk-lore literature is, perhaps, not surpassed in fertility by any other country in the world" (V).

To Bascom, folklores, therefore, are not stories we merely tell (and transmit) to entertain each other. This means that one should approach folktales cautiously, questioning any assumptions and choosing the right analytical frameworks before attempting to understand them. For instance, Bascom (quoting Malinowski) goes on to show how a seemingly objective and scientific approach of Freud is rooted "not in the biological factor of sex as Freud assumed, but in the cultural factors of family structure and parental authority" (343). Hence, imposing these structures without accounting for cultural differences is myopic.

An issue while dealing with motherhood in myths and folktales is how one has to position oneself against the charges of feminist rhetoric of "mass mother-blaming psychosis" (Ross 399). However, with the intervention of scholars like Ross, the 'banality' of motherhood has found renewed expression: "the process of moving from the margins to the centre of feminist discussion, and the mother increasingly a subject rather than a distant, looming object" (Malik 309). Not only does this move salvage

the remains of the discussion on motherhood, but it also fills the space with a culturally plural understanding, informed by technological advances of the twenty-first century. Adriane Rich goes on to see motherhood not as a mere rung in the biological ladder of womanhood but as an "experience and… institution" (qtd. in Oh 3). Oh further suggests that "motherhood as performative emphasizes mothers' agency by focusing upon what mothers self-consciously do rather than what mothers biologically are. The concept of performativity thus offers a robust account of maternal identity" (4).

Aka Nandun

Kashmiri folklore has long served as a wellspring for Indian literary texts and scriptural narratives. Rooted in ancient traditions, texts such as the Nilamata Purana stand as enduring records of Kashmir's cultural heritage. Kashmiri mythology and folklore present a diverse picture of women that cannot be generalised into a single narrative trajectory. Even at a cursory survey of Knowles' collection of folktales, one can find multiple patterns emerging in terms of the presentation of women as well as narrative space they dominate. While one can clearly see the high-handedness of the colonial master at work, he presents his volume as an 'innocent' and unadulterated record of orally transmitted tales, for which he merely acts as a facilitator of translation.

In terms of the presentation of women, Kashmiri folktales provide a means of understanding the societal perceptions, symbolic representations and profound reverence accorded to the feminine principle. These narratives not only celebrate the nurturing and life-giving aspects of motherhood but also delve into the complexities, sacrifices and transformative power that are associated with this profound experience. As is true with folktales around the globe, Kashmiri folktales are symbolic representations of the female body, which are intricately intertwined with concepts of fertility, sensuality and the cyclical nature of life itself. The female body is often depicted as a site of creation, a sacred embodiment of the divine feminine and a testament to the profound mysteries of existence. These depictions not only reflect the cultural reverence for womanhood but also shed light on the intricate relationships between the physical and the spiritual realms.

As a representative of a host of tales related to maternal sacrifices and the trope of longing for a male heir, *Aka Nandun* is a complex narrative that entails the elements of supernatural manifestations, the ebbs and flows of motherhood and the possession of a son, the binary of paternal/maternal relationships all located within the convoluting atmosphere of Kashmiri politics. The folktale has been adapted for theatre as well as recited in the form of poems: "Many a known poets of Kashmir have composed the tale in seven to 14 cantos and a few playwrights have written its stage versions earlier as well" ("Koshur Music"). Adapted into a play by Moti Lal Kemmu, *Aka Nandun* is a two-act tragedy that revolves around the fate of the royal couple. According to the director's note,

> The first act is full of humour, mime, wit and satire, the second act has pathos, agony and pain. The ending is as per tradition and happy one. The play has soofi undertones and fully uses the vakhs and shrukhs of Lal Ded and Nund Rishi. The playwright has given new interpretation to the tale. The play contains folk style songs and dances. It has been so designed that Bhands can give open air performance as per their age old practice. All the musical notes and tunes are Kashmiri folk and Sofiyana tunes.

This narrative deals with the yearning of a king and queen for a son. Although the king and his wife were blessed with seven daughters, they desire a son to continue their lineage in a patriarchal society. Desperate in their quest, they seek the aid of a jogi (ascetic) who possessed mystical powers. The jogi agrees to grant them their wish, but with a caveat– when the son reached the age of twelve (or eleven in some accounts), they would have to return him to the jogi. *Aka Nandun* is seen as a play steeped in spiritual examination of human condition that is grounded in the harsh reality of the land:

> Aka-Nandun is based on a mystic Kashmiri poetic fable, written by mystic poets and endorsed popularly, and which emphasises the highest sacrifice of ones greed, lust, power, ego and worldly luxuries, and submit to the highest authority of the Almighty. The play translates this through the folk format of Daastaan with sublime actions, theatrical visuals and traditional music and dance. ("Aka-Nandun")

The king and queen agree to the terms laid by the jogi and soon the fulfilment occurs in the form of a son they name Aka Nandun (meaning "The Beautiful"). Eleven years later, the mother is worried about the promise she has made while she views the pact a thing of the past, something done out of desperation and with no logic and consistency. Finally, the supernatural 'other' comes to claim his 'creation' and the maternal sacrifice is invoked. Aka Nandun's mother's willingness to die rather than give up her son (even in the light of the promise that preludes the birth of the son) is intriguing. One can see the act of her sacrifice against Dawkins' gene-centred view that sees such acts of altruism as strategies that ensure the survival of the mother's genetic material through her offspring. In this light, her act of mater-

nal sacrifice for her (male) child could be seen not only as a social or emotional act but as an evolutionary imperative. Dawkins would, therefore, view this legend as an exploration in the evolutionary selfishness that parents as a manner of expanding their genetic makeup adopt. We use Creed's "witch" monster from her "five faces of the monstrous-feminine" namely "the archaic mother; monstrous womb, the witch; the vampire; and the possessed woman" (Vachhani 12) to analyse how different female figures in selected tales turn the tables against the patriarchal norm. Accordingly, Aka Nandu's mother can be viewed as a witch who challenges the authority of jogi (which *even* a man could not do). As Creed suggests, "when woman is represented as monstrous it is almost always in relation to her mothering and reproductive functions" (Creed *The Monstrous*, 7)

Aka Nandun is full of spiritual connotation and an existential experience that is woven with the influence of many traditions that have ruled Kashmir. As Fayaz aptly puts:

> when we look at the folk literature of Kashmir, we encounter such remarkable currents of thought which despite the passage of a long time have become brighter by the day. Of these, spirituality is the base: our folk literature has more connections with the inner self than with the outer one. Impressions of this current of thought have been there since times when our history was yet to be recorded; for example, the story of Aka Nandun, the greatest example of self-sacrifice. The folk story of Aka Nandun has been travelling by word of mouth from generation to generation across the valley in Hindu, Buddhist and Muslim periods.

While from a feminist standpoint, the legend of Aka Nandun can be analysed for its portrayal of the queen's role as primarily defined by her ability to bear a son and perpetuate the patriarchal lineage, it has deeper connotations. Moreover, the king's desperation for a male heir reinforces the patriarchal structure that privileges male children over daughters in the structuralist binary opposition that doles out power to the first term. In the same vein, one of the tales collected by Knowles opens with the following sentence: "Not to have a son is accounted a great sorrow and shame" (177).

There are elements like foundational sacrifice also present in folktales and legends (Brewster). We argue that the maternal sacrifice in *Aka Nandun* should be seen as a foundational sacrifice, as the mother is seen as a figure whose sacrifice erects an edifice of socio-political structure. Brewster sees the sacrifice of an individual or a figure in a narrative as serving as the cornerstone for the creation or preservation of societal or cosmic harmony. Expanding upon the idea of foundational sacrifices around the globe, Brewster says,

> In ancient India the favorite sacrificial victim was a pregnant woman, and there is at Hampi a wall, sacred to women pilgrims, in memory of the time when Nachapurusa Bhistapaya buried his pregnant daughter beneath it to prevent its falling down, as it had done several times previously. It is on record that in 1872 when the Hooghly Bridge was being built across the Ganges the native population feared that to placate the river each structure would have to be founded on a layer of children's skulls). The sacrifice of children is said still to occur sporadically in India, and there is in consequence an everpresent fear among the natives that their children may be kidnapped for sacrifice or for burial in the foundations of a structure being erected. In Borneo a slave-girl used to be flung into the hole for the first pole of a house and crushed to death when the pole descended. The same practice obtained in Fiji. In Siam when a new gate was being erected in the wall of a town the builders would lie in wait and seize the first passer-by, who was then buried alive beneath the gate-posts. (71)

All this to "make the building or the bridge firm" (73). Later, he avers, human sacrifice was replaced by the sacrifice of a model that stood for the subject. In an interesting manner, Samad Mir, the Sufi poet from Kashmir, adopts the legend of Aka Nandun which depicts the strife of Abraham's willingness to sacrifice Ismael. On a surface level, then, the tale of Aka Nandun depicts how maternal sacrifice is envisioned as a foundational sacrifice upon which the edifice of the king's imperial governance is build.

When the sacrifice is considered within cultural and religious structures, one sees them as rituals which are highly structured and as symbolic actions that reinforce societal values and communal cohesion. As Victor Turner would have it, the societal structures and rituals share a dialectical relationship (Norbeck et al.). Moreover, rituals provide a means to understand how supernatural elements work towards the empowerment of the feminine. As Creed suggests "Through ritual, the demarcation lines between human and nonhuman are drawn up anew and presumably made all the stronger for that process" ("Horror and Monstrous" 45).

Kapferer suggests, Turner "repositions ritual practice as a methodological site for the production of conceptual and theoretical insight challenging dominant paradigms" (1). He explains that Turner sees liminality as the "chaotic vortex of counteracting forces, a singularity perhaps, outside space and time, a re-originating point, a wellspring of potential that moreover is not necessarily committed in any particular direction" unlike the analysis of van Gennep that prioritises linearity (2). Liminality constitutes those acts that move the characters (and by extension the community) from one state of being to another. Here the narrative concern of the liminality is continuation of the king's blood line. The bargain with the jogi and the subsequent birth of Aka Nandun could be seen as a metaphor for the transformative and liminal experiences of pregnancy and childbirth. At the same time, the queen's eventual sacrifice (or the undoing of it) may be seen as the ritual surrounding the transition from motherhood to a new phase of womanhood. As Creed points out about the maternal monster figure, "One of the key figures of abjection is the mother who becomes an abject at that moment when the child rejects her for the father who represents the symbolic order" ("Horror and Monstrous" 45). The rejection by the child in this context can be read as the "name of the father" taking its course as the child is made the victim of the patriarchal law represented in its tyrannical form by the stubborn jogi. The significance of the legend lies in its ability to imbue these rituals with symbolic meaning and reinforce the cultural values surrounding motherhood. It must be noted that Aka Nandun's mother is withheld from achieving a complete motherhood in terms of her self-reflexive musings (especially visible in the dialogues of the theatrical adaptation of the legend). The societal tensions are visible in the forced sacrifice that the couple assent to as it is supposed to function as a moment of collective catharsis. *Aka Nandun* does downplay the role of daughters as possible heirs. Furthermore, it connotes the idea of eating the flesh of one's own son as a sadistic punishment rather than a test for the couple. In doing so, it maintains the stereotypical image of a jogi who is one step away from cursing someone upon the slightest offence. At the same time, the legend portrays the eventual triumph of motherhood as the jogi has to give in to her pestering demands. They are fed a meal prepared, as they believe, from the flesh of their son but, unlike what Atreus does, the son is summoned from the dead by the jogi and the whole thing is revealed to be a test. This is how motherhood triumphs the systemic oppression of women that the jogi continually refers to through his chanting. For Butler, the institution of motherhood has a potential to "subvert dominant gendered paradigms of society and family" (Oh 5). Their agency results from their subordination, she argues. Seeing the king (in whose image the son will have his share of power) as the figure who persuades the jogi by his "loyalty" (Ramzan) is anti-climactic if not myopic as it undermines the overtones of female principle at work in the tale. It is the power of the mourning queen's protestations (amounting to uncontrollable madness) and her eventual strength to forgo her maternal instincts to fulfil a role that she assigns to herself that the jogi is forced to reveal his trick. Maternal sacrifice, rather than her status as a queen, could thus be seen as giving agency to the queen. Being a queen is a relational status, something that can be transferred to some other woman based on her relationship with the king. One must consider the role of religion in the ways it affects construction of identity. Creed points out the role of religion:

> This area cannot be ignored, for what becomes apparent in reading her work is that definitions of the monstrous as constructed in the modern horror text are grounded in ancient religious and historical notions of abjection-particularly in relation to the following religious 'abominations': sexual immorality and perversion; corporeal alteration, decay and death; human sacrifice; murder; the corpse; bodily wastes; the feminine body and incest. ("Horror and Monstrous" 46)

The tropes of motherhood as sacrificial can also be gauged through their supernatural powers of metamorphosis as well as self-reincarnation. Knowles records a tale titled "Wicked Stepmother" (127) in which he relates how a mother was transformed into a goat (due to a curse she earned from her brahmin husband for *feeding* herself) and how she sacrifices herself to protect her children from their stepmother's wrath.

> Their mother, the she-goat, heard their complainings, and noticed that they were getting thin, and therefore called one of them to her secretly, and bade the child tell the others to strike her horns with a stick whenever they were very hungry, and some food would fall down for them. They did so, and instead of getting weaker and thinner, as their stepmother had expected, they became stronger and stronger. (127)

Later when the stepmother finds the she-goat to be the mother of the children and they are getting healthier by the day, she has her husband duped into killing her. The mother relates her will orally to her

children:

> 'Do not weep, my darlings,' she said. 'It is much better for me to die than to live such a life as this. Do not weep. I have no fear concerning you. Food will be provided for you, if you will attend to my instructions. Be sure to gather my bones, and bury them all together in some secret place, and whenever you are very hungry go to that place and ask for food. Food will then be given you.' (128)

Here the empowerment of the children is seen as empowering and redeeming motherhood by the narrator. In a world where heroism is specifically limited to the masculine gender (powerful first-term in the binary system), not many avenues are available for women to assert their power. As Mary Beth Rose avers:

> The stress on movement and adventure, on rescue, rule, exploration, and conquest, points to a tradition of heroism as distinctively masculine. The notion of heroism as idealized, public, male action suits with precision the narrative convincingly established by recent scholarship examining early modern politics, law, medicine, philosophy, and economic and social history in relation to gender…. In a corresponding movement, the public sphere be-comes (in powerful concept if not in actual fact) almost completely masculine. Women—or cultural conceptions of the female—are *excluded from the questing, striving, and conquering that both form the heroic subject* and characterize his actions; with accelerating modernization, what is female becomes increasingly confined to a domestic— and so, it is argued, devalued — private world. (xi; emphasis added)

What is left for the female counterpart is to be a monster to assert herself. In the tales recorded by Knowles, the figure of *Rakshasi* which Knowles transaltes as "the female of Rakshasa" (506) and "*dagin*" or and ogress (59) (at times used synonymously) are the female figures that remain as outsiders and take up the peripheral space wherein the patriarchal rules are always challenged. As Creed suggests, the "abject threatens life… it must be 'radically excluded'… from the place of the living subject, propelled away from the body and deposited on the other side of an imaginary border which separates the self from that which threatens the self" ("Horror and Monstrous" 46).

The only avenues available for women to assert their power are by confounding the logic and reasoning of a patriarchal setup. These monstrous figures are not 'others' in terms of a different species; in fact, Vachhani, citing Gatrell, Riad and Thanem, suggests that "our bodies are always already capable of being monstrous" (3).

Creed goes on to use Kristeva's concept of *abjection* to understand the monstrous as challenging the boundary between self and other thus threatening a cut and dried subjectivity.

> Kristeva is attempting to explore the different ways in which abjection, as a source of horror, works within patriarchal societies, as a means of separating the human from the non-human and the fully constituted subject from the partially formed subject. Ritual becomes a means by which societies both renew their initial contact with the abject element and then exclude that element. ("Horror and Monstrous" 45)

Knowles expands upon the idea of monstrous feminine more vividly in the tale titled "The Ogress-Queen" (42-50) in which a *rakshasi* in the guise of a "beautiful fairy" (42) (to make herself acceptable to the king) gets married to the king in lieu of giving him an heir. The ominous arrival of the rakshasi is narrated by the sudden disappearance of domesticated animals: "Every night, when the rest of the royal household were fast asleep, she arose, and going to the stables and outhouses, ate an elephant, or two or three horses, or some sheep, or a camel; and then having satisfied her bloodthirsty appetite, returned to her room, and came forth in the morning as if nothing had happened" (43). The rakshasi exploits the stigma attached to her identity and tricks the king into believing that his other wives are "rakshasis" while she is the fairy queen: "I find that your other wives have taken and eaten the animals. They are not human beings; they are rakshasis. If you wish to preserve your life, you will beware of them. Go and see if I am not speaking the truth" (43). The abjection of the wives instantaneously displaces them from their positions as the soulmates of the king. The wives are blinded and imprisoned in a dark well where they give birth to children one by one. Each time they have to eat their newborns in order to survive: "each had a son, who was eaten up in his turn" (44). At last, the son of the seventh wife is saved: "Thus this child was spared, and through him in the future the lives of the seven queens were miraculously preserved" (44). And it is the son who takes revenge and gets the ogress killed, reinstating the seven wives of the king.

The tale can be contrapuntally read as the struggle of the monstrous feminine to find for herself a powerful position by duping the stupid male. The children that are born only after the confinement of

the wives can be seen as the fulfilment of the rakshasi's promise. By confining the wives in a dark place, fed with the flesh of their newborn babies, the rakshasi makes sure that the wives internalise the abject. As Creed points out:

> Kristeva claims that food loathing is 'perhaps the most elementary and archaic form of abjection'…. The ultimate in abjection is the corpse. The body protects itself from bodily wastes such as shit, blood, urine and pus by ejecting these substances just as it expels food that, for whatever reason, the subject finds loathsome. The body extricates itself from them and from the place where they fall, so that it might continue to live. ("Horror and Monstrous" 47)

Conclusion

The identity of woman as mother is compounded by her nature in Kashmiri folktales. At the heart of these narratives is the recognition that womanhood, particularly in the context of maternal identity, is constructed as something that must be regulated, often through monstrous or sacrificial acts. As Vachhani suggests "Female monsters in mythology... are tied to their sexual difference" (14). The mother's symbolic death, her alignment with the monstrous-feminine, disrupts normative boundaries between life and death, self and other, and human and supernatural. The monstrous mother is not merely an aberration but a powerful figure whose ambiguity speaks to the tensions within patriarchal structures as it challenges the very notions of purity, gender and social order.

Works Cited

"Aka-Nandun by Bhawani Bashir Yasir." *StageBuzz*, 15 May 2018, https://stagebuzz.in/2018/05/15/aka-nandunby-bhawani-bashir-yasir/.

Bascom, William R. "Four Functions of Folklore." *The Journal of American Folklore*, vol. 67, no. 266, 1954, pp. 333–49. https://doi.org/10.2307/536411.

Brewster, Paul G. "The Foundation Sacrifice Motif in Legend, Folksong, Game, and Dance." *Zeitschrift Für Ethnologie*, vol. 96, no. 1, 1971, pp. 71–89. http://www.jstor.org/stable/25841298.

Creed, Barbara. "Horror and the Monstrous-Feminine: An Imaginary Abjection." *Screen*, vol. 27, no. 1, 1986, pp. 44-71. https://doi.org/10.1093/screen/27.1.44.

---. *The Monstrous-Feminine: Film, Feminism, Psychoanalysis*. Routledge, 1993.

Dawkins, R. M.. "The Meaning of Folktales." *Folklore*, vol. 62, no. 4, 1951, pp. 417-429. https://doi.org/10.1080/0015587X.1951.9718070.

Fayaz, Ameen [translator]. "Kashmiri Folklore: Heritage of the Kashmiri Soul - Kashmir Reader." *Kashmir Reader*, June 2020, https://kashmirreader.com/2020/06/22/kashmiri-folklore-heritage-of-the-kashmiri-soul/.

Gramsci, Antonio. *Selections from Cultural Writings*, trans. William Boelhower. Cambridge, Mass.: Harvard University Press, 1985.

Kapferer, Bruce. Victor Turner and the ritual process. *Anthropology Today*, vol. 35, 2019, pp. 1-2. https://doi.org/10.1111/1467-8322.12502.

Knowles, J. Hinton. *Folk-tales of Kashmir.* London: Trubner & Co., 1888.

"Koshur Music: A Collection of Kashmiri Music, Devotional Songs and Prayers for Kashmiri Pandit Festivals." *Koshur.org*, https://koshur.org/music/akanandun/index.html.

Malik, Shazia. "Violence and Motherhood in Kashmir: Loss, Suffering, and Resistance in the Lives of Women." *Journal of International Women's Studies*, vol. 21, no. 6, pp. 309-320. https://vc.bridgew.edu/jiws/vol21/iss6/19.

Norbeck, et al.. "Rite of Passage - Victor Turner, Anti-Structure | Britannica." *Encyclopædia Britannica*, 2021, www.britannica.com/topic/rite-of-passage/Victor-Turner-and-anti-structure.

Oh, Irene. "The Performativity of Motherhood: Embodying Theology and Political Agency." *Journal of the Society of Christian Ethics*, vol. 29, no. 2, 2009, pp. 3–17. http://www.jstor.org/stable/23562795.

Ramzan, Mudasir. "Kashmir and Its Folk Tales | Musliminstitute.org." *Musliminstitute.org*, 2017, www.musliminstitute.org/freethinking/world-affairs/kashmir-and-its-folk-tales.

Rose, Mary Beth. *Gender and Heroism in Early Modern English Literature*. University of Chicago Press, 2002.

Ross, Ellen. "New Thoughts on 'The Oldest Vocation': Mothers and Motherhood in Recent Feminist Scholarship." *Signs*, vol. 20, no. 2, 1995, pp. 397–413. http://www.jstor.org/stable/3174955.

Vachhani, Sheena J.. "Always Different? Exploring the Monstrous Feminine and Maternal Embodiment in Organisation." *Equality, Diversity and Inclusion: An International Journal*, vol. 33, no. 7, 2014, pp. 648-681. https://doi.org/10.1108/EDI-05-2012-0047.

****

Laburnum For My Head: An Appraisal

-Dr. Najmul Hasan
Assistant Professor, Department of English
DAV PG College, Varanasi

Abstract

Literary manifestations are beyond linguistical and geographical contours. Literature always narrates human endeavour with a purpose and that purpose can be obtained by employing different myths, legends and history through artistry. The tradition of short stories and folk tales in India is since times immemorial. Short story as one of the literary genres enables short story writers to depict sociological poetics with utmost sensitivity and sincerity. Temsula Ao's *Laburnum For My Head* is a collection of eight short stories who is an established Indian poet and short story writer from the north east and won Sahitya Akademi Award in 2013 for this work. The present paper aims to delineate chosen stories from the collection which try to bring in the mainstream cultural locale of the north east. The paper highlights the main themes of the stories that revolve around the northeast culture and life struggles.

Key words: Humanism, Nature, Women, Naga Culture and life, Children

Literature presents the picture of social and psychological reality of life in different forms and measurement. Short Stories are one of the forms to portrait the life and its concomitant struggles in brevity with a 'single effect'. Short stories are the storehouse of artistic talent and theoretical propositions of authors, expressed in small accounts. Though stories are complete in thought but some can be taken as groundwork to further expand the compass of its theme and narratives and present it in the form of a fiction or a play. Indian English authors have enriched and added new flavour with numerous themes and some attempted to dwell into Indian myths, epics, folk tales to deepen the meaning and interest of the stories. Shiv K Kumar gives an account of the origin of Indian Short stories in the following words:

> Although the Indian Short Story in English is comparatively a recent phenomenon. Its genesis may be traced back to the ancient fables of the sixth century AD. Its origin lies in such ancient classics as the Katha-Sarit-Sagara, Yogavashishtha, Brihat-Kahta or the Panchtantra. As stories, these fables and tales were tightly structured and ingeniously conceived, although their primary objective invariably was didactic-geared more to instruct than to entertain their readers. (95)

The storywriter tries to give a definite form to the inchoate world. Indian English short stories hold mirror unto contemporary society. Stories are being written on various aspects of life and society such as love, death, gender, corruption, life of marginal, human relationships, and above all superstitions and rituals that are prevalent in the society. Changes brought in society due to urbanization and industrialization has been the favourite themes of authors. Much of what happens in the modem story happens in the character's minds, in the interior world. Stories encompass not only the human experience but also the intricate worlds of animals. Many of these stories are deeply rooted in tradition and culture, imparting moral and philosophical insights that enrich our understanding of existence. The chosen work *Laburnum for My Head* by Temsula Ao is a collection of eight short stories. Temsula Ao is an India poet and storywriter from the north east. She has received the prestigious Sahitya Akademi Award for English in 2013 for this work which was published in the year 2009.She is among the creative writers who, in lack of authentic histories of communities, are regarded as cultural historians. Ao in her narratives faithfully paint the burning issues of her region and dailylife of people living around. Her stories narrate the human emotions, compassion, desires, hope and love for nature, family and society as major attractions and themes. The selected work explores the complexities of life through the lens of various roles, highlighting the interplay of personal and public challenges and conflicts. Ultimately, it conveys a sense of fulfillment derived from navigating these diverse experiences. The compelling narrative style illuminates life in the northern region, characterized by its distinctive lifestyle and natural surroundings. The experiences depicted in these stories, while specific to this context, resonate collectively with similar themes found across various societies and regions.

The very first story entitled "Laburnam for My Head" reveals the strange obsession and desire of a woman for Laburnam tree. It is the story of Lentina the protagonist who has a deep craving to have

some laburnum in her garden and later on beside her grave. The yellow laburnum flowers serve as a metaphor for femininity, personal space, and the concept of identity. She yearns to have laburnum that was imaginatively connected to her gender identity.

> She had always admired these yellow flowers for what she thought was their femininity. . . . The way the laburnum flowers hung their heads earthward appealed to her because she attributed humility to the gesture (2).

She has tried consecutively three years to have the Laburnam in her garden but the tree withered and died. "Lentina was devastated and began to think that her efforts at bringing the strange beauty into her garden would never be successful" (3). The sights of flowers in others gardens used to in crease-her yearning even more. The death of her husband brings her to graveyard where she contemplates on man's feeble attempt to defy death by erecting a memorial. There she went through an epiphany to have a laburnum tree instead of stone memorial for her grave. Since that day her attempts to actualize her wish starts. She takes Babu, the family driver, into her confidence and tries to secure a personal plot in the cemetery so that she can plant a laburnum tree there. The decision brings clash in family but she courageously convinces, "why are you all worked up about such a trivial matter? After all, I have not spent anyone else's money" (11). Desire is not something that the woman is expected to articulate but Lentina being the member of modern generation advocates her cause boldly and convinces all. Her life and physical condition relates to the condition of laburnum trees. As the tree grows Lentina grows older and older and comes closer to death. Babu noticed that one of the planted tree languished and died but the surviving one flourished and wonder of wonders even produced a tiny spring bearing a few yellow blossoms. The decay of Lentina and the progress of Laburnum go hand in hand. Her connection with laburnum tree supplies divinely strength to survive against fierce weather. She survived in fierce winter when everyone was expecting her surrender to the climate. Consequently she dies, "who cherished one single passionate wish that a humble laburnum three should bloom once a year on her crown" (20). Her obsession to have a tree near her grave is distinct to the tribal people. It is the mother and sustainer nature that guides their life. The story also emphasizes the significance of nature; it's beyond human power to control nature so attempts are going to be futile. Ao says in the story, "But nature has a way of upstaging even the hardest rock and granite edifices fabricated by man. Weeds and obstinate bramble sprout from every inch of soil uncovered by sand and cement" (1).

"Death of a Hunter" is a poignant story of Imchanok who is a primary school teacher and a renowned hunter of his region. The story reveals a strong bond between human and animal life as well as the practice of hunting. The narrative serves to heighten our awareness of the intrinsic value of animal life, emphasizing that animals should not be regarded as inferior or less significant than humans. They possess their own capacity for love, family bonds, and a desire to thrive, which underscores the need for a more empathetic and respectful understanding of their existence.

Imchanok's experience during the hunt of an Elephant, a Monkey and a boar caused a deep psychological effect. The fleeting satisfaction derived from the act of killing quickly transformed into unarticulated anxiety and recurring nightmares. The sense of accomplishment that had previously accompanied each act was conspicuously absent, highlighting a profound emotional disconnection from his actions. The narrative conveys that the animals are in no way different from human beings; they too have responsibly to accomplish. Once Imchanok was asked by the government to kill an elephant who had destroyed farmland and trampled a number of people. He remarks:

> What do these sahibs know about the jungle? Do they think that the elephant will be waiting at a convenient place for me to go and shoot him? Don't they know how intelligent these animals are, that they can almost think like human beings? And the area that they can cover when they decide to run? (23-24)

Animals possess cognitive abilities that allow them to think and to conceal themselves in response to threats, much like humans do. They navigate their environments through their own systems of understanding and adaptation, establishing intricate relationships and agreements within their ecosystems. During the hunt of elephant, the description of elephant's calm and serene look, his enjoying of dust bath like a child, his breaking of twigs and eagerness of tasting everything like a young innocent boys, all the acts of the elephant developed a sense of guilt in shooting him so his act of killing realized as cold-hearted and gruesome for him. The narrator remarks:

> Imchanok happened to look into the unblinking, unseeing eye of his adversary, lying there so helpless, divested of his menacing power of destruction.

> Was it his imagination? He would wonder forever because he thought he saw tears in those beady eyes and something else; it was as though the dying animal were trying to convey some message to his destroyer which remained frozen in time: this was to haunt Imchanok for a very long time. (28-29)

Imchanok expresses his frustration about his role in the cycle of killing, questioning why he finds himself at the heart of the ongoing struggle for dominance between humans and animals over land. The process of self-realization starts and culminates in burying his gun and identity as hunter. At the time of monkey killing, who were threat to his grains, young children and women, Imchanok went under the same agony and pain as experienced earlier during the elephant hunting. Imchanok cunningly makes a trap to entice monkeys and kills in consequence which was an open celebration of the superiority of human intelligence. The description after firing bullets goes like this:

> But the monkey was quick in dodging the bullet which hit him only on his fat flank, even then he did not yield; he stood there until his entire group had managed to get out of the hut through the single door. Only then did he try to get away. . . . When Imchanok took aim once again, the monkey raised his arms as though in surrender or supplication, and slowly covered his eyes even as the hunter released the fatal shot to his heart. (31)

The family was in festive mood; monkey was killed and they have meat to cook for few days. Imchanok was not happy. Something burst inside his mind. He didn't take part in celebration and instructed his wife to leave the room open where he had killed monkey. As the years passes by the hunter lost the spirit of hunting. But once again he has to play the role of a family man against a rampaging boar. Once again he performs his duty and shows the evidence of his skills and strategies. The Boar was killed and the search hunt ended. Imchanok's suffering starts again. He suffers from nightmares. The fearless hunter shriek out in his sleep crying, "'look at him, he is as big as barn and as black as charcoal.' … I am afraid, woman, he is going to come after me'" (37). One day while husband and wife set out from the village, he finds the tooth of boar from stream. He goes to the very spot from where he had fired the fatal shot. There he tore out a tuft of his hair and blows it to towards the forest. His act can be considered as a symbolic oblation to the forest God. His nightmares vanished and after some days he digs a hole and buries the tooth of the boar, his gun and symbolically he buries Imachanok the hunter. The mental agony ends with the end of a hunter.

"The Boy who sold an Airfield" is a story of a young tribal boy named Pokenmong who runs away from his home and engaged himself in menial services in households of the plains of Assam. The story attacks on the gullibility and illiteracy of Tribal farmers who suffer and the free spirited innocent tribal boy who sells the airfield as the owner of the land. His stay with Jiten and his family paints a picture of a small family living happily, all working together and sharing love and affection. Pekenmong was quite happy in this family and started calling Jiten the master of the family 'baba'. After some habitual dilemmas the children of Jiten accepted Pekenmong in their family. It was not like a master and servant relation rather father and son bonding. Pokenmong cleans the kitchen garden and plants some beautiful flowers there later on he along with the family paint the entire house. But the love and affection of Jiten couldn't stop the free and adventurous spirit of the boy. One day Jitan noticed that Pokenmong was on one of the trucks of Soldiers and left him with grinning face trying to say something to him. Jiten felt that he has lost his son. Pokenmong's life among soldiers was also quite interesting. He starts helping in every menial activates like washing the pots and pans, picking up bricks to clear the footpath. As the time goes by he adopts some essential words and expression to communicate with. "The commander was impressed by the boy's initiative and decided to make him an assistant to his orderly" (46). Consequently, instead of being at everyone's beck and call he became the commander's Man Friday. On Sunday, when commander is not in camp, he used to venture outside the boundary to experience the nearby scenery and beauty. He finds a village near the camp and visits whenever he is free. He was leading a blissful life. Suddenly, the thought of future disturbed his vitality. Distraction from works were obvious, the commander sensed his worry and decided to do something for this boy. Before going to America, Commander has written that "Whatever we leave behind will be yours: clothes, shoes, utensils, furniture, food, tents, tires and even a jeep in running condition" (49). Commander left the desolate camp to a bewildered youth with a sheet of paper carrying the insignia of the conquerors telling him that he was now lord and master of the vacant space. The boy calculates everything and reaches to the head of the village with his offer to sell the land.

They all ponder over and eventually they purchase the land for five hundred rupees. The real trouble starts when they begin to dig and divide the land. An official-looking man comes and burst into laughter after reading the document. The airfield had never belonged to the person who had sold it. "All that villagers could do was hang their heads in shame and regret and curse the boy who had sold them an airfield" (53). The villagers were naïve and innocent and their gullibility have given them a fatal blow.

The story "The Letter" reveals the torment and fear of underground government i.e. internal rebellions faced by common villagers of Nagaland. The Naga Insurgency is an ongoing conflict fought between the ethnic Nagas and the Government of India in North-East India. The conflict often casts innocent civilians as its most tragic victims. This narrative explores the harrowing experiences of villagers, shedding light on their struggles while simultaneously invoking empathy for the rebellions. Both groups find themselves in desperate need of fundamental necessities. The common villagers were the subject of humiliation from both the sides: the underground and ruling government. An old woman was the victim of both during the peak of the insurgency movement she lived in 'grouping zone' and survived beating at the hands of army. She has been living in trauma after the abdication and eventual killing of her husband by the underground forces. Villagers often had to work free or with insufficient wages for government. Consequently, the hard-earned money was taken by the agents of underground government as necessary tax. The denial would cause deaths in families. Ao adamantly satirizes the practice of rebellions, "collecting taxes in the name of the underground government and using money to feed their drug and drinking habits" (57). The life was under the constant threat. In this story a portion of the hard-earned cash received after making some road is grabbed to run the underground government. All their hope got ruined.

> The villagers sensed immediately that their plans for utilizing the hard-earned cash would come to nothing because they knew that these fierce-looking goons from the forest had come to the village at night with only one purpose: to rob them in the name of the underground government. (55)

An old man emotionally debates that he has little money and has to give examination fee of his son but the unmoved agent knocked him with the butt of his rifle and comments, "what examination, what fees? Don't you know what sacrifices we have made in our fight against the government? And how we are suffering in the forest? (56). The old man was saved by the headman. The people of the village were generally submissive and tried their best to avoid conflicts with both the governments. But after this incident a kind of rage has taken birth in the heart of all the villagers especially in young bloods. They don't want to let Naga society in anarchy.

> At home, in fields and in forests their minds were filled with resentment and anger at the injustice inflicted on them over the years by the various players in Nagaland's murky politics, plunging Naga society into anarchy. (57)

Therefore, they all decided- no 'tax' to underground, no free labour for government and discourage the army visits by refusing to sell vegetables. Eventually an agent of underground came in the village and asked for 'emergency tax'. Youngsters come to know his coming and start gathering around him. Since he was alone so could not resist the beating and consequently lost consciousness. After that, he was dropped down from hill point and villagers taken oath never to reveal this happening. Before dropping his body the group leader of youngsters emptied his pocket. He finds a letter from the dead man's son, begging his father to send his exam fee. The unpaid fee, in the beginning and at the end reveals the motif of the story. Both were in need of money but adopted different methods. The lack of proper settlement and education are the major reason behind the conflict. Naga rebellions are fighting for their own cause but have adopted corrupt path. Common villagers are suffering in between. Ao sensitively raises the condition of Naga insurgency and drags our attention and the government to the wretched condition of innocent villagers who are the victim of this tussle.

The story of *Three Women* is quite different in narrative technique unlike rest of the stories. It has episodic plot and stream of consciousness technique. The story has three female figures and their story in three parts along with prologue and epilogue. Martha's narrative, Medelma's historical context, and Lipoktula's concealed truth collectively illuminate the multifaceted experiences of women within familial structures. These stories explore themes of identity formation, the complexities of motherhood, body politics, emotional struggles, the pursuit of autonomy, immaturity, and societal shame. Through this lens, we gain a deeper understanding of the challenges and triumphs that define women's lives, revealing the intricate interplay between personal agency and social expectations. Martha was living in a society which has not accepted her. She was called 'Coolie' and laughed at her dark complexion and strange feature. She was not from that tribe and was different.

The innocent queries of Martha were calm downed by elders' convincing answers. But one day the secret got revealed, Martha is not a biological daughter rather a deserted baby brought up by Medelma. A child named Chubala asks to Martha:

> Don't you know that you do not belong to our village and that Madelma is not your real mother? Haven't you ever wondered why you look so different from us? You speak just like we do but it is not your language. (64)

This was a heartbreaking blow to Martha that has shaken the blissful identify and cozy dwelling in that house. She asks, "Where did I belong and who were my people?" (65). It was the patriarchal social practice that made her father to desert a baby girl in the hospital. He says to nurse, "What will I do with another girl? Do whatever you want" (68). The setting and characters are particular but their trauma and struggles are general. She is informed about the death of her mother while her birth and the consequent desertion of her father. She realizes the role of her present mother and says, "Mother, I may look different from you or grandmother or from all others in the village but I feel no difference in my heart" (72). Subsequently Martha in her life journey gets pregnant before marriage. This act spoils the expectation of Medelma for grand celebration of her marriage. Medelma remarks, "You have brought shame upon the family by becoming pregnant before the wedding" (77). Martha couldn't resist the gentle ardour of Apok, her beloved. The history of Medelma has a stock plot. A female deserted by her fiancé manages to lead a reputed life after emotion breakdown. Imsutemjen, her lover, rejects her informing that his father is not agreed. The years long relation breaks in a few seconds. The feeling of rejection and betrayal was beyond communication. She determines to remain single throughout her life. In her hospital Martha's mother lose her life and left Martha alone. Medelma adopts her after facing many social and familial challenges. The problem of race and skin color doesn't leave her behind. She was Ao -Naga, of medium height with fair complexion while Martha was Dark as bat with distinctly aboriginal features. She contemplates, "I was all too aware of these obstacles but strangely, they only reinforced my desire to take this child and make her my daughter" (69). The power of female bond and motherly love unite the three women and never separates them. The secret of Lipoktula is the secret of many women. They don't reveal it because of the fear of social and familial castigation. Author here realistically narrates the rape case and male atrocities that victims often hide due to public shame. The victims of rape are numerous but the fear of public shame and societal mind set never let them to reveal it which in future gives more pain. Lipoktula had veiled the truth of her rape by Merensashi. Now it is reveled to her that the father of her daughter Medelma and her fiancé is the same person. Lipoktula asks Merensashi to cancel this consanguinity. This secret of her past life destroys the present life of Medelma and her beloved. The epilogue reads the labour pain of Martha and child birth. Temsula realistically describes the process and affirms motherhood as the blessing. Author notes:

> The baby's wet and slimy contours as it surges through the passage produces such a sensuous effect on Martha that sh will always remember it as more sublime than the transient ecstasies of sex. (79)

She further affirms, "When the child is brought to her, Martha looks at it with awe, and thinks with a deep sadness of her mother who has never experienced the pleasurable pains of Motherhood" (79). The mother and the grandmother are there, she ceremoniously lays the baby next to her in a ritualistic acknowledgement of her motherhood. Apok is presented as a progressive male who remains with Martha. He observes that all three is enjoying the miracle of new life so reluctant to break this spell he slips out unobserved. The love bond and the touch to female body got a very progressive narration by the author. Lipoktula says,

> Even an old woman like me still remembers and understands the inevitable force that draws a man and a woman towards one another. . . . But each time, I only recall how contagious the crazed passion of the man was and how an inexplicable reaction of my body turned my feeble resistance to participatory submission. (78-79)

The narratives of these three women provoke critical inquiries into societal norms and challenge entrenched patriarchal structures and conventions. Through their experiences, the stories confront and critique the limitations imposed by traditional gender roles, highlighting the need for deeper societal reflection and transformation.

"A Simple Question" paints the story of an illiterate simple woman who manages to influence an Army Caption to get her husband free from his custody. It is the narration of the tensed life of common villagers living under the thread of Naga rebellions and Indian army similar to the previous story "The Letter". Any support to the Indian government would

invite fury of Naga rebellions and vice versa. The lives of gaonburahs, appointed by the government from prominent clans to serve as agents of order within villages, reveal a heightened vulnerability compared to other villagers. They were answerable to both the forces and were always under the radar. Narrator informs:

> On the one hand, they were held responsible by the government if any young men from their villages were reported to have joined the rebel force; on the other, the underground forces order them to identify young men representing each clan to join their army, failing which they threatened to burn down the village granaries. (82)

Sometimes gaonburahs got executed as well. It was extremely untenable situations for them. The demands of the rebels were restricted not only to force youngsters of the village to join rebel force but also for material support "like money, grain and livestock". They called it taxes to pay the travelling expenses of leaders. During periods of conflict, the lives of gaonburahs become particularly precarious. Once Tekaba has provided lands to set army camps in village and this action was indigestible to rebellions. Similarly, non-cooperation with army would also invite serious actions. All able bodied were forced to work with government without wages or food. "Villagers who persistently resisted the setting up of army camps would be forced out of their village; their houses and granaries would be burnt and they would be relocated..." (84). The Rebellions imposed double tax on rice during a particular bad year. Imdongla expresses the deep frustration of inaction and the intense care for her family in a poignant manner. She utters, "just think how our daughter will feed her children . . . And you venerable elders, where is your wisdom? Your courage? Can't some of you go to the jungle and talk to the leaders" (85). Her pain and frustration is the pain of all the villagers who were living under constant treat. Later on, she came to know that her husband along with other elders was dragged by soldiers for the charge of helping rebellions. She rushed to the camp with warm stuffs since it was winter. She somehow manages to reach near the cell of her husband and determines not to go without husband. She has sensed that her presence would serve as a deterrent, dissuading the soldiers from physically assaulting her husband and the other elders. The Captain was informed about her tension and agony; she pathetically says:

> Look at them; aren't they like your own fathers? How would you feel if your fathers were punished for acting out of fear? Fear of you Indian soldiers and fear of the mongrels of the jungle. (87)

The untold pains of all the villagers come to light from the very simple question of her, "what do you want from us?" (87). The pathetic situation of the villagers moved the captain from his disciplined law to the emotional empathy. He orders to release her husband Tekaba. She being a simple and crude woman challenges the validity of Captain's presence in the alien terrain. It is her love and the ambivalent endurance that resonated with deep emotion to get her husband back.

The story "Sonny" is a narrative of unfulfilled love, ambitions and ideological contest. Sonny the protagonist of the story is the victim of internal rivalry among the different groups of freedom-fighters. The death of Sonny made him alive in everyone's memory. The narrator, who was in love with Sonny, highlights the bleak side of region. Activists, for the sake of region and ideology, are ready to sacrifice their love and comfortable future. Narrator is the victim of such an ideology. Sonny who was in love with narrator doesn't reveal his heart and leaves her for his commitment to go to China for training. Their life was under constant menace. They are to face dual challenge, one against the ruling forces and the other against the internal rival groups. The loss of Sonny and the unveiling of his messages evoke a flood of memories for the narrator, transporting her back to moments shared with him. The messages revealed the hardships of activists. Upon reading the message, the narrator comes to understand the struggles and anxieties that Sonny was grappling with. She reveals:

> In the first one he wrote about life on the run and the hardships faced by the group. The second one was pathetic: almost incoherent, it spoke of his disillusionment, frustration and suicidal tendencies due to not succeeding in his endeavours. (94)

Further Sonny has confessed that, "Sweetheart, there were often times when I felt grateful that you did not try to stop me from going in, but now I wish you had" (94). The letter revealed the other side of Sonny who was an emotion young man. This was different Sonny, his present situation was really miserable. She wept and dimly utters, "I had lost twice, once to his idealism and now to death" (94). His death reminds her all suppressed and forgotten incidents. Though Sonny was dead now but in her mind 'Sonny would always be alive'. The man, who once was the people's hope for a new life, is now going to be bur-

ied. The exiting days of national fervor hindered the thought of marriage between them. The fight was against the inequalities and injustices of the repressive forces. This was also against the alien way of life for the rural people. "But for the rural people, it was simply seen as an opportunity to return to the utopian state of self- rule before the alien rulers had come and overturned their ancient way to life (97). The story poignantly reveals the retaliatory mayhems of government like burning of villages, sending people in concentration camp, families were separated, and women were raped and killed. These incidents added fuel to the annoyed minds of the students pursuing higher studies. In these upheavals the thought of marriage was ingenuous. Presently she accepts the grief with equanimity. She presents herself calm and composed and behaves normally. The packet containing floppy handed to her by her brother suggests some secret should be revealed. Brother regretfully says, "I should have given it to you much earlier; please forgive me if you can" (99). She receives a friend's suggestion not to publish this message, expresses the tension and vulnerability of life in the region. She decides not to publish and put it in safe deposit box to be opened by her inheritor only. The story indicates how the internal rivalries among groups of freedom fighter and conflicts between rebellions and Indian national forces influence the lives of region and left an indelible memory. Individuals who engage actively in activities often bring about significant changes in the lives of those around them.

"Flight" is the story of a boy and his infatuation to keep caterpillars. The story is narrated through the eyes of caterpillar that grieves over his present confinement in a shoe box. His natural environment got replaced with darkness and momentary display of light. The wish of the boy to have caterpillar was granted by his father. His father consents, "you may keep him. Put your dragon-box on the dresser beside your bed. And remember, you will be responsible for any consequence regarding this" (104). Jonny finds a box and excitingly keeps the caterpillar inside. Caterpillar remarks, "my former life of wide-open spaces and bright sunshine vanished, and the new one of intermittent light and darkness began" (105). Soon Jonny lost the heat of his excitement and the caterpillar is left without proper attention. One day caterpillar realized that Jonny is ill and everyone is engaged in his caring. Without proper care I too was feeling sick and longed for my previous life. Throughout illness Jonny was calling me 'I want my dragon, I want my dragon'. His sister opened the lid and surprisingly Jonny remarked, "Beautiful? Dragon, what happened to you? You look ugly" (106). Jonny slumped back and remained still. The connection of caterpillar with Jonny is vanished now. Caterpillar was fit till Jonny was with him but caterpillar left the dying universe of Jonny. The concept of each and all justified here. Caterpillar leaves the pale and grief-stricken face of Jonny and flies to his destiny. We for our personal happiness detained some birds but they are beautiful only in their natural settings. The story deals with the subject of freedom and sensitizes us for the lives of forest world.

To sum up, the stories mainly deal with the burning issues of Northeast villagers, human life, Child Psychology and the relationship with Nature. Shiv K. Kumar has said, "Our women writers seem to have lent a new dimension of sensitivity and perception to the short story in English. They find its limited canvas quite congenial to their sensibilities in confronting their brief, often muted, experiences. They prefer to say a thing or two, and then let the rest fade away into silence" (110).Temsula Ao is one of them. She has narrated the different colors of human life along with a conscious attempt to sensitize us for the animals too. The stories dealt particularly the life and culture of Naga people. Temsula Ao laments at the paradoxical existence of Naga identity swaying between rural and urban ethos and seeks for cultural recovery as she considers it the only means to revive the lost glory of their existence. On the whole, in spite of dealing with contemporary problems and mirroring them, the mind of the author is not cynical. The stories have been crafted with sympathy for characters and presented with philosophical touch that is subtle and understated.

Works Cited

Ao, Temsula. *Laburnum For My Head: Stories*. Penguin Books, 2009.

Dahiya, Bhim. S. "The Modern Indian Short Story in English." *New Concerns: Voices in Indian Writing,* edited by Sushma Arya and Shalini Sikka, Macmillan India Ltd., 2006.

Das, Bijay Kumar. *Postmodern Indian English Literature*. Atlantic Publishers and Distributors (P) Ltd., 2013.

Iyengar, K. R. Srinivasa. *Indian Writing in English.* Sterling Publishers Private Ltd, 1999.Kumar, Shiv K. *Contemporary Indian Literature in English.* Shimla: Indian Institute of Advanced Studies, 1992.

A Study of Relevance of Constructivist Approach for Teachers

-Kamaljeet Kaur
Research Scholar
Kumaun University, Nainital, Uttarakhand

-Prof. VR Dhoundiyal
HOD, Dept. of Education,
SSJ Campus Almora, Uttarakhand

Abstract

Constructivist Approach demands that a teacher must be knowledgeable without authoritarian tendency, adaptable, supportive, empathetic and a risk -taker for experimentation. In the teacher education programs and in real teaching conditions, this approach convert the teachers to be critical thinkers, problem solvers, reflective practitioners and life-long learners. Constructivist approaches view knowledge as personally and socially constructed, rather than 'objective' and revealed; theories as provisional, not absolute (R. Miller and R. Driver, 1987 as in Jha, 2009:135). For the cultivation and nourishment of the qualities required for present scenario, it is imperative to have the concept of constructivist approach in our education system. This further generate the demand for recruitment of trained personalities who are experts in the epistemological and pedagogical aspects of constructivist approach. For the purpose of constructivism-driven teaching-learning, the working teacher-force of Indian education system must be aligned with the constructivist teaching-learning strategies and assessment techniques. In light of this fact, the present paper qualitatively analysed the relevance of this constructivist approach for both, working and prospective teachers. It is concluded that a teacher who himself is a lifelong learner has the quality to be a constructivist teacher. The students are valued in constructivist educational settings in terms of their previous experiences, asking questions and conflicts. The constructivist teacher provides real life instances to connect the classroom learning with the social environment of the students. They value the parents of their students and provide them the necessary faith for the welfare of children. The constructivist approach is relevant to the extent of reforming the curriculum of teacher education as well as school education.

Keywords: Constructivist Approach, Knowledge, Teachers, Teacher education.

Introduction

The contemporary education system consider teacher as a co-learner, facilitator, guide and a mentor in contrast to the traditional lecturer, authoritarian figure and a knowledge presenter. This implies the teacher must be knowledgeable without authoritarian tendency, adaptable, supportive, empathetic and a risk-taker for experimentation. To have these qualities in teaching, a person needs to be well-aware about the key concept of constructivism and how to use them in his favour for effective teaching. The word constructivism is being used in practice since the latter half of 20th century. Originally, Vico gave the concept of constructivism as "human knowing involves an imaginary construction of order in experience" (Mahoney, 2005:747). This shows the unparalleled place of real-life experiences in knowledge construction. These outer experiences form the foundation of a person's own reality. Constructivism is a theory of how the learner constructs knowledge from experiences by adapting and refining them. This

knowledge construction is unique to each individual. The constructivist approach to teaching is based on a combination of a subset of research within cognitive psychology and a subset of research within social psychology. (Jha,2009:172). The learner actively builds concepts in his own cognition with the interaction of social information presented by outer environment. *Constructivist approaches view knowledge as personally and socially constructed, rather than 'objective' and revealed; theories as provisional, not absolute (R. Miller and R. Driver, 1987 as in Jha, 2009:135).*

The base for becoming a teacher in our country is the teacher education program in form of B.Ed, B.El.Ed, D.El.Ed etc. Therefore, to become a constructivist teacher, the teacher training programs should be constructivist approach oriented which leads to the making of teachers who will be critical thinkers, problem solvers, reflective practitioners and lifelong learners.

Review of related literature:

Dede, C. (2008) explored the constructivist teacher: Lessons from the learning sciences by integrating constructivist principles with technology to enhance student learning. Constructivist teaching in combination with technology facilitates knowledge with the help of inquiry-based learning, collaborations and student-friendly environments. The teacher is in the role of facilitator, coach and a mentor here. Multimedia resources, online communities and virtual labs supports the constructivist teaching.

Rahman, M., Jalil, M., & Hassan, A. (2008) had done an Exposition of Constructivism: Accounting to construct knowledge and to create meaningful learning environment for teacher education. The potential for the constructivist approach in teacher education is probed emphasizing on the meaningful knowledge construction. The research argued that constructivism offers a robust framework for teacher education, promoting meaningful learning environments and knowledge construction.

Sjøberg S (2010) had studied and detailed the notion of Constructivism and Learning. The different faces of constructivism and its historical development in education specially in reference to Piaget, Vygotsky and Glasersfeld was given. The potential of constructivist theory to improve learning outcomes and to promote deeper understanding is elaborated.

Venable (2011) had done a literature review on Constructivism in the Classroom and said that students actively create their own understanding through personal experience, building upon previous experiences and knowledge to form more complex and advanced comprehension of academic concepts. The major constructivist teaching principles includes knowledge-sharing, cooperative learning, shared decision making and student-centered learning.

Taber (2019) analysed the key issues relating to the adoption of constructivist thinking in education which have arisen within the field of science education. Variations of constructivism such as radical, social, cognitive were described. A detailed outline of the influence of constructivism in science education was also included. The importance of balanced approaches combined with constructivist principles of direct instruction and guidance were given. Some of the major criticisms of constructivism were also discussed.

Mishra, P.K. (2020) had investigated the Implications of the constructivist approaches in the classroom, focusing on the role of the teachers. Constructivist approaches focus on student-centered learning, inquiry, and collaboration. A constructivist teacher

encourages student freedom, use the open-ended questions, promote collaborative learning, and enhance meta-cognition.

Need and significance of study:

The present era is such where knowledge boom is prevailing in our lives everywhere. The logical, analytical, critical-thinking, original and supportive personalities can survive in our society. For the cultivation and nourishment of these qualities in every citizen, it is imperative to have the concept of constructivist approach in our education system. This further generate the demand for recruitment of trained personalities who are experts in the epistemological and pedagogical aspects of constructivist approach. For the purpose of constructivism-driven teaching-learning, the working teacher-force of Indian education system must be aligned with the constructivist teaching-learning strategies and assessment techniques. This makes the teacher training programs, the most favourable place for producing such teachers. This empirically shows the relevance of constructivist approach for teachers, be it the prospective teachers or the in-service teachers who are already living the above mentioned experiences in their workplace. It requires the critical understanding of the constructivist approach along with its benefits which are its strengths as well as the challenges which are unfortunately tagged with it. To exploit the constructivist approach in our favour to the fullest, its positive aspects are to be nurtured and promoted but its downsides are to be reduced and overcome.

Only constructivist approach can quench the natural curiosities of a child and a teacher who follows this approach has the quality to mould the absurd and imaginative questions/statements of child into construction of knowledge by connecting these with the logical reasoning, brain-storming and open-ended questions and discussions. Therefore, an essential relevance of constructivist approach is generated not only for the working teachers but also for prospective teachers.

Objectives of the study:

1.To study the relevance of Constructivist approach for working teachers.

2.To study the relevance of Constructivist approach for prospective teachers.

Research methodology:

The present paper is descriptive in nature. The researches on constructivist approach have been taken into account and qualitative analysis is used for exploring the objective of the research.

Analysis of Constructivist Approach for Teachers:

Objective 1: Relevance of Constructivist Approach for working teachers

1. Regarding constructivist approach, the working teachers are the nucleus of knowledge generation by their students. The teacher himself also is a learner in progress as he accepts and refine his own concepts regularly which means he daily construct his new knowledge by adding new experiences to his prior ones.
2. The root aspect of constructivism is to create new knowledge for a person himself, whether be it a student or a teacher. In every classroom, there are two types of interactions. First is intra-personal and second, inter-personal in the form of gathering of More Knowledge Other (MKOs). Teacher is focused MKO to all the students but if the teacher is of constructivist centered tendency, then every student may be considered as an MKO by the teacher.

3.In constructivist settings, the origin of new knowledge depends on one's own mental range, beliefs, the past lived experiences and the power and relevance of the idea of MKOs with whom one interacts in the social gatherings. Out of these factors, the teacher's position as a prominent MKO is of relevance. Consequently, the teacher needs to sharpen and update his knowledge consistently in the form of promoting the students' ideas and by being a lifelong learner.

4.It is the teacher who make students feel valued and safe regarding their questions and confusions in teaching-learning process. He creates such class environment which prompt the students for reflection on their learning.

5.Teaching through constructivist approach look for the tasks, ideas and projects which could be shared, investigated, analysed and collaborated by the learners on the basis of their previous information. To do this effectively, a teacher needs to be a learner and a researcher to continually adjust their actions to engage students in learning, using constructivism as a referent (Dougiamas,1998 as in Jha, 2009:173).

6.Constructivist Teaching is teaching that allows students to "interpret' their experiences in class and try to make sense of them. There is no one single teaching methodology that is called "constructivist teaching'.

Objective 2: Relevance of Constructivist approach for prospective teachers.

The literature review also gives directions about the essential elements of constructivist approach for the prospective teachers-

1. A prospective teacher is a teacher in making as well as a student also. His knowledge level is more than a regular student, so every prospective teacher can be considered as an MKO for his peers. The knowledge construction can be performed by them in the presence of MKO and with the help of their previous experiences.
2. In real constructivism classroom, every learner learns with his peers, teacher and through ideas shared in the environment. Both the students and the teachers are in the role of learner here. The action of learning is in progress on the basis of Vygotsky's Zone of Proximal Development (ZPD) concept. Each learner has his own ZPD, which he expands on the basis of interactions among his prior and the new experiences. Every individual learns in proportion to his level of ZPD and the received interactions and his participation in those interactions. In words of Vygotsky, every function in the child's cultural development appears twice: first, on the social level, and later, on the individual level; first, between people *(interpsychological)* and then inside the child *(intrapsychological)*. (Vygotsky, 1978: 57 as in Pritchard & Woollard,2010). The teacher in training phase practice the above classroom environments in the form of simulated and internship teaching. This exercise prepares them as an efficient constructivist teacher.
3. The priority area for teacher education needs to incorporate the emerging demands from the school system and prepare teachers (NCF 2005) for the roles of being an: Supportive, encouraging human facilitator in teaching-learning situations to enable learners to discover their talents, realize their physical and intellectual potentialities to the fullest and to develop character and desirable social and human values to function as responsible citizens; and active member of a

group of persons who makes a conscious effort for curricular renewal so that it is relevant to changing societal needs and the personal needs of learners. (Mohapatra, 2015).

4. The constructivist trend has reformed the teacher education curriculum. Such revolutionary reforms relevantly impact the training of the prospective teachers. The improved and advanced constructivist Teacher education curriculum provides following appropriate and critical opportunities for prospective teachers-

a. Engage, observe and communicate with students.
b. Understand the beliefs, assumptions, emotions and aspirations of the students as well as of self.
c. develop the capacity for self-analysis, self-evaluation, adaptability, flexibility, creativity and innovation.
d. Form habits for self-directed learning, reflect, assimilate and articulate new ideas and to work collaboratively.
e. Relate subject content with the social circle of the learners and develop critical thinking.
f. Develop professional skills in pedagogy, observation, documentation, analysis and interpretation and reflective inquiry.

Conclusions:

The above analysis provides the focused conclusions about the relevance of constructivist approach for the working as well as the prospective teachers which are:

1. Constructivist approach is most suited for a teacher who consider himself as a learner. Only such teacher can teach with this approach who accepts himself as a keen learner and ready to get ideas from his class and utilize them in the interest of his students as well as himself. The classroom experiences are not only the base for students' knowledge but are useful for the teacher also as these are being reflected upon and refined by the teacher later after.
2. It is important for a constructivist teacher to accept his students' thinking and understanding, and search and apply specific ways to help children express and document these processes, and he provides opportunities for children to build relationships, experiment, and cooperate.
3. Constructivist teachers are process-oriented. They are interested in students' thinking, in the relationships their students can explain, and in developing dispositions toward learning. A constructivist teacher takes teaching clues from students' interest, not from curriculum outlines.
4. Constructivist teachers value parents as important partners and build relationships with them that will lead to knowledge of their children as thinkers and Problem-solvers.
5. The teacher must provide the students autonomy, cultivate reflective and meta-cognition skills in the students. The real-world instances must be used in teaching for effective and stable knowledge construction. These facts are also supported by Sjøberg (2010).
6. Constructivist approach focuses on conflict removing process as it concluded that conflict is the sources of growth and cooperation. The constructive classroom discourse during the process of conflict removals leads to developmental progress.
7. The curriculum is not a fixed guideline for a constructivist teacher. He incorporates a variety of teaching-learning strategies as classroom discussions, debates, observations and group projects. Use of such appropriate pedagogical strategies have the potential to reconstruct the students'

thinking and reflective abilities.

8.The conclusions of our analysis of relevance of constructivist approach for teachers are partially supported by the NCFTE 2010 with following comparable remarks:

◊ Treat children as active participant in the knowledge construction enjoying the learning activities in meaningful manner.

◊ Understand and sensitize with the children with affection and care.

◊ Accept the subjective nature of entire knowledge and not to take it as a fixed entity.

◊ Contextualize the curriculum according to the needs of the students.

◊ Organize and provide the participatory, student-centered, activity-based learning experiences to the students such as observations, discussions, dialogues, natural field-trips and collaborative projects.

◊ Address the impact of diversity of students and to connect their classroom learning with their social surroundings and making their learning synonymous to real & lived experiences.

References:

1. Brooks, M. G., & Brooks, J. G. (1993). The case for constructivist classrooms. *Educational Leadership*, 51(5), 18-21.
2. Dede, C. (2008). The constructivist teacher: Lessons from the learning sciences. *Journal of Applied Developmental Psychology*, 29(5), 416–426. doi: 10.1016/j.appdev.2008.07.002
3. Jha, A.K. (2009). *Constructivist Epistemology and Pedagogy: Insight into Teaching Learning and Knowing*. Atlantic Publishers and Distributors (P) Ltd. New Delhi.
4. Mahoney, J. (2005) "Constructivism and positive psychology" in Snyder, R. and Lopez, S. (eds) *Handbook of Positive Psychology*. Oxford: Oxford University Press.
5. Mishra, P.K. (2020). Implications of the constructivist approaches in the classroom: The role of the teachers. *Journal of Education and Human Development*, Volume 9, Issue 1, pp. 1-12.
6. Mohapatra, J.K.; Mahapatra, M. & Parida, B.K. (2015). *Constructivism The New Paradigm: From Theory to Practice*. Atlantic Publishers and Distributors (P) Ltd. New Delhi.
7. Pritchard, A. & Woollard, J. (2010). Psychology for the Classroom: Constructivism and Social Learning. Routledge, Taylor and Francis Group.
8. Rahman, M., Jalil, M., & Hassan, A. (2008). An exposition of constructivism: Accounting to construct knowledge and to create meaningful learning environment for teacher education. *Journal of Educational Research*, 101(4), 231-242.
9. Sjøberg S (2010). Constructivism and Learning. In: Penelope Peterson, Eva Baker, Barry McGaw, (Editors), *International Encyclopedia of Education*, Oxford: Elsevier, volume 5, pp. 485-490. DOI: 10.1016/B978-0-08-044894-7.00467-X
10. Taber, K. S. (2009). Constructivism in education: Interpretations and criticisms from science education. *Journal of Science Teacher Education*, volume 20, issue 5, pp. 497–514. doi: 10.1007/s10972-009-9151-7
11. Venable, R. M. (2011). Constructivism in the classroom: A review of the literature. *Journal of Educational Research*, 104(2), 79–93. doi: 10.1080/00220671003636700

****

Material Evidence and its Operational Challenges in Criminal Trials in Indian Legal System

-Dr. Sonam Y. Bhutia

Assistant Professor, Department of Law
Sikkim University, Sikkim, India.
E-mail- syangchenb.su@gmail.com

ABSTRACT: Material evidence occupies an important role in criminal trials. The absence of a separate chapter under the Indian Evidence Act to govern material evidence creates a vacuum, which raises some thorny issues related to relevancy, admissibility, and mode of proof of material evidence. Therefore, stakeholders of the criminal justice dispensation system, in particular prosecutors, are facing a range of practical problems associated with material evidence. This article analyses those issues with the aid of decisional law.

Keywords: Law of Evidence, material evidence, test identification parade, oral evidence.

INTRODUCTION

According to section 3 of the Indian Evidence Act "evidence means and includes all statements which the court permits or requires to be made before it by witnesses in relation to matters of fact under inquiry. Such statements are called "oral evidence." It also includes all documents, including electronic records, produced for the inspection of the court called as "documentary evidence". This definition, though it sounds appealing, leaves a number of matters outside the purview of "evidence". For instance, circumstantial evidence is not defined as evidence under the Indian Evidence Act. However, it occupies an undeniable role where availability of direct evidence is scarce. Likewise, the confession of a co-accused is not evidence as per section 3 of the Act, and presumptions covered under section 114 of the Act, real evidence or material evidence before the court are all not evidence *stricto senu*. Understandably, the courts are not adjudicating cases solely on oral and documentary evidence. Certainly, judges are using a number of tools to adjudicate legal disputes and many of them are not covered under section 3 of the Act. Nevertheless, they are indispensable for the proper adjudication of cases, be it civil or criminal.

In practice, such interpretations are insufficient to tackle a variety of practical issues that may arise during a trial. As far as a criminal trial is concerned, the prosecution relies on a large body of evidence, in the form of oral, documentary and material, to prove a case beyond the shadow of reasonable doubt. Concerning oral and documentary evidence, the Indian Evidence Act provides a set of well-defined provisions with illustrations. In *State of Bombay v. Kathi Kalu Oghad ,* the Supreme Court observed:

> "Evidence has been classified by text writers into three categories, namely, (1) oral testimony; (2) evidence furnished by documents; and (3) material evidence."

However, the court had not ventured into a detailed analysis of the term "real evidence." Nevertheless, this could be treated as a formal declaration of the existence of real evidence in the law of evidence. In fact, there are certain provisions under the Indian Evidence Act, where material evidence may become relevant, notably, sections 7,8 and 9 under

chapter II of the Act. Moreover, section 60, proviso 2 under chapter IV of the Act, enables the court to require the production of a material thing for inspection, which is referred to in oral evidence. Again, section 165 under chapter X of the Act, empowers the judge to order the production of things in order to discover or to obtain proper proof of relevant facts.

It must be noted that there is no separate chapter under the Indian Evidence Act to govern material evidence. This vacuum, in effect, raises some thorny issues related to relevancy, admissibility, and mode of proof of material evidence. Therefore, stakeholders of the criminal justice dispensation system, in particular prosecutors, are facing a range of practical problems associated with material evidence. This article analyses those issues with the aid of decisional law. In this article, the terms "material evidence" and "real evidence" are used interchangeably.

MATERIAL OR REAL EVIDENCE: MEANING AND PURPOSE

The terms "material" or "real evidence" have not found any place in the Indian Evidence Act. Admittedly, the draft report submitted to the Governor General of India had categorised evidence into three heads, namely, oral evidence, documentary evidence, and material evidence. Unfortunately, the second report completely omitted the third category of evidence from the draft; consequently, the bill passed without any provisions regarding material evidence. According to Sir J.F. Stephen, since it is spoken to by the witnesses, such evidence falls under that category of oral evidence.

S.L. Phipson has defined "real evidence" as "material objects other than documents, produced for inspection of the court". He further adds that, "this when available, is probably the most satisfactory kind of all, since neither save for identification or explanation, neither testimony nor inference is relied upon. Unless, its genuiness is in dispute, the things speak for itself". Likewise, J.H Wigmore elaborates the term in the following words, 'bringing a knife into court is in strictness not giving evidence of the knife's existence. It is a mode of enabling the court to reach a conviction of the existence of the knife, and is in that sense a means of producing ersuation". In other words, this is of all proof the most satisfactory and convincing.

It is an undeniable fact that real evidence, however phrased or named, occupies an important role in criminal trials. To weed off certain theoretical intricacies and to have a simplified view on the topic, let us follow what Phipson says, "material objects other than documents produced for the inspection of the court". Therefore, stolen property, a weapon, a skeleton, parts of a vehicle that were found at the scene of the crime, and blood-stained clothing are all examples of material evidence, or "material objects," as they are often known. Demonstrative evidence, on the other hand, is a different type of real evidence. It serves as a tool to clarify or exemplify a witness's testimony. Thus, the last category includes the scene plan, CCTV footage, and images of the actual scene.

ADMISSIBILITY OF MATERIAL EVIDENCE

Some physical items can be recognised quickly due to their distinctive or singular features or marks. For example, a car, jewellery, phone, or a murder weapon with a distinctive shape, are all accepted through in-court identification or by marking legally valid images. At the same time, there are certain types of material evidence those, which are easy to change, adulterate, tamper with, or naturally degrade. This category includes illegal goods like restricted drugs and alcoholic beverages. Analysis of case laws clearly shows that material evidence must meet specific requirements much like oral and docu-

mentary evidence. Most important requirements are relevancy and absence of material alteration.

Naturally, relevance is a prerequisite for admissibility; every tangible object intended to be part of the evidence must pass the relevance test. Similarly, a party or the prosecution, depending on the situation, may convince the court that the physical object entered the court in an impermeable way. Higher levels of proofs are required for evidence that is easily alterable, or fungible. A "chain of custody" can be established to obtain this proof. Achieving chain of custody is the goal of procedural law requirements such as creating a search list, sealing confiscated illicit items, creating a mahazar, and forwarding notes. Notably, special statutes such as the Abkari Act No. 1 of 1077, and the Narcotic Drugs and Psychotropic Substances Act, 1985, set down elaborate seizure, sealing, and sampling procedures. The general trend is that, the courts are always keen to require stricter proof of chain of custody.

WHEN AND WHERE DOES MATERIAL EVIDENCE MATTER?

Real or material evidence plays a very decisive role in criminal trials. Production and identification of material evidence may sometimes yield some positive impact on adjudication. There are undoubtedly some kinds of material evidence that are difficult to move, preserve, or contain, for instance, electric poles, live animals or meat, and motor vehicles. Usually, the court may not mandate the physical presentation of such evidence. Alternatively, they could be identified using specific demonstrative real proof, like photographs. In a plethora of decisions, it has been held that "mere non-recovery of a weapon does not falsify the prosecution case where there is ample unimpeachable ocular evidence". Reverse trend is also there, for instance trial of offences under penal statutes like NDPS Act. Therefore, in *Jitendra* v. *State of Madhya Pradesh* , it has been observed that:

> "The best evidence would have been the seized materials which ought to have been produced during the trial and marked as material objects. Mere oral evidence as to their features and production of panchanama does not discharge the heavy burden, which lies on the prosecution, particularly where the offence is punishable with a stringent sentence".

It is true that evidence appreciation is done in a holistic manner. The absence or presence of a single piece of evidence may or may not lead to an acquittal. All is dependent on the totality of evidence, that too interdependent on the quality of evidence adduced. In this regard, let us identify some circumstances in which material evidence may become crucial to the successful prosecution of a case.

Nature of Weapon

In *State of U. P v. Indrajeet @ Sukhatha,* the Supreme Court, has remarked that:

> "There is no such thing as a regular or earmarked weapon for committing murder".

In fact, this generalisation applies equally to every tool, weapon, or item that has the potential to be a weapon of offence. However, it may be necessary to demonstrate that the alleged weapon would fit that description when a penal provision specifies the weapon and its possible consequences. For e.g., in the trial of offences under sections 148, 324, 326, 397, and 398 of the Indian Penal Code, to name a few, the production and identification of weapons may play an important role. Let us consider some of them in detail. For the sake of thematic relevance, discussion is confined to certain definitional issues only.

Deadly weapon

Rioting with a deadly weapon or with anything else that is used as a weapon of offence and is likely to result in death is punishable under section 148 of the IPC. The Indian Penal Code's sections 397 and 398 also use the term deadly weapon. Since the term "deadly weapon" is not defined in the IPC, it may be necessary to persuade the court that the

perpetrators in the riot or the assailant as the case may be, had possessed such weapons or that anything that was used as a weapon of offence was likely to cause death.

Some weapons are inherently dangerous due to their design and ability to inflict fatal wounds on human body. A sword, an assault rifle, and a revolver are all deadly weapons and it might not be difficult to claim that such weapons or tools are lethal in nature, if they are presented to the court. The crucial element is, not the purpose for which they were carried, but the nature of the weapon is such that, if used as weapons of offence, they are likely to cause death. On the other hand, it has been held that, a *lathi* is not a lethal weapon, or a knife owing to its size or shape, may not become a deadly weapon.In *Sonu @ Chhotu v. State of NCT of Delhi* the court once again emphasized that:

> "Whether a knife is a "deadly weapon", is a question of fact which has to be proved by the prosecution and in absence of any such evidence particularly, non-recovery of weapon, would certainly bring the case out of the ambit of section 397 IPC".

Admittedly, certain things are not deadly by nature, but they might become fatal if they are used as a weapon of offence. Therefore, in *Sajith* v. *State of Kerala* , a plastic rope and in *Vijayan* v. *State of Kerala,* an un-husked coconut were held to be lethal weapons, based on their potential and effects on the human body.

Weapons -likely to cause death

The intended uses of the weapons indicated in sections 324 and 326—shooting, stabbing, and cutting—need no explanation. However, the term "instrument that, if used as a weapon of offence, is likely to cause death" is always open to a wide range of interpretations, because any instrument, regardless of its shape, mass, texture, or purported use, could be a weapon of offence under those sections.

The apex court made it clear that the expression "any instrument, which used as a weapon of offence, is likely to cause death" should be construed with reference to the nature of the instrument and not the manner of its use. Further, the court detailed that whether a particular article can per se cause any serious wound or grievous hurt or injury has to be determined factually. The facts involved in a particular case, such as size, sharpness, mass, or texture, would be of great value to determine whether such a weapon is likely to cause death or not. Therefore, in *Joy* v. *State of Kerala,* while deciding whether a stone could be treated as a dangerous weapon under section 326 IPC, it was emphasized that:

> "In a case like this the prosecution must produce the weapon before the court, it must be shown to the medical witness, and the prosecution must elicit materials from the medical witness regarding the nature of the stone, its size and also regarding the possibility of death being caused, if the said stone is used as a weapon of offence, or the possibility of death being caused due to the grievous injuries inflicted with the said stone".

IDENTIFICATION OF STOLEN PROPERTY

Identification of stolen property by the owner or possessor carries much importance in the trial of theft cases. It is equally applicable to a number of cases where ownership or possession matters. Naturally, the owner or possessor is in a better position to identify things due to possession, proximity, or contact. Therefore, in-court identification of stolen property by its owner or possessor, *inter alia*, fortifies the prosecution case. Apart from the owner or possessor, a certain witness who is acquainted with the property can also identify things. For instance, in a murder case trial, the identification of personal things like ornaments, by the kin of the diseased is a relevant piece of evidence. In a similar way, a *mahazar* witness, who saw the seizure, can point those things out

at trial. As we have discussed above, the admissibility of such property or things is also subject to certain circumstances.

To begin, the prosecution, like any other evidence, must establish relevancy, which means that the property must have some connection with the fact in issue or relevant fact. The second requirement is that it must be the same thing that was seized or recovered in connection with the case, and there must not be any tampering, alteration, or addition. Importantly, the property or thing must be identifiable by the witness. If it carries, certain distinct markings, colours, or features, then identification may not be problematic. However, in some cases, even in the absence of distinctive markings, "owners of articles can identify their articles by feel, touch etc, though they may not be able to formulate the reasons, as such identification is based in the untranslatable impressions of their minds". On the other hand, if the property has been significantly changed, for instance, if the recovered or seized object is an ingot—then it might not help the prosecution case much. The decision of the Supreme Court in *Inspector of Police, Tamil Nadu v. Balaprasanna*, makes it clear that:

> "Since the golden jewellery had been molten and was recovered in the shape of ingots, it would be very hazardous to come to the conclusion that, the golden jewellery belonged to the deceased".

In an unreported decision of the Bombay High Court, it was held that:

> "Undoubtedly, merely because the property is converted, it would not cease to be stolen property, and it will be open for the investigating agency to seize it in the changed or converted form".

However, to hold that the ingot is the stolen property that had been converted, at least it must be established that the property was stolen by a particular person and that he had given that property to a person from whom the property in converted form was recovered.

VI. TEST IDENTIFICATION PARADE (TIP) - (Property)

Test identification parade is an investigation tool to identify culprits and things through subsequent identification by a witness. Section 9 of the Evidence Act states that, the facts, which establish the identity of anything is relevant. Apart from certain executive orders and judicial precedents there is no statutory procedure concerning conducting of TIP. Practice and precedent suggest that even though a layman is competent to conduct the TIP, for the sake of legal sanctity and comprehensiveness, it would be better to entrust that task to a magistrate, be it judicial or executive. The identification memo, which is the recorded statement of the person who identified the culprit or things, can be taken into evidence without examining such a magistrate during trial.

MATERIAL OBJECT OR DOCUMENT

In fact, the legal profession is not unfamiliar with the dilemma of determining whether to treat something as a material thing or as documentary evidence. In this context, Phipson narrates: "There is a distinction between a document used as a record of a transaction, such as a conveyance, and a document as a thing. On a charge of stealing a document, for example, the document is a thing. It depends on the circumstances in which it falls.

In *Sherin V John* v. *State of Kerala* , after meticulously analysing the theory and practice on real or material evidence, the court made the following observations:

> A substance may be a material object if it has no written description or expression on it.
>
> If the authorship of the information conveyed or described on a substance is relevant, the substance is a document; otherwise, it is merely a material object.
>
> Where the only purpose for which a material object upon which a matter has been expressed or described is produced is to prove its seizure

from the possession of the accused, then the testimony of any witness is not needed as it is a matter before the court.

In short, classifying something as a material object based solely on its outward appearance has significant dangers. It is important to note that misbranding can never alter a material object's inherent qualities or purpose sought to be proved through presentation, such as those of a CD, memory card, or pen drive.

CONCLUSION

The matters, as discussed above, are just a peripheral analysis of practical problems associated with material evidence. Many other issues may come up during the trial. The most common is the non-availability of material evidence for identification during trial. Under certain circumstances, non-availability may be justified by a proper explanation by way of oral or documentary evidence. There may be certain circumstances that warrant disposal of the property before the commencement of the trial, for instance, the disposal of the property under section 451 of the Code of Criminal Procedure, 1973. In *Nagarajan* v. *State of Kerala*, the Kerala High Court observed that it is not a pre-condition that such properties must be in a state of speedy and natural decay. The decision of the Supreme Court in *Sunderbhai Ambalal Desai* v. *State of Gujarat* and a catena of judgements thereafter clearly suggest that, instead of producing material objects as such, the production of photographs duly signed by the accused and the complainant along with a *mahazar* would be sufficient.

The aforementioned recommendations, however, are more appropriate for "harmless" properties, such as valuables, personal items, etc. Certain items, such as offensive weapons, have a separate foundation. As we have discussed above, sometimes it is necessary to physically show the weapon in question during the trial in order to get the doctor's opinion on whether it is "likely to cause death" or otherwise lethal. The medical view regarding the relationship between an injury and a weapon is undoubtedly just an expert opinion. However, practice shows that, in most cases, courts give much importance to that opinion in a routine manner. The investigation is another area of worry. The police and other investigation agencies are not serious about material evidence. Such a casual approach is rampant in the investigation of cases triable by the magistrates. The weapon of offence and its description are often not detailed in the *mahazar*, property list, or forwarding note. For instance, "a handy sharp stone or piece of log" is some of the typical descriptions. This vagueness, coupled with the non-production of the weapon of offence, may seriously hamper the prospect of the prosecution's case.

Admittedly, each case depends on its own set of facts. No generalisation is possible, except for the purpose of applying the law. In tune with the passage of time, more and more legal principles may evolve. Most of the members of the common law family have already embraced real evidence in their rules of evidence. As criminals become more intelligent and cunning, the current normative framework may be found to be insufficient to cope with such offenders. Unless and until we make our legal system responsive to global events, we run the risk of slipping behind in the future. Undoubtedly, our procedural legal system needs to incorporate explicit and detailed standards for material evidence. It is undeniably the necessity of the hour.

References

I. *Hardeep Singh v. State of Punjab*, AIR 2014 SC 1400.
II. AIR 1961 SC 1808, Para 11, See also *Sherin V. John v. State of Kerala* (2018) 3 KLT 298.
III. The Gazette of India, Report of the Select Committee, Part.5, 1871, at 278.
IV. The Gazette of India, Report of the Select Committee, Part.5, 1872 at 94.
V. S. A. Khan, *Law of Evidence*, (Nagpur: Lexis Nexis, Butterworth, 2020) at 207.
VI. S.L Phipson, *The Law of Evidence,* (Sweet & Maxwell, 1921) at 4.
VII. S.L Phipson, "Real" Evidence, (1920) 29 *Yale L.J at* 705-717.
VIII. W.M. Best, *The Principles of the Law of Evidence,* (H. Sweet, Law Bookseller and Publisher 5th ed.1870) at 270.
IX. Supra note 7.
X. The Indian Evidence Act,1872, s. 53A (2).
XI. Id. s. 52A.
XII. *Union of India v. Mohanlal* (2016) 3 SCC 379.
XIII. For instance, *Balakrishna Rai v. State of Kerala*, (2020) 3 KLT 727; *Chakkyath Chandran v. State of Kerala* 2009 (1) ALT; and *Appukuttan v. State of Kerala*, 2013 (2) KLT(SN)10; *Rajamma v. State of Kerala* 2014 (1) KLT 506, *Ravi v. State of Kerala* ,2011 (3) KLT 353.
XIV. *Yogesh Singh v. Mahabeer Singh* (2017) 11 SCC 195; *Lakahan Sao v. State of Bihar and Anr (*2000) 9 SCC 82; *State of Rajasthan v. Arjun Singh & Ors* (2011) 9 SCC 115; Manjit *Singh& Anr. v. State of Punjab* (2013) 12 SCC 746.
XV. AIR 2003 SC 4236; See also, *Ashok v. State of Madhya Pradesh* (2011) 5 SCC 123; Nilesh *Suryakant Sha v. State Of Madhya Pradesh* (2013) 14 SCC 522.
XVI. (2000) 7 SCC 249;
XVII.. *Lakshmiammal v. Samiappa Goundara And Ors* AIR 1968 Mad 310; 1968 (1) MLJ 226.
XVIII.. *Joseph v. State of Kerala* AIR 1994 SC 34.
XIX.. *Sukh Ram v. State of Rajasthan* 2007 2 CriLR 1046; Salim *v State of Delhi* 1987 1 ILR (Del) 449.
XX.. 2013 (1)1 Crimes (HC) 336.
XXI.. 2012 (1) KLT(SN) 27.
XXII.. 1959 KLJ 664: 1959 KLT 704.
XXIII.. *Anwarul Haq v. State of U.P* (2005) 10 SCC 581.
XXIV. 2014 (1) KLT 588: 2014 (1) KHC 414.
XXV.*Earabhadrappa v. State of Karnataka* 1983 (2) SCR 552.
XXVI. Supra note 5, at 757.
XXVII.(2008) 11 SCC 645.
XXVIII.*Rajesh Ganeshmal Oswal v. State of Maharashtra,* Criminal Revision Application No.216 OF 2012, August 10, 2012.
XXIX.*Ramkishan Mithanlal Sharma v. State of Bombay*, 1955 (1) SCR 903.
XXX.See for instance, G.O (MS).791/Home(A) dated 25.06.1958.
XXXI.Supra note 10, s. 80 and The Code of Criminal Procedure, 1973, s.164 and s.291A .
XXXII.Supra note 22.
XXXIII.H M. Malek, *Phipson On Evidence*, (Sweet & Mawell, 16 ed. 2007) at 5.
XXXIV.Supra note 2.
XXXV.. *Jisal Rasak v. State of Kerala* 2019 (4) KHC 928; 2019 (4) KLT 159; *P. Gopalkrishnan @ Dileep v. State of Kerala* 2020 (9) SCC 161.
XXXVI.2019 (4) KLT 641.
XXXVII.2002 (10) SCC 283.

****

I.

A Study of Moral Ethics and Life Skills in *Panchatantra*

-Dr. Rachana
Assistant Professor, Department of English
CMP College, University of Allahabad, Prayagraj

Abstract

Examining the narrative aesthetics of the *Panchatantra*, a collection of animal fables from ancient India, this study aims to explore the intricate relation of Moral ethics and Life skills. It is still masterwork of moral ethics and instructions. With its narrative artistry and managerial skills, these fables have maintained their appeal throughout the time and across cultural boundaries. The Panchatantra is the finest guidebook for instilling moral values in children since each story concludes with a moral lesson. According to its historical roots, the term "Panchatantra" is a combination of the words "Panch" (five) and "Tantra" (rehearse/rule). The study demonstrates that using each of these elements can benefit teachers, students, and parents.

Keywords: Panchatantra, Moral Ethics, Cultural Boundaries, Indian Education.

Introduction

Indian Literature is based on moral ethics and life management. Stories have always been counted by humans. Prior to the development of any contemporary technological device, like watching TV or using a computer, telling stories and listening to them was the most preferred way to use time. Narratives were employed to transmit actual occurrences, historical events, and familial relations-hips in addition to being entertaining. They served as a means of instructing kids, giving morals and traditions from one generation to others. According to Fox and Jennifer, tales of the early scientists, such as Archimedes and Flaming, should serve as an inspiration and motivator for young scientist. They also advise the use of tales for teaching mathematics. They contend that being as creative can the cornerstone of effective mathematics instruction. They offer two approaches for incorporating stories into math lessons. Using traditional tales with multiple characters is one method, crafting a story is another one.

Once upon a time, there was a kingdom called Mahilaropya. The king was Amarshakti. The king had three sons and they were not interested in studies anyway. The king was constantly concerned about their education as his heirs. One day he consulted his minister for opinion on this matter and Pandit Vishnu Sharma was recommended to him. Pandit Vishnu Sharma was Very renowned Brahmin. Amarshkati asked whether Vishnusharma accepts his sons as his own disciples for educating them. He accepted challenge and took oath of teaching the princes and making them well learned within six months. He, of course, meets his promise. This is the birth story of Panchatantra.

There is a version of *Panchatantra* in nearly every major language of India, and in addition there are 200 versions of the text in more than 50 languages around the world (Patrick Olivelle (2009)). To quote Edgerton (1924)

> ...before 1600 it existed in Greek, Latin, Spanish, Italian, German, English, Old Slavonic, Czech, and perhaps other Slavonic languages. Its range has extended from Java to Iceland... [In India,] it has been worked over and over again, expanded, abstracted, turned into verse, retold in prose, translated into medieval and modern vernaculars, and retranslated into Sanskrit. And most of the stories con-

> tained in it have "gone down" into the folk-lore of the story-loving Hindus, whence they reappear in the collections of oral tales gathered by modern students of folk-stories. (p. 3)

The most important thing in the Indian education system is narrative i.e. oral education. Oral education means transferring knowledge from one generation to other through narration. *Panchatantra* is also written in Sutra like other Indian Vedic Literature. For Example, in Mitrabedha, "A king wishing long life should never keep foolish servants." To make it more entertaining, he made a story upon this rule. This book is full of moral ethics and life management skills. The word Panchatantra means a group of five most useful strategies. These five strategies are called:

• Mitra-bheda: The Separation of Friends (The Lion and the Bull)

• Mitra-lābha or Mitra-samprāpti: The Gaining of Friends (The Dove, Crow, Mouse, Tortoise and Deer)

• Kākolūkīyam: Of Crows and Owls (War and Peace)

• Labdhapraṇāśam: Loss of Gains (The Monkey and the Crocodile)

• Aparīkṣitakārakaṃ: Ill-Considered Action / Rash deeds (The Brahman and the Mongoose)

It has 72 short stories divided into five chapters. Each chapter has a frame story and story is in the form of dialogue. This frame story structure keeps the reader or listener involve in it. Draper (2006) says that "stories use words to create imaginings in hearers. That could be a description of education". R. Sunitha says:

> Composed in Sanskrit about 1600 years ago, its lively stories, and its simple but vivid prose punctuated by pithy verses, assured it a continuing place of prominence in classical literature through the centuries. On account of its uncomplicated and easy-to-understand diction it has been particularly popular. The belief that it is suitable only for children is a misnomer. In fact it has an enduring appeal for all ages, and all times alike." (R Sunitha, 2009)

The Panchatantra Tales is a book that teaches niti, or the art of ruling the kingdom, as well as how to live a prosperous life in general. The terms "niti," "tantra," and "yukti" have a broad meaning in political science in India. The wise spectrum of life is roughly what the word niti denotes. "Niti is guiding, guidance, directing, direction, management, a manner of conducting oneself, propriety, right or moral or prudent behaviour, prudent counsel, policy, political wisdom or science, political economy, state policy, statesmanship, the administration, of Government, moral philosophy, ethics, precepts for prudent and moral behaviour, prudence or policy personified; leading or acquisition presenting, offering, relation support." (R Sunitha, 2009).

It seems that *Panchatantra* acts like school and it teaches us most important values not that is required for leading life with moral values but to be victorious in successful life. There are many examples. The story which is given below is the frame story for fourth strategy Labdhapraṇāśam: Loss of Gains

Vishnu Sharma begins his fourth Tantra with the following stanza:

He overcomes all problems
Who does not lose his cool
Even in the face of adversity
Like the monkey in the water.

A monkey named Rakthamukha lived close the coast on a blackberry tree. The tree was never without fruit. A crocodile named Karalmukha emerged from the sea and approached the tree while monkey was relaxing on the tree. Seeing the crocodile, Monkey says, "O croc, you are my guest. I will feed you with these delicious blackberries. Enjoy the fare. The learned have said,

That man is blessed
who hosts A lover or an enemy or a fool.
Angels will desert the home
That fails to host a guest

After that, the monkey showered the crock with berries. After finishing his fill, Karalaamukha returned home. After then, the croc developed a routine of visiting Raktamukha every day, feasting on the fruit he offered, conversing with him about the world, and then returning home. One day his wife asked, "Where do you get this fruit, they are so sweet. I have never tasted such mouth-watering fruit." And he talks about Monkey.

"If the fruit are so sweet, the heart of your friend who eats them every day must be as delicious as the fruit. Please get his heart for me, if you have love left for me. I will always be young and immortal if I eat that fruit," said the wife. Initially crocodile confronted but eventually he agreed and went to Monkey and invited monkey home to meet his wife. Monkey happily agreed and went with him. On reaching the middle of river, Crocodile told his plan to monkey. With great presence of mind, Monkey said, "My friend, if this is what you and your wife wanted, why didn't you tell me in the beginning itself? My heart is safely stored in the burrow of the tree. What is the use of your taking me home without my heart? Let us go back. There is nothing happier for me than giving my heart to your wife." Thus, Crocodile turned back and when they reached the monkey happily went back to the tree and said that you are so idiot. Is it possible to have two hearts in one person? The monkey at once leapt to the top of the blackberry tree and thought, "We should not trust an untrustworthy person, even if we did, it should not be total. Such trust will destroy us completely. This is a rebirth for me."

A person's own foolishness may prevent a well- meaning friend from being able to assist them. The two cranes in *Panchatantra*'s "The Cranes and the Tortoise" were companions with a tortoise. As a gesture of Kindness, they decided to move their friend the tortoise from one dead lake to another once the river dried up. The tortoise hung on the stick, gripping it with its mouth while they gripped a stick between their beaks. The tortoise opened its leaps in awe at the magnificence of its surroundings. The Tortoise falls to the down and gets crushed to jelly before it says anything. The moral of the story is that a fool cannot be helped by even friends.

The virtues of appreciation and civility have their own bounds. Even though they are an effective tool for improving relationships and overall wellbeing, discrimination and discretion are appropriate in all of our interactions because they can be self-defeating for some people.
The two stories, "Leap and Creep" and "The Ungrateful Man", have done a fantastic job of explaining this. This will demonstrate how crucial it is to incorporate critical thinking with other life skills.

Every narrative takes a unique turn and ends with a clever solution that requires reflection. The story "Thirsty Cow" is an excellent example of creative storytelling. Extreme alternatives are presented by the mice that consumed iron balance; they would solve the situation creatively while concentrating on an ethical solution. Together with their creative ideas and deeds, Weaver's wife and the monk who left the body behind teach us about universal principles and the need for truth and a common purpose to triumph against evil behavior.

The final comment in the "Loss of Friends" section emphasizes the importance of ethical conduct and challenges our decision-making process of depending solely on one person's view instead of several alternatives. It is the leader's responsibility to make his own ultimate decision. It also challenges our conclusions drawn from visual evidence and places a strong emphasis on introspection when making decisions. The section's theme is loss of friends; two jackals had a hidden agenda when they made the lion and bull friends and separated, which results in a

carefully planned tragedy.

Conclusion

A close reading of the *Panchatantra* tales reveals the value and legacy of storytelling. It illustrates how stories are a very effective and potent instrument for transmitting knowledge from one generation to the next, not only for amusement. The Panchatantra Tales establish political norms and the structure of statecraft. It imparts to us the fundamental values we must uphold in order to live not only a happy but also prosperous and moral life via the eyes of three dim-witted monarchs. The tales of Panchatantra offer profound insights on human emotions, morals, and societal ethics. They were made to become nearly flawless in the aforementioned areas via practice and heart, with the goal of altering people's behavior. They may not be a book on the ideal role model, but they do disclose the subtleties and delicate complexity of life conditions and adversities by leading a happy, sensible, and respectable existence. In this research, it is obviously showed that these stories are more than just kid-friendly fairy tales; they are based on a well-developed psychological theory that demonstrates an indigenous model of living skills and life skills that existed long before psychology gained popularity in the west.

References:

Draper, S. (2006) Narrative Pedagogy (website), retrieved on September 3, 2012 from http://www.psy.gla.ac.uk/~steve/nped.html

Edgerton, Franklin (1924), *The Panchatantra Reconstructed (Vol. 1: Text and Critical Apparatus, Vol.2: Introduction and Translation)*, New Haven, Connecticut: American Oriental Series Volumes 2–3

Jacobs, J. (1888). The Earliest English Version of the Fables of Bidpai

Negrete, A. (2003). Fact via Fiction. The Pantaneto Forum 12. Retrieved on April 30, 2008, from http://www.pantaneto.co.uk/issue 12/front12.html.

Ogborn, J., Kress, G., Martins, I. & McGillicuddy, (1996). Explaining Science in the classroom. Buckingham: Open University Press.

Olivelle, P. (1997). The Panchatantra: The Book of India's Folk Vision, Introduction xii, Oxford World's Classics, OUP.

Olivelle, P. (2006). The Five Discourses on Worldly Wisdom, Clay Sanskrit Library, ISBN 978-0-8147-6208

Ryder, A.W. (1949). The Panchatantra. Bombay: Jaico Publishing House

Sunitha, R. A Comparative and Contrastive Analysis of Vishnu Sharma's The Panchatantra Tales and Aesop's Fables. Tamil Nadu: 2009.

****

Stylistics and Narratology: A Blended Approach to Selected Lyrics by William Blake

-Pijush Bhadra
Assistant Professor, Department of English
Nabadwip Vidyasagar College, Nadia, West Bengal
Email: pijush@nvc.ac.in

Abstract
Lyrical qualities, and features, if not poetry, are to be found in narrative genres like epics, ballads, verse-plays, and even in novels; poetry, as a genre, is very difficult to confine within a taxonomically isolated space, as it has often been isolated from other narrative genres; Poetry, particularly lyric one, has long been held as non-narrative because of its apparent non-spatiality, non-dynamism, a-temporality, often non-sequentiality. Indeed , it is very complicated to unearth the histoire or syujhet as such in lyric poetry; lyric is a crystalized poetic form which condenses thoughts, emotions with external and internal stimuli; Ezra pound once classified poetry as melopeia, phanopoeia, logopoeia, emphasizing on the melody, image , and thoughts of poetry; now, these thoughts and emotions, even in cognitive real , refers to certain combinations of external experience, which in turn, are crafted with highly artistic strategy; Wordsworth has had discussed how raw materials of lyric transformed into poetic emotions in moments of tranquility ; the fictional abstractions in lyric is not completely devoid of external experience which is the essence of narrativity; now, the organization of these internal feelings, emotions , and thoughts could well be done through traditional poetic styles, devices. Stylistic analyses of certain selected lyrics of William Blake, one of the great esoteric symbolic poets in English, from the latest narratological insights will certainly reveal new dimensions of his poetic craft. He was considered a very abstract, difficult , almost lunatic artist, although not for artistic reasons.

Keywords: Lyric, Narratology, Stylistics, Blake, Ballad, Poetic Art

Introduction to Narrative and Poetic craft

For last few centuries poetic genres have been segregated from narrative genres. There has been a tendency to isolate poetry from what is essentially considered to contain narratives. Indeed, poetry, particularly lyrical genres, with its evolution for more than thousand years of literary cultures in Europe came to be identified as non-narrative genre. There are obvious reasons for this. First of all, it is an extremely difficult job to find a simple narrative, and a story or real or fictional 'events' in its true sense since unravelling the story or Histoire requires deeper interpretations of poetic images, devices that are often employed with high aesthetic crafts; even if any histoire or syujhet is found in a lyric, it remains to be explained as to what role this narrative histoire performs in its effects. Often it has been observed that narrative or storytelling is deliberately mired by rhetorical devices, linguistic deviations in lyrics, even in narrative poetry, for a heightened aesthetic, semantic, and cognitive effect. Eva-Muller-Zettleman thinks lyrics may display no surface dynamism, but rather may display 'implied dynamism' (Olson, 2011). In fact superior lyrics tend to suppress the histoire or story; unearthing the hidden narrative or histoire may require subjective interpretations which transform the narrative into a much more subtle, unstable fluidic relationship among different stable 'events' or experiences in the text; new critics often consider the display of ironic attitudes, witty equilibrium between opposite ideas, elements in a lyric to be the mark of superiority of a lyric. Devices like irony and imagery may simplify the narrative or do the reverse; the relationship is non-linear. Many great lyrics in English like 'Kubla Khan' by Coleridge, 'Ode on a Greciun Urn' by Keats, and 'Strange Meeting' by Owen have an abrupt ending in terms of story or histoire.

However, there is a direct relationship between linguistic innovations, alteration and cognitive effects or experience; the great poets strive to find ways to apply verbal or linguistic or rhetorical innovations to reshape the experience as 'defamiliarised' in Russian Formalist parlance. As Eva Muller-Zettelmann claims, 'What lies behind the struggle to find the right word, i.e. the innovative and liberating one, is an attempt to remodel experience on the cognitive level' (Olson, 2011).

Poetic art is not merely 'locutionary' but also 'illocutionary', even 'perlocutionary' , as Austin distinguishes among these terms; Austin defines any performance or action through speech, or utterance as 'illocutionary', distinguishing it from other acts; in this sense, many lyrics contain performance by the speaker at least in 'illocutionary' sense; the verbal acts are as forceful in the fictional realm of experience; if these actions, whether proposal, explanations, exclamations, justifications, promising, cursing, chastising, could be well traced in the narrative discourse

in lyric poetry, as Muller-Zettelmann has shown it in her analysis of 'An End' by C.G. Rossetti (Olson, 2011). Thereby to find and analysing a narrative in lyrics requires recourse to both language and narratives, thereby to both Stylistics and Narratology.

Peter Huhn and Jens Kiefer showed how canonical English lyrics from sixteenth to twentieth century could be explained with Narratological tools; their argument is based on the assumption that, like narratives, lyrics 'structure experience' and 'communicate meaning'; lyrical texts display same three fundamental Narratological features: Sequentiality, mediacy, and articulation; Huhn believes that 'Narrative theory is a sophisticated framework with which we may be able to refine, extend, and elucidate the methodology of the analysis of lyric poetry, …'(Hühn & Kiefer, 2005). Poetic interpretations are as important as the poetic art itself and to make this process of interpretation much more objective, universal one needs to apply scientific methods developed by Narratology and stylistics. Enigmatic poets like William Blake could be explored from this conviction.

William Blake was considered to be an enigmatic poet of the late 18th century for his innovative lyrics and esoteric ideas. His esoterism is chiefly due to his esoteric symbols, metaphors embedded in the mythical narratives, micro-narratives inherent in his lyrics. If his well-known lyrics are analysed from the theoretical perspectives of Stylistics and Narratology, his poetic craft could be unravelled to some extent.

Ballad and Blake: Narrative and Lyrics

A ballad can be defined as chiefly a traditional oral song which tells a story. Etymologically and originally it meant a song to dance , since 'balar' (derived from Latin 'ballare') meant 'to dance'; Old French 'balade' too meant a song to dance; John Stallworthy in *Norton Anthology* finds characteristics of a ballad meter i.e alternating 4 and 3 beat lines, mostoften rhyming in second and fourth lines (abcb) (McGill, 2016). McGill broadly defines ballads as ballads ' narrative poems distinguished by their concision, episodic structure, objective or neutral tone, and dense patterns of repetition and refrain' (McGill, 2016). We must keep in mind that there are variety of European ballads from Romanian trimeter ballads to octosyllabic Spanish 'romanceros'; broadly all these forms fell into oral, anonymous, collective tradition.

Traditionally Ballads were narratives of anonymous origins with rhythmic, rhyming dictions, refrain, emotional colloquialism, in simple stanzas. These aspects were gradually adapted in printed texts of the emerging printing market in Europe. Broadside Ballads, Street Ballads, and later lyrical ballads by Romantic poets vindicate this emerging trend of experimentations with ballad and lyrical forms, often incorporating visual imagery, auditory components of Ballads in lyrical emotional, universal subjective intensity. Pre Romantics of the mid and late 18th century in England particularly were pioneers in exploring and experimenting with traditional ballads and songs.

Blake, who is known for his experimentations in different artistic domains, frequently employs the traditional ballad form of quatrains, or four-line stanzas, in his poetry. Blake uses this rhyme scheme a lot; it's typical of traditional ballads. Like ballads, many of Blake's poems tell a tale or make a clear narrative point. His lyrics frequently include dramatic monologues and dialogue, which strengthens the narrative element. Blake frequently incorporates mythology, folklore, and biblical tales into his ballads, giving his lyrics a timeless and enduring quality. He delves into deep subjects that are essential to ballad traditions, like innocence, experience, and the human condition. Ballads frequently have refrains, or repeated lines, and Blake makes use of this device to highlight important concepts and themes. Blake's lyrics and narrative poetry evoke strong mental images in the reader due to their abundance of vivid imagery which is essential to ballads.

Undoubtedly, ballad, which is often confused with 'narrative folksong', originated in a historical process of mixture between lyrics and narratives; Pre-Romantics and Romantics of the 18th and 19th centuries initially capitalized on this hybrid genre; Wordsworth's ***Lyrical Ballads*** also utilized the narrative and lyrical qualities to change the trend of Neo Classical subjects and styles; both Wordsworth and Coleridge experimented radically in lyrical narratives like 'The Rime of the Ancient Mariner', 'Tintern Abbey', etc. Blake in his ***Songs of Innocence*** and ***Songs of Experience*** had infused the stylistic features of ballads; both the 'Introductions' of Innocence and Experience not only derived from the ballad narratives but also from ballad styles; the simple rhyme scheme, alliterations, assonance, anaphora created the aura of oral, traditional ballads with a strong prophetic voice which was found in Gray. The simplicity of diction, syntax, and a strong emphasis on performative verbs or actions like singing, laughing, piping, weeping, sitting, reading, vanishing, plucking, writing, etc. sustained the attention to the core narrative of the text of 'The Introduction' to ***The Songs of Innocence***; The first person auto diegetic narrator takes part in the narrative, beginning in media res like

that of epic tradition.

Blake's lyrics: Narratology and Stylistics

Jonathon Culler subscribes to Eva Muller-Zettelmann's ***Lyrik und Metalyrik*** where lyric has been ascribed with six parametres-a) 'brevity', b) 'a reduction of the fictional element', c) 'more intense formal structuring', d) 'greater aesthetic self-reference', e) 'greater linguistic deviance', and f) 'greater epistemological subjectivity' (Culler, 2015); it may seem that these parameters overlook narrative elements in lyric , but few case studies on mid and late eighteenth century poets will illustrate how narrative elements are ingrained in lyrical parametres.

Blake uses multiple perspectives in his lyrics which encompass his esoteric vision and myth of humanity, nature, and civilization. *The Songs of Innocence* is introduced by the piper and the *Songs of Experience* by the Bard. His lyrics and narrative poems display a subtle interaction between the essence of lyrics and the narrative perspectives of oral traditions.

To prove this one needs to dive deep into his poetic craft. The poetic persona in *Introduction to Songs of Innocence* seems to identify himself with the piper; yet the piper is just a Homodiegetic narrator who is part of the narrative he is going to share; although the piper is often confused with the implied author or the poetic persona, in narratological parlance they are distinguished from each other.

Piping down the valleys wild
Piping songs of pleasant glee
On a cloud I saw a child.
And he laughing said to me.
Pipe a song about a Lamb;
So I piped with merry cheer,
Piper piped that song again----
So I piped, he wept to hear.
(Blake, 1988)

The apparently simple narrative of the poem advances with interactive dialogues and actions, making it a combination of Diegesis and Mimesis; the piper only listens and performs what the visionary child demands and of course narrates the conversations as well as his own responsive actions; the piper sings and narrates; the child enjoys and demands the songs to be repeated and later, written down. Ultimately the piper transforms from an oral performer to a literary composer of songs.

In this transformation the divine child's role is also important; it is due to his demand that the piper transforms himself; if the piper is a symbolic representation of this transformation from orality to literary, the child could be seen as a symbolic transformation from spontaneous auditory experience to artificial visual experience; simple joyous listening transforms to sophisticated visual poetic imagery; Blake here crystallizes the transformation of the human cultural experience. The subjective, direct interaction between oral performers and the audience transformed into objective, indirect literary discourse.

Again in 'Holy Thursday' of *Songs of Innocence*, Blake creates a visual and auditory narrative; the orphaned innocence moves in disciplined symmetry in 'two and two'; all lead, like Thames, to St. Paul as a religious custom of thanksgiving to their benefactors; the spontaneity of innocence is restrained, choked by the disciplined customs imposed by the wands, a symbolic wall of custom. The river's flow seemed to end in St. Paul.

O what a multitude they seemd these flowers of London town
Seated in companies they sit with radiance all their own
The hum of multitudes was there but multitudes of lambs
Thousands of little boys & girls raising their innocent hands.
(Blake, 1988)

The second stanza narrates static visual imagery of flowers a multitude of boys and girls sitting and raising their hands; from stylistic point of view, the sonorous dignity created by /s/, /m/ , and a balance between monosyllabic, polysyllabic words in the rhyming couplets complement a visual effect of an impressive radiant garden with bees; the auditory and visual visual imagery are blended which is in accordance with oral narratives. Blake typically employs repetitions, alliterations, assonance in balanced measure synchronous to the visual absorptions of the narrator and the narrate according to the traditional oral stylistics. This is particularly evident in texts like 'Holy Thursday'. Narratee is unfixed till the end of the text where the heterodiegetic narrator asks to 'cherish pity, lest you drive an angel from your door'; the perspective of the focalized character i.e. the narrator or the poetic personae or 'the piper' Blake himself is mixed with Internal and External Focaliztions; both actions, movements, and thoughts, emotions are evoked; yet the External one dominated till the end; the Focalization merely hints at the authority of the church, of aged men, beadles wand only to create and sustain an ironic opposition between the free, liberal, spontaneous innocence, and religious, old orthodox; the Focalization deliberately selects the imagery and details of the narrative in order to treat the narratee ironically; this internal balance or 'internal equilibrium' of irony is, according to the New Critics like Cleanth Brooks, J.C. Ransom, R.P. Warren , Allen Tate is a mark of great poetic art; poet's own ironic 'awareness of opposite and complementary attitudes'

make poetry superior as they are immune to the 'reader's ironic skepticism'(Abrams & Harpham, 2015); they emphasised on the conflict between surface and deeper interpretations of poetic truth, ambivalence.

The surface narrative hides a deeper tension of manipulation, boasting in forcing the innocent children to be paraded by the apparent show of pity, blessings, and benefits by the aged men, or larger society. The third-person narrator, behaving like an omniscient narrator, never allows himself to be merged with the Focalizers; the children's perspective is ignored; the focalizer deliberately ignores what the marching children think, feel, or even say; the focalization is external; their innocence, radiance like flowers, walking in disciplined way are narrated; there are hardly any emotions or thoughts being hinted at by the focalizer; only at the end of the text did mention of pity;

The final quatrain is very complicated and ambiguous in terms of imagery and narratee;

'Then cherish pity, lest you drive an angel from your door' (Blake, 1988).

The narratee is not merely the reader; the aged, wise benefactors of the poor are the audience of the choric voice, praising their charity, might be the narratee; the children collectively might be the narratee; the narratee might be the self-reflexive narrator who is trying to refer to the External Focalization and break the illusive reality of the narration, instead, trying to internally Focalize the characters - both the blessed children and benefactors; it is much more interactive like the oral poetry of the bards; the final line unites the thundering voice of the children with inner pity found universally in each heart from young to old, from poor to rich, from earth to heaven; the final line visually, orally unite into a single symmetry of heart and vision.

This ambiguous status of the narrator and narrattee is also to be found in the 'Introduction' to The ***Songs of Experience*** contains multiple or at least dual Focalizations; the apostrophe is meant to be an invitation to the Earth; it is apparently sung out by the bard who sees, like a prophet, past, present, and future. The punctuation or syntax creates, perhaps deliberately, confusion:

'Whose ears have heard
The Holy Word
That walked among the ancient trees.

Calling the lapsed Soul
And weeping in the evening dew;' (Blake, 1988)

The subject of the verbs- walking, calling, weeping - may be both the Bard and the Holy Word; the strong prophetic Bardic voice, alluding to Gray's 'The Bard', could be seen as the doer of all the actions- seeing, hearing, walking, calling, weeping, controlling, and renewing fallen light; all these actions could be shared among the bard and the Holy Word; due to the non-finite nature of the verbs, it could connect both with the past of prophetic tradition and the present of the audience, the readers. the Holy Word could also be just an object of the bard's activity of hearing; it could be single or dual Focalization; the Biblical Holy Word is subsumed under the folk Bardic oral voice who transmits past wisdom to future, claiming to have magical visions; claiming to be eternal, universal, expansive, comprehensive.

'The Chimney Sweeper' of the *Songs of Experience* also explores the ambiguity due to Focalization and perspectives. The poetic persona instantly focuses upon a 'A little black thing among the snow' and involves sympathy with the 'black thing' in the next line with exclamatory utterance and eager inquiries as to the human identity of the already dehumanized 'black thing'. The child is focalized through the perspectives of the parents or the master sweeper who brought him and exploited him to work as a sweeper in the bitter snow; he is happy and smiling for the parents; the final stanza creates a multi-layered mature commentary on the conflicting perspectives of his own, of the adults, of the church and of the king;

'And because I am happy, and dance and sing,
They think they have done me no injury.' (Blake, 1988)

The narrative now solely relies on the child's perspective; unlike in the Innocence version, the child is mature enough to comment on the disparity of perspectives of the adult parents, the church, and the King:

'Who make up a heaven of our misery.' (Blake, 1988)

What started as a mimetic narration by the poetic persona, ends in diegetic narration by the child; in fact, if closely read, the Homodiegetic narrator in the first stanza leads us to the Metadieetic narrative or Hypodiegetic narrative from the second stanza; by the third stanza, the reader forgets its Metadiegetic status, creating a Pseudo-dieetic narrative as the authorial discourse is imposed on the child's perspective; the adult parents' perspective is imposed on the child's perspective; the King's and the church's perspectives are imposed on the parents; that is why they went to praise the God and his priest; the Focalization was initially limited to external narratives; later , in the third stanza, it achieves Paralepsis i.e. it expands into the consciousness of the child-narrator.

The Innocent version of 'The Chimney Sweeper', the Focalization was initially limited to the external narratives of the child-narrator; the narratee is altered,

from the owner of the chimneys to Tom, another young sweeper; the third and fourth stanzas display a Paralepsis when Tom's dream is being narrated both Mimetically and Diegetically, both showing and narrating through Tom's consciousness; yet , within this dream, Paralepsis, the external details of the activities of the children, the angels are narrated; the expectation ends in lesser information of the emotional or thoughtful aspects of both the Focalizers-Tom's, the child narrator's, leading to Paralepsis, in Genettean terminology;

'London' by Blake is another classic example where he blends narrative elements with lyrical effusions. Like other lyrics by Blake , it starts with a narrative orientation-

> 'I wander thro' each charter'd street,
> Near where the charter'd Thames does flow.' (Blake, 1988)

It focusses on immediate time and space of the narrative; And it immediately shifts the narratives onto emotional response of the narrator, inviting the narrattee to be involved in it:

> 'And mark in every face I meet
> Marks of weakness, marks of woe.' (Blake, 1988)

The next stanza dominated by anaphoric styles tries to reproduce a visual and auditory imagery of crying men, children suffering from the bondage of manacles; this imagery ultimately is subsumed by the organic imagery of fear, pity , and woe.

> In every cry of every Man,
> In every Infants cry of fear,
> In every voice: in every ban,
> The mind-forg'd manacles I hear. (Blake, 1988)

Blake prefers the quatrain structure with musical rhythms, rhymes of 'abab' to sustain the attention of the audience which is usual in traditional oral ballads. Yet the readers, narrattees find lyrical outbursts instead of simple narrative histoire; rather the readers find hints of micronarratives; the phrases 'charter'd street', 'charter'd Thames', 'mind-forg'd manacles', 'blackning Church', 'youthful Harlots curse', 'newborn Infants tear', and 'Marriage hearse'; each micronarrative, built with precise selection of adjectival premodifiers; the contexts of 'every Man's suffering, 'Infants cry of fear', 'youthful Harlots curse', 'newborn Infants tear', and 'Marriage hearse' allude to diverse narratives of the complex civilization; yet like a visionary prophet , the narrator never loses the focus on the central cause of these complex miserires; as evey character of every micronarrative is bound in the 'mind-forg'd manacles'; the external events, experience is internalized by both the narrator and the listener. the repeated use of the verbs like 'hear' persuades the narrattee to realy see and hear the narrtives and then unify a single and simple narrative of corruption, deprivatrion due to the loss of innocence. The overwhelming emotional response due to each micronarrative bludgeons them into one vision, one narrative. The reader wonders how the previously mentioned characters could have been metaphorically 'manacled' individually and collectively; the individual 'slavery' to corruiption, greed, vice lead to a collective social 'salvery' to vices, as the reader and the listener are now persuaded to apply the metaphor freely to the previous narratives. Professor Peter Verdonk, a prominent stylistician , points out the lexical conflicts and ambiguity in the phrases 'charter'd street', 'charter'd Thames', which is crucial in creating internal and external praxis or contexts ;

'It is typical of poetry that these surprising combinations do not produce one new unit of meaning. On the contrary, they keep disturbing our clichéridden perceptions because we are required to reformulate our intuitions of the language code and, as a result, our intuitions of the world' (Verdonk, 2013).

Peter Verdonk subscribes to the views expressed by Leech and Short that 'literary stylistics investigates the relation between linguistic usage and artistic

function' (Verdonk, 2013). His stylistic analyses of selected lyrics like 'Hawk Roosting' by Ted Hughes, 'Punishment' by Seamus Heaney resort to both linguistic and narratological concerns.

Conclusion

Blake obviously creates an expectation of a typical ballad narrative histoire with its refrain, rhyming quatrain , yet the listeners, readers have to collect a coherent narrative out of the ambiguous micronarratives of the growing urban cultures. From the above analysis and interpretation it is evident that thematically and stylistically , Blake's lyrics are indebted to and imbued with oral, traditional features of ballads; yet this traditional elements are artistically transformed into an working of ambiguous narratives even in apparently simple lyrics which are enriched and made esoteric with subtle symbols, imagery. As we have already seen during the analyses of some selected lyrics in this article, Blake's continuous experimentation with rhytm, metre, images had built a rich literary lyrical narratives of esoteric myth and vision of the mystic notions of a highly talented artist.

Blake is one of the numerous artistic genius whose crafts could well be analysed with the help of both stylistics and narratology; since 'Stylistic terms and models in turn, however, have a lot to offer the students of media and also film, because of their helpful fusion of rhetoric, semiotics and critical discourse analysis' (Wales, 2011).It is rewarding to analyse lyrics from critical parlance of both stylistics and narratology. Lyrical narratives has been a reality in literature and it is rewarding from scholarly , academic perspectives to apply theories and beliefs of the fields as styles define and redefine narratives in different genres beyond lyrics.

References

Abrams, M. H., & Harpham, G. G. (2015). *A Glossary of Literary Terms*. Cengage Learning.

Blake, W. (with Bloom, H.). (1988). *The Complete Poetry and Prose of William Blake* (D. V. Erdman, Ed.; Newly rev. ed). Anchor Books.

Culler, J. (2015). *Theory of the Lyric*. Harvard University Press.

Hühn, P., & Kiefer, J. (2005). *The Narratological Analysis of Lyric Poetry: Studies in English Poetry from the 16th to the 20th Century*. DE GRUYTER. https://doi.org/10.1515/9783110897623

McGill, M. L. (2016). What Is a Ballad? Reading for Genre, Format, and Medium. *Nineteenth-Century Literature*, *71*(2), 156–175. https://doi.org/10.1525/ncl.2016.71.2.156

Olson, G. (Ed.). (2011). *Current Trends in Narratology*. De Gruyter.

Verdonk, P. (2013). *The Stylistics of Poetry: Context, Cognition, Discourse, History*. Bloomsbury.

Wales, K. (2011). *A Dictionary of Stylistics* (3rd ed). Longman.

****

Chasing the Unattainable:
Lacanian Desire & Real in Narayan's *The English Teacher* and *The Painter of Signs*

-Dr Khursheed Ahmad Qazi
Selection Grade Assistant Professor & Coordinator
PG Department of English, North Campus University of Kashmir
Email: qkhursheed@kashmiruniversity.ac.in

Abstract
This paper explores the intricate dynamics of desire and the Real in R.K. Narayan's *The English Teacher* and *The Painter of Signs*, focusing on the elusive nature of human longing through a psychoanalytic framework. Drawing on Lacanian concepts of desire, the *objet petit a*, and the Real, the paper examines how the protagonists, Krishna and Raman, engage in a perpetual pursuit of the unattainable – whether spiritual or romantic. In *The English Teacher*, Krishna's journey through grief and his attempts to communicate with his deceased wife illustrate the struggle to reconcile personal loss with an existential longing for something beyond the limits of language or above linguistic domain and reality. In *The Painter of Signs*, Raman's pursuit of Daisy reflects the tension between personal desire and the social order, where romantic fulfillment remains elusive due to Daisy's devotion to her ideological mission. Both novels present desire as a driving yet unattainable force, positioning the characters in a space where the Real interrupts the Symbolic order, making the object of their pursuit perpetually out of their reach. By exploring Narayan's portrayal of these characters' desires, the paper highlights the broader human condition of longing for what is ultimately unattainable, reinforcing the psychoanalytic notion that desire is an ongoing and unresolved aspect of the human experience.

Keywords:
Desire, *objet petit a*, symbolic order, longing, grief and loss

Introduction
Lacan's desire theory enables babies to emerge as independent subjects. It is named in the presence of the other, creating a new presence in the world. All desire springs from lack which all humans strive continually to fill. The whole human world revolves round this lack: absence of the real objects designated by signs point to the fact that words have meaning only by virtue of the absence and exclusion of others. To enter language, then, is to become a prey to desire; language, Lacan believes is what hollows being into desire. This desire domain earns the name of Lacanian Other for humans. Lacan believes that desire belongs to humans directly or through others, resulting in a sense of self derived from identifying with others' images. The loss of object of desire is referred to as *objet petit a.* Lacan believes that humans search for the actual others throughout their lives and while searching, they become victims of their own desires if they fail to earn or win them fully which is referred to as the loss of the Lacanian *objet petit a.* Jacques Lacan states: "*Objet petit a* is any object which sets desire in motion, especially the partial objects which define the drives. The drives do not seek to attain *the objet petit a*, but rather circle round it." (S11, 179). Evans believes that Objet petit a is the object of anxiety and the cause of the analyst's desire, defined as the remnant left by the introduction of symbolic elements in the real. This surplus produces meaning and enjoyment. (Evans 1996:128 - 129)

In light of the above quote, we can say that *objet petit a* remains linked to an imaginary representation of *Jouissance* as fullness. According to Lacan one signifier implies another and that another, and so. Undoubtedly, Lacan's ideas opened up a new way of "understanding the play of unconscious desire in the text" (Homer 2007: 2). Tyson says: "In entering the Symbolic Order – the world of language – we're entering a world of loss and lack. … and fears that limit the ways … and the extent to which we can attend to our own needs, desires, and fears". (Tyson 2006-27)

Tyson adds further:

> Our desires, beliefs, biases, and so forth are constructed for us as a result of our immersion in the Symbolic Order, ….. This is what Lacan means by his claim that "desire is always the desire of the other" (See, Seminar Bk. XI: 235).

Desire, as defined by Lacan, is the constant movement of signifiers and is the main power behind all human acts. It is a function central to human experience and behavior, making life meaningful. Lacan believes that desire is nothing nameable and is the desire of the *Other*. Desire is also the possibility of satisfaction in language, as it imagines ideal objects and has to face the loss of the self-other distinction. Desire is the vital force of creativity, as it imagines its objects and has to face the reality of the other. Desire is a word in a world and is all that is the case. Thus, to desire is to think, to speak, to write, to read: in sum, it is to live in a world that knows no other world. Lacan who says that desire is:

> A function central to all human experience and behaviour, makes life meaningful. He strongly believes that desire is everything. In fact, he states that desire is always the desire of the other, nothing nameable. (See, Lacan, seminar 2:37 and seminar Bk. XI: 235)

Similarly, Lacan believes that desire refers especially to feelings, attitudes, emotions, performance, orgasmic intensity, etc. It deals with speech, the analysand's discourse, and the demands and is also symbolic expression which the analysand talks is in fact desire manifested by and hidden in language. Tyson remarks rightly: 'In entering the Symbolic Order – the world of language – we're entering a world of loss and lack'. (Tyson 2006:30). According to Tyson:

> One way to think of the Real is as that which is beyond all meaning — making systems that which lie outside the world created by the ideologies society uses to explain existence (Tyson 2006:32).

Lacan's Real concept is a state where an individual is free from desires and demands, a pre-linguistic state beyond language. This state resists symbolization, giving it a traumatic quality. It lies outside the world created by ideologies and is the uninterpretable dimension of existence. It is the experience of feeling there is no purpose or meaning in life, and that ideology is a curtain that makes everything bleak. According to him, it gives us only the realization that the reality, hidden beneath the ideologies society has created, is beyond our capacity to control:

> The trauma of the Real gives us only the realization that the reality hidden beneath the ideologies society has created is a reality beyond our capacity to know and explain and therefore certainly beyond our capacity to control (Tyson 2006:32).

For Lacan, the real is impossible: that which occurs beyond the entire framework of signification. The real is a sign of its own absence, pointing to itself as

merely signifier. Not only opposed to the Imaginary, the Real is also located outside the Symbolic. Unlike the latter which is constituted in terms of oppositions, i.e. presence/absence, "there is no absence in the Real." Whereas the Symbolic opposition presence/absence implies the possibility that something may be missing from the Symbolic, "the Real is always in its place".

Lacanian Desire in Narayan's *The English Teacher* and *The Painter of Signs*

Narayan's *The English Teacher* and *The Painter of Signs* explore the psychological motivations of characters, particularly in terms of desire, the Symbolic order, the Real, and the nature of subjectivity. Lacan's theories help unravel how these characters navigate personal loss, unfulfilled desires, and the tension between their inner worlds and societal expectations. Desire originates from a fundamental lack in human beings tied to the inaccessibility of the Real, an order of existence that cannot be fully understood or articulated through language.

In *The English Teacher* and *The Painter of Signs*, Krishna struggles with his spiritual journey and his desire to reconnect with his deceased wife, Susila. Raman, a sign painter, struggles with his romantic relationship with Daisy, an unattainable ideal. Both novels highlight the tension between the Symbolic order and characters' deeper desires, reflecting the human condition of desiring what is forever out of reach. In his famous novel, *The English Teacher*, Narayan states:

> The law of life cannot be avoided. The law comes into operation the moment we detach ourselves from our mother's womb. All struggle and misery in life is due to our attempt to arrest this law or get away from it or in allowing ourselves to be hurt by it. The fact must be recognized. A profound unmitigated loneliness is the only truth of life. All else is false... No sense in battling against it (Narayan 2007:177).

This is an exact reproduction of the Lacanian description of symbolic according to which ideology and social norms always control the behaviour and actions of a human being and despite one's resistance to these social norms they overpower an individual and force him/her to yield for a normal and peaceful life. The struggle and misery stem from a false identification with the ego, which seeks to control experiences and resist them. Lacan and Narayan argue for Nietzsche's innocence of becoming, separating the ego from alienation and urging surrender to life's Law. Accordingly, 'a profound unmitigated loneliness is the only truth of life or else is f false...the law of life. No sense in battling against it (Narayan 2007:177). Similarly, according to Srinivasa Iyengar the characters in R. K. Narayan seem to achieve a sort of transmigration from body to body, name to name and ultimately to bur the sharpness of the distinctions under the haze of a general acceptance. Here, one is reminded of Lacan's greatest Seminars, *The Elhics of Psychoanalysis*, wherein he mentions that Desire is to be conceived as a function of the signifier, whose movement, leading from point to point infinitely, constitutes both what we are and what we are not, our being and non-being. Even Professor Ruth Parkin -Gounelas makes it clear that for Lacan Pleasure or enjoyment (*Jouissance*) was a libidinal imperative whose frustration, however, lies at the heart of human suffering. The subject does not simply satisfy a desire, he enjoys desiring. In lacking the satisfying object, desire endlessly pursues a phantom satisfaction, deriving Jouissance only from the pursuit. (Parkin-

Gounelas 2001:83)

Even in *The Painter of Signs*, the reader notices the fact that the protagonist remains caught among hotel managers, businessmen, bangle sellers, lawyers, doctors, and others, whose minds are always preoccupied with cash. But he also seems to suffer from distracting thoughts and the narrator tells us:

> He wanted to get away from sex thoughts, minimize their importance, just as he wished to reduce the importance of money. Money and sex, he reflected, obsessive thoughts, too much everywhere - literature, magazines, drama, or cinema deal with nothing but sex all the time, but the female figure, water-soaked, is enchanting (Narayan 1993:14).

In *The Painter of Signs*, we on the one hand find Daisy succumbing to her instinctual urges but on the other she realizes the value of members of her own sex who have settled down for life after understanding and realizing the value of the social norms. The novel explores the erotic relationship between Daisy and Raman, focusing on their desire for privacy, independence, and individuality. They almost come together when stranded in a village, but their erotic change threatens their autonomy. After their field trip, they realize their love is based on feeling, symbolizing the promise that human society lacks room for both heart and intellect. Their intimacy is a result of Lacanian Jouissance, and they resort to vulgar action to cope with the subtleties of society.

Daisy found her urges satisfied in Raman who accepts her decision to stick to her own name, though he is an affable lover, who 'preaches rationality' and whose outlook is to place sex in its place. Raman once says: "People are moved by strange inexplicable drives" (Narayan 1993:64). This statement serves as a key for exploring subtly the psychic depths of Raman. Neeraj Kumar is right in saying that while for Daisy "work is worship", for Raman, Daisy, is his entire world. He says:

"Till yesterday I was a free man with my mind unfettered. Today I am unable to think of any other subject...a lifetime seemed to be crumbling down" (Narayan 1993: 44-45).

The whole novel focuses on Daisy's baffling individualism, adolescent visions of romantic love and fanatical idealism. We, in this novel also, find that the experience chastens the heroine, Daisy for the acceptance of calm resignation i.e., Symbolic Order. Narayan strongly believes that there is no such thing as a life-force relationship, that all love, all attachment is illusory. In *The English Teacher*, for example, we find that the ultimate end of Narayan is his quest for a positive philosophy of life and attainment of spiritual maturity.

In *The Painter of Signs* we come across the evident instances of Lacanian real. Raman likes to sit with her beloved. 'Her thought would interruption... liked to look at her mean a s sudden racing of his pulse' (Narayan 1993: 41) and he would smell her body and her 'perfume, reminiscent of some strange herbs (Narayan 1993: 42). Raman shares his experience saying: "She had touched him... l yesterday I was a free man with my mind unfettered. Today I am unable to think about any other subject. She has even deprived me of… mental calm..." (Narayan 1993: 44). These and other illustrations in the narrative of the novel prove that Raman is enamoured of Daisy and cannot stay without her. He seems rather mad, confused and frustrated and says:

> He would be saved if she did not flash her eyes on him...The eye was really the source of mischief. One's thoughts fol-

> lowed what the eye saw. Thoughts developed from sight. He would wear coloured glasses so that she might not note where he was looking (Narayan 1993: 41).

He was so mad in her love that 'at the thought of her, he was conscious of a sudden racing of his pulse' (Narayan 1993: 41). He buys a pair of sunglasses and the lenses are uneven and full of everything looks grotesque. Seen 'through the dark, smoked glass' (Narayan 1993: 42) even Daisy looks ridiculous. He finds her no less than a demoness, heavy jeweled and grinning with the uneven, jutting out teeth. The result is that Raman is disillusioned and comes to the conclusion – "To keep one's mind pure" (Narayan 1993: 43).

The novel also reveals how Daisy becomes his object of love and like Rosie, tells him once "come, dear to my side..." (Narayan 1993: 45); "I have no freedom... This is true love - sickness..." (Narayan 1993: 46) which prompts him to say: "She is planning to eat me up" (Narayan 1993: 47) and "Her eyes seemed to acquire extra brilliance in that sunlight" (Narayan 1993: 49). It is also important here to mention that Daisy acts like Rosie at Raman's home. When Raman says: "I am sorry, I don't have chairs; we manage with mats." She replies: "Oh, what does it matter..." (Narayan 1993: 55). Raman understands that "Love is blind. It probably also deadens the wits and makes one dumb. One likes to please the other at any cost. ..." (Narayan 1993: 63). Once it so happens that they together were at a shrine and Raman prays: "May Daisy be mine without further delay. I cannot live without her" (PS, 77). Raman whispers: "Don't fear, it's only me, my sweetheart. Don't torment me..." (PS, 93). Soon we find him saying: "I love you, I like you" (Narayan 1993: 125).

Raman turns Daisy-centric as he himself says: "...wasting himself in Daisyism" (Narayan 1993:137). He talks like a blind lover for whom it is difficult to find any hurdle between himself and his beloved that may separate them from each other. He states:

> Nothing more than the name of a flower, that's all... only know that her name is Daisy. I have not thought of asking whether she is Christian or what. Never occurred to me to ask, that's all. I'll ask you not to bother about it. She is a human being just like you or me, that's all. I like her very much (Narayan 1993:147).

These illustrations very vividly prove that Raman wavers and to him reality itself, including his relation with Daisy, does not seem to appear organized by the 'fantasy' screen as Lacan would call it but emerges in a way that seems unique to him and, therefore, inexplicable in ordinary linguistic or social terms. This characteristic feature of an individual's 'unique' experience i labeled by Lacan as the Real as Narayan in his mystic tradition calls it sanyasi, experiences of love and passion. Even Raman's aunt refers to such a vivid experience in the narrative of the novel which shows clearly that the Lacanian notion of real is here evidently in operation. She says:

> A darshnam of the God in Badrinath, and if possible to Amarnath, where the lingam is shaped in ice. I wouldn't care what happened to me or to the world after I have seen the holy places and dipped into the Ganges from its birthplace all along its course, until I end my pilgrimage in Benares. After this I shall want nothing more in life (Narayan 1993:151).

Her visit to the mentioned will end her all desires and

she will experience a state that is beyond the description of linguistic domain.

Even Raman during his carrier several times offers to write a signboard for The Boardless Hotel, but the proprietor resists the offer. The Boardless, according to the narrator, is the solid and real world, which suggests that reality is without a label. This is what Lacan believes while arguing that the real can't be confined to linguistic signs or notions as it is always beyond all comprehension.

Narayan's another novel, *The English Teacher*, is highly loaded with Lacanian brand of Real, and in the words of K R Srinivasa Iyengar it is:

> A chastened Romeo married to a sensible Juliet, this is a 'lower … middle class' Ferdinand enacting married love a rather unesoteric Miranda. (Iyengar 2003:367)

Like Raman, Krishna also turns terribly lovesick severely mad and finally loses his own self entirely after his object of love, Susila, dies. We come across the psychic communication of Krishnan with the soul of Susila his dead wife. Narayan, like Lacan. believes that nothing is impossible for pure blind lovers and presents Krishna fetching her wife back from heaven on the earth on account of his platonic love. Krishna states:

> Her complexion had golden glow; her eyes sparked with a new light, her saree shimmered with blue interwoven with Light as she had termed it.. How beautiful! (Narayan 2007: 184)

It is important to note here that following the Lacanian concept of love, Narayan presents Krishnan-Susila affair in a conscious way. Krishnan very strongly smells Susila's presence even in non-living objects that concern her in one or the other way: "I smelt...a mild jasmine smell surrounded her and all possessions ever since I had known her (Narayan 2007: 20). Further, we find a romantic love scene on the railway platform where the reunion brings a glow on his face:

> I gazed on my wife, fresh and beautiful, her hair shining, her dress without a wrinkle on it, and her face fresh... I looked at her and whispered:
>
> Once again in this saree, still so fond of it (Narayan 2007: 33).

He says on his return from college, he would find: ...hair dressed and beflowered, faces elegantly powered (Narayan 2007: 36). My mind unconsciously quoted: "I was highly elated. The fresh sun, morning light, the breeze, and my wife's presence, who looked so lovely - even an unearthly loveliness- her tall form, dusky complexion, and the small diamond earrings - Jasmine, jasmine ... I will call you Jasmine, hereafter" (Narayan 2007:53).

Remarkable is Krishna's imagined world tour in which he tells his beloved "You must see everything..." (Narayan 2007:56). Very conscious and strange is also Krishna talks about Susila's appearance in front of the image of God Srinivas: "...My wife...shone with an unearthly brilliance. Her cheeks glowed...I felt transported at the sight of it..." (Narayan 2007: 64). After Susila death, for Krishna, 'Malgudi becomes a tragic place' (Roa 1972:77) for Krishna. He turns blind and his life becomes meaningless. Talking about himself after her wife's death, he says: "My feelings were all in a mess. I don't know whether I was happy or unhappy..." (Narayan 2007:109).

Hence, the strange love affair between the two reminds one of the journeys from the mundane empirical passion to a serious realization of the eternal, spiritual and transcendental or what can be termed as de-

velopmental from the Lacanian symbolic to real. It is truly a world which is free, absolute and perfect. Hence, it is beyond linguistic conception.

The ultimate aim of Narayan in *The English Teacher,* therefore, is his quest for a positive philosophy of life and attainment of spiritual maturity. Krishna personally experiences the presence of strange spiritual forces:

> Their delicate aroma filled every particle of the air, and as I let my mind float in the ecstasy, gradually perceptions and senses deepened. Oblivion crept over me like a cloud. The past, present and future welded into one. (Narayan 2007:189)

In Narayan's *The English Teacher* and *The Painter of Signs*, Lacan's theories reveal the characters' psychological motivations, particularly in terms of desire, the Symbolic order, the Real, and subjectivity. Desire stems from a fundamental lack in human beings, tied to the inaccessibility of the Real. The Imaginary and Symbolic order shape desire, as people seek fulfillment through socially constructed identity and relationships.

The English Teacher follows Krishna, an English teacher, as he grapples with the loss of his wife Susila, a profound loss that leads him to seek spiritual healing and reconnect with her through supernatural means. His desire to re-enter the Imaginary order is evident in his attempts to overcome the Lacanian lack.

The Symbolic Order and Spiritual Fulfillment

Lacan's concept of the Symbolic order is central to Krishna's desire, shaped by his role as a teacher and language. However, this system fails to provide the spiritual satisfaction he seeks after Susila's death. Krishna's spiritual journey, a rejection of Symbolic constraints, reflects his pursuit of the unattainable objet petit a, the lost Real and the source of his endless desire.

Desire and the Symbolic Order

The Painter of Signs is a novel that explores themes of love, independence, and the conflict between tradition and modernity. Raman, a sign painter, is disrupted by his relationship with Daisy, a woman dedicated to family planning, highlighting the unattainable ideal he desires but cannot fully possess.

Desire, Love, and Independence

In his relationship with Daisy, Raman's desire is shaped by the tension between his attraction to her independence and the traditional desire for a conventional romantic relationship. Daisy's rejection of societal norms and her prioritization of her career frustrates Raman's desires. Her refusal to conform to his expectations symbolizes the lack in his life, as he is unable to fully capture or possess the object of his desire.

The Unattainable Object of Desire

Daisy, like Susila in *The English Teacher*, represents Raman's unattainable ideal, a desire that never satisfies. This aligns with Lacan's concept of the object cause of desire (*Objet petit a*). Raman's frustration stems from his inability to reconcile his idealized vision with Daisy's independence. Both characters face the Lacanian lack, the void that no object or relationship can fully satisfy.

The Role of the Symbolic and the Real

Both novels explore the tension between the Symbolic order and characters' desires, with Krishna moving into a spiritual realm and Raman balancing modernity and independence. The failure of the Symbolic order reflects Lacan's belief that desire escapes language and society structures. The pursuit of the unattainable objet petit a is central.

Conclusion

By applying Lacan's theory of desire to R.K. Narayan's *The English Teacher* and *The Painter of Signs*, we can see how both novels explore the deep psychological underpinnings of human desire, shaped by loss, lack, and the quest for unattainable fulfillment. The protagonists' journeys reflect the tension between the demands of the Symbolic order and their deeper, unarticulated desires, ultimately revealing the complexity of human longing and the perpetual state of dissatisfaction that defines Lacanian desire.

References

Butler, Judith. *The Psychic Life of Power: Theories in Subjection*. Stanford University Press, 1997.

Culler, Jonathan. *On Deconstruction: Theory and Criticism after Structuralism*. Cornell University Press, 1982.

Datta, Krishna Nandan Sinha. *R.K. Narayan: A Critical Appreciation*. Asia Publishing House, 1974

Evans, Dylan. *An Introductory Dictionary of Lacanian Psychoanalysis*. Routledge, 1996

Fink, Bruce. *A Clinical Introduction to Lacanian Psychoanalysis: Theory and Technique*. Harvard University Press, 1997.

Habib, M. A. R. 2008. *Modern Literary Criticism and Theory: A History*, USA: Blackwell Publishing.

Hall, Donald E. *Subjectivity (the New Critical Idiom)*, London: Routledge.

Homer, Sean.2005. *Jacques Lacan* (Critical Idiom Series), London: Routledge.

Iyengar, K R Srinivasa. *Indian Writing in English*, New Delhi, Sterling Publishers Private Limited, 2003.

Jacques, Lacan. "The Insistence of the Letter in the Unconsciousness", in David Lodge, David with Wood, Nigel. 2007. (ed) *Modern Criticism and Theory: A Reader*. New Delhi: Dorling Kindersley (India) Pvt. Ltd.

Lacan, Jacques. *Écrits: A Selection*. Translated by Alan Sheridan, Norton, 1977

Lacan, Jacques. *The Four Fundamental Concepts of Psychoanalysis*. Edited by Jacques-Alain Miller, Translated by Alan Sheridan, Norton, 1998.

Lacan, Jacques. *The Seminar of Jacques Lacan, Book II*, ''The Ego in Freud' and in the' Technique of Psychoanalysis' 1954-1955, ed. J.A. Miller, trans. S. Tomaselli, Cambridge: Cambridge University Press.

Mehrotra, Arvind Krishna, ed. *A History of Indian Literature in English*. Columbia University Press, 2003.

Narayan, R. K. *The English Teacher*. Indian Thought Publications, Mysore, 2007.

Narayan, R. K. *The Painter of Signs*. Indian Thought Publications, Mysore, 1993.

Natarajan, Nalini. *The Politics of the Familiar in R. K. Narayan's Fiction*. Review of Contemporary Fiction, vol. 16, no. 1, 1996, pp. 53-61.

Pankaj, S. *R.K. Narayan's Novels: Themes and Concerns*. Atlantic Publishers, 2002.

Parkin-Gounelas, Ruth. Literature and Psychoanalysis: Intertextual Readings, New York: Palgrave, 2001

Parthasarathy, R. *Ten Twentieth-Century Indian Poets*. Oxford University Press, 1976

Rajan, Balachandra. "The Painter of Signs: R. K. Narayan's Parable of Desire." *Journal of South Asian Literature*, vol. 19, no. 1, 1984, pp. 77-86.

Ram, Atma. *R.K. Narayan and His Social Perspective*. Atlantic Publishers, 1996.

Rao, A.V. Krishna. The Indo-Anglian Novel and The Changing Tradition, Mysore: Rao & Raghvan Publication, 1972.

Taylor, Victor E. & Winquist, Charles E (eds).2001. *Encyclopedia of Postmodernism*, New York: Routledge. Tyson, Lois. 2006. *Critical Theory Today: A User – Friendly Guide*, London: Routledge.

Vice, Sue (ed).1996. *Psychoanalytical Criticism: A Reader*, United Kingdom: Polity Press.

Walsh, William. *R.K. Narayan: A Critical Study*. University of Chicago Press, 1982.

Žižek, Slavoj. *Looking Awry: An Introduction to Jacques Lacan through Popular Culture*. MIT Press, 1991.

****

Informal Sector in India and the Policies

-Dr. Ashok Kumar Maurya
Assistant Professor (contractual)
Dept. of Economics,
S.N.S. Govt. PG. College, Narayan Nagar,
(Pithoragarh), Uttarakhand.

-Dr. Sunil Kumar Maurya
Assistant Professor,
Dept. of Economics,
S.B.S. Govt. P.G. College, Rudrapur
(U.S. Nagar), Uttarakhand.

Abstract
The informal sector in India constitutes a significant portion of the workforce, providing employment to millions, especially in agriculture, construction, and small-scale industries. Characterized by unregulated employment, lack of social security, and minimal legal protection, this sector faces challenges such as low wages, poor working conditions, and lack of access to formal credit systems. Government policies, like the Unorganized Workers' Social Security Act (2008), Pradhan Mantri Shram Yogi Maandhan (PMSYM), and initiatives under Skill India, aim to provide social security, skill development, and financial inclusion for informal workers. Despite these measures, policy gaps remain, and the sector continues to struggle with informality and limited access to formal systems. Strengthening policy frameworks and better implementation are essential for improving the socio-economic conditions of workers in India's informal sector.

Keywords: Informal Sector, Labour, Economy, policies.

Introduction :
The informal sector in India is a critical component of the economy, representing a vast network of unregistered, unregulated, and often small-scale economic activities. This sector encompasses a wide array of jobs, businesses, and services, such as street vendors, home-based workers, construction laborers, small retailers, and artisans. Unlike the formal sector, which is governed by legal and regulatory frameworks, the informal economy operates largely outside these structures. This lack of formal oversight results in limited social security, lower wages, and poor working conditions for millions of workers engaged in the sector. Despite these challenges, the informal sector is a lifeline for a significant portion of India's workforce.

India's informal sector is vast, employing nearly 80 to 90 percentage of the labour force, contributing to more than 50% of the country's GDP. It includes workers who may not have formal employment contracts or social benefits, such as health insurance, pensions, or job security. The sector is particularly dominant in rural areas, where agricultural labour, small-scale industries, and artisanal work provide livelihoods for millions. However, the urban informal sector, driven by rapid urbanization, also accounts for a significant portion of employment, including migrant labourers in construction, domestic work, and informal trade.

One of the primary reasons for the dominance of the informal sector in India is the limited capacity of the formal economy to absorb the country's large and growing workforce. The formal sector, while highly productive and contributing significantly to the economy, has not been able to generate enough employment opportunities for all. As a result, the informal sector has become the default option for many workers, especially those from marginalized communities, women, and low-skilled individuals.

The informal sector, while providing employment and livelihood opportunities, faces several challenges. Workers in this sector are often exposed to precarious working conditions, low wages, and lack of legal protection. They are vulnerable to exploitation and have limited access to social security schemes. Additionally, the informal nature of their work makes it difficult for them to organize collectively or assert their rights.

In recent years, there has been growing recognition of the need to integrate the informal sector into the broader economic framework through policy reforms, skill development programs, and social protection measures. Doing so is essential for fostering inclusive growth and ensuring that the benefits of India's economic progress reach all sections of society.

Review of Literature
The informal sector in India, often referred to as the unorganized or unregulated sector, plays a pivotal role in the country's economy, contributing significantly to employment and production. Despite its economic importance, the informal sector often operates without the protection of labour laws, social security, or access to formal finance, leaving workers vulnerable. This review of literature examines the informal sector in India, its characteristics, and the various policies that have been introduced to address challenges within the sector.

Defining the Informal Sector

The informal sector comprises a wide range of economic activities, such as street vending, small-scale manufacturing, domestic work, and construction. According to the International Labour Organization (ILO, 2002), the informal sector includes enterprises that are not regulated by the government, are unincorporated, and operate on a small scale, often without registration. In the Indian context, National Sample Survey Office (NSSO) data has consistently shown that the informal sector employs a large portion of the workforce, accounting for over 90% of total employment in the country (Mehrotra et al., 2014).

Characteristics of the Informal Sector

The informal sector is heterogeneous, encompass-

ing both self-employed individuals and wage workers. According to Bhattacharya (2019), the informal sector is characterized by low wages, lack of job security, absence of social benefits such as healthcare and pensions, and inadequate working conditions. Workers in the informal sector are largely from marginalized communities, including women, migrants, and those with lower levels of education (Kannan & Raveendran, 2009). One of the main reasons for the growth of the informal sector is the inability of the formal sector to absorb the growing labor force. The informal economy serves as a buffer for the formal economy by providing employment opportunities to the surplus labor, but at the cost of labor protection and decent wages (Chen, 2012).

Contributions of the Informal Sector

The informal sector is a crucial component of India's economy, contributing around 50% of the Gross Domestic Product (GDP) (NCEUS, 2007). It plays a significant role in providing employment, especially in rural and urban areas where formal employment opportunities are scarce. According to Gupta (2018), the informal sector's flexibility and adaptability have allowed it to remain resilient despite economic fluctuations.

However, the contribution of the informal sector to economic growth comes with several challenges, including low productivity, inadequate access to financial resources, and the lack of integration with formal value chains. This has led to widespread income disparities and limited upward mobility for workers in this sector (ILO, 2018).

Policies and Reforms Addressing the Informal Sector

Recognizing the challenges associated with the informal sector, the Indian government has implemented several policies aimed at improving working conditions, enhancing social security, and facilitating the transition to the formal economy. Some of the key policies and reforms include:

Unorganised Workers' Social Security Act, 2008: This act was a significant step toward providing social security benefits to workers in the informal sector. It mandates the creation of a social security scheme for unorganized workers, which includes provisions for health insurance, old-age pensions, and maternity benefits. However, the implementation of the act has been limited due to a lack of awareness, low enrolment, and inadequate funding (Rangarajan, 2013).

National Rural Employment Guarantee Act (NREGA), 2005: Also known as the Mahatma Gandhi National Rural Employment Guarantee Act (MGNREGA), this policy aims to provide at least 100 days of wage employment to rural households. While MGNREGA has helped alleviate poverty and reduce unemployment in rural areas, its focus remains limited to rural workers, leaving a large portion of urban informal workers outside its scope (Dutta et al., 2012).

Street Vendors (Protection of Livelihood and Regulation of Street Vending) Act, 2014: This act provides legal recognition and protection to street vendors, who form a large part of the urban informal sector. The act mandates the formation of Town Vending Committees and provides for the regulation of vending zones, ensuring the livelihoods of street vendors while balancing urban development requirements (Bhowmik, 2012).

Skill Development Initiatives: To address the low productivity of workers in the informal sector, the government has launched several skill development initiatives. The National Skill Development Mission (NSDM), launched in 2015, aims to train workers and entrepreneurs in the informal sector, helping them transition to formal employment or improve productivity in their current jobs. While these initiatives are well-intentioned, they often fail to reach the most marginalized sections of the informal workforce due to the lack of appropriate outreach mechanisms (Sengupta et al., 2008).

E-Shram Portal, 2021: This recent initiative by the Ministry of Labour and Employment aims to create a national database of unorganized workers. The portal seeks to provide a unique identification number to workers, enabling them to access social security benefits, including health and life insurance. The E-Shram portal represents a positive step towards formalizing the informal sector, but its long-term effectiveness will depend on how well the data is utilized and whether workers can effectively access the intended benefits (ILO, 2021).

Challenges in Policy Implementation

While several policies have been introduced to address the challenges faced by workers in the informal sector, the implementation of these policies has been inconsistent. According to Singh (2020), the major challenges include a lack of political will, bureaucratic inefficiencies, and inadequate allocation of resources. Additionally, informal sector workers often lack awareness of their rights and the schemes available to them, further limiting the impact of government interventions (Desai, 2019).

Policies In India

The informal sector in India, often referred to as the unorganized or informal economy, plays a critical role in the country's economic landscape, employing a large portion of the workforce. According to estimates, nearly 80 to 90 percent of India's total workforce is employed in the informal sector, encompassing a wide range of activities such as small-scale manufacturing, agriculture, construction, and services. Recognizing the significance of this sector, successive governments have developed various policies and schemes aimed at addressing its unique challenges and improving the livelihoods of workers within it.

1. Social Security Measures

One of the major policy areas concerning the informal sector is social security. Historically, informal workers were excluded from formal social safety nets like pensions, health insurance, and provident funds. To address this, the government launched several programs, including the Pradhan Mantri Shram Yogi Maan-Dhan (PMSYM), which provides pension benefits to unorganized workers, including domestic workers, street vendors, and laborers. Another significant initiative is the Atal Pension Yojana (APY), which offers a government-subsidized pension for unorganized workers, providing them with post-retirement income security.

In 2020, the Indian government also introduced the e-Shram portal, a comprehensive database of unorganized workers, which facilitates the provision of social security benefits, insurance, and welfare programs. It aims to ensure that informal workers have access to labour rights and protections similar to those in the formal sector.

2. Skill Development and Employment Generation

To address the issue of underemployment and low wages in the informal sector, the Indian government has focused on skill development. The National Skill Development Mission (NSDM), launched in 2015, aims to upskill workers in the informal sector, providing them with certifications that could help improve their employment prospects and income levels. The Pradhan Mantri Kaushal Vikas Yojana (PMKVY) is another flagship scheme, offering short-term training programs for workers in various trades and sectors. Additionally, the Deen Dayal Upadhyaya Grameen Kaushalya Yojana (DDU-GKY) focuses specifically on rural youth, many of whom are employed in the informal sector, helping them acquire skills that make them more employable in formal and semi-formal sectors.

3. Labor Reforms

In recent years, the Indian government has introduced a series of labor reforms aimed at formalizing the informal sector and improving labor conditions. The Code on Social Security, 2020, consolidates various social security laws, extending benefits such as maternity leave, healthcare, and retirement savings to workers in the informal sector. The Occupational Safety, Health and Working Conditions Code (OSH Code), 2020, also covers unorganized workers, setting basic standards for workplace safety and health.

4. Microfinance and Financial Inclusion

Financial inclusion is a key policy focus, as informal sector workers often lack access to formal credit channels. The Pradhan Mantri Mudra Yojana (PMMY) was introduced to provide microloans to small entrepreneurs and informal workers, enabling them to expand their businesses and improve their livelihoods. Under this scheme, loans are offered without collateral, providing critical financial support to microenterprises that form a significant part of the informal economy.

5. Women Workers in the Informal Sector

A large portion of the informal workforce in India consists of women, who often face additional challenges like wage discrimination and lack of access to healthcare. To address this, the government launched the Mahila Shakti Kendra (MSK), a scheme focused on empowering women, particularly those in rural areas, by providing them with skill development, entrepreneurship opportunities, and access to government schemes.

Conclusion

The informal sector in India plays a vital role in the economy, contributing significantly to employment and income generation, especially for unskilled and semi-skilled workers. Despite its importance, the sector faces challenges such as lack of social security, poor working conditions, and limited access to formal credit. Government policies like the Pradhan Mantri Shram Yogi Maandhan (PMSYM) and the Street Vendors (Protection of Livelihood and Regulation of Street Vending) Act aim to provide social security and regulatory support. Additionally, programs like Skill India and the MUDRA scheme aim to uplift informal workers by providing skills training and easy access to credit. However, more efforts are needed to formalize the sector and ensure comprehensive protection and opportunities for informal workers.

References

Bhattacharya, S. (2019). The Informal Economy in India: Characteristics, Contributions, and Challenges. *Economic and Political Weekly*, 54(32).

Bhowmik, S. (2012). Street Vendors in India: Policies, Regulations, and Challenges. *Urban Studies*, 49 (5).

Chen, M. A. (2012). The Informal Economy: Definitions, Theories, and Policies. *WIEGO Working Paper.*

Dutta, P., Murgai, R., Ravallion, M., & van de Walle, D. (2012). Does India's Employment Guarantee Scheme Guarantee Employment? *World Bank Policy Research Working Paper*.

Gupta, S. (2018). Informal Sector in India: Size, Nature, and Policy Implications. Journal of Development Economics, 37(2).

International Labour Organization (ILO). (2002). *Decent Work and the Informal Economy.* ILO Report.

International Labour Organization (ILO). (2018). *Women and Men in the Informal Economy: A Statistical Picture*. ILO Publications.

Kannan, K. P., & Raveendran, G. (2009). Growth sans Employment: A Quarter Century of Jobless Growth in India's Organised Manufacturing. *Economic & Political Weekly,* 44(10).

Mehrotra, S., Gandhi, A., Saha, P., & Mukherjee, A. (2014). Job Creation in the Indian Economy: Opportunities and Challenges. *Economic and Political Weekly*, 49(6).

National Commission for Enterprises in the Unorganised Sector (NCEUS). (2007). *Report on Conditions of Work and Promotion of Livelihoods in the Unorganised Sector*. Government of India.

Rangarajan, C. (2013). *Report of the Committee on Unorganised Sector Statistics*. Ministry of Statistics and Programme Implementation, Government of India.

Sengupta, A., Kannan, K. P., & Raveendran, G. (2008). India's Common People: Who Are They, How Many Are They and How Do They Live? *Economic and Political Weekly,* 43(11).

Singh, M. (2020). Challenges in Implementing Policies for Informal Sector Workers. *Journal of Social Policy and Practice.*

****

Gogamedi: Exploring Heroic Abode of Divinely Goga in Medieval Rajasthan

-Dr. Mayurakshi Kumar
(Department of History, DU)
Assistant Professor,
Hansraj College, University of Delhi
Email Id- kumar.mayurakshi1@gmail.com

Temple as a sacred space has been a focused study of many scholarly endeavours. Particularly in India, the land renowned for its heterogeneous religiosity, many famous temples have been the generator of numerous studies. However, like the layered character of studied religious space, even the principal elements of various studies have also churned out layered and sometimes even biased understandings. Equally true is that in the midst of all the layered projections, folk religion and its elemental frameworks have failed to draw much needed deserving attention, as it is considered as a complex makeup of numerous premordial traditions and behaviours of its followers.

Folk religion, evolves through logical frames of day to day concerns of its followers and when presented and practiced through institution of temple, can attain varied forms, based upon the nature of the practicer. However, the studies driven by elitist, high standing notions are hardly swayed in favour of these folk but unique hubs playing crucial role in religious space of social landscape. The same is the story of Gogamedi shrine, the final resting divinely abode of historical figure turned folk deity Goga Pir, one of the famous panch Pirs of Rajasthan.

Goga is a widely repeated and revered name in Rajasthan and beyond that refers to a person whose memory surpasses the length of his recorded life. Some of the common epithets such as Goga, Gugga, Goga Pir, and Gugga Bir that this figure has generated, , are products of changing cultic paradigms. Goga, the Rajasthani folk deity of the mediaeval era, underwent a number of changes over his life, most notably from historical person to folk hero to folk deity, all of which have histories worthy of reflection. A thriving cult was centred around this mediaeval warrior who was eventually defied. Gradually, the folk cult established itself in Gogamedi, Goga's final resting place.

While it is not unusual for a cult to turn into a shrine, Gogamedi's continually growing economic and social popularity deserves a closer look. Goga's widespread acceptance, that cut across all class and political divides, continuously sustained the cult manifested at the temple through an array of humanly projections.

Since a majority of academic research have concentrated primarily on the study of the different identities of Goga, my paper seeks to comprehend the socio-ritualist commitments that are rooted at the shrine of Goga. Close examination is necessary to understand the manner in which the state, through its Devasthan (temple) authority, has successfully tabbed this cross-community as well as cross-regional following for economic benefits, particularly given that the site is not related to any mainstream religion but rather folk religion, which has long been marginalised by the political class. Equally significant is the socio-ritualist structure of the temple, which attracts visitors from all over the world for a variety of daily issues, often spanning boundaries between communities and territories.

Sadly, this religious centre, developed under the auspices of Bikaner principality, has been a crowd puller as well as a revenue generator, and yet has remained elusive of academic noting. Such an ignorance is unwanted and disturbing, especially when, religious, political, social, economic and cultural symbolic patterns, developed at Gogamedi over years, have their own specific story to tell. As divine centre of Goga's evolving cultic paradigm, it has been a focussed retinue point of the political echelons of Bikaner state, who have continuously monitored its activities through Devasthan body. Also they have together controlled the ever multiplying monetary nexus of the temple. Evidently, the followers, largely belonging to the lower rung of the social hierarchy, have their own day to day additions to make in the social and cultural **symbolism** of the sacred land. The temple's monumental layout, which resembles an Islamicate structure while honouring a deity who was a Rajput Chauhan by birth, is the most intriguing feature of all. The primary class of priests known as Chahals (converted Hindus), who work in temples under the direct authority of the Bikaner kings, is another example of interfaith coexistence.

My paper aims to explore these and many other emerging vistas of Gogamedi because, in spite of these all-encompassing and exclusive patterns, a lack of historical study is intolerable. The study will focus on three key areas: the political realm regulating the economic sphere and vice versa, the symbolic world of social space represented by ritualist space, and the priestly body acting as a mediator between the divine

Goga and his followers. The work's thoughtful theme is Gogamedi as the intersection of ideological morphologies.

As Previously mentioned, there are gaps in the existing historiography, particularly with regard to the Gogamedi temple. Some of them do, however, help us get a closer understanding of Goga's divine significance. Chandradan Charan illuminates the myths and life that encircle him. He draws attention to the various customs that have been connected to Gogaji over time, which has helped to increase his fame even more. Chandradan Charan transcribes a expertly handled Rajasthani gatha of Goga, as the work's title suggests. Pemaram's research adds a fresh perspective to the body of existing folk history literature. According to him, the saints and deities like Goga, Pabu, Ramdev, Teja, Dadu, Dhanna and Charndas were religious leaders who strove to eradicate the evils and customs of medieval Rajasthan and provide a strong foundations for the poor and oppressed.

By examining the cults of various Gods and Goddesses, H.S. Bhatti, placing his research in the Punjab region, describes the formation of folk religion. The cults of Gugga Jahir Pir, explored through'*Gugga Jahir Pir: The God of Snakes'* is of particular importance to my study. Here, Bhatti made an attempt to analyse the Goga's tale that was popular in Punjab. He investigated the many facets of the folk people's individual worldviews in addition to attempting to highlight the various chapterss in the history of these deities.

A series of articles published in Hindi journals like *Maru-Bharti*, *Rajasthan-Bharti* and *Shodh-Patrika,* also survey the socio-cultural context within which various folk-deities gained ascendance. Jhabarmal Sharma's work tells about all the prominent Lok Devi-Devta worshipped in Rajasthan. Muldan Depawat's article and Govind Aggarwal's, look at the socio-cultural milieu which was essential in the growing popularity of these respective folk deities. All these works have stimulated a consistant interest for situating the historical cultic evolution of Goga over time.

According to historical accounts by Bankidas Asiyas and Barhat Asa, Gogaji was born in the Chauhan Rajput tribe to Bachhal, his mother, and Jeevar, his father. As the defender of pastoral wealth and the guardian of cattle herds—hal balaadi Goga rakhwala—he was regarded by the disadvantaged individuals as their ally. Conflicts between him and his cousins Arjan and Sarjan also followed from this, as described in bardic narratives from the 17th century by Goga Chhand and Gogaji ri Nishani. At Gogamedi, his wide popularity is evident.

Located in the Nauhar tehsil of the Hanumangarh district of Rajasthan, Gogamedi is a village assemblage that bears Gogaji's name. Since it's thought to be the spot where Gogaji breathed his last, a Samadhi is built here in his honour. From the outside, Gogamedi looks more like a Muslim building than a Hindu temple since it has four corners decorated with minarets and a centre Gumbad, or dome. It's the colour white. There may have once been a modest place of worship, but it's possible that a converted Chauhan follower of Gogaji built an edifice that was distinctly Muslim in the sixteenth century. It is a well-known truth that Muslims make up the majority of Gogaji's followers. Over time, a group of Chauhans,known as the Gogawats , who were ardent followers of Goga, converted to Islam.

Also the major priestly class at the Gogamedi temple belongs to the Islamic faith. The medi was earlier surrounded by a huge forested land, of which only patches are left now, as the land has been brought under cultivation. This forest land is called '*bani'*, '*auyan'* and '*jodh'* of Gogaji.

Priests: Ritual keepers of the Temple

The Hindu Pujaris and the Muslim Chahal Pujaris are the two bodies of priestly class that reside in the Gogamedi Temple. Historically speaking the presence of the Chahal Pujaris is well documented- ***Chahal shri Gogaji ri medi re pujaris sadamat su*** i.e. People from Chahal community have been the priests at the Gogamedi temple of Gogaji from a long time.Priests at Gogaji's Gogamedi temple have long been members of the Chahal community. It is evident from studying the Chauhans' vamshawalis, or genealogy, that the Chahals, Chayals, or Chahils are a subclan or branch of the Chauhans, particularly the one that ruled the Dadrewa region. After some time, a large number of them became Muslims. Priests at the Gogamedi temple are their descendants. Their exact assumption of the priesthood may have occurred after the temple was remodeled to resemble a Muslim tomb, though this timing is unclear. The presence of priestly class of two faiths i.e. Islam and Hinduism, at the site lends it a unique character. This however, is not the one off feature of uniqueness, as even the annual fair furthers this specialty.

Social profile of Gogamedi

A temple may represent a variety of rites that have both social and financial significance. A yearly fair is held at the Gogamedi temple in the months of August through September, when a significant number of people come to worship a stone-carved snake. This shrine attracts tens of thousands of visitors annually. The Gogamedi's economic advantage is that it hosts one of Rajasthan's biggest livestock fairs. A significant amount of camel and animal trading occurs at

this fair, which brings together traders from Nauhar, Bhadra, Hanumangarh, and Ganganagar. The state department has seized control of this cattle fair, which was first held during the princes' administration, and the Devasathans are now in charge of the temple's structure. The Gogamedi fair is comprehensively documented, and examining these records aids in the reconstruction of both the ceremonial and commercial aspects of the event.

References from revenue records namely Sawa Bahi Nauhar and Bhadra (villages in medieval Bikaner), indicate that, people of different communities visited the temple on several occasions owing to different reasons. In this respect the following few quotes are worthy of observation. They speak of people from communities like Teli, Madaari, Choudhary and many others. Citations from revenue records, namely from the medieval Bikaner settlements of Sawa Bahi Nauhar and Bhadra, show that individuals from various communities frequently visited the temple for various purposes. The next few references are noteworthy in this regard. They mention members of numerous communities in addition to Teli, Madaari, and Choudhary. ***100Rs.) Seerni daan darwaaje nayi karaayo te kari chhe Naath Raj teli*** i.e. A teli (oilpresser) named Nath Raj donated 100 rupees when he got a new gate installed at his home. In another similar reference, ***10Rs) Shri Gogeji ri medi chadhaya bheem madaari fagun sud 2***, i.e. one rupee was donated by a Madari, (one who shows play acts of the monkeys)**. *51Rs.) Shri Gogeji ri medi upar chadhaya Chaudhary Jagmal*** i.e. Chaudhary Jagmal donated 51 rupees at the medi. The donations by all such visitors have collectively helped in the economic progress of the site. However, apart from these visitors even the state was instrumental in the economic evolution of the site.

Political-Economic Profile of Temple

The state revenue records provide comprehensive information about the prayer rituals performed at the Gogamedi temple, as well as the necessities for which the state donated financial resources. ***1000 Rs) Shri Gogeji re medi re mele ri kati vad 14 amawas diya deepawali ri raahani lori va dhirat ser 4 dhup ser 5 seerni ser 6*** i.e. from the state's yearly donations, 1000 rupees were used to pay the ritual singers for their performance on Diwali day, as well as to buy Ghee (4 ser), Incense sticks (5 ser), and Seerni or Prasad (6 ser) for prayer.

State archival archives also document the thriving cattle trade at the Gogamedi fair. These examples demonstrate how the state and the traders benefited monetarily from it. The State also looked into the maintenance of the law and order in medi during the fair.

On the basis of above references it can be said that Goga's memory outlived him and his following eventually took on the characteristics of a cult. The Gogamedi temple complex is a notable example of a folk religion that developed into a cult and eventually spread to the point of pushing state-oriented mobilization. The state, aided by the constantly growing number of tourists, has become the temple's main beneficiary, particularly in terms of donations. Nonetheless, the temple site did develop into an economic center as a result of the State's previously stated attempts to improvise upon its authority.

Endnotes:

I. Chandradan Charan, *Goga Chauhan ri Rajasthani Gatha*, Rajasthani Granthagaar, 2000.
II. Pemaram, *Madhya Kaleen Rajasthan Me Dharmik Andolan*, Archna Prakashan, Ajmer, 1977
III. H.S. Bhatti, *Folk Religion: Change and Continuity*, Rawat Publication, 2000
IV. Sharma Jhabarmal, "Rajasthan ke lok devta", *Marubharti,* 1955.
V. Muldan Depawat, "Etihaasic sambandh me Karni Mata", *Marubharti,* 1980.
VI. Govind Aggarwal, "Lokdevta Chauhan veer Gogaji", *Rajasthan Bharti,* 1969.
VII. Bankidas Asiya, *Bankidas ri Khyat*, p. 142, Rajasthan Oriental Research Institute, Jaipur. Kavi Barhat Asa, *Ath Gogapedi*, Manuscript, Jodhpur records, granthaak 5, basta no. 9, Rajasthan State Archives, Bikaner (RSAB).
VIII. R. C. Temple, *The Legends of Panjab*, vol. I, Rupa Publication.
IX. *Gogaji ki nishani,* manuscript, krmaak 19, Anoop Sanskrit library (Bikaner). *Goga Chhand*, manuscript, kramak 13769, 1704 V.S. /1647 A.D., Prachya Vidya Pratishtaan, Bikaner. (author unknown).
X. Ibid, p. 18
XI. Surya Shankar Parik, "Gogamedi Ek Ithihaasik Vivechan", p. 19. *Marubharti*, 1978. A shop owner, Radhe Shyam Rajput at Gogamedi also talked of the existence of this extensive forest.
XII. *Sawa Bahi Nauhar* (Bikaner), *Bahi No. 1*, p. 42, 1822 V.S./ 1765A.D. , RSAB.
XIII. K. K. Sehgal, *Rajasthan District Gazetteer- Ganganagar*, pp. 98, Mahavir Printing Press, Jaipur, 1972.
XIV. Ibid, p. 158.
XV. Ibid, p. 167
XVI. *Sawa Bahi Bhadra* (Bikaner), *Bahi No. 1*, 1875 V.S. / 1818 A.D , p. 286 B, RSAB.
XVII. *Sawa Bahi Nauhar* (Bikaner), *Bahi No. 10*, 1870 V.S. / 1813A.D., p. 87 B, RSAB.
XVIII. *Sawa Bahi Nauhar* (Bikaner), *Bahi No. 9/2*, 1865 V.S. / 1808 A.D., p. 201 A B, RSAB.
XIX. Sawa Bahi Bhadara (Bikaner), Bahi No. 2, 1875 V.S./ 1828 A.D., p. 66 B, RSAB.

****

Molestation and Maternal Missteps: Mala's Misery in Mahesh Dattani's *Thirty Days in September*

-Dr. Kusum Kangar
Associate Professor, Department of English
BAR Janta College, Kaul, Kaithal, Haryana

Abstract
Mahesh Dattani's play *Thirty Days in September* deals with the harrowing tale of Mala, a woman grappling with the aftermath of childhood sexual abuse by her maternal uncle, Vinay. The narrative unfolds through Mala's fractured memories and interactions with her mother, Shanta, whose passive complicity deepens Mala's emotional scars. The play explores themes of trauma, identity crisis, and the enduring impact of abuse within familial dynamics. Mala's character is portrayed as a successful professional in Delhi, yet haunted by unresolved trauma that manifests in her volatile behavior and inability to form lasting relationships. Her journey is marked by attempts to reconcile her past with her present identity, shaped by the cyclical pain evoked by the title derived from a childhood rhyme. Shanta, depicted as a symbol of maternal betrayal, exemplifies societal norms that prioritise family honor over confronting abuse. Her silence and denial amplify Mala's isolation and sense of betrayal, echoing broader societal patterns of complicity in abuse cases. Vinay emerges as the antagonist, exploiting familial trust to perpetrate abuse while maintaining a facade of familial affection. His character embodies the predatory nature of abusers who exploit power dynamics within the family structure. Through intricate character dynamics and poignant dialogue, Dattani critiques the pervasive culture of silence around sexual abuse and the systemic failures that perpetuate victimisation. The play serves as a powerful indictment of societal norms that shield abusers and silence victims, urging for greater awareness, empathy, and accountability in addressing issues of sexual violence.

Keywords
Mahesh Dattani, *Thirty Days in September*, Indian English Drama, Sexual Abuse, Familial Trauma, Identity Crisis, Maternal Complicity, Emotional Scars, Marginalisation.

Indian drama has long served as a mirror reflecting the socio-cultural landscape of the nation, often highlighting the marginalised positions of women. In myriad plays, women's struggles against patriarchal oppression, societal norms, and personal battles are poignantly depicted. Girish Karnad's *Nagamandala* offers a compelling exploration of a woman's yearning for love and respect within a stifling marriage. Rani, the protagonist, finds herself trapped in a loveless union, symbolising many women's silent sufferings. Through myth and folklore, Karnad underscores the resilience and inner strength of women striving to reclaim their identity. Similarly, Vijay Tendulkar's play *Silence! The Court is in Session* scrutinises the societal condemnation of women who defy conventional roles. Miss Leela Benare, an outspoken teacher, becomes the target of a mock trial that exposes the hypocrisy and moral policing prevalent in society. Tendulkar's portrayal of Benare's character brings to light the relentless scrutiny and marginalisation women face when they assert their independence and sexuality. In Mahesh Dattani's *Dance Like a Man*, the patriarchal structures that stifle female ambition are examined through the character of Ratna, an accomplished dancer whose aspirations are continually undermined by her husband and society. Dattani's portrayal of Ratna's internal and external conflicts underscores the sacrifices women make to pursue their passions in a male-dominated world.

Badal Sircar's *Evam Indrajit* also deals with the constraints placed on women, with Manasi's character embodying the conflict between traditional expectations and personal desires. Sircar's work reflects the broader societal challenges that confine women to predetermined roles, highlighting the necessity for a cultural shift towards gender equality. These seminal works collectively underscore the pervasive marginalisation of women in Indian society, offering a powerful critique and call for change through the medium of drama. Each playwright, through their unique narrative style, amplifies the voices of women, advocating for recognition, respect, and equality. This list is limitless in Indian English Drama and this paper attempts to explore Mala's exploitation in Mahesh Dattani's play *Thirty Days in September.*

Mahesh Dattani is a prominent Indian playwright, director, and actor whose contributions have significantly shaped contemporary Indian English Drama. Born on 7 August, 1958, in Bangalore, Karnataka, Dattani's early life and education were instrumental in shaping his creative career. He attended Baldwin Boys' High School and later pursued a degree in His-

tory, Economics, and Political Science at St. Joseph's College of Arts and Science in Bangalore. Dattani's foray into theatre began in the early 1980s, a time when Indian English theatre was gaining prominence. His unique voice and perspective quickly set him apart, and he soon became known for his incisive exploration of contemporary social issues. Dattani's plays often tackle complex themes such as gender identity, homosexuality, communalism, and child abuse, subjects that were considered taboo in Indian society. His fearless approach to these issues earned him both critical acclaim and controversy.

So far as Mahesh Dattani's *Thirty Days in September* is concerned, it is a poignant story of a young girl, Mala who is a victim of child sexual abuse and incest relationship as her maternal uncle has been molesting her for many years. Gazala Israr also writes about this play, "In his play *Thirty Days in September*, he focused on the sensitive issue of child sexual abuse within the range of familial relationship" (Israr 1). This play is a story of three characters: Mala, a thirty plus girl, her mother Shanta, and Vinay, Mala's maternal uncle. Mala is being molested by her material uncle since she was seven-year-old. She was living a traumatic life and is facing a severe identity crisis. The play deals with the patriarchal ideology and the anguish of women. Kamla Bhasin also remarks in this context:

> The world historical defeat of the female sex with the establishment of capitalism based on private property ownership by men did away with inheritance of property and social position through female line. (Bhasin 24-25).

Mahesh Dattani's *Thirty Days in September* is a compelling and poignant exploration of child sexual abuse and its profound impact on victims. The play narrates the life of Mala, a young woman grappling with the traumatic experiences of her childhood. Through Mala's story, Dattani sheds light on the pervasive issue of incest and the complexities of familial relationships that often accompany such abuse.

Mala's journey begins with a deep sense of confusion and anguish. Since the age of seven, she has been molested by her maternal uncle, Vinay, who exploits her innocence and trust. This recurring abuse becomes a central, dark aspect of her childhood, leaving indelible scars on her psyche. The play opens with Mala's voice on a tape recorder, struggling to articulate her own name, symbolising her fractured identity and the silencing of her voice by the trauma she endured. Her mother, Shanta, remains silent and passive, even though she is aware of the abuse. This silence is a significant element of Mala's suffering, as it reflects the societal tendency to overlook or dismiss the gravity of such crimes within the family. Shanta's inaction is rooted in her own conditioned acceptance of patriarchal norms, which often prioritise family honor over the well-being of the victim. This response leaves Mala feeling isolated and betrayed, unable to find solace or support from her closest relations. This is how Mahesh Dattani has written about the mental and physical agonies of a girl:

> I couldn't speak because I was being fed all the time, and you know what? I began to like them. I thought that the cure for my pain. That if I ate till I was stuffed, the pain would go away. Every time I came to you, Mummy, you were ready with something to feed me. You knew. Otherwise you wouldn't have been so prepared. You knew all along what was happening to me, and I won't let you forget that. (Dattani 104)

The play poignantly portrays Mala's interactions with her mother, Shanta, and her uncle, Vinay. Shanta's silence is a recurring theme that haunts Mala. Despite her awareness, Shanta's refusal to confront the issue or offer support deepens Mala's sense of abandonment. In a particularly harrowing scene, Mala recalls how her mother would feed her sweets to pacify her, a gesture that symbolises the superficial attempts to address deep-seated pain. This act of feeding is laden with irony and bitterness, as it becomes a metaphor for the ways in which society tries to gloss over serious issues without addressing their root causes.

Mala's confrontation with her uncle Vinay is a pivotal moment in the play. Vinay's character is emblematic of the predatory nature of abusers who exploit their positions of trust and authority. His nonchalant attitude and lack of remorse add to Mala's frustration and rage. Vinay's presence in the family and his continued interaction with Mala and Shanta highlight the complicity and denial that often surround cases of familial abuse.

Mala gets more hurt when her mother puts the blame on her daughter saying that she is enjoying the pleasure of sex with Vijay like a bad girl. She says, "You have been a very bad girl, you have gone astray" (Dattani 109) and she prays to Lord Krishna to give her wits to return on the right path. She says, "This is what I was praying to. To our God, so He could send his Sudarshan Chakra to defend you, to defend us from the demon inside you, not outside you" (Dattani 108).

This play also sheds light on the broader societal implications of child sexual abuse. The play critiques the patriarchal structures that perpetuate silence and inaction. Gazala Israr also writes about this play, "In

his play *Thirty Days in September*, he focused on the sensitive issue of child sexual abuse within the range of familial relationship" (Israr 1). The play deals with the patriarchal ideology and the anguish of women. Kamla Bhasin also remarks in this context:

> The world historical defeat of the female sex with the establishment of capitalism based on private property ownership by men did away with inheritance of property and social position through female line. (Bhasin 24-25).

Though Mala is doing her job as a creative advertiser in Delhi but she is not able to remain satisfied and peaceful in her life because her traumatic childhood experience shatters her own self and identity. She becomes short-tempered, impulsive and aggressive in her behaviour. She is not able to have her affair with anyone else for more than thirty days and it is the title of the play also. She remembers how her mother also remained silent even after knowing everything. Mala does not get any support from her mother just because she knows that women have to face these kinds of problems in their life. Mahesh Dattani has tried to show through this play that a girl needs the emotional support of her family for justice and mental peace failing which a girl feels a sense of betrayal from her parents. Mala goes to her father to tell about the story of her molestation but her father was busy in some work and he does not pay any attention to her. After that, she goes to her mother who also ignores her deliberately and gives her some sweets so that she may stop crying. This is how Mahesh Dattani has written about the mental and physical agonies of a girl:

> I couldn't speak because I was being fed all the time, and you know what? I began to like them. I thought that the cure for my pain. That if I ate till I was stuffed, the pain would go away. Every time I came to you, Mummy, you were ready with something to feed me. You knew. Otherwise you wouldn't have been so prepared. You knew all along what was happening to me, and I won't let you forget that. (Dattani 104)

Mala gets angry at her mother's attitude but she was helpless in this matter. She was feeling flabbergasted and shocked because both of her parents neither father nor mother were ready to listen to her and she notices that her uncle Vinay is a patriarch who plays a significant role in the family. In the book *Trauma and Recovery*, Judith Herman writes about the mental condition of the victim, "The abused child is isolated from other family members as well as from the wider social world" (Herman 100-101).

Mala's uncle runs her house also in her father's absence and supports the family financially also. Mahesh Dattani has depicted the double standards of society and depicts how it is very difficult to have trust even on the family members. Vinay's actions are so good that nobody can believe that he can do this kind of work also. His words "Isn't she like my daughter also?" (Dattani 118) denote that he loves Mala like her daughter, but instead of it, he sexually molests her which ruptures the trust and heavenly bond of father-daughter relationship which is considered so pious in our society

Shanta's character is a study in passive complicity. Throughout the play, she is depicted as a silent observer who chooses to ignore the harsh realities that unfold within her own home. Her silence and inaction are not mere oversights but a reflection of the deeply ingrained patriarchal norms that prioritise familial honour over individual well-being. Shanta's reluctance to confront the abuse stems from a conditioned response to maintain the status quo, even at the cost of her daughter's mental and emotional health. Shanta's behaviour is emblematic of a larger societal issue where victims of abuse are often silenced by those closest to them. Her refusal to acknowledge the abuse is evident when she consistently deflects or downplays Mala's distress. This is poignantly illustrated in the scene where Mala recalls how her mother would feed her sweets to pacify her cries for help:

> I couldn't speak because I was being fed all the time, and you know what? I began to like them. I thought that was the cure for my pain. That if I ate till I was stuffed, the pain would go away. Every time I came to you, Mummy, you were ready with something to feed me. You knew. Otherwise, you wouldn't have been so prepared. You knew all along what was happening to me, and I won't let you forget that. (Dattani 104)

Vinay's character is marked by a complete lack of remorse or accountability. His nonchalant attitude towards his actions is a stark contrast to the deep psychological scars he leaves on Mala. The confrontation between Mala and Vinay is a critical moment in the play, showcasing Vinay's manipulative tendencies and his ability to continue his abuse under the guise of familial affection. This confrontation is not just a personal battle for Mala but a broader commentary on the societal tendency to shield perpetrators and blame victims. Vinay's villainy is further underscored by his manipulation of family dynamics to maintain his abusive behavior. He exploits the patriarchal structure of the family, knowing that the likelihood of being exposed is minimal due to the prevailing norms that discourage speaking out against such transgressions. Vinay's actions are a chilling remind-

er of how abusers can operate with impunity within the protective cloak of family.

Shanta's passive complicity and Vinay's active villainy creates a toxic environment that perpetuates Mala's suffering. Shanta's refusal to confront Vinay and protect her daughter is a form of betrayal that compounds Mala's trauma. This dynamic is reflective of a broader societal issue where victims are often isolated and silenced by those who should be their protectors. Mala's journey through the play is a testament to the enduring impact of this toxic environment. Despite her professional success as a creative advertiser in Delhi, Mala's personal life is in shambles. Her inability to form lasting relationships and her aggressive behavior are manifestations of the unresolved trauma inflicted by Vinay and exacerbated by Shanta's silence. In a significant moment, Mala confronts Shanta, demanding acknowledgment and accountability for her suffering. This confrontation is a cathartic release for Mala, as she articulates the pain and betrayal she has harbored for years. Shanta's eventual recognition of her role in Mala's trauma is a turning point, albeit a delayed and reluctant one. It highlights the possibility of breaking the cycle of silence and complicity, even if it comes at a significant emotional cost. Judith Herman, in her book *Trauma and Recovery*, writes about the isolation of abused children, "The abused child is isolated from other family members as well as from the wider social world" (Herman 100-101). This quote aptly describes Mala's condition, as she navigates a world where her cries for help are met with silence and denial.

Through *Thirty Days in September*, Mahesh Dattani not only portrays the devastating impact of child sexual abuse but also critiques the societal structures that allow such abuse to persist. Shanta's character serves as a mirror to the passive complicity that enables abusers like Vinay to operate unchecked. Vinay's character, meanwhile, is a stark reminder of the predatory nature of abusers who exploit familial bonds for their gain. Thus, this play is about Mala's molestation and her trauma in the realistic manner. Omprabha A. Lohakare calls it "a family play" (897).

Works Cited

Bhasin, Kamla. *What is Patriarchy*? Kali for Women, 1993.

Dattani, Mahesh. *Brief Candle: Three Plays*. Penguin Books, 2010.

Herman, Judith Lewis. *Trauma and Recovery: The Aftermath of Violence: From Domestic Abuse to Political Terror*. Basic Books, 1997.

Israr, Gazala. "Mahesh Dattani's *Thirty Days in September*: Dealing with Incest." *International Journal of Humanities and Social Science Invention*, vol. 3, no. 4, Apr. 2014, pp. 1-4.

Lohakare, Omprabha A. "Changing Trends in Postmodernism: A Case Study of Mahesh Dattani's *Thirty Days in September*." *JETIR*, vol. 6, no. 4, Apr. 2019, 894-98.

****

Folktales as a Source of Morality: A Comparative Study.

-Dr. Rohit Raj
1st floor, 111/9, Shashi Niwas,
Gali No – 3, Kishangarh, Vasant Kunj – 110070.
Ph: +91 9971649235
Email – rohit11raj@gmail.com

Introduction

Folktales serve as rich reservoirs of moral codes, deeply embedded within their narratives, reflecting the values and beliefs of the society from which they originate. These stories provide essential teachings about good and bad behavior, promoting harmony within a community and preserving the social construct. Morality, which can be understood as a set of standards that guides individuals to live cooperatively in a group, plays a crucial role in these tales. Through the lens of philosophers like Nietzsche and Foucault, we can explore how morality is constructed within folktales, how power dynamics influence perceptions of good and bad, and how these tales serve as a reflection of societal hierarchies and expectations. By examining specific folktales, we gain insights into how values and morality shape the social fabric. This article explores these ideas and reflects on how folktales portray the struggle between good and bad, often reinforcing the societal power structures of their time.

Folktales are very rich with moral codes, which are important and needed for society, which are required to be followed to make harmony in the particular space, keep the social construct unharmed, and simultaneously keep those codes to save them. The meaning of morality is very clear to us: Morality is a set of standards, that help to live cooperatively in a group and set the connotation of good and bad, to save the group. This morality determines the good, acceptable, and bad, not acceptable.

Moving ahead, how morality is set in the folktales, I have included Nietzsche's theory of the construction of morality. According to Nietzsche the origin of the idea of "good" comes, with the assertion of the origin of idea and judgment. Unegoistic actions were called good from the perspective of those for whom they were done: to whom those actions were useful. By the time people forgot how this praise began, and because unegoistic actions had, according to custom, always been praised as good, people then simply felt them as good, as if they were something inherently good, as they contained in themselves some value, which is also called goodness.

Further ahead he argues that the theory of the idea good lies in the wrong place, the judgment of good has not moved from those to whom the goodness was shown. He says that the noble, powerful, higher thinking, and higher ranking, consider themselves as "good people" and set themselves and their actions as good, furthermore, he says everything is low-minded, common, and vulgar in contrast to the first rank. Due to this gap or distance the first rank arrogates themselves the right to create values for their own profit and, they stamp out the names for values as well.

If we take any institution/ or space (hierarchical or political construct) like the Bhamnical structure, which is hierarchical, in which the first place is occupied by Brahmins, who are the noble ones, and most powerful in that given space, who set the parameter of good and bad. As their power is given by the people, they set those actions as good, which are beneficial for themselves or the structure in which they live and exercise their power, and they call it good.

According to Micheal Foucault, those who have power or authority in a society typically possess knowledge or information that gives them the ability to influence or control others. Power, in this context, could be political, economic, social, or any other form of influence.

Any individuals or entities who claim to possess knowledge can use it to their advantage. They can leverage this knowledge to further their own interests, whether it be accumulating wealth, gaining

political control, or achieving personal goals.

When those with knowledge exercise power to advance their interests, it can come at the cost of others. This is because the power they wield can be used to manipulate or control others, leading to a potential imbalance of power and even exploitation.

The feeling reaches the opposite of that low level, which is a condition for that calculation of shrewdness, which is calculating by utility—and it is not for once, not for an exceptional hour, but permanently. The foundation of the contrast between "good" and "bad" is the pathos of nobility and distance, as previously indicated, the permanent and dominant emotion, something comprehensive and complete, of a higher controlling nature in comparison to a lower nature, to a "beneath." (The master has the authority to assign names, and this authority goes so far that we could allow ourselves to understand the origin of language as a manifestation of the power of the rulers: they say, "That is such and such," affix a sound to every object and event, and in doing so, as it were, take possession of it.

Nietzsche traces back the meaning of good in different languages and he sees that all of them lead back to the same transformation of the ideas. Even in different languages the fundamental idea of "good" is "aristocratic" or "nobel". He says in a social context the basic idea of good is spiritually noble, aristocratic, spiritually high-minded, and spiritually privileged, they all consider themselves necessarily developed – and in contrast, others are common, vulgar, or low and considered as "bad". He gives examples of German words: select – Bad, "schlicht" [plain]— compare "schlectweg" [quite simply] and "schlechterdings" [simply]. He says these words in the contrast to the nobility, means common low.

To understand the given paragraph, we are giving the example of the history of tragedy of common people. Once one of our professors explained to us that to understand comedy and tragedy in a very simple language remember this When the form is small and the content is big, it is called tragedy and when the form is big and the content is small, it is called comedy.

These are the two conditions between tragedy and comedy. I am giving an example of the tragedy to understand the above context of High and Low. The incidents with the high people are considered as tragedy but the same condition with low, common people is considered as comedy. The incidents with common people were not considered as tragedy but comedy, as the parameter of the tragedy was not set on humanity but according to high ranker or noble. The word tragedy was first used by the Greeks to describe a play. In Russian or globally, before the 18th century, tragedy was only associated with high people, but the same incident with low-grade people was considered as comedy.

Helen Muchnic writes in her research work: The Concept of Tragedy in Russian and Soviet Literature –

".....*tragedy is mysterious and lofty it was considered, until recent times, to be appropriate only to men of highest station, to commanders and kings, whose position bestowed upon them a stature adequate to great experience. The ordinary man was looked upon as a comic rather than a tragic figure. When, some two centuries ago, this idea began to change, and in the nine- teenth century was quite transformed, when simple girls and common soldiers, illiterate peasants, poor students, and office clerks were seen to be capable and worthy of tragedy, there al- ways lurked in the background a tacit comparison of their humble status with the magnificence of their predecessors. And it is not surprising that today, a study of the tragic concept in modern times should be entitled, not The Birth, but The Death of Tragedy. Mr. George Steiner argues brilliantly that tragedy is dead; and doubtless it is, in its original form. Maybe, however, it is not really dead. Maybe it is still alive, but somewhat different, in the guise of a new definition."*

When the highest caste, who occupies the top rank in a structure "King in kinship, Priest/pope in Christianity, Brahmin in our case system, vice chancellor in a university. High Rank names themselves simply after their superiority in power "The Rich, "The owner", "The warrior". As we can see that in Russian literature the tragedy with common people started not before the 19th century, but the folktales have always, been shown the tragedy of common and high ranker as well in both Russian and Magahi folktales. As the writing was only under the possession of high people, the tragedy was set only, which happened with high rankers or nobles, but the

folktales used to show the common folks as protagonists. Not always but most of the time protagonist or central personae belongs to the low part of the hierarchical system or the oppressed one by any social construct: Profession (Farmer, fisherman- financially weak), women (Witch, stepmother, step-sister, as their nature shown in many tales: cruel, biased, dominant, cunning, deceiver and more. The stepmother in the tale "Marozko" " Daughter and stepdaughter (Дочь и падчерица)" "Cinderella" Bhai-Behen" and many more, hence they are considered bad, bad for acting against the social structure (if bad ones would have been rewarded in the tales, maybe more of the girls' character in the society, would have been the same).

On the other hand, a women's nature like: humble, honest, quiet, obeying are being appreciated, in many tales: The sister in the tale "Bhai Behen", the nature of the sister is highlighted by the narrator, the notion of which are considered as good, that is humble, obedient, submissive.

She has always given impossible tasks by her sisters -in-law, never resist but only cries: her sisters-in-law askes:

"*Go fetch the water from the well, without rope and bucket. Harness the crops without a sickle. Go prepare the food without ant wood and fire! Go wash the dirtiest mattress and make it shine like new!*

Same nature we could find in any other women character, which are considered as good. The nature of step daughter in the tale "Daughter and step daughter", she follows all the orders her step mother askes. Step daughter in the tale "Marozko", she was sent on execution in the forest to die of cold and her uncomplaining nature are reviled when Marozko asked her:

- Are you warm, girl?
- Warm, Frosty, warm, Godfather.

The Morozko began to descend lower, crackling and snapping more intensely:

- Are you warm, girl? Are you warm, red one?

She's almost catching her breath:

- It's warm, Frosty, it's warm, Grandfather.

Morozko descended even lower, crackled more intensely, snapped harder:

- Are you warm, girl? Are you warm, red? Are you warm, sweetheart?

The girl is stiffening, she can barely move her tongue:

- Oh, it's warm, my dear Morozushko!

Every time the Morozko makes it more difficult for her yet she never complains and for that quality, she is being rewarded in the tales, and for not having those qualities in them, the sister or stepmother gets punished, because execution of the threat which put a particular social construct in a situation for distortion. The construct of the mother figure is a symbol of goodness (because she brings only goodness, by getting everything her child needs, so society wants every mother to be one, who cares for her child and provides her everything.

Since the priest caste is the highest caste, it wants a scale of values that evokes its priestly role throughout its entire spectrum of meanings. So, for instance, the terms "pure" and "impure" first exist as indicators of one's social station, and later, the terms "good" and "bad" emerge that do not anymore denote social position. The "pure man" is from the start simply a man who washes himself, who forbids himself certain foods which produce diseases of the skin, who doesn't sleep with the dirty women of the lower people, who has a horror of blood—no more, not much more! For example, we can take priests in Christianity, and Brahmins in the Indian context, they all set the rules and parameters of good, make chants, and possess it, they set many rituals, that help them to hold the possession of others. They forbid meat eating, they keep themselves always clean, and nobody is cleaner than a priest, as he can perform any rituals at any time.

The noble type of man regards HIMSELF as a determiner of values - he does not require to be approved of; he passes the judgment: "What is injurious to me is injurious in itself;" he knows that it is he himself only who confers honor on things; he is a CREATOR OF VALUES.

Among the priests, everything mentioned above becomes more dangerous—not only the remedies and arts of healing, but also pride, vengeance, mental acuity, excess, love, thirst for power, virtue, illness—although it's fair enough to add that on the foundation of this basically dangerous form of human existence, the priest, for the first time the human being became, in general, an interesting animal, that

here the human soul first attained depth in a higher sense and became evil—and, indeed, these are the two fundamental reasons for humanity's superiority, up to now, over other animals.

Among the priests including top place occupiers in any structure has a set of rule, whatever the set of rules are, which are already set to preserve the system, above them, everything is dangerous – including remedies, the art of healing, including pride, vengeance, mental acuity, excess, love, thirst for power, virtue, illness.

Nietzsche gives an example of lambs and bird of prey to explain the origin of the "good,". That lambs are annoyed at the great predatory birds is not a strange thing, and the fact that they snatch away small lambs provides no reason for holding anything against these large birds of prey. And if the lambs say among themselves, "These predatory birds are evil—and whoever is least like a predatory bird—and especially anyone who is like its opposite, a lamb—shouldn't that animal be good?" there is nothing to find fault with in this setting up of an ideal, except for the fact that the birds of prey might look down with a little mockery and perhaps say to themselves, "We are not at all annoyed with these good lambs—we even love them. Nothing is tastier than a tender lamb."

The lambs are having a high value for the prey, hence the lambs are good for the prey, as they do not bring any harm to them but only benefit. On the other hand, the bird of prey is not show any goodness and brings only danger to the lambs, so according to the lambs' prospect, the birds of prey are bad. In his essay, he continues: Men with a still natural nature, barbarians in every terrible sense of the word, men of prey, still in possession of unbroken strength of will and desire for power, threw themselves upon weaker, more moral, more peaceful races (perhaps trading or cattle-rearing communities). At the commencement, the noble caste was always the barbarian caste: their superiority did not consist first of all in their physical, but in their psychical power—they were more complete men (which at every point also implies the same as "more complete beasts").

Furthermore, we have noticed that values are played a role in establishing the meaning of good and bad in folktales. For example, the action of stealing instantly affect one financially, emotionally, and psychologically. The action of stealing is considered as bad and being robbed made the victim good, the one is considered as good, who paid the price for the possession or earned it through the sacrifice of something was made and fulfilling social norms to achieve something is called legal procedure.

The tale "Bolshebnoe Koltso (The magical ring)" or Indoor ka quila: the passion of the ring first changes from the mother/father of the snake to the farmer, as while saving his/her son, the farmer pays the price and take the possession of the Ring, which makes him worthy and good as well. On the other hand, shifting the passion of the ring to the daughter of the king takes place in illegal way, hence he is considered as bad and being executed for that.

Those qualities that serve to alleviate the existence of sufferers are brought to the front and flushed with light; it is here that sympathy, the kind, helpful hand, the warm heart, patience, diligence, humility, and friendliness attain to honor; for here these are the most useful morals, the morality of utility is essentially for slave-morality.

Here is the seat of the origin of the famous antithesis "good" and "evil": —power and dangerousness are assumed to reside in the evil, a certain dreadfulness, subtlety, and strength, which do not admit of being despised. According to slave morality, therefore, the "evil" man arouses fear; according to master morality, it is precisely the "good" man who arouses fear and seeks to arouse it, while the bad man is regarded as the despicable being. The contrast attains its maximum when, in accordance with the logical consequences of slave-morality, a shade of depreciation—it may be slight and well-intentioned—at last attaches itself to the "good" man of this morality; because, according to the servile mode of thought, the good man must in any case be the SAFE man.

To understand the above idea, let me give an example of a Magadhi Folktale "Swarnputri". In This tale, the fear is aroused by the Priest (Brahman). The Brahmin says to the King: Your daughter has been born with a very destructive fate, execute her if you want to save your kingdom. Here the slave morality of the king is highlighted, the king could not deny this request, because he wondered how a holy man could lie. The king believes them, because he is would be considered as bad, if would had not done,

what the Brahmins were saying. According to the Brahminical structure, the Brahmins are the ones, who set the rules and they only have the master morality and the king has slave morality according to Nietzsche the good man must be the safe man, hence the king agreed to execute his daughter to save his kingdom. At the end of the tale, as it is a tale of common folks, the daughter is being saved and the Brahmins are being executed, defying the code of society, where Brahmins are not supposed to be punished.

Folktales are very interesting, does not matter, what is set as good or bad, it is evaluated on humanitarian grounds. Before passing the judgment to the convict is evaluated on humanitarian grounds also social constructs are being taken into account, first the setup is explained or reflects how the law works and how morality and wisdom are used, in passing on the judgment of those common people, who are living in it; and then judgment is delivered, it may either be according to the existing law or against it, sometimes the law is broke in the folktales to pass on the judgment. Social constructs are used in a folktale as tools, without which, it is impossible to create and localize a folktale, make things good and bad or describe, how our society is.

To understand the slave morality described by Nietzsche, if we take examples of any folktales of step-mother: Cinderella or a Russian tale "Морозко", in Magadhi, "Seet Basant" any other tale of stepmothers, in all tales the girl is being rewarded, who has suffered all of her life, why? For being truthful, who worked tirelessly, for being polite and humble, for being a person, who does not have a rebellious nature, she takes all suffering without complaining about anything. What is the job of a slave, to take care of his master at any cost, the girls are projected in the same sense. At the end of the story, these traits are rewarded either with a prince, wealth, or what is considered wealth in that context, because they set a perfect example of how a girl should behave or be like. If any girl fulfills the characteristics of the protagonist of the tale, she will be considered as good. So, in order to preserve the social construction of women in a particular context or says in a patriarchal society, the tale is being told. Why the morozko rewards the girl? he tests her slave morality (nature to bear everything, without complaining).

Folktales and other forms of folk wisdom are a rich source of moral ideas. They are not just mere stories. They contain the standards of what is good and what is wrong according to a particular society. The advantage of drawing folktales to the ambit of jurisprudence is that they overcome the major argument against the dependence of the validity of law or moral. Law is for a legal positivist it makes no something certain and clear, while folk wisdom is a body of morality with content which varies from person to person.

Conclusion

Folktales are more than just stories; they are powerful reflections of societal values, power structures, and moral codes. By examining the way morality is constructed in these tales, we can gain a deeper understanding of how societies function and how power dynamics influence perceptions of good and bad. The narratives of folktales teach valuable lessons about justice, sacrifice, and the consequences of one's actions, often highlighting the importance of upholding social norms and legal processes. Through the lens of philosophers like Nietzsche and Foucault, we see that morality is not just a fixed set of standards but a dynamic construct shaped by those in power and those who challenge it. Ultimately, folktales preserve the moral codes that guide societies, reminding us of the importance of cooperation, justice, and humanity. Whether in Russian, Magahi, or other cultural contexts, folktales continue to be a rich source of moral and ethical teachings, valuable for understanding the social constructs of both the past and the present.

All the tale from Magadh region included in this article is for the analysis are collected form my fieldwork.

Reference

- Afanaseev, Aleksandr, Russian folktales, Moscow, 2019 (P-43-49).
- Campa, Arthur L. "Folklore and History." *Western Folklore*, vol. 24, no. 1, 1965, pp. 1–5. *JSTOR*, https://doi.org/10.2307/1498853. Accessed 5 Jan. 2024.
- Cheryl de la Rey, et al. "Beyond the Masks." Agenda: Empowering Women for Gender Equity, no. 32, 1997, pp. 17–23. JSTOR, https://

doi.org/10.2307/4066148. Accessed 18 Sept. 2023

- Chuguevskaia, Anastasiia (2017). The Loss of Oral Traditions in the Far East Russia: Future of the Community. Ge-conservación, 149-156.
- Dahal, Hikmat and Balaram Bhatta (2021). Folktales: A Moral Message from the Past to the Future Generation. Nepal Journal of Multidisciplinary Research, Vol. 4, No. 1, 31-43.
- Dundes, Alan (2007). The Meaning of Folklore : The Analytical Essays of Alan Dundes / edited and introduced by Simon J. Bronner. Utah: Utah State Universtiy Press.
- Dundes, Alan, Interpreting folklore, Indiana university press, Bloomington, 1980.
- Emrich, Duncan. "'Folk-Lore': William John Thoms." California Folklore Quarterly, vol. 5, no. 4, 1946, pp. 355–74. JSTOR, https://doi.org/10.2307/1495929. Accessed 29 Nov. 2023.
- Fanani, Abu & et al. (2014). Wisdom as Motif in Folktales The Good Peasent's Don. Prosodi, 1-10.
- Foucault, M. (1980). *Power/Knowledge: Selected Interviews and Other Writings, 1972-1977*. Pantheon Books.
- Hae-ri Kim, The Role of Folktales Today, http://asianfolktales.unescoapceiu.org/pdf/The%20Role%20of%20Folktales%20Today.pdf. Accessed on 24-01-23
- Haring, Lee. "Context, History, Interpretation." *How to Read a Folktale: The "Ibonia" Epic from Madagascar*, 1st ed., vol. 4, Open Book Publishers, 2013, pp. 37–56. *JSTOR*, https://doi.org/10.2307/j.ctt5vjtj7.9. Accessed 2 Dec. 2023.
- José Antonio Marina, Genealogy of Morality and Law, Published by: Springer, https://www.jstor.org/stable/27504145 accessed on- 12-06-23
- Moniz, Ariel (2016). The Voice of a Culture: Folktales in Russia. HOHONU Vol.16 (pp. 47-54). Hilo: University Of Hawaii.
- Muchnic, Helen. "The Concept of Tragedy in Russian and Soviet Literature." The Russian Review, vol. 23, no. 1, 1964, pp. 25–34. JSTOR, https://doi.org/10.2307/126449. Accessed 12 Dec. 2022.
- Nietzsche, F. (2003). *On the Genealogy of Morality* (C. Diethe, Trans.). Cambridge University Press.
- Propp, Vladimir, Morphology of folktales, Mansfield Centre. CT, 2015
- Propp, Vladimir, Theory and History of Folklore, University of Minnesota, 1984.
- Ramanujan. "WHO NEEDS FOLKLORE? Ramanujan on Folklore." *Indian Literature*, vol. 37, no. 4 (162), 1994, pp. 93–106. *JSTOR*, http://www.jstor.org/stable/23337198. Accessed 1 Dec. 2023.
- Shytov, A. (2008). Folktales as the Source of Law. ARSP: Archiv Für Rechts- Und Sozialphilosophie / Archives for Philosophy of Law and Social Philosophy, 94(3), 325-336. Retrieved March 23, 2021, from http://www.jstor.org/stable/23680880
- Speer, Speer A. (2005). Gender Talk: Feminism, Discourse and Conversation Analysis. New York: Routledge.
- Vedantu, Panchatantra Stories and Its Meaning, https://www.vedantu.com/stories/about-panchatantra-tales Accessed on 10/09/2023
- Verma, Sheela, Magahi Folklore and Folktales, Manohar, New Delhi, 2008. P – 48.

****

Swami Vivekananda's Teachings, Philosophies and Missions

-Dr. Mamta Rani
Assistant Professor, Department of Political Science
BAR Janta College, Kaul (Kaithal) Haryana

Abstract
Millions of people all around the world are still inspired by Swami Vivekananda's teachings and ideas because they provide significant new perspectives on spirituality, self-realization, and human existence. His philosophy, which has its roots in Vedanta, highlights the harmony of religions, the unity of God, and the unity of all beings. He promoted the realization of this divinity via service, education, and dedication because he felt that every person has limitless potential. Karma Yoga, one of his central teachings, emphasizes the value of selfless conduct without attachment to results and is still a timeless manual for advancement in both society and the individual. Additionally, Swami Vivekananda promoted the notion that success and self-mastery are based on one's physical and spiritual strength. He encouraged young people to grow in courage, confidence, and character because he believed that education is the expression of perfection that each and every one of us possesses. He based his vision of a worldwide spiritual renaissance on tolerance, brotherhood among all people, and an understanding of the fundamental similarities between many cultures and faiths. He promoted the empowerment of women and the uplift of the oppressed while igniting pride in India's rich spiritual legacy through his writings and lectures. His teachings on moral rectitude, self-empowerment, and national renewal have had a lasting impact on contemporary India. His teachings encourage people to pursue excellence and develop a virtuous, well-rounded way of living.

Keywords: Vedanta, Karma Yoga, self-realization, spiritual strength, universal brotherhood, global harmony.

Swami Vivekananda, born as Narendranath Datta on January 12, 1863, in Kolkata, is one of the most venerated spiritual leaders and philosophers of contemporary India. His life and work represent the ideas of service, self-realization, and universalism, which continue to resonate with people across the world. The mystic saint Sri Ramakrishna Paramhansa, of whom Vivekananda was a direct disciple, had a great influence on his spiritual development. A scholar, philosopher, and reformer, Vivekananda was instrumental in bringing Indian spiritual traditions—especially the teachings of Yoga and Vedanta—to the West at a period when India was struggling with identity crises and colonial oppression. His impact on political philosophy, education, and the Indian social justice movement went beyond religious instruction.

Early in his life, Swami Vivekananda was driven by a mix of spiritual longing and academic curiosity. He was exposed to both contemporary Western schooling and traditional Hindu culture while growing up in a wealthy Bengali family. He was an exceptionally gifted student who did exceptionally well in a variety of topics, such as literature, philosophy, and history. But it was his insatiable curiosity about spirituality that drove him to look for mentors and teachers. His life changed significantly when he met Ramakrishna in 1881. Narendranath had deep spiritual awakenings under Ramakrishna's tutelage, discovering the divinity inherent in all beings and the interconnectedness of all religions.

Vivekananda assumed monastic vows and set out on a quest to disseminate his master's teachings following Ramakrishna's death in 1886. He interacted with people from a variety of social, economic, and religious backgrounds during his years of travel throughout India. Vivekananda witnessed firsthand the extreme poverty, illiteracy, and inequality that afflicted Indian society throughout these journeys. His experiences heightened his empathy and motivated him to work towards the general public's elevation, stressing both financial and spiritual well-being.

During a momentous speech at the World Parliament of Religions in Chicago in 1893, Swami Vivekananda enthralled the crowd with his remarks, "Sisters and brothers of America." He became an international hero and a representative of Hindu philosophy thanks to his eloquence and message of brotherhood. Vivekananda spread the teachings of yoga and Vedanta throughout his extended travels in the West during the ensuing years. His work resulted in the founding of Vedanta Societies in the United States and Europe as well as the international dissemination of Indian philosophy.

It is impossible to overestimate Swami Vive-

kananda's impact on Indian spirituality. India's trust in its spiritual legacy was resurrected by Vivekananda's teachings during a period of cultural decline brought on by British colonisation. Through the integration of contemporary ideas of progress and reason with the age-old knowledge found in the Vedas and Upanishads, Vivekananda brought Indian philosophy within the reach of a wider public. He stressed the significance of realising one's own divine essence via self-awareness, meditation, and service to others, as well as the innate divinity present in every human being. His advocacy of Vedanta, a philosophy that holds that all beings are interrelated and that existence is one, gave philosophers and those seeking a spiritual path a strong logical basis.

Around the world, Vivekananda is known for bringing Indian spiritual traditions to the West. His publications and lectures on religious universalism, yoga, and Vedanta were groundbreaking because they questioned the Western-centric view of spirituality and religion. In contrast to the dominant dogmatic inclinations in both the East and the West, his claim that all religions are legitimate routes to God was a radical one. Western philosophers like Aldous Huxley, Christopher Isherwood, and Joseph Campbell were significantly affected by Vivekananda's ideas. His theories promoted religious concord and tolerance and helped to shape

The teachings of Swami Vivekananda also struck a chord with prominent scientists, intellectuals, and political figures of the day. He served as an inspiration to leaders like Sarvepalli Radhakrishnan, Subhas Chandra Bose, and Mahatma Gandhi, who recognised in him the epitome of a leader who could combine action with spirituality. Gandhi really admitted that Vivekananda was the one who initially exposed him to the notion of the "service of the poor as service to God." Many leaders in India's independence movement took inspiration from Vivekananda's vision of a socially just and spiritually awakened India.

The lessons of Swami Vivekananda are still very applicable in the twenty-first century. It is more crucial than ever to heed his call for social justice, religious harmony, and worldwide brotherhood in the face of difficulties like racial prejudice, religious fanaticism, and pervasive injustice. His teachings, which place a strong emphasis on empathy, compassion, and the worth of every person, provide a response to the moral and ethical problems that face humanity. A timeless lesson from Vivekananda is the value of inner strength and independence. The maxim "Arise, awake, and stop not until the goal is reached" embodies his concept of fearlessness and tenacity, which can motivate people to overcome challenges in both their personal and professional life even today. Moreover, Vivekananda's vision of education as the foundation of human excellence is vital in today's globalized world. He advocated for an education system that builds character, strengthens the intellect, and fosters a sense of social responsibility. In an era where education is often seen merely as a means to material success, Vivekananda's emphasis on holistic development serves as a powerful reminder of the true purpose of learning.

Ultimately, his efforts to foster interfaith understanding and his conviction that all religions are fundamentally one provide a much-needed counterbalance to the division and sectarianism that are pervasive in many regions of the world today. Swami Vivekananda's ideas offer a timeless framework for creating a more compassionate and inclusive society in an increasingly linked world.

Essentially, Swami Vivekananda's teachings on spirituality, personal growth, and social change continue to be a beacon of hope for people and societies, providing insight and motivation to successfully negotiate the challenges of contemporary life.

Initially in life, Vivekananda's curiosity about ideas was apparent. He was an exceptional scholar, showing proficiency in a range of disciplines such as Western philosophy, literature, history, and philosophy. He had a voracious reading habit and a strong curiosity about metaphysics, science, and religion. Vivekananda was influenced by Western philosophers such as Immanuel Kant, Herbert Spencer, and John Stuart Mill. Despite his rationality, he had doubts about the existence of God and the meaning of life. His search for a direct spiritual experience and an intellectual feast were not satiated by any of the several spiritual doctrines and groups he investigated as a result of this philosophical inquiry. I

Narendranath continued to excel academically at the General Assembly's Institution (now known as the Scottish Church College) after enrolling there in 1881. But his existential problems never went away, and he would regularly ask religious leaders of the day, "Have you seen God?" Soon, a meeting that would drastically alter his life's path would provide the solution to his search for holy truth.

When Narendranath met Sri Ramakrishna Paramhansa, a mystic and temple priest of Dakshineswar, in 1881, his spiritual path took a dramatic turn. Narendranath was profoundly impacted by Ramakrishna's simplicity, profound spirituality, and infantile love for the Divine Mother, Kali, despite his early scepticism and his Western-influenced reasoning intellect. Ramakrishna asserted, in contrast to other spiritual leaders, that he had seen God and could guide others to feel the divine presence. Narendranath connected with this statement since he had been looking for a genuine experience like this.

After realising Narendranath's extraordinary potential, Ramakrishna progressively took on the role of spiritual guide. Narendranath realised the unity of life and entered profound mystical realms while guided by Ramakrishna. The most important of these was his realisation of Advaita Vedanta, the philosophy which holds that the individual soul (Atman) is the same as the universal soul (Brahman) and that everything in the universe is interrelated. This deep realisation freed him from his previous doubts and served as the basis for his later lectures on the divinity inherent in all people and the unity of all religions.

Over time, Ramakrishna and Narendranath's spiritual relationship grew stronger as Ramakrishna shared with his young disciple the core of his own spiritual experiences. Following Ramakrishna's demise in 1886, Narendranath—now known as Swami Vivekananda—renounced material existence and embarked on a spiritual exploration tour throughout India. During his years of wandering, he was exposed to India's social and economic challenges, which shaped his vision for the material and spiritual advancement of the majority.

When Swami Vivekananda represented Hinduism at the Chicago-based World Parliament of Religions in 1893, his spiritual quest took a global direction. The famous address delivered by Vivekananda on September 11, 1893, opened with the phrase "Sisters and brothers of America." With this straightforward but thought-provoking speech, he instantly captured the hearts of the audience and gained him international renown. Throughout his address, Vivekananda emphasised how all religions are fundamentally the same, saying that different faiths are just different routes leading to the same ultimate truth.

His appeal for religious concord and tolerance was groundbreaking, particularly during a period when doctrinal disagreements and sectarianism were rampant. When Vivekananda attended the Parliament, Western perceptions of Indian spirituality—where Hinduism had been mainly misinterpreted—were given a fresh perspective.

Paranjape writes in *Swami Vivekananda: A Contemporary Reader*, "**By presenting Vedanta as a rational philosophy compatible with modern science, Vivekananda attracted Western intellectuals and thinkers"** (p. 157). Vivekananda's serene manner, profound comprehension of spiritual principles, and eloquence left a profound impact on academics and laypeople alike. The speech established Swami Vivekananda as one of India's most important spiritual ambassadors and signalled the start of a new chapter in the global expansion of Vedanta

After delivering his address at the World Parliament of Religions, Vivekananda lectured about Vedanta, yoga, and India's spiritual legacy for several years across the US and Europe. His teachings on the harmony of religions, the unity of reality, and the potential divinity of the human soul struck a chord with Western audiences, especially with intellectuals and seekers who were fed up with materialism and dogmatic religion, "**He preached a religion that did not demand renunciation of the world but encouraged participation in it, with selflessness and service at its core" (**p. 72).

Vedanta Societies were founded in several Western nations as a result of Vivekananda's magnetic personality and profound philosophical understanding. These centres developed into significant hubs for the study and application of yoga, meditation, and Vedanta. In addition to bringing Indian philosophy to the West, his work stimulated a cross-cultural dialogue that influenced Western intellectuals, spiritual authorities, and even the emerging science of psychology, as evidenced by the writings of William James and Carl Jung.

Swami Vivekananda established the Ramakrishna Mission in 1897 upon his return to India. The mission is devoted to the teachings of his mentor, Ramakrishna Paramhansa. The mission was founded with the twin objectives of advancing spiritual enlightenment and providing altruistic service to humanity. Motivated by the principles of Advaita Vedanta, Vivekananda felt that serving humanity was the ultimate act of worship as each and every person is endowed with divinity.

The Ramakrishna Mission was exceptional in that it combined social work with spiritual development. Vivekananda's goal was to improve society by tackling problems with poverty, education, and healthcare, in contrast to conventional monastic institutions that were only concerned with the redemption of the individual. The Sanskrit phrase "Atmano mokshartham jagat hitaya cha"—for the freedom of the self and the welfare of the world—served as the mission's compass.

The Ramakrishna Mission had a profound impact on Indian society in a number of ways. Education was the primary focus of its programs. Vivekananda advocated for an educational system that fostered people's moral and intellectual development since he thought that education was the cornerstone of national development. The mission founded universities, colleges, and centres for vocational training that offered all-encompassing education based on moral and spiritual principles. The Ramakrishna Mission actively entered the healthcare industry in addition to education, building clinics and hospitals to offer the underprivileged free or reasonably priced medical care.

. The mission's response to natural calamities, like floods and famines, further demonstrated its dedication to selfless service. The Ramakrishna Mission, which is still active today all over the world, embodies Vivekananda's dream of a society that is both socially conscious and spiritually aware. Millions of lives have been impacted by the mission's work, which preserves and advances the principles of empathy, altruism, and universal brotherhood that Swami Vivekananda advocated.

The power of self-realization and inner strength, according to Swami Vivekananda, is essential for both individual and societal reform. He thought that developing self-control and engaging in in-depth reflection are the first steps on the path to self-awareness. Vivekananda saw meditation as a disciplined way to discover each person's infinite potential as well as a spiritual practice. One could develop mental control, increased self-awareness, and mental clarity through meditation. He maintained that conquering this self-mastery was necessary to get over the hindrances and diversions of everyday living.

Vivekananda's famous words, "Arise, awake, and stop not until the goal is reached," perfectly capture his appeal for bravery and unwavering self-belief. He exhorted people to overcome their obstacles, face their worries, and pursue their goals with unshakable resolve. This motto served as a strong call to action for empowerment, urging individuals to take responsibility for their lives, acknowledge their innate divinity, and face life's obstacles head-on. Fearlessness, according to Vivekananda, is the basis for all spiritual development and arises from a profound understanding that the soul is immortal and unbreakable. People could overcome fear and enjoy their full potential after realizing this.

In his teachings on karma yoga, or the path of selfless action, Vivekananda emphasized the value of perseverance and hard effort. He saw work as a kind of devotion in which one may use deliberate action to harmonize with the larger cosmic order. He did, however, emphasize the need for nishkama karma—a detached, altruistic labor ethic. This method involves carrying out tasks without regard for the outcome, realizing that true fulfillment stems from the good intentions that underpin the effort rather than the product. According to Vivekananda, selfless labor purifies the heart and brings spiritual emancipation. He believed that this way of thinking was crucial for advancement on both a personal and societal level, encouraging people to diligently perform their tasks without getting caught up in the success or failure of them.

In his advocacy of a holistic philosophy of life, Swami Vivekananda emphasized the unity of the body, mind, and soul. He held that the development of the body, mind, and spirit were intertwined and that a healthy balance between these facets was essential to overall well-being. His yoga teachings, especially in the area of raja yoga, provide a structure for striking this equilibrium. According to Vivekananda, yoga was a way to raise one's spiritual consciousness, physical energy, and mental clarity by uniting oneself with the universal consciousness. People could develop both inner strength and exterior well-being by fusing mental discipline through meditation and ethical behavior with physical activities like asanas (postures). According to Vivekananda, achieving one's full potential and leading a purposeful life requires this union of the body, intellect, and soul.

Swami Vivekananda's teachings resonate profoundly in today's world, addressing both spiritual and societal challenges. In an age where materialism, individualism, and mental stress often dominate, his call for self-realization, inner strength, and spiritual awareness offers a transformative perspective. His emphasis on meditation, self-control, and fearlessness provides an antidote to the widespread anxiety and uncertainty that people face today. Moreover, Vivekananda's ideas on social responsibility and service to humanity align with the growing global consciousness around social justice and human rights.

One of his most relevant contributions to contemporary discourse is his advocacy for interfaith harmony. In a world increasingly divided by religious conflicts, his message of the unity of all religions, as expressed in his famous 1893 Chicago speech at the World Parliament of Religions, continues to inspire efforts toward global peace. Sharma aptly write in *The Spiritual Heritage of India,* "**Vivekananda's Chicago address was not merely a historical moment for Hinduism, but a pivotal point in global religious discourse, underscoring the universality of spiritual truth"** (p. 145.) Vivekananda championed the idea that all faiths lead to the same ultimate truth, encouraging mutual respect and understanding among different religious communities. This vision is especially significant in today's multicultural, globalized world.

Swami Vivekananda remains a beacon of inspiration for youth around the world. His message of self-confidence, resilience, and fearlessness resonates deeply with young people facing the pressures of modern life. In his call to "Arise, awake, and stop not until the goal is reached," he encouraged the youth to pursue their aspirations with determination, reminding them of their inner strength and infinite potential. His teachings underscore the importance of character-building, integrity, and discipline—qualities essential for personal and societal progress.

Vivekananda's belief in the power of the youth as agents of change remains vital today, as young people play a key role in addressing global challenges such as climate change, social inequality, and political unrest. His message empowers youth to rise above their circumstances, embrace their roles as global citizens, and contribute meaningfully to society.

Swami Vivekananda's ideas had a significant impact on Western intellectuals and were essential to Vedanta's global dissemination. Bhuyan writes in *Swami Vivekananda: Messiah of Resurgent India*, "**Swami Vivekananda's message of Vedanta has continued to resonate across generations, for it offers a path to both individual and collective spiritual upliftment"** (p. 45). His teachings on yoga and Vedanta in the US and Europe exposed Western audiences to Indian spirituality and transformed their perceptions of philosophy and religion. His ideas served as an inspiration for intellectuals such as William James and Carl Jung, who incorporated elements of Vedanta into their works.

Modern initiatives centered on selfless service, spiritual awareness, and international harmony are still motivated by Vivekananda's legacy. His teachings had a profound impact on a wide range of people, including Mahatma Gandhi and modern spiritual figures like Sri Aurobindo and Paramahansa Yogananda. His theories have also influenced the contemporary yoga movement, uniting East and West in their pursuit of world peace and self-realization.

In conclusion, Swami Vivekananda's teachings are still incredibly applicable to today's spiritual, ethical, and societal issues. His focus on interfaith harmony, bravery, and self-realization offers enduring wisdom to both people and society. Generations of young people are still empowered by Vivekananda's message of perseverance and self-assurance. His worldwide contributions to the dissemination of Vedanta and the promotion of intercultural understanding have had a profound impact on both Eastern and Western philosophy. Swami Vivekananda's philosophy, which is based on human potential and universal truths, continues to motivate people to work toward social justice, personal development, and world peace.

References

Bhuyan, P.R. *Swami Vivekananda: Messiah of Resurgent India.* Atlantic Publishers, 2003.

Burke, Marie Louise. *Swami Vivekananda in the West: New Discoveries.* Advaita Ashrama, 1985.

Chattopadhyay, Shailendra Nath. *Swami Vivekananda in India: A Corrective Biography.* Motilal Banarsidass Publishers, 1999.

Ganguly, Adwaita P. *Life and Times of Swami Vivekananda.* Advaita Ashrama, 2001.

Letters of Swami Vivekananda. 19th impression, Advaita Ashrama, New Delhi, 2009.

Nikhilananda, Swami. *Vivekananda: A Biography*. Ramakrishna-Vivekananda Center, 1953.

Paranjape, Makarand, editor. *Swami Vivekananda: A Contemporary Reader*. Routledge, 2015.

Sen, Amiya P. *Swami Vivekananda.* Oxford University Press, 2000.

Sharma, Arvind. *The Spiritual Heritage of India: A Historical Overview*. Macmillan India, 2007.

Sil, Narasingha P. *Swami Vivekananda: A Reassessment.* Susquehanna University Press, 1997.

Swami Adiswarananda. *The Vedanta Way to Peace and Happiness.* Skylight Path Publications, 2004.

Swami Ananyananda. *Ramakrishna: A Biography in Pictures.* Advaita Ashrama, 1981.

Swami Vivekananda. *Swami Vivekananda on India and Her Problems.* Advaita Ashrama, 1976.

Teelock, Vijay. *Swami Vivekananda: The Living Vedanta.* Penguin Books, 2007.

Virajananda, Swami, editor. *Reminiscences of Swami Vivekananda.* 2nd edition, Advaita Ashrama, 1960.

******

साहित्य क्या है?

-कु. ज्योति
पी.एच. डी (शोधार्थी) दिल्ली विश्वविद्यालय
पता- 2551,द्वितीय तल, जी.टी.बी नगर,
दिल्ली -110009

शोध-सार - समस्त ब्रह्माण में मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो अपने नवरस को अभिव्यक्ति प्रदान कर सकता है।जिन शब्द चित के माध्यम से वह भावों, विचारो को प्रकट करते हैं उसे साहित्य कहते हैं। मानव के अविर्भाव से लेकर वर्तमान तक मनुष्य का ज्ञान, भाव,अनुभव, विचार आदि का भंडार साहित्य में ही सिंचित है। इसीलिए साहित्य को समाज की संवेदनाओं का कोष कहा जाता है। इस दृष्टि से साहित्य, मानव समाज की संवेदनाओं की श्वास है। मूलतः साहित्य सत्य के अन्वेषण की साधना और सौंदर्य की अभिव्यंजना भी है। विशुद्ध जीवन एवं उच्च सत साहित्य मानव और समाज की संवेदना और उसकी आने वाली पीढ़ियों में संचारित करता रहता है। यही कारण है कि शेक्सपियर, तुलसीदास की कृतियां आज भी समाज को दशा दिशा प्रदान करती है।

बीज शब्द - साहित्य, समाज, जीवन, मनुष्य, संवेदना, अनुभूति, आलोचना, उद्देश्य, प्रयोजन, आनंद, सुंदर, सत्य

मूल-आलेख:-समय-समय पर साहित्य को अनेक विद्वानो द्वारा परिभाषित करने का प्रयास किया गया है। जिसमें संस्कृत साहित्य में भरतमुनि से लेकर हिन्दी में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक की एक लम्बी श्रृंखला है।

साहित्य शब्द का विग्रह दो प्रकार से किया जा सकता है। सहित = स+हित अर्थात् हित ही साहित्य है। संस्कृत में साहित्य के लिए वाङमय शब्द प्रयुक्त करते है। इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'धा' धातु में 'समू' उपसर्ग और 'यत्' प्रत्यय लगने से हुई है। अंग्रेजी में साहित्य शब्द Literature का पर्याय है जिसकी उत्पत्ति लैटिन शब्द (लिटरा, लिटरेटर या लिटरेटस) का एक संशोधित रूप है, अर्थात् 'अक्षरों से बना लेखन' यह विशेष रूप से लेखन का एक कलात्मक या बौद्धिक कार्य है। अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार – "किसी भाषा, काल कार्यों का निकाय।"

साहित्य शब्द का प्रयोग 7-8 वें शताब्दी से मिलता है। इससे पूर्व साहित्य शब्द के लिए काव्य शब्द का प्रयोग होता था, लेकिन आज काव्य का अर्थ केवल कविता है और साहित्य शब्द को व्यापक अर्थ में लिया जाता है। साहित्य का तात्पर्य अब कविता, कहानी, उपन्यास,नाटक, आत्मकथा अर्थात गद्य तथा पद्य की सभी विधाओं से है। संस्कृत साहित्य मे साहित्य स्वरूप विश्लेषण का प्रारम्भ आचार्य भरतमुनि के नाट्यशास्त्र, से माना जाता है। यद्यपि नाट्यशास्त्र का प्रमुख विवेच्य विषय नाट्य है। लेकिन प्रसंगवश साहित्य स्वरूप का विश्लेषण भी इसमें हुआ है। साहित्य स्वरूप को स्वतंत्र रूप से विश्लेषित करने का प्रथम प्रयास 'अग्निपुराण' में देखा जा सकता है। जिसके रचियता वेदव्यास है-

"संक्षेपाद्वाक्यमिष्टार्थव्यवच्छिना पदावली। काव्यं स्फुरदलंकार गुणवदोषवर्जितम्।।"

अर्थात्- संक्षेप में इष्ट अर्थ को प्रकट करनेवाली पदावली से युक्त ऐसा वाक्य काव्य है जिसमें अलंकार प्रकट हो और जो दोष रहित और गुणयुक्त हो।" आचार्य भामह ने अपनी कृति 'काव्यालंकार' में साहित्य की परिभाषा 'शब्दार्थो सहितो काव्यम्' दी है। भामह प्रथम आचार्य है, जिन्होंने काव्य का लक्षण देते हुए कहा है कि शब्द और अर्थ का सहभाव ही काव्य है। काव्य के लिए शब्द और अर्थ की संगति आवश्यक है। वही आचार्य विश्वनाथ के अनुसार – 'वाक्याम् रसात्मकम् काव्यम्' अर्थात् रसयुक्त वाक्य ही काव्य है। यहां वाक्य का तात्पर्य उन् शब्दो से है जो अर्थयुक्त हो अर्थात् सार्थक शब्द से ही वाक्य बनते हैं। उनके 'रसात्मक' शब्द में काव्य ज्ञात की अनुभूति है।

पाश्चात्य विद्वान प्लेटों के अनुसार- "साहित्य अज्ञान जन्य होता है। साहित्य जीवन से दूर होता है, क्योंकि भौतिक पदार्थ स्वंय ही सत्य की अनुकृति है। फिर साहित्य तो भौतिक पदार्थों की अनुकृति होता है। अतः यह अनुकरण का अनुकरण है।" अरस्तू के अनुसार- Poetry is an imitation of nature through medium of language. अर्थात् साहित्य भाषा के माध्यम से प्रकृति का अनुकरण है। प्लेटो के शिष्य अरस्तू ने साहित्य को राजनीति तथा नीतिशास्त्र की दृष्टि से न देख कर सौंदर्यशास्त्र की दृष्टि से विवेचन किया है। अरस्तू को इस परिभाषा में अनुकरण से तात्पर्य मात्र नकल करना नहीं, बल्कि पुनः सृजन है। इस सृष्टि से अरस्तू के अनुसार "साहित्य जीवन और जगत का कलात्मक और भावनात्मक पुनः सृजन है।" हिन्दी विद्वानों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने साहित्य की परिभाषा देते हुए लिखा है- "कविता जीवन और जगत की अभिव्यक्ति है" आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के अनुसार- "अन्तः करण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है।" जयशंकरप्रसाद के अनुसार – "काव्य आत्मा की संकल्पन संकल्पात्मक अनुभूति है।" संस्कृत, पाश्चात्य व हिन्दी विद्वानों द्वारा प्रदत्त परिभाषा से ज्ञात होता है कि साहित्य की कोई एक निश्चित परिभाषा नहीं है। साहित्य के सन्दर्भ में यह अवश्य कहा जा सकता कि साहित्य की आधाराशीला जीवन है क्योंकि वह जीवन से प्रेरणा प्राप्त भी करता है और जीवन को प्रेरित भी करता है। साहित्य जीवन के सर्वोत्तम सत्य को उद्घाटित करने का ईमानदार प्रयास है। प्रेमचंद भी साहित्य का उद्देश्य यही मानते हैं- "वास्तव में सच्चा आनंद सुंदर और सत्य से मिलता है, उसी आनंद को दर्शाना, वहीं आनंद उत्पन्न करना साहित्य का उद्देश्य है। ऐश्वर्य या भोग के आनंद में ग्लानि छिपी होती है, उससे अरुचि भी हो सकती है,पश्चाताप भी हो सकता है, पर सुंदर से जो आंनद प्राप्त होता है, वह अखंड है, अमर है।" "साहित्य तो हर एक रस में सुंदर खोजता है राजा के महल में, रंक की झोपड़ी के शिखर पर, गंदे नालों के अंदर, ऊषा की लाली में, सावन - भादों की अंधेरी रात में।"

प्रेमचंद मनुष्य के मनोभावों के द्वारा ही साहित्य का विकास मानते हैं और इन्हीं मनोभावों से आनंद का संबंध दर्शते आंनद है- "साहित्य जहाँ आनंद का स्रोत बन जाता है, वहीं वह साहित्य हो जाता है। आनंद का संबंध मनोभावों से है। साहित्य का विकास मनोभावों द्वारा ही होता है।" प्रेमचंद की दृष्टि में साहित्य न तो ज्ञान है और न ही उपदेश है बल्कि वह मृदु भाव है जो मस्तिष्क नहीं बल्कि हृदय की वस्तु है। भाव विहीन रचना नीरस है जो जनता के हृदय में स्थान नहीं पा सकती -"साहित्य मस्तिष्क की वस्तु नहीं, हृदय की वस्तु है जहाँ ज्ञान और उपदेश असफल होता है, वहाँ साहित्य बाजी ले जाता है," "हृदय द्वारा ही जनता की आत्मा तक अपना संदेश

पहुँचाया जा सकता है। प्रेमचंद के अनुसार साहित्य में सच्चाई के साथ-साथ भाषा की प्रौढ़ता व परिमार्जन, भी आवश्यक है- "साहित्य उसी रचना को कहेंगे जिसमें कोई सचाई प्रकट की गई हो, जिसकी भाषा प्रौढ़, परिमार्जित और सुन्दर हो और जिसमें दिल और दिमाग पर असर डालने का गुण हो साहित्य में यह गुण पूर्ण रूप में उसी अवस्था में उत्पन्न होता है, जब उसमें जीवन की सचाईयों और अनुभूतियाँ व्यक्त की गई हों, "साहित्य जीवन की आलोचना है। साहित्य को जीवन की आलोचना और व्याख्या करनी चाहिए।"

जहाँ प्रेमचंद साहित्य की जीवन की आलोचना मानते हैं वहीं निर्मल वर्मा साहित्य में किसी भी प्रकार के प्रयोजन को अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार साहित्य की सार्थकता किसी प्रयोजन की सिद्धि में नहीं बल्कि उसके स्वंय के होने में हैं- "साहित्य जो हमें देता है, उसे हम देखते नहीं या देखकर भी अनदेखा कर देते हैं और जो हम उनसे पाने की आशा करते हैं - कोई जीने का लक्ष्य, कोई विराट सत्य, कोई सहारे का संबल उसके बारे में वह कुछ भी नहीं कहता, चुप रहता है और हम एक बार भी नहीं सोचते कि शायद उसकी चुप्पी में ही कोई ऐसा भेद छिपा है, जिसे हम नहीं सुन पाते। "साहित्य में प्रयोजन ढूंढ़ने की हविश में हमें यह भय कचोटता है कि कहीं साहित्य हमारे अपने होने के प्रयोजन पर प्रश्नचिन्ह न लगा दे|

निर्मल वर्मा साहित्य को किसी विशेष प्रयास द्वारा किया गया कार्य नहीं मानते बल्कि वे बाहर के सभी घटाटोप के बाद मन की शांति हेतु या थकान के बाद राहत देने का कार्य मानते है। उनके लिए साहित्य, न मनोरंजन है न ज्ञान और न ही उसके लिए पूर्व- नियोजित कोई तय उद्देश्य होता है। साहित्य पाठको की वो अनुभूति या स्मृति प्रदान करता है जो विस्मृत हो चुका है। या काव्यशास्त्र के शब्दों में उसके स्थायी को जागृत करता है।

"साहित्य की अपनी आवाज़ है जिसमें हर पाठक अपने को सुनता है, जो विस्मृत है, उसमें अपने को पुनर्जीवित करता है, अदृश्य को अपनी दृष्टि में साकार करता है।" "साहित्य जितना ही अधिक मनुष्य को अपने अर्थों से सम्पन्न और समृद्ध करता चलेगा उतना ही स्वंय किसी भी प्रयोजन से रिक्त होता जाएगा। प्रयोजन मुक्त साहित्य में ही अर्थ-युक्त मनुष्य की छवि देखी जा सकेगी,"

निर्मल वर्मा प्रयोजन मुक्त साहित्य को ही अर्थयुक्त साहित्य मानते हैं। साहित्य के लिए पहले से ही उद्देश्य तय कर देने से वह अपने प्राकृतिक गुण से विलग हो जाएगा|

"यदि हम किसी साहित्यिक कृति को उसके प्रयोजनों,उद्देश्यों, लक्ष्यों के कुहासे से बाहर निकालकर केवल उसके 'आत्यन्तिक सत्य' पर अपने को एकाग्र कर सकें तो हम उसकी सच्ची मूल्यवता को भी पहचान सकेंगे,"

लेकिन प्रेमचंद साहित्य का उद्देश्य जीवन के ज़रूरी प्रश्नो को रेखांकित कर परिस्थितियों के संदर्भ में जीवन का विश्लेषण करना साहित्य का ध्येय मानते है। प्रेमचंद साहित्य को समाज का स्रष्टा मानते है। जो मानव जीवन को दिशा देने का कार्य करता है।

साहित्य सामाजिक आदर्शो का स्रष्टा है।

xxxxxxxxxxxxxxxxxxx

xxxxxxxxxxxxxxxxxxxx

भारतीय साहित्य का आदर्श उसका त्याग और उत्सर्ग है। भारत अपने को उस समय कृतकार्य समझता है जब उसमें भोग और अधिकार का मोह नहीं रहता, किसी राष्ट्र की सबसे मूल्यवान सम्पत्ति उसके साहित्यिक आदर्श होते हैं।"

"साहित्य जीवन को स्वभाविक और स्वाधीन बनाता है या उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है।"

साहित्य की सार्थकता तभी है जब किसी रचना को पढ़ने के बाद पाठक ठीक वैसा न रहे जैसाकि वह कृति के अध्ययन से पूर्व था, उसमें गुणात्मक परिवर्तन होना ज़रूरी है। उसके भीतर कुछ रासायनिक बदलाव ही रचना को सार्थकता प्रदान करते है।

"क्या विशेष चीज थी, जो इस रचना के आने से पूर्व नहीं थी, जो अब दिखाई देती है? अत: साहित्य का 'प्रयोजन' कुछ देने में नहीं,अपने होने की अनिवार्यता में बदल जाता है।

हमें लगता है कि बिना उसके हमारा जीवन कितना विपन्न और अधूरा था। अधूरेपन से सम्पूर्णता को ओर यात्रा - यह एक आध्यात्मिक अनुभव है जो एक कलाकृति अपने सर्वोच्च क्षणो में उपलब्ध करती है।"

प्रेमचंद भी साहित्य को कलाकार का आध्यात्मिक सामंजस्य मानते हैं- "साहित्य कलाकार के आध्यात्मिक सामंजस्य का व्यक्त रूप है और सौंदर्य की सृष्टि करता है नाश नहीं। वह हममें वफादारी सचाई, सहानुभूति, न्यायप्रियता और समता के भावो की पुष्टि करता है। जहां इनका अभाव है वहीं फुट है, विरोध स्वार्थपरता है- शत्रुता और मृत्यु है"

"साहित्य जीवन को स्वभाविक और स्वाधीन बनाता है या उसी की बदौलत मन का संस्कार होता है,"

निष्कर्षतः :- साहित्य मनुष्य की अनुभूतियों को जागृत करने का कार्य करता है, साहित्य के द्वारा भिन्न परम्पराओं, समाजों, भाषाओ और संस्कृतियों से अवगत होने का अवसर प्राप्त होता है जिससे कि संवेदनशीलता और सामाजिक जागरूकता का स्वत: ही विकास होता है। साहित्य सामाजिक सद्भाव को प्रश्रय देकर असामान्यताओं को मिटाने का प्रयास करता है सहित्य में जीवन की आलोचना से अधिक जीवन का विश्लेषण कर आदर्श की सृष्टि की जाती जो कि कालजयी और अनुकरणीय बन जाते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ:-

1. नगेन्द्र (डॉ), हिन्दी साहित्य का इतिहास, मयूर पेपरबैक्स, 1973
2. सिंह, बच्चन (डॉ), आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, लोकभारती प्रकाशन, 2013
3. चतुर्वेदी रामस्वरूप, हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास, लोकभारती प्रकाशन, 1986
4. तिवारी रामचन्द्र (डॉ), हिन्दी का प्रकाशन, वाराणसी 2015 गद्य-साहित्य, विश्वविद्यालय
5. गुप्त, गणपतिचन्द्र (डॉ.), भारतीय एवं पाश्चात्य काव्य-सिध्दांत, लोक- । भारती प्रकाशन, 2014
6 वर्मा निर्मल; कला का जोखिम, वाणी प्रकाशन, 2018
7. वर्मा निर्मल, साहित्य का आत्म-सत्य, वाणी प्रकाशन, 2017
8. प्रेमचन्द, कुछ विचार, सरस्वती प्रेस, बनारस, प्र.सं. 1939 ई.
9. प्रेमचन्दः जीवन कला और कृतित्व - हंसराज रहबर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, दूसरा संस्करण, 1962 ई.
10. साहित्य सर्जना - इलाचन्द्र जोशी 11. साहित्यकार की आस्था तथा अन्य निवन्ध - महादेवी वर्मा, लोकभारती प्रकाशन, तृतीय संस्करण 1970ई.
12. शुक्ल, रामचन्द्र (आ), हिन्दी साहित्य का इतिहास - नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, 2005 ई.
13. बाली, तारक नाथ (डॉ), भारतीय काव्यशास्त्र, वाणी प्रकाशन
14. सिंह, बच्चन (डॉ), भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्र का तुलनात्मक अध्ययन, प्रलेक प्रकाशन, 2024
15. द्विवेदी, हजारी प्रसाद, हिन्दी साहित्य का आदिकाल, वाणी प्रकाशन, 2008

****

रामानुजाचार्य सम्मत भक्ति में कर्म और ज्ञान की उपयोगिता

-डॉ. महीप कुमार मीना
संस्कृत विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भारतीय दर्शन परम्परा में ब्रह्मप्राप्ति के तीन मार्ग–कर्म, ज्ञान और भक्ति, तत्त्वजिज्ञासुओं द्वारा स्वीकार किये जाते हैं। इनमें से किस मार्ग के माध्यम से ईश्वर प्राप्ति संभव है? यह प्रश्न सदा से मनीषियों के बीच विवाद का विषय रहा है। किसी भी एक मार्ग पर सभी तत्त्वान्वेषकों के बीच विवाद का विषय रहा है। किसी भी एक मार्ग पर सभी तत्त्वान्वेषकों के सहमत न होने कारण भारतीय–चिन्तक समाज स्पष्टतः तीन वर्गों में विभाजित हो गया। इन तीन वर्गों में से किसी भी एक पक्ष के पोषक मनीषी प्रायः स्वयं स्वीकृत मार्ग को प्रधान एवं तदितर मार्गों को गौण रूप प्रदान करने के प्रयास में प्रयासरत रहा करते हैं।

रामानुज भक्तिमार्ग के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। इन्होंने केवल शास्त्राविहित कर्म अथवा केवल शास्त्रजन्य ज्ञान को कभी भी ईश्वर प्राप्ति का साधन नहीं माना अपितु कर्म और ज्ञान को भक्ति के सहकारी रूप में ईश्वर या अन्तिम पुरुषार्थभूत मोक्ष की प्राप्ति में साधन के रूप में अङ्गीकार किया है।

कर्मयोग–रामानुज के अनुसार कर्मयोग सुखसाध्य और प्रमादरहित है, अतएव विषयव्याकुलबुद्धि वाले लौकिक पुरुषों द्वारा कर्मयोग ही अनुष्ठेय है। किन्तु केवल कर्मयोग भी ईश्वर या मोक्षप्राप्ति का साधन नहीं हो सकता क्योंकि **'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्थाअयनाय विद्यते'** इत्यादि श्रुतियों के द्वारा ब्रह्मज्ञान का ही मो क्षसाधनत्वेन विधान और तदितर साधनों का निषेध किया गया है। अतएव कर्मयोग स्वतः नहीं अपितु ज्ञान के अङ्ग रूप में ब्रह्मप्राप्ति का साधन है।

कर्मयोग की ज्ञानसाधनता–इस पर प्रश्न उठता है कि किस प्रकार कर्म योग ज्ञानयोग का साधक बनता है? ब्रह्मसाक्षात्कार रूप ज्ञान तभी उत्पन्न हो सकता है, जब सत्त्वगुण अभिवृद्ध हों, क्योंकि रजोगुण और तमोगुण की अभिवृद्धि में सत्त्वगुण की वृद्धि नहीं हो सकती। अतः सत्त्वगुण के उद्रेक में होने वाला ब्रह्म साक्षात्कार सर्वथा असम्भव है। ब्रह्मसाक्षात्काररूप ज्ञान के प्रतिबन्धक रजोगुण एवं तमोगुण की वृद्धि प्राचीन पुण्यपापरूपी सांसारिक कर्मों से होती है। इन कर्मसंस्कारों का नाश निष्काम कर्मों से होता है। जिसके फलस्वरूप रजस् एवं तमोगुण घटने लगते हैं, सत्त्व गुण बढ़ने लगता है। जिससे साधक का चित्त शुद्ध हो जाता है। इस प्रकार इस चित्तशुद्धि के द्वारा ही कर्मों का ज्ञानयोग में उपयोग होता है।

कर्मयोग के स्वतंत्रोपायत्व का खण्डन–अब पुनः शङ्का होती है कि आचार्य रामानुज ने गीताभाष्य में **'निराशीर्यतचित्तात्मा'** इस श्लोक के व्याख्यान में ज्ञाननिष्ठा के व्यवधान से रहित केवल कर्मयोग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का प्रतिपादन किया है। यही नहीं, गीताभाष्य में अन्यत्र भी कर्मयोग के निरपेक्षरूपेण आत्मयाथात्म्यदर्शन की बात आचार्यपाद के द्वारा कही गई है। **'ब्रह्मार्पणम्'**, इस श्लोक के भाष्य में तो रामानुज मुमु क्ष द्वारा ब्रह्मात्मकरूपेण क्रियमाण कर्मों की ज्ञानाकारिता और उसकी आत्मसाक्षात्कार में साक्षात्साधनता भी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार **'संन्यासः कर्मयोगश्च.....'** इत्यादि श्लोकों के भाष्य में भी कर्मयोग की आत्मसाक्षात्कार में निरपे क्षसाधनता कही गयी है। रामानुज के कर्मयोग के द्वारा आत्मसाक्षात्कार का ही प्रतिपादन नहीं किया है अपितु ज्ञानयोग की अपेक्षा उसकी शीघ्रफलप्रदता का भी उल्लेख किया है। ऐसी स्थिति में निरपेक्षसाधनभूत कर्म का ज्ञान के प्रति उपकारकत्व की सङ्गति कैसे होगी? इसका उत्तर यह है कि आचार्य रामानुज ने स्वयमेव **''अथैतदप्यशाक्तोऽसि''** इस श्लोक के भाष्य में कर्मों का उल्लेख ज्ञान के साधन के रूप में किया है। इसी प्रकार **''श्रेयो हि ज्ञान. मभ्यासात्''** इस श्लोक के भाष्य में भी आचार्य रामानुज ने ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करने के लिये निष्काम में भी आचार्य रामानुज ने ज्ञाननिष्ठा प्राप्त करने के लिये निष्काम कर्मयोग की श्रेष्ठता स्वीकार की है। इसलिये कर्म की ज्ञानसाधनता हमें स्वीकार करनी चाहिये।

कर्मयोग की आवश्यकता–आचार्य रामानुज के अनुसार ज्ञानयोग की अपेक्षा सुकर, प्रमादरहित और शीघ्र फलप्रद होने के कारण ही कर्मयोग का अनुष्ठान अपेक्षित नहीं है

अपितु ज्ञाननिष्ठा वाले साधकों के लिये अपनी शरीरयात्रा के निर्वाह हेतु भी कर्म करना आवश्यक है। यह शरीर यात्रा न्यायपूर्वक उपार्जित धन द्वारा महायज्ञादि करके, उससे बचे हुए द्रव्य के उपभोग से होना चाहिये। यज्ञादि शास्त्रीय कर्मों के सम्पादन निमित्त क्रियमाण धनार्जन रूप कर्म के अतिरिक्त किसी भी आसक्ति से किया गया कर्म मोक्ष के लिये नहीं, बन्धन के लिये होता है। सर्वविध कर्मों का फलत्याग निष्काम कर्मयोग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता है। जिसके अभाव में निष्काम कर्मयोग की साधना सम्भव नहीं है। अतः कर्मयोग के साधक को आत्मकर्तव्य की भावना से रहित होना चाहिये। परब्रह्मात्मक रूप से अनुसन्धान करके किया जाने वाला कर्म ही ज्ञानाकार होकर आत्मसाक्षात्कार का निमित्त बनता है।

निष्काम कर्मयोग की आवश्यकता केवल भक्तिरूप ज्ञान के साधन के ही रूप में नहीं, अपितु समस्त संसार के प्राणियों के संरक्षणार्थ भी है। स्वयं श्रीभगवान् का वचन है कि श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार का आचरण करते हैं, लोक उसी का अनुसरण करता है। इसीलिये ज्ञानयोग के अधिकारियों में अग्रणी (ज्ञानिनामग्रेसराः) होने के बाद भी जनक आदि मनीषियों ने कर्मयोग का ही अनुष्ठान किया है।

कर्म की भक्ति में उपयोगिता–इस प्रकार शास्त्रसम्मत कर्मयोग जहाँ व्यक्ति (साधक) के जीवनव्यापार की मौलिक आवश्यकता है, वहीं मुमुक्षु जिसकी चित्तभूमि भक्तिरूप उच्चतम ज्ञान की प्राप्ति में समर्थ नहीं है, के लिये भी ज्ञान प्राप्ति का आवश्यक सोपान है। कर्म साक्षात् नहीं अपितु ज्ञान द्वारा भक्ति रूप को प्राप्त करता है। कर्म की भक्ति के प्रति साधनता का प्रतिपादन स्वयं महर्षि व्यास ने किया है –

इयाज सोऽपि सुबहून् यज्ञान् ज्ञानव्यपाश्रयः।

ब्रह्मविद्यामधिष्ठाय तर्तुं मृत्युमविद्यया।।

अर्थात् शास्त्रजन्यज्ञान को प्राप्त हुआ वह जनक ब्रह्मविद्या (भक्ति) को प्राप्त करने का उद्देश्य करके उसके विरोधी प्राचीन अनन्त कर्मों को अविद्या अर्थात् शास्त्रविहित निष्काम कर्म से नष्ट करने के लिये बहुत यज्ञों को करता रहा। यही नहीं, रामानुज ने **'विद्यां चाविद्याम्'** इस श्रुति में उल्लिखित अविद्या का भी अर्थ वर्णाश्रमाचारादि शास्त्रसम्मत कर्म माना है।

'तमेवं विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इत्यादि श्रुतियों में मोक्षसाधनत्वेन ज्ञान का विधान किया गया है। रामानुज के अनुसार शास्त्रजन्य केवल ज्ञान परमपुरुषार्थभूत ईश्वरप्राप्ति का साधन नहीं बन सकता। यदि शास्त्रजन्य केवल ज्ञान (वाक्यार्थ ज्ञान) के द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता तो वाक्यार्थ ज्ञान वाले साधक को यहाँ दुःख न भोगना पड़ता। महर्षि आपस्तम्ब ने **'बुद्धे चेत् क्षेमप्रापणमिहैव न दुःखमुपलभेत्'** इत्यादि वचनों के द्वारा इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है। चूँकि व्याक्यार्थ ज्ञान वाले साधकों को दुःख होता है, अतः स्पष्ट है कि श्रुतिस्मृतियों में मोक्षसाधनत्वेन विहित ज्ञान केवल वाक्यार्थ ज्ञान से भिन्न है।

इस पर यह भी नहीं कहा जा सकता कि साधक श्रवण, मनन और उपासन (निदिध्यासन) के द्वारा सम्पूर्ण भेद वासनाओं को नष्ट कर देता हैं जिसके पश्चात् **'तत्त्वमसि'** इत्यादि वाक्यों से उसे आत्मसाक्षात्काररूप ज्ञान की प्राप्ति होती है, जो मोक्ष का साधक होता है। क्योंकि ऐसा होने पर तो प्रथम वाक्यार्थज्ञान के बाद ही मननादि, फिर उनसे भेदवासना का निराकरण और उसके बाद भी वाक्यार्थ ज्ञान ही उत्पन्न होगा। अतः इस प्रकार अन्योन्याश्रयदोष से दुष्ट होने के कारण उपर्युक्त पक्ष भी समीचीन नहीं है।

ज्ञान की भक्तिपरकता–रामानुज के अनुसार जिस प्रकार लोक में सर्पभय की निवृत्ति **'नायं सर्पः रज्जुरेषा'** इस वाक्य के केवल अर्थज्ञानमात्र से नहीं होती। अपितु किसी आप्त पुरुष के द्वारा 'यह साँप नहीं, रस्सी है' के कहे जाने पर, जब साँप के भय से डरा हुआ व्यक्ति पुनः वापस लौटता है तो रस्सी को देखने पर जब उसे विश्वास हो जाता है। कि सचमुच यह सर्प नहीं रस्सी है, तभी उसके सर्पभय की निवृत्ति होती है। इसका अभिप्राय यह है कि सर्पभय की निवृत्ति में वाक्यार्थज्ञानमात्र हेतु नहीं है बल्कि उसके बाद व्यक्ति द्वारा रज्जुरूप वस्तु का प्रत्यक्ष सर्पभय का निवर्तक होता है। ठीक उसी प्रकार, अविद्या की निवृत्ति और तदन्तर होने वाली ब्रह्म की प्राप्ति भी शास्त्रजन्य केवल वाक्यार्थज्ञानमात्र से नहीं होती, अपितु कर लेता है, तभी ब्रह्मप्राप्ति सम्भव है। ज्ञान की यही प्रत्यक्षाकाराकारिता ही रामानुज भी भक्ति का प्राण है। इस प्रकार स्पष्ट है कि शास्त्रजन्य केवल ज्ञान जब भक्तिरूपापन्न होता है, तभी वह ईश्वरप्राप्ति का साधन बनता है।

ज्ञान के भक्तिरूप होने के लिये केवल प्रत्यक्षकाराकारित्व ही पर्याप्त नहीं है, अपितु ज्ञान का प्रीतिपरक होना भी आवश्यक है। आचार्य सुदर्शन सूरि ने प्रीति का तात्पर्य

स्वामी के प्रति भृत्य के अनुराग से माना है। प्रत्येक प्रकार की प्रीति भक्ति नहीं है और प्रत्येक प्रकार का ज्ञान प्रीति नहीं है। अतएव सिद्ध है कि ज्ञान प्रीति होने से ही भक्ति रूप हो सकता है।

भक्ति ज्ञान विशेष ही है—भाष्यकार रामानुज वेदार्थसंग्रह में भक्ति को अत्यन्त प्रिय, स्वयंप्रयोजनभूत और स्वेतर समस्त पदार्थों से विरक्ति को उत्पन्न करने वाला ज्ञानविशेष कहा है। इसका अभिप्राय है कि ऐसा ज्ञान, जो साधक को अत्यन्त प्रिय लगता हो, जिसके अतिरिक्त साधक के सामने न तो कोई दूसरा प्रयोजन हो और न तदतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से लगाव, भक्ति की कोटि में आता है।

कर्म और ज्ञान की भक्ति द्वारा ही मोक्षसाधनता—रामानुज के पूर्ववर्ती आचार्य और उनके आध्यात्मिक गुरु श्री यामुनाचार्य ने भी भक्तियोग की सिद्धि में कर्म एवं ज्ञान को आवश्यक माना है। उनके अनुसार कर्मयोग और ज्ञानयोग की साधना से जिस साधक का अन्तःकरण शुद्ध हो गया हो, वही ऐकान्तिक और आत्यन्तिक भक्तियोग का अधिकारी है। एकमात्र भगवान के विषय में प्रवाहित होने के कारण भक्तियोग को ऐकान्तिक और सतत प्रवाहित होने से आत्यन्तिक कहा जाता है। वस्तुतः भक्तियोग को सिद्ध के लिये परिशुद्ध जीवात्मस्वरूप का साक्षात्कार नितान्त आवश्यक है। ज्ञान और कर्म योग इसी आत्मसाक्षात्कार के पृथक् उपाय है। इसमें ज्ञानयोग इसका अन्तरङ्ग साधन है, किन्तु दुष्कर है। कर्मयोग सुकर और ज्ञानयोग के सदृश ही आत्मसाक्षात्कार रूप फल देने वाला है। अतः ज्ञानयोग द्वारा आत्मसाक्षात्कार करने में असमर्थ व्यक्तियों को कर्मयोग का अनुष्ठान करना चाहिये। कर्मयोग की आवश्यकता लोकसंग्रह ही दृष्टि से ज्ञानयोगियों को भी है, ऐसा गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है। **रामानुज वेदान्त** के प्रसिद्ध **आचार्य वेदान्तदेशिक** ज्ञान और कर्मयोग के द्वारा प्राप्त आत्मसाक्षात्कार को साधक के कामना भेद से कहीं तो कैवल्य का साधक माना है और कहीं भक्ति का।

कर्म और ज्ञान की भक्तियोगसिद्धि में **आचार्यपाद** द्वारा प्रतिपादित आवश्यकता को देखते हुए एक शङ्का आपाततः जिज्ञासुओं के मन को उद्वेलित करती है कि ब्रह्मप्राप्ति में, ये तीनों साधन पृथक् पृथक् सहायक होते हैं अथवा मिलकर। कर्म की ब्रह्म के प्रति साक्षात् साधनता का खण्डन तो पीछे किया जा चुका है। ज्ञान भी, जो शास्त्रजन्य तो हो किन्तु वाक्यार्थ ज्ञानमात्र हो, ब्रह्म की प्राप्ति में साधन नहीं हैः ऐसा स्पष्ट किया जा चुका है। इस प्रकार कर्म और ज्ञान की ब्रह्म के प्रति पृथक् साधनता का तो कोई प्रश्न ही नहीं है। रही भक्ति की बात, तो भक्ति को रामानुज परमपुरुषार्थप्राप्ति का साधन मानते हैं किन्तु भक्ति को भी कर्म और ज्ञान से सहकृत होना आवश्यक है।

वस्तुतः रामानुज भारतीय तत्त्वमीमांसा के इस जटिल प्रश्न का समाधान एक अद्भुत, किन्तु शास्त्रसम्मत समन्वयकारी दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार कर्म, जो शास्त्रसम्मत ओर आत्मकतृत्व तथा फलप्राप्ति की अभीप्सा से रहित हो, ज्ञानप्राप्ति की अनुकूल पीठिका तैयार करता है। ज्ञान की प्राप्ति तो सीधे भी हो सकती है, किन्तु साक्षात्प्राप्ति के दुष्कर होने के कारण वह सामान्य जनों की परिधि के बाहर है। अतः ऐसे व्यक्तियों का निष्काम कर्म करना और उसके द्वारा विहित चित्तशुद्धि परमावश्यक है। यह ज्ञान केवल व्याक्यार्थज्ञान मात्र नहीं है अपितु ज्ञानविशेष है, क्योंकि श्रुति में **'न मेधया'** के द्वारा केवल ज्ञानमात्र की साधनता का निषेध किया गया है। इस प्रकार भक्ति को ज्ञान विशेष मानकर और भक्तियोग के साधक के लिये भी शरीरधरणपर्यन्त शास्त्रविहित निष्काम कर्मों की अनिवार्यता का प्रतिपादन करके रामानुज ने कर्म, ज्ञान ओर भक्ति के मध्य ऐसा सुन्दर सामञ्जस्य स्थापित किया, जिससे श्रुतिस्मृतियों में कही गयी तीनों विधाओं के मध्य, भ्रान्त धारणाओं पर आधारित विरोध का उच्छेद हो सके।

संदर्भ :

1.सुशकत्वादसंभावितप्रमादत्वाच्च कर्मणः, कर्मैव कुरु। गीताभाष्य, 3/8

2.विषयव्याकुलबुद्धियुक्तानां कर्मयोगाधिकारः। वही, 3/3

3.श्वेताश्वतरोपनिषद्। 3/8

4..... तदुपायतया सर्वकर्मफलत्यागं कुरु। गीताभाष्य, 12/11

5.निराशोर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।। गीता, 4/21

6.ज्ञाननिष्ठाव्यवधानरहित केवलकर्मयोगेनैवं
रूपेणाऽऽत्मानं पश्यतीत्यर्थः। गीताभाष्य, 4/21

7.(1)कर्मयोगःएव ज्ञानयोगनिरपेक्ष आत्मावलोकनसाधनम्। वही, 3/26

(2)कर्मयोगस्य सुशकत्वादप्रमादत्वाच्चान्तर्गतज्ञानतया निरपेक्षत्वात्। वहीं, 3/33

(3)कर्मयोग एवात्मावलोकने निरपेक्षसाधनमिति। वही, 3/29

8.ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रहमाग्नौ ब्रहमणा हुतम्।
ब्रह्मन तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।। गीता, 4/24

9.मुमुक्षुणा क्रियमाणं कर्म परब्रह्मात्मकमेवेत्यनुसन्धानयुक्ततया ज्ञानाकारं साक्षादात्मावलोकनसाधनम्, न ज्ञाननिष्ठाव्यवधानेन। गीताभाष्य, 4/24

10संन्यासः कर्मयोग्श्च निश्रेयसकरावुभौ।
तयोऽस्तु कर्मसंन्याससात्कर्मयोगो विशिष्यते।।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्। यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।। गीता, 5/2, 4

11.उभौ निरपेक्षौ निःश्रेयसकरौ। गीताभाष्य, 5/2

12.कर्मयोगयुक्तः स्वयमेव मुनिरात्मगननशीलः सुखेन कर्मयोग साधयित्वा चिरेणैवाल्पकालेनैव ब्रह्माधिगच्छत्यात्मानं प्राप्नोति। वही, 5/6

13.अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुमुद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मावान्। गीता, 12/11

14.ततोऽक्षरयोगमात्मस्वभावानुसन्धानरूपं परभक्तिजननं पूर्वषट्कोदितमाश्रित्य तदुपायतया सर्वकर्मफलत्यागं कुरु। गीताभाष्य, 12/11

15.गीता, 12/12

16.आत्मानिष्ठस्याप्यशान्तमनसो
निष्ठावाप्तयेऽन्तर्गतात्मज्ञानानभिसंहितफलकर्मनिष्ठैव श्रेयसीत्यर्थः। गीताभाष्य, 12/13

17.यदि सर्वं कर्म परित्यज्य केवलं ज्ञाननिष्ठायामधिकरोषि तहह्यकर्मणस्ते ज्ञाननिष्ठस्य ज्ञाननिष्ठोपकारिणी शरीरयत्रापि न सेत्स्यति। गीताभाष्य, 3/8

18.यज्ञादिशास्त्रीयकर्मशेषभूताद् द्रव्यार्जनादेः कर्मणोऽन्यत्रात्मीयप्रयोजनशेषभूते कर्मणि क्रियमाणेऽयं लोकः कर्मबन्धनो भवति। वही, 3/9

19.(1)यद्यदाचरित श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।
(2)उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।। वही, 3/24

20.कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिताः जनकादयः। वही. 3/20

21.विष्णुपुराण, 6–6–12

22.ईशावास्योपनिषद्, 12

23.अत्राविद्याशब्देन विद्येतरत्वर्णाश्रमाचारादिपूर्वोक्तं कर्म उच्यते। वेदार्थ संग्रह, पृ. 197

24.श्वेताश्वतरोपनिषद्, 6/25

25.आपस्तम्बधर्मसूत्र, 2/25/14

26.श्रीभाष्य, 1/1/1 27

27.प्रीतिविशेषशब्देन स्वामिनि भृत्यस्य अनुरागो विवक्षितः। वेदार्थ संग्रह तात्पर्यदीपिका, पृ. 344

28.भक्तिशब्दश्च प्रीतिविशेषे वर्तते। प्रीतिश्च ज्ञानविशेष एव।। वेदार्थ संग्रह, पृ. 344

29.उभयपरिकर्मितस्वान्तस्यैकान्तिकात्यन्तिकभक्तियोगलभ्यः। सिद्धित्रय, पृ. 14

30.लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।। गीता, 3/20

31.न्यायसिद्धाञ्जन, पृ. 308

32.वही, पृ. 70

33.वही, पृ. 71

34.ज्ञानकर्मानुगृहीतं भक्तियोगम्। गीताभाष्य भूमिका

35.गीताभाष्य, 3/4 36.

36.नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः न मेध्या न बहुना श्रुतेन।

37.यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।। कण्ठोपनिषद्, 2/23

****

गुरू ग्रंथ साहिब में संकलित संत कवि

-डॉ.दीपिका वर्मा
सहायक प्राध्यापक
मिरांडा हाउस
दिल्ली विश्वविद्यालय,
9990685469
deepikavermais@gmail.com

आज धर्म के नाम पर धार्मिक आडम्बर, प्रपंच अधिक हावी हो गए हैं, जिससे मानवी क्लेश और अधिक बढ़ गए हैं। लोगों का धर्म पर से विश्वास उठता जा रहा है। ऐसे में संतों की वाणी और संस्कृति हमारी सहायता करती है, क्योंकि संत किसी भी धर्म की बात नहीं करते, वे ध ार्मिकता की बात करते हैं। वे साम्प्रदायिकता नहीं, आध्यात्मिकता सिखाते हैं। आध्यात्मिकता धर्म से जुड़ी है जो बाहरी कर्मकाण्ड को छोड़कर आंतरिकता और आत्मीयता को महत्त्व देती है। मध्ययुगीन सभी संतों की ब्रह्म में पूर्ण आस्था है, जिसे वे परमतत्त्व, परमसत्य, अनादि, अगम, अगोचर, अजन्मा, सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु एवं कृपालु मानते हैं। वे जगत को मिथ्या, शरीर को क्षणभंगुर, सांसारिक सम्बन्धों और सुखों को नश्वर मानते हैं। साथ ही अहंकार, लोभ, मोह, क्रोध, काम, ईर्ष्या, द्वेष, वैर आदि को त्याग कर दया, करुणा, विनम्रता, सत्य, समता, सन्तोष, परोपकार, सहयोग आदि को जीवन का आदर्श मानते हुए, स्वच्छ हृदय से सत्कर्म करते हुए, हरि–स्मरण करने में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। उनके लिए जीवन का यही सर्वोपरि लक्ष्य है। इसी से उनका जीवन–दर्शन प्रेरित एवं परिचालित होता है।

संतों ने सदा ही आत्म–अध्यात्म की बात की है। वे धरती के समान हैं, सबको आश्रय देने वाले। संतों का न कोई ग्रंथ होता है, न धर्म, न सम्प्रदाय, न कोई गुरु होता है, न पीर। वे बंधे होते हैं चैतन्य अनुभूति से, निर्गुण–ब्रह्म ज्ञान से और जीव मात्र के कल्याण से। संत शब्द 'सत्' शब्द के कर्ताकारक रूप का बहुवचन है। इसका अर्थ है – साध ु, संन्यासी, विरक्त या त्यागी पुरुष, महात्मा। ईश्वर के भक्त या धार्मिक पुरुष को भी संत कहते हैं। मत्स्य पुराण के अनुसार संत शब्द की परिभाषा है –

"ब्राह्मणाः श्रुतिशब्दाश्च देवानां व्यक्तमूर्तयः।
सम्पूज्या ब्रह्माणा ह्योतास्तेन सन्ता प्रचक्षते।।"

अर्थात् ब्राह्मण ग्रंथ और वेदों के शब्द, ये देवताओं की निर्देशिका मूर्तियाँ हैं, जिनके अन्तःकरण में इनके और ब्रह्म का संयोग बना रहता है वह सन्त कहलाते हैं। सन्त की विशेषता है कि वह सर्वत्र मानवतावाद का समर्थन करते हैं। संत हर प्रकार के, हर स्तर पर उठाए गए विभाजनों को ढहाते–गिराते हैं। वह मानव को सत्य के धरातल पर लाकर खड़ा करते हैं। संत कवियों का आराध्य मानव–मानव में कोई भेद नहीं करता। वह किसी विशिष्ट ध र्म, मत, मजहब, सम्प्रदाय के साथ जुड़ा नहीं है। वह सर्वव्यापी है, सर्वपालक है, सर्वहंता है।

गुरु ग्रंथ साहिब सिक्ख धर्म का ग्रंथ है। यह ग्रंथ सिक्खों के साथ ही अन्य असंख्य लोगों का भी पूज्य ग्रंथ है। पंजाब और सिंध की बहुत बड़ी जनसंख्या के अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में फैले हुए अनेक नानकपंथियों, उदासियों, रामरायियों, राधास्वामियों तथा अनेक सम्प्रदायों के मध्य भी यह सम्मानीय है। गुरु ग्रंथ साहिब में कुल पाँच हजार आठ सौ चौरानबे शबद हैं। इनमें से नौ सौ अड़तीस शबद भक्तों, सूफियों, संतों और फकीरों के हैं। ये महापुरुष पंजाब के अलावा सिंध, बंगाल, उत्तर–प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान जैसे दूर–दराज के क्षेत्रों के रहने वाले थे। क्षेत्रीय विविधता के अलावा इनकी जाति और भाषा भी अलग–अलग थी। लेकिन संदेश और सिद्धान्त सबका एक ही था – एक ईश्वर की भक्ति और सामाजिक एकता। गुरु ग्रंथ साहिब में संतों की वाणी को स्थान मिला। ग्रंथ में संग्रहित 15 संतों के कुल 778 पद हैं। इन संतों का यदि वर्णों की दृष्टि से विभाजन किया जाए तो जयदेव, रामानंद, परमानंद और सूरदास ब्राह्मण हैं, पीपा क्षत्रिय हैं, त्रिलोचन वैश्य, शेख फरीद, कबीर और भीखण मुसलमान तथा शेष नामदेव, रविदास, सधना, सैण, धन्ना, वेणी शूद्र जातियों से हैं। इनमें सबसे अधिक पद कबीरदास (541), शेख फरीद (130), नामदेव (60) और रविदास के (40) पद हैं।

संतों का रुझान निर्गुण भक्ति की ओर गया। प्रारम्भ में इनके आकर्षण के केन्द्र में सगुण भक्ति के अनेक तत्त्व रहे, फिर धीरे–धीरे ये निर्गुण धारा के निकट आते गए। संत 'नामदेव' का उदाहरण इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। नामदेव का जन्म 1270 में सतारा जिले के नरसी बामनी गाँव में हुआ। उसके पिता कपड़े पर छपाई का काम करते थे। द क्षिण भारत से उत्तर भारत की ओर आती हुई भक्ति का बहुत महत्त्वपूर्ण पड़ाव महाराष्ट्र है। यहाँ ब्राह्मण और गैर ब्राह्मण दोनों प्रकार के भक्तों का प्रादुर्भाव हुआ। नामदेव का इसमें महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये विष्णु के उपासक थे। छोटी

जाति का होने के कारण इन्हें मन्दिर से निकाल दिया –

"हसत खेलत देरे देहुरे आया।
भगति करत नामा पकरि उठाया।।
हीनड़ी जाति मेरी जादम राया।
छीपे के जन्म काहे को आया।।"

गुरु ग्रंथ साहिब में नामदेव के 60 शबद संकलित है। ये शबद अट्ठारह रागों में है। नामदेव महाराष्ट्र के जनप्रिय संत थे, इन्होंने अवतार, मूर्ति–पूजा, जाति–भेद को स्वीकार नहीं किया।

संत, ईश्वर स्तुति और परमब्रह्म की अवधारणा हेतु उन सभी शब्दों का प्रयोग करते हैं जो उस समय प्रचलित थे, इसमें वैदिक, वैष्णव, शैव, शाक्त, बौद्ध और इस्लामी परिवेश में प्रचलित सभी नाम आ जाते हैं। संत कवि परमतत्त्व की असीम स्थिति उसकी सर्वव्यापकता और उसके अनन्त रूपों की चर्चा करते हैं उनकी दृष्टि में राम–कृष्ण आदि सभी अवतार शिव, ब्रह्मा तथा देवी–देवता उस परमब्रह्म द्वारा उत्पन्न किए गए हैं।

संत जयदेव का जन्म 1170 में बंगाल के एक गाँव कंदूली में हुआ। 'गीत गोविन्द' के रचयिता जयदेव की रचना कृष्ण को समर्पित है। गुरु ग्रंथ साहिब में इनके दो शबद संग्रहीत हैं। अपने एक पद में इन्होंने राम और कृष्ण के अवतारी रूप पर बल न देकर, वरन् उनके सर्वव्यापी, सर्वोच्च, सर्वशक्तिमान रूप का वर्णन किया है –

"परमादि पुरुष मनोपिमं सति आदि भाव हतं।
परमदुभूतं परकृति परं जादचिंति सरबगतं।।
केवल राम नाम मनोरम।
बदि अमृत तक मइअं।।"

शेख फरीद का जन्म 1173 में पश्चिम पंजाब के मुल्तान जिले में हुआ। गुरु ग्रंथ साहिब में शेख फरीद के एक सौ तीस श्लोक और चार शबद शामिल हैं। इनकी वाणी में ईश्वरीय प्रेम और भक्ति पर जोर दिया गया है। शेख फरीद ने कहा कि खुदा (ब्रह्म) जनता में बसता है और जनता खुदा में बसती है –

"फरीदा खालकु खलक महि खालक बसै रब माहि।
मंद किस नौ आखीऐ जां तिस बिन कोइ नाहि।।"

संत त्रिलोचन महाराष्ट्र के रहने वाले और नामदेव के समकालीन थे। इनका जन्म सन् 1267 में शोलापुर जिले के बारसी गाँव में हुआ। भक्त नामदेव का उन पर काफी प्रभाव था। गुरु ग्रंथ साहिब में उनके चार शबद दर्ज है। नामदेव और त्रिलोचन, सांसारिक कार्य करते हुए प्रभु भक्ति में निमग्न होने के विचार की पुष्टि करते हैं। वे स्वीकार करते हैं कि हाथ–पांव से काम करना चाहिए किन्तु मन को सदैव प्रभु में लगाए रखना चाहिए –

"नामा कहै तिलोचना मुख ते रामु संभालि।
हाथ पाउ करि कामु सभु चीतु निरजन नालि।।"

संत रामानंद दक्षिण भारत के प्रसिद्ध संत रामानुज के शिष्य थे। उनका जन्म महाराष्ट्र के एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। पीपा, सैण, धन्ना, रविदास और कबीर उनके शिष्य थे। गुरु ग्रंथ साहिब में उनका एक ही शबद है जो बसंत राग में है। इन्होंने मंदिर की कर्मकांडी पूजा की अपेक्षा अप. ने हृदय में ही ब्रह्म को ढूँढने पर बल दिया है। साथ ही वे शास्त्र–वेदों को अंतिम सत्य नहीं मानते –

"वेद पुरान सभ देखे जोई।
उहों तउ जाईऐ जउ ईहां न होई।।"

संतों में वैष्णव परम्परा के नाम सबसे अधिक प्रिय है राम, रामइया, हरि गोपाल, केशव, मुरारी, माधव, बनवारी, बीठल जैसे नाम बार–बार प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु ये अपने प्रचलित अर्थों से भिन्न दिखाई देते हैं। उदाहणस्वरूप राम शब्द का प्रयोग सभी सगुण कवि दशरथ पुत्र राम के संदर्भ में करते हैं किन्तु संत कबीरदास के राम दशरथ पुत्र नहीं हैं –

"दशरथ सुत तिहु ओर बखाना।
राम नाम का मरम है आना।।"
"एक राम दशरथ का प्यारा।
एक राम ने सकल पसारा।।"

अपने इष्टदेव के प्रति ऐसी अवधारणा लगभग सभी संतों की रही है। संत कबीरदास भी उन्हीं में से एक महान् संत थे, वह जाति से जुलाहे थे। उनका जन्म सन् 1398 में हुआ। गुरु ग्रंथ साहिब में इनके पाँच सौ इकतालीस शबद और श्लोक दर्ज हैं। अपनी वाणी में कबीर ने ऊँच–नीच और कर्मकाण्ड की कड़ी आलोचना की तथा भक्ति एवं शुद्ध कर्म की कमाई पर जोर दिया। कबीर परमब्रह्म की अनन्तता पर लिखते हैं –

"कोटि सूरजा कै परगास। कोटि महादेव अरु कबिलास।।
दुरगा कोटि जाकै मरदन करै। ब्रह्मा कोटि बेद उचरै।।
जहु जाचहु तउ केवल राम। आन देव सिउ नाहीं काम।।
कोटि चंद्र में करहिं चराक। सुर तेतीसउ जेवहि पाक।।
नवग्रह कोटि ठाढे दरबार। धरम कोटि जाकै प्रतिहार।।"

ये संत बहुदेववाद को भी स्वीकार नहीं करते। ये एक ईश्वर की अवधारणा को स्वीकार करते हैं। गुरु नानक ने ओंकार के साथ 'एक' लगाकर इस तथ्य की पुष्टि की थी। संत कबीर ने भी यही घोषित किया –

"साईं मेरा एक तू और न दूजा कोय।"

ब्राह्मण की उच्चता और श्रेष्ठता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कबीर ने ब्राह्मण से पूछा कि तुम ब्राह्मण किस प्रकार हो, हम शूद्र किस प्रकार हैं? क्या हमारी शिराओं में लहू बहता है और तुम्हारी शिराओं में दूध प्रवाहित होता है –

"तुम कत बामन, हम कत सूद।
हम कत लोहू, तुम कत दूध।।"

संत रविदास का जन्म विक्रमी संवत 1433 को काशी में हुआ। गुरु ग्रंथ साहिब में इनके इकतालीस पद दर्ज हैं। इन्होंने सहज व विनम्र भाषा में वर्ण व्यवस्था पर प्रहार

किया। संत रविदास कहते हैं – ईश्वर की भक्ति करने से ब्राह्मण, वैश्व, शूद्र, खत्री, डोम, चंडाल, मलेच्छ आदि सभी पवित्र हो जाते हैं –

"ब्रहमन बैस सूद अरु खत्री।
डोम चंडार मलेच्छ मन सोइ।।
होइ पुनीत भगवंत भजन ते।
आपु तारि तारे कुल दोइ।।"

संत रविदास तो यह भी कहते हैं कि बड़े–बड़े पंडित, सूरमा, छत्रपति, राजा भी भक्त की बराबरी नहीं कर सकते

"पंडित सूर छत्रपति राजा भगत बराबरि अउर न कोइ।"

ये संत समाज में पुरोहित वर्गों द्वारा उत्पन्न किए गए भय–भाव को दूर करना चाहते थे वे कहते हैं कि मेरा गोविन्द तो नीचों को ऊंचा बना देता है। वह किसी सक डरता नहीं है। इसी कारण नामदेव (छीपा), कबीर (जुलाहा), त्रिलोचन (वैश्य), सधना (कसाई), सैण (नाई), इन सभी का उद्धार हो गया –

"नीचहु ऊंच करे, मेरा गोबिन्द काहू ते न डरै।
नामदेव, कबीर, त्रिलोचन, सधना, सैन तरे।।"

ये संत डंके की चोट पर अपनी नीची समझी जाने वाली जाति की घोषणा करते हैं। नामदेव अपने पदों में बार–बार कहते हैं कि मैं छीपा हूँ। कबीर कहते हैं कि मैं जुलाहा हूँ, रविदास कहते हैं कि मैं चमार हूँ, धन्ना अपने आपको जाट और सैण अपने आपको नाई कहने में कोई संकोच नहीं करते, और कहते हैं कि इन जातियों में जन्म लेकर भी हमने अपनी भक्ति द्वारा ईश्वर की अनुकम्पा प्राप्त कर ली। सभी संत कवियों ने वर्ण व्यवस्था, ऊंच–नीच और असमानता का विरोध किया, ब्राह्मण की श्रेष्ठता पर प्रश्नचिह्न लगाए, अवतारवाद और मूर्तिपूजा को अस्वीकार किया और सर्वव्यापी, निर्गुण ब्रह्म के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की।

गुरु ग्रंथ साहिब में शामिल अनेक संत ऐसे हैं जिन्हें आज केवल उन्हीं के पदों से याद किया जाता है, जो गुरु ग्रंथ में संग्रहित हैं। सधना, वेणी, पीपा, सैण, धन्ना, भीखण, परमानंद इस महान् ग्रंथ के माध्यम से ही स्मरण किए जाते हैं। महाराष्ट्र के संत नामदेव को बहुत प्रसिद्धि प्राप्त है और स्थान–स्थान पर उनके केन्द्र बने हुए हैं। साथ ही रविदास भी इसी कड़ी से जुड़े हैं गुरुद्वारे में इनके पदों का कीर्तन होता है। इस प्रकार गुरु ग्रंथ साहिब में संक. लित सभी संतों ने अपनी वाणी से अपना एक विशेष स्थान बनाया। सभी संत अपने समय के सामाजिक अन्याय के प्रति अपनी आवाज़ बुलंद करते हैं, उसका तीव्र विरोध करते हैं और भेदभाव से रहित समतामूलक समाज की स्थापना का संकल्प करते हैं।

संदर्भ

1.संत साहित्य : नये आयाम – जयभगवान गोयल, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, संस्करण–1992, पृ. 81
2.मत्स्य महापुराण – रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री
3.गुरु ग्रंथ साहिब (सैंची–4) – डॉ. मनमोहन सहगल, भुवन वाणी ट्रस्ट, लखनऊ, नवां संस्करण–2007, पृ. 1050
4.गुरु ग्रंथ साहिब (सैंची–4), पृ. 923
5.गुरु ग्रंथ साहिब, पृ. 972
6.गुरु ग्रंथ साहिब, पृ. 1375
7.गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक – महीप सिंह, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, संस्करण–2009, पृ. 133
8.गुरु ग्रंथ साहिब (सैंची–4), पृ. 1270
9.गुरु ग्रंथ साहिब (सैंची–4), पृ. 1275
10.गुरु ग्रंथ साहिब (सैंची–4), पृ. 1301
11.गुरु ग्रंथ साहिब (सैंची–4), पृ. 1310
12.गुरु ग्रंथ साहिब (सैंची–4) (राग बिलावल), पृ. 1380
13.गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक – महीप सिंह, पृ. 142
14.गुरु नानक से गुरु ग्रंथ साहिब तक – महीप सिंह, पृ. 142

****

समकालीन महिला नाटककारों के नाटको में अभिव्यक्त सांस्कृतिक चेतना

-डॉ. राकेश डबरिया
मो.9560122408

rakeshdabariya@gmail.com

महिला नाटककार और रंगमंच आधुनिक परिदृश्य आज जो प्राप्त होता है, वह सदियों के संघर्ष और सांस्कृतिक टकराहटों का परिणाम है। स्त्रियों को यहाँ आते–आते समय लगा है। इसके पूर्वपीठिका में 'पारसी रंगमंच' नाम आमतौर पर पारसी समुदाय को दिया जाता है जिन्होंने मनोरंजन एक आधुनिक परंपरा को जन्म दिया। यहीं से लोकप्रिय रंगमंच का भी प्रारंभ होता है। संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया तथा अवधि लम्बी होती है और यह समुदायों के संघर्ष, टकराव, विजय तथा हार के अनुभवों को खुद में समेटे रहती है। स्त्री और पारसी रंग. मंच का इतिहास और संबंध बहुत हद तक एक दूसरे से जुड़ा हुआ है। स्त्री और रंगमंच का इतिहास एक लम्बे सांस्कृतिक–वैचारिक संबंध और टकराहट को समेटे हुए है, जिसमें पारसी रंगमंच का अपना एक अहम स्थान और योगदान है।

1950 के दशक के बाद जनवादी नाट्य समूहों के जरिए स्त्री विषयक मुद्दों को आम जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाने लगा था, परन्तु इन सबकी आधारभूमि पारसी रंगमंच के जरिए ही तय हो पाई। देखा जाए तो "इस रंगमंच की शुरूआत एक ऐसे दौर में हुई जब भारत में राष्ट्रवादी विचारधाराओं की लहर एवं उनका प्रभाव समाज पर व्यापक रूप से पड़ रहा था। यह वह दौर था जब राष्ट्रीय विमर्श के केन्द्र में भारत की संस्कृति एवं उनसे गहरे तौर पर जुड़े 'स्त्री–प्रश्नों' पर सभी राष्ट्रवादी धाराएँ प्रतिक्रिया व्यक्त कर रही थी। 19वीं सदी के बंगाल पुनर्जागरण के दौरान समाज सुधार के आन्दोलनों के केन्द्र में भी 'स्त्री–प्रश्न' था।" स्त्री का संबंध नवजागरण से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द विद्यासागर ने बंग्ला नवजागरण में इस प्रश्न को जोर–शोर से उठाया। कला–साहित्य रंगमंच के सम्बन्ध में अगर देखें तो स्त्री का संबंध पुरुष के द्वन्द्व और दिखावे के साथ–साथ तमाम सांस्कृतिक टकराहटों से भी है। जिसमें पुरुषवादी सोच के साथ–साथ विभिन्न सामाजिक वर्गों की सोच भी शामिल है। पुरुष का सबसे बड़ा द्व न्द्व यह रहा है कि वह स्त्री का भोग तो चाहता रहा ले. किन उसके सहयोग से कतराता रहा।

भारतीय राष्ट्रीय अस्मिता में अपनी जगह बनाने के लिए स्त्री ने जो संघर्ष किया, उसमें रंगमंच ने उनका भरपूर सहयोग किया। भारत के विभिन्न हिस्सों में थियेटर के माध्यम से स्त्रियों ने रंगमंच पर अपना पदार्पण किया तो उनका विरोध भी बराबर होता रहा। चाहे वह बंगाल नवजागरण हो अथवा महाराष्ट्र अथवा गुजरात। महिला संस्कृति को सदैव पुरुष संस्कृति से सहज और टकराहट का सामना करना ही पड़ा। जब महिला और पुरुष संस्कृति की केवल बात कर रहा हूँ तो, इसका स्पष्ट संबंध केवल पुरुष और महिला संस्कृति से ही है। वह चाहे किसी भी ध र्म, समुदाय अथवा जाति में हो, महिला और पुरुष दो अलग संस्कृतियों के वाहक प्रतीत होते हैं। रंगमंच के हिसाब से देखें तो– "हिन्दी प्रदेशों की स्थिति और अधिक भयावह थी। यहां रंगमंच में स्त्रियों का अभाव सदा बना रहा। प्रत्येक नाटक मण्डली यह अपेक्षा करती थी कि अन्य समाजों की स्त्रियाँ उनके साथ काम करें, परन्तु इसकी शुरूआत उन्होंने अपने घरों से कभी नहीं की। हिन्दी प्रदेशों के जनमानस में यह भावना गहरे पठै बनाए हुई थी कि रंगमंच में भले घर की स्त्रियों का अभिनय करना न सिर्फ अशोभनीय है बल्कि इससे उनमें नैतिक मूल्यों में ह्रास तथा घर के कार्यों के प्रति अवहेलना के भाव भी उत्पन्न होंगे।" कुलीन घरों में तो लड़कियाँ तक दूर, लड़कों के अभिनय को भी अपनी श्रेष्ठता और कुलीनता के खिलाफ माना जाता था।

स्त्री के संघर्ष को देखने समझने के लिए यह सत्ता संघर्ष देखना अधिक आवश्यक है। आधुनिक काल में महात्मा गांधी ने स्त्रियों के महत्व को समझा और उन्हें एक नये सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक वितान रचनो की ओर अग्रसर किया। शिक्षा, शासन व्यवस्था नें उन्हें नए आकाश में अपने फैलाने का मौका दिया। अपनी अस्मिता को लेकर स्त्रियाँ और अधिक सजग और स्वाधीन हुई। अगर इस संदर्भ में देखें तो– "आधुनिक अस्मिता अतीत में की गई अस्मिता की संरचनाओं की शृंखला में मात्र अगली कड़ी नहीं है बल्कि यह उन संरचनाओं के मूल में उपलब्ध कारणों पर से परदा उठाने की प्रक्रिया है।" स्त्री लेखिकाओं ने न केवल अपने मूल को समझा–परखा है, अपितु उन्होंने वर्तमान समस्याओं को न केवल अपने रचनाओं में उभारा है बल्कि कई–कई जगहों पर उनका समाधान भी प्रस्तुत किया है। अगर हम ध्यान से देखें तो महिला लेखन एक आधुनिक संस्कृति के निर्माण की प्रक्रिया है। महिला नाटककारों ने इस सांस्कृतिक बदलाव को अपने रचनाओं में अलग–अलग प्रकार से बिंबित किया है।

मृणाल पाण्डेय ने 'मौजूदा हालात को देखते हुए' नाटक में, नवबधु शारदा के विरोध में एक सांस्कृतिक

टकराहट की गूंज विद्यमान है। यह तिलंगों का विरोध करती है जबकि अन्य सभी पुरुष शाली है। शारदा एक पढ़ी लिखी औरत है। उसे अपनी अस्मिता की पहचान है। "शारदा का इस प्रकार सोचना नई शिक्षा प्राप्ति के परिणाम स्वरूप है जिससे मध्यकालीन और आधुनिक बोध के मध्य अन्तर करना सिखाया है। उसका यह चिन्तन समकालीन होकर समाजिक चेतना को अभिव्यक्त करता है।" वे तिलंगे सामाजिक अपराध के केन्द्र में है और सारे अपराध की भोक्ता स्त्रियाँ। शारदा का इन तिलंगों को समाप्त करना, करवाना एक पुरुषवादी कुत्सित सोच पर महिला सोच की विजय है, जो अपने अस्मिता को लेकर सजग है।

त्रिपुरारी शर्मा कृत नाटक 'बहु' में भी सामंती समाज के बरक्स स्त्री चरित्र को गढ़ने की एक प्रक्रिया प्राप्त होती है। सामंती समाज स्त्री और प्रेम को अभी भी स्वीकारता नहीं। स्त्री उसके लिए भोग्या और केवल भोग्या ही है। बहु इस बात को समझ चुकी है कि वह पुरुष के लिए केवल भोग की साधन है। वह आजादी में सांस लेना चाहती है। वह सामंती समाज के घुटन को पहचानती है। सड़क पर काम करने वाले मजूदरों की जिन्दगी उसे अधिाक स्वतन्त्र और प्रिय लगती है। इस नाटक में चित्रित बहुत की वेदना "केवल एक बहु की वेदना नहीं बल्कि संसार की सभी स्त्री की वेदनाएं हैं। जिसे आज भी अपनी नियति मानकर सह रही हैं। साथ ही नाटक में दो दुनिया का वैष्मय दिखाई देता है। एक ओर तंग अंधेरी डरावनी, जीर्ण–शीर्ण हवेली है जिसमें सामन्ती समाज के दमघोंटू जीवन मूल्य है, तो दूसरी ओर एक खुली धरती को बिछाना और आकाश को ओढ़ना बना लेने वाली सड़क मजदूरों की कबीलाई जिन्दगी है।" यहाँ दो प्रकार की संस्कृतियों का तुलनात्मक अध्ययन देखा जा सकता है। एक ओर सामंती समाज की दमघोटू, दिखावटी परंपरा है तो दूसरी ओर मजूदरों की मेहनत परस्त तथा नींद चैन की स्वाधीन संस्कृति है। बहु इनमें से मजदूरों की संस्कृति को ज्यादा अच्छा मानती है।

डॉ. गिरीश रस्तोगी के नाटक 'अपने हाथ बिकानी' में स्त्री–पुरुष दोनों के मानसिक द्वन्द्व को उभारने का प्रयास है। किस प्रकार आज के समय में भी परिवार, समाज के नाम पर स्त्री–सोच को पुरातन परंपरा से ही दबाने और समाप्त करने का प्रयास किया जा रहा है। उसकी शक्ति को निष्क्रिय करने में शादी नामक संस्था का उचित प्रयोग किया जा रहा है।

"अनेक महिलाओं की समस्या शादी के बाद शुरू होती है। पुरुष सदियों से लेकर आज तक स्त्री को स्वतंत्र रूप से जीने का अधिकार नहीं दिया है। स्त्री के अच्छे बुरे सब फैसले पुरुष ही करते हैं। लोगों की इच्छानुसार समाज के नियम ध्यान में रखकर स्त्री को अपना कर्त्तव्य करना चाहिए। बिन्दु इन बातों का विरोध करती है। वह कहती है 'हमारे यहाँ महिलाओं को दूसरे स्तर की साथी समझा जाता है– दो चार दरजे की चीजें। उनपर पहले से फैसले थोपे जाते हैं। हर वर्ग, हर क्षेत्र, हर उम्र में।" बिन्दु चूँकि एक पढ़ी–लिखी शिक्षित लड़की है। उसे अपने अधिाकार, अस्मिता का ज्ञान है, इसलिए वह अपने पिता द्वारा थोपे जा रहे निर्णयों को अस्वीकार करती है, साथ–ही–साथ वह इस पुरुष मानसिकता में असहज भी महसूस करती है। बिन्दु अपनी शादी को लेकर अपने पिताजी से बहसे करती है उनका कहना है कि पुरुष स्वार्थी होते हैं। समय आने पर अपना पुरुषत्व सबसे आगे रखते हैं। स्त्री को सदा उनको नीचा दिखाना पुरुष सत्ता का परम कर्त्तव्य सा प्रतीत होता है। बिन्दु कहती है– "मैं आपमें उन्हीं सब पुरुषों की छाया में देख रही हूँ, जिन्होंने औरत को एक जड़ वस्तु मात्र समझा।... "जब तक समाज में कायरों, निर्लज्जों की संख्या रहेगी तब तक द्रौपदी रहेगी और महाभारत होते रहेंगे। क्योंकि समाज जड़, ठंडा, और संवेदना की शून्यता से बना है।" बिन्दु और उसके पिता का संघर्ष एक आम घर का संघर्ष नहीं है, इसमें एक लम्बी सांस्कृतिक टकराटह की गूंज विद्यमान है।

मीराकान्त के नाटक 'ईहामृग' में भी एक अतीत कथा के माध्यम से आधुनिक नारी की पृष्ठभूमि को दिखाया गया है। वह अपने प्रेम को विभिन्न व्यक्तियों में देख सकती है। इस नाटक में तोमरवंश में सामंत के स्नेहगंधा और मार्तण्ड नामक पुत्री–पुत्र है। मार्तण्ड अपनी बहन का विवाह तोमरवंश के एक अन्य सामंत उपमन्यु से करना चाहता है, लेकिन स्नेहगंधा कश्मीर प्रदेश से आए शिल्पी कुमारिल से अनुरक्त है। स्नेह गंधा अपनी इच्छाओं की पूर्ति कला के माध्यम से करती है। वह बंधन से मुक्त रहना चाहती है। उसे अपनी अस्मिता का ज्ञान है। ऐसे पुरुष का समर्थन भी उसे एक उपकार सा प्रतीत होता है। स्नेहगंधा "बंधन से मुक्ताकाश चाहती है जिसमें स्वच्छंद होकर उड़ान भरते हुए पंख विकृत न हो। उनका मत है कि पुरुष स्त्री का मन समझकर उपकार करते हैं। नाटक में सभी स्त्रियों को पुरुष का व्यवहार उपकार लगता है। स्नेहगंधा कुमारिल से कहती है– प्रेम करने वाले नारी मन के रूप में "समाजिक एवं नैतिक दबावों से उठे स्त्री–जीवन के उन प्रश्नों में रही है जो अन्तर्जगत को आंदोलित कर रहे हैं। अपनी अधूरी कामनाओं के कारण मानसिक ग्रंथियों में उलझी नारी पात्रों के मन को समझने और प्रस्तुत करने की कोशिश नाटककार ने की है।" यह नाटक नारी के अपनी अस्मिता के भान होने का नाटक है।

'नेपथ्य राग' में भी एक पौराणिक कथानक के माध्यम से मीराकान्त जी ने 'खना' जो कि प्रकाण्ड ज्योतिषविद वाराहमिहिर की पुत्रवधु है और स्वयं भी प्रकाण्ड विद्वान है। उसकी विद्वता के चर्चे ऐसे हैं कि स्वंय नगर नरेश विक्रमादित्य उसे अपने दरबार के नवरत्नों में स्थान देना चाहते हैं परन्तु उसे वह पद प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उसका विरोध दरबार के अन्य विद्वानों तथा सभासदों द्वारा

होने लग जाता है। खाना की एक मात्र गलती यह होती है कि वह एक स्त्री, उपर से परम विद्वान है। स्त्री की विद्वता पुरुष के समान अथवा उससे ज्यादा हो यह तथ्य पुरुष के लिए असहनीय है। खना का विदुषी होना नवरत्नों को खटकता है, पुरुष को वैचारिक अभिव्यक्ति से रहित स्त्री को स्वीकार होने से वे खना को 'जिह्वाविहीन' नवरत्न के रूप में स्वीकारते हैं। खना इस निर्णय से दुःखी होकर कहती है कि "पुरुष स्त्री को मंच पर आने की सुविधा नहीं देता। उन्हें अपने 'स्व' और 'स्वत्व' की प्रतीक्षा में कितने वर्ष युग बीत जाएंगे पता नहीं है। यह नेपथ्य है इसे मंच पर पहुंचने में कल्पान्त, कई युग लगेंगे।" इसी को लेकर मेधा कहती है– "मंच तक पहुँचने में युग बीत जाएँगे। हज़ारों साल पहले भी किसी औरत को औरत होने की कीमत चुकानी पड़ी थी। पर माँ वह युग क्या कभी आएगा... जब आषाढ़ और श्रावण के मेध बरसेंग ... जब नेपथ्य ... नेपथ्य नहीं रहेगा। लेकिन पुरुष षड्यंत्र स्त्री को 'मंच पर अब सुविधा नहीं है–नेपथ्य में काफी संभावनाएं हैं।कहकर उसके ज्ञान, प्रतिभा का दमन करता है, कर रहा है।" यह पूरी कहानी संस्कृति अंदर संस्कृति को दिखाती है। भारतीय संस्कृति की कई अंतःधाराएं हैं जो आपस में टकराती है। पुरुष सत्ता की संस्कृति सहसा महिलाओं के मूल बलिदान की संस्कृति है।

विभारानी आज के समय की एक सशक्त रचनाकार हैं। इन्होंने अपने रचना के इतर भी अन्य कार्यों से महिला संस्कृति को एक अलग और नया आयाम देने का कार्य किया है।

पुरुष और स्त्री दो अलग–अलग विचारों, अकांक्षाओं के वाहक हैं। पुरुष वर्ग ने अपनी सत्ता, संस्कृति कायम करने के लिए स्त्रियों को सदा से दूसरे पायदान पर रखा है। अगर प्रकान्तर से देखें और कहें तो पुरुष ने, अपने सत्ता की रक्षा के लिए जो नियम, समाज, कायदे बनाए, उससे जिस संस्कृति का निर्माण हुआ, उसमें सबसे अधिक कुर्बानी महिलाओं ने दी है। आधुनिक युग और आधुनिक शिक्षा व्यवस्था ने महिलाओं को उनकी अस्मिता का भान कराया है। यह एक सुखद आश्चर्य है कि मात्र कुछ ही दशकों में महिलाओं ने न केवल अपनी अस्मिता को बेहतरीन पहचाना और स्थापित किया है बल्कि कई क्षेत्रों में पुरुष सत्त को पछाड़ा भी है।

इस दौरान समय–समय पर जो भी सामाजिक ग्रंथियाँ उत्पन्न और समाप्त हुई हैं, जिनसे महिलाओं को असुविधा हुई है, वे सभी पुरुष और महिला सोच और संस्कृति की टकराहट के परिणाम स्वरूप उत्पन्न हुई है।

सन्दर्भ सूची

1.स्त्रियाँ एवं रंगमंच : पारसी रंगमच से नुक्कड़ नाटकों तक का सफर, हिन्दी समय, ISNN : 23994-6687 सुप्रिया पाठक

2.स्त्रियाँ एवं रंगमंच : पारसी रंगमच से नुक्कड़ नाटकों तक का सफर, हिन्दी समय, ISNN : 23994-6687 सुप्रिया पाठक

3.उत्तर आधुनिकता : कुछ विचार, देवीशंकर नवीन, पृ. 56

4.हिन्दी महिला नाटककार : विकासात्मक अध्ययन, पृ. 79

5.हिन्दी महिला नाटककार : विकासात्मक अध्ययन, पृ. 88

6.हिन्दी महिला नाटककार : विकासात्मक अध्ययन, पृ. 106

7.हिन्दी महिला नाटककार : विकासात्मक अध्ययन, पृ. 107

8.हिन्दी महिला नाटककार : विकासात्मक अध्ययन, पृ. 115

9.हिन्दी महिला नाटककार : विकासात्मक अध्ययन, पृ. 117

10.हिन्दी महिला नाटककार : विकासात्मक अध्ययन, पृ. 117

****

लोक साहित्य और लोक परम्परा में लोकदेवता

-डॉ. दिनेश बिवाल
एम.ए. समाजशास्त्र, राजनीतिशास्त्र,
एम.फिल, पीएच.डी.

प्रस्तावना -

लोक साहित्य में लोक संस्कृति और लोक परम्परा की प्रथाए, परम्पराएँ लोक साहित्य के परिवेष में लोकवार्ताओं में गुंफित रहते है। प्रस्तुत अध्ययन में लोक साहित्य के अन्तर्गत मुख्यतः राजस्थान के लोकसाहित्य को समाहित किया गया है। जिसमें राजस्थान की समसामयिक लोक परम्पराओं के अन्तर्गत वहाँ के प्रमुख लोकदेवता गोगा जाहरवीर के अध्ययन को परिलक्षित किया गया है।

लोक साहित्य और लोक परम्परा में लोकदेवता गोगा जी राजस्थान के प्रमुख लोकदेवता के रूप में जाने एवं पूजे जाते है। जो सम्पूर्ण राजस्थान के जनमानस के दिलो में अपनी अमिट छाप जमाए हुए है ? राजस्थान का प्रत्येक वर्ग लोक देवता जाहरवीर गोगादेव को अपने मनलोक में प्रतिष्ठित कर उनकी वन्दना करता है। 1

विषय वस्तु/बीज शब्द - लोक साहित्य, लोक परम्परा, लोक देवता, जाहरवीर, गोगा

के जन्म, काल समय का अध्ययन।

मुख्य अंश/उद्देश- लोक साहित्य अतीत और वर्तमान को जोड़ने वाली कड़ी है। [2] वस्तुतः समाज की आत्मा का प्रतिबिम्ब है। सामाजिक बोध तथा समाज के विकास की सूक्ष्म रेखाएँ लोक साहित्य में प्रतिबिम्बित रहती है। इसमें धर्म, इतिहास, पुराण तथा आख्यान सभी कुछ समाया रहता है। वस्तुतः लोक साहित्य को उल्लेखित करने के उद्देष्य से राजस्थानी लोकदेवता गोगा जी के जीवन दर्षन का चित्रण किया जा रहा है। लोक मानस की अभिव्यक्ति लोक साहित्य में होती है। अतः किसी भी देष अथवा प्रदेष के लोक जीवन का वास्तविक अध्ययन वहाँ के लोक साहित्य के अध्ययन के बिना अपूर्ण और शून्य रहता है।

इसी लोक साहित्य के लोक जीवन को समझने के लिए लोक परम्परा की दृष्टी से अध्ययन करके राजस्थान के

लोक साहित्य में लोक परम्परा और लोक देवता गोगा जी का चित्रण किया जा रहा है।

राजस्थान में वीर पूजा की परम्परा प्राचीन है। परम्सत्ता के अवतार के रूप में अथवा लोक देवता के रूप में वीर पूजा की पद्धति भारत में प्राचीनतम् युग से चली आ रही है। [3] इसी लोक परम्परा में जाहर वीर गोगा जी आते है। जो राजस्थान के लोक मानस में आस्था श्रृद्धा, के अधिकारी बने। तथा इनके चमत्कारो से राजस्थान में लोकदेवता गोगा जी जाहरवीर को देव पुरूष मानकर उनके मंदिर स्थापित किए गए।

राजस्थान की सदियों से गोरवषाली परम्परा रही है। इसी लोक परम्परा में राजस्थान में अनेको महापुरूषो ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। इसी महापुरूषो में देवअंषावतार लोकदेवता जाहरवीर गोगा जी उत्तर भारत के लोकदेवता के रूप में प्रसिद्ध हुए। लोकदेवता गोगा चौहान ने ददरेवा राजस्थान में जन्म लेकर रेगिस्थान के मुख भटनेर, नोहर, रावत सर, भादरा, चुरू, गोगामेडी में अपना प्रभुत्व बनाते हुए वहॉ के शासक बने। एवं गऊरक्षक, नारी मर्यादा रक्षक, देष धर्म रक्षक योद्धा के रूप मे प्रतिष्ठि हुए। गोगा जी के जीवन को लेकर अनेक चमत्कार इनकी लोक कथाओ में मिलते है। जिसका ज्वलन्त प्रमाण है, कि षिव अवतारी गुरू गोरक्षनाथ ने अपनी उपासिका ददरेवा राज्य राजस्थान की महारानी देवी बाछल को पुत्र प्राप्ती हेतु वरदान देने के लिए पाताल लोक में प्रस्थान किया।

शिव अवतारी गोरखनाथ के साथ गुरू मछन्दर शिव, विष्णु ब्रम्हा भी पाताल लोक में पधारे। शिव स्वरूप गोरख दानी वहॉ आए, जहॉ पातालपति राजा वासुकी ने जन्मेजय की आत्मा छुपाकर रखी थी। वह जाहर वृक्ष था, जिसकी खोह में जन्मेजय की आत्मा केद थी। गोरखनाथ ने योगबल से देखकर उस वृक्ष को प्रणाम किया। और वासुकी से जन्मेजय की आत्मा दान स्वरूप मॉगी, पहले तो वासक ने इनकार किया फिर शिव ब्रम्हा विष्णु के कहने पर वासक ने जाहरवृक्ष की खोह में से जन्मेजय की आत्मा निकाली फिर अभिमंत्रित करके उसे पदमनाग के रूप में परिवर्तित किया। तब गोरखनाथ को बासक ने जन्मेजय रूपी पदमनाग दिया, जिसे गोरख ने पास के गूगल वृक्ष से गूगल लेकर मंत्र बल से जन्मेजय पद्मनाग की आत्मा को गूगल में प्रवेष कराया। मछन्दर षिव ब्रम्हा विष्णु ने अनेक वर दिए, तथा बासक को धन्यवाद देकर वहॉ से अपने स्थान गए। गोरख अपनी उपासिका देवी बाछल के पास आए देखा बाछल की सेवा में काया

गल गई है, गोरख ने मंत्रबल में बाछल की काया कंचन की, और गूगल दिया तथा कहा बेटी इसे बाटकर खाना। बाछल ने वह अभिमंत्रित गूगल स्वयं खाया, मेहतरानी, ब्रम्हाणी, चमारिन एवं लीली घोडी को खिलाया। समय आने पर सभी को पुत्र हुए। एवं रानी बाछक को गोरखनाथ की कृपा से जन्मेजय पद्म अंश जाहरवीर गोगा पैदा हुए।

लोक देवता गोगा जी के सम्मान में जनमानस की गहरी आस्था है। जाहरवीर गोगा जी के प्रति अटूट विष्वास एवं कर्मकाण्ड मुख्यतः राजस्थान के विभिन्न स्थानो पर देखने को मिलते है। राजस्थान के साथ साथ भारत वर्ष में लोकदेवता के रूप मे मान्य जाहरवीर गोगाजी का अत्यन्त आदरणीय स्थान है।

जाहरवीर गोगा जी षिव अवतारी गोरक्षनाथ की कृपा से उत्पन्न अलौकिक शक्ति सम्पन्न विभति माने जाते है। [4]

समाज के विभिन्न वर्ण में जन्म लेने वाले में असाधारण लोक पुरूष जो अपनी चमत्कारी गुणों के कारण लोकदेवता के रूप में प्रख्यात हुए, उनमें प्रमुखतः जाहरवीर गोगाजी है। राजस्थान की लोक संस्कृति में लाकगाथाओं का महत्वपूर्ण स्थान है, इनमें मुख्यतः गोगा जी की लोकगाथाए जुडी हुई है। इन वीरो ने अपने वीरोचित कार्यो, वचन पालकता एवं कर्तव्यनिष्ठा के बल पर समाज में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखा। और अपनी चारिजिक विषेषताओं के परिणाम स्वरूप उनको लोकदेवता के रूप में पूजा जाने लगा। [5]

लोकदेवता गोगाजी:- गोगाजी राजस्थान के प्रमुख पाँच लोकदेवताओं में है। यह दोहा प्रचलित है - ''पावू हरबू रामदे - मांगलिया मेहा- पांचू पीर पधारज्यों गोगादे जेहा'' [6]

समूचे राजस्थान के साथ साथ मालवा, पंजाब, हिमाचल, गुजरात और उत्तरप्रदेष आदि प्रान्तों में भी लोकदेवता गोगाजी की मान्यता बड़ी प्रबल है। गोगाजी का एक नाम जाहरवीर भी है। 7

लोकदेवता गोगाजी की मेड़ियॉ पूरे राजस्थान में है, लेकिन ददरेवा और गोगामेड़ी की मेड़ियॉ सबसे मुख्य है। यहॉ बदी नवमी और भादो सुदी नवमी को गोगाजी की विषेष तिथियाँ होती है। इसमें राजस्थान भर में अनेको स्थानों पर मेले लगते है, तथा गोगा जी की विषेष पूजा की जाती है। 8

कनिघंम ने लिखा है कि पंजाब के निचले हिमालय में गुग्गा, गोगा के बहुत से मंदिर है और मैदानो का दरिद्र वर्ग भी ऐसे प्राचीन वीर की स्मृति के प्रति श्रद्धा रखता है। उनके जन्म तथा उद्भव के कितने ही विवरण दिये जाते है ? एक अन्य विवरण में उसे रजवाड़ा जंगल के दर्द दरेहरा का स्वामी कहा गया है ? 9

लोकदेवता गोगा के जन्म के विषय में लोक वार्ता है कि जब षिव अवतारी गुरू गोरख नाथ ने पाताल लोक से बासक से लेकर पद्मनाग को गूगल में मिलाकर अपनी सेविका महारानी बाछल को दिया था। तो उसमें नाग अंष था। और बाछल रानी ने वह गूगल सेवन किया था। जिससे वह गर्भवती हुई थी। षिव की साक्षात प्रतिमूर्ति नाथ षिरोमणी गोरख योगी के परम् आषीर्वाद से बाछल रानी को भादो की नवमी को रात्रि में बारह बजे पुत्र रत्न प्राप्त हुआ, पुत्र के पैदा होतें है। जिसका नाम गोगा जाहरवीर रखा गया। उसके शरीर पर जगह जगह नाग आकृतियॉ बनी हुई थी। और उस बालक के मस्तक पर आमने सामने दो नागो की छोटी छोटी आकृति बनी हुई थी। वह दोनो आकृति जन्मेजय एवं पद्मनाग की थी। जब बाछल ने देखा कि बालक गूगा जाहरवीर के मस्तक पर दो नाग आकृतियॉ बनी है। और उसके पूरे शरीर पर जगह अन्य नाग आकृतियॉ बनी हुई है, तो वह घबरा कर मूर्छा खाकर गिर गई।

कुछ समयोपरान्त ददखेडे की महारानी बाछल की मूर्छा भंग हुई। तभी देवी बाछल ने फट से गुरू गोरखनाथ का आव्हान किया। गोरखनाथ जी कुछ ही समय में अपनी सेविका देवी बाछल रानी के सामने उपस्थित हुए। तब बाछल ने कहॉ, गुरूदेव गोरख स्वामी जी मुझे आपका वरदान तो फलीफूत हो गया। साथ ही यह चॉद सा मुखडा लिए हुए बालक गोगा जाहरवीर के रूप में पूत्र रत्न भी प्राप्त हो गया है। परन्तु गुरूदेव इस बालक के मस्तक पर दो नाग आकृतियॉ हमेषा सामने सबको दिखेगी और इसके शरीर पर भी थी अनेको नाग आकृति बनी है। बाछल ने कहा गुरू गोरख स्वामी आप ऐसा कुछ किजिये जिसके शरीर से यह सभी नाग आकृतियॉ मिट जाए।

देवी बाछल की बात सुनकर नाथ श्री गोरख स्वामी ने कहा, तुम चिन्ता छोड दो। मैं अभी तुम्हारा दुख मेटूॅगा। गोरख स्वामी तुरन्त पाताल में बासक के पास गए और विचार कर सारी बात बताई। तब बासक गोरखनाथ को लेकर अमृत कूप पर आए, वहॉ से गोरख के कमण्डल में बासक ने अमृत दिया और अपने महल में से हवन की राख देकर कहा, इस राख का बालक गोगा के शरीर पर लेपन करके अमृत को शुद्ध जल में डालकर बालक को स्नान कराना, इसके शरीर के सारे नाग आकृति के चिन्ह मिट जाएगे। गोरख बासक से विदा लेकर चले, और बाछल के समक्ष आकर सारी युक्ति बताई। बाछल ने बालक गूगा के शरीर पर राख लेपन किया, और शुद्ध जल में गोरखनाथ ने अमृत डालकर बाछक को दिया, तब बाछल ने जाहरवीर गोगा जी को उस अमृत जल डालकर गोगा को स्नान

कराया, जिससे बालक गोगा के सारे शरीर पर से नाग आकृतियॉ मिट गई। और बालक गोगा के मस्तक पर निकली जन्मेजय एवं पद्म नाग की, नागआकृतियॉ भी विलोप हो गई। गोगा की काया कंचन समान हो गई। गोरख स्वामी बाछल को आशीर्वाद देकर वापस चले गए।

लोक देवता गोगा जाहरवीर की ऐसी अनेको लोक वार्ताए, एवं लोक कथाए देखने सुनने को मिलती है।

लोकदेवता के रूप में विख्यात गोगाजी गायो के रक्षक देवता के रूप में भी प्रसिद्ध है। जाहरवीर गोगाजी ने यवन शासको से कई बार युद्ध करके गायों को हरन करने से रोका और गुरूरक्षक योद्धा के रूप में अपने आपको सिद्ध किया।

मध्यकालीन वीर महापुरूष जाहरवीर विभिन्न सम्प्रदायों की श्रद्धा अर्जित कर एक धर्म-निरपेक्ष लोक देवता के नाम से पीर के रूप में प्रसिद्ध हुए। गोगा जी का जन्म राजस्थान के ददरेखा चौहान वंष के शासक जैबर जी (राजा जेवर सिंह) की पत्नि बाछल, कंवर के गर्भ से, गुरू गोरखनाथ के वरदान से, भादो सुदी नवमी को हुआ था। वे चौहान वंष में सबसे वीर और ख्याति प्राप्त राजा थे। गोगा जी का राज्य सतलुज से हॉसी हरियाणा तक था। 10

लोक पुज्य देवता गोगा जाहरवीर को उनके अनुयायी गोगा, गुग्गा, गुग्गा राणा, गोगावीर, गोगापीर, जाहर, जाहरपीर, लखदाता, मुण्डलीक आदि नामों से जानते और पूजते है। उनका जन्म स्थान चुरू जिला राजस्थान के राजगढ़ तहसील से लगभग 8 मील - 13 किलो मीटर पष्चिम रिणी (आधुनिक नाम तारानगर) जाने वाले मार्ग पर ददखेडा, दत्ताखेडा नामक जगह पर हुआ था। गोगा जी के दादा उम्मर राव, दादी फूलादे, पिता जेवरसिंह चौहान, चाचा नेवरसिंह सिंह चौहान, माता रानी बाछल, मौसी काछल, मौसेरे भाई अर्जुन सर्जुन थे। गोगाजी के परममित्र जो गोरख प्रदत्त गूगल से जन्मे थे, रतनसिंह, भज्जूसिंह, नाहरसिंह एवं लीला अष्व था। एंव गोगा जी की पत्नि सिरियल रानी थी।

निष्कर्ष:-

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते है कि लोक साहित्य एवं लोक परम्पराओं में निहित राजस्थान के लोकदेवता गोगाजी चौहान के अनेको अनेक आख्यान अभी भी जनमानस से ओझल है। लोक साहित्य और लोक परम्पराओ के माध्यम से राजस्थानी लोक देवता गोगा जी जाहरवीर का जीवन चित्रण शोध कार्यो से पहुचना आवष्यक है।

दृष्टव्य है कि लोक साहित्य और लोक परम्पराओं में राजस्थानी लोक देवता जाहरवीर गोगाजी का विषिष्ट स्थान एवं विषिष्ट प्रभुत्व है। इसीलिए वे लोक देवता के रूप में पूजित है।

सन्दर्भ:-

1. दिनेश बीवाल - भगवान गोगा देव: एक लोक देवता - पृष्ठ - 01 - 2007
2. डॉ.यू. कस्तूरिया - राजस्थानी वीर गाथात्मक पवाडे - आमुख
3. डॉ.यू. कस्तूरिया - राजस्थानी वीर गाथात्मक पवाडे - पृ0-153
4. दिनेश बीवाल - भगवान गोगादेवः एक लोकदेवता - पृ0-02 -2007
5. परम्परा शोध पत्रिका चोपासनी जोधपुर - अंक, 21, 22
6. डॉ. विक्रमसिंह भाटी - राजस्थान के लोक देवता - पृ0 -16 - 2017
7. चन्द्रदान चारण - गोगा चौहान री राजस्थानी गाथा - पृ0 -10 -1962
8. रिपोर्ट मर्दुम शुमारी - रायबहादुर मुंषी हरदयाल सिंह -2010
9. कनिंधम - हिस्ट्री आफ द सिक्ख - पृ.-11 -1812 - अप्रैल 2002
10. राजस्थान डिस्ट्रीक गजेटियर - 1972

****

संस्मरण कला की कसौटी पर देवेन्द्र सत्यार्थी कृत 'यादों के काफिले'

-सुगन्धि गुप्ता
शोधार्थिनी
हिंदी विभाग
गुरूनानक देव विश्वविद्यालय, अमृतसर, पंजाब 143005
मो.8713084506

संस्मरण हिन्दी गद्य साहित्य की एक ऐसी विधा है जो बढ़ते दौर के साथ अधिक प्रचलित होती जा रही है। संस्मरण का शाब्दिक अर्थ है ''स्मरणीय'' अर्थात ''किसी व्यक्ति के संबंध की स्मरणीय घटनाएँ या उनका उल्लेख।''[1] अग्रेज़ी में संस्मरण के लिए ''memoir''[2] शब्द का प्रयोग किया जाता है। संस्मरण एक ऐसी विधा है जो आत्मीयता का भाव और लेखक का निजीपन सामने लेकर आता है। संस्मरण स्मरण शक्ति पर आधारित होते हैं इसलिए संस्मरणों में काल्पनिकता नहीं होती है।

''गद्य रूपों में संस्मरण की प्रवृत्ति अपेक्षाकृत व्यापक है। संस्मरण के केन्द्र में व्यक्ति ,घटना, यात्रा या कोई अन्य प्रसंग हो सकता है पर अधिकतर संस्मरण व्यक्ति चरित्र को आधार बनाकर लिखे गए हैं।''[3]

प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कोई न कोई ऐसी घ ाटना अवश्य घटित होती है जो अपना प्रभाव पूर्ण रूप से व्यक्ति के मस्तिष्क पर डालती है और जब उसी घटना को संस्मरणकार रेखांकित करता है, उसे संस्मरण कहा जाता है।

हिन्दी साहित्य की दृष्टि से पंजाब एक ऐसा प्रान्त रहा है जहा हिन्दी साहित्य और हिन्दी भाषा का इतना विकास हुआ है, जितना किसी अन्य क्षेत्र में नहीं हुआ है। अनेक लेखक, कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, संस्मरणकार आदि का जन्म पंजाब प्रान्त में हुआ है और उन्होंने किसी न किसी रूप में हिन्दी साहित्य को गौरवमयी बनाने का कार्य किया है। संस्मरण साहित्य की यदि बात की जाए तो अनेक संस्मरणकारों का जन्म पंजाब में हुआ है जिसमें रवीन्द्र कालिया, कृष्णा सोबती, अनीता राकेश, उपेन्द्रनाथ अशक, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि उल्लेखनीय हैं।

''हिन्दी साहित्येतिहास में पंजाब प्रान्तीय हिन्दी साहित्य का महत्तवपूर्ण स्थान है। साहित्य रचना की दृष्टि से पंजाब अत्यंत समृद्ध प्रान्त रहा है।''[4]

कविता, उपन्यास, कहानी की भांति ही पंजाब में अन्य गद्य विधाओं पर भी पर्याप्त मात्रा में साहित्य उपलब्ध है जिसमें मुख्य रूप से आत्मकथा, जीवनी, रे खाचित्र, यात्रावृतांत, निबन्ध, संस्मरण आदि आते हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी एक लेखक, कवि, उपन्यासकार, कहानीकार, संस्मरणकार के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं, जिनका जन्म सन 1908 को 'संगरूर' जिले के एक गांव 'भदौड़' में हुआ था। सन 1926 को लाहौर के डी.ए.वी. कॉलेज से पढ़ाई छोड़कर लोक यात्रा पर निकल पड़े और पूरी उम्र लोक यात्राएँ करते रहे। उन्होंने कविता, उपन्यास, कहानी के साथ साथ हिन्दी साहित्य की नवीन गद्य विधाओं पर भी जमकर साहित्य लिखा। अपना सारा जीवन समाज और साहित्य को अर्पित कर देना उनका परम लक्ष्य था। एक संस्मरणकार के रूप में उन्होंने समाज के हर पक्ष पर अपनी नजर रखकर एक सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की है। ''वह हिन्दी, पंजाबी, उर्दू, और अंग्रेजी में अधिकार पूर्ण शैली में लिखते थे।''[5]

'यादों के काफ़िले' देवेन्द्र सत्यार्थी का एक चर्चित संस्मरण–संग्रह है जिसका प्रकाशन सन 2000 में हुआ था। यह संस्मरण अपने आप में सम्पूर्णता का भाव लिए हुए है। इस संग्रह में कुल मिलाकर 36 संस्मरण लिखे गए हैं, जिसमें ख्याति प्राप्त व्यक्ति, लेखक, मामूली व्यक्ति, कलाकार, राजपुरुष, समाजकर्मियों और जिन व्यक्तियों ने सत्यार्थी जी के मस्तिष्क पर गहरी छाप छोड़ी, उनका वर्णन है। सत्यार्थी जी ने अपने संस्मरणों को एक कड़ी चुनौती के रूप में स्वीकार किया है और उसमें उन्होंने खरा उतरने का प्रयास भी किया है।

देवेन्द्र सत्यार्थी एक ऐसे संस्मरणकार थे जिनके भीतर अनेक कलाओं का ज्ञान फूट–फूट कर भरा हुआ था और वह अनेक कलाओं के मर्मज्ञ थे। वास्तुकला, संगीतकला, चित्रकला, यात्रा विवरण कला और काव्यकला का ज्ञान उन्हें पूर्ण रूप से था, जिसके फलस्वरूप ही संस्मरणों में उन्होंने इन कलाओं का चित्रण किया है। एक संस्मरणकार अपने संस्मरणों में मूलतः बीते क्षणों को याद करके उसको प्रभाव''ाली बनाने का कार्य करता है, लेकिन

सत्यार्थी जी अपने संस्मरणों में लोककलाओं को इकठठा करते नजर आते हैं।

देवेन्द्र सत्यार्थी की संस्मरण कला के कई विशिष्ट पहलू है, जिनपर आगे प्रकाश डाला जा रहा है :

वस्तुकला

सत्यार्थी जी एक लोकयात्री थे, जिन्होंने अपना सारा जीवन लोकगीत, लोककला, लोकसाहित्य को इकट्ठा करने में व्यतीत किया। लोक के किसी भी कार्य को करने में वह पीछे नहीं हटते थे और इसमें सुख का अनुभव करते थे। अपने संस्मरणों में भी वह न तो ज्यादा विस्तार में जाते हैं, न ही खुद को थोपने की कोशिश करते हैं और न ही कुछ असाधारण बटोरने की इच्छा र खते हैं। अपने संस्मरणों के द्धारा अनेक परिचित एवं अपरिचित व्यक्तियों के चरित्र और उनकी विशेषताओं का अंकन सत्यार्थी जी ने भली–भान्ति किया है। 'यादों के काफ़िले' के सारे संस्मरण एक जैसे न होकर भिन्नता र खते हैं, लेकिन स्पष्टता का भाव सब संस्मरणों में भरपूर मात्रा में उपलब्ध है। अपने संस्मरणों में किसी भी पात्र को दूसरे दर्जे का न मानकर सबको प्राथमिकता देने का कार्य सत्यार्थी जी ने किया है।

'एक नीग्रो सैनिक से भेंट' पढ़कर पता चलता है कि कैसे वह बातों–बातों में उस नीग्रो सैनिक का हृदय पढ़ लेते हैं और अमरीका के काले लोगों की दुख और अपमानपूर्ण जिंदगी से हमें जोड़ देते हैं। वह कहते हैं :

''बात करते–करते नीग्रो सैनिक जोर से खिलखिला कर हँस पड़ता तो यों लगता कि वह अपनी जाति की बची खुची वेदना पर परदा डाल रहा है। कई बार यों लगता कि उसके मन में कहीं कोई ऐसी गांठ पड़ गई है जो हजार यत्न करने पर भी खुलती नहीं। मुझे एक नीग्रो लोकोक्ति की याद आने लगती–'गाँठ का कहना है कि संसार कभी आगे जाता है,कभी पीछे आता है।'ऐसी भी क्या गाँठ है जिसे मैं नहीं खोल सकता, मैं उससे कहना चाहता था।''[6]

चरित्रकला

सत्यार्थी जी ने बिना किसी संकोच के अपने आप को सबके सामने रखा है। गिनी–चुनी रेखाओं में ही अप. ने और अपने पात्रों के स्वभाव और व्यक्तित्व को उभारने का गुण उनसे सीखा जा सकता है। ''संस्मरण में संस्मर्ण्य का व्यक्तित्व एवं चरित्र अंकित करना संस्मरणकार का प्रधान लक्ष्य होता है। अपने संस्मरण नायक के जीवन की किसी विशिष्ट घटना को लेकर उसके समग्र व्यक्तित्व को अभिव्यक्ति देना संस्मरणकार की सफलता है।''[7] अपने संस्मरणों को विशिष्ट ढंग से प्रस्तुत करते हुए सत्यार्थी जी ने अपने संस्मरणों के पात्रों की वेशभूषा, उनका रंग, उनका आकार, उनका पहनावा, आदि का चित्रण करते हुए पाठकों को उनकी ओर आकर्षित किया है। कभी–कभार तो उनके पात्रों के साथ एक संवेदना का, एक प्रेम का ऐसा जुड़ाव अनुभव होता है कि मानों वह पात्र प्रत्यक्ष रूप में हमारे ही संबंधी हों। 'अमृता प्रीतम' नामक संस्मरण में वे लिखते हैं :

''अमृता प्रीतम का कद बहुत लम्बा नहीं। चेहरे पर सदा मुस्कान की रेखाएँ उभरती–सी; वेशभूषा में सदैव नये रंग का अन्दाज़, आखें सामने आये व्यक्ति के हृदय और मस्तिष्क को टोहती–सी; सामने कोई लेखक हो तो वही नपा–तुला प्रश्न–'की लिख रए हा'? 'मेक अप' न एकदम सादा न एकदम भड़कीला –यों अमृता प्रीतम के व्यक्तित्व की रूपरेखा अंकित की जा सकती है। जैसे सहज ही उसे फिर चिर यौवन का वरदान मिल गया हो, आँखों मे काजल की रेखाएँ जैसे नारी की चिरन्तन सौन्दर्य–प्रियता की साक्षी दे रही हों।''[8]

यात्रा विवरण कला

सत्यार्थी जी आत्मभिव्यक्ति के धनी थे। प्रत्येक स्थिति का अनुभव करना उन्हें सुखदायी लगता था, जिसके फलस्वरूप वह किसी एक स्थान पर टिक नहीं पाते थे। एक के बाद दूसरी, फिर तीसरी, फिर चौथी न जाने कितनी यात्राएँ वह करते जाते थे। उनकी मानसिकता थी कि यात्री का काम केवल यात्राऍ करके लौट आना नहीं होता है, बल्कि उन यात्राओं के अच्छे–बुरे पलों को अगली यात्राओं में याद रखना और उस पर नया रंग चढ़ाना होता है। एक यात्री की स्मृति में यदि प्राण नहीं हो तो उसकी यात्रा व्यर्थ मानी जाती है। यात्रा का नाम सुनते ही एक स्फूर्ति, एक उमंग, एक उल्लास का भाव उनके भीतर फूटने लगता था। किसी व्यक्ति को दे खकर उनको उतनी खुशी नहीं होती थी, जितनी किसी नए स्थान को देखकर होती थी। 'यात्री के संस्मरण' नामक संस्मरण में वह लिखते है कि :

''पिछली यात्रा का रंग अब की यात्रा के रंग के नीचे दबने न पाये, यह ध्यान रहे। पिछली यात्रा की रेखाऍ भी आव''यक थीं, पर अब की यात्रा की रेखाऍ भी कुछ कम आव''यक नहीं।''[9]

जिसे पथ की पुकार सुनाई दे, जिसके कानों के पर्दे खुले हो, जिसके भीतर ठहराव हो वहीं यात्री हो सकता है। अपने आस–पास के वातावरण में खुद को डालने और ज्ञान को संचित करना एक यात्री की सच्ची पहचान है। एक सफल यात्री के रूप में सत्यार्थी जी ने, किसी भी तरह के ज्ञान से खुद को वंचित नहीं रखा और निरंतर अग्रसर होते रहे। यात्रा से व्यक्ति के भीतर एक नया रक्त, एक नयी स्फूर्ति आती है। 'रवीन्द्रनाथ ठाकुर', 'बापू का रेखाचित्र', 'प्रेमचंद : एक चित्र', 'होमवती', 'अज्ञेय से मिलिए' आदि संस्मरणों के माध्यम से यह लक्षित होता है कि सत्यार्थी जी पर इन सभी का प्रभाव पूर्ण रूप से पड़ा। 'मुल्कराज आनन्द' नामक संस्मरण में वह लिखते है :–

''मुझे बस एक खानाबदोश समझिए। लोकगीत की तलाश रहती है। नये गीत, नये चेहरे। पैर का चक्कर। कोई एक स्थान मुझे बाधकर नहीं रख सकत. T।''[10]

लोकगीत एवं संगीतकला :

लोकगीत आम व्यक्तियों द्वारा रचे जाते है, इसलिए उनमें वास्तविकता का और जीवन की सच्चाई का अंकन किया जाता है। सत्यार्थी जी ने केवल अपने क्षेत्र के ही नहीं बल्कि, अनेक क्षेत्रों के लोकगीतों को इक्ट्ठा करके उनके मर्म को जानना चाहा। ''लोकगीतों के प्रति मेरा आकर्षण एक साहित्यकार के नाते ही अधिक रहा है। एक गायक के रूप में नहीं के बराबर। यह और बात है कि कितने ही गीतों की धुनें भी मेरे लिए जादू का असर रखती है और उन्हें सीखने के लिए मुझे कोई खास प्रयत्न भी नहीं करना पड़ा। ये धुने अपने आप मुझे याद होती गई और अपने भाषणों में मैं अनेक अवसरों पर कुछ गीत गाकर भी सुनाता रहा हूँ।''[11]

लोकगीतों में निहित समूची मानवता की भाषा का व्यक्तित्व अनुभव उनके लिए बहुत महत्तवपूर्ण था। लोकगीतों पर से उनका ध्यान कभी भटका नहीं जिसके फलस्वरूप वह अनेक स्थानों पर उनकी चर्चा करते नजर आते है। वह अपने एक मित्र को पंजाबी लोकगीत भी सुनाते है जिसके बोल इस प्रकार है :

''बाजार बकेंदी बरफी
मैनूँ लैदे निक्की जिही चरखी
ते दुखाँ दीया पूणियाँ
जीवें ढोला!
ढोल जानी!
साड़ी गली आवें तैड़ी मेहरबानी।''[12]

इस प्रकार देखा जाए तो, गीत के बोल व्यक्ति की भावनाओं के साथ जुड़कर अपनत्व का अहसास करवाते है, जो लोकगीत की महत्ता को दर्शाता है। वह एक ऐसे लोकगीतकार थे, जिन्हें जब भी किसी गायक के मुख से कोई नई चीज़ सुनने का अवसर प्राप्त होता था तो वह उसका मूल्यांकन समूची मानवता की भाषा के व्यक्तिगत अनुभव की दृष्टि से करते थे। उनका मानना था कि, जिस प्रकार लोकगीत के शब्दों की रक्षा करना आवश्यक है, उसी प्रकार लोकगीत की लोकधुन को भी बचाकर रखना आव"यक है।

लोकगीतों की विशेषता बताते हुए ''संगीत में नई आवाज़'' नामक संस्मरण में वह लोकगीत को शास्त्रीय संगीत से अधिक महत्तवपूर्ण बताते है। लोकगीतों का कला में उँचा स्थान मानते थे और जहां जाते थे वहां के लोकगीतों को इकट्ठा करके अपने पास रखते थे। मैसूर राज्य में जोग के जल प्रपात के विषय में जब उन्हें कोई लोकगीत प्राप्त नहीं होता तो, उन्हें गहरी चोट लगती है, जो यह बात सिद्ध करता है कि, वह एक सच्चे लोकगीतकार थे।

लोककला

कला के प्रति सत्यार्थी जी के हृदय में एक अनोखा आकषर्ण था, अनेक कला–वस्तुओं को देखने के लिए उन्होंने बहुत परिश्रम किया और उसमें सफल भी हुए। लोककला के विषय में सत्यार्थी जी को जितना ज्ञान था, वह वांछनीय है। उनका मानना था कि जीवन और प्रकृति का अध्ययन किए बिना कोई व्यक्ति कलाकार नहीं हो सकता। एक रंग के समीप दूसरे रंग को किस प्रकार स्नेह या सम्मान प्रकट करना चाहिए इस बात का ज्ञान उन्होंने बड़े–बड़े चित्रशिल्पीयों से ग्रहण करने का यत्न किया था। पुराने और नए चित्रों को परखते समय उन्हें किसी प्रकार की कोई झुझँलाहट नहीं होती थी। चित्रों से बातें करना, उनका मर्म जानना उन्हें रुचिकर लगता था। एक कलाकार की भान्ति, वह कला की वास्तविकता से परिचित थे और कलाकार के दायित्व भी जानते थे। उनका मानना था कि ''कलाकार यदि अन्तर की बात प्रकट करने में असमर्थ रहता है तो उसे कलाकार की पदवी मिल ही नहीं

सकती।''[13]

अनेक व्यक्तियों को चित्र अंकित करते देखकर उनके भीतर भी रंगों के साथ खेलने की और कूची को चलाने की इच्छा होती थी। चित्रकला के प्रति आकर्षित होते हुए वह, उसके इतने अधिक समीप चले गए मानों मीलों का सफर मिनटों में तय कर लिया हो। एक कलाकार का दायित्व रहता है कि वह दर्शक, पाठक, श्रोता के मन को आकर्षित करके उसे भी अपने जैसी अनूभूती करवाए। कला की सबसे बड़ी विशेषता है, चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति जिसके द्वारा ही कलाकार मृत्यु के पश्चात भी जीवित रहता है। अपने जीवन में उन्हें अनेक कलाकारों के साथ उठने–बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसमें यामिनी राय, अमृत शेरगिल, कलागुरू अवनीन्द्रनाथ ठाकुर, नंदलाल वसु, मास्टर मोशाय आदि सम्मलित है।

अवनीन्द्रनाथ ठाकुर के शिष्य नंदलाल वसु की गहरी छाप सत्यार्थी जी के व्यक्तित्व पर पड़ी। नंदलाल वसु के बारे में सत्यार्थी जी लिखते है कि वह ''वस्तु के स्वभाव को जाने बिना, गुण को समझे बिना, वे कभी तूलिका नहीं उठाते। उनका यह निश्चित मत है कि दीर्घकालीन अनुराग और अभ्यासवश कलाकार कभी–कभी उस अवस्था को प्राप्त हो सकता है, जिसमें वह वस्तु को देखते ही उसके स्वभाव का एक–न–एक पहलू देख पाता है''[14]

'यामिनी राय' नामक संस्मरण के माध्यम से सत्यार्थी जी ने यह बताने का प्रयास किया है कि, एक कलाकार केवल सच्ची प्रेरणा पाकर ही सजग और संतुष्ट होता है न कि निरा धन पाकर। अपने देश के बने हुए रंग लेकर, अपनी लोक संस्कृति के चित्रों को ही प्रधानता प्राप्त करवाना एक लोकचित्रकार का मूल धर्म है।

उपसंहार

सत्यार्थी जी को भी अपने जीवन काल में अनुकूल और प्रतिकूल दोनों स्थितियों का सामना करना पड़ा। उन पर उनके गुरु रवीन्द्रनाथ और महात्मा गांधी का प्रभाव इतना अधिक पड़ा, जिससे किसी भी स्थिती में उन्होंने हार नहीं मानी और डटकर लड़ते रहे।

संस्मरण का परिवेश सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, आर्थिक किसी भी स्थिति से जुड़ा हो सकता है। एक संस्मरणकार संस्मरण को लिखते समय अपनी अन्तर आत्मा के साथ मिलकर अपनी स्मृतियों को अंकित करता है। संस्मरणकार की यथार्थता न कल्पना होती है और न ही उसका संबंध अतियथार्थता के साथ होता है। अपने जीवन के महत्तवपूर्ण क्षणों को याद करके एक संस्मरणकार संस्मरण लिखता है। पात्रों को, घटनाओं को, वस्तुओं को संस्मरणकार पूरी सहृदयता के साथ प्रस्तुत करता है। सत्य घटना पर आधारित होने के कारण संस्मरण साहित्य में अपनी अलग पहचान बना रहे है। आज भले ही सत्यार्थी जी हमारे बीच नहीं है, लेकिन उनकी कालजयी रचनाएँ एक पल के लिए हमें उनसे अलग नहीं होने देती। संस्मरणकार के रूप में सत्यार्थी जी ने समाज के किसी भी पक्ष को अछूता नहीं छोड़ा है। एक अहिन्दी भाषी लेखक के रूप में उन्होंने हिन्दी साहित्य में बहुत अधिक योगदान दिया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1.लोकभारती प्रमाणिक हिन्दी कोश, रामचन्द्र वर्मा (संपा.) नई दिल्ली : लोकभारती प्रकाशन संस्करण 1998, पृ. 878

2.बृहत : अंग्रेजी–हिन्दी कोश, हरदेव बाहरी, ज्ञानमंडल लिमिटेड वाराणसी, प्रथम भाग,1969 पृ. : 1131

3.हिन्दी गद्य : विन्यास और विकास, रामस्वरूप चतुर्वेदी, इलाहाबाद : लोकभारती प्रकाशन, संस्करण 1996 पृ.167

4.पंजाब के हिन्दी साहित्य का इतिहास, हरमहेन्द्र सिंह बेदी, कुलविन्दर कौर, दिल्ली : निर्मल पब्लिकेशन्स, संस्करण 2003, पृ. 251

5.विदा दीपदान, देवेन्द्र सत्यार्थी, दिल्ली : प्रवीन प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1992, फलैप से

6.यादों के काफ़िले, देवेन्द्र सत्यार्थी, नई दिल्ली : इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, संस्करण 2013, पृ.224

7.महादेवी का संस्मरणात्मक गद्य, चरणसखी शर्मा, , दिल्ली : शोध प्रबन्ध प्रकाशन, 1971 पृ. 211

8-यादों के काफ़िले, देवेन्द्र सत्यार्थी, नई दिल्ली : इन्द्रप्रस्थ प्रकाशन, संस्करण 2013 पृ. 157

9.वही पृ.147

10.वही पृ.19

11.वही पृ.211

12.वही पृ.216

13.वही पृ.181

14.वही पृ.182

****

गया जिला 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का हिन्दी काव्य के विकास में योगदान

-प्रोफ़ेसर सुरेश चन्द्र,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया

-नचिकेता वत्स,
शोधार्थी,
भारतीय भाषा विभाग,
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया

सारांश : गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन मगध की साहित्यिक - सांस्कृतिक गतिविधियों का महत्वपूर्ण प्रतिष्ठान है, जो सत्तर वर्षों से निरंतर अपने आदर्श और मानक मूल्यों के साथ सक्रिय है। गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी काव्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह सम्मेलन क्षेत्रीय साहित्यिक प्रतिभाओं को एक मंच प्रदान करता है, जहाँ वे अपनी रचनाओं को प्रस्तुत कर सकते हैं और हिन्दी साहित्य के विभिन्न आयामों पर चर्चा कर सकते हैं। इस सम्मेलन के माध्यम से कई कवि, लेखक और साहित्यकारों ने हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दिया है।

बीज शब्द : सम्मलेन, साहित्यकार, सम्मान, साहित्य, मगही, प्रतिष्ठान, भाषा, बोली

विषय प्रवेश : गया जिला 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' एक प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था है, जिसका उद्देश्य हिन्दी भाषा और साहित्य को बढ़ावा देना और उसकी समृद्ध परंपराओं को संजोना है। यह सम्मेलन बिहार के गया जिले में स्थित है और हिन्दी साहित्य के विकास में इसकी एक ऐतिहासिक भूमिका रही है। यह सत्य है कि इसका इतिहास विष्णुपदी 'फल्गू' की तरह कभी वेगवती धारा के रूप में दृष्टिगत होता है तो कभी अंतः सलिला के रूप में। समय-समय पर परिस्थितियाँ इसके पग बाधित करती रहीं, परंतु यह अथक यात्री निरंतर गतिमान रहा। लघु पत्रिका और लघु साहित्यिक संस्थान को जितना कुछ झेलना पड़ता है, वह सब कुछ झेलकर भी सम्मेलन अपनी हीरक जयंती पर्व मना चुका है। इस यात्रा का इससे बड़ा पुरस्कार अन्य नहीं हो सकता है। निश्चित रूप से यह गया और सम्पूर्ण मगध के लिए एक गौरव की बात है। गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन की अबतक की यात्रा निश्चित रुप से गया - गौरव को इंगित करता है।

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार का प्रथम अध्यक्ष पंडित जगलाल चौधरी थे। पंडित जगलाल चौधरी तत्कालीन समय का एक प्रतिष्ठित साहित्यकार और समाजसेवी थे, जिन्होंने हिन्दी साहित्य और भाषा के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उनके नेतृत्व में सम्मेलन ने हिन्दी साहित्य को प्रोत्साहित करने और स्थानीय साहित्यकारों को एक मंच प्रदान करने का कार्य किया। के उद्देश्य की घोषणा करते हुए वे कहते हैं " गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन का उद्देश्य हिन्दी भाषा एवं साहित्य तथा देवनागरी लिपि का सर्वांगीण विकास और प्रचार-प्रसार करना है।" [1]

उपर्युक्त कथन के आधार पर इस संस्था ने हिंदी भाषा के विकास हेतु विभिन्न प्रकार कार्य करने की ठाना।

(क) बिहार राज्य तथा विशेषतया गया जिला में हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि के प्रयोग की व्यवस्था करना।

(ख) हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि को अधिकाधिक सुगम, सुबोध एवं सुंदर बनाने के लिए उसके अभावों की पूर्ति तथा उसके स्वरुप के विकास का प्रयास करना।

(ग) हिन्दी में उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण और प्रकाशन का आयोजन करना।

(घ) प्रधानतः गया जिला के साहित्यकारों और साहित्य-सेवियों को प्रशंसा -पत्र, पदक, पुरस्कार आदि द्वारा सम्मानित तथा प्रोत्साहित करना।

(ड़) जिले की सभी शिक्षण संस्थाओं तथा विश्वविद्यालय में शिक्षा एवं परीक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी भाषा के व्यवहार का प्रयास करना।

(च) हिन्दी तथा मगही भाषा और साहित्य के अध्ययन तथा अनुशीलन की व्यवस्था करना।

(छ) हिन्दी तथा मगही की हस्तलिखित और प्राचीन दुर्लभ पोथियों तथा साहित्य - सेवियों के स्मृति-चिह्नों की खोज करना और उनकी सुरक्षा के लिए संग्रहालय की स्थापना करना।

(ज) समय-समय पर साहित्यिक गोष्ठियों तथा विभिन्न विषय संबंधी व्याख्यान मालाओं का आयोजन करना।

(झ) विभिन्न अनुमंडलों एवं प्रखंड में सम्मेलन की शाखाओं के रूप में हिन्दी साहित्य सम्मेलन, परिषद, पुस्तकालय, विद्यालय, रंगमंच एवं नाट्य समितियों तथा अन्य साहित्यिक संस्थाओं की स्थापना करना।

(ञ) साहित्यिक नाटकों के अभिनय एवं संगीत , नृत्य तथा ललित कला आदि के सुविकास के लिए समुचित प्रबंध करना।

(ट) नयी प्रतिभाओं को प्रोत्साहित करना तथा उनकी कृतियों के प्रकाशन का प्रबंध करना।

(ठ) समय - समय पर साहित्यिक एवं सांस्कृतिक यात्राओं का प्रबंध करना।

(ड) उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इसी प्रकार के अन्यान्य कार्यों का संपादन करना।

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार प्रतिवर्ष नियमित रुप से जिन कार्यक्रमों को आयोजित करता है उनमें प्रमुख हैं- गोस्वामी तुलसी दास जयंती, रैदास जयंती, कबीर जयंती, प्रसाद जयंती, निराला जयंती, पंडित हंस कुमार तिवारी जयंती, महाकवि वियोगी जयंती, हिन्दी दिवस, सम्मेलन का स्थापना दिवस एवं अन्य अनेक विषयों पर परिचर्चा, गोष्ठी आदि। इसके साथ-साथ मगध पुस्तक मेला में गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन स्टॉल लगाकर हिन्दी, मगही, उर्दू, अंग्रेज़ी आदि

भाषाओं में क्षेत्रीय साहित्यकारों की पुस्तकों को प्रचारित - प्रसारित करते हुए उनको विक्रय के लिए भी उपलब्ध कराता है। इसके साथ ही पुस्तक मेले के मंच से अनेक साहित्यिक गोष्ठियों का आयोजन किया जाता है। इससे साहित्यकारों की सर्जनात्मक ऊर्जा का समवर्द्धन होता है।

2016 ई० में कार्यसमिति के गठन के पश्चात प्रत्येक शनिवार को काव्य - संध्या आयोजित करने का निर्णय लिया गया। यह आयोजन सम्मेलन के दो पदाधिकारी सुरेंद्र सिंह 'सुरेंद्र' और सुमंत जी के संयुक्त प्रयास से निरंतर संचालित होता है। महत्तवपूर्ण बात यह है कि आज (दिनांक: 25 अगस्त , 2023 ई०) तक 500 से अधिक काव्य संध्या का आयोजन बिना किसी व्यतिक्रम के संपन्न हुए हैं। इसके बारे में विस्तृत जानकारी देते हुए बताते हुए गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार की बरिष्ठ पदाधिकारी सुरेंद्र सिंह 'सुरेंद्र' ने कहा " हिंदी साहित्य के विकास में यह संस्था विगत कई वर्षों से अपनी सेवाएँ दे रही है। गया क्षेत्र के स्थानीय साहित्यकारों को एक मंच प्राप्त हो रहा है। हिंदी भाषा के साथ -साथ मगही, भोजपुरी, अंगिका, बज्जिका जैसी बोलियों को साहित्य के क्षेत्र में ऊँचाइयों तक पहुँचाना इस संस्था का मुख्य उद्देश्य है।"

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार की स्थापना 1946 ई० में साहित्यकार पंडित श्यामदत्त मिश्र, हंस कुमार तिवारी, प्रोफेसर अर्जुन चौबे कश्यप, प्रोफेसर बलभद्र झा. गुलाब जी, कृष्णकांत प्रसाद आदि महान हिन्दी सेवियों के अथक प्रयास से की गई। हंस कुमार तिवारी इसके पहले अध्यक्ष तथा डॉ० शिवनंदन प्रसाद इसके पहले मंत्री निर्वाचित हुए। सम्मेलन के वर्तमान सभापति और जनकवि श्री सुरेंद्र सिंह 'सुरेंद्र' के अनुसार विख्यात साहित्यकार और तत्कालीन जिलाधिकारी श्री जगदीश चन्द्र माथुर के सौजन्य से नगर पालिका ने सम्मेलन को भवन के किए ज़मीन दी थी। सम्मेलन भवन पर लगे शिलापट्ट से यह ज्ञात होता है कि गया के ही बगेश्वरी प्रसाद जी ने अपनी पूजनीया मौसी सरस्वती कुँवर की स्मृति में दो कमरों का निर्माण कराया था।

लंबे समय तक मगध क्षेत्र के कवियों रचनाकारों का केन्द्र बिंदु गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन इन्हीं दो कमरों से संचालित होता रहा। वर्ष 2019 में गया शहर के शिशु रोग चिकित्सक डॉ० विजय करण ने अपनी पत्नी श्रीमती मंजु करण की स्मृति में एक सभागार का निर्माण कराया।

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार के सभापति के रूप में अबतक हिंदी के महान विद्वानों ने अपनी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया । उन विद्वानों में श्री हंस कुमार तिवारी, श्री मोहन लाल महतो वियोगी, डॉ० जनार्दन झा द्विज, आचार्य जानकी बल्लभ शास्त्री, श्री कामता प्रसाद सिंह काम, श्री अमरेंद्र नारायण अग्रवाल, श्री सूर्य प्रसाद महाजन, डॉ० शिवनंदन प्रसाद, पंडित श्यामदत्त मिश्र, डॉ० सिद्धि लाल माणिक, श्री अखौरी अनिरुद्ध प्रसाद, डॉ० सुरेंद्र चौधरी, श्री रामनरेश पाठक, श्री गोपाल लाल सीजुआर, डॉ० बैद्यनाथ प्रसाद खेतान, श्री राधाकृष्ण राय, डॉ० नीलिमा सिन्हा, डॉ० रामकृष्ण मिश्र, डॉ० वंशीधर लाल, श्री गोवर्द्धन प्रसाद सदय, श्री सुरेंद्र सिंह सुरेंद्र (वर्तमान) आदि प्रमुख माने जाते हैं ।

प्रत्येक शनिवार को पिछले दस वर्षों से काव्य-संध्या का आयोजन होता आ रहा है। इसमें नए व पुराने कवि अपनी कविताओं का पाठ करते हैं एवं बाद में कविताओं की समीक्षा सम्मेलन के वरिष्ठ सदस्य करते हैं। काव्य चक्र के अंतर्गत आयोजित होने वाले इस काव्य संध्या से ख़ासकर नवांकुर कवि काफ़ी लाभान्वित हो रहे हैं। कविता एवं साहित्य से युवाओं को जोड़ने में सम्मेलन का यह प्रयास सफल रहा है। इसके अतिरिक्त सम्मेलन भवन में पुस्तकालय की भी सुविधा 2023 ई० से जारी है, जहां संध्या समय में पुस्तक प्रेमी अपनी ज्ञान पिपासा को शांत करने आते हैं।

प्रकाशन के क्षेत्र में भी गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन का योगदान महत्वपूर्ण है। सम्मेलन की अपनी साहित्यिक पत्रिका 'अंतः सलीला' का अनियतकालीन अंक वर्षों से प्रकाशित होते आ रहा है। 'अंतः सलीला' में मगध क्षेत्र के साहित्यिक, सांस्कृतिक योगदान पर आधारित निबंध, कविता, कहानियों के साथ साथ अन्य अनेक प्रकार की रचनाएँ प्रकाशित की जाती है। गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया के वर्तमान सभापति और जनकवि श्री सुरेंद्र सिंह 'सुरेंद्र' संस्था द्वारा प्रकाशित पुस्तकें के बारे में महत्वपूर्ण जानकारी दिया था । उनके अनुसार " वर्ष 2023 ई.तक 1.यह रेत है चंदन है,2.शहर से गुजरते हुए, 3.अस्वस्थ खड़ा है आज भी, 4. निर्माल्य के कण, 5.गया ज़िले के साहित्यकार 20 वीं सदी उत्तरार्ध , 6.गया के लेखक और कवि, 7.धुरफ़ंदी लाल चुनावी दंगल में , 8.साहित्यिक और सांस्कृतिक गया, 9.दिशाहीनता का गुमान आदी ग्रंथ इस संस्था के माध्यम से प्रकाशित किया गया ।"

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार को अन्य अनेक विद्वानों ने अपनी उपस्थिति से सींचा है उनमें ब्रजमोहन पांडेय नलिन, आचार्य विश्वनाथ सिंह, डॉ० रामविनोद सिंह, आचार्य गिरिजानंदन मिश्र का नाम प्रमुख है। सम्मेलन के पूर्व महामंत्री व कवि डॉ० राधानंद सिंह बताते हैं कि " गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार के ग्यारहवें अधिवेशन में हिन्दी के यशस्वी कहानीकार उपन्यासकार जैनेंद्र कुमार उपस्थित हुए थे। उसी कार्यक्रम में रामधारी सिंह 'दिनकर' जैसे हिन्दी के वरिष्ठ कवि भी शामिल हुए थे।"

डॉ० राधानंद सिंह के अनुसार " मगध क्षेत्र के समकालीन हिन्दी कवियों की साधना स्थली गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार का भवन समय-समय पर हिन्दी के कई वरिष्ठ कवि, कहानीकार, आलोचक और निबंधकार की उपस्थिति का गवाह रहा है।"

मगध क्षेत्र के कवियों की कविशाला गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार द्वारा वर्ष भर अनेक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियाँ आयोजित की जाती है। इनमे से कुछ का विवरण इस प्रकार से है -

कुछ वर्ष पूर्व जब सम्मेलन का स्वर्ण जयंती समारोह आयोजित किया गया था तो मगध के सभी 60 वर्ष की वय वाले साहित्यकारों को सम्मानित किया गया था। उन साहित्यकारों में दसाधिक भारत स्तर के कवि एवं आलोचक सम्मिलित हुए थे। इसके पहले तो सम्मेलन के और बड़े- बड़े कार्यक्रम हुए हैं, जिनमें यशपाल आदि अनेक साहित्यकार आये। यह तो सम्मेलन की परंपरा रही है।इस दृष्टि से सम्मेलन का इतिहास बड़ा गौरवपूर्ण रहा है।

इससे भी बड़ी बात यह है कि सम्मेलन सबके साथ समभाव रखकर अपने दैनंदिन निर्धारित कार्यक्रम को बड़ी शालीनता और सभ्यता से

संचालित करता है और यही इसकी सबसे बड़ी पहचान है।एक साहित्यिक संस्था जो प्रतिदिन पाठकों के लिए पुस्तकालय की सेवा प्रदान करती है, आज के समय के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। एक ऐसा पुस्तकालय जो साहित्यिक, सामाजिक, सांस्कृतिक पुस्तकों के साथ ओशो, महर्षि अरविंद, श्रीराम शर्मा, इस्कान और अन्य धार्मिक, आध्यात्मिक पुस्तकों को पाठकों के लिए संग्रहीत कर सेवारत है।

ऐतिहासिक गाँधी मैदान, गया में पुस्तक मेला लगता है। 'गया' से जुड़े लेखकों-कवियों की पुस्तकें भी बिक्री के लिए 'गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन' के स्टॉल पर सम्मेलन के द्वारा लगाई जाती हैं। सम्मेलन के कवि रवि जी और सुमन्त जी वहाँ बैठते हैं। आगंतुकों को मगध क्षेत्र के कवियों के बारे में बताते हैं एवं उनसे ग्रन्थ ख़रीदने का आग्रह करते हैं।

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा आयोजित काव्य गोष्ठी की प्रतिवेदन देखकर सम्मेलन की साहित्यिक सक्रियता का अंदाज़ा लगाया जा सकता है। उस प्रतिवेदन के अनुसार " सम्मेलन भवन में काव्य संध्या-112 का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता सम्मेलन के उप सभापति डॉ० ब्रजराज मिश्र ने की। जनकवि सुरेन्द्र सिंह 'सुरेन्द्र' ने गाँव की बिगड़ती दशा पर कहा- "टूट रहल गाँव हम्मर धरम आउ जात में, नफरत आउ झगड़ा हई जहाँ बात-बात में।" खालिक हुसैन परदेशी ने आवाज दीं - "गम नहीं उन्हें कोई मेरे रूठ जाने का। ये सिला मिला मुझको उनसे दिल लगाने का।" अरूण हरलीवाल ने आज की व्यवस्था पर कहा- "बहुत परेशान, बहुत उदास, जनता ताक रही आकाश। आजादी नीलाम हुई, हर कोशिश नाकाम हुई।" किरण बाला ने नारीशक्ति की बात कही- "यह कर्मभूमि है, कर्म करूँगी, दुष्कर्मों का नाश करूँगी। वीरों के पथ फूल बनूँगी, असुर जनों के शूल बनूँगी।" नवीन नवनीत ने विकास के नाम पर हो रहे नाश के संबंध में कहा- "हमने धरा पर खोदी हैं, अनेकों गहरी खाइयाँ। हमने ही खड़ी कर दी है, ऊँची दिवार सबों के दिलों पर।" शराबबंदी पर नन्द किशोर सिंह ने मधुशाला कविता पढी- "राह पकड़ तू अनेक चला चल, पायेगा नहीं मधुशाला। मधुशाला अब नहीं खुली है, उस पर पड़ा बड़ा ताला।" संजय सहियावी ने कहा- "दारूबंदी के असर देखऽ, कोई आबाद हो गेल, बाकि हम्मर घर बर्बाद हो गेल।" टॉपर घोंटाले पर मुकेश कुमार सिन्हा ने व्यंग्य किया- "पता नहीं शिक्षा का मंदिर क्या-क्या गुल खिलाया है। कितने पैसा-पहुँच वालों को यह टॉपर बनाया है।" वहीं मुद्रिका सिंह ने कहा- "जे टॉप पर हथ बइठल ऊ टॉपर बना रहलन हे। आउ बीचबीचवा अप्पन खिचड़ी गला रहलन हे।" डॉ० राकेश कुमार सिन्हा 'रवि' ने कबीर पर कविता पढी, तो डॉ० प्रकाश कुमार गुप्त ने "अपनी मुल्क मेरा हिन्दुस्तान" शीर्षक कविता सुनायी। डॉ० राजीव रंजन पाठक ने ब्रजभाषा में कहा- "आयो बरसात सुहावन धनिया, कजरा मोमन भावन लाग्यौ।" संजीत कुमार ने एकता की बात कही- "हर कदम से कदम मिला कर चलो, फासले हैं अगर तुम मिटाकर चलो।" डॉ सुधांशु, शिव प्रसाद सिंह, बैजू सिंह, केशरी जी, अधीर जी, राजेन्द्र राज, अजीत कुमार, सुरेन्द्र पाण्डेय सौरभ ने भी कविता पढ़ीं। डीके मिश्र ने कजरी गाकर श्रोताओं का दिल जीता। इस अवसर पर सरवर खॉ, रमेश पाठक, डॉ० राधा रमण मिश्र, उपेन्द्र सिंह, बिनोद, बिन्दू सिंह सहित बड़ी संख्या में श्रोता उपस्थित रहे। अंत में वासुदेव प्रसाद ने सभी को धन्यवाद ज्ञापित किया। संचालन सुमन्त ने किया।"

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन कोई आज-कल की साहित्यिक संस्था नहीं है, वरन पिछले 70 सालों से गया में साहित्य की मशाल जलाए हुए है। 70 वें स्थापना दिवस समारोह के अवसर पर आजाद पार्क स्थित सम्मेलन भवन में कार्यक्रम का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता डॉ ब्रजराज मिश्र ने की। पहले-पहल कार्यकारी मंत्री सुमन्त ने 70 वर्षों का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया। बाद में, हिंदी-मगही के कवि व पत्रकार अनिल विभाकर को इस वर्ष का वागीश्वरी सम्मान-2018 प्रदान किया गया। अंग वस्त्र और सम्मान पत्र देकर उन्हें सम्मानित किया गया।कार्यक्रम का संचालन अरुण हरलीवाल ने किया।

इसी प्रकार से एक अन्य काव्य गोष्ठी की रिपोर्ट कुछ इस प्रकार है

"शहर के आजाद पार्क स्थित गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन भवन में काव्य संध्या 263 का आयोजन किया गया। अध्यक्षता सुरेन्द्र सिंह 'सुरेन्द्र' और संचालन संजीत कुमार ने किया। इस अवसर पर कवियों ने गर्मी पर अपनी कविता सुनाई। मुद्रिका सिंह ने मगही कविता "सबेरही से चले लगलै गरम हवा हो दादा अब का होई, तलफल दुपहरिया भेल कुम्हार के आवा हो दादा अब का होई" पढ़ी। अभयानंद मिश्र ने "अजब विह्वल हे जन जीवन गगन से आग बरस हे, विकल हथ लोग गरमी से पथिक पानी ले तरस हे" सुनाया। संजीत कुमार ने 'ताप का कहर' कविता सुनायी। गौतम कुमार ने "नदियाँ बचा लो, समंदर बचा लो, धरती का मिटता कैलेंडर बचा लो" कविता सुनायी। रेणु गुप्ता ने अपनी कविता के माध्यम से पर्यावरण बचाव का संदेश दिया। "पर्यावरण हमें बचाना है, पौधे खूब लगाना है" गीत सुनाया। इस मौके पर सुरेन्द्र सिंह 'सुरेन्द्र' , चन्द्रदेव केशरी, संतोष कुमार, शिवेन्द्र प्रताप सिन्हा, डॉ. राकेश कुमार सिन्हा 'रवि' , विजय कुमार शर्मा, अजित कुमार, नवीन कुमार, डॉ निरंजन श्रीवास्तव आदि मौजूद थे।"

गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन,गया, बिहार के स्वर्ण जयंती समारोह की झलक इस रपट में मिलती है- चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को वर्ष 1949 में गठित गया जिला हिंदी साहित्य सम्मेलन,गया,बिहार का 75 वाँ स्थापना दिवस समारोह आज गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन के डॉक्टर मंजू करण सभागार में धूमधाम से मनाया गया।इस अवसर पर मुख्य अतिथि सह मुख्य वक्ता डॉ० के० के० नारायण, विशिष्ट अतिथि डॉ० सच्चिदानंद प्रेमी, डॉ० राम कृष्ण व गुफरान अशरफी मौजूद रहे। इस अवसर पर सुदीर्घ साहित्यिक व फिल्म पटकथा लेखन के लिए चर्चित शैवाल जी को वागेश्वरी सम्मान-2023 से सम्मानित किया गया। कार्यक्रम का संचालन डॉ० राकेश कुमार सिन्हा 'रवि' और खालीद हुसैन परदेसी ने किया।

कार्यक्रम की शुरुआत रानी मिश्रा ने अपने स्वागत गीत से की। उन्होंने गाया "गुलशन गुलशन पुर चुने हैं राह में आज बिछाए है।" पल्लवी जोशी ने बिहार दिवस पर और कन्हैया कुमार ने बिहार पर अपनी कविता पढ़ी। सम्मेलन के अरूण हरलीवाल ने सभी आगत अतिथियों का सहृदय स्वागत किया। महामंत्री सुमन्त ने वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए कहा कि सम्मेलन का अपना स्वर्णिम इतिहास रहा है। मुख्य अतिथि के ० के०

नारायण ने कहा कि साहित्य सम्मेलन से साहित्यिक संवाद की निरंतरता बनी रही है, यह बहुत अच्छी बात है। सम्मानित साहित्य सेवी शैवाल जी की जीवनी उदय सिंह द्वारा पढ़ी गयी। शैवाल जी ने हिंदी साहित्य सम्मेलन के इस उपलब्धि पर मंगलकामनायें दी। विशिष्ट अतिथि डॉ० सच्चिदानंद प्रेमी ने जिला हिंदी साहित्य सम्मेलन को साहित्य के विकास और प्रचार प्रसार का स्तंभ बताया। डॉ० राम कृष्ण मिश्र में गया जिला हिंदी सम्मेलन के योगदान पर विशेष चर्चा की। बज्म-ए-राही के सदर गुरफान अशरफी ने कहा कि "गया का यह सम्मेलन गंगा यमुनी तहजीब का ऐसा उदाहरण है जिसका कोई जोड़ नहीं।" कार्यक्रम में आगे कवि सम्मेलन का आयोजन किया गया, जिसमें हिंदी साहित्य सम्मेलन, हिंदी साहित्य और बिहार दिवस की कृतियाँ प्रस्तुत की गयी। ज्ञातव्य है कि अमृत महोत्सव में सम्मेलन में पूरे साल कार्यक्रम आयोजित किए जाएँगे।। धन्यवाद ज्ञापन अरविन्द कुमार ने किया।इस कार्यक्रम में कृष्ण चन्द्र चौधरी, कृष्ण कुमार, अमित कुमार, यश कुमार, अंजु कुमारी, पल्लवी जोशी, रानी मिश्रा, अनामिका अनु, डॉ०शत्रुघ्न दांगी, संजीत कुमार, नरेन्द्र देव, मुन्द्रिका सिंह, बिनोद वरबिगहिया, अभयानंद मिश्र, मिथलेश मिश्र दर्द, डॉ० प्रकाश गुप्ता, संतोष क्रांति, रामावतार सिंह, गजेन्द्र लाल अधीर, विजय कु.शर्मा, जैनैन्द्र मालवीय, अश्वनी कुमार सहित अन्य साहित्यकार, कवि व गणमान्य लोग उपस्थित रहे।

गया जिला हिन्दी साहित्य , गया, बिहार अपने जिन उद्देश्यों को लेकर स्थापित हुआ था, वह उन उद्देश्यों पर खरा उतरते हुए साहित्य को गतिशील बनाए रखने में अपना योगदान दे रहा है। गया जिला हिन्दी साहित्य सम्मेलन, गया, बिहार अपनी रचनात्मक गतिविधियों एवं सृजनात्मक उपक्रमों से न केवल गया और मगध क्षेत्र के कवियों के लिए कविशाला के रुप में हमारे सामने प्रस्तुत है, बल्कि यह पुराने एवं नवांकुर कवि को जोड़कर हिन्दी काव्य के सर्वांगीण विकास में अपना योगदान दे रहा है। इस संस्था से जुड़े कुछ समकालीन प्रमुख कवियों के नाम इस प्रकार से हैं- श्री सुरेंद्र सिंह 'सुरेंद्र', श्री सुमन्त, श्री प्रकाश कुमार, श्री अरुण हरलीवाल, श्री जैनेंद्र मालवीय, डॉ० राकेश कुमार सिन्हा रवि, श्री प्रवीण परिमल , श्री गजेंद्र लाल अधीर, श्री मुकेश कुमार सिन्हा, श्री बैजू सिंह, संजीत कुमार, खालिद हुशैन परदेसी, सुश्री पल्लवी जोशी, डॉ० राम कृष्ण, गुरफान अशरफ़ी , श्री उदय सिंह, सुश्री अंजु कुमारी , डॉ० प्रकाश गुप्ता , श्री बिनोद वरबिगहिया, श्री संतोष क्रांति, श्री रामावतार सिंह आदि।

निष्कर्ष : गया जिला 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का हिन्दी काव्य के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है । यह सम्मेलन हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रसार के उद्देश्य से स्थापित किया गया था । विगत कोई सालों की कार्य को देखने से यह स्पष्ट प्रमाणित हो रहा है की यह संस्था बहुत जल्द ऊंचाई की शिखर तक पहुँच कर रहेगी । यह संस्था सम्मेलन के माध्यम से कवियों, लेखकों, और साहित्यकारों के लिए एक मंच प्रदान करता है, जहाँ वे अपने विचार और रचनाएँ प्रस्तुत कर सकते हैं। इससे नए और प्रतिभावान कवियों को अपनी पहचान बनाने का अवसर मिल रहा है । गया जिला 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' ने हिन्दी काव्य के प्रचार-प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । इस मंच से न केवल परंपरागत काव्यशैलियों को स्थान मिला बल्कि आधुनिक कवियों और उनकी शैलियों को भी प्रोत्साहन मिला। इस सम्मेलन ने गया जिले और आसपास के क्षेत्रों के स्थानीय कवियों को राष्ट्रीय स्तर पर पहचान दिलाने में मदद की । इससे कई उभरते हुए कवियों को साहित्यिक पहचान मिली और हिन्दी काव्य का दायरा विस्तृत हुआ । इस मंच पर समय-समय पर काव्य गोष्ठियाँ और साहित्यिक चर्चाएँ आयोजित की जाती हैं, जिनमें साहित्यकारों और कवियों के बीच संवाद होता है। इससे न केवल साहित्यिक ज्ञान का आदान-प्रदान होता है, बल्कि काव्य की नई धाराओं और प्रवृत्तियों पर भी विचार किया जाता है । संस्था ने साहित्यिक प्रतिभाओं को पहचानने और प्रोत्साहित करने के लिए पुरस्कार और सम्मान कार्यक्रम भी आयोजित किए हैं । इससे कवियों को अपने लेखन में और निखार लाने की प्रेरणा मिलती है।

संदर्भ सूची :

1. https://www.forwardpress.in/2022/01/remembering-jaglal-chaudhary-hindi/doa/12/05/2023
2. मार्च,20, 2023 ई. गया जिला साहित्य सम्मेलन में साक्षात्कार के दौरान प्राप्त की गई जानकारी
3. गया का साहित्य परंपरा प्रवृति और प्रयोग- डॉ० राधानन्द सिंह, पृष्ठ 297
4. मार्च, 20, 2023 ई. गया जिला साहित्य सम्मेलन में साक्षात्कार के दौरान प्राप्त की गई जानकारी
5. मार्च, 25 , 2023 ई. गया जिला साहित्य सम्मेलन में साक्षात्कार के दौरान प्राप्त की गई जानकारी
6. मार्च, 25 , 2023 ई. गया जिला साहित्य सम्मेलन में साक्षात्कार के दौरान प्राप्त की गई जानकारी
7. अप्रैल 8, 2023 ई. गया जिला साहित्य सम्मेलन की 'काव्य संध्या' की प्रतिवेदन से प्राप्त की गई जानकारी
8. https://www.bhaskar.com/bihar/gaya/news/organizing-evening-poetry-in-gaya-district-hindi-sahitya-sammelan-bhawan-071126-4539660.html/doa/20/06/2024

****

गोविंद मिश्र के कथा साहित्य में महानगरीय बोध

नीतीश कुमार,
शोध प्रज्ञ
हिन्दी विभाग
नव नालंदा महाविहार, नालंदा

सार :- प्रस्तुत अध्ययन "गोविंद मिश्र के कथा साहित्य में महानगरीयबोध" है। 21वीं सदी की कथा साहित्य में महानगरी बोध की प्रस्तुती अपनी समग्रता में हो रही है। अपने चारों ओर जो भी घटनाएँ कवि मिश्र देख रहें है उन्हीं को बड़ी शिद्दत के साथ उठाकर कथा साहित्य में लिखी जा रही है। भूमंडलीकरण के प्रभाव और बाजारवाद में मनुष्य केवल उपभोक्ता बना चुका है। ऐसे में कवि गोविन्द मिश्र जो कुछ देखे उसी को अपनी कथा साहित्य के माध्यम से वाणी दीये है। इन कारणों से आज महानगरीय बोध उभरकर सामने आया है। महानगर के कारण भारतवासी का चरित्र बदलता जा रहा है। मनुष्यता के रक्त से उसेन अपनी दुकाने सजाइ है। इस भागमभाग की दूनिया में काम और अर्थ के सिवा बाकी सब व्यर्थ है। रचनाकार अपनी रचनाओं में अपने आसपास व समाज में होने वाली घटनाओं के यथार्थ में कल्पनाओं का समावेश कर उसमें कलात्मक अभिव्यक्ति प्रदान करता है। वह अपने जीवन के निजी अनुभवों व संघर्षों का ही उसमें चित्रण करता है क्योंकि प्रत्येक रचना लेखक के व्यक्तित्व से प्रभावित रहती है। रचना का क्षण अनुभव और अभिव्यक्ति का क्षण होता है और वही सार्थक क्षण होता है। मानव का सारा अनुभव चिन्तन साहित्य में ही सुरक्षित रहता है। लाखों-करोड़ों वर्षों से मानवीय संघर्षों को जानने का, उसकी संस्कृति व उसके सही हालात को पहचानने का साधन साहित्य ही है।

विशिष्ट शब्द:- महानगरीय, संवेदनहीनता, अमानुषिकता, मध्यवर्गीय समाज, साहित्य, कथाकार इत्यादि।

प्रस्तावना - गोविंद मिश्र कथा-साहित्य महानगरीय जीवन एवं परिवेश की त्रासदी का वृहद आख्यान है। इनकी कहानियाँ विभिन्न जीवन संदर्भों मे गहरी माननीय पीड़ा को चित्रित करती है। पीड़ित जनों को ढाल बनाकर कथाकार समाज में व्याप्त संवेदनहीनता और अमानुषिक पर करारी चोट करते है । प्रस्तुत शोध आलेख में "गोविंद मिश्र के कथा-साहित्य में महानगरीय बोध" की तलाश करनी है।[1] यह तलाश लेखन के विविध उद्देश्यों की पूर्ति में समर्थ बन पड़ी है इसे भी रेखांकित करना लक्ष्य है ।

उद्देश्य

1. समकालीन कथाकारों में गोविन्द मिश्र का विशिष्ट स्थान का पता लगना ।
2. गोविन्द मिश्र की कहानियाँ में महानगरीय जीवन में व्याप्त संवेदनहीनता अमानुषिकता, असंतोष, स्वप्न, आशा, निराशा आदि को रेखांकित करती है, इसे पता लगाना ।
3. गोविन्द मिश्र अपनी किन रचनाओं के कारण साहित्य अकादमी सम्मान, व्यास सम्मान एवं सरस्व सम्मान से सम्मानित हुए को ज्ञात करना आदि ।

साहित्य की समीक्षा

गोविंद मिश्र कथा-साहित्य के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हैं। सन् 1963 से वे लगातार सृजनशील है। ग्यारह उपन्यास, बीस कहानी संग्रह, छह यात्रा वृतांत, आठ निबंध, चार बाल साहित्य, दो आलोचनात्मक पुस्तकें एवं छह अनुवाद इत्यादि लिखकर आपने समकालीन हिन्दी कथाकारों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। बहुआयामी प्रतिभा के धनी गोविंद मिश्र ने अपनी रचनाओं में भारतीय समाज के बदलते परिदृश्य का बखूबी चित्रण किया है। पारिवारिक जीवन और स्त्री-पुरुष संबंधों का यथार्थ, टूटते परिवार और बिखरते मनुष्य, मानवीय संबंधों का अवमूल्यन, अंतरंगता की ललक, मध्यवर्गीय चेतना, आधुनिक नारी, शहर एवं कस्बे में सांस्कृतिक टकराव, टूटन की समस्याएँ, छटपटाती नैतिकता, मानवीय गर्माहट की खोज, स्वप्न भंग का यथार्थ, शासकीय तंत्र के तिलिस्म का पर्दाफाश इत्यादि विषयों पर आपने खूब लिखा। गोविंद मिश्र यशस्वी कथाकार है।[2] हिन्दी कहानी में अपनी रचनाशीलता से आपने अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान अर्जित किया है। जब हिन्दी कहानी भांति-भांति के प्रयोगों से आक्रांत थी तब आपने जमीन से जुड़ी सच्चाइयों को अपनी रचनाओं में केन्द्रीयता दी। मानवीय मनोविज्ञान के अतल मैं उतरकर आपने उन जीवन सत्यों को उद्घाटित किया जिन पर स्थूल यथार्थ औपचारिकता, असमंजस, उपेक्षा आदि की धूल जम गई थी। समय के अनुरूप आपने विकासशील समाज के संघर्ष व स्वप्न को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है।

गोविंद मिश्र का मानना है कि महानगरीय परिवेश में मनुष्य जीवन मशीनी यंत्र बनता जा रहा हैं। गाँवों में जो आत्मीयता, संवेदना, अपनापन, स्नेह होता हैं वहीं शाहरों तक आते आते अजनबीपन, अकेलेपन, घृणा, असंवेदना के रूप में दृष्टिगत होता है। महानगरीय परिवेश के यांत्रिक जीवन, खोखले संबंध, अर्थ प्रधानता असंवेदनशील व्यवहार पर महीप सिंह स्वयं लिखते है- "महानगरों के जीवन का सबसे बड़ा संकट यह लगता है कि यहां मनुष्य का धीरे-धीरे अमानवीयकरण होता जा रहा है। सभी संबंध खुलकर व्यवसायीक बनते जा रहे हैं पूंजीवाद समाज व्यवस्था किस तरह समाज के जीते हुए व्यक्ति को असामाजिक, क्रूर, स्वार्थी, कूटिल और असुरक्षित बनाती है।"[3] इसका भयावह रूप महानगरों में विशेष रूप से दिखाई देता है। इस प्रकार महानगरीय मनुष्य का जीवन विकास की इस दौड़ में चारों ओर संकट से घिरा रहता है।

लेखन की ओर गोविन्द मिश्र का झुकाव चौदह वर्ष की उम्र से ही दिखाई देने लगा था जब उन्होंने तीन-चार कहानियाँ जैसे- 'पूर्णमासी का योग', 'चंदनियाँ अरज' लिखी जो कालेज की पत्रिकाओं में छपी।[4] बांदा से इण्टरमीडिएट करने के बाद उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से बी०ए० और वहीं से 1959 में एम०ए० (अंग्रेजी) में किया। जनभाषा बुन्देली तो उनका जबर्दस्त भाषायी आधार रही। संस्कृत और अंग्रेजी के छात्र होने के कारण उन दिनों के उच्च स्तरीय मुशायरों और कवि सम्मेलनों से मिले संस्कारों से उनकी भाषा में आधुनिकता, ओज और प्रवाह आया जिसके लिए वे जाने जाते हैं। दो सालों तक वे अंग्रेजी के प्राध्यापक रहे। 1961 में भारतीय राजस्व सेवा के लिए चुने गये वहाँ वे बराबर अपनी कार्य कुशलता और ईमानदारी के लिए सराहे गये और राजस्व सेवा के सर्वोच्च पद अध्यक्ष, केन्द्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड तक पहुँचे। इस बीच केन्द्रीय अनुवाद ब्यूरो के निदेशक भी रहे। 1997 में अवकाश प्राप्ति के बाद वह पूर्णकालिक साहित्यकार हैं। गोविन्द मिश्र के कृतित्व को हम दो प्रकार से देख सकते हैं:- उपन्यास एवं कहानी।

उनके उपन्यास, वह अपना चेहरा (1971), उतरती हुई धूप (1973), लाल-पीली जमीन (1976), हुजूर दरबार (1981), तुम्हारी रोशनी में (1985), धीर-समीरे (1988), पाँच आँगनों वाला घर (1995), फूल.... इमारतें और बन्दर (2000), कोहरे में कैद रंग (2004), वो अपना चेहरा (2015) तथा उनके कहानी संग्रह: नये पुराने माँ-बाप (1973), अन्तःपुर (1976), धांसू (1978), रगड़ खाती आत्महत्याएँ (1979), मेरी प्रिय कहानियाँ (1980), अपाहित (1986), पगला बाबा (1988), हवाबाज (1998), मुझे बाहर निकालों (2004) आदि प्रमुख हैं।

कहानियाँ : गोविन्द मिश्र की फांस कहानी पर प्रकाश डालते है तो पाते है कि ग्रामीण रोजगार की तलाश में शहर जाते है। पलटु की माँ शहरी पतलुन पर व्यंग करती है। हर कोई शहर जाकर अपनी वेशभूषा लेता है। शहर में समय माथे पर चढ़ जाता है, दौड़ता रहता है। शहरों में गाँव की तरह मामा, फुफा, चाचा, काकी, नानी का संबंध टिकता नहीं है। तात्पर्य यह कि शहर में लोग जिवकोपार्जन में समय को झोकता रहता है, जबकि गाँव में लोग रिश्ता बचाने में जीवन से जुटा रहता है।

'पगला बाबा' कहानी में बनारस का परीवेश है जहाँ पगला बाबा हाथ में घंटी बजाए भीख मांगता फिरता है।[5] मणिकर्झाका घाट का परिवेश है जहाँ पगला बाबा अंतिम संस्कार में बिना भेदभाव के मदद करता रहता है। बाबा विश्वनाथ की सेवा के साथ ही लावारिस लाशों की अंतिम सेवा में भी उसका जीवन घ्येय था। वह परजीवी बना नहीं जीना चाहता है, उद्देश्यपूर्ण जीवन जीना चाहते है पगला बाबा। लावारिश महिला की लाश जलाकर पगला बाबा भावुक हो जाते है, उन्हें उस महिला में अपनी मॉ दिखती है। पगला बाबा जाति से डोम पर वरेण्य जीवन सार्थक लोगों के मन में उनके प्रति श्रद्धा थी जबकि शहर के सभ्य लोग उन्हें 'पागल' घोषित कर चुके थे।

गोविन्द मिश्र पाँच दशक से रचना यात्रा में संलग्न है। अपनी आत्मकथा में गोविन्द मिश्र लिखते है- 'मैं अंग्रेजी पदा अधिकारी रहा पर धारा के विपरीत जीवन जीया, यथा हिन्दी में लिखा सामान्य जीवन जीया बड़े साहित्यकारों में मिलता जुला रहा।' राजा राधिका रमण से मिला, दिल्ली गया तो जैनेन्द्र आदि कलामकारो से मिला। 'हुजुर दरबार' में मिश्र जी आधुनिकता की यंत्रण पर विस्तार से लिखते है। उनका कहना है मैं पीड़ा से ही लेखन सीखा और किया हूँ। 'पॉच ऑगनों का घर' की पीड़ा भिन्न तरह की है। शहर आकर भी नायक गॉव को भूल नहीं पाता।[6] संवेदना उसे हर पल झकझोरती है। माँ-बाप का अभाव, बड़ी भाभी ने कमी नहीं होने दिया, वही आकाश जब शहर गया और होटल में ठहरा तो गाँव का सारा दृश्य उसके सामने ही घूम रहा है।

गोविन्द मिश्र अपने गई पात्रों का नाम तक नहीं बदलते जैसे लच्छू पंडित, मंडरूलाछो आदि। हुबहु नाम देने के वे पछघर है दूसरा नाम इसके जैसा हो ही नही सकता, पात्र को बदलना इन्हें मंजूर ही नहीं है।

लाल पीली जमीन में वचपन की स्मृतियों को टरका रखा है। अति संवेदनशील उसे लिखने हेतु प्रेरित करती है। साहित्य लिखने के सिवा और कोई दुसरा रास्ता उन्हें नही मिला। वे स्वय वार्ता में कहते हैं कि यदि मैं साहित्य नही लिखता तो पागल हो जाता कारण जिसे भुलना चाहता हूँ उसे लिख कर भूलता हूँ।

'कोहरे में कैद रंग' की नानी विदेश अपनी बेटी के पास जाती है, नानी के रूप मे वह अति प्रिय थी आम स्त्री सी अपढ़ गिनती थोडी देर में ही भूल जाती थी, बेटी और नाती, नतिनी तो चाहते की वह वही रहे पर दामाद का तिरस्कारपूर्ण व्यवहार हृदय विदारक बन जाता था।[7] बाथरूम में नींद की ढेर सारी गोलियाँ रखती पर नानी का हृदय कहता आत्महत्या क्यों करू एक घर तो है गाँव में यह नानी का नाम करिश्मा था तो वह करिश्माई चरित्र की भी थी।

आत्मकथा में अब के लोग और तब के लोग, अब का समय और तब का समय में महानगरीय बोध पर खूब चर्चा की गयी है। आज अकेली धुमती लडकी बलात्कार, हत्या, तीन वर्ष के बच्ची का यौन शोषण फिर हत्या तब के युवा ऐसे भुक्खड़ नही थे, बड़े समय का जीवन था। आज लिव इन उनको को तो पचा रहे है पर प्रेम को पचा नहीं पाते। लिव इन का जहाँ कई तरह की समस्याओं का कभी उजागर नहीं होता है। साहित्यकार अधिकारी की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र होता है। महानगरीय जीवन में गोविन्द मिश्र ने यह ठान लिया था कि गलत नहीं करूगां चाहे जितना दवाव सहन करना पड़े।[8] इमारते और बन्दर, वो अपना चेहरा,कोहरे में कैद रंग आदि में महानगरीय घुटन, त्रासदी, रंग बदलते व्यवहार पर तीखा व्यंग किया गया है। नये पुराने माँ-बाप अंतः बिकालों आदि कहानी संग्रह में भी आया निराशा, स्पप्न, मोहभंग, घुटन, टूटते रिश्तों की पीड़ा, बनावटी और अर्थ प्रधान जीवन की भागमभाग का दर्शन होता है। कथाकार का अति संवेदनशील उपन्यास घूल स्मारक पर को 2013 में सरस्वती सम्मान के लिए चुना गया जिसे 22 सितम्बर 2024 को प्रदान किया गया। साहितय अकादमी पुरस्कार 6 नवम्बर, 2021 को प्रदान किया गया। उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा भारत-भारती सम्मान भी इन्हें प्रदान किय गया। इन विविध सम्मानों के बाद भी गोविन्द मिश्र तटस्थम से साहित्य सेवा में आज भी जुटे हुए हैं। महानगरीय जीवन का कटू-मधु दृश्य इन्हें लेखन के लिए प्रेरित करता रहता है। गोविंद मिश्र कथा-साहित्य के प्रतिष्ठित हस्ताक्षर हैं। सन् 1963 से वे लगातार सृजनशील है। ग्यारह उपन्यास, बीस कहानी संग्रह, छह यात्रा

वृतांत, आठ निबंध, चार बाल साहित्य, दो आलोचनात्मक पुस्तकें एवं छह अनुवाद इत्यादि लिखकर आपने समकालीन हिन्दी कथाकारों में अपनी विशिष्ट पहचान बनाई है। बहुआयामी प्रतिभा के धनी गोविंद मिश्र ने अपनी रचनाओं में भारतीय समाज के बदलते परिदृश्य का बखूबी चित्रण किया है। पारिवारिक जीवन और स्त्री-पुरुष संबंधों का यथार्थ, टूटते परिवार और बिखरते मनुष्य, मानवीय संबंधों का अवमूल्यन, अंतरंगता की ललक, मध्यवर्गीय चेतना, आधुनिक नारी, शहर एवं कस्बे में सांस्कृतिक टकराव, टूटन की समस्याएँ, छटपटाती नैतिकता, मानवीय गर्माहट की खोज, स्वप्न भंग का यथार्थ, शासकीय तंत्र के तिलिस्म का पर्दाफाश इत्यादि विषयों पर आपने खूब लिखा। गोविंद मिश्र यशस्वी कथाकार है।[9] हिन्दी कहानी में अपनी रचनाशीलता से आपने अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान अर्जित किया है। जब हिन्दी कहानी भांति-भांति के प्रयोगों से आक्रांत थी तब आपने जमीन से जुड़ी सच्चाइयों को अपनी रचनाओं में केन्द्रीयता दी। मानवीय मनोविज्ञान के अतल में उतरकर आपने उन जीवन सत्यों को उद्घाटित किया जिन पर स्थूल यथार्थ औपचारिकता, असमंजस, उपेक्षा आदि की धूल जम गई थी। समय के अनुरूप आपने विकासशील समाज के संघर्ष व स्वप्न को अपनी रचनाओं में अभिव्यक्ति दी है।

गोविंद मिश्र का मानना है कि आजादी के बाद देश में काफी परिवर्तन हुए है परन्तु इस परिवर्तन का प्रभाव सबसे अधिक महानगरों पर पड़ा जहाँ मानव मशीन बनकर रह गया जिसमें ना संवेदना है ना आत्मीयता और न ही मानव की मानवता है। नगरों की भीड़ और शोरगुल तथा अपनी व्यस्तता में मनुष्य इतना संवेदनहीन हो गया है कि किसी की मृत्यु या दुर्घटना पर उसके दुख में संवेदना या सहानुभूति की जगह उस दुःखी इंसान को ही कोसना आरंभ कर देता है।[10] स्पष्ट है आज का मशीनी मानव पूर्णरूप से स्वकेन्द्रित है उसे अपने काम से मतलब है अन्य किसी से कोई सरोकार नहीं रखना चाहता। अपने रास्ते में आने वाली छोटी-सी रूकावट भी बड़ी-सी प्रतीत होती है।

निष्कर्ष :-

निष्कर्षतः गोविंद मिश्र एक सधे हुए कथाकार है। उनकी कहानियाँ पाठक को बार-बार आकर्षित करती है। उनकी हर एक कहानियों का विषय पृथक होता है। वर्तमान महानगरों में मशीनीकरण के इस युग में मानव ने उन्नति के अनेक सोपान पार कर लिए हैं परन्तु मध्यवर्गीय सोच एवं मध्यवर्गीय स्त्री की स्थिति में आज भी विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता। मिश्र जी यथार्थवादी कथाकार हैं उन्होंने जीवन को करीब से देखा है। तभी तो उनकी कहानियाँ कभी अपनी तो कभी हमारे आसपास की कहानी प्रतीत होती है। आज परिवार में पति और पत्नी के अहं का टकराव और एक-दूसरे के प्रति मन में बढ़ता जा रहा संशय आधुनिकता और परंपरा के टकराव का फल है। "कोई फर्क नहीं पड़ता अगर वे दोनों अपने-अपने ढंग से जिये लेकिन फिर कहीं कोई फर्क पड़ने लगता है जो दोनों को एक-दूसरे से मानसिक स्तर पर दूर हटाता है।" अंतरद्वन्दों के चित्रण में मिश्र जी को कमाल हाशिल है। तत्सम भाषा के साथ बोलचाल और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग गोविंद मिश्र की सृजनात्मकता की विशेषता है। उनके कथा-साहित्य का देशज चरित्र उनकी शक्ति है। तभी तो शैलेष मटियानी ने लिखा है "गोविंद मिश्र अपनी पीढी महानगरीये व्यवस्था के सबसे महत्वपूर्ण कहानीकार हैं क्योंकि भाषा और कथ्य दोनों धरातलों पर उनके यहाँ अपेक्षाकृत ज्यादा विस्तार है बल्कि कहना तो यहाँ तक चाहूँगा कि अपनी पीढ़ी में भाषा और संवेदना के स्तर पर प्रेमचंद के सबसे निकट गोविंद मिश्र ही दिखाई पड़ते हैं। अतः कहा जा सकता है कि गोविंद मिश्र समकालीन कथाकारों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं। उनकी अधिकांश कहानियों में मध्यवर्गीय जीवन की विडंबना एवं मध्यवर्गीय चेतना के दर्शन होते हैं।।

संदर्भ सूची

1. हुजूर दरबार, गोविन्द मिश्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1981 पृ० 16
2. तुम्हारी रोशनी में, गोविन्द मिश्र, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-1985 पृ० 81
3. फूल... इमारतें और बंदर, गोविन्द मिश्र, राधाकृष्णन प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण-2000 पृ० 72
4. अरण्य तंत्र, गोविन्द मिश्र, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम प्रकाशन-2013 पृ० 68
5. पगला बाबा, गोविन्द मिश्र, राजकमल प्रकाशन, 1987, पृ० 49 6.
6. पॉच ऑगनों का घर, गोविन्द मिश्र, राजकमल प्रकाशन, 1942, पृ० 23
7. कोहरे में कैद रंग, गोविन्द मिश्र, अमन प्रकाशन, 2017 पृ० 73.
8. समकालीन कथाकार और नई कथा कृतियाँ, गुरचरन सिंह, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, 2007 पृ048
9. आधुनिक हिन्दी कहानी (नारी जीवन मूल्य), डॉ० कृष्णकान्ता भारद्वाज, अनंग प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009 पृ० 42
10. गोविन्द मिश्र का औपन्यासिक संसार, चन्द्रकांत वांदिवडेकर, भूमिका प्रकाशन, दिल्ली, 2000, पृ० 29

****

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् में शिवपूजन सहाय का अवदान

-कुमारी सोनी
शोध छात्रा, हिन्दी विभाग
नव नालंदा माहविहार, नालंदा
Krisoni2409@gmail.com

राष्ट्रभाषा हिन्दी के विकास में साहित्यिक संस्थाओं की भूमिका अग्रणी रही है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् जब देश में राजभाषा के रूप में हिन्दी स्थापित हुई उस दौरान अंग्रेजी भाषा का दबदबा अधिक था। सभी सरकारी कार्य अंग्रेजी में ही हुआ करते थे। ऐसे में राष्ट्रभाषा हिन्दी को बढ़ावा देने से लेकर उसके प्रचार, प्रसार तथा जन-जन तक पहुंचाने का दायित्व शिक्षित वर्गों तथा साहित्यिक संस्थाओं ने ही लिया ।

उन दिनों गिनी-चुनी ही संस्थाएँ थी यथा- प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन, काशी नागरिणी प्रचारिणी सभा हिन्दुस्तानी अकादमी इलाहाबाद आदि। हर राज्य स्तर पर एक साहित्यिक संस्था की स्थापना की गई जिसका उद्देश्य था राष्ट्र-स्तर पर हिन्दी भाषा को समृद्ध कर फैलाना।

बिहार में भी स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विधानसभा के सदस्य डॉ. लक्ष्मीनारायण सुधांशु की प्रेरणा से बिहार राष्ट्रभाषा की स्थापना के लिए एक प्रस्ताव को स्वीकृति दी गई। इसकी स्थापना 1949 ई. हुई तथा 1950 ई. से योजना के अनुसार इसका कार्य प्रारंभ हुआ। इस संस्था का उद्देश्य बिहार तथा देश भर के बड़े रचनाकारों को जोड़कर उनके सहयोग से हिन्दी का विकास तथा प्रचार-प्रसार करना था। बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् अपने समय के सर्वोत्कृष्ट संस्था रही, जो अपने उद्देश्य की पूर्ति हेतु कई योजनाओं पर कार्य की। जैसे कि दुर्लभ पुस्तकों का संग्रहण, प्रकाशन, साहित्य संगोष्ठियाँ, सम्मेलन, काव्य-पाठ, व्याख्यान, पुरस्कार वितरण इत्यादि । इन सभी साहित्यिक गतिविधियों में देश-स्तर पर बड़े रचनाकारों ने न सिर्फ बढ़-चढ कर हिस्सा लिया बल्कि अपने सुझावों से परिषद् को एक नई दिशा प्रदान की।

वैसे तो परिषद् को उत्कर्ष पर ले जाने में कई बड़े साहित्यकारों का योगदान है । जैसे कि- लक्ष्मीनारायण सुधांशु, वद्रीनाथ वर्मा, राजा राधिका रमन प्रसाद सिंह, पं. छविनाथ पाण्डेय, रामधारी सिंह दिनकर, रामवृक्ष वेनीपूरी, जानकी वल्लभ शास्त्री, पं. मोहन लाल महतो वियोगी। पर इन सबके पृथक शिवपूजन सहाय जी का योगदान विशिष्ट रहा । इनके अथक प्रयास और सहयोग से परिषद् के संचालन में एक गति मिल गई । आचार्य शिवपूजन सहाय ऐसे कालजयी साहित्यकार रहें हैं, जिन्होंने अपनी लेखनी से समय और साहित्य को बड़ा बना दिया और वर्तमान की समस्याओं से कभी मुंह नहीं मोड़ा । सहाय जी की प्रतिभा और व्यक्तित्व ऐसा था कि उनकी सरलता, सहजता, सादगी, तप, त्याग, बुद्धिमता, राष्ट्रभक्ति, शिक्षा एवं साहित्य के प्रति अनन्यता एवं दूरदर्शिता को भारत में ही नहीं वरण सम्पूर्ण विश्व में सराहा गया।

आचार्य सहाय जी का जन्म बिहार के बक्सर जिले में उनवॉस गाँव में 9 अगस्त 1893 ई. को हुआ था। उनके घर की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं होने के कारण सिर्फ विद्यालय स्तर तक ही पढ़ाई कर पाये। फिर भी वे पुस्तकालय से जुड़कर स्वाध्याय कर अपना ज्ञान वर्धन किया। अपनी कठोर परिश्रम से ऐसी योग्यता प्राप्त की, कि आगे जाकर उन्हें प्राध्यापक के पद पर सुशोभित किया गया। उनका बाहरी व्यक्तित्व बहुत ही साधारण था परन्तु आंतरिक कुशलता बड़े साहित्यकारों पर भी भारी थी।

सहायजी ने गद्य की कई विधाओं में उत्कृष्ट साहित्य की रचना की। उनका चर्चित उपन्यास 'देहाती दूनिया' 1926 अपने समय की कालजयी रचना है। यह उनका लिखा पहला आंचलिक उपन्यास है। इसके बाद ही रेणू जी की मैला आँचल से आंचलिक उपन्यास लेखन की परम्परा की शुरूआत हुई। कहा जाता है जिस तरह विद्यापति के प्रभाव से भक्ति कालीन कवियों की भक्ति भावना, रीति कालीन कवियों की श्रृंगार-भावना और आधुनिक कवियों की गीत-योजना प्रभावित है, ठीक उसी तरह शिवपूजन सहाय के प्रभाव से रेणुजी की आंचलिक उपन्यास-योजना प्रभावित दिख पड़ती है। 1 उनकी लिखी कहानी 'मुंडमाल' के जोड़ का भारतीय संस्कृति की दुहाई देने वाला कथ्य हिन्दी-साहित्य में प्रायः दूर्लभ ही है। 'मुंडमाल' कहानी से सहायजी यह संदेश देते हैं कि शौर्य केवल पुरूषों में ही नहीं है, नारियों में भी देखने को मिलता है। इसी तरह कहानी 'सतीत्व की उज्ज्वल प्रभा' में राजकुमारी के सतीत्व एवं राजस्थान केशरी महाराजा राज सिंह और जागीदार के शौर्य का चित्रण किया गया है।

'कहानी का प्लॉट' कहानी आज के परिप्रेक्ष्य में यह दर्शाती है कि आर्थिक समीकरण की आँच में रिश्तों की संवेदनशीलता इस हद तक पथरा जाती है कि एक विधवा की लाज की रक्षा उसका सौतेला बेटा पति के रूप में करता है।

इन रचनाओं से स्पष्ट है कि सहाय जी की रचनाओं में चरित्र-चित्रण का विशेष महत्व है। इनकी रचना गत संवेदना नारी समस्याओं को नए रूप में उठाती है और उसका निदान भी ढूँढ़ती है। ऐसी ही इनकी अन्य रचनाएँ- हठभगतजी, विषपान, कुंजी, प्रायश्चित, शरणागत रक्षा, मन मोचन, बुल-बुल और गुलाब इत्यादि है। इसके अलावा वे पत्रकारिता से भी जुड़े रहे। उन्होंने कई पत्रिकाओं का संपादन किया। जैसं-मारवाड़ी सुधार, आदर्श, मतवाला, माधुरी, समन्वय, मौजी, गंगा, जागरण, हिमालय, साहित्य और परिषद् पत्रिका। सहायजी ने पत्र-पत्रिकाओं के लिए संपादकीय टिप्पणियाँ भी लिखीं। ऐसा करते हुए उन्होंने अपने को हिन्दी पत्रकारिता के सच्चे प्रतिनिधि के रूप में प्रस्तुत किया। सम्पादन के क्षेत्र मे तो आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के बाद इसी परंपरा में आचार्य शिवपूजन सहाय जी का नाम लिया जाता है।

शिवपूजन सहाय हिन्दी भाषा के संवर्धन और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखने-समझने के बड़े हिमायती थे। हिन्दी नवजागरण को गति देने में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, आचार्य माहवीर प्रसाद द्विवेदी के अलावा जिन साहित्यकारों का विशेष योगदान है, उनमें आचार्य शिवपूजन सहाय का योगदान विशेष रूप से उल्लेखनीय है। हिन्दी साहित्य और भाषा को उन्होंने बहुत संवारा है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी अपने संस्मरण शिवजी विनय और शील के मूर्तिमान रूप में लिखते हैं:- " जीवन भर उन्होंने संघर्ष किया लेकिन अपना या हिन्दी का सिर नहीं झुकने दिया। जहाँ कहीं भी उन्होंने हिन्दी के प्रति अन्याय होते देखा वहीं कसकर विरोध किया। वस्तुतः ऐसे अवसरों पर उनके पौरूष, तेज की झलक मिलती थी। निश्चय ही सेवा भाव से तो उनकी सारी सता ही बनी हुई थी।"2

वे हिन्दी के सच्चे भक्त और साहित्य के उपासक थे। उन्होंने बिहार के साहित्यिक संस्थानों में अपनी सेवा दी। बड़े रचनाकारों के रचनाओं की भाषा-शुद्धि तथा शब्द-शोधन द्वारा साहित्यिक संस्थाओं की गरिमा बढ़ाई। ऐसी ही एक संस्था बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् जिसकी प्रस्तावना 11 अप्रैल 1947 ई. को बिहार विधानसभा में स्वीकृत हुआ परंतु सरकारी आदेश 12 अप्रैल 1949 ई. को तत्कालीन मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिंह के कार्यकाल में जारी हुआ। "परिषद् की व्यवस्था का दायित्व पं. छविनाथ पण्डेय को सौंपा गया, परंतु परिषद् के लिए एक सुयोग्य व्यक्ति की आवश्यकता थी, जिसे मंच की जिम्मेवारी दी जाए। इसके नामित आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का नाम का प्रस्ताव भ आया लेकिन व उस समय विश्व-भारती शांति निकेतन में कार्यरत थे। उसी समय परिषद् के मंत्री पद के लिए दिनकर जी का भी नाम आया। पर उनकी भी कुछ व्यस्तता थी। उस समय बिहार के शिक्षा मंत्री आचार्य बद्रीनाथ वर्मा थे, अतः उन्होंने ही सहायजी का नाम प्रस्तावित किया जो उन दिनों राजेन्द्र कॉलेज, छपरा के हिन्दी विभागाध्यक्ष थे। अंततः सहाय जी को ही राष्ट्रभाषा-परिषद् का मंत्री बनाया गया। "3

शिवपूजन सहाय राष्ट्रभाषा हिन्दी के समर्पित व्यक्ति थे। वे बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् में 19 जुलाई 1950 से 26 मई 1953 ई. तक मंत्री के पद पर कार्यरत रहे। पुनः 1954 से 1956 तक परिषद् के मंत्री रहे और 1956 से 1959 ई. तक वे परिषद् के संचालक भी रहे। इन्होंने इस पद पर रहते हुए विविध विधाओं में संदर्भ ग्रंथों को सम्पादित कर प्रकाशित किया। इतना ही नहीं उन्होंने हिन्दी संस्थाओं तथा संकटग्रस्त साहित्यकारों को सहायता देने का भी सिलसिला जारी किया। विभिन्न भाषाओं पर भाषण दिलवाकर तथा उन्हें योग्य सम्मान देकर बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने हिन्दी जगत् में एक नई परंपरा स्थापित की। सहायजी एक साहित्यकार होने के साथ-साथ खुद में एक संस्था भी थे। उन्होंने लेखन के क्षेत्र में आने वाले कई नए लेखकों को प्रोत्साहित कर आगे बढ़ाया। इस संस्था के स्थापना काल से ही वे अनवरत जुड़े रहें। इनके अनवरत प्रयास से इस संस्था की पहचान शोध साहित्यकारों के बीच काफी बढ़ी। उन दिनों देश के महत्वपूर्ण साहित्यकार, अध्यापक एवं संस्थाओं को प्रतिदिन 50-60 पत्र लिखकर शिवपूजन साहय ने राष्ट्रभाषा -परिषद् के गौरव को बढ़ाया था। जब कभी परिषद् से कोई पुस्तक प्रकाशित होती थी तो पुस्तक प्रकाशन के पूर्व सहायजी प्रूफ रीडिंग में सजग रहते थे। क्योंकि उनका मानना था कि कोई भी प्रूफ साहित्य का प्राण केंद्र होता है। अगर भाषा में अशुद्धियाँ है तो भाषा पंगु है। अतः वे लेखों का सम्पादन भी बड़े सतर्कता से करवाते थे। निदेशक पद पर रहते हुए इनके द्वारा परिषद् से विश्व-स्तर की पुस्तकें प्रकाशित हुई। उनके इस सराहनीय कार्य से बिहार-राष्ट्रभाषा अपने समय में पूरे परवान पर चढ़ी।

बड़े आलोचक नामवर सिंह उनकी इस प्रतिभा के प्रशंसक थे। अपने एक भाषण' आज के कलम घसीटू दौर में गद्य' में वे कहते हैं-

स्वाधीनता प्राप्ति के बाद बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् के जब वे प्रधान रहे फिर निदेशक हुए और जो ग्रंथ उन्होंने प्रकाशित किए, क्या मजाल कि उन पुस्तकों के पहले संस्करण में छापे की कोई भूल आपको मिल जाए। उस दौर में संपादकों का काम महत्वपूर्ण था।"4

से तो संपादक का काम हर दौर में महत्वपूर्ण रहा है और आज भी है। लेकिन शिवपूजन सहाय जैसा धैर्य तथा भाषा निपुण विद्वान आज खोजने से भी नहीं मिलेगा। साहय जी के इस देन को सबने स्वीकारा है। आज जब प्रकाशन व्यवस्था इतनी सुदृढ़ हो गई है फिर भी अशुद्धि मुक्त पुस्तक खोजना बालू मे तेल खोजने के समान हो गया है।

शिवपूजन सहाय का निराला जी से एक विशेष लगाव था। क्योंकि निराला जी उनके फ्रेंड, फिलोसफर तथा गाइड तीनों थे। निराला जी पर उन्होंने एक संस्मरण भी लिखा जिसके एक अंश में उन्होंने कहा निराला जी अपने गुरूजनों के प्रति शिष्ट थे वैसे ही स्वाभिमानी और त्यागी भी थे। जिस प्रकार वह स्वयं किसी आदरणीय व्यक्ति का सम्मान करते थे, उसी प्रकार वह उस व्यक्ति से पाना चाहते थे।"5

उपर्युक्त कथन से तात्पर्य है कि निरालाजी के व्यक्तित्व और कृतित्व का जितना सटीक मूल्यांकन अपने संस्मरण में किया वैसा कोई और न कर सका। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में उनके एक निकट सहयोगी मित्र आचार्य नलिन विलोचन शर्मा भी थे। नलिन जी उम्र में सहायजी से छोटे थे पर दोनों में गजब की आत्मीयता थी। निलिन जी अपने संस्मरण 'आचार्य शिवपूजन सहाय' में लिखते हैं :-

" आचार्य जी का परिषद् संचालन, मैं समझता हूँ अराजकतावाद के अधिक से अधिक निकट था। स्पष्टतर शब्दों में यह समझें कि आचार्य जी के संचालकत्व में परिषद् इसलिए देश की अद्वितीय शोध संस्था नहीं रही कि उसका कठोर नियंत्रण किया जाता था बल्कि इसलिए कि परिषद् के चपरासियों से लेकर अधिकारियों तक सभी महसूस करते थे कि उन्हें बड़े-बड़े साहित्यकारों द्वारा समादृत उस मनीषी के योग्य बनना था जो सौभाग्य से उनका संचालक था।"6

शिवपूजन सहाय बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् में संचालन पद पर आसीन रहकर परिषद् की ऐसी बहुविध सेवा की जिसका एक अविस्मरणीय मिशाल है। ऐसा माना जाता है कि सहायजी के कार्यकाल में परिषद् को जैसे अजूबा पंख लग गए थे।

उनकी जितनी भी रचनाएँ थी, सभी रचनाओं का चार खण्डों में प्रकाशन 'शिवपूजन रचनावली' के नाम से हुआ जो बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा ही प्रकाशित किया गया।

सहायजी ने बिहार के साहित्यकारों का परिचय तथा उनकी कृतियों

का विवेचन से संबंधित 'हिन्दी साहित्य और बिहार' का प्रथम खण्ड प्रस्तुत कर एक सराहनीय कार्य किया था। 'दूसरा खण्ड' भी उन्होंने सम्पादित किया परंतु उसका प्रकाशन इनके जीवनकाल में न हो सका। उनके मरणोपरांत ही प्रकाशित हो पाया।

सहायजी ने चरखा समिति द्वारा प्रकाशित राजेन्द्र अभिनंदन ग्रंथ का भी संपादन किया, जिसमें एक से एक प्रतिष्ठित विद्वानों का लेख संपादित कर 'अभिनंदन ग्रंथ को अभिदनीय बना दिए थे। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद उस समय देश के राष्ट्रपति थे। यह सहाय जी की असाधारण प्रतीभा का करिश्मा ही था जो कि साधारण को असाधारण और असाधराण को साधारण किया करता था। 7

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' के निदेशक पद से तो सहायजी सेवा-निवृत हो गए परन्तु राष्ट्र और राष्ट्रभषा हिन्दी की सेवा से मरणान्त तक निवृत ना हो सके। भारत सरकार द्वारा उन्हें 25 जनवरी 1960 को 'पद्मभूषण सम्मान' दिया गयाा था। उस समय सहायजी ने अपनी डायरी में लिखा कि - " आज अखबारों में खबर छपी है कि मुझे भारत सरकार ने'पद्मभूषण' की उपाधि दी है। बंगाल के यशस्वी कवि नजरूल इस्लाम और हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' को भी यही उपाधि मिली है। यह रामजी की कृपा का ही फल है। मेरे समान अकिंचन के लिए यह उपाधि वस्तुतः उपाधि ही है।"8

सहाय जी को 22 अप्रैल 1954 के बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तृतीय वार्षिकोत्सव के अवसर पर आचार्य नरेन्द्रदेव के हाथों उन्हें 'वयोवृद्ध साहित्यकार' सम्मान के साथ ताम्रपत्र और 1500 रूपए की राशि से सम्मानित किया। पटना नगर निगम के द्वारा उन्हें 68वीं वर्षगाँठ पर 7 अगस्त 1961 को सम्मानित किया गया था। उन्होंने भाषण में खुद को हिन्दी का अनन्य भक्त और साहित्य का सेवक कहा था। भागलपुर विश्वविद्यालय ने उन्हें 3 मार्च 1962 को डी.लिट. की मानद् उपाधि से अलंकृत किया था।

समय के साथ धीरे-धीरे सहायजी वृद्ध तथा कमजोर होने लगे थे। कई बीमारियों की गिरफ्त में आ चुके थे। उनकी आँखें भी जवाब दे चुकी थी। फिर भी साहित्य के प्रति वे ऐसे अनुरागी थे कि आपने स्मरण शक्ति के सहारे सारा काम उनके आदरणीय मित्र नलिन विलोचन शर्मा जी किया करते थे । देखते ही देखते 21 जनवरी 1963 की ब्रह्म बेला में साहित्य एवं साहित्यकारों के साहित्य सागर में तैरते-उतारते सदा-सदा के लिए अन्तर्ध्यान हो गए।

वो हमारे बीच ना रहते हुए भी साहित्य की दुनिया में अपनी कृतियों द्वारा अमर हो गए। 40 वर्षों की अनवरत साधना से उन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को सँवारा था। वे एक समर्पित साहित्यकार थे। संपादन के विज्ञान और कला दोनों में वे अपने काल के सबसे अधिक सतर्क और संकल्पप्राण संपादक थे। यदि कोई पत्रिका अथ से इति तक सुसंपादित, शुद्ध, सुरुचिपूर्ण और मर्यादित लगती हो। आरंभ से अंत तक भाषा की एकरूपता बरतती हो और कम से कम पृष्ठों में अधिक से अधिक पठनीय देती हो तो समझ लोना चाहिए कि शिवपूजन छाप वाली पत्रिका है। सहायजी हिन्दी साहित्य की संजीवनी शक्ति तथा बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् रूपि साहित्यिक मंदिर के निष्ठावान पुजारी रहे। उन्होंने परिषद् के विकास के लिए खुद को आजीवन न्यौछावर कर दिया। तभी तो परिपषद् के पहले संचालक तथा शिाक्षा विभाग के बड़े अधिकारी पं. छविनाथ पाण्डेय ने सहायजी के विषय में कहा है- "उन्होंने अपनी हड्डियों को घिस -घिस कर बिहार-राष्ट्रभाषा परिषद् के मस्तक पर तिलक लगाया। शिवपूजन जी सच्चे साहित्य सेवक थे। बल्कि यों कहना चाहिए कि साहित्य-सेवियों के वे आदर्श थे।" 9

अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् रूपि पौधे को उन्होंने अपनी विद्वता, कौशल तथा अथक परिश्रम रूपि खून -पसीने से सींचकर एक विशाल वृक्ष बनाया जिसकी छाया, फल तथा सुगन्ध विश्व-स्तर पर फैला और प्रख्यात हुआ।

संद्रभ ग्रंथ :-

1. परिषद्-पत्रिका शोध-त्रैमासिक, जुलाई-सितम्बर 2021, प्रकाशन-बिहार -राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना पृ-41
2. सं. मंगलमूर्ति, हिन्दी-भूषण शिवपूजन सहाय, संस्करण-1998, आर्य प्रकाशन मंडल, दिल्ली, पृ.-11
3. परिषद् पत्रिका शोध-त्रैमासिक जुलाई-सितम्बर 2021, प्रकाशन-बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ.-128
4. परिषद्-पत्रिका शोध-त्रैमासिक, जुलाई-सितम्बर 2021, प्रकाशन-बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ.-13
5. सं. फरहत परवीन, आजकल मासिक पत्रिका, जुलाई 2018, दिल्ली,पृ. - 03
6. सं. – लीलाधर मंडलोई, नया ज्ञानोदय मासिक पत्रिका, सितम्बर 2017, दिल्ली, पृ.- 13
7. परषिद्-पत्रिका शोध-त्रैमासिक, जुलाई-सितम्बर 2021, प्रकाशन-बिहार -राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृ.-130
8. वही, पृ.- 131
9. वही, पृ. -135

****

हिंदी सिनेमा पर महात्मा गाँधी के विचारों का प्रभाव

-नीरज कुमार
पीएच. डी. शोधार्थी,
हिंदी विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय
ई-मेल: neerajkumar7592@gmail.com

शोध सार:
महात्मा गाँधी के विचारों की प्रासंगिकता सार्वभौमिक है लेकिन भारतीय राजनीति एवं समाज पर महात्मा गाँधी के विचारों का गहरा प्रभाव है। महात्मा गाँधी के विचारों ने भारत में आध्यात्मिकता, संस्कृति, राजनीति, समाज, साहित्य एवं अन्य लोकप्रिय कला माध्यमों जैसे 'सिनेमा' को भी प्रभावित किया है। इस लेख में महात्मा गाँधी के दलित दर्शन की चर्चा करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि किस प्रकार महात्मा गाँधी के विचारों ने हिंदी सिनेमा को प्रभावित किया तथा महात्मा गाँधी के विचारों की अभिव्यक्ति सिनेमा में किस रूप में हुई। विशेष रूप से इस लेख में हिंदी सिनेमा के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं की चर्चा की गई है, साथ ही यह समझाने का प्रयास भी किया गया है कि महात्मा गाँधी के अछूतों (दलितों) के उद्धार से संबंधित विचारों ने हिंदी सिनेमा कैसे प्रभावित किया।

बीज शब्द: महात्मा गाँधी, हिंदी सिनेमा, अछूतोद्धार, स्त्री, किसान, दलित

प्रस्तावना:
महात्मा गाँधी के वैचारिक और आध्यात्मिक दर्शन से सम्पूर्ण विश्व प्रभावित है। महात्मा गाँधी के सत्य, अहिंसा, आत्मबल, अपरिग्रह, सत्याग्रह, स्वदेशी, सर्व धर्म समभाव, स्पर्श भावना और विशेषकर अस्पृश्यता निवारण एवं अछूतोंद्धार आदि विचारों ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और भारतीय जनता को भीतर तक प्रभावित किया। जिसका प्रभाव साहित्य, समाज और सिनेमा तीनों पर देखा जा सकता है। भारत में वर्तमान समय के सबसे लोकप्रिय कला माध्यम हिंदी सिनेमा को भी महात्मा गाँधी के विचारों ने प्रभावित किया है। ऐसा केवल महात्मा गाँधी के तत्कालीन समय में ही नहीं हुआ बल्कि आज तक हिंदी सिनेमा पर गांधीजी का प्रभाव देखा जा सकता है। जिसकी चर्चा लेख में आगे की गई है।

विश्लेषण:

1

महात्मा गाँधी की विचारधारा ने दक्षिण अफ्रीका और भारत को विशेष रूप से प्रभावित किया। दक्षिण अफ्रीका में अपने जीवन के लगभग 20 वर्ष बिताने के बाद महात्मा गाँधी जनवरी 1915 में ब्रिटेन के रास्ते भारत वापस आए। अपने देश में आकर उन्होंने अंग्रेजी सरकार की दमनकारी नीतियों का विरोध करना शुरू कर दिया और अपने देश को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति दिलाने का प्रण लिया। देखते ही देखते भारत में महात्मा गाँधी भारतीय स्वतंत्रता आंदोलनों के महानायक, शांति के दूत और गंभीर सामाजिक चिंतक बन कर उभरे। महात्मा गाँधी के सत्य, अहिंसा, आत्मबल, अपरिग्रह, सत्याग्रह, स्वदेशी, सर्व धर्म समभाव, स्पर्श भावना और विशेषकर अस्पृश्यता निवारण एवं अछूतोंद्धार आदि विचारों ने भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन और भारतीय जनता को भीतर तक प्रभावित किया।

महात्मा गाँधी ने 'अस्पृश्यता' जैसी अमानवीय कुप्रथा को कभी हिन्दू धर्म का अंग नहीं माना बल्कि उन्होंने कहा कि अस्पृश्यता 'एक अमिट धब्बा है जिसे आज हिंदू धर्म अपने साथ रखता है। मैंने यह मानने से इनकार कर दिया है कि यह हमें अनादि काल से सौंपा गया है। मुझे लगता है कि अस्पृश्यता की यह दयनीय, दासता की भावना हमारे पास तब आई होगी जब हम अपने जीवन के चक्र में अपने सबसे निचले स्तर पर थे, और वह बुराई अभी भी हमारे साथ अटकी हुई है और अभी भी हमारे साथ बनी हुई है।' यहाँ महात्मा गाँधी अस्पृश्यता की आलोचना तो करते हैं लेकिन धर्म की आलोचना नहीं करते। इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गाँधी जितने बड़े आलोचक अस्पृश्यता के हैं उतने ही बड़े समर्थक वह धर्म के भी हैं। यही कारण है कि महात्मा गाँधी के दर्शन में हमें 'जाति व्यवस्था' और 'वर्ण व्यवस्था' को लेकर एक वैचारिक द्वंद्व देखने को मिलता है। महात्मा गाँधी हिन्दू धर्म की 'वर्ण व्यवस्था' को 'जाति व्यवस्था' की उत्पत्ति का कारण नहीं मानते। जबकि डॉ. भीमराव अम्बेडकर जैसे विद्वान बहुजन नेता हिन्दू धर्म में जातिगत भेदभाव का सबसे बड़ा कारण 'वर्ण व्यवस्था' को मानते हैं।

लेकिन वहीं वर्तमान समय के प्रसिद्ध विद्वान लेखक अनिल नौरिया ने अपने लेख 'Gandhi's Little-Known Critique of Varna' में अनेक तर्कों एवं उदाहरणों के माध्यम से यह सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि समय के साथ-साथ महात्मा गाँधी का जाति और वर्ण के बीच का यह वैचारिक द्वंद्व समाप्त होता गया, जिसे विद्वानों के द्वारा नज़र अन्दाज किया गया है। अनिल नौरिया अपने लेख में लिखते हैं, 'आम तौर पर यह भी समझा जाता है कि जहाँ गाँधी ने छुआछूत का विरोध किया और जाति की आलोचना की, वहीं उन्होंने 'वर्णव्यवस्था', चार वर्ण व्यवस्था का बचाव किया। यह पूरे गाँधीवादी पथ पर पूरी तरह से सही नहीं है। वर्ण व्यवस्था की गाँधी की अपनी आलोचना, जो समय के साथ सामने आई, आमतौर पर विद्वानों द्वारा अनदेखी की जाती है।' इस प्रकार अनिल नौरिया की यह स्थापना गंभीर चर्चा का विषय बन जाती है जिस पर चर्चा होना आवश्यक है। परन्तु सामान्यतः इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता की 1915 से लेकर 1933 तक आते-आते, विशेषकर 1932 में हुए 'पूना

पेक्ट' के बाद महात्मा गाँधी के विचारों में बहुत परिवर्तन हुआ। जहाँ कभी 1920 तक महात्मा गाँधी अंतर्जातीय तथा अंतर्धर्मिक विवाह के खिलाफ थे वहीं सन् 1933 तक उन्होंने न केवल उसे स्वीकार किया बल्कि उसे एक आदर्श विवाह माना। उन्होंने ऐसे भेदभाव को हिन्दू धर्म का अंग मानने से भी इनकार कर दिया।

"Gandhi, for example, was against inter-dining, inter-caste and inter religious marriages before 1930, so much so that he prevented his second son Manilal from marrying Fatima, a Muslim girl, in South Africa in 1926, and made his other son, Devdas, wait for five years before he could marry Lakshmi, the daughter of C Rajgopalachari, a Brahmin, in June 1933. By then, Gandhi had changed his views on inter-dining and inter-caste marriages, saying, "Restriction on inter-dining and inter-caste marriage is no part of the Hindu religion... Today, these two prohibitions are weakening Hindu society." This statement is in contrast to what he had said in 1920: "Prohibition against inter-marriage and inter-dining is essential for rapid development of the soul."

इस प्रकार हम देखते हैं कि समय के साथ महात्मा गाँधी के दलित चिंतन में नाटकीय बदलाव आए। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि जिस दौर महात्मा गाँधी अछूतोद्धार के कार्य में कार्यरत थे उसी समय में भारत की तत्कालीन राजनीति में डॉ. भीमराव अम्बेडकर, आर. श्री निवास और एम. सी. राजा जैसे नेताओं के रूप में अछूतों (दलितों) का सशक्त प्रतिनिधित्व उपस्थित था। इसलिए महात्मा गाँधी कहीं न कहीं डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों से भी प्रभावित हुए। डॉ. भीमराव अम्बेडकर भी सजातिय विवाह के खिलाफ थे वह इसे जाति के रूढ़ हो जाने के मुख्य कारणों में से एक मानते थे। महात्मा गाँधी इस विचार पर डॉ. भीमराव अम्बेडकर के साथ हो जाते हैं। समग्र रूप से देखने पर हमें ज्ञात होता है कि महात्मा गाँधी अस्पृश्यता एवं छुआछूत के प्रश्न को हमेशा शरीर की अशुद्धता के साथ जुड़ी सामाजिक निर्योगिता के रूप में देखते हैं।

महात्मा गाँधी के इन्हीं विचारों का ही प्रभाव है कि हिंदी सिनेमा ने भी अछूतों (दलितों) की समस्या को इसी रूप में ग्रहण करता है। इस सन्दर्भ में प्रो. प्रेम सिंह अपने लेख '**The Representation of the Dalit Body in Popular Hindi Cinema**' में लिखते हैं,

"The body of the dalit is a real battle-ground where all caste battles, old and new, pro and against, have been grounded and fought. In suggesting that untouchability is the foremost and the biggest 'sin' against humanity, Gandhi insisted on the need to do away with untouchability in order to re-establish the sanctity of the dalit body."

महात्मा गाँधी के सन्दर्भ में प्रसिद्ध लेखक एवं आलोचक हेमंत कुकरेती का यह कथन बहुत सटीक हैं कि "मोहनदास करमचन्द गांधी से महात्मा गांधी (1869-1948) तक का सफरनामा किसी एक व्यक्ति की जीवनगाथा नहीं है। यह भारतीय उपमहाद्वीप की आध्यात्मिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और सामाजिक विकास-यात्रा है।" क्योंकि महात्मा गाँधी के विचारों ने अपने दौर में ही नहीं बल्कि बाद के समय में भी भारतीय आध्यात्मिकता, संस्कृति, राजनीति, समाज, साहित्य एवं अन्य लोकप्रिय कला माध्यमों जैसे 'सिनेमा' को भी बहुत प्रभावित किया है।

2

महात्मा गाँधी के भारत आगमन के समय भारतीय सिनेमा मूक अवस्था में था लेकिन निरंतर विकास के पथ पर अग्रसर था। सन् 1931 में फ़िल्म 'आलम आरा' के प्रदर्शित होने के बाद सिनेमा ने बोलना, नाचना, गाना शुरू कर दिया था परन्तु सिनेमा फिर भी महात्मा गाँधी को अपनी ओर आकर्षित न कर सका। प्रसिद्ध सिनेमा निर्देशक और निर्माता विजय भट्ट के आग्रह पर महात्मा गाँधी ने फ़िल्म 'रामराज्य' के कुछ चुनिंदा दृश्य देखे, जिसे भी उन्होंने पूरा नहीं देखा। यह महात्मा गाँधी द्वारा देखी गई पहली व अंतिम फ़िल्म थी। महात्मा गाँधी ने अपने जीवन में सिनेमा से एक दूरी बनाए रखी, क्योंकि वह सिनेमा को भी पाप की तकनीक से उत्पन्न बुरी आदतों (Evil habits) में से ही एक मानते थे। उन्होंने स्वयं 27 दिसंबर, 1947 की एक प्रार्थना सभा में कहा था कि 'आपको यहाँ सिनेमा की आवश्यकता क्यों है? इसके बजाय, आप हमें ज्ञात विभिन्न नाटकों और मंच नाटकों का प्रदर्शन कर सकते हैं। सिनेमा केवल आपका पैसा खर्च करायेगा। तब आप जुआ खेलना और अन्य बुरी आदतों में पड़ना भी सीखेंगे। शराब, गांजा और भांग के आदी लोगों को इन व्यवसनों को छोड़ देना चाहिए।'

इस कथन से सिनेमा के विषय में महात्मा गाँधी के विचारों को समझा जा सकता है। महात्मा गाँधी नाटक और रंगमंच को तो भारतीय संस्कृति का अंग मानते थे परन्तु सिनेमा को उन्होंने पश्चिम की संस्कृति की देन और समय बरबाद करने की तकनीक मानकर नकार दिया था। परन्तु सिनेमा ने ऐसा नहीं किया, महात्मा गाँधी के अमूल्य विचारों ने जिस प्रकार भारतीय साहित्य में अपना स्थान बनाया, उसी प्रकार हिंदी सिनेमा ने भी महात्मा गाँधी के विचारों को हाथोंहाथ लिया। जयप्रकश चौकसे अपनी पुस्तक 'महात्मा गाँधी और सिनेमा' में लिखते हैं, "गांधीजी के प्रभाव के कारण भयमुक्त होने की प्रक्रिया में जनता घरों से बहार आई और 1917 में फाल्के ने 'लंका दहन', 'कृष्ण जन्म' और 'कालिया मर्दन' बनाई।" जहाँ एक ओर उस दौर में प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति से उत्पन्न परिणामों के कारण पूरे विश्व पर भय और आशंकाओं के काले बादल छा रखे थे। वहीं दूसरी ओर तत्कालीन समय में महात्मा गाँधी के आध्यात्मिक विचारों के

प्रभाव से पूरा भारत प्रभावित हो रहा था, संभव है फाल्के भी इससे प्रभावित हुए हों। लेकिन हिंदी फ़िल्मों में कथानक के रूप में पौराणिक विषयों के चुनाव में गाँधीजी के विचारों का प्रभाव ही एक मात्र कारण नहीं था। ऐसा इसलिए भी हुआ क्योंकि सिने-निर्माताओं को अपने दर्शकों के लिए ऐसे विषय चाहिए थे, जो समझने में सरल हों और जिसका उन्हें हल्का-फुल्का पूर्व ज्ञान हो ताकि वह आसानी से विषय से जुड़ पायें। इसलिए भारत जैसे धार्मिक देश में धर्म की पौराणिक कथाएँ इसका सही विकल्प साबित हुईं। परन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं है कि भारतीय सिनेमा ने महात्मा गाँधी के विचारों प्रेरणा न ली हो, इस सन्दर्भ में चर्चित लेखक एवं संपादक शीला झुनझुनवाला लिखती हैं "महात्मा गाँधी के बढ़ते प्रभाव का सर्वाधिक असर 1923-24 में फ़िल्म-जगत् में दिखलाई पड़ा जब पुणे के पांडुरंग तालगिरी ने गांधीजी के जनसहयोग आंदोलन से प्रभावित 'अछूत' और 'अछूतोद्धार' नामक दो मूक फ़िल्में बनाई।" महात्मा गाँधी के विचारों से हिंदी सिनेमा के निर्माता और निर्देशकों ने अछूत समझे जाने वाली जातियों के उन्मूलन अर्थात् 'अछूतोद्धार' संबंधी समसामयिक विचारों को अपनी फ़िल्मों भीतर शामिल किया। अछूतोद्धार के अतिरिक्त भी महात्मा गाँधी के विचारों से प्रेरित होकर हिंदी फ़िल्म निर्माताओं ने भारतीय किसानों के जीवन, महिलाओं की दशा, साम्प्रदायिक सौहार्द, सामाजिक सुधार आदि विषयों पर भी फ़िल्मों का निर्माण प्रारंभ किया।

जैसा की सर्व विदित है कि महिलाएँ महात्मा गाँधी के आन्दोलनों का एक विशेष अंग थीं, महिलाओं ने इन आन्दोलनों में भरी संख्या में भाग लिया था। महात्मा गाँधी ने हमेशा भारत की स्वतंत्रता के साथ स्त्रियों की स्वतंत्रता को भी महत्व दिया और उन्हें चरखे द्वारा आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए प्रेरित किया। महात्मा गाँधी दहेज प्रथा, बाल विवाह आदि कुप्रथाओं के विरोधी थे और विधवा जीवन की यातनाएँ उनके मन को सताती थीं। जयप्रकश चौकसे अपनी पुस्तक 'महात्मा गाँधी और सिनेमा' में लिखते हैं, "गांधीवादी आन्दोलन की सबसे बड़ी देन सफल नारी जागरण था, जिसमें स्त्रियों ने गांधीजी की प्रेरणा के कारण स्वतंत्रता संग्राम में आगे बढ़कर हिस्सा लिया। यह भारतीय इतिहास की अनोखी घटना थी कि महिलाएं जुलूस में शामिल हुईं, शराब की दूकानों के सामने धरने दिए, अंग्रेज हिंसा का मुकाबला किया। जिन औरतों ने कभी घर से बाहर कदम नहीं रखा था, वे औरतें घर से बाहर निकल कर रूढ़िवाद और कुरीतियों की मजबूत दीवारों में सेंध लगा रहीं थी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि महात्मा गाँधी की वैचारिक आँच ने स्त्रियों के मन में चेतना की जो चिंगारी सुलगाई थी। उसका प्रभाव हिंदी सिनेमा में चौथे और पाँचवें दशक की फ़िल्मों में देखने को मिला। इस दौर में स्त्री के केन्द्रीय चरित्र वाली अनेक फ़िल्मों का निर्माण हुआ। हिंदी सिनेमा के प्रसिद्ध इतिहासकार अनिल भार्गव लिखते हैं, "चौथे-पाँचवें दशक में स्त्री के केंद्रीय चरित्र वाली अनेक भावनात्मक और पारिवारिक फ़िल्में बनीं जिनमें समाज-सुधार की अपील थी। मसलन 'अमर ज्योति' (1936) में स्त्री-पुरुष बराबरी का चित्रण है, 'आदमी' (1939) की थीम वेश्या-उद्धार थी तो 'दहेज' (1950) दहेज-प्रथा के विरुद्ध थी। 'औरत' (1940) में बेटे के अन्याय के विरुद्ध माँ का क्रोध है। 'तीन बत्ती चार रास्ता' (1953) में अलग-अलग प्रांतों की बहुओं में समन्वय विषय है तो 'सिंदूर' (1947) में विधवा-विवाह पर जोर दिया गया था। 'दुनिया न माने' (1937) बेमेल विवाह पर मील का पत्थर है तो 'गुड़िया' और 'स्वयंसिद्धा' (1949) कुप्रथाओं के खिलाफ़ नारी-प्रधान फ़िल्में थीं। सच तो यह हैं कि न सिर्फ बल्कि परदे के बाहर सचमुच के सामाजिक जीवन में भी उन दिनों करो या मरो, भारत छोडो आंदोलन, दांडी-यात्रा आदि में स्त्रियों की सहभागिता परिलक्षित हो रही थी।" अनिल भार्गव का यह कथन इस स्थिति को स्पष्ट कर देता है कि महात्मा गाँधी ने स्त्री चेतना की जो चिंगारी भारतीय समाज में उत्पन्न की, उसका पर्याप्त प्रभाव हिंदी सिनेमा ने ग्रहण किया।

हम देखते हैं कि जिस प्रकार महात्मा गाँधी ने स्त्रियों के जीवन को प्रभावित किया उसी प्रकार भारत के गरीब किसानों के जीवन को भी प्रत्यक्ष रूप से प्रभावित किया, जैसाकि हम सब जानते हैं कि महात्मा गाँधी के विचारों पर भारतीय ग्रामीण आँचलिकता एवं किसान जीवन का गहरा प्रभाव था। यह मात्र संयोग नहीं था कि महात्मा गाँधी ने भारत में स्वतंत्रता आंदोलन की शुरूआत सन् 1917 में बिहार के चंपारन के किसान आंदोलन से की। महात्मा गाँधी अच्छे से जानते थे कि कृषि प्रधान भारत की आत्मा गाँवों में निवास करती है इसलिए महात्मा गाँधी की प्राथमिकता भारत के ग्रामीण विकास की रही। महात्मा गाँधी के इस ग्रामीण सरोकार का प्रभाव हिंदी सिनेमा पर भी पड़ा। सिनेमा के मूक युग में ही बाबुराव पेंटर जैसे महान फ़िल्म निर्माता-निर्देशक ने 'साहूकारी पाश' जैसी महान फ़िल्म का निर्माण किया तथा फ़िल्मों में ध्वनि आ जाने के बाद 1936 में इसे पुनः बनाया गया। यह फ़िल्म भारतीय किसान की आर्थिक गुलामी का दस्तावेज़ बन गई। इस फ़िल्म पर महात्मा गाँधी के ग्रामीण दर्शन का पर्याप्त प्रभाव था जिसका अनुसरण आगे भी होता रहा। हिंदी सिनेमा में नितिन बोस की फ़िल्म 'धरतीमाता', बिमल राय की फ़िल्म 'दो बीघा जमीन', महबूब खान की फ़िल्में 'औरत' और 'मदर इंडिया' जैसी कलैसिकल फ़िल्में इसका उपयुक्त उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त भी महात्मा गाँधी के विचारों से प्रेरणा लेकर साम्प्रदायिक सौहार्द और सामाजिक सुधार आदि विषयों पर भी फ़िल्मों का निर्माण निरंतर हिंदी सिनेमा में होता रहा।

अछूतोद्धार को लेकर हिंदी सिनेमा का अवलोकन किया जाए तो हम देखते हैं कि हिंदी सिनेमा में अछूतों के उद्धार को लेकर बनी पहली फ़िल्म 'चंडीदास' है। इस फ़िल्म का निर्माण कलकत्ता के न्यू थियेटर्स के द्वारा देवकी बोस के निर्देशन में सन् 1932 में बाँग्ला भाषा में किया गया था। इसके दो वर्ष बाद नितिन बोस के निर्देशन में हिंदी भाषा में इस फ़िल्म का पुनः निर्माण किया गया। यदि हम यह जानने का प्रयास करते हैं कि इस फ़िल्म का निर्माण 1932 में ही क्यों हुआ ? तो इसके पीछे के कारण के रूप में हमें तत्कालीन भारत की राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर महात्मा गाँधी और डॉ. अम्बेडकर के वैचारिक दर्शन का प्रभाव ही नज़र आता है। इस लेख में हम पहले चर्चा कर चुकें हैं कि भारत में सन् 1932 में पूना पैक्ट जैसी घटना हुई जिसके बाद से भारतीय समाज और राजनीति में दलितों ने अपनी विशेष उपस्थिति दर्ज कराई। इसका प्रभाव हिंदी सिनेमा

पर भी पड़ा। इस तर्क की पुष्टि प्रसिद्ध सिने-आलोचक एवं लेखक भी जवरीमल्ल पारख भी करते हैं, "1932 में गाँधी और अम्बेडकर के बीच पूना समझौता हुआ और यह पूरे देश में चर्चा का विषय बना तब फ़िल्मकारो ने दलित प्रश्न को केन्द्र में रखकर कुछ फ़िल्में बनायीं।" इन्हीं फ़िल्मों में से एक फ़िल्म है 'चंडीदास'। यह फ़िल्म 15 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध भक्त कवि चंडीदास और अछूत (दलित) महिला रामी के बीच की प्रेम कथा पर आधारित है। इस फ़िल्म में चंडीदास मंदिर के महंत के प्रिय शिष्य हैं जो ब्राह्मण जाति से हैं और रामी गाँव के अछूत जाति के धोबी बेजू की बहन है। इस बात से असहमत नहीं हुआ जा सकता कि यह फ़िल्म दलित जीवन की अनेक सामाजिक समस्याओं को लेकर चलती है। इस रूप में निर्देशक की मनोभूमि पर महात्मा गाँधी का प्रभाव देखा जा सकता है। परन्तु यह फ़िल्म क्योंकि 15 वीं शताब्दी के देशकाल पर आधारित है इसलिए इस फ़िल्म के भीतर दलितों के सन्दर्भ में बहुत कुछ ऐसा छूट गया है जिसे इस फ़िल्म के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता था, यही इस फ़िल्म की सीमा है।

फ़िल्म चंडीदास के बाद महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार संबंधी वैचारिक दर्शन का प्रभाव हमें सन् 1936 में बोम्बे टॉकीज द्वारा निर्मित फ़िल्म 'अछूत कन्या' में दिखाई देता है। इस फ़िल्म में भी एक ब्राह्मण युवक प्रताप और दलित युवती कस्तूरी के बीच प्रेम को दर्शाया गया है लेकिन इस प्रेम की विवाह में परिणति नहीं हो पाती है। जबकि प्रताप के पिता मोहन और कस्तूरी के पिता दुखिया आपस में घनिष्ठ मित्र हैं। प्रताप के पिता मोहन जातिगत भेदभाव के विरोधी हैं वह भी कस्तूरी को प्रताप के लिए उपयुक्त कन्या मानते हैं फ़िल्म में मोहन एक स्थान पर कहते हैं कि **'क्या ब्राह्मण, क्या भंगी, सब एक ही पिता की संतान हैं।'** परन्तु फिर भी जाति एक न होने के कारण वह भी प्रताप का विवाह कस्तूरी से करने के पक्ष में नहीं हैं। यह स्थिति हमें महात्मा गाँधी के उन विचारों की ओर ले जाती है जिसकी चर्चा हम इस लेख में ऊपर कर चुके हैं, जहाँ एक समय पर वह छुआछूत के विरोधी तो हैं परन्तु अंतर्जातीय विवाह को स्वीकार नहीं करते। फ़िल्म के भीतर के इस जातिवादी द्वंद्व को हम गाँधीवादी प्रभाव के रूप में तो समझ ही सकते हैं वहीं इसके अतिरिक्त हम इसे फ़िल्म पर हावी व्यावसायिकता के प्रभाव के रूप में भी देख सकते हैं। 'अछूत कन्या' के बाद सन् 1940 में एक और फ़िल्म 'अछूत' बनी, जिस पर भी महात्मा गाँधी के विचारों का प्रभाव दिखाई देता है। यह फ़िल्म एक दलित कन्या लक्ष्मी की कहानी है। जिसका पालन-पोषण एक सवर्ण परिवार करता है। फ़िल्म में लक्ष्मी को उसी व्यक्ति से प्रेम हो जाता है जिस व्यक्ति से उसी सवर्ण परिवार की कन्या प्रेम करती है। इस बात की सूचना मिलते ही लक्ष्मी को उसके दलित पिता के पास भेज दिया जाता है। इस घटना के बाद से इस फ़िल्म में नाटकीय बदलाव आता है, घर से भेज दिए जाने के बाद लक्ष्मी अपने बचपन के मित्र रामू के साथ मिलकर गाँव के मंदिर में दलितों के प्रवेश के लिए आंदोलन करती है, जिसके कारण लक्ष्मी को जेल भेज दिया जाता है और बीमारी के कारण रामू की मृत्यु हो जाती है। लेकिन लक्ष्मी और रामू के प्रयासों से दलितों के लिए मंदिर के द्वार खुल जाते हैं। हिंदी सिनेमा यह पहली ऐसी फ़िल्म है जहाँ दलितों का उद्धार किसी सवर्ण के हाथों नहीं बल्कि एक दलित कन्या के माध्यम से ही होता है। इस फ़िल्म में जिस प्रकार दलितों के उद्धार का चित्रांकन प्रस्तुत किया गया है। उससे इस फ़िल्म पर गाँधीवादी विचारों का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। 'अछूत कन्या' और 'अछूत' दोनों फ़िल्मों पर गाँधीवादी प्रभाव प्रयाप्त रूप से पड़ा। जवरीमल्ल पारख भी इस तर्क की पुष्टि करते हैं कि "ये दोनों फ़िल्में दलित उत्पीड़न को कहानी का विषय तो बनती हैं लेकिन इन पर अम्बेडकर से ज्यादा गाँधी की विचारधारा का ही असर नज़र आता है।"

इन फ़िल्मों के बाद बिमल रॉय की फ़िल्म सुजाता (1959) पर भी महात्मा गाँधी के वैचारिक दर्शन का प्रभाव देखने को मिलता है। इस फ़िल्म में भी सुजाता नाम की दलित युवती का अधीर नाम के ब्राह्मण युवक के साथ प्रेम को दर्शाया गया है। इस फ़िल्म सुजाता एक सवर्ण परिवार में पली एक दलित कन्या है जिससे उसी सवर्ण परिवार के संबंधी अधीर को प्रेम हो जाता है लेकिन वह अनेक विरोधों के बाद भी सुजाता से विवाह कर ही लेता है। यह फ़िल्म मुख्यतः तीन पीढ़ियों के मानसिक संघर्ष की कहानी है। इस फ़िल्म की नायिका सुजाता एवं अन्य पत्रों पर आत्मबलिदान, हृदय-परिवर्तन, अछूतोद्धार जैसे गाँधीवादी विचरों का प्रभाव देखने को मिलाता है।

सन् 1982 में हमें रिचर्ड एटनबरो द्वारा निर्देशित फ़िल्म 'गाँधी' देखने को मिलती है। यह फ़िल्म महात्मा गाँधी की बायोपिक है। जिसमें महात्मा गाँधी के सम्पूर्ण जीवन की महत्वपूर्ण घटनाओं को प्रदर्शित किया गया है। इस फ़िल्म के अतिरिक्त महात्मा गाँधी के जीवन पर बनी एक अन्य डॉक्यूमेंट्री फ़िल्म भी बनी, जिसका निर्माण भारत सरकार द्वारा कराया गया था। इस फ़िल्म की कुल अवधि 5 घंटे की थी। परन्तु 'सुजाता' फ़िल्म के बाद हिंदी सिनेमा में लम्बे समय तक ऐसी किसी फ़िल्म का निर्माण नहीं हुआ जिसमें महात्मा गाँधी के अछूतोद्धार संबंधी विचारों का प्रत्यक्ष प्रभाव देखा गया हो, बहुत लम्बे समय तक इंतज़ार के बाद सन् 2001 में आशुतोष गोवारिकर के निर्देशन में बनी फ़िल्म 'लगान' में फ़िल्म के नायक भुवन (आमिर खान) के माध्यम से कचरा (आदित्य लखिया) के उद्धार में स्पष्ट रूप से महात्मा गाँधी के विचारों का प्रभाव देखा जा सकता है। 'लगान' फ़िल्म के बाद अब तक ऐसी कोई एक फ़िल्म नहीं है जिसमें अछूतोद्धार के सन्दर्भ में महात्मा गाँधी के विचारों का इतना स्पष्ट प्रभाव देखा जा सके। परन्तु इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि दलितों के जीवन और उससें जुड़ी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं पर फ़िल्में नहीं बन रहीं, बल्कि इस इस विषय पर बनने वाली फ़िल्मों की संख्या बड़ी है। लेकिन इन फ़िल्मों पर महात्मा गाँधी से अधिक डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों का प्रभाव है। 'काला', 'असुरन', 'जय भीम' आदि फ़िल्में इसका उदाहरण हैं।

निष्कर्ष:

अपने जीवन में महात्मा गाँधी ने भले ही सिनेमा को पश्चिम की संस्कृति के देन अनेक बुरी आदतों में से एक माना हो, लेकिन इसमें कोई आशंका नहीं है कि सिनेमा ने महात्मा गाँधी को अपनाया। महात्मा गाँधी के विचारों से प्रेरित होकर हिंदी सिनेमा में बीसवीं सदी के दूसरे, तीसरे और चौथे दशक में अनेक फ़िल्मों का निर्माण हुआ और यह सिलसिला आगे भी चलता

रहा। इसकी चर्चा इस लेख में की जा चुकी है कि अछूतों (दलितों) के उद्धार की ओर महात्मा गाँधी गंभीर रूप से सक्रिय थे। अंततः फ़िल्मों के अध्ययन के माध्यम से यह सिद्ध होता है कि हिंदी सिनेमा पर महात्मा गाँधी के विचारों का ही प्रभाव था, जिसके कारण देवकी बोस, नितिन बोस, हिमांशु रॉय, सोराहब मोदी, महबूब खान और आशुतोष गोवारिकर जैसे हिंदी सिनेमा के प्रसिद्ध निर्माता एवं निर्देशकों ने अछूतों (दलितों) की कथाओं को अपनी फ़िल्मों का आधार बनाया। यह दूसरी बात है कि दलितों के जीवन के प्रदर्शन में यह फ़िल्में कितनी सफल रहीं। लेकिन इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है कि महात्मा गाँधी के वैचारिक प्रभाव के कारण ही यह संवेदनशील विषय हिंदी सिनेमा में अपना स्थान बना पाया।

सन्दर्भ:

1. "There is an ineffaceable blot that Hinduism today carries with it. I have declined to believe that it has been handed to us from immemorial times. I think that this miserable, wretched, enslaving spirit of "untouchableness" must have come to us when we were in the cycle of our lives, at our lowest ebb, and that evil has still stuck to us and it still remains with us." 'THE COLLECTED WORKS OF MAHATMA GANDHI', VOL. 15: 21 MAY, 1915 – 31 AUGUST, 1917, PAGE NO – 172-173
2. "It is also generally understood that while Gandhi opposed untouchability and criticised caste, he defended 'varnavyavastha', the fourfold varna order. This is not entirely correct over the entire Gandhian trajectory. Gandhi's own critique of the varna order, which unfurled over time, is usually overlooked by scholars." Nauriya, Anil, 'Gandhi's Little-Known Critique of Varna', Published in 'Economic & Political Weekly', Vol.41, Issue No. 19, 13 May, 2006 https://www.epw.in/journal/2006/19/commentary/gandhis-little-known-critique-varna.html
3. Kaushik, Narendra, 'Mahatma Gandhi in Indian Cinema', Cambridge Scholars Publishing, Page No. 4
4. Singh, Prem, 'The Representation of the Dalit Body in Popu lar Hindi Cinema', 2011, Page No. 1 https://www.academia.edu/25943972/The_Representation_of_the_Dalit_Body_in_Popular_Hindi_Cinema
5. कुकरेती, हेमंत, 'गाँधी-दर्शन आलोचनात्मक अध्ययन', राधाकृष्ण प्रकाशन दिल्ली, पहला संस्करण 2020, पृष्ठ संख्या 11
6. "Why do you need a cinema here? Instead of this, you can perform the various plays and stage dramas known to us. The cinema will only make you spend money. Then you will also learn to gamble and fall into other evil habits. Those addicted to alcohol, ganja and bhang should give up these addictions.", 'THE COLLECTED WORKS OF MAHATMA GANDHI', VOL. 98: 6 DECEMBER, 1947 – 30 JANUARY, 1948, PAGE NO - 122

7.-चौकसे, जयप्रकाश, 'महात्मा गांधी और सिनेमा', मौर्य आर्ट्स प्रकाशन मुंबई, प्रथम संस्करण : अक्टूबर, 2012, पृष्ठ संख्या 17

8.संपादक महेन्द्र प्रजापति, पत्रिका 'समसामयिक सृजन' हिंदी सिनेमा विशेषांक : अक्तूबर-मार्च, 2012-13, लेख शीला झुनझुनवाला 'हिन्दी सिनेमा का इतिहास-1980 तक', पृष्ठ संख्या 13

9.चौकसे, जयप्रकाश, 'महात्मा गांधी और सिनेमा', मौर्य आर्ट्स प्रकाशन मुंबई, प्रथम संस्करण : अक्टूबर, 2012, पृष्ठ संख्या 43

10.भार्गव, अनिल, 'भारतीय सिनेमा का इतिहास', सिने साहित्य प्रकाशन, प्रथम संस्करण: जनवरी-2016, पृष्ठ संख्या 55

11. पारख, जवरीमल्ल, 'हिन्दी सिनेमा में बदलते यथार्थ की अभिव्यक्ति' नयी किताब प्रकाशन, प्रथम संस्करण: 2021, पृष्ठ संख्या- 93

12. फ़िल्म 'अछूत कन्या', निर्देशक 'फ्रान्ज़ ओसटेन', प्रदर्शित सन् 1936

13 पारख, जवरीमल्ल, 'हिन्दी सिनेमा में बदलते यथार्थ की अभिव्यक्ति' नयी किताब प्रकाशन, प्रथम संस्करण: 2021, पृष्ठ संख्या- 95

****

वैदिक वाडमय में वर्णित गुरू-शिष्य सम्बन्ध की वर्तमान में उपादेयता

-प्रोफेसर शालिनी शुक्ला,
विभाग प्रभारी संस्कृत विभाग
ल.सिं.म.रा.स्ना.महाविद्यालय, पिथौरागढ,उत्तराखण्ड

-रेवती मेहता
शोध छात्रा
ल.सिं.म.रा.स्ना.महाविद्यालय, पिथौरागढ,उत्तराखण्ड

शिक्षा की प्रमुख तीन घटक होते हैं प्रथम शिक्षक द्वितीस शिष्य एवं तृतीय पाठयक्रम। शिक्षा गुरू व शिष्य के मध्य की अन्तःक्रिया कही जा सकती है। गुरू अपने ज्ञान से शिष्य को शिक्षित करता है। गुरू के सानिध्य में शिष्य अपनी ज्ञान पिपासा को शान्त करता है। इन दोनों के अभाव में अधिगम सम्भव नहीं है।

वैदिक वाङ्मय में चारों वेद, वेदांग, ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद आदि को समम्लित किया जाता है। वैदिक वाङ्मय में वर्णित शिक्षा का जो रूप हमें प्राप्त होता है उसमें गुरू एवं शिष्य का मधुर सम्बन्ध दृष्टिगोचर होता है। गुरू शिष्य के प्रति एक पिता, मित्र के समान व्यवहार रखते थे। विद्या–अध्ययन काल में शिष्य ब्रह्मचर्य व्रत धारण कर गुरू के समीप गुरूकुल अथवा आचार्यकुल में रहता था। पितृ तुल्य गुरू शिष्य के हित–अहित का पूर्ण ध्यान रखते थे। उसका पालन पोषण करते थे। शिष्य को विद्या अध्ययन काल तक गुरू का संरक्षण प्राप्त होता था। वह गुरू को अपना माता–पिता, मित्र, भाई–बन्धु मानता था। गुरू की आज्ञा का पालन करने का यथासम्भव प्रयत्न रहता था। वह गुरू की सेवा में तत्पर रहते हुआ विद्या ग्रहण करता था। प्रातःकाल गुरू के उठने से पूर्व जाग जाता था। अपने नित्य कर्म से निवृत्त होकर स्नान, वन्दना आदि कर गुरू की सेवा में तत्पर रहता था। वह गुरू को देव तुल्य सम्मान देता था। उसे पूजनीय माना जाता था। गुरू के कार्यो में उसे सहयोग प्रदान करता था जैसे पानी लाना, भोजन पकाना, लकड़ी काटना, गुरू के गो धन की सेवा, कृषि कर्म इत्यादि वह गुरू द्वारा दिए गए निर्देशों का पालन करता था।

गुरू एक माता और पिता की भूमिका का निर्वाह करता था। गुरू अपने शिष्य के भोजन, निवास, स्वास्थ्य, चिकित्सा, शिक्षा की पूर्ण व्यवस्था की जाती थी। उसके सुख–दुःख में सहभागी रहता था। शिष्य के सर्वागीण विकास प्रयत्नशील था। गुरू द्वारा सदैव यह कामना की जाती थी कि उसका शिष्य का बहुमुखी विकास हो एवं उसका यश चारों दिशाओं में विस्तृत है गुरू से पुत्रवत् स्नेह प्राप्त करता था। उसकी प्रत्येक समस्याओं, जिज्ञासाओं के समाधान का यथासम्भव प्रयत्न करता था। सभी शिष्यों को समान रूप में शिक्षित करता था।

गुरू व शिष्य का सम्बन्ध पवित्र था। शिष्य गुरू को ही अपने अपना मार्गदर्शक, अवगुणों को समाप्त करने वाला मानता था। छान्दोग्योपनिषद[1] में लिखा गया है कि ईष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट का परिहार के मार्ग को प्रशस्त करने वाला साधन एक मात्र गुरू ही है। यहीं ज्ञान रूपी अग्नि के द्वारा शिष्य के अन्तःकरण को परिशोधन करता है । गुरूकृपा से मानव अमृत रूपी परमसुख तक पहुॅच सकता था। इस कारण गुरू के प्रति श्रद्धाभाव शिष्य को आत्मसमर्पण हेतु उन्मुख करता था। भविष्य के लिए तैयार करता था जिससे वह एक आदर्श नागरिक बन सके। अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने में सक्षम हो सके। शिष्य के जीवन में गुरू का स्थान अद्वितीय था। आचार्य शिष्य को सम्पूर्ण सम्मान प्रदान करते थे। गुरू कामना करता था कि शिष्य उनका यश विस्तार करें, योग्य बने, शिष्य द्वारा अतिप्रश्न करने एवं पुनः प्रश्न पूछने पर भी गुरू शिष्य के प्रति अपने धैर्य को बनाए रखते थे।

अथर्ववेद[2] में लिखा गया है कि शिष्य गुरू के सोकर जाग. ने से पूर्व जागता, गुरू के आसन से निम्न के आसन पर बैठता, गुरू की आज्ञा का पालन करता ,गुरू निन्दा से दूर रहता था। शिष्य अपने तप द्वारा आचार्य को तृप्त करता था। गुरू की निन्दा न तो सुनता था और न ही करता था।

वैदिक वाङ्मय में अनेक ऐसे उदाहरण प्राप्त होते है जिससे स्पष्ट होता है कि गुरू और शिष्य एक दूसरे के प्रति निष्ठावान थे। एक दूसरे का सम्मान करते थे। गुरू द्व ारा दण्ड दिए जाने पर अथवा गुरू के रूष्ट हो जाने पर भी शिष्य का विनय उसे उत्श्रृखल नहीं होने देता था। पिप्लाद ऋषि द्वारा मुके''ा भारद्वाज की जिज्ञासाओं का

समाधान किया गया तो भारद्वाज द्वारा कहा गया आप हमारे पिता हो क्योकि आप ही हो जो मुझे अविद्या से पार ले जाकर तार देते हो। प्रश्नोपनिषद[3] वैदिक शिष्य गुरू को सर्वस्व समर्पण की भावना रखते थे वृहदारणयक उपनिषद में भी उल्लेख मिलता है कि विदेहराज जनक को जब गुरू याज्ञवल्क्य के ब्रह्म ज्ञान प्रदान किया था तब राजा जनक ने कृतज्ञ होकर गुरू से कहा था कि मैं और मेरा सम्पूर्ण विदेह आपका है गुरू प्रतिभाशाली शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते हुए अत्यधिक गौरव का अनुभव करता था। गुरू शिष्य को वह सम्पूर्ण ज्ञान प्रदान करता था जो उसे ज्ञात होता था। किसी भी ज्ञान से शिष्य को वंचित नहीं रखता था। छान्दोग्योपनिषद[4] में स्पष्ट किया गया है कि आचार्य अपने पुत्र एवं शिष्य को एक ही कोटी में रखते थे। गुरू पत्नी भी शिष्यों के प्रति स्नेह भाव रखती थी मातृवत् वात्सल्यपूर्ण व्यवहार करती थी।

शिष्य अपनी प्रत्येक जिज्ञासा को गुरू के सम्मुख रखता, तत्सम्बन्धी प्रश्न करता था। समाधान प्राप्त कर अपनी जिज्ञासा को शान्त करता था। गुरू के गो धन से प्राप्त दूध, दही घृत से शिष्य शारीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ रहता था। वह गुरू के साथ अथवा उनके प्रतिनिधि के रूप विभिन्न धार्मिक सम्मेलनों, यज्ञ–अनुष्ठानों, शास्त्रार्थ आदि में प्रतिभाग करता था। यदा कदा शिष्य को अपमा. नित भी होना पड़ता था। किन्तु उत्श्रृखल मनोवृत्ति के शिकार नहीं होते थे। वे वह सब कुछ सहन करते हुए अपनी साधना में रत रहते थे। अथर्ववेद[5] में लिखा गया है कि शिष्य गुरू की निन्दा न तो करता था और न ही सुनता था। उनका विनय उन्हे मुखरित नहीं होने देता था। कतिपय शिष्य ऐसे होते थे जो वर्षों तक गुरू की सेवा में तत्पर रहते थे। सामान्यतः शिष्य योग्य एवं विद्वान आचार्य को गुरू बनाते थे। आचार्य भी यह अपेक्षा रखते थे कि उनका शिष्य प्रखर बुद्धिवाला हो। अथर्ववेद[6] में लिखा गया है कि गुरू शिष्य को उपनयन संस्कार के समय अप. ने गर्भ में धारण करता था। तीन रात तक उसे अपने उदर में धारण करके उसका पोषण करता था। चौथे दिन उसको जन्म प्रदान करता था। ब्रह्मचारी को द्विज कहा गया। दो जन्म लेने के कारण ही उसे द्विज कहा गया

शिष्य का गुरू के प्रति कर्त्तव्य था कि वह निश–दिन गुरू की सेवा करें। उनकी आज्ञा का पालन करें। वहीं गुरू का भी शिष्य के प्रति कर्त्तव्य था कि वह पुत्र के समान स्नेह करें। उनकी समस्त समस्याओं का समाधान करें। आचार्य शिष्य को किसी भी अपेक्षित ज्ञान से वंचित न रख सकता था। वह अपने ज्ञान रूपी वर्षा द्वारा उसे सिंचित करता था। परिणामस्वरूप वह भविष्य में फलित हो सके। गुरू इस बात का ध्यान रखता था कि शिष्य के मन व मस्तिष्क में किसी भी प्रकार का कोई विकार उत्पन्न न हो। गुरू शिष्य को अपना आदर्श मानता था क्योकि दीर्घ समय तक गुरू के पास रहता था। गुरू का अनुकरण करता था क्योकि बालक जैसा देखता है वह उसे ही अनुकरण द्वारा सीखने लगता है वैदिक काल के गुरू इस बात का पूर्ण ध्यान रखते थे। उनका यथासम्भव प्रयास रहता था कि वह शिष्य के सम्मुख एक उत्तम चरित्र प्रस्तुत करें। प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास[7] में लिखा गया है कि कभी–कभी इन सेवक शिष्यों में कुछ मन्द बुद्धि के भी होते थे। किन्तु आचार्य उनकी सेवा एवं विनम्रता से प्रसन्न होकर उन्हे भी ज्ञानार्जन कराता था। जिस प्रकार माता–पिता के अपने सभी सन्तानों के प्रति समभाव स्नेह र खते है वैसे ही गुरू द्वारा शिष्यों के प्रति समान भाव रहता था। प्रत्येक शिष्य को निःस्वार्थ स्नेह करते थे। उसको वि. भन्न कलाओं शास्त्रों, धर्म, नैतिकता आदि की शिक्षा प्रदान करता । उसके भोजन, स्वास्थ्य ,निवास, चिकित्सा की व्यवस्था करता था। गुरू अपने ज्ञान से शिष्य के अज्ञान का निवारण करता

वर्तमान में सामान्यतः यह दृष्टिगत है कि गुरू–शिष्य सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं हैं। उन में परस्पर कटुता रहती है। विभिन्न विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों की यह प्रमुख समस्या बन चुकी है। छात्र अनुशासनहीन हो गये हैं। वे गुरू–आज्ञा की अवहेलना करते हैं। गुरू भी अपने शिक्षण कार्य को केवल व्यवसाय अर्थात आजीविका का साधन मान रहे हैं। दोनों में परस्पर प्रेम, वात्सल्य, श्रद्धा, सम्मान व वि''वास का अभाव पाया जाता है। इससे आए दिन अनेक प्रकार के विद्रोह, हड़ताल, तालाबन्दी, बहिष्कार, नारेबाजी इत्यादि देखने को मिलती हैं। ये गतिविधि ायां यदा–कदा भयंकर रूप ले लेती हैं। इसके शिक्षण बाधि ात तो होता ही है साथ में समाज भी बुरा प्रभाव पड़ता है।

वैदिक वाङ्मय में जो गुरू–शिष्य के सम्बन्ध का वर्णन किया गया है वह वर्तमान में अनुकरणीय है। गुरू को सत्चरित होना चाहिए। अपने कर्त्तव्यों का निष्ठापूर्वक निर्वाह का संदेश वैदिक शिक्षा द्वारा दिया गया है। निः स्वार्थ भाव से विद्यादान करना चाहिए।गुरू को शिष्य के प्रति पितृवत् एवं मित्रवत व्यवहार करना चाहिए। शिष्य को गुरू के प्रति सम्मान की भावना रखनी चाहिए। विद्यार्थी जीवन में अनुशासन को स्थान दिया जाना चाहिए। इससे गुरू–शिष्य के सम्बन्ध में मधुरता आएगी। अध्ययन एवं अध्यापन सुचारू रूप से संचालित हो सके। उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट होता है कि वैदिक शिक्षा में गुरू का स्थ. ान गरिमामय था। शिक्षा र्थी का चहुमुखी विकास गुरू से ही सम्भव था। गुरू निःस्वार्थ भाव से विद्यादान करते थे। शिष्य गुरू की सहायता से ही पुरूषार्थ चतुष्टय की सिद्धि मे सफल होता था। गुरू और शिष्य मे मधुर सम्बन्ध थे। दोनों मैत्रीपूर्वक रहते थे।

संदर्भ सूची

1 छान्दोग्योपनिषद 6/14/2

2 अथर्ववेद 6/108/2, 133/3

3 प्र''नोपनिषद 6–8

4 छान्दोग्योपनिषद् 3/11/5–6

5 अथर्ववेद 6/108/2

6 अथर्ववेद 1/5/3

7 प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास पृष्ठ संख्या 517

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1 अथर्ववेद संहिताः श्री रामकृष्ण शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वारणसी, 1977।

2 प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास, जय शंकर मिश्र, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, 2013।

3 उपनिषदकालीन समाज एवं संस्कृति, डा0 राजेन्द्र कुमार त्रिवेदी, परिमल पब्लिके''ान्स, दिल्ली 1983।

4 दुर्लभ 108 उपनिषद्, वेदमूर्ति तपोनिष्ट पं0 श्रीराम शर्मा आचार्य शक्तिस्वरूपा माता भगवती देवी शर्मा, श्रीवेदमाता गायत्री ट्रस्ट शान्ति कुंज, हरिद्वार 2021।

5 गुरू–शिष्य–सम्बन्ध, फूलकान्त मिश्र, नाग प्रकाशन, 1996 ।

6 छान्दोग्योपनिषदत्, रायबहादुर बाबू जालिम सिंह, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, 2014 ।

7 प्रश्नोपनिषद्, स्वामी चिन्मयानन्द, सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट,2011 ।

8 मुण्डक–प्रश्न–उपनिषद्, स्वामी स्वयम्प्रकाश गिरि, श्रीदक्षिणामूर्ति इम प्रकाशन वाराणसी, 2011 ।

9 यजुर्वेदभाष्यम्, पं0 हरिशरण सिद्धान्तालंकार, श्री घूडमल प्रहलादकुमार आर्य धर्मार्थ न्यास राजस्थान, 2014 ।

10 वैदिक कालीन शिक्षा पद्धति एक अनुशीलन, डा0 ध्गिरेन्द्र झा, कला प्रकाशन वाराणसी, 2019 ।

11 वैदिक शिक्षा मीमांसा, डा0 भास्कर मिश्र, ईस्टर बुक लिंकर्स दिल्ली, 1991।

****

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना एक व्यवसायिक प्रशिक्षण

-डॉ. कोकिल,
असिस्टेन्ट प्रोफेसर (हिन्दी विभाग)
श्री द्रोणाचार्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय, दनकौन, (गौतम बुद्ध नगर)
मो.8630825952)

शोध–सार :–

विकसित भारत के निर्माण की दिशा में प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी द्वारा 15 जुलाई 2015 को प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना (PMKVY) की शुरूआत की गई थी। इस योजना के अन्तर्गत ऐसे लोगों को रोजगार दिलाना था जो कम पढ़े लिखे है या बीच में स्कूल छोड़ देते है। इस योजना को देश में कौशल विकास को प्रोत्साहित करने और बढ़ावा देने के लिए मुफ्त लघु अवधि कौशल प्रशिक्षण प्रदान करने और कौशल प्रमाणन के लिए युवाओं को मौद्रिक पुरूस्कार प्रदान करके प्रोत्साहित करने के लिए शुरू किया गया था। इस योजना का उद्देश्य युवाओं को लघु उद्योग तथा कौशल आधारित प्रशिक्षण प्राप्त कराना था जिससे उन्हें रो. जगार प्राप्त हो सके तथा वह अपनी आजीविका चलने योग्य बन सके। वर्ष 2022 तक भारत में 40 करोड़ से अधिक युवाओं को वि. भन्न कौशलों में प्रशिक्षित करना था एवं समाज में बेहतर आजीविका और सम्मान के लिए भारतीय युवाओं को व्यवसायिक प्रशिक्षण व प्रमाणन प्रदान करना था। वर्ष 2015–16 में 19.85 लाख युवाओं को प्रशिक्षित किया गया था। PMKVY 2.0 को भारत सरकार के अन्य मिशनों जैसे– मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया, स्वच्छ भारत आदि के साथ संयुक्त रूप से लॉन्च किया गया था। बजट 12,000 करोड़ रूपये था। इसका परिणाम हुआ कि PMKVY 1.0 और PMKVY 2.0 के तहत देश में एक बेहतर मानकीकृत कौशल पारिस्थितिकी तन्त्र के माध्यम से 1.2 करोड़ से अधिक युवाओं को प्रशिक्षित/रोजगार करने योग्य बनाया गया है। यह शोधालेख PMKVY के देश में महत्व एवं युवाओं पर इसका प्रभाव एवं सफलता का संक्षिप्त अध्ययन है जिसमें यह जानने का प्रयास किया गया है कि यह योजना युवाओं के कौशल विकास में कितना सहयोग कर रही है एवं कहाँ तक सफल है।

बीज शब्द :–

रोजगार, युवा, योजना, निर्माण, प्रशिक्षण, कौशल विकास, प्रभाव, पुरूस्कार।

शोध पत्र :–

भारत के युवाओं में कौशल का विकास करने के लिए भारत सरकार ने प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना की शुरूआत 2015 में की। इस योजना के तहत देश के बेरोजगार युवाओं को रोजगार प्राप्त करने के अवसर मिलते हैं एवं उन्हें कौशल का प्रशि क्षण दिया जाता है। इस योजना को मिनिस्ट्री ऑफ स्किल डबलपम. ेंट एंड एंट्रेप्रेनशिप द्वारा नियंत्रित एवं नियमित किया जाता है। इस मंत्रालय का काम युवाओं के लिए अवसर प्रदान करना है जिससे वह अपने पसंद के कार्य को चुनकर उसे अपना जीविकोपार्जन का साध न बना सके तथा एक बेहतर जीवनयापन कर सके। इस योजना के अन्तर्गत युवाओं को विभिन्न तकनीकी क्षेत्रों में अधिक से अधिक प्रशिक्षित किया जाता है।

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के अन्तर्गत ऐसे युवाओं को लाभ मिलेगा जो युवा पढ़ाई बीच में ही छोड़ देते हैं। जैसे– दसवीं या बारहवीं कक्षा के बाद किसी कारणवश पढ़ाई पूरी नहीं कर पाते हैं जिस कारण उनके पास रोजगार की कमी होती है या कोई रोजगार उन्हें मिल ही नहीं पाता है। कुछ युवा तो आर्थिक तंगी के कारण तो कुछ युवा अन्य किसी कारण से पढ़ाई छोड़ देते हैं ऐसे युवाओं के लिए यह योजना बहुत लाभकारी सिद्ध होग. ी। ऐसे युवाओं को इस योजना द्वारा प्रशिक्षित किया जायेगा तथा उन्हें रोजगार प्राप्त करने में मदद मिलेगी। प्रशिक्षण के बाद इन युवाओं को सर्टिफिकेट दिया जायेगा ताकि यह उसे कहीं भी दिखाकर रोजगार प्राप्त कर सके। प्रधानमंत्री मोदी जी का लक्ष्य है कि हमारा देश भारत के युवा आगे बढ़े और इस योजना के द्वारा उनका यह सपना साकार हो रहा है। हमारे देश के युवा आगे बढ़ रहे हैं।

इस योजना का युवाओं के लिए एक लाभ यह भी है कि जो छात्र प्रशिक्षण के समय अच्छा प्रदर्शन करेंगे उन्हें मौद्रिक नगद इनाम देकर प्रोत्साहित किया जायेगा, जिससे वह प्रेरित हो सके। इस योजना में आवेदक को ऑनलाइन आवेदन करना होता है जिसके अन्तर्गत वह प्रशिक्षण प्राप्त कर सकेगें। इसकी मद्द से वह अपना बिजनेस भी शुरू कर सकते है इसमें केन्द्र सरकार द्वारा भी मद्द की जायेगी।

इस योजना के अन्तर्गत मोबाईल कम्पनियाँ योजनाओं से जुड़े लोगों को मैसेज करके एक टोल फ्री नं0 मिलता है जिस पर कैंडिटेट को मिस कॉल करनी होगी। मिस कॉल करने पर वहाँ से तुरन्त आपको रिटर्न कॉल आयेगी जिसके बाद आप आई0भी0आर0 सुविधा से जुड़ जायेगें। इसके बाद वह आपसे आपके बारे में जानकारी लेगें। आपके द्वारा ली गई जानकारी को वे अपने सिस्टम में सुरक्षित रखेंगे। यह जानकारी मिलने के बाद आवेदनकर्ता को उसी के क्षेत्र में जहाँ वह रहता है उसी के आस–पास ट्रेनिंग सेन्टर में जोड़ा जायेगा जहाँ से आपको पूरी जानकारी दी जायेगी।

इस योजना के अन्तर्गत उम्मीदवार का जो भी खर्चा होगा वह उसे सरकार द्वारा दिया जायेगा और वह रूपये प्रशिक्षण देने वाले प्रशिक्षण केन्द्र के एकाउंट में ट्रांसफर कर दिए जायेगें। लेकिन इसके लिए सरकार ने कुछ नियम भी बनाए हैं। जिसके अन्तर्गत प्रत्येक उम्मीदवार का आधार बैलिडेशन होना आवश्यक है।

2015 से 2016 तक प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के सफल संचालन के बाद 2016 में योजना का पार्ट–2 लॉन्च किया गया जो 2020 तक चला। 2020 में पार्ट–3 का क्रियान्वयन किया गया। पार्ट–3 में लगभग 8 लाख युवाओं को प्रशिक्षण दिया गया। इस प्रशि क्षण को प्राप्त कर युवाओं ने रोजगार एवं स्वरोजगार प्राप्त किये। इस योजना का लाभ युवाओं को आर्थिक तंगी से छुटकारा के साथ–साथ समाज में सम्मान दिलाने में भी मिला।

उद्देश्य :–

- यह एक कौशल प्रमाणन योजना है जिसका उद्देश्य देश के युवाओं को उद्योग से सम्बन्धित प्रशिक्षण में भाग लेने के लिए प्रोत्साहित कर उन्हे अपने कौशल को विकसित करने में मद्द करेंगे।
- इसका उद्देश्य 2016 से 2020 के बीच दस मिलियन युवाओं को प्रशिक्षित करना था जिससे वे अपनी जीविका चला सके।
- 15 से 29 वर्ष की आयु के बीच का कोई भी युवा इस योजना के लिए आवेदन कर सकता है हालांकि मुख्य फोकस कॉलेज/स्कूल छोड़ने वालों तथा बेरोजगार युवाओं पर है।
- रिकॉग्निशन ऑफ प्रायर लर्निंग प्रोग्राम (आर0पी0एल0) के तहत प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना द्वारा व्यक्तियों के पिछले सी खने के अनुभव या प्रतिभा को भी प्रमाणित किया जायेगा।

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना 1.0 (PMKVY) 2015–2016 को निःशुल्क अल्पकालिक कौशल प्रशिक्षण प्रदान करने और मौद्रिक पुरस्कारों के साथ युवा कौशल प्रमाणन को प्रेरित करके देश में कौशल विकास को बढ़ावा देने के लिए प्रारम्भ की।

वित्त मंत्रालय ने NSDC को एक सार्वजनिक निजी साझेदारी मॉडल के रूप में स्थापित किया। राष्ट्रीय कौशल विकास निगम (NSDC) बड़े उच्च गुणवत्ता वाले, लाभकारी व्यवसायिक संस्थानों की स्थापना में सहायता करके कौशल विकास को प्रोत्साहित करने का प्रयास करता है। अल्पकालिक प्रशिक्षण विशेष परियोजनाएँ, पूर्व सी खने की मान्यता, कौशल और रोजगार मेला और अन्य तत्व महत्वपूर्ण है। 2015–16 में कुल 19.85 लाख युवाओं को प्रशिक्षित किया गया था।

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना 2.0 (PMKVY) 2016–2020 को भारत सरकार के अन्य मिशनों मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया, स्वच्छ भारत आदि के साथ संयुक्त रूप से लान्च किया था। इसका बजट 12,000 करोड़ रूपये था। इस चार साल में PMKVY प्रशिक्षण केन्द्रों में प्रदान किया जा रहा है। अल्पावधि/प्रशिक्षण स्कूल/कॉलेज छोड़ने वाले या बेरोजगार युवाओं पर केन्द्रित है। प्रशिक्षण की अवधि जाब रोलों के अनुसार भिन्न–भिन्न होती है। ये पाठ्यक्रम 200–600 होते (2–6) महीने के बीच की अवधि के होते हैं।

इसका विस्तार क्षेत्र और भूगोल दोनों के संदर्भ में किया गया था। दूसरा चरण भारत सरकार की अन्य पहल जैसे–मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया और स्वच्छ भारत के साथ ताल–मेल में सुध ाार करता है। प्रशिक्षण सॉफ्ट कौशल उद्यमशीलता, वित्तीय और डिजिटल साक्षरता पाठ्यचर्या के एक भाग के साथ राष्ट्रीय कौशल अर्हता ढांचा अनुसार प्रदान किया जाता है। उम्मीदवारों का मूल्याकंन और प्रमाणन सफलतापूर्वक पूरा होने पर उन्हें प्रशिक्षण भागीदारी टीपी द्वारा नियोजन सहायता प्रदान की जाती है।

पूर्व शिक्षण अथवा कौशल वाले व्यक्तियों का पूर्व शिक्षा मान्यता RPL स्कीम के तहत आंकलन और प्रामण किया जाता है। RPL का उद्देश्य देश के असंगठित कार्यबल की दक्षताओं को एनएसल्यूएफ के अनुदान करना है। प्रशिक्षण अभिपूर्वीकरण की अवधि 12–80 घंटे के बीच होती है।

विशेष परियोजनाएँ घटक में सरकारी निकायों, निगमों उद्योग निकायों तथा विशेष क्षेत्र में प्रशिक्षण को बढ़ावा देने की परिकल्पना रही है और उपलब्ध अर्हता पैकों/क्यूपी/राष्ट्रीय व्यवसायिक मानको (रूओएस) के अन्तर्गत विशेष जाब रोलों में प्रशिक्षण निर्धारित नहीं है। यह ऐसी परियोजनाएँ है जिनमें PMKVY के अन्तर्गत अल्पावधि प्रशिक्षण के नियमों और शर्तों के अनुसार कुछ भिन्नता हो सकती है।

1. केन्द्र प्रायोजित केन्द्र प्रबंधित (CSCM)–यह घटक राष्ट्रीय विकास कौशल निगम द्वारा क्रियान्वित किया गया था। PMKVY 2016–20 की अवधि के वित्तपोषण का 75 प्रतिशत धनराशि और संबंधित भौतिक लक्ष्यों को सीएससीएम के तहत आवंटित किया गया है।
2. केन्द्र प्रायोजित राज्य प्रबंधित (CSSM)– यह घटक राज्य सरकारों द्वारा राज्य कौशल विकास मिशनों के माध्यम से लागू किया गया था। PMKVY 2016–20 की अवधि के वित्तपोषण का 25 प्रतिशत धनराशि और संबंधित भौतिक लक्ष्यों को CSSM के अन्तर्गत आवंटित किया गया है।

PMKVY 2.0 के अन्तर्गत देश में बहुत कुछ बदल गया। रो. जगार के क्षेत्र में बहुत परिवर्तन देखने को मिले। इन चार सालों में देश स्वच्छता एवं औद्योगिक क्षेत्र में बहुत आगे बढ़ गया है। PMKVY 1.0 और 2.0 के अन्तर्गत देश में कौशलों के माध्यमों से 1.2 करोड़ से अधिक युवाओं को प्रशिक्षण देकर उन्हें रोजगार के काबिल बनाया गया है।

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना 3.0 :– 16 जनवरी 2021 को कौशल विकास एवं अद्यमिता मंत्रालय (MSDE) ने युवाओं को रोजगार कौशल में सशक्त बनाने के लिए प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के तीसरे चरण की शुरूआत की। इसमें 300 से अधिक पाठ्यक्रमों को उपलब्ध कराने के साथ लगभग 600 केन्द्रों में PMKVY 3.0 योजना आरम्भ की गई। इसे देश के 717 जिलों एवं 28 राज्यों, आठ केन्द्र शासित प्रदेशों में शुरु किया गया। यह भारत को आत्मनिर्भर बनाने की ओर एक कदम था। इस योजना के तीसरे चरण को राज्यो, केन्द्र शासित प्रदेशों में शुद्ध रूप से क्रियान्वित किया गया। इसके अन्तर्गत राज्य कौशल विकास समितियाँ डीएससी जिला स्तर पर कौशल अन्तर को दूर करने तथा आवश्यकताओं का आंकलन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगी। यह कार्यक्रम वैश्विक एवं स्थानीय दोनों स्तरों पर बदलती माँगों के अनुसार, बनाए रखने के लिए तैयार किया गया है। इसे समर्थन के साथ विकेन्द्रीकृत संरचना में लागू किया जाएगा। यह योजना 948.90 करोड़ उम्मीदवारों को कौशल प्रशिक्षण प्रदान करने की परिकल्पना करती है।

PMKVY 3.0 का महत्व युवाओं के उद्योग से जुड़े अवसरों को भुनाने हेतु प्रारम्भिक स्तर पर व्यवसायिक शिक्षा का प्रसार करेगी। इस योजना में शार्ट टर्म ट्रेनिंग, रिकॉग्निशन ऑफ प्रायर लर्निंग, स्पेशल प्रोजेक्ट के द्वारा प्रशिक्षण दिया जायेगा। इसके अन्तर्गत युवा कंट्रक्शन, इलेक्ट्रॉनिक्स एवं हार्डवेयर, फूड़ प्रोसेसिंग, फर्नीचर और फिटिंग, हैंडीक्राफ्ट, जेम्स और जूलरी, लैदर टैक्नोलॉजी आदि 40 से अधिक क्षेत्रों की ट्रेनिंग दी जाएगी। इस योजना में पाँच हजार ट्रेनिंग सेन्टर पर 32 हजार ट्रेनिंग पार्टनर्स के द्वारा युवाओं को प्रशिक्षित किया जाएगा। इसे ध्यान में रखते हुए PMKVY का तीसरा चरण राज्य, जिला लेवल और ब्लॉक स्तर पर बढ़ते हुए सम्पर्क की ओर मजबूत करके परिणाम प्राप्त करने की दिशा में एक प्रगतिशील कदम है। इस योजना का विशेष महत्व PMKVY से कौशल प्रमाणन योजना

का उद्देश्य बड़ी संख्या में भारतीय युवाओं को उद्योग, प्रासंगिक कौशल प्रशिक्षण लेने में सक्षम बनाना या अच्छी जीविका प्राप्त करने में मद्द करेगा। अपने जीवन को सरल तरीके से जीना ही जीवन कौशल है।

1.यह योजना युवाओं को कौशल प्रशिक्षण प्रदान करने की प्रमुख योजना है।
2. यह योजना राष्ट्रीय कौशल विकास निगम के माध्यम से नवश्री जीत कौशल विकास तथा उद्यमिता मंत्रालय द्वारा क्रियान्वित की जा रही है।
3. इस योजना में पढ़ाई बीच में छोड़ने वाले या 10वीं 12वीं पास युवाओं को प्रशिक्षित करने पर विशेष बल दिया गया है।
4. योजना के अन्तर्गत प्रशिक्षण ले रहे प्रशिक्षणार्थियों को 8000 प्रति अभ्यर्थी का औसत सहयोग राशि देने का प्रावधान भी है।
5. राष्ट्रीय कौशल योग्यता फ्रेमवर्क (NSQF) और उद्योग नीति मानकों के आधार पर कौशल प्रशिक्षण दिया जायेगा।
6. प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के अन्तर्गत मुख्य ध्यान बेहतर पाठ्यक्रम, बेहतर अध्यापन शैली और बेहतर प्रशिक्षित अध्यापकों पर होगा।
7. तृतीय पक्ष आकलन निकायों द्वारा किये गए आंकलन और प्रमाणन के आधार पर प्रशिक्षुओं को आर्थिक परितोषिक देना।

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना 3.0 के अन्तर्गत सरकार द्वारा 276 का बजट निर्धारित किया गया है। जो एक बहुत बड़ा बजट है। इस धनराशि का उपयोग केवल PMKVY में ही खर्च किया जायेगा। सन् 2023 तक प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के अन्तर्गत 40.2 करोड़ युवाओं को प्रशिक्षण देने का लक्ष्य सरकार द्वारा रखा गया है। इससे युवाओं को आर्थिक मद्द मिलेगी। इस योजना के कुछ प्रमुख उद्देश्य भी है –

- देश के युवाओं में बहुत टेलेंट है किन्तु किन्हीं कारणों से वह टेलेंट लोगों तक नहीं पहुँच पा रहा है। उन्हीं के लिए सरकार कौशल विकास योजना का क्रियान्वयन कर रही है।
- इस योजना के अन्तर्गत युवाओं को प्रशिक्षित करके उन्हें जो सर्टिफिकेट प्रदान किया जायेगा वह पूरे भारत में मान्य होगा। जिसके आधार पर वह निजी तथा सरकारी क्षेत्र में नौकरी प्राप्त कर सकते हैं।
- इस योजना के अन्तर्गत युवाओं को प्रशिक्षित अध्यापकों के द्वारा ही प्रशिक्षण दिया जायेगा ताकि उन्हें चयनित क्षेत्र सम्बन्धी पूरी जानकारी प्राप्त हो सके।
- इस योजना का मुख्य उद्देश्य युवाओं को प्रशिक्षित कर उन्हें रोजगार दिलवाकर उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार करना भी है।
- इस योजना के अन्तर्गत देश के युवाओं को प्रोत्साहित करके उन्हें उद्योग सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान करना है जिससे उन्हें रोजगार मिल सके। इनकी ट्रेनिंग फीस भी सरकार द्वारा ही दी जायेगी।

इस योजना में 3 महीने, 6 महीने एवं 01 साल के लिए रजिस्ट्रेशन होता है। कोर्स पूरा करने के बाद प्रमाण–पत्र भी दिया जाताा है। जो पूरे भारत में मान्य होता है।

यहाँ से ट्रेनिंग पूरी करने के बाद ट्रेनिंग किये हुए युवाओं को अलग–अलग सरकारी योजनाओं में जैसे स्वच्छ भारत अभियान, मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया आदि में खाली जगहों में नौकरी दी जाती है।

इस योजना के लिए प्रशिक्षार्थी को कोई फीस भुगतान नहीं करनी पड़ती है। बल्कि इसका भुगतान सरकार द्वारा किया जाता है।

इस योजना का ब्रांड मिस्टर सचिन तेदुंलकर है। वे युवाओं के आदर्श है। अतः युवाओं को प्रोत्साहित करने के लिए महान क्रिकेटर ि खलाड़ी सचिन तेंदुलकर को चुना गया है।

निष्कर्ष :–

भारत सरकार देश में बेरोजगारी को समाप्त कर देश को निर्माता के तौर पर वैश्विक केन्द्र बनाना चाहती है और यह तभी किया जा सकता है जब यहाँ पर निर्माण कार्य करने जैसी प्रतिभा मौजूद हो। इस योजना के अन्तर्गत युवाओं में कौशल विकास हुआ है बल्कि इससे गरीबी और बेरोजगारी की समस्या के समाधान की दिशा में बल मिला है। यह योजना उद्देश्यपूर्ण तरीके से क्रियान्वित हुई है और उसी तरह से इसमें कार्य हो रहा है और यह विभिन्न सरकारी योजनाओं की सर्वश्रेष्ठ योजनाओं में से एक है। इस योजना के उद्देश्य की पूर्ति के लिए कौशल विकास के साथ संबंधित क्षेत्र में नौकरी का सृजन होना भी आवश्यक है।

जिस प्रकार इस योजना का आरम्भ किया गया है वह सराहनीय है और यह दर्शाता है कि सरकार युवाओं को कौशल प्रशिक्षण देने के लिए प्रतिबद्ध है। हालांकि कौशल विकास एक मूलभूत पात्रता प्राप्त करने के बाद ही हो सकता है जो सिर्फ स्कूली शिक्षा से मिलता है। इसलिए यह आवश्यक है कि यह सुनिश्चित किया जाए कि आध ाार–निर्माण के वर्ष मूल्यवर्धन करते हो और इसके लिए देश में प्रारम्भिक और प्रारम्भिक शिक्षा को मजबूती प्रदान की जाए। यह वास्तव में कौशल भारत के स्वप्न को साकार करने में बड़ी भूमिका निभाने जा रहा है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

https://www.google.com/amp/s/m.economictimes.com/topic/PMKVY/amp
https://www.msde.gov.in
https://www.startupindia.gov.in/content/sih/en/government-schemes/pmkvy_scheme
https://www.hindiyojana.in/pradhan-mantri-kaushal-vikas-yojana-in-hindi/
Ministry of Skill Development And Entrepreneurship-annual Report 2019
Special Project Guideline (w.ef.january,2017)
www.deepawali.co.in/pm-kaushal-vikas-yojana-skill-development-scheme-in-hindi
https://pmkvyofficial.org/
PMKVY Guidelines (2016-2020)
http://pradhanmantri-yogana.in/pradhan-mantri-kaushal-vikas-yojana/
http://en.m.wikipedia.org/wiki/skill_India
www.deepawali.co.in/pm-kaushal-vikas-yojana-skill-development-scheme-in-hindi
www.Darsthi.IAS.com
www.hi.mwikidia.org.wiki
www.pmkvyofficial.org.ab
www.msde.gov.in
www.MSEM

हरिशंकर परसाई के रचनाओं में व्यंग्य

-डॉ. राजकुमार एस. नाईक
सह-प्राध्यापक
उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा,
कर्नाटक 580001
मोब : 9449108567

आधुनिक हिंदी व्यंग्य का विकास हिंदी गध्य के विकास का एक महत्वपूर्ण साहित्यिक चरण है। आधुनिक हिंदी साहित्य में भारतेन्दु युग से ही व्यंग्य का प्रयोग होता हुआ दिखाई देता है। इसके पूर्व हिंदी में गध्य साहित्य अविकसित दशा में था। भरतेन्दु हरिश्चन्द्र, महावीर प्रसाद व्दिवेदी, रामचन्द्र शुक्ल जैसे आचार्यों के महत्वपूर्ण योगदान ने ही गध्य साहित्य को आज का रूप दिया है। इसी के उपरांत गध्य की नई-नई विधाओं का सृजन और विकास हुआ है। इन विधाओं में हास्य-व्यंग्य का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हरिशंकर परसाई जैसे व्यंग्य लेखाककों ने सामाजिक सुधार को अपना ध्येय मानकर लक्ष्य प्राप्ति की सुगमता के लिए हास्य-व्यंग्य को हथियार के रूप में स्वीकार कर लेखन कार्य आरंभ किया। इसलिए हास्य-व्यंग्य आधुनिक गध्य की प्रभावशाली विधा बन गया।

वर्तमान समय में व्यग्य एक स्वतंत्र गध्य विधा है और बहुमुखी प्रातिभा संपन्न साहित्यकार हरिशंकर परसाई हिंदी व्यंग्य साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर है। वे न केवल एक निबंधकार है, बल्कि कहानिकार, उपन्यासकार, आत्म्कथाकार, रेखाचित्रकार, स्तंभलेखक भी है। इसके अलावा वसुधा नामक मासिक पत्रिक का संपादक भी है। परसाई जी को हिंदी साहित्य जगत में व्यंग्य निबंध के मुकुट मारे जाते है। इनके हर एक साहित्यिक रचनाओं से लोग समझ सकते है कि व्यंग्य मानव जीवन के बिलकुल करीब है। उन्होंने अपने चारों ओर की दुनिया के लोगों को लक्ष्य बनाकर व्यंग्य पात्रों की सृष्टि की है।

परसाई जी व्यंग्य लेखक होने के कारण व्यंग्य के बारे में अपनी आत्मकथा **"व्यंग्य क्यों ? कैसे ? किसलिए ?"** के ज़रिए सूचित करते है, क्योंकि आज भी समाज में लोग 'व्यंग्य' के अर्थ को ठीक ढंग से समझ नहीं पा रहे है। उनके मतलब यह है कि व्यंग्य व्दारा लिखक दूसरों की बुराईयाँ, मजाक करने के लिए इस विधा को अपनाते है। यह विचार टीक नहीं है-लेखक इसका विवरण दिया है कि "व्यंग्य क्यों ? कैसे किसलिए ? यहाँ विभिन्न लेखक एक प्रसंग और कहानी व्दारा निर्वचन करने की कोशिश किया है।

लेखक हम्सी-और व्यंग्य के अंतर के बारे में कहते है। आदमी कब और हंसता है, इसके विभिन्न धारणाएं होती है। व्यक्ति और समाज की कुछ संगातियाँ सामंजस्य, अनुपात होते है। जब इन विषयों पर गडबड़ होती है तो आदमी के मन में हास्यभाव की बोध से वह हँसने लगता है। हल्की मामूली विसंगतियों पर भी हँस देते है। हास्य एक दर्पण है। जिसमें सारी दुनिया की विसंगतिएँ प्रतिबिंबित होकर हमारे मनोरंजन करती है।

व्यंग्य में हँसी के साथ कुछ सोचने की बात भी है। लेकिन यहाँ लेखक मार्क ट्वेन को जिक्र किया है। "यदि कोई भूखे कुत्ते को रोटी खिलाए तो वह उसे काटेगा नहीं। मनुष्य और कुत्ते में यही खास फ़र्क है" इस व्यंग्य कथन पर हँस नहीं आती, लेकिन सोचने को बाध्य करती है।

परसाई जी के लिए व्यंग्य लेखन एक गंभीर कार्य है। उनके अनुसार सही व्यंग्य परिवेश को समझने से आता है। सामजिक, आर्थिक, राजनैतिक, परिवश की विसगति मिथ्याचार, असमंजस्य आदि के मूल में जाना, समस्याओं का विश्लेषण करना उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में इससे सही व्यंग्य बनता है।

यदि व्यंग्य चेतना को झकझोर देता है विद्रूप को सामने खडा कर देता है और आत्म साक्षात्कार करता है, और परिवर्तन की और प्रेरित करता है तो वह सफल व्यंग्य है। इस संदर्भ में परसाई जी कहते है "सच्चा व्यंग्य जीवन की समिक्षा करता है। व्यंग्य हितकारी होता है, उसमें सच को उजागर करने की क्षमता होती है।

परसाई जी अपनी रचनावों के माध्यम से समकालीन जीवन की समस्याओं पर विचार एवं व्यंग्य करते है। "भोलाराम का जीव" इसका अपवाद नहीं है। इस कहानी का आरंभ बडे ही कौतूहलपूर्ण माहौल से होता है। आरंभिक वाक्य ही है "ऐसा कभी नहीं हुआ था। सभी लोग हैरान है। लेखक बतलाता है कि धर्मराज के लाखों वर्षों के इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ था। इस हैरानी का कारण है कि भोलाराम के जीव ने

पांच दिन पहले देह व्यागी और यमदूत के साथ यमलोक के लिए रवाना भी हुआ, पर यहाँ अभी नहीं पहँचा। इन पाँच दिनों में वह दूत ब्रह्मांड छान डालता है, लेकिन भोलाराम के जीव का पता नहीं चलता। चित्रगुप्त धर्मराज को बताते है कि 'महाराज आज कल पृथ्वी पर इस प्रकार का व्यापार बहुत चला है। लोग दोस्तों को कुछ चीज बेजते है उसे रास्ते पे ही उडा लेते है। मालगाडी के डब्बे रास्ते में कट जाते है। एक बात और हो रही है। राजनीतिक दलों के नेता विरोधी नेता को उड़ाकर बंद कर देते है। कहीं भोलाराम के जाव को भी तो विरोधी ने मरने के बाद दुर्गति करने के लिए नहीं उड़ा दिया ?"

इस तरह धर्मराज चित्रगुप्त और नारद की इस पात्रों के माध्यम से परसाई जी ने भोलाराम का जीव कहानी में हमारे परिवश में, हमारी व्यवस्था में, नौकरशाही के भयंकर रूप को व्यंग्य के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

परसाई जी के एक कहानी **'सदाचार क तावीज'** के व्दारा समाज में व्याप्त भ्रष्टाचार के बारे में बताया है। इस कहानी में ऐसा सत्य को उजागर करते हैं कि जिसमें वे एक राज्य कि स्थिति बताते है जिसमें अल्पवेतन-भोगी समुदाय भी रिश्वत को दूर करने के लिए एक साधु तावीज बाँटता है। लेखक यहाँ लोगों के अंदविस्वास की ओर संकेत करते हुए कहते है कि मनुष्यों के मनोविकारों को तावीज निर्णय करता है और आत्मा का नियंत्रण भी करता है। लोग भी इस झूठे विश्वास पर फँस जाते है। यहाँ भ्रष्टाचार साधु के रूप में धारण करके आया है सदाचार के तावीज लेकर। राज्य में भ्रष्टाचार की संख्या इतनी बढ़ती जा रही है कि तावीज के उत्पादन में लाभ और साधुओं की महिमा में वृध्दि हो रही है।

"**समस्याएँ और जादू-टोना**" नामक निबंध में आधुनिक समाज सेवियों पर व्यंग्य करते हुए लिखते समाजसुधारक हरिजनों को मंदिर प्रवेश करा देते है, किसी समारोह में उनके साथ भोजन कर लेते है और फोटो छपा लेते है।

"फरिस्ते से बहतर है इंसान होना
मगर उसमें लगती है मेहनत ज्यादा।"

इस तरह आसनी से एक नुस्से से समाज सुधारक फरिस्थे हो जाते है। हुए लिखते है "समाजसुधारक हरिजनों को मंदिर प्रवेश करा देते है, किसी समारोह में उनके साथ भोजन कर लेते है और फोटो छपा लेते है।

"फरिस्ते से बेहतर है इंसान होना
मगर उसमें लगती है मेहनत ज्यादा।"

इस तरह आसानी से एक नुस्से से समाज सुधारक फरिस्थे हो जाते है।

परसाई जी **'विदेशी धन के साथ के साथ और क्या आयेगा'** निबंध में भारत की अर्थ व्यवस्था की ओर संकेत करते हैं "हम कमजोर देश ही माने जाते है। हमारी अर्थ-व्यवस्था की जांच के लिए अमेरिका से विशेषज्ञों इंस्पेक्टर आते है। बताते है यह गड़बढ़ है, यह नीति गलत है। पैसा गलत जगह लगा रहे हो पिछले तीन महीनों में अमेरिका के तीन आर्थिक इंस्पेक्टर आ चुके है, भारत का कोई विशोषज्ञ न अमेरिका जाता, न बुलाया जाता।

इसी तरह **'उदात्त मन की आखिरी कमजोरी'** निबंध में परसाई कहते है "एक बड़े नेता के सचिव ने मुझे बताया भैया साहब को नाम पाने का पागलपन-सा था। उनके जवान लडके की मृत्यु हुई। वे शव के पास बैठे रोते रहे। होश खो बैठे थे। कहते थे कि मैं भी बेटे के साथ चिता में जल जाऊंगा। तभी वे उठे और मुझे लेकर दूसरे कमरे में गए। कहा- देखा जिन-जिन अखबारों में यह समाचार छपे उन्हें लेकर फाइल बना लेना। शोक संदेश भी चपेंगे। उन अखबारों की भी फाइल बना लेना। कोई छूट नहीं जाए। इस तरह आज मानव यश या कीर्ती के पीछे दौडनेवाले है। नाम पाने के लिए कोई न कोई चीज नाम चपवाकर सार्वजनिक स्थानों पर रखवाते है।

'भारत को चाहिए जादूगर और साधु इस निबंध के जरिए परसाई जी हमें समझाना चाहते है कि हमारी देश में हर साल बननेवाली योजनाओं या बजट के बारे में व्यंग्य किया है। जैसा योजना तो बना लेते है, लेकिन कार्यरूप में लानेवाला कोई नहीं है। लेकिन हमारे जनता भी इससे भी संतृप्त होते है। जब नेताओं के भाषण सुनते है या अकबार में योजनाओं के पढ़ने से ही वे खुश हो जाते है, और तालियाँ बजाते है, और बेसुध होते है। जैसा एक जादूगर जादू दिखाता है, लोग उसे आस्वादन करके अपने काम को भूल जाते है। सभी चिन्ता भीलकर वे तीन-चार घंटे खुशी से रहते है। ऐसे झूठे उपदेश सुनकर समय का बरबाद करना मूर्खता है और प्रखर विवेचन और दृष्टि से जीवन की उन असंगतियों की ओर संकेत किया है जो मानवता बाधक है।

'वो जरा वाइफ है न ?' इस निबध व्दारा परसाई ने विवाहित स्त्रियों के हालत की ओर संकेत किया है। विवाह के बाद स्त्री पुरूष वर्ग अपनी पत्नी को स्वतंत्र रूप से सोचने, कार्यकलापों करने के लिए अनुमति नहीं देते है। सभी काम-नाम अपनी ही जरिए पत्नी को पहँचाना चाहते है।

यहाँ लेखक पुरूष वर्ग के संकुचित मनोभाव को व्यत्क किया है । स्त्री सोने के पिंजरे में बंद तोते की तरह है।

परसाई जी को ऐसे ही एक आदमी से मुलाकात हुआ उसके पास पत्नी व्दारा लिखित कुछ कविताएँ थी । वह उसे लेखके पत्रिका **'वसुधा'** में चपाना चाहता था । उस कविताओं में त्रुटि होने के कारण लेखक उस आदमी की पत्नी से सीधा बात करना चाहता है। लेखिन वह आदमी परेशान होकर कहता है **"बात यह है कि वो जरा वाइफ है न"** । इस बात को लेकर लेखक ऐसी कल्पना करते है – "इसकी पत्नी बिमार होती होगी और डाक्टर आता होगा, वो यह स्टेथोस्कोअप अपने सीने में लगवाता होगा, डॉक्टर कहता होगा मगर बीमार तो वे है न ! यह कहता होगा-हाँ, लेकिन मेरी ही जाँच कर लिजिए । वो जरा वाइफ है ना । यहाँ लेखक के कल्पना शक्ति अपार है, प्रशंसनीय है । यह खेद की बात है कि कुछ पुरूष अपनी स्त्री की अभिरूचि और प्रतिभा समझते है और प्रदर्शन करना भी चाहते है-पर मन की एक कोने में एक तरह की हिचकिचाहट है कि "वो जरा वाइअफ है ना ।"

इन निबंध के व्दारा परसाई ने कहते है कि इस दुनिया में स्त्री पूर्ण रूप से स्वतंत्र नहीं है।

'प्रेमचन्द के फटे जूते' निवंध में परसाई ने प्रेमचन्द और उनकी साहित्यिक मार्ग में जो कुछ कठिनाईयों का सामना करना पड़ा उसका अंकन उसके जूते के जारिए व्यक्त किया है । प्रेमचंद और परसाई दोनों यथार्थ को व्यक्त करनेवाले साहित्यकार है । दोनों अपनी जिन्दगी में अपनी रचनाओं में सत्य से मुड़कर एक पल भी नहीं चले।

परसाई जब प्रेमचन्द और उसके पत्नी के फोटो देखते वक्त उसके नज़र प्रेमचन्द के जूते पर गई । तब लेखक यानी परसाई सोचते है कि – "यह कैसा आदमी है, जो खुद तो फटे जूते पहिने फोटो खींचा रहा है, पर किसी पर हंस भी रहा है।" लेखक को ऐसा लगता है कि प्रेमचन्द परसाई जी की ओर व्यंग्य मुसकान से परिहास करते है । बाहरवालों की सोच को प्रेमचन्द अनदेखा करते है । बाहर समाज के अधिकांश लोग अपने वास्तविक स्वरूप को दूसरों के सामने दिखाने का साहस नहीं करते । लेकिन प्रेमचन्द तो अपनी असलीयत को जनता के सम्मुख प्रदर्शन करने में संकोच नहीं करता । उस मुसकान में उनकी मन की बात अपने आप प्रकट होता है । परसाई जी ने लिखा है – "विचित्र है यह अधूरी मुसकान । यह मुसकान नहीं है, इसमें उपहास है, व्यंग्य है" दिखावटी आनशन में रहनेवाले लोगों पर प्रेमचन्द व्यंग्य मुसकान छोड़ता है।

अत: परसाई ने अपने व्यंग्य में स्वत: स्पूर्त विचारधारा को नैतिक, सामाजिक, भौतिक भूमिका में प्रस्तुत किया है । समकालीन समाज का स्पष्ट रूप सबको दिखाया है । परसाई का साहित्य सत्य से निर्मित हुआ है, जिसमें जीवन की सुन्दरता है, जीने के उद्देश्य है । जहाँ छोटे से व्यक्ति से लेकर सर्वोच्य व्यक्तियों का उल्लेख है । छोटी सी विचारधारा को लेकर बृहत विचारधारा का आकलन हुआ है । जब की मानव का स्वभाव होता है कि वह हमेशा सच्चाई से खुद को अलग कर दूसरों की सच्चाई केखता है, खुद की कमजोरियाँ छुपाकर दूसरों का बाल की खाल निकालता रहता है । परसाई ने दूसरों के सत्य उजागर किए तो स्वयं भी सत्य से पर नहीं हटे । परसाई लेखन की दुनिया में हमारी पूरी दुनिया अपने समग्र विधान में मौजूद है । यथार्थ को सरे बाजार नंगा करने की उनकी शक्ति आश्चर्यजनक है । वे समाज को सुधारना नहीं बदलना चाहते है, इसलिए व्यंग्य विधा अपनाया । मुक्ति अकेला नहीं संयोग से ही बनता है, इसलिए एकता को कायम रखने के लिए कहा है । समाज के लिए लेखक का देन या उत्तरदायित्व के बारे में बताया है, और हर प्रकार के मनमानेपने, अराजकता का विरोध किया है।

संदर्भ:

1. हरिशंकर परसाई व्यक्तित्व और कृतित्व, डॉ.मनोहर देवलिया
2. हरिशंकर परसाई के व्यंग्य में वर्ग चेतना, कुमारी आभा भट्ट
3. निबंधों की दुनिया, डॉ.निर्मल जैन
4. सधाचार का ताविज, हरिशंकर परसाई
5. हिंदी व्यंग्य परंपरा, डॉ.मनोहर हेवलिया
6. भोलाराम का जीव, हरिशंकर परसाई
7. प्रेमचन्द के फटे जूते, हरिशंकर परसाई

****

वर्तमान समय में हिन्दी भाषा का महत्त्व

-डॉ. शिखा रानी
असिस्टेन्ट प्रोफेसर हिन्दी विभाग
श्री द्रोणाचार्य स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
दनकौर गौतम बुद्ध नगर
मो.8279465480

शोध सार :–

भाषा केवल शब्दों का मेल नहीं है, बल्कि वह एक समाज की पहचान और संस्कृति की आत्मा होती है। सृष्टि के आरम्भ से ही भाषा का संबंध मानव–समाज से रहा है। भाषा के बिना मानव गूँगा है। इस विश्व में कई महाद्वीप, राष्ट्र प्रांत हैं। **भारतेन्दु जी** का कथन ''चार कोस पर पानी बदले, आठ कोस पर वाणी, बीस कोस पर पगड़ी बदले, तीस कोस पर धानी'' आज भी चरितार्थ हो रहा है। भारतीय भाषाओं का संरक्षण और संवर्द्धन देश के लिए उच्च प्राथमिकता मानी जानी चाहिए क्योंकि यह राष्ट्र की पहचान के साथ–साथ इसकी अर्थव्यवस्था के लिए भी महत्वपूर्ण है। भारत एक बहुभाषी देश है, लेकिन सबसे अधिक हिन्दी ही बोली जाती है। स्वतंत्रता आन्दोलन के कठिन समय में देश को एक सूत्र में बाँधने का अभूतपूर्व कार्य भी हिन्दी ने ही किया। इसने अनेक भाषाओं और बोलियों में बटे देश में एकता की भावना स्थापित की। देश में पूर्व से पश्चिम, उत्तर से दक्षिण तक स्वतन्त्रता की लड़ाई को आगे बढ़ाने में संवाद भाषा के रूप में कार्य किया है।

किसी भी देश की मौलिक और सृजनात्मक अभिव्यक्ति सही अर्थों में सिर्फ उसी देश की अपनी भाषाओं में की जा सकती है। प्रसिद्ध साहित्कार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा है कि– **'' निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति का मूल''** अर्थात् अपनी भाषा की उन्नति ही सभी प्रकार की उन्नति का मूल है। हमारी सभी–भारतीय भाषाएँ और बोलियाँ हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं जिन्हें हमें एक साथ लेकर चलना है। हिन्दी की किसी भी भारतीय भाषा से ना कभी स्पर्धा थी और ना कभी हो सकती है। हमारी सभी भाषाओं को सशक्त करने से ही एक सशक्त राष्ट्र का निर्माण होगा। अतः हमें भारतीय भाषाओं को बढ़ावा देने की अत्यन्त आवश्यकता है। हिन्दी सभी स्थानीय भाषाओं को सशक्त बनाने का माध्यम बनेगी। प्रस्तुत शोधालेख में मैंने ''वर्तमान समय में हिन्दी भाषा के महत्व'' को उजागर करने का प्रयास किया है।

बीज भाब्द :–

हिन्दी का प्रचार–प्रसार, वैश्वीकरण, आधुनिकता, आवश्यकता, रोजगार, महत्व, सो''ल मीडिया।

शोध–पत्र :–

प्रेम की परिभाषा है
अन्तस् की अभिलाषा है।
ये सरल–सुरीली....मुरली सी
हिन्दी... हृदय की भाषा है।

मातृभाषा हिन्दी की गरिमा के विषय में जितना कहा जाये वह कम ही है। हिन्दी हमारे माथे की बिन्दी है, हमारे राष्ट्र की अस्मिता की पहचान है। सभी भाषाओं को एक धागे में पिरोने की सामर्थ्य एवं सम्बल भी हिन्दी भाषा में है। **हिन्दी की व्यापकता देखकर स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने कहा था कि ''हिन्दी के जरिए ही सारे भारत को एक सूत्र में पिरोया जा सकता है।''**

हिन्दी भारत की जनमानस की भाषा है। यह वह भाषा है जो देश की एकता का सूत्र है। हिन्दी न केवल भारतीयों की पहचान है अपितु उनकी संस्कृति और संस्कारों की परिचायक भी है। हिन्दी भारत में सर्वाधिक लोगों द्वारा बोली जाने वाली भाषा है। अहिन्दी भाषी प्रदेशों में हिन्दी के प्रचार व प्रसार के लिए कई राष्ट्रभाषा प्रचार समिति कार्यरत हैं। वैज्ञानिक तथा व्यवहारिक दृष्टि से हिन्दी भाषा बहुत ही सरल है। साधारण वर्ग से लेकर शिक्षित वर्ग तक सभी हिन्दी को आसानी से बोल और समझ लेते हैं। शिक्षा व्यापार आदि हर क्षेत्र में हिन्दी का ही प्रयोग करते हैं। हिन्दी की सहजता और सरल शैली के कारण लोग बेझिझक हिन्दी में बात कर लेते हैं। हिन्दी व्यवहार की भाषा है, हमारे सोचने और समझने की भाषा है इसीलिए विदेशी कम्पनियाँ भी अपने विज्ञापन अंग्रेजी के साथ–साथ हिन्दी में भी बनाती हैं, **यदि वे कम्पनियाँ हिन्दी में विज्ञापन न दे तो इन कम्पनियों के असफल होने की सम्भावना बढ़ जायेगी। जैसे–लाइव बॉय साबुन का विज्ञापन, सोशल मीडिया के विज्ञापन आदि।**

वास्तव में भारतीय सभ्यता, संस्कृति एवं भारतीय सहित्य जितना अधिक प्रचारित–प्रसारित है; यह जितना वृहद् व अनूठा है उतना किसी और देश का संभव हो ही नहीं सकता। हमारे भारतीय साहित्य में जितने वेद, पुराण, श्रुतियाँ, स्मृतियाँ, महाकाव्य आदि की उपलब्धता है वह किसी अन्य सभ्यता के पास हो, ऐसी कल्पना भी नहीं की जा सकती। अभी हमने सिर्फ साहित्य की बात इसलिए की

है क्योंकि साहित्य की वैश्विक स्तर पर उपलब्धता प्राप्त करने का एक महान सेतु हिन्दी बनी है और इसी हिन्दी साहित्य को आम पाठक वृंद की पहुँच एवं समझ तक सरलता से बनाए रखने के लिए हिंदी भाषा का अत्यधिक प्रयोग किया गया है। वैसे हिंदी साहित्य में भी ना तो ग्रंथों की कमी है और ना ही विविधता की। प्रत्येक विषय पर (जैसे राजनीति, अर्थ, काम आदि पर) प्रत्येक रस पर (जैसे वीर श्रृंगार, वात्सल्य आदि पर) प्रत्येक विधा पर (जैसे दोहा, सोरठा, कविता, कहानी नाटक, एकांकी आदि) पर प्रत्येक भाव पक्ष पर या भावना पर (जैसे वीरता, भक्ति, प्रेम, आदि) पर प्रचुर मात्रा में साहित्य, पूर्ण प्रमाणिकता के साथ उपलब्ध है। हिंदी साहित्य के इतिहास का वर्गीकरण ही इन्हीं भाव पक्षों की प्रधानता को लेकर आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा किया गया है जैसे वीरगाथाकाल, रीतिकाल, भक्तिकाल आदि। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिंदी भाषा में ज्ञान है, प्रेम है, करुणा है, मित्रता है, भावाभिव्यक्ति की चरम सीमा है, काव्य सौष्ठव है, छंद अलंकार के साथ सौंदर्यात्मकता है और इन सबके साथ–साथ है हिंदी भाषा का जो सबसे महत्वपूर्ण गुण और वह है इसकी सरलता ओर आसानी से उपलब्धता क्योंकि भाषा संबंधी यह गुण तो अन्य भाषाओं में भी हैं परंतु और वे भाषाएं भी सरल कही जा सकती हैं परंतु हिंदी जितनी नहीं, क्योंकि भारत में प्रत्येक राज्य में हिंदी बोलने वालों की एक विशेष जनसंख्या उपलब्ध है और उत्तर भारत जैसे हरियाणा, पंजाब, उत्तर प्रदेश, हिमाचल प्रदेश को लगभग पूर्णतया ही हिंदी भाषी क्षेत्र है इसलिए हिंदी की महत्ता में और इजाफा हो जाता है। इसकी अखंडता और अधिक प्रगाढ़ तब हो जाती है जब हिंदी की सरलता के साथ–साथ हिंदी की आसान पहुँच, उपलब्धता भी जुड़ जाती है इसलिए वैश्वीकरण के युग में आज हिंदी भाषा का वर्चस्व कायम है।

हिन्दी के महत्व को गुरुदेव रविन्द्र नाथ टैगोर ने बड़े ही सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया था। उन्होने कहा था **''भारतीय भाषाएँ नदियाँ हैं और हिन्दी महानदी।''** हिन्दी के इस महत्व को दृष्टिगत रखते हुए तकनीकी कम्पनियाँ इस भाषा को बढ़ावा देने की कोशिश कर रही हैं। यह भी प्रसन्नता की बात है कि सूचना प्रौद्योगिकी में हिन्दी का प्रयोग दिन–प्रतिदिन बढ़ता जा रहा है। आज वैश्वीकरण के दौर में हिन्दी विश्वस्तर पर अपना स्थान बनाती जा रही है। आज पूरी दुनिया में 177 से अधिक विश्वविद्यालयों में हिन्दी भाषा पढ़ाई जा रही है। सो''ल मीडिया पर संचार माध्यमों में हिन्दी अपनी छाप छोड़ती जा रही है।

स्वतन्त्रता आन्दोलन के समय हिन्दी ने राष्ट्र भाशा के दायित्वों का निर्वहन किया और 1918 के हिन्दी साहित्य सम्मेलन में महात्मा गाँधी ने इसे 'जनमानस' कहते हुए राश्ट्रभाशा बनाने की बात की। राश्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी का विचार था कि हिन्दी ही हिन्दुस्तान की राष्ट्रभाषा हो सकती है और होनी चाहिए उन्होने कहा–''राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र गूँगा जैसा है।''

स्वतन्त्रता मिलते ही गाँधी जी ने यह उद्घोष भी किया कि–

''दुनिया से कह दो कि गाँधी अंग्रेजी भूल गया है।''

संविधान सभा की मंशा अच्छी थी, तभी उन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने के लिए संघर्ष करने वाले जबलपुर के हिन्दी प्रेमी व्यौहार **राजेन्द्र सिंह** के 50वें जन्मदिन पर (14 सितम्बर, 1949) हिन्दी को भारत की राजभाषा बनाने का निर्णय लिया। इसकी सूचना भी जबलपुर के सांसद सेठ गोविन्ददास द्वारा व्यौहार राजेन्द्र सिंह को जन्मदिन के तोहफे के रूप में दी गई। ये वही महान् हिन्दी प्रेमी थे जिन्होंने अमेरिका के सर्वधर्म सम्मेलन में प्रतिभाग करते हुए हिन्दी में भाषण देकर खूब ख्याति अर्जित की थी, जबकि वे अंग्रेजी सहित अन्य कई भाषाओं के विद्वान भी थे।

आगे राष्ट्रभाषा का प्रचार समिति वर्धा की अनुशंसा पर 14 सितम्बर, 1953 को इसे हिन्दी दिवस के रूप में मनाया गया। इस प्रकार हिन्दी प्रेमी व्यौहार राजेन्द्र सिंह का जन्मदिन **''हिन्दी दिवस''** के रूप में मनाया जाने लगा।

देश की स्वतंत्रता से लेकर हिन्दी ने कई महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ प्राप्त की हैं। भारत सरकार द्वारा विकास योजनाओं तथा नागरिक सेवाएं प्रदान करने में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा दिया जा रहा है। हिन्दी तथा प्रान्तीय भाषाओं के माध्यम से हम बेहतर जन सुविधाएं लोगों तक पहुँचा सकते हैं। इसके साथ ही विदेश मंत्रालय द्वारा **''विश्व हिन्दी सम्मेलन''** और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के माध्यम से हिन्दी को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय बनाने का कार्य किया जा रहा है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक वर्ष सरकार द्वारा **''प्रवासी भारतीय दिवस''** मनाया जाता है। जिसमें विश्व भर में रहने वाले प्रवासी भारतीय भाग लेते हैं। विदेशों में रह रहे प्रवासी भारतीयों की उपलब्धियों के सम्मान में आयोजित इस कार्यक्रम में भारतीय मूल्यों का विश्व में और अधिक विस्तार हो रहा है। विश्व भर में करोड़ों की संख्या में भारतीय समुदाय के लोग एक सम्पर्क भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग कर रहे हैं। इससे अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दी को एक नई पहचान मिली है। **यूनेस्को की सात भाशाओं में हिन्दी को भी मान्यता मिली है।**

भारतीय विचार और संस्कृति का वाहक होने का श्रेय हिन्दी को ही जाता है। आज संयुक्त राष्ट्र जैसी संस्थाओं में भी हिन्दी का गूंज सुनाई देने लगी है। पिछले वर्ष सितम्बर माह में हमारे प्रधानमंत्री द्वारा संयुक्त राष्ट्र महासभा में हिन्दी में ही अभिभाषण दिया गया था। वि''व हिन्दी सचिवालय विदेशों में हिन्दी का प्रचार–प्रसार करने

और संयुक्त राष्ट्र में हिन्दी को अधिकारित भाषा बनाने के लिए कार्यरत है। आशा है कि हिन्दी को शीघ्र ही संयुक्त राष्ट्र की आधिकारिक भाषा का दर्जा भी प्राप्त हो सकेगा।

केन्द्र सरकार के कार्यालयों में हिन्दी का अधिकाधिक उपयोग सुनिश्चित करने हेतु भारत सरकार के राजभाषा विभाग द्वारा उठाए गए कदमों के परिणामस्वरुप कम्प्यूटर पर हिन्दी में कार्य करना अधिक आसान एवं सुविधाजनक हो गया है। हर जगह नई तकनीक का ही बोल बाला है एवं कुछ समय पहले तक केवल अंग्रेजी में ही सब प्रकार के तकनीकी कार्य होते थे। परंतु आज आधुनिकता के साथ–साथ हिंदी ने भी कोमलता और सौम्यता के साथ अपना स्थान लेना आरंभ कर दिया है। कंप्यूटर, मोबाइल फोन में भी हिंदी टाइपिंग, गूगल हिंदी आदि ऐप्स प्रस्तुत है जो हिंदी को वर्तमान की भाषा बनाते हैं। आज हिंदी प्रेमी युवा भी हिंदी में न केवल संदेश भेजते हैं अपितु हिंदी में ही मोबाइल पर कार्य भी करते हैं। वैश्वीकरण का पर्याय में आने जाने वाले गूगल पर हिंदी उपस्थित है। यानी वैश्वीकरण प्राप्त करने की ओर अग्रसर है। आज हिन्दी में भी वह तमाम सामग्री, लगभग सभी विषयों से संबंधित साहित्य सब कुछ हिंदी भाषा में भी उपलब्ध है। यह वैश्वीकरण की ओर एक सशक्त सार्थक कदम है।

इसी क्रम में राजभाषा विभाग द्वारा वेब आधारित सूचना प्रबंधन प्रणाली विकसित की गई है जिससे भारत सरकार के सभी कार्यालयों में हिन्दी के उत्तरोत्तर प्रयोग से सम्बन्धित तिमाही प्रगति रिपोर्ट तथा अन्य रिपोर्टें राजभाषा विभाग को त्वरित गति से भिजवाना आसान हो गया है। सभी मंत्रालयों और विभागों ने अपनी वेबसाइटें हिन्दी में भी तैयार कर ली हैं। सरकार के विभिन्न मंत्रालयों एवं विभागों द्वारा संचालित जन कल्याण की विभिन्न योजनाओं की जानकारी आम नागरिकों को हिन्दी में मिलने से गरीब, पिछड़े और कमजोर वर्ग के लोग भी लाभान्वित होते हुए देश की मुख्यधारा से जुड़ रहे हैं।

गत वर्ष हिन्दी दिवस के अवसर पर राजभाषा विभाग द्वारा **सी डैक** के सहयोग से तैयार किये गये **लर्निंग इंडियन लैंग्वेज विद आर्टिफिशियल इंटेलिजेंस (लीला)** के मोबाईल ऐप का लोकार्पण भी किया गया। इस ऐप से देश भर में विभिन्न भाषाओं के माध्यम से जन सामान्य को हिन्दी सीखने में सुविधा और सुगमता होगी तथा हिन्दी भाषा को समझना, सीखना तथा कार्य करना सम्भव हो सकेगा।

एक दूसरा पहलू राजनीतिक, भौगोलिक भी हो सकता है। कुछ लोग नहीं चाहते कि हिन्दी भाषा अपने स्वरूप में निखार लायें, बल्कि अनाव"यक इसें भाषा–विवाद का रूप दे दिया जाता है, जिसके पीछे निहित स्वार्थ व दूषित मानसिकता हो सकती है। हमें निश्चित तौर पर इस संकीर्ण मानसिकता से ऊपर उठकर सोचना होगा, तभी हम सही अर्थो में हिन्दी को उसका यथोचित सम्मान दिला सकेंगे।

हिंदी के लिए हमारे विचार, हमारी संवेदनाएँ, हमारी निष्ठा, हमारी परंपराएं, हमारे रीति–रिवाज, हमारी संस्कृति, हमारी विरासत हमारे धर्म, हमारी नैतिकता, हमारी सामाजिकता, हमारी भावनाएं, हमारी राष्ट्र भक्ति आदि सब कुछ हिंदी से जुड़ी है। हिंदी निरंतर ही प्रगतिशील रही है। वैश्वीकरण को प्राप्त करने के लिए हिंदी अत्यावश्यक है।

हिन्दी की महत्ता को स्वीकारने में अनेक तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं, लेकिन यह भी सत्य है कि हर वस्तु व विचार के दो पहलू होते हैं या यूँ कहें कि हमारी सोच किसी भी विचारधारा से मेल भी खा सकती है और नहीं भी। कुछ लोग अगर प्रशंसा में आगे आते हैं तो ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो कटु आलोचना करने में ही अपनी शान समझते हैं। यह मूलतः हमारी मानसिकता एवं दृष्टिकोंण का परिचायक है जिस पर नियन्त्रण नहीं रखा जा सकता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अभिव्यक्ति के लिए स्वतंत्र है।

आज विविध क्षेत्रों एवं आयामों में हिन्दी की उपादेयता की चर्चा की जाती है उस पर कोई भी प्रश्नचिह्न नहीं लगाया जा सकता चाहें हम शैक्षिक जगत के विभिन्न विषयों की बात करें, जैसे विज्ञान, समाज विज्ञान, तकनीकी, चिकित्सा, इंजीनियरिंग अथवा संचार जगत मीडिया की बात करें तो हिन्दी इन सभी में अपना असीमित योगदान रखती है। उदाहरण स्वरूप–अंग्रेजी के समाचार–पत्रों की संख्या कम नहीं है, लेकिन लोगों की प्राथमिकता हिन्दी समाचार–पत्रों की रहती है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अंग्रेजी समाचार–पत्रों की तुलना में हिन्दी समाचार–पत्रों का प्रकाशन अपेक्षाकृत कहीं अधिक कठिन है। फिर भी हिन्दी जगत अपनी अनूठी पहचान बनाये रखने में सफलता के नवीन आयाम स्थापित कर ही लेता है।

इस सन्दर्भ में उच्च शैक्षिक जगत में हिन्दी सम्बन्धी प्रयासों को गति देने में हम कहीं पीछे नज़र आते हैं। मेरा संकेत इस क्षेत्र में उच्च अध्ययन की सामग्री हेतु हिन्दी की अपेक्षा अंग्रेजी भाषा को अधिक महत्व देने वालों की ओर है। कारण चाहें कुछ भी हो, हमें इस दिशा में पूर्ण निष्ठा, लगन एवं ईमानदारी से कार्य करना होगा। इन क्षेत्रों में पुस्तक लेखन हेतु अपेक्षित योग्यता तो हमारे पास है लेकिन सम्भवतः जिस चीज की कमी है वह है दृढ़ इच्छा शक्ति एवं योजनाबद्ध प्रयास। हमें हिन्दी भाषा को सिरमौर बनाने हेतु इस दिशा में भी ठोस प्रयास करने होंगे।

हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के लिए सरकार ने अनेक पुरस्कार योजनाएं भी शुरू की हैं। सरकार द्वारा हिन्दी में अच्छे कार्य के लिए **"राजभाषा की कीर्ति पुरस्कार योजना"** के अन्तर्गत शील्ड प्रदान की जाती है। हिन्दी में लेखन के लिए राजभाषा गौरव पुरस्कार का प्रावधान है। आधुनिक ज्ञान विज्ञान में हिन्दी में पुस्तक लेखन को प्रोत्साहन देने के लिए भी सरकार पुरस्कार प्रदान करती है। इन प्रोत्साहन योजना से हिन्दी के विस्तार को

बढ़ावा मिल रहा है।

निष्कर्ष :–

अंत में निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि वैश्वीकरण और अपनी भाषा को बढ़ावा देने के लिए हम भारतीयों को एक साथ मिलकर हिन्दी के उत्थान के लिए प्रतिबद्ध रहना होगा। आज विदेशों में हिन्दी भाषा ने जैसे अपनी एक पहचान बनाई है। भारतीयों को भी हिन्दी को उतना ही महत्व देना होगा जिसकी वह हकदार भी है। आज हमें आवश्यकता है कि हम विज्ञान, वाणिज्य, विधि एवं नवीनतम प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में हिन्दी पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराने में शीघ्रता लाये। यह तभी हो सकता है जब लोग अपने दायित्वों का निर्वहन करने हेतु सुदृढ़ इच्छाशक्ति के साथ संकल्पित होंगे। आज आवश्यकता है हिन्दी को अत्यधिक प्रचारित–प्रसारित, पुष्पित–पल्लवित करने की ताकि हमारी आने वाली पीढ़ियाँ भी हिन्दी को गर्व के साथ अपना सकें। इसके लिए सभी को छोटे से छोटे स्तर पर भी सार्थक सहयोग प्रदान करना होगा। इसी के साथ–साथ राजनीतिक आश्रय भी आव''यक है, तभी हम वै''वीकरण की इस चुनौती को स्वीकार कर सकेंगे तथा अपना लक्ष्य प्राप्त कर सकेंगे। आज समय की माँग है कि हम सब मिलकर हिन्दी के विकास की यात्रा में शामिल हो ताकि हिन्दी को विश्व भाषा की गरिमा प्रदान कर सकें तभी अपनी मातृभूमि के प्रति, अपनी मातृभाषा के प्रति, हिन्दी के प्रति हम अपनी निष्ठा, अपने प्रेम और कर्त्तव्यों का परिचय दे सकेंगे। अतः हमें पूर्ण निष्ठा, लग्न एवं ईमानदारी से कार्य करना होगा तभी हिन्दी हमारी राष्ट्र भाषा के रूप में अग्रसर हो सकेगी।

संदर्भ ग्रन्थ सूची :–

1. मोहम्मद इरफान मलिक, आलेख, देश हरियाणा वेबसाइट, फरवरी 2019, ''हिंदी भाषा चुनौतियाँ व समाधान'' http://desharyana.in/archives/9872
2. अमित कुमार विश्वास, आलेख, हिंदी समय जर्नल, ''वैश्वीकरण और हिंदी की चुनौतियाँ'' http://www.hindisamay.com/content/10793/1/1/लेखक–अमित कुमार विश्वास की लेख वैश्वीकरण और हिंदी की चुनौतियाँ, बेचग
3. डॉ. विमलेश शर्मा, आलेख, अपनी माटी साहित्य पत्रिका, दिसम्बर 2013, ''वैश्वीकरण और हिंदी : प्रसार व प्रवाह''http://www/apnimaati.com /2013/12blog-post2233.html
4. प्रो. नरेश मिश्र, आलेख, राजभाषा भारती पत्रिका, मार्च 2018, ''भारतीय संस्कृति की संवाहिका है हिंदी'' http://rajbhasha.gov.in/sites/defult/files/rb154.pdf
5. गंगानन्द झा, आलेख, प्रवक्ता वेबसाइट, ''हिंदी की प्रासंगिकता'', http://www.pravakta. com/ hindi-kiprasangigta/
6. केशव मोहन पांडे, आलेख, संवादरंग वेबसाइट, जनवरी 2017, ''समय के साथ कदम मिलाती हिंदी'', http://samvadrang.com/समय–के–साथ–कदम मिलाती–हिंद/
7. बच्चूप्रसाद सिंह, आलेख, भारतीय डिसकवरी वेबसाइट, ''हिंदी का अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य'' http://m.bharatdiscovery.org/india/हिंदी का अंतर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य–बच्चूप्रसाद सिंह
8. प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद, आलेख, भारतीय डिस्कवरी वेबसाइट, ''अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में हिंदी'' http://m.bharatdiscovery.org/india/अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में हिंदी– प्रो. सिद्धेश्वर प्रसाद
9. दूरदर्शन चैनल।
10. विकीपीड़िया।
11. समाचार–पत्र।
12. यूट्यूब।

****

भारतीय ज्ञान-परम्परा के सतत प्रवाह की संवाहिका कृति 'श्रीमद्वाल्मीकीयरामायण' : एक अमूल्य वैश्विक धरोहर

डॉ. अवधेश प्रताप सिंह
सहायक आचार्य (दर्शनशास्त्र),
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7

डॉ. राजीव रंजन
सहायक आचार्य (ज्योतिष),
संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7
अणुसङ्केत- dr.rranjan5@gmail.com,मो.न.-9971593395

शोधसार- प्रस्तुत शोधपत्र में महर्षि वाल्मीकि प्रणीत 'रामायण' में प्रतिपादित भारतीय ज्ञान परम्परा के अजस्र और सतत प्रवाह की विकास -यात्रा को रेखांकित कर उसके मूल्याङ्कन का उद्देश्य निहित है। इस उद्देश्य के निमित्त 'रामायण' में उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान के सैद्धान्तिक तथा प्रायोगिक पक्ष का उल्लेख करते हुए वैदिक काल में उद्भूत तथा प्रारम्भ हुई ज्ञान-विज्ञान की सरणि के प्रमुख बिन्दुओं के विश्लेषण के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। यह तथ्य सर्वविदित है कि किसी भी कालखण्ड की सभ्यता और संस्कृति तात्कालिक ज्ञान-विज्ञान की स्थिति से पूर्णतया प्रभावित होती है। साथ ही उस विशेष कालखण्ड की सभ्यता और संस्कृति का गहन और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने पर उस समय के ज्ञान-विज्ञान की प्रगति तथा प्रायोगिक उपादेयता का वास्तविक मूल्याङ्कन किया जा सकता है। अतएव इस शोधपत्र में सर्वप्रथम 'रामायण' के रचनाकाल का निर्धारण करने के उपरान्त तत्कालीन समाज की सभ्यता और संस्कृति को बिन्दुवार क्रम से प्रस्तुत कर ज्ञान व विज्ञान की स्थिति, प्रसार, विकास व प्रायोगिक पक्ष को उपस्थापित किया गया है।

बीज शब्द- महाकाव्य, दण्डनीति, नक्षत्र विद्या, कृषिशास्त्र, विमानशास्त्र

भारतीय ज्ञान-विज्ञान की परम्परा के आदिस्रोत के रूप में वैदिक साहित्य निधि को सर्वस्वीकार्यता प्राप्त है तथा वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, आरण्यकों, उपनिषदों तथा वेदाङ्गों में ज्ञान–विज्ञान की विविध विधाओं से सम्बन्धित सूत्र प्राप्त होते हैं। वैदिक ज्ञान-विज्ञान की इन शाखाओं में भौतिकी, रसायनविज्ञान, वनस्पतिशास्त्र, जन्तुविज्ञान, शिल्पविज्ञान, कृषि-विज्ञान, गणितशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, खगोलविज्ञान, वृष्टिविज्ञान, पर्यावरणविज्ञान, राजनीतिशास्त्र, भूगर्भविद्या आदि शास्त्र समाहित हैं। विमानशास्त्र, जलविज्ञान (उदकार्गलम्), सृष्टि विज्ञान, दर्शनशास्त्र आदि ज्ञानपरम्परा से सम्बन्धित विषयों का साक्षात्कार भी वैदिक वाङ्गमय में होता है। वैदिक ज्ञान की इस परम्परा के सतत विकास और संरक्षण के उत्तरदायित्व का निर्वहणरूपी महनीय कार्य ऋषि-मुनि व आचार्यों द्वारा समय-समय पर किया गया है। भारतीय ज्ञान सरिता के प्रवाह को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए भारतीय मनीषियों ने अपनी रचनाओं का उपयोग एक कोश के रूप में किया है। ज्ञान-विज्ञान की परम्परा के संवाहक कोश-ग्रन्थ की परम्परा में श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण तथा महर्षि वेदव्यास प्रणीत महाभारत का स्थान सर्वोपरि है। दोनों ही ग्रन्थरत्नों में मूल व केन्द्रीय विषयवस्तु के प्रतिपादन के साथ-साथ तत्कालीन समाज में ज्ञान-विज्ञान की स्थिति तथा विविध शास्त्रों की अनुषांगिक शाखाओं के व्यावहारिक पक्षों का भी प्रस्तुतीकरण अत्यन्त सावधानीपूर्वक कदाचित् स्पष्टतया तो कदाचित् सांकेतिक रूप में किया है। श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण भी इस प्रवृत्ति का अपवाद नहीं है। अतः रामायण में उपलब्ध तथ्यों को विविध बिन्दुओं में वर्गीकृत कर तत्कालीन समाज में ज्ञान-विज्ञान की सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक स्थिति को रेखांकित करते हुए ज्ञान-विज्ञान की वैदिक भारतीय परम्परा में रामायण काल के योगदान को स्पष्ट करने का यत्न किया जा रहा है।

रामायण का काल- किसी भी ग्रन्थ के आधार पर यदि तत्कालीन समाज में व्यवहृत परम्पराओं या भौतिक स्वरूप के आधार पर किसी विषय के मूल्याङ्कन का उद्यम किया जाता है, तो सर्वप्रथम उस ग्रन्थ के रचनाकाल का निर्धारण आवश्यक हो जाता है। अतएव इस शोधपत्र के विषयवस्तु को देखते हुए सर्वप्रथम 'रामायण' महाकाव्य के रचनाकाल का प्रयास ही युक्तिसंगत होगा। रामायण की कथावस्तु पर दृष्टिपात करने से प्रथमदृष्ट्या ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ की रचना तथा इस रचना के समस्त घटनाक्रम त्रेतायुग में ही घटित हुए थे, क्योंकि वाल्मीकीय रामायण के अनुसार इस ग्रन्थ की रचना श्रीराम के राज्यकाल में ही हो चुकी थी। जबकि पर्टिजर महोदय के अनुसार राम का काल 1660 ई.पू. का है। परन्तु समुचित आन्तरिक व बाह्य प्रमाणों के आधार पर ही 'रामायण' का काल निर्धारित करने का प्रयास ही न्यायोचित होगा। भारतीय परम्परा के अनुसार श्रीराम का जन्म श्वेतवाराह कल्प के, सातवें वैवस्वत मन्वन्तर के चौबीसवें त्रेता युग में हुआ था। जिसके अनुसार श्रीराम का जन्मकाल आज से लगभग पौने दो करोड़ वर्ष पूर्व का है। इस मत के अतिरिक्त अनेक भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक विकास तथा संरचनागत स्वरूप को स्पष्ट करने के अनेक प्रयास किये हैं। यद्यपि रामायण के रचनाकाल को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है, तथापि ग्रन्थ के अन्तः साक्ष्यों तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर 'रामायण' का रचनाकाल 700 ई.पू. तक चला जाता है। याकोबी महोदय ने भी 'रामायण' का रचनाकाल 800-600 ईसापूर्व निर्धारित किया है। [1] रामायण में प्रयुक्त अपाणिनीय प्रयोग, बौद्धों का नामोल्लेख न होना, महाभारत की घटना का वर्णन प्राप्त न होना, पाणिनी-भास-कौटिल्य-

पतञ्जलि आदि का रामायण के मुख्य कथानक से परिचित होना, ये समस्त तथ्य रामायण को उपरोक्त रचना, रचनाकारों तथा बौद्धों से पूर्ववर्त्ती अर्थात् न्यूनतम 600ई०पू० सिद्ध करते हैं। इन सबके अतिरिक्त रामायण के अन्तःसाक्ष्य भी इसे भगवान बुद्ध से पूर्व का ही सिद्ध करते हैं। रामायण में पाटलिपुत्र (500ई०पू० न्यूनतम) का उल्लेख नहीं मिलता है। बौद्ध ग्रन्थों में अयोध्या के स्थान पर साकेत का प्रयोग मिलता है। जहाँ रामायण में इक्ष्वाकु पुत्र विशाल द्वारा स्थापित विशाला नगरी [2] तथा राजा जनक की राजधानी मिथिला[3] का अलग-अलग वर्णन मिलता है। वहीं बौद्धग्रन्थों में उपरोक्त दोनों का संयुक्त रूप वैशाली प्राप्त होता है। अतः स्पष्ट है कि रामायण के वर्त्तमान स्वरूप की रचना भगवान बुद्ध से पूर्व ही हो चुकी थी। साथ ही महाभारत में रामोपाख्यान आदि का उपलब्ध होना रामायण को महाभारत का पूर्ववर्त्ती सिद्ध करता है। प्रसिद्ध बौद्धग्रन्थ 'दशरथजातक' भी रामायण को भगवान बुद्ध का पूर्ववर्ती सिद्ध कर देता है। स्पष्ट है कि सम्प्रति प्रचलित वाल्मीकीय रामायण का काल न्यूनतम 800-700 ई०पू० सिद्ध होता है। अतएव इस महाकाव्य में उपलब्ध ज्ञान-विज्ञान का स्वरूप भी तत्कालीन भारतवर्ष (800-700 ई.पू.) के समाज में प्रचलित व व्यवहृत स्वरूप का ही बोध कराएगा।

रामायण की संरचना- मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के जीवन की काव्यमय प्रस्तुति का भागीरथ कार्य महर्षि वाल्मीकि ने सम्पन्न किया है। वाल्मीकीय रामायण में सात काण्ड है, तथा श्लोकों की संख्या कुल 24,000 है। यही कारण है कि यह महाकाव्य 'चतुर्विंशति साहस्री' संहिता के नाम से भी प्रसिद्ध है। रामायण के सातों काण्डों में सर्गों की संख्या भिन्न-भिन्न हैं। यथा बालकाण्ड में 77, अयोध्या काण्ड में 119, अरण्यकाण्ड में 75, किष्किन्धाकाण्ड में 67, सुन्दरकाण्ड में 68, युद्धकाण्ड में 128 तथा उत्तरकाण्ड में 111 सर्ग हैं। इस प्रकार यह महाकाव्य कुल सात काण्डों तथा 645 सर्गों में निबद्ध है। महर्षि वाल्मीकि का सर्वप्रिय छन्द अनुष्टुप् प्रतीत होता है, क्योंकि महाकाव्य के अधिकांश श्लोक इसी छन्द में निबद्ध हैं। तथापि महर्षि ने इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा. वंशस्थ आदि छन्दों का भी प्रयोग मुख्यतया सर्गान्त में किया है।

फलित ज्योतिषशास्त्र- ज्योतिषशास्त्र के त्रिस्कन्धों सिद्धान्त, संहिता तथा होरा इन सब का ही रामायण में उल्लेख प्राप्त होता है। तत्कालीन समाज ज्योतिर्विज्ञान को जाननेवाले दैवज्ञों के प्रति अत्यधिक श्रद्धा का भाव दृष्टिगत होता है। जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण अवसरों यथा जन्म, विवाह, मृत्यु आदि के अवसरों पर दैवज्ञों को बुलाने के संकेत प्राप्त होते हैं। वाल्मीकीय रामायण में ज्योतिर्विदों के लिए लाक्षणिक, लक्षणी, कार्तातिक, गणक तथा दैवज्ञ आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ज्योतिषियों द्वारा भगवती सीता के वनवास की पूर्वघोषणा उनके पितृगृह में ही कर दी गई थी।[4] इसी प्रकार श्रीराम और लक्ष्मण के दीर्घायुष्य का फलकथन भी किया गया था।[5] स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में जन्मकालीन ग्रहस्थिति द्वारा फलकथन की विधि को बताने वाले विज्ञान ज्योतिषशास्त्र का अस्तित्व था।[5] साथ ही ग्रहादि के विषय में भी स्फुट ज्ञान उपलब्ध था- 'त्रिशङ्कुर्लोहिताङ्गश्च बृहस्पतिबुधावपि। दारुणा: सोममभ्येत्य ग्रहाः सर्वे व्यवस्थिताः॥'

तन्त्रविज्ञान व रहस्यमयी विद्याएँ- तत्कालीन समाज में तन्त्रविज्ञान आदि के साथ-साथ कुछ अन्य रहस्यमयी विद्याएँ भी अस्तित्व में थीं। ऋषि विश्वामित्र ने श्रीराम को 'बला' तथा 'अतिबला' संज्ञक गूढ़ व रहस्यमयी विद्या प्रदान की थी। इन रहस्यमयी विद्याओं के ज्ञाता को प्राप्त होनेवाले फलों पर भी विस्तार से चर्चा की गई है।[6] इसके अतिरिक्त अन्य लौकिक व पारलौकिक रहस्यमयी विद्याओं यथा- स्वच्छन्दबलगामिनी विद्या, सर्वभूतरुतविद्या, चक्षुष्मती विद्या, कामरूपधारिणी विद्या[7], भूतविनाशिनी विद्या, त्रिकालज्ञता विद्या आदि का भी उल्लेख प्राप्त होता है।'प्रदक्षिणावर्तशिखस्तप्तकाञ्चनसन्निभः' आदि उक्तियाँ तन्त्रविद्या के अस्तित्व को प्रदर्शित करती हैं।

नीतिशास्त्र- नीतिशास्त्र विषयक ज्ञान के प्रसार के कारण समाज में सर्वत्र नैतिकता तथा सदाचरण का व्यवहार प्रचलित था। सौहार्द, सहानुभूति, परोपकार, नैतिकता, शान्तिप्रियता, धर्मनिष्ठता सत्यवादिता सर्वत्र व्यवहृत होती थी– 'तस्मिन् पुरवरे हृष्टा धर्मात्मनो बहुश्रुताः। नरास्तुष्टा धनैः स्वैः स्वैरलुब्धा: सत्यवादिनः॥' नीतिशास्त्रगत सिद्धान्तों के परिपालन के फलस्वरूप सर्वत्र शुभ फलोत्पत्ति दृष्टिगत होती है- 'नाकाले म्रियते कश्चिन्न व्याधिः प्राणिनां तथा। नानर्थो विद्यते कश्चिद् रामे राज्ये प्रशासति॥'

वर्णव्यवस्था- किसी भी काल में समाज का एक विशिष्ट श्रम-विभाजन अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में परिगणित होती है। वैदिककाल में स्थापित 'वर्ण-व्यवस्था'[8], को ही सहस्राब्दियों तक समाज द्वारा स्वीकृत किया जाता रहा था। रामायण में भी तत्कालीन समाज तथा राजव्यवस्था द्वारा वैदिक वर्णव्यवस्था को स्वीकृत करने के साध्य प्राप्त होते हैं- 'क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद् वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः। शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥'

राजनीतिविज्ञान- महर्षि वाल्मीकि प्रणीत 'रामायण' में वैदिक राजनीतिशास्त्र का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। 'देवा: मानुषरूपेण चरन्त्येते महीतले', 'राजा हि कर्ता भूतानां राजा चैव विनायकः।राजा सुप्तेषु जागर्ति राजा पालयति प्रजाः॥' आदि उक्तियाँ राजा की दैवीय उत्पत्ति तथा सर्वश्रेष्ठता के सिद्धान्त का प्रतिपादन करती हैं। राजा अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों की मन्त्रणा तथा सलाह पर ही अपना राजकार्य सम्पादित करते थे। राजा के न होने पर समाज में व्याप्त हो जानेवाली अराजकता और कुव्यवस्था का भान प्रजा को था। [9]सामान्यतया राजा का ज्येष्ठ पुत्र ही

युवराज पद का अधिकारी होता था। राजा का शासन धर्मानुकूल होता था तथा उनपर मन्त्रिपरिषद् का नियंत्रण रहता था। तत्कालीन प्रशासन में 18 विभागों का उल्लेख मिलता है- मन्त्री, पुरोहित, युवराज, चमूपति (सेनापति), द्वारपाल, अन्तर्वेशिक(अन्तःपुर का निरीक्षक), कारागार अधिकारी, द्रव्यसंचतकृत (राजभवन का मुख्य परिचारक), विनियोजक (मुख्य कार्याधिकारी), प्रदेष्टा(मुख्य न्यायाधीश), नगराध्यक्ष, कार्यनिर्माणकृत (मुख्य अभियन्ता), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रान्तपालक (सीमारक्षक) तथा अटवीपाल (वनसंरक्षक)।[10]

आचार व्यवस्था- किसी भी कालखण्ड में जनसाधारण में प्रचलित तथा व्यवहृत आचार-व्यवस्था या लोकव्यवहार ही वस्तुतः उस समाज की संस्कृति का परिचायक होती है- 'सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च भूतानुकम्पा प्रियवादिता च। द्विजातिदेवातिथिपूजनं च पन्थानमाहुस्त्रिदिवस्य सन्तः॥' तत्कालीन समाज में सत्याचरण, धर्मपालन, स्वयं के कार्य में पराक्रम व दक्षता, जीव-जन्तुओं पर कृपा, प्रियवादिता, द्विज-देव तथा अतिथिपूजन आदि लोकाचरण में श्रेष्ठ व्यवहार माने जाते थे। मित्रों के मध्य हाथ मिलाने की परम्परा के संकेत प्राप्त होते हैं-'सम्प्रहृष्टमना: हस्तं पीडयामास पाणिना।'[11]

वास्तुविद्या व गृहविन्यास- अयोध्या, मिथिला, किष्किन्धा तथा लंका नगरी के साथ-साथ श्रीराम के वनगमन प्रसंग में वनवासी जन द्वारा प्रयुक्त विविध आवासों का वर्णन रामायण ग्रन्थ में मिलता है। अत्यन्त विशालकाय भवनों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं के साथ-साथ ऋषि-मुनि द्वारा प्रयुक्त पर्ण-कुटी आदि का अत्यन्त मनोहर स्वरूप दृष्टिपथ में आता है। पर्णशाला [12] से लेकर सहस्र स्तम्भों वाले प्रासादों का वर्णन महर्षि ने इस ग्रन्थ में किया है। [13]इस महाकाव्य में प्राप्त साक्ष्य तत्कालीन समाज में वास्तुशास्त्र के प्रसार तथा उपयोग की परम्परा का समर्थन करते हैं। नगरों की समृद्धि तथा स्वरूप वर्णन क्रम में भी वास्तुशास्त्र के प्रयोग का संकेत प्राप्त होता है- 'रम्यचत्वरसंस्थानां संविभक्तमहापथाम्। हर्म्यप्रासादसम्पन्नां गणिकावरशोभिताम्॥'

विवाह संस्था - वैदिक परम्परा में प्रसिद्ध आठ विवाहों में से मुख्यतया छ: प्रकार के विवाह ही प्रचलन में थे, ऐसा श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अन्तः साक्ष्यों से ज्ञात होता है। आचार्य मनु ने भी विवाह संस्था की प्रशंसा की है।[14] सामान्यतया माता-पिता की अनुमति से ही विवाह सम्पन्न होता था। विवाह युवावस्था प्राप्त होने पर ही होता था। स्वयं भगवती सीता और माता अनुसूया के संवाद द्वारा यह तथ्य स्पष्ट होता है।[15] तत्कालीन समाज में विवाह हेतु उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र को श्रेष्ठ माना जाता था, जिस नक्षत्र के अधिपति भग देवता हैं।'यस्मे नो दास्यति पिता सो न: भर्ता भविष्यति।','न पिता नात्मजो नात्मा न माता न सखीजन:। इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गति सदा॥','राक्षसीमिश्च पटनीभी रावणस्य निवेशनम्।आहृताभिश्च विक्रम्य राजकन्याभिरावृत्तम्॥' आदि उक्तियाँ विवाह में पिता के अनुमति की अनिवार्यता, विवाहोपरान्त स्त्री के लिए पति का सर्वश्रेष्ठत्व तथा राक्षस विवाह आदि विवाह के विभिन्न प्रकारों की समाज में उपस्थिति का बोध कराते हैं।

अतिथि सत्कार- लोकाचार, लोकव्यवहार तथा आचार व्यवस्था के दृष्टिकोण से समाज में अतिथि सत्कार एक महत्त्वपूर्ण विषय था। अतिथि सत्कार प्रत्येक परिस्थिति में आवश्यक था- 'अतिथिः किल पूजार्हो प्राकृतोऽपि विजानता। धर्म जिज्ञासमानेन राजस्त्वमतिथिश्रेष्ठः पूजनीयः समन्ततः॥'[16] उपरोक्त कथन तत्कालीन समाज में अतिधि-सत्कार की महत्ता सिद्ध करते हैं। अतिथि-सत्कार रूपी 'नृयज्ञ' के अनुष्ठान में शिथिलता न हो अतएव ऐसा कहा जाता था कि जो अतिथि सत्कार नहीं करता वह मृत्यु के उपरान्त परलोक में अपने ही मांस का भक्षण करता है- 'दुःसाक्षीव परे लोके स्वानि मांसानि भक्षयेत्।' [17]रामायण में अतिथि सत्कार के लिए 'आतिथ्य' व 'अतिथिक्रिया' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

पाकशास्त्र- वाल्मीकि रामायण में पाकशास्त्र का उत्कर्ष प्रतिबिम्बित होता है। आर्य, वन्य तथा राक्षस संस्कृतियों की परम्पराओं का प्रतिनिधि ग्रन्थ होने के कारण रामायण में चित्रित समाज में शाकाहार, मांसाहार व सुरापान की प्रवृत्ति प्रचलित थी ऐसा परिलक्षित होता है। अतिथि की रुचि के अनुसार भोजन परोसने को प्राथमिकता दी जाती थी- 'सुरां सुरापा: पिवत पायसं च बुभुक्षिताः।मांसानि च सुमेध्यानि भक्ष्यन्तां यो यदिच्छति॥' [18]मद्य, दुग्ध, मांस, फल, मूलादि, शाकाहारी व्यञ्जन उपयोग में लाए जाते थे। परिवार में भोजन बनने के बाद अतिथि, पुत्र, पत्नी, भृत्य आदि के भोजन ग्रहण करने के उपरान्त ही गृहस्वामी का भोजन करना उचित माना जाता था- 'पुत्रैदारैश्च भृत्यैश्च स्वगृहे परिवारितः। स एको मृष्टमश्नातु यस्यार्योऽनुमते गतः॥'[19] यद्यपि रामायण के विविध प्रसंगों में सुरापान या मद्यपान का उल्लेख मिलता है, तथापि महर्षि वाल्मीकि ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में सुरापान की निन्दा की है और कहा है- 'न हि धर्मार्थसिद्धयर्थं पानमेव प्रशस्यते। पानादर्शश्च कामश्च धर्मश्च परिहीयते॥'[20] अर्थात् मद्यपान से अर्थ और धर्म दोनों की हानि ही होती है, अतएव मद्य का त्याग ही उचित है। रामायण में भक्ष्य, भोज्य, चोष्य तथा लेह्य भेद से खाद्य पदार्थों की चार विस्तृत श्रेणियों का अस्तित्व प्राप्त होता है। ऋषि विश्वामित्र तथा उनकी सेना के आतिथ्य में महर्षि वसिष्ठ द्वारा प्रस्तुत भोज्य पदार्थों के वर्णन प्रसंग में तत्कालीन पाककला के उत्कर्ष का बोध सहज ही हो जाता है।[21] ऐसा ही एक अन्य प्रसङ्ग महर्षि भरद्वाज द्वारा भरत तथा उनकी सेना के आतिथ्य क्रम में भी दृष्टिगत होता है।

क्रीड़ा-विनोद- किसी भी समाज के क्रीड़ा-विनोद के साधन उस समाज की समृद्धि, वैभव, विलास तथा उपभोग की प्रवृत्ति का दर्पण होता है। आमोद-प्रमोद के साधनों के प्रति रूचि की सार्वजनिक अभिरुचि का

दिग्दर्शन अयोध्या, किष्किन्धा तथा लंका तीनों ही संस्कृतियों में होता है। 'निर्धूतपत्रशिखराः शीर्णपुष्पफलद्रुमाः। निक्षिप्रवस्त्राभरणा धूर्ता इव पराजिताः॥'[22] आदि श्लोक 'द्यूत', 'बभूव भूमौ पतितौ नृपात्मजः। शचीपतेः केतुरिवोत्सवक्षये॥'[23] इन्द्रध्वज उत्सवादि क्रीड़ा-विनोद के साधनों को उपस्थापित करती हैं। ग्रन्थ के अन्तः साक्ष्यों से सिद्ध होता है कि तत्कालीन समाज में द्यूत, पुष्परथों द्वारा विहार, उद्यान भ्रमण, अश्व-गजादि की सवारी, सामूहिक भोज, इन्द्रध्वज महोत्सव, नृत्य, गान, संगीत, वाद्य, हास्य गोष्ठियाँ, क्रीड़ा मयूर,पशुओं का पालन, पक्षियों को पालना, जलविहार, जलक्रीड़ा, मृगया आदि को आमोद-प्रमोद के साधनों के रूप में स्वीकार किया जाता था। राजाओं में मृगया या शिकार अधिक लोकप्रिय था- 'राजर्षिणां हि लोकेऽस्मिन् रव्यर्थं मृगया वने।'[24], 'भेरीमृदंगवीणानां कोणसंघटिट्त पुनः। क्रिमध शब्दो विरतः सदादीन गतिः पुरा॥'[25] आदि के प्रसङ्ग मनोरंजन हेतु गायन, वाद्य, संगीतादि के उपयोग को रेखांकित करते हैं। नाटकों के मंचन आदि का भी उल्लेख महर्षि वाल्मीकि ने 'रामायण' ग्रन्थ में किया है- 'नाटकानपरे स्माहुः।'[26]

शिक्षाशास्त्र- रामायणकाल में शिक्षा व्यवस्था गुरुकुलीय तथा मौखिक थी। यज्ञोपवीत या उपनयन संस्कार के बाद ब्रह्मचारी गुरुकुल जाते थे तथा वहीं रहकर शिक्षा ग्रहण करते थे। शारीरिक, बौद्धिक, व्यावहारिक और नैतिक भेद से तत्कालीन शिक्षा व्यवस्था के पाठ्यक्रम को चतुर्विध माना जा सकता है। वेद, वेदांग, पुराण, इतिहास, आयुर्वेद, धनुर्वेद, नक्षत्रविद्या, युद्धनीति, नीतिशास्त्र, दण्डनीति, शिल्पशास्त्र, गारूड़ी विद्या. साहित्य, कला, वार्त्ता, दर्शन, वेदान्त[27], आन्वीक्षिकी, आदि विषयों का अभ्यास गुरुकुलीय शिक्षा में छात्रों द्वारा किया जाता था। महर्षि वाल्मीकि ने उपरोक्त वर्णित विषयों में से भी कुछ विशिष्ट विषयों का चयन किया और कहा- 'तिस्रः विद्याः', (वेदत्रयी, वार्त्ता और दण्डनीति)।"[28] शिक्षा के प्रसार की महत्ता तथा शिक्षा के महत्व को स्थापित करते हुए कहा गया है- 'नास्तिको नानृती वापि न कश्चिदबहुश्रुतः। नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥'[29] ज्ञान तथा ज्ञान को प्रदान करनेवालों का समाज में इतना अधिक महत्त्व था कि ज्ञान देनेवालों को भी पितातुल्य स्थान दिया जाता था- 'ज्येष्ठो भ्राता पिता वापि यश्च विद्यां प्रयच्छति। त्रयस्ते पितरो ज्ञेयाधर्मे च पथि वर्तिनः॥'30

आयुर्वेद व अन्य चिकित्सा पद्धतियाँ- रामायण में उपलब्ध स्रोतों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तत्कालीन चिकित्सा पद्धति समुन्नत थी। यद्यपि आयुर्वेद इन चिकित्सा पद्धतियों में सर्वप्रमुख थी, तथापि अन्य वैदिक और लौकिक चिकित्सा पद्धतियाँ भी उपयोग में लाई जाती थी। आयुर्वेद के प्रति लोगों का दृढ़ विश्वास था- 'सन्ति मे कुशलः वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः। सुखितां त्वां करिष्यन्ति॥'[31] देवताओं की प्रार्थना द्वारा रोग-निवारण की आथर्वण-चिकित्सा पद्धति के प्रति भी लोगों का विश्वास था। तत्कालीन चिकित्सा प्रणाली में औषधियों तथा मन्त्रों का प्रयोग वैद्यों द्वारा होता था। शव संरक्षण आदि की विधि का संकेत राजा दशरथ की मृत्यु के प्रसङ्ग में प्राप्त होता है – 'तैलं द्रोण्यां तदामात्याः संवेश्य जगतीपतिम्।'**32**

नगरशिल्प योजना व अभियांत्रिकी- वाल्मीकि रामायण में प्रतिबिम्बित नगरों के स्वरूप पर दृष्टिपात करने से उस समय के समाज में अभियांत्रिकी विद्या के उपयोग और प्रसार के साथ-साथ विकसित स्वरुप का स्पष्ट बोध होता है। तत्कालीन राजाओं ने मानो अपने दुर्गों तथा नगरों के निर्माण में नगर शिल्प की समस्त ज्ञानकोश का उपयोग कर लेने का यत्न किया था। जहाँ महाराज दशरथ ने अयोध्या नगरी के चारों ओर विशाल परकोटा तथा जल से परिपूर्ण गहन खाई का निर्माण कर एक सुदृढ़ किलेबन्दी की थी। वहीं नगर व्यवस्थित राजमार्ग, रथ्या और दुकानों से सजी हुई थी। इन राजमार्गों पर नित्य जल तथा पुष्पवर्षण की व्यवस्था रहती थी- 'राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता। मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः॥'[33] जबकि रावण द्वारा पालित लंका नगरी और उसका दुर्ग तत्कालीन युग का सर्वश्रेष्ठ दुर्ग माना जाता था- 'लंका पुनर्निरालम्बा देवदुर्गा भयावहा। नादेयं पार्वतं वान्यं कृत्रिमं च चतुर्विधमा॥' भगवान श्रीराम तथा उनकी सेना द्वारा निर्मित सेतु तत्कालीन अभियांत्रिकी ज्ञान के उत्कर्ष का निकषरुप सिद्ध होता ही है।

रेखागणित व ज्यामिति- षड्-वेदांगों में कल्पसूत्रों की गणना होती है, तथा इसी में शुल्बसूत्र भी समाहित है। वैदिक संस्कृति यज्ञ प्रधान थी तथा जहाँ भी वैदिक संस्कृति व्यवहार में होगी वहाँ यज्ञ, यज्ञवेदी, इष्टि का निर्माण सदृश कार्य अवश्यम्भावी हो जाते हैं। अत: रेखागणित के विधि-नियमों, वर्ग, आयत, चतुर्भुज, वृत्त, समकोण आदि के गहन ज्ञान के बिना यज्ञवेदी आदि का निर्माण, नगर योजना, दुर्गनिर्माण, गृहनिर्माण, वापी-तडागादि का निर्माण असम्भव हो जाता है। परन्तु रामायण में यत्र-तत्र उपरोक्त विषयों से सम्बन्धित सामग्री सुलभतापूर्वक प्राप्त हो जाती है,अतएव स्पष्ट है कि तत्कालीन समाज में ज्यामिति के ज्ञाता कुशल शिल्पियों का बाहुल्य था- 'इष्टकाश्च यथान्यायं कारिताश्च प्रमाणतः। चितोऽग्निर्ब्राह्मणैस्तत्र कुशलैः शिल्पकर्मभिः॥' [34]

धातुविद्या- सम्पूर्ण रामायण में यत्र-तत्र धातुविद्या के विकसित स्वरूप का दर्शन हो जाता है। अस्त्र-शस्त्र, कवच, रथ, आभूषण, गृह-सामग्री, नगरशिल्प आदि के निर्माण तथा वर्णन प्रसंग में विविध धातुओं,यथा स्वर्ण, रजत, ताम्र, आयस, कालायस[35], पीतल, लोह, सीसा [36]आदि उल्लेख किया गया है। इन धातुओं की प्राप्ति खानों से होती थी तथा आग में तपाकर इन धातुओं को शुद्ध करने का वर्णन भी महर्षि वाल्मीकि ने इस महाकाव्य में किया है-'अग्नौ विवर्ण परितप्यमानं॥'

कृषि-विज्ञान- वाल्मीकि रामायण में कृषिशास्त्र की परम्परा का विकसित स्वरूप उपलब्ध होता है। बैलों द्वारा खींचे जानेवाले हल से खेतों की जुताई होती थी। तदुपरान्त जोते हुए खेत में बीजों को मुट्ठी में भरकर खेतों में बिखरते थे- 'बीजमुष्टिः प्रकीर्यते।[37] सिंचाई मुख्यतः वृष्टि पर आधारित थी तथा खेत की बुआई के लिए वर्षा ऋतु को श्रेष्ठ माना जाता था। कृषिकार्य हेतु कुठार, कुद्दाल, कलश, खनित्र,फाल[38], परशु, कलश, पिटक आदि यन्त्रों व वस्तुओं का प्रयोग होता था। वृष्टि के अतिरिक्त जलाशय, छोटे तालाब, नदियाँ तथा कुँए सिंचाई के अन्य साधन के रूप में प्रयुक्त होते थे। धान, यव, गोधूम, मुद्ग, चणक, कुलित्य, माष सदृश अन्न उपजाए जाते थे।[39]

यातायात के साधन- किसी भी समाज द्वारा प्रयुक्त यातायात के साधनों द्वारा उस समाज की समृद्धि या विपन्नता का बोध होता है। यातायात हेतु रामायणकालीन समाज में स्थल मार्ग, जलमार्ग तथा वायुमार्ग के उपयोग का उल्लेख प्राप्त होता है। स्थल मार्ग पर यातायात हेतु प्रयुक्त यानों में रथ सर्वप्रमुख था। बैलों द्वारा खींची जानेवाली गाड़ी 'शकट' का प्रयोग माल ढ़ोने में होता था। [40]नदियों में नावों के द्वारा आवागमन का वर्णन मिलता है, इन नावों का परिचालन पालों और पतवारों द्वारा सम्भव हो पाता था।[41] समुद्रमार्ग में व्यापारियों द्वारा प्रयुक्त किये जानेवाले बड़े जहाजों का सङ्केत भी प्राप्त होता है। सीता-हरण के समय प्रयुक्त पुष्पक विमान वायुमार्ग द्वारा यातायात का स्पष्ट प्रमाण है। रावण का वह पुष्पक विमान उड़ते समय महाघोष करता था - 'महानादमुत्पात विहायसम्।'

धर्म - तत्कालीन समाज में मुख्यतः वैदिक धर्म का अनुसरण होता था। वैदिक धर्म की श्रेष्ठता सिद्ध तथा सर्वस्वीकृत थी, सामान्य तर्कशास्त्र आदि के आक्षेप से वैदिक धर्म की मान्यताओं पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं दिखता था- 'न शक्तस्त्वं बलाद्धर्तुवैदेही मम पश्यतः।हेतुभिर्न्यायसंयुक्तैर्ध्रुवां वेदश्रुतीमिव।।'[42]देवताओं का पूजन-अर्चन लोगों के धार्मिक क्रियाकलापों का अभिन्न अङ्ग था। देवताओं की पूजा के लिए के देवमन्दिरों का निर्माण होता था तथा पुष्प, फल, भक्ष्य अन्न, दक्षिणा आदि द्वारा उनकी अर्चना की जाती थी- 'देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः।।'[43] गाय को समाज में अत्यन्त श्रद्धा और सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त था तथा उसे सर्वथा पूजनीय माना जाता था। गाय का वध यहाँ तक कि चरण द्वारा स्पर्श भी निषिद्ध तथा इसके लिए लौकिक तथा पारलौकिक दृण्ड का विधान था- 'राजहा ब्रह्महा गोघ्नः सर्वे निरयगामिनः।' [44]तथा 'हन्तु पादेन गां सुप्तां यस्यार्थोऽनुमते गतः।'[45] आदि उक्तियाँ इसी तथ्य को इंगित करती हैं। गंगा को पवित्र तथा पापनाशिनी कहा जाता था- 'कृताभिषेको गंगायां बभूव गतकल्मषः।' इसी प्रकार तत्कालीन समाज तीर्थस्थलों 'गया' आदि की महिमा को भी स्वीकार करता था- 'एष्टव्या बहवः पुत्रा गुणवन्तो बहुश्रुताः।तेषा वै समवेतानामपि कश्चिद् गयां व्रजेत्।।' [46]

दर्शन- वाल्मीकि रामायण में उपलब्ध दार्शनिक सिद्धान्तों पर वैदिक, दर्शन व चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। 'धर्मादर्थः प्रभवति धर्मात्प्रभवते सुखम्। धर्मेण लभते सर्वं धर्मसारमिदं जगत्।।'[47] रामायण का यह उद्घोष तत्कालीन समाज में धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित करता है। वैदिक कर्म-सिद्धान्त की स्थापना का प्रयास तथा तत्कालीन समाज में इसके महत्व को उपस्थापित करनेवाले प्रसङ्ग बारम्बार दृष्टिपथ में आते है- 'अवश्यमेव लभते फलं पापस्य कर्मणः। भर्तः पर्यागते काले कर्ता नास्त्यत्र संशयः।।'[48] तथा 'यादृशं कुरुते कर्म तादृशं फलमश्नुते।' [49]यज्ञ-याग, दान-दक्षिणा, तप-त्याग, व्रत-नियम, पूजा-स्वाध्याय आदि द्वारा व्यक्ति के सर्वांगीण, सार्वकालिक तथा सार्वदेशीय साधन के रूप में स्वीकृत थे।

वस्त्रोद्योग - श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण में उपलब्ध संख्यातीत अवसरों पर विविध प्रकार के वस्त्रों यथा- सूती, रेशमी, ऊनी, रंगीन, क्षौमवस्त्र (ततः सीतां जगृहुर्नपयोषितः क्षौमवाससः) [50]आदि के उल्लेख प्राप्त होते हैं। ये वस्त्र विविध वर्णों के होते थे। ऋषि मुनियों के द्वारा वल्कल धारण करने का उल्लेख मिलता है। स्वर्ण और रजतजड़ित विशेष वस्त्रों को भी धारण किया जाता था। स्वर्णतन्तुओं से निर्मित वस्तु 'महारजतवासस्' कहे जाते थे। यद्यपि सिले वस्त्रों का प्रचलन कम था, तथापि 'सूची' (सूई) तथा 'तन्नुवाय' (वस्त्र सिलने वाला) आदि का प्रयोग वस्त्र उद्योग में सिले वस्त्रों की उपस्थिति सिद्ध कर देता है।

रत्नविज्ञान - तत्कालीन समाज में रत्न व आभूषणों के प्रयोग का रामायण में अनेक जगह उल्लेख प्राप्त होता है। रत्नों व बहुमूल्य धातुओं द्वारा आभूषणों का निर्माण होता था। इन आभूषणों में मुकुट, चूड़ावलय, कुण्डल, निष्क, रत्नवलय, अंगद, रशना, कंगन, चूड़ामणि, अंगुलीयक, विविध प्रकार की माला तथा हार प्रमुख थे- 'विभूषणानां च ददर्श मालाः शतह्रदानामिव चारुमालाः।'[51] विविध प्रकार के वस्त्र निर्माण की सामग्रियाँ तथा आभूषणादि की बहुलता रामायणकालीन समाज में व्यवहृत धातुविद्या, वस्त्रोद्योग, आभूषणनिर्माण कला के ज्वलन्त प्रमाण हैं। कई प्रसंगों में राजमहल के विभिन्न कक्षों तथा स्थलों आदि पर भी रत्नों के उपयोग का उल्लेख किया गया है।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण के अध्ययन तथा इस ग्रन्थरत्न में निहित भारतीय ज्ञान परम्परा के तत्वों से सम्बन्धित सामग्री के अन्वेषण तथा गहन विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उस काल में ज्ञान-विज्ञान की स्थिति अत्यधिक समुन्नत थी। लौकिक तथा पारलौकिक सुखों की प्राप्ति हेतु तत्कालीन समाज ने वैदिक ज्ञान व दर्शन की परम्परा का अनुपालन तो किया ही था। साथ ही साथ अगली पीढ़ी के विकास तथा ज्ञान-विज्ञान की परम्परा के प्रवाह की निरन्तरता तथा अक्षुण्णता सुनिश्चित करने की दिशा में

भी गम्भीर प्रयास किये गए थे। अतः स्पष्ट है कि महर्षि वाल्मीकि ने अपने रचना-कौशल तथा विषय-वस्तु को उपस्थापित करने की अद्वितीय शैली द्वारा मूल कथानक के साथ-साथ विविध शास्त्रों, विद्या, कला, दर्शन, स्थापत्य, अभियांत्रिकी आदि के संरक्षण तथा भविष्य में मानवजाति के मार्गदर्शन हेतु अनेक मार्ग 'रामायण' में सन्निहित कर दिए हैं।

सन्दर्भ-

1. Jacobi, Hermann, DAS RAMAYAN, pg.101
2. वाल्मीकि रामायण ; 1/47/11-20
3. वा.रा.; 1/5 सर्ग
4. तदैव ; 2/29/9.
5. तदैव ; 6/48/2.
6. तदैव ; 1/22/13-21.
7. तदैव ; 6/37/7-8.
8. ऋग्वेद:,10/90.
9. वा.रा.; 2/67.
10. तदैव ; 2/109.
11. तदैव ;4/5/12.
12. तदैव ; 3/15/20-3.
13. तदैव ; 5/15/16, 6/39/22.
14. मनुस्मृतिः;9/25.
15. वा.रा.; 2/118/34.
16. तदैव ; 1/52/14.
17. तदैव ; 3/12/29.
18. तदैव ; 2/91/52.
19. तदैव ; 2/75/34.
20. तदैव ; 4/33/46.
21. तदैव ; 1/53/1-4.
22. तदैव ; 5/14/15.
23. तदैव ; 2/74/36.
24. तदैव ; 2/49/16.
25. तदैव ; 2/71/29.
26. तदैव ; 2/69/4.
27. तदैव ; 6/109/23.
28. तदैव ; 2/100/68.
29. तदैव ; 1/6/14.
30. तदैव ; 4/18/13.
31. तदैव ; 2/10/30.
32. तदैव ; 2/66/14.
33. तदैव ; 1/5/8.
34. तदैव ; 1/14/28.
35. तदैव ; 2/41/12.
36. तदैव ; 1/37/20.
37. तदैव ; 2/67/10.
38. तदैव ; 2/32/29.
39. तदैव ; 7/91/19-20.
40. तदैव ; 1/31/17.
41. तदैव ; 6/48/26.
42. तदैव ; 3/50/22.
43. तदैव ; 2/3/18.
44. तदैव ; 4/17/36.
45. तदैव ; 2/75/22.
46. तदैव ; 2/107/13.
47. तदैव ; 3/9/30.
48. तदैव ; 6/11/25.
49. तदैव ; 6/15/23.
50. तदैव ; 1/74/11-2.
51. तदैव ; 5/5/22.

****

रेडियो नाटक की रचनाधर्मिता का शिल्पगत वैशिष्ट्य

सोहन कुमार
शोधार्थी,
दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध सार- रेडियो नाटक श्रव्य संसाधनों द्वारा प्रसारित एक अंकीय नाटकों की वाचित संकल्पना है जिसमें शब्द, आवाज अथवा ध्वनि की ही प्रधानता होती है। जिसके आलोक में रेडियो नाटक के शिल्पों यथा- भाषा, ध्वनि प्रवाह, संगीत इत्यादि की अभिव्यक्ति होती है। इन शिल्पों के सहज प्रयोग द्वारा रेडियो नाटक के श्रव्य दृश्यों की प्रस्तुति की जाती है। यह अभिमंचन की वह विधा है, जिसमें गतिशील दृश्यों, यथार्थ प्राकृतिक दृश्यों व स्वगत दृश्यों की सहज प्रस्तुति संभव हो पाती है, जो दृश्य नाट्य विधा में संभव नहीं है। इस नाट्य विधा की शिल्पगत वैशिष्ट्यता इसे अन्य दृश्य नाट्य विधाओं की अपेक्षा विषद धरातल प्रदान करती हैं, जो इसे ज्यादा से ज्यादा श्रोताओं तक ग्राह्य बनाता है।

बीज शब्द- काव्य सिद्धांत, अभिकल्पक, ध्वनि-नाटक, संलाप, नैरेशन, कथोपकथन, एकालाप मंचन।

नाट्य कला या रंगमंच विश्व जगत की एक विलक्षण कला है, जिसकी जड़ें मानव के उद्भव से लेकर सभ्यता के सुसंस्कृति रूप तक, सभी में भारतीय नाट्य परंपरा का उद्बोधन परिलक्षित होता है। इसमें समस्त साहित्यांगों यथा- चित्रकला, स्थापत्य, नृत्य, संगीत इत्यादि की सहज अभिव्यक्ति होती है। यह दृश्य और श्रव्य माध्यमों के साथ ही साथ दिक् और काल के आयामों तथा विविध कलाओं के योग से सहज सृष्टि करता है। यद्यपि बहुत से आलोचक इसे विशुद्ध कला न मानकर उपेक्षित करते हैं या द्वितीय श्रेणी की कला घोषित करते हैं जबकि नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि ने इसे सभी कलाओं में श्रेष्ठ कला मानते हुए लिखा है,

"न तज्ज्ञानं न तच्छिलपं न सा विद्या न सा कला।
नासौ न तत्कर्म नाट्येअस्मिन्यन्न दृश्यति।।"[1]

अर्थात् न ही कोई ज्ञान है, न विद्या और न ही ऐसी कोई कला है जिसकी अभिव्यक्ति नाट्यकला के अंतर्गत न हो। इसकी उत्पत्ति एवं विकास को समझने के लिए विद्वानों ने साहित्य को सर्वथा सबसे उचित साधन मानते हुए कहा है कि नाट्य और साहित्य परस्पर एक-दूसरे पर आश्रित रहे हैं। जैसे- एक सिक्के के दो पहलू। अतः भारतीय नाट्य परम्परा के वैविध्य को समझने हेतु साहित्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को समझना अति आवश्यक है। नाट्य की उत्पत्ति मानव की उत्पत्ति से संबंधित है क्योंकि अभिनय जो कि नाट्य का अहम तत्व है, मानवीय अभिव्यक्ति की सहज प्रक्रिया भी है तथा जिसका प्रयोग मानव अपनी भावनाओं को प्रकट करने के लिए करता है। अतः मानव की उन्हीं भाव-भंगिमाओं में अभिनय का प्रारंभिक रूप तथा नाट्य का बीजारोपण समाहित है। इस समय अभिनय का भाव–प्रधान रूप प्रभावी है।

भारतीय नाट्य परम्परा के विपरीत पाश्चात्य नाट्य कला के स्वरूप-निर्धारण का आधार अभी भी अरस्तू के काव्य सिद्धांत पर आधारित है। जिसका काव्य सिद्धान्त नाट्य कृति को ही अपने में एक पूर्ण कला मानता है। कला की एक सीधी-सी परिभाषा करना एक मुश्किल काम है। नाटक और रंगमंच के क्षेत्र में यह सर्जन एक कलाकार का न होकर अनेक तत्वों का होता है, जिसके लिए किसी एक शब्द का प्रयोग कठिन होता है किन्तु उसके लिए नाट्य कला या रंगमंच कला जैसे शब्दों की अभिव्यक्ति संभव है। इन शब्दों का प्रयोग नाट्य लेखन, निर्देशन, अभिनय, दृश्य सज्जा आदि के सम्मिलित कलात्मक स्वरूप के अर्थ में किया जा सकता है। इस सन्दर्भ में पाश्चात्य नाट्य चिन्तक रिचर्ड वैग्नर का अभिमत है कि, "जिन्हें कलाएं कहा जाता है वे धनुर्वर कला की उपजतियाँ मात्र हैं। सच्ची और वास्तविक कला की सृष्टि तब होती है जब उनका समन्वय होता है और इस समन्वय को ही नाट्य कला कहते हैं।" [2]यद्यपि नाट्य कला में अन्य कलाओं के तत्व अपने पूर्व निर्धारित सन्दर्भों से विलग होकर उसमें समाहित होते हैं। अतः इस आधार पर नाट्य कलाओं की प्रस्तुति को संकर प्रस्तुति या कई कलाओं का मिश्रण नहीं कहा जा सकता, बल्कि विशुद्ध कला कहा जाएगा। इस सन्दर्भ में पाश्चात्य चिन्तक ने अभिमत प्रस्तुत किया है कि, "यदि यह कहा जाय कि वह विशुद्ध कला नहीं है तो कहना चाहिए कि कोई कला विशुद्ध नहीं है। आज बहुत से कला समीक्षक और दार्शनिक यह मानने लगे हैं कि विशुद्ध कला एक भ्रामक नारा है।" [3] नाटककार, परिचालक, अभिकल्पक, रूपकार सभी रंगमंच की कला के साधक हैं। नाटककार सर्जन करता है परन्तु रंगकर्मी उसके परिचायक मात्र नहीं हैं अपितु सर्जक कलाकार हैं। यद्यपि नाट्यकला में कोई भी रंगकर्म लिखित नाट्य रूप की पुनरावृत्ति नहीं करता बल्कि अपने ढंग से उसे पुनः सृजित करता है। यही कारण है कि कभी-कभी रंगमंच पर नाटक लिखित स्वरूप से भिन्न रूप और अर्थ ग्रहण कर लेता है या अभिप्रेय से भी अधिक कलात्मक उत्कर्ष अर्जित कर लेता है। पाश्चात्य नाट्यकला और रंगमंच के सन्दर्भ में यह उक्ति व्याप्त है कि, "मेंरी ट्यूडर में मैडमजेल जॉर्ज के अभिनय को देखते हुए विक्टर ह्यूगो ने कहा था, नाटककार की सृष्टि के अन्दर ही वह एक ऐसी सृष्टि करती हैं जो लेखक को स्वयं की पक्तियां और चमत्कृत करती है।"[4] इस प्रकार अभिकल्पक (डिजाइनर दृष्य-सामग्री, प्रकाश, ध्वनि, रूपसज्जा आदि) रूपाकार,

अभिनेता और निर्देशक की सम्मिलित उपस्थिति से रंगमंच एक बोलते हुए सजीव चित्र का रूप धारण कर लेता है।

आचार्य भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में अनकृति मूलक काव्य को नाटक कहा है। जिसमें व्यक्तियों के कार्यों, उनकी स्थितियों और मनोभावों का सजीव पात्रों द्वारा अनुकरण किया जाता है तथा अनुकरण का आधार वाणी, वस्त्र और वेशभूषा होता है। यद्यपि नाट्यकला के जिस साहित्य रूप को कभी 'दृश्य' कहा गया था वही आज रेडियो नाटक के रूप में श्रव्य आधार धारण कर लिया है। नाट्य साहित्य की अन्य विधाओं की भांति रेडियो नाटक भी साहित्य का एक रूप है, जो लेखक के कथ्यों को सहृदयों तक पहुंचाता है। यद्यपि सहृदयों तक अभिव्यक्ति का माध्यम बदल गया है। जहाँ रंगमंचीय नाटक सदृश्य भी है और श्रव्य भी, आंगिक अभिनय है और वाचिक भी। इसमें व्यक्त वातावरण और परिस्थितियों को दृश्य संसाधनों के माध्यम से संसूचित किया जाता है। इन सबके विपरीत रेडियो नाटक में श्रव्य संसाधनों की ही मात्र संकल्पना की जा सकती है। ध्वनि नाटक के रूप में ख्याति प्राप्त इस रंगमंचीय संकल्पना को भिन्न भिन्न विद्वानों ने विविध नामों से अलंकृत किया है। यथा– डॉ रामकुमार वर्मा ने "इसे ध्वनि नाटक कहा है।" [5] इसके साथ ही साथ प्रो. रामचरण महेंद्र ने "इसे ध्वनि एकांकी की संज्ञा प्रदान की है।" [6]'ध्वनि-नाटक' में प्रयुक्त 'ध्वनि' शब्द के अनेकार्थ हैं। जिसके निमित्त हिंदी शब्दसागर में चार अर्थ ज्ञापित हैं जैसे- 1. वह विषय जिसका ग्रहण श्रवणेन्द्रिय हो। जैसे- शब्द, नाद, आवाज। 2. शब्द का स्फोट, आवाज की गूंज या लय। 3. वह काव्य जिसमें वाच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक विशेषता वाला हो। 4. आशय, गूढ़ अर्थ या मतलब। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि रेडियो से प्रसारित किये जाने वाले नाटकों में शब्द, आवाज अथवा ध्वनि की ही प्रधानता होती है परन्तु रेडियो-नाटक के सभी उपकरण यथा- संगीत, भाषा इत्यादि की अभिव्यक्ति ध्वनि शब्द मात्र से नहीं होती है। अतः ध्वनि-नाटक कहने मात्र से रेडियो से प्रसारित होने वाले नाटक का बोध नहीं होता। अतः रेडियो से प्रसारित होने वाले नाटक को 'ध्वनि-नाटक' कहना समीचीन नहीं लगता है।

रंगमंचीय आलोक में नाटक श्रव्य और दृश्य संस्कारों से अभिव्यक्त होते हैं जिन्हें मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों यथा- कान और आँख दोनों द्वारा श्रावित और दृश्यगत करता है। दृश्यगत होने के कारण अभिव्यक्ति के संसाधन वैविध्य हैं। यथा- मंचीय पटल पर वातावरण एवं परिस्थितियों को सूचित करने वाले दृश्यों, पात्रों की रूपरेखा, अवस्था, शारीरिक गठन, वस्त्र-विन्यास, अस्त्र-शस्त्र, अलंकार, देशकाल, घटनाओं एवं भावनाओं की सहज अभिव्यक्ति रंगमंच पर भाव-भंगिमाओं, मुद्राओं और अभिनय के माध्यम से होती है। जबकि रेडियो नाटक में इन सभी मंचीय संसाधनों का अभाव है। यहाँ इन सबकी अभिव्यक्ति भी श्रव्य साधनों के द्वारा ही करनी पड़ती है। यहाँ घटनाओं की गति एवं भावनाओं की अभिव्यक्ति, दृश्यों, पात्रों की मुद्राओं तथा पृष्ठभूमि संगीत से संभव नहीं होती है। रेडियो नाटक की प्रस्तुति में शब्दों के मायाजाल को ध्वनि की लयात्मकता के साथ प्रस्तुत किया जाता है। यह रंगमंच की भांति नाटक की नीरसता के बावजूद भी दर्शकों को शांतिपूर्वक देखने के लिए विवश नहीं करता है बल्कि श्रोताओं को तमाम जकड़ताओं से निर्मुक्त करता है। जिससे नाटक सुनने वालों को कहीं जाना नहीं पड़ता तथा नीरसता का आभास होने पर रेडियो सेट बंद कर करने अथवा मीटर बदलकर दूसरा कुछ सुनने की आजादी प्रदान करता है। इन सबके बावजूद श्रोताओं की आपसकी बातचीत, बच्चों के शोर-गुल, किसी के आने-जाने की आवाज इत्यादि के मध्य श्रोताओं का ध्यान भंग किए बिना अपनी प्रस्तुति को सार्थक स्वरुप प्रदान करना या बोधगम्य बनाना रेडियो नाटककार और नाट्य प्रस्तोता दोनों के लिए चुनौतीपूर्ण होता है। यही कारण है कि प्रस्तुति प्रक्रिया में दोनों की अभिव्यक्ति के संसाधनों में वैविध्यता परिलक्षित होती है। यथा- जहाँ रंगमंच के नाटक समूह को चिन्हित करते हैं वहीं रेडियो नाटक व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को केन्द्रित करता है। जहाँ रेडियो स्टूडियो में दर्शकों की मौजूदगी के बिना अभिनेताओं द्वारा नाटक के प्रति अंशों का वाचन किया जाता है। इस प्रक्रिया में बगल के कमरे में, शीशे की खिड़कियों की दूसरी तरफ़ संचालक या प्रस्तुतकर्ता होता है परन्तु समूह की प्रतिक्रिया से वंचित रहता है। प्रस्तुतिकरण के दौरान अभिनेताओं को ज्ञात नहीं होता कि वे अपने वाच्य कौशल द्वारा श्रोताओं को कितना प्रभावित कर रहे हैं। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जो घटनाएँ रंगमंचीय प्रस्तुति में समूह को प्रभावित कर ध्यानाकर्षण करती हैं, वे रेडियो प्रस्तुति में व्यक्तिगत श्रोताओं को प्रभावित करें यह जरूरी। इस भिन्नता को स्पष्ट करते हुए रंगचिंतको ने लिखा है, "नाटकत्व की समानता को छोड़कर उनकी भिन्नता का सबसे बड़ा कारण यह है कि इनमें शिल्पगत अंतर होता है।"[7] रेडियो नाटकों की प्रस्तुति में दृश्य तत्वों की अभिव्यक्ति बिल्कुल नहीं होती। उनकी प्रतिपूर्ति श्रव्य संसाधनों से पूरी करनी पड़ती है। ये श्रव्य साधन केवल तीन ही है, जिनको केन्द्रित कर रेडियो नाटक का लेखन किया जाता है। जैसे- भाषा, ध्वनि-प्रभाव और संगीत। इन तीनों का आधार तत्व है ध्वनि। ध्वनि अभिव्यक्ति का बहुत सशक्त माध्यम है। इसकी अभिव्यंजना इस बात पर निर्भर करती है कि कोई ध्वनि कितनी तेज और कितने अंतराल पर उत्पन्न होती है। उसकी गति क्या है? तथा उसमें लयपूर्णता किस मात्रा में है। रेडियो नाटक में एक ही शब्द या वाक्य की भिन्न-भिन्न आवृति या प्रस्तुति के द्वारा हर्ष, शोक, स्नेह, घृणा, क्रोध आदि अनेक मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति की जा सकती है। जिसे केन्द्रित कर नाटककार रेडियो नाटक का लेखन करता है। यद्यपि यह एक अंक या एक दृश्य मात्र की अभिव्यक्ति को संयोजित करने वाला नाट्य कौशल है, इसलिए इसके लेखन का आधार भी मंचीय नाट्य आलेखों से भिन्न होता है। जिस कारण इसके शिल्पगत तत्वों में भी रंग नाट्यों के शिल्पगत तत्वों से वैविध्यता परिलक्षित होती है। इस लघु विधा के उद्बोधन हेतु तीन उपकरणों का शिल्प के रूप में प्रयोग किया जाता है- भाषा, ध्वनि प्रवाह

और संगीत।

भाषा रेडियो नाटक की आत्मा है। जिसके आरोहण में रेडियो नाटक के कथानक का आधार स्तम्भ तैयार किया जाता है। इसके अभाव में नाट्य स्वरूप में रेडियो नाटक की कल्पना नहीं की जा सकती है। इसमें दृश्य तत्वों की कमी होती है तथा शब्दों के श्रव्य स्वरूप पर ही ध्यान केन्द्रित होता है। अतः नाटककार शब्दों के द्वारा ही दृश्यों की कमीं को पूर्ण करता है। शब्दों की ध्वनि ही रेडियो नाटककार का साधन होता है, जिसके द्वारा वह अपनी कलाकृति की रचना करता है। यद्यपि भाषा का जन्म शब्दों के श्रव्य-ध्वनियों से हुआ है, लेकिन जबसे मुद्रण-यंत्र का आविष्कार हुआ है, भाषा में शब्दों के लिखित रूप को महत्त्व दिया जाने लगा है। इस सम्बन्ध में श्री सोमनाथ चिबने का यह कथन सत्य ही है कि, "मुद्रण-पत्र के आविष्कार में लोगो का ध्यान शब्दो के लिखित रूप पर ही अधिक गया लेकिन रेडियो नाटकों में उनका कोई मूल्य नहीं है। रेडियो नाटककार के लिए आवश्यक है कि वह श्रव्य शब्दों की शक्ति पहचाने, यह समझे कि किन शब्दों और वाक्यों का प्रभाव श्रोता पर किस प्रकार पड़ेगा।"[8] रेडियो वाचन में श्रोता किसी शब्द या वाक्य को एक ही बार सुनता है। रेडियो पर प्रस्तोता श्रोता को इतना अवकाश नहीं देता कि वह तनिक रुककर किसी वाक्य या वाक्यांश का अर्थ पूरी तरह समझ ले। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रेडियो में केवल उन्हीं शब्दों और वाक्यों का मूल्य होता है, जो सरलता से बोले जा सके तथा श्रोताओं को अर्थ ग्राह्य हो। रेडियो नाटक में प्रमुखतः भाषा के दो रूपों में यथा- कथोपकथन या संलाप के रूप में तथा प्रस्तोता के कथन अथवा नैरेशन के रूप में व्यवहार में लाया जाता है।

संलाप या कथोपकथन भाषा की पहली अनिवार्य शर्त होती है। इसको केन्द्रित कर शब्दों और वाक्यों का संयोजन इस प्रकार होना चाहिए कि अभिनेताओं को उनको बोलने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो तथा शीघ्रता से उत्तर-प्रत्युत्तर के अंश बढ़ते रहें। वस्तुतः संलाप एक ऐसे गेंद की तरह है, जो कहीं ठहरता ही नहीं, बल्कि एक हाथ से दूसरे हाथ में होता हुआ सतत गतिशील रहता है। जिससे संलाप में नीरसता नहीं आती तथा घटनाओं की गतिशीलता के साथ कथा का प्रवाह बना रहता है। यह लेखक के लेखकीय कौशल और शब्द रचना पर निर्भर करता है। संलापों की लय भी वाक्यों के वाचन और प्रस्तुतीकरण में सहायक भूमिका निभाते हैं जिससे भावनात्मक चरित्रों के साथ ही साथ कठिन चरित्रों की भाव-भंगिमाओं का सफल प्रस्तुतिकरण होता है। इसके विपरीत नैरेशन के माध्यम से नाटक के पात्रों के क्रिया कलापों का वातावरण, आवश्यक विवरण, घटनाओं की श्रृंखलाओं इत्यादि का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। ऐसे पात्र को नैरेटर, सूत्रधार, प्रवक्ता, वाचक, पुरुष-स्वर या स्त्री-स्वर, कथाकार, आलोचक अथवा उद्घोषक कहा जाता है। इनके माध्यम से गैर संलाप अंशों की प्रस्तुति की जाती है। श्रोताओं की नाटक के सन्दर्भ में समझ को बलवती करने हेतु ऐसे पात्रों का नियोजन अनिवार्य होता है। रेडियो नाटक में दो प्रकार के नैरेटर की भूमिका होती है प्रथम वे जिनके व्यक्तिगत जीवन का नाटक की घटनाओं से कोई सम्बन्ध नहीं होता तथा वे मात्र प्रस्तोता की भूमिका में होते हैं तथा दूसरे जिनके जीवन की घटनाओं को नाटक में प्रत्यक्षतः उकेरा गया हो। प्रथम नैरेटर सभी घटनाओं से परिचित होता है और कथा के प्रवाह में आवश्यक विवरण प्रस्तुत करता है जबकि द्वितीय नैरेटर साधारण एवं गौण घटनाओं का उल्लेख कर नाटक की गतिशीलता को सार्थक परिणति तक पहुंचता है। जिसे पात्र नैरेटर भी कहा जा सकता है।

रेडियो नाटक के कुशल लेखन और प्रस्तुतीकरण में ध्वनि प्रभाव एक अनिवार्य अंग है। ध्वनि प्रभाव किसी भी नाटक में कथोपकथन की बोझिलता के संधान हेतु, कथानक के प्रवाह हेतु, घटनाओं और प्रसंगों की सहज प्रस्तुति में अनिवार्य भूमिका होती है। रेडियो नाटक में ध्वनि प्रभाव से तात्पर्य हास्य, रुदन, वर्षा, बादल, टेलीफोन, रेलगाड़ी, मोटर, बंदूक आदि की ध्वनियों के सहज व्यवहार से है, जो रेडियो नाटक प्रसारित करते समय व्यवहित किया जाता है। यही कारण है कि प्रत्येक रेडियो स्टेशन में इस प्रकार के ध्वनि प्रभावों के रिकार्ड रखे जाते हैं जिसका उचित स्थल पर प्रयोग निर्देशकीय दिशानिर्देश पर प्रयोग किया जाता है। रेडियो नाटक में वस्तुतः ध्वनि प्रभाव का प्रयोग दृश्यों में एक प्रकार की सघनता पैदा करने के लिए की जाती है। जिससे श्रवण के दौरा यह ज्ञात होता है कि पात्रों का अभिनय शुन्य में न होकर रंगमंच के रंगशीर्ष की भाँति एक ठोस पृष्ठभूमि पर हो रहा है। यही नहीं वातावरण निर्माण में भी ध्वनि प्रभावों की भूमिका सार्थक है। रेडियो नाटक श्रव्य मंचन का वह माध्यम है जहाँ सामने कोई प्रत्यक्ष चित्र परिलक्षित नहीं होता है बल्कि ध्वनियों और शब्दों के लयपूर्ण प्रस्तुतीकरण मात्र से मानस पटल पर कल्पित चित्र बनते हैं। यह वस्तुतः उसी भाव संयोजना की भांति उद्बोधित होता है जैसे पाठक किसी कृति का लयपूर्ण वाचन करते समय शब्दों के मध्य से भाव-भंगिमाओं का सराबोर अपने मानसिक पटल पर अनुभूति करता है। यह कहानी के रंगमंच के एकालाप मंचन की प्रस्तुति के दृश्यांकन के पश्चात् लेखक निर्मल वर्मा के अनुभवों के साम्य है, "स्वयं मेरे लिए यह बात की कहानियों को सुनने, पढ़ने के आलावा देखा भी जा सकता है, यह एक विस्मयकारी अनुभव था। जिन कहानियों को मैंने अरसा पहले अकेले कमरे में लिखा था, उन्हें खुले मंच पर दर्शकों के मध्य बैठकर देखना कुछ वैसा ही था जैसे टेप रिकॉर्डर पर अपनी आवाज सुनना, जो अपनी होने पर भी अपनी नहीं जान पड़ती।"[9] इस प्रकार मानसिक पटल पर दृश्य कल्पना के उद्बोधन में नाटककार की दृश्य प्रधान शब्द शक्ति एवं ध्वनि योजना काम करती ही है। जिसे श्रोता की मानसिक कल्पना शक्ति और भाव अभिव्यक्ति कौशल शक्ति प्रभावी बनाते हैं।

संगीत ललित कला का एक अद्भुत रूप है, जिसकी भूमिका रेडियो नाटक में कथानक के प्रयोजन और श्रव्य मंच की कार्यसिद्धि में बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। यहाँ वाद्य संगीत का व्यवहार दो रूपों में किया जाता

है- प्रथम स्वतंत्र रूप से और द्वितीय संलाप की पृष्ठभूमि के रूप में। संगीत का स्वतंत्र रूप से व्यवहार नाटक के प्रारंभ और अंत में प्रमुखता से परिलक्षित होता है। जहाँ प्रारभ में यह नाटक की भावात्मक विषयवस्तु का होता है, जो श्रोताओं की उत्सुकता को उदबोधित करता है। वहीं अंत में नाटक के समापन की उद्घोषणा हेतु संगीत का प्रयोग किया जाता है। यद्यपि रेडियो नाटक में भी दृश्य नाट्यों की भांति एक दृश्य से दूसरे दृश्य में परिवर्तन किया जाता है, जिसके निमित्त जहाँ दृश्य नाट्य परम्परा में दृश्य परिवर्तन पर्दों द्वारा किया जाता है वहीं रेडियो नाटक में दृश्य परिवर्तन की परिघटना वाद्य संगीत के माध्यम से संधानित होती है। दृश्य परिवर्तन के साथ ही नाट्य वाचन में प्रतीकात्मक वाच्य दृश्यों की परिघटना हेतु वाद्य-संगीत का भी उपयोग किया जाता है। यहाँ प्रतीकात्मकता से तात्पर्य उस रूप से है, जो किसी विशेष भावना, व्यक्ति अथवा स्थान को संसूचित करता है। इसी के आलोक में भावों के उद्दीपन हेतु संगीत की संकल्पना की जाती है, जिससे कथोपकथन या संलाप के प्रभाव को सार्थक बनाया जा सके। इसके साथ ही साथ पात्रों के भावनाओं, प्राकृतिक सौंदर्य और स्वगत श्रव्य दृश्यों की संकल्पना की जाती है। संगीत का उचित संयोजन भी रेडियो नाट्यों के प्रस्तुतीकरण में अनिवार्य होता है क्योंकि अप्राकृतिक रूप से संगीत का प्रबंधन रेडियो नाट्यों की प्रवाह धारा को प्रभावित कर सकती है। इसके उचित प्रयोजन को अभिकेंद्रित करते हुए लुई मैकनीस ने संगीत के कुशल प्रयोग के सन्दर्भ में कहा है कि, "जहाँ तक संगीत नाटक के प्रयोजन को सिद्ध कर सके, वहीं तक उसका उपयोग होना चाहिए; कहीं ऐसा न हो कि वही प्रधान हो जाय और नाटक को संगीत-सम्मेलन में बदल दे।"[10] रेडियो नाटक में संगीत की अनिवार्यता को शांति के पहलुओं से भी दर्शाया जा सकता है अर्थात् दो दृश्यों के मध्य कथानक के परिवर्तन और बदलाव को संगीत की स्थान पर क्षणिक शांति के माध्यम से भी दर्शाया जा सकता है। इस प्रकार संगीत के प्रबंधित प्रयोग द्वारा रेडियो नाटक की श्रावित कार्यशैली को संधानित किया जा सकता है।

रेडियो नाटक एक श्रव्य नाट्य विधा है, जो 'संकलन त्रय' रहित एक अंकीय नाट्य परम्परा है। जिसे दृश्य मानकों के बजाय श्रव्य संसाधनों द्वारा वाचित किया जाता है। इसमें स्थान, समय (काल) और वातावरण का बंधन नहीं होता बल्कि एक व्यापक कैनवास पर फैलाये हुए कथानक को समेटकर श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। यहाँ मनोवैज्ञानिक चित्रण भी बहुत प्रभावी ढंग से होता है। यह एक ऐसी नाट्य विधा है जो शब्दों और ध्वनियों के द्वारा संयोजित रूप से वाचक की लयपूर्ण ध्वनि से वाचित की जाती है। इसकी प्रस्तुति रंगमंचीय पटल पर अभिमंचित दृश्य नाटकों की अपेक्षा ज्यादा विषद होती है। यहाँ आधुनिक यथार्थ दृश्यों की प्रस्तुति यथा- आधुनिक यातायात संसाधन, युद्ध के दृश्य, नदी, पहाड़ इत्यादि की सजीव प्रस्तुति तथा स्वगत दृश्यों जैसे- रात्रि स्वप्न, ख़्वाब, नींद इत्यादि दृश्यों का प्रदर्शन संभव होता है। इन नाटकों के लेखकीय कौशल व शिल्प विधान इन सभी दृश्यों की श्रव्य प्रस्तुति की अनुमति देते हैं। यहाँ पर गतिशील दृश्यों यथा- आधुनिक यातायात संसाधन, युद्ध की विभीषिका, नदी के प्रवाह और पहाड़ों से लेकर शयन कक्ष, कल-कारखाने और यहाँ तक कि स्वर्ग-नरक के स्वगत दृश्यों को नाटक के शिल्प भाषा, ध्वनि प्रवाह व संगीत के माध्यम से आसानी से प्रस्तुत किया जाता है। रंगमंच की अपेक्षा रेडियो में मुश्किल दृश्य भी आसानी से प्रदर्शित किये जा सकते हैं। इस प्रकार यह कह सकते हैं कि रेडियो नाटक शिल्प प्रधान विधि है, जो मनोभावों, अंतर्द्वंद्व को भाषा, संगीत और ध्वनि प्रभाव की सहायता से श्रावित की जा सकती है।

संदर्भ :

1. नाट्यशास्त्र 1/106-1.6
2. थ्योडोर शैक द्वारा, द आर्ट ऑफ ड्रामेटिक आर्ट में उद्धृत, पृष्ठ संख्या - 15
3. जियोबानी जेटाइल: द फिलोसॉफी ऑफ़ आर्ट, पृष्ठ संख्या - 109
4. थ्योडोर शैक द्वारा, द आर्ट ऑफ ड्रामेटिक आर्ट में उद्धृत, पृष्ठ संख्या – 102-103
5. आजकल पत्रिका अगस्त 1941 के अंक में प्रकाशित।
6. कल्पना पत्रिका दिसंबर 1952 के अंक में प्रकाशित लेख।
7. विष्णु प्रभाकर, प्रकाश और परछाई, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ तृतीय संस्करण- 1965, पृष्ठ संख्या- 04
8. सिद्ध कुमार सिंह, रेडियो नाट्य शिल्प, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम संस्करण, 1995, पृष्ठ संख्या- 35
9. महेश आनंद (संपादित), कहानी का रंगमंच, पृष्ठ संख्या-30
10. सिद्ध कुमार सिंह, रेडियो नाट्य शिल्प, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, प्रथम संस्करण, 1995, पृष्ठ संख्या- 60

****

हिंदी के विद्यार्थी बनाम 'सेल्समैन'

-मनोजकुमार शर्मा (अवशेष)
रूम नम्बर 1, 1st माहिमवाला चाल, काजूपाड़ा, बोरीवली (पूर्व) मुंबई-400066
संपर्क : 9769068306 / smanoj475@gmail.com

अच्छा पढ़े-लिखे हो तुम भी,
जी हां...
पढ़ा-लिखा हूँ मैं भी।
का पढ़े हो....
हिंदी पढ़ा हूँ
और
हिंदी पढ़ रहा हूं।
अजीब ही विषय पढ़ रहे हो...
हिंदी भी कोई पढ़ने का विषय है... बचा...?
सीधे-सीधे क्यों नहीं कहते...
अपना समय और माँ-बाप का
पैसा दोनों फूँक रहे हो ; एक साथ।
क्यों दद्दा...
हिंदी पढ़ना क्या बरबाद करना है,
खुद को...?
हा बच्चा...
इसलिए तो कह रहा हूँ।
अगर तुम्हें पढ़ना ही था तो...
इंजीनियरिंग पढ़ते... डॉक्टरी पढ़ते...
कंप्यूटर पढ़ते...और भी विषय हैं पढ़ने के लिए,
हिंदी... विन्दी क्या पढ़ने लग गये तुम भी।
अच्छा...ये बताओ...
इस समय कौन-सी कक्षा में हो तुम।
'विद्या वाचस्पति' कर रहा हूँ दद्दा।
विद्या वाचस्पति... मतलब...?
पीएच. डी. दद्दा जी...
अच्छा मतलब...
बड़े स्तर के सेल्समैन बनोगे...?
सेल्समैन...?
हाँ और नहीं तो क्या...?
मैंने कई हिंदी पीएच. डी. धारक को,
घर-घर सेल्समैनी करते देखा है।
डिग्री पूरी हो जाने दो,
तुम भी उसी सेल्समैनी के लाइन में
लगोगे,
घबराओं नहीं।
लेकिन दद्दा...
पीएच. डी. की उपाधि,
तो बहुत बड़ी उपाधि होती है।
है न...।
हाँ, तुम कह तो सही रहे हो...बेटा।
लेकिन...
ये हिंदी के हितैषी,
जो हैं वास्तव में हिंदी के दलाल।
इन्हीं की बदौलत,
हर कोई बन जाता है,
हिंदी का विद्वान।
किसी गरीब बच्चे से पीएच. डी.
लिखवाकर,
सरलता से हर कोई बन जाता हिंदी का
मनीषी।
और
हिंदी के मगरूर प्राध्यापक,
जिनकी ख़ुशामद में,
गरीब घर के बच्चे पीसते रहते हैं लगातार,
और लगा देते हैं अपनी पूरी उम्र।
हिंदी की ख्याति परक पत्रिकाएँ...
जहाँ अच्छे लेख एवं लेखकों को है
मिलना स्थान दूभर।
क्योंकि वे पाल रहें हैं,
हिंदी के नाम पर अपना पेट।
वे अपनी ताकत के दम पर,
बना देते हैं किसी को भी महाकवि।
हिंदी की राज्य साहित्य अकादमी
संस्थाएँ,
पैसों पर पुरस्कृत करवा रहीं है
रचनाएँ।
अब तुम ही बताओ...
क्या इन सब के रहते,
बचा रह सकता है,
हमारे तुम्हारे लिए कहीं न्याय...?
नहीं न...।

क्योंकि हम जानते नहीं
चाटुकारिता का गुण,
जानते नहीं दंभी गुरुओं की सेवा-
टहल करना,
और न ही जानते हैं,
उनकी बातों की हाँ में हाँ मिलाना।

इसलिए,
हिंदी के अच्छे पीएच. डी.
विद्यार्थी,
मजबूरन बन जाते हैं,
एक अच्छे सेल्समैन।
और
आजीवन बने रहते हैं,
एक कर्मठ सेल्समैन।

****

भारतीय संस्कृति के परिप्रेक्ष्य में श्रीमद्भगवद्गीता

डॉ शालिनी मिगलानी
ईमेल आईडी-miglanishalini@gmail.com
फोन नंबर- 9718401108

संस्कृति[1] किसी एक व्यक्ति से सम्बद्ध न होकर अनेक व्यक्तियों के द्वारा किया गया बौद्धिक प्रयास है। किसी जाति, समाज तथा राष्ट्र के शिष्ट मनुष्यों के साहित्यिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक, आध्यात्मिक विचारों कार्यो, आचार-व्यवहार तथा उनके द्वारा प्रवर्तित परम्पराएं ही उस राष्ट्र की संस्कृति के रूप में प्रकट होती हैं। संसार के अनेक विद्वानों ने संस्कृति शब्द को विभिन्न प्रकार से पारिभाषित किया है, जैसे 'रामधारी सिंह दिनकर के अनुसार संस्कृति एक ऐसा गुण है, जो हमारे जीवन में छाया हुआ है, यह एक आत्मिक गुण है जो मनुष्य स्वभाव में उसी तरह व्याप्त है, जिस प्रकार फूलों में सुगन्ध और दूध में मक्खन। इसका निर्माण एक या दो दिन में नहीं होता, युग-युगान्तर में होता है।[2]

समाज के अधिकतर व्यक्ति सभ्यता[3] तथा संस्कृति को समान समझ लेते हैं, परन्तु यह दोनों भिन्न-भिन्न है। सभ्यता का प्रमुख अर्थ सामाजिकता है। सभ्यता सामाजिक प्रतिबन्धों तथा कर्तव्यों पर अधिक बल देती है। शिष्टाचार के नियमों के साथ-साथ सामाजिक उत्तरदायित्व तथा सामाजिक आचरण भी सभ्यता के द्वारा निर्दिष्ट होता है। संस्कृति यदि आन्तरिक उन्नति है तो सभ्यता बाहरी उन्नति को दर्शाती है। इसी कारण संस्कृति का अनुकरण नहीं किया जा सकता है, उसे अपनाना होता है परन्तु सभ्यता का अनुकरण सरलतापूर्वक किया जा सकता है। संस्कृति का विकास नहीं होता परन्तु सभ्यता का निश्चित रूप से विकास होता है। संस्कृति के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्राचीन काल की अपेक्षा अधिक विकसित है किन्तु प्रत्येक देश की सभ्यता का विकास स्पष्टतः दिखाई देता है। यदि सभ्यता शरीर है तो संस्कृति उस शरीर की आत्मा है।

ऐसा कहा जा सकता है कि भारतीय संस्कृति विश्व की सभी संस्कृतियों में सबसे प्राचीनतम है। भारतीय संस्कृति के आदि ग्रन्थ या प्रतीक ग्रन्थ वेद, उपनिषद् , गीता आदि आज भी भारत में प्रचलित एवं मान्य है। आज भी भारत में राम को मर्यादापुरुषोत्तम कहा जाता है। भारतीय संस्कृति का एक अनुपम ग्रन्थ श्रीमद्भगवद्गीता है। यह धार्मिकता तथा जीवन जीने की प्रेरणा प्रदान करता है। भगवान श्री कृष्ण द्वारा अर्जुन को दिया गया उपदेश केवल अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित करना ही नहीं था और न ही यह केवल एक धार्मिक ग्रन्थ है परन्तु यह एक समग्र दर्शन है।

भारतीय संस्कृति में जो आस्था तथा कर्मवाद का वर्णन प्राप्त होता है, उसकी तुलना किसी अन्य संस्कृति से नहीं की जा सकती है। विश्व में फल प्राप्ति के लिए निरन्तर कर्म करने की प्रेरणा तो प्राप्त होती है परन्तु प्रयोजन की सिद्धि न होने पर भी निष्काम भाव से कर्म करते रहने की प्रेरणा देना ही भारतीय संस्कृति की विशेषता है। जिसका वर्णन गीता में किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में श्री कृष्ण अर्जुन को निष्काम भाव से कर्म करने का उपदेश देते हुए कहते हैं, कि तुम्हारा कर्म करने में ही अधिकार है, कर्म के फल में नहीं, तुम कर्म फल का कारण मत बनो तुम्हारी कर्म न करने में प्रीति नहीं हो।[4] अर्थात् ऐसा भी न हो कि तुम्हारी कर्म न करने में रुचि हो इसलिए फल आदि की अभिलाषा न रखकर तुम निरन्तर कर्म करो क्योंकि फल विशेष की इच्छा का त्याग कर कर्मानुष्ठान करने से पुरुष को मोक्ष प्राप्त होता है।[5] भगवान श्री कृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया यह उपदेश भारतीय संस्कृति के कर्मफलवाद के मत को ओर अधिक स्पष्ट करता है। भारतीयों का यह विश्वास है कि व्यक्ति को अपने सभी शुभ-अशुभ कर्मफल को भोगना पड़ता है। जब तक व्यक्ति के सभी प्रकार के कर्म समाप्त नहीं होते, तब तक मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं है। कर्म की श्रेष्ठता का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि तुम नियमित रूप से शास्त्र विहित कर्तव्य कर्म अर्थात् निष्काम भाव से कर्म करो क्योंकि निश्चित रूप से कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना अधिक श्रेष्ठ है तथा कर्म न करने से तुम्हारा जीवन निर्वाह सिद्ध नहीं हो सकता।[6] अर्थात् नियमित रूप से निष्काम भाव से कर्म करने से योग सिद्धि की प्राप्ति सम्भव है, जो भारतीय संस्कृति की विशेषता कर्मफल तथा का वर्णन करती है। श्री कृष्ण कहते हैं कि जब व्यक्ति सम्पूर्ण कामनाओं से रहित होकर कर्म करता है तब वह स्वार्थ हेतु नहीं अपितु परार्थ भावना से कार्य कर रहा होता है। श्री कृष्ण कहते हैं कि अज्ञानी व्यक्ति कर्मों में आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं परन्तु विश्वकल्याण की कामना एवं समन्वय भावना के इच्छुक व्यक्ति कर्मो में आसक्ति रहित होकर कर्म करते हैं।[7] जो भारतीय संस्कृति की विशेषता त्याग भावना तथा विश्वकल्याण की भावना को बताती है। इस प्रकार गीता में परार्थ भावना, पुनर्जन्मवाद, त्याग भावना, विश्वकल्याण तथा समन्वय भावना का वर्णन भी प्राप्त होता है। जो भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं हैं।

भारतीय संस्कृति मनुष्य को दूसरे मनुष्य तथा अन्य प्राणियों के प्रति दयाभाव, त्याग, अहिंसा, पवित्रता, सरलता तथा बड़ों के प्रति आदर सत्कार की शिक्षा देती है। इसका वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता में शारीरिक तप के रूप में किया गया है कि देवता, ब्राह्मण, गुरु तथा विद्वानों की पूजा, आदर सत्कार करना, पवित्रता रखना, सरलता पूर्वक बैठना, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का पालन करना ही 'शारीरिक तप' है।[8]

आध्यात्मिकता को भारतीय संस्कृति का प्राण कहा जा सकता है। प्रत्येक कार्य को आत्मा परमात्मा के साथ जोड़ा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति में वह आत्मतत्व विद्यमान है। श्रीमद्भगवद्गीता में आत्मा का विस्तृत विवेचन प्राप्त होता है। आत्मा का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि आत्मा न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है, वह होकर फिर से नहीं होगा ऐसा भी नहीं है, अजन्मा, सदा रहने वाला, स्थायी, सबसे प्राचीन यह आत्मा शरीर के

मारे जाने पर भी नहीं मरता है।[9] श्री कृष्ण कहते हैं कि आत्मा को न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गीला कर सकता है तथा न वायु सुखा सकती है।[10]यह भारतीय संस्कृति की आध्यात्मिकता तथा पुनर्जन्मवाद नामक विशेषता को वर्णित करता है।

गीता में ईश्वर को परम सत्य माना गया है ईश्वर अनन्त, शाश्वत तथा ज्ञान रूप है। वहीं प्रत्येक व्यक्ति को उसके कर्म फल प्रदान करता है। गीता स्वयं भगवान श्री कृष्ण के द्वारा दिया गया उपदेश है। ईश्वर ही संसार का पालक, कर्ता, धर्ता, माता-पिता तथा स्वामी है।[11] ईश्वर ही धर्म का रक्षक, अनन्त एवं सर्वशक्तिमान है। वह सर्वज्ञ तथा सर्वव्यापक है। 'जो भक्ति से ईश्वर में समर्पित होते हैं, वह उनके योग क्षेम का वहन करता है। शरणागत की वह सब प्रकार से रक्षा करता है। पाप, दुःख से मुक्त कर मोक्ष को प्रदान करता है।[12]जो कुछ भी है वह सब ईश्वर की ही रचना है। ईश्वर संसार से परे भी है तथा उसमें अन्तर्व्याप्त भी है। जगत् ईश्वर का एक अंश मात्र ही है।[13] गीता में 'ईश्वरः सर्वभूतानां' से भी ईश्वर शब्द का उल्लेख आता है।[14] इसी प्रकार 'समं पश्यन्हि सर्वत्र' मे भी ईश्वर शब्द का प्रयोग किया गया है।[15]

ईश्वर वर्णन के साथ अवतारवाद की अवधारणा भी गीता में प्राप्त होती है। गीता में कहा गया है कि धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि होने पर स्वयं ईश्वर अवतार लेते हैं। श्री कृष्ण कहते हैं- 'जब जब वर्णाश्रम धर्मावलम्बियों के अभ्युदय और निःश्रेयस के हेतु वैदिक धर्म का ह्रास होता है, तब तब मैं धर्मरक्षण और अधर्म के विनाश के योग्य शरीर को धारण करता हूं। सज्जनों के रक्षण के लिए असज्जन पापियों के विनाश के लिए और धर्म की स्थापना के लिए मैं प्रत्येक युग में जन्म लेता हूं।[16]

आहार नियन्त्रण तथा शुद्धि का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण कहते हैं कि कर्म योगी का जीवन, उसका आहार-विहार सन्तुलित होना चाहिए। वह कहते हैं कि 'न अधिक खाने वाले का और न बिल्कुल न खाने वाले का तथा न अधिक सोने वाले का तथा न निरन्तर जागने वाले का योग सिद्ध होता है।'[17] गीता में सभी प्रकार के सात्विक राजसिक तथा तामसिक आहार का वर्णन है। कृष्ण कहते हैं कि 'आयु, बुद्धि, बल, आरोग्यता, सुख तथा प्रीति बढ़ाने वाले रस युक्त चिकने तथा शरीर में अधिक समय तक रहने वाला तथा हृदय को प्रिय लगने वाला आहार सात्विक लोगों को प्रिय होता है।[18]

श्री कृष्ण गीता के बारहवे अध्याय में कहते हैं कि जो सभी मनुष्यों के प्रति द्वेष न करने वाला है मित्रता रखने वाला तथा दयालु है, जो मेरा तेरा इस भाव से रहित है, जो अंहकार से रहित है, जो सुख और दुःख में समान व्यवहार रखने वाला है, क्षमाशील है, सदा सन्तुष्ट रहने वाला है, योगी है, संयमी है, दृढ निश्चय करने वाला मुझ में ही मन तथा बुद्धि को समर्पित करने वाला है, वह ईश्वर भक्त ही मुझे प्रिय है।[19] तदनन्तर कहते हैं कि जिससे संसार का कोई प्राणी उद्विग्न नहीं होता तथा जो संसार के किसी भी प्राणी से उद्विग्न नहीं होता तथा जो हर्ष असहिष्णुता भय तथा उद्वेग से मुक्त है, वह मुझे प्रिय है।[20]

भारतीय संस्कृति में यज्ञ, यज्ञफल की प्राप्ति का भी महत्वपूर्ण स्थान है। समाज कल्याण के लिए किए गए सभी कार्य यज्ञ ही हैं। भारतीय संस्कृति में अनेक प्रकार के यज्ञों का वर्णन प्राप्त होता है, यथा गृहस्थ के लिए ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथियज्ञ। इसके अतिरिक्त अश्वमेध, राजसूय यज्ञ आदि का भी वर्णन प्राप्त होता है। भारतीय संस्कृति में कामनाओं की पूर्ति एवं अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए भी यज्ञ को महत्व दिया गया है। श्री कृष्ण परमात्मा को भी यज्ञ में स्थित स्वीकार करते हैं। 'यह तुम निश्चय से जानो कि यज्ञ में हेतुभूत कर्म की उत्पत्ति वेद से हुई है और वेद परम ब्रह्म परमात्मा से हुआ है, इसलिए सभी वस्तुओं में प्रकाशकत्व रूप से अवस्थित वेद अश्वमेधान्त सम्पूर्ण कर्मों में स्थित है अर्थात् उन कर्मों का वेद ही कर्तव्य रूप से विधान करता है।'[21] इस प्रकार गीता में ईश्वर, धर्म, शुद्धि, आहार नियंत्रण, भक्ति, यज्ञ एवं यज्ञफल आदि का वर्णन भी प्राप्त होता है।

वेदों में कार्यकुशलता तथा पुरुषार्थ सिद्धि की दृष्टि को ध्यान में रख कर समाज को चार वर्णों में विभक्त किया गया है। सभी व्यक्तियों को उनकी योग्यता के अनुसार चार वर्णो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र में विभक्त करने का प्रमुख उद्देश्य यह था कि सभी व्यक्ति अपने अपने वर्ण के अनुसार कार्य करते हुए समाज के विकास और कल्याण में सहायक हो। इसी प्रकार चार आश्रम ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम, तथा संन्यासाश्रम का भी वर्णन किया गया है। जो व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं पारलौकिक लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जिसके परिणाम स्वरूप समाज में अव्यवस्था न होकर सन्तुलन बना रहता है। श्री कृष्ण स्वयं वर्ण व्यवस्था के महत्व का वर्णन करते हुए कहते हैं कि सृष्टि के आदि में सत्व आदि गुणों का और शम आदि कर्मो का विभाग कर मैंने चार वर्ण और चार आश्रमों का निर्माण किया है। यद्यपि माया से मैं उनका कर्ता हूं तथापि तत्व दृष्टि से अविनाशी स्वरूप मुझे अकर्ता ही जानो।[22] वह कहते हैं कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्म स्वभावजनित सत्व आदि गुणों के अनुसार शास्त्रों ने विभक्त किए गए हैं।[23]

संस्कृत भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर विश्वकल्याण तथा मानवता का वर्णन करने वाले वाक्य समाहित है। श्रीमद्भगवद्गीता एक ऐसा ग्रन्थ है, जो सम्पूर्ण विश्व में प्रसिद्ध है। गीता में वर्णित आदर्शों का पालन करके मनुष्य न केवल स्वयं का कल्याण कर सकता है, अपितु सम्पूर्ण मानव जाति का कल्याण कर सकता है गीता न केवल धर्म का उपदेश देती है, अपितु जीवन जीने की कला भी सिखाती है, जीवन का अर्थ भी बताती है। गीता के अनुसार सभी वर्णाश्रम सम्प्रदाय विशेष के मनुष्य ईश्वर भक्ति के अधिकारी हैं, जो उनमें एकता की भावना को मजबूत करते हैं। दुर्गुण दुराचार से मनुष्य 84 लाख योनियों में भटकता हुआ केवल दुःख प्राप्त करता है। अतः जन्म मरण से छूटने के लिए व्यक्ति को दुराचारो का त्याग करना चाहिए। गीता का उपदेश व्यक्ति को सदाचारवान बनाने की ओर प्रेरित करता है।

इस प्रकार गीता में वर्णित पुरुषार्थ चतुष्टय, वर्णाश्रम व्यवस्था का सिद्धान्त व्यक्ति की व्यक्तिगत, सामाजिक एवं आध्यात्मिक उन्नति में भी सहायक है। ईश्वर के प्रति विश्वास, आस्था, निष्काम कर्म, नैतिकता, अहिंसा, त्याग भावना, परार्थ भावना तथा विश्व कल्याण की भावना, व्यक्ति को शुभ कार्य की ओर प्रेरित करती है तथा अशुभ कर्म से निवृत्त करती है।व्यक्ति की बाह्य एवं आभ्यन्तर दोनों प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। जब तक व्यक्ति दोनों

प्रकार से शुद्ध नहीं होगा, तब तक वह अनुचित को ही उचित मानता रहेगा। वह शुभ-अशुभ, उचित- अनुचित, कर्तव्य- अकर्तव्य का निर्णय नहीं कर पाएगा। भारतीय संस्कृति का विकास धर्म को आधार मानकर हुआ है। इसलिए उसमें दृढ़ता है। भारतीय संस्कृति व्यक्ति को महान कार्यों के लिए प्रोत्साहित करती है।

भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषताएं आध्यात्मिकता एवं भौतिकता का समन्वय, अनेकता में एकता, सहनशीलता, प्राचीनता, निरन्तरता, सहिष्णुता, वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना, लोकहित तथा विश्व कल्याण की भावना है। जो गीता में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। यदि गीता को भारतीय संस्कृति का आधार कहा जाएगा तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। गीता उपदेश सभी देश, काल, धर्म, जाति के मनुष्यों के द्वारा ग्रहण किया जा सकता है। गीता भारतीय साहित्य तथा संस्कृति का एक ऐसा पुष्प है, जिसकी महक भारत के साथ-साथ सभी पश्चिमी देशों में फैली हुई है।प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है कि वह अपनी संस्कृति से परिचित हो, परन्तु आज इस आधुनिक समय में व्यक्ति विकास की ओर तों प्रवृत्त हो रहा है, परन्तु अपनी संस्कृति से दूर होता जा रहा है तथा भारतीय संस्कृति तथा संस्कृत भाषा की उपेक्षा की जा रही है परन्तु हमारी भारतीय संस्कृति की जड़ें इतनी मजबूत है कि परिवर्तनशीलता तथा उपेक्षा से ग्रस्त होने पर भी वह आज भी कहीं न कहीं प्रत्येक व्यक्ति की अन्तरात्मा के रूप में प्रतिष्ठित है। भारतीय संस्कृति के संरक्षण के लिए आवश्यक है कि हम अपने धार्मिक ग्रन्थ यथा वेद, उपनिषद्, गीता आदि का अध्ययन कर अपनी धार्मिक परम्पराओं का ज्ञान प्राप्त करें, संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त करें, भारतीय संस्कृति के विषय में अपने अग्रजों से जाने, सामाजिक तथा राष्ट्रीय उत्सवों का प्रबन्धन करें तथा उनमें सहभागिता करें, अपनी संस्कृति पर गौरव करें तथा उसे अपने आचरण में धारण करें आज हमें भारतीय संस्कृति के भविष्य को उज्जवल करने के लिए अपने सभी सांप्रदायिक वैमनस्य को भुलाकर एक होना होगा। भारतीय संस्कृति की उदार प्रवृत्ति ही भविष्य को उज्जवल बना सकती है।

पाद टिप्पणी

1 संस्कृति- सम् उपसर्ग पूर्वक कृ धातु मे क्तिन् प्रत्यय जोडने से संस्कृति शब्द बनता है।

2 भारतीय संस्कृति , डा किरण टण्डन,ईस्टर्न बुक लिंकर्स,दिल्ली,2006,पृष्ठ-2।

3 सभ्यता- सभा+यत्= सभ्यः। सभ्य+तल्+टाप्।

4 कर्मण्यवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।श्रीमद्भगवद्गीता-2/47

5 तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचार।
असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पुरुषः।। वही- 3/19

6 नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।। वही 3/8

7 सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।। वही 3/25

8 देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।। वही 17/14

9 न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भहन्यतेऽभविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।। वही-2/20

10 नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।। वही-2/23

11 गीता 9/16-18

12 सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।वही-18/66

13 ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।वही 15/7

14 ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।वही-18/61

15 समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनाऽऽत्मानं ततो याति परां गतिम्।।वही-13/28

16 यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।। वही- 4/7
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।। वही-4/8

17 नाऽत्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाऽतिस्वपन्शीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन। वही-6/16

18 आयुः---सात्विकप्रिया।वही-17/8

19 अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रःकरुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।वही-12/13
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।वही-12/14

20 यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।। वही-12/15

21 कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।। वही-3/15

22 चातुर्वर्णयं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्।। वही-4/13

23 ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परंतप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।। वही-18/41

****

वंदना टेटे के काव्य में आदिवासी जीवन का यथार्थ

-प्रोफेसर सुरेश चन्द्र,
शोध निर्देशक, अध्यक्ष, हिन्दी विभाग,
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया

-ज्ञान्ती
शोधार्थी,
भारतीय भाषा विभाग,
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया

प्रस्तावना :

आदिवासी साहित्य को उच्च शिखर तक पहुँचाने में झारखंड के आदिवासी साहित्यकारों की मुख्य भूमिका रही है। उन साहित्यकारों में आदिवासी कवयित्री वंदना टेटे का स्थान प्रमुख है। वंदना टेटे एक संपादक, प्रकाशक, सामाजिक कार्यकर्ता तथा आदिवासी चिन्तक के रूप में पहचानी जाती हैं। उनके काव्य में प्रकृति का चित्रण, आदिवासी दर्शन और स्त्री मुक्ति का स्वर प्रमुखता से दिखाई देता है। झारखंड की भाषाई अस्मिता को जीवित रखने में उनका प्रयास सराहनीय है। आदिवासी समाज की परंपरा वाचिक रही है, जिसमें उनका सहज जीवन-बोध, संस्कृति-प्रेम और स्थानीयता की महक उपस्थित है। आदिवासी संस्कृति उनके गीत-संगीत और जीवन की स्वाभाविक लय के साथ अभिव्यक्त होती रही है।

औद्योगीकरण के इस दौर में, आधुनिक समाज की विकास धारा ने आदिवासियों की सृजनशीलता को परोक्ष रूप से प्रभावित किया है। पहले जहाँ आदिवासी रचनाकार आदिवासी दर्शन एवं संस्कृति की गाथा गाते थे, वहीं आज उनके साहित्य में आदिवासी अस्मिता के स्वर सुनाई दे रहे हैं। औद्योगीकरण का यह दौर उनकी अस्मिता पर प्रश्न चिह्न खड़े कर रहा है, जिसके फलस्वरूप आदिवासी रचनाकारों की लेखनी में यह चिंता स्वाभाविक रूप से प्रस्फुटित हो रहा है। वर्तमान में लिखी जा रही आदिवासी कविताएँ, उनकी गरिमा पर किए गए आघात की आवाजें हैं। इनमें अतीत और वर्तमान परिस्थितियों के अन्तर्विरोध के साथ-साथ सामाजिक विद्रूपता, यातना और संघर्ष के चित्र प्रस्तुत हुए हैं। आदिवासी समाज को अपने पुरखों की जमीनों से बार-बार विस्थापन की पीड़ा को सहन करना पड़ रहा है। आदिवासी समाज के सामने भविष्य के प्रति चिंताएँ भी हैं, जिनमें सम्पूर्ण प्रकृति, आदिवासी भाषा, संस्कृति और अस्मिता के स्वर निहित हैं। इन स्वरों को अभिव्यक्ति देने हेतु आदिवासी बुद्धिजीवी एवं चिंतक अपनी उपस्थिति दर्ज करा रहे हैं। वंदना टेटे इसी स्वर की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। वे आदिवासी दृष्टि एवं विचारों को दृढ़ता के साथ सभी के सम्मुख रखती हैं और अपनी रचनाशीलता के माध्यम से प्रभावित भी करती हैं।

वंदना टेटे चूँकि आदिवासी समाज से आती हैं, इसलिए अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन के सच्चे और कड़वे अनुभवों को उकेरा है। उनके काव्य में आदिवासी समाज के साथ हो रहे अन्याय, शोषण, दमन, अत्याचार, उपेक्षा और हीनता जैसे अमानवीय व्यवहार स्पष्ट रूप से देखने को मिलते हैं। आदिवासी समाज पर हो रहे बाहरी हमलों को देखकर वंदना टेटे अपने साहित्य में चिंता व्यक्त करती हैं। वे अपने काव्य में बाजारवाद और पूँजीवादी व्यवस्था का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करती हैं। आदिवासी समाज मूल रूप से जल, जंगल, जमीन से जुड़ा हुआ है, लेकिन वैश्वीकरण के प्रभाव और आधुनिकता की विकासवादी प्रक्रिया उन्हें

अपनी भाषा, बोली, आदिवासी संस्कृति, अस्मिता और पहचान से प्रतिदिन दूर करती जा रही है। इस विषम परिस्थिति को देखते हुए वंदना टेटे आदिवासी समाज के प्रति चिंता जाहीर करती हैं। 'हम धरती की माड़ हैं' शीर्षक कविता में लिखती हैं कि -

हम सब, इस धरती की माड़, इस सृष्टि के हाड़
हमारी हड्डियाँ, विंध्य, अरावली और नीलगिरि
हमारा रक्त ,लोहित, दामुदह, नरमदा और कावेरी
हमारी देह, गंगा-जमना-कृष्णा के मैदान
हमारी छातियाँ,जैसे झारखंड के पठार
और जैसे कंचनजंघा, हम फैले हुए हैं
हम पसरे हुए हैं, हम यहीं इसी पुरखा ज़मीन में
धँसे हैं सदियों से, हमें कौन विस्थापित कर सकता है
सनसनाती हवाओं और तूफ़ानों-सी
हमारी ध्वनियों-भाषाओं को, कौन विलोपित कर सकता है
कोई इंसान? कोई धर्म? कोई सत्ता?"

उपर्युक्त पंक्ति में वंदना टेटे आदिवासियों के ऊपर हो रहे आक्रमण को लेकर चिंतित हैं। उनकी यह चिंता केवल झारखंड के आदिवासियों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह विश्व में विस्थापित हो रहे आदिवासियों के प्रति भी है। इस अतिक्रमण में भी यह कविता आत्मविश्वास से भरी हुई दिखाई दे रही है। आदिवासी इस देश के मूलनिवासी हैं। आधुनिक भौतिक जगत ने आदिवासियों के जीवन की पुश्तैनी जल, जंगल, जमीन से उन्हे विस्थापित कर रहा है। परंतु आदिवासी समाज का विश्वास, संस्कृति एवं परंपरा ही उन्हें इस जमीन के साथ बांध कर रखा है। यह विश्वास उनकी भाषा संस्कृति एवं आदिवासी दर्शन को हजारों सालों से जीवित रखा है। आदिवासी समुदाय अपने पुरखों के गीतों के माध्यम से अपनी अस्मिता को याद करते हैं।

वंदना टेटे की कविताएँ आदिवासी समाज की चिंताओं और चुनौतियों को निरंतर अपनी कविता के माध्यम से हम सबके समक्ष रखती हैं। आदिवासियों को इस देश का मूल निवासी होने के बावजूद इन्हें इतिहास में कहीं उचित स्थान नहीं मिला। पुराण, महाभारत और वेदों में उनके नाम तो हैं, किन्तु उन्हें इतिहास से उपेक्षित रखा गया। आज उन्हें दर्ज करने की आवश्यकता है। इसलिए वंदना टेटे 'कब तक' शीर्षक कविता में लिखती हैं कि –

"कब तक जोहते रहोगे / अपनी पहचान जानने
के लिए दूसरे का मुंह / और कब तक आसरे में
रहोगे कि कोई आए / और तुम्हारे लिए लड़े।
कब तक खुश होते रहोगे / कि उनकी कहानी में
तुम्हारा जिक्र है / कि तुम्हारा इतिहास
तुमने नहीं उसने लिखा है।"

आदिवासी समाज को आज कोई 'आदिवासी' मानने के लिए तैयार नहीं है। उनके लिए 'अनुसूचित जनजाति', 'गिरिजन', 'जंगली', 'वनवासी' आदि नामों का प्रयोग किया गया है। साहित्य एवं इतिहास में उनके नाम नहीं मिलते। विशिष्ट इतिहासकार 'कर्नल टाड़' एवं भारतीय इतिहासकार 'गिरीश चंद्र ओझा' के इतिहास में आदिवासीयों के जिक्र तक नहीं है। इस विषम परिस्थिति के प्रति सावधान करते हुए वंदना टेटे कहती हैं कि हमें अपना इतिहास स्वयं रचना होगा। हमें अपनी पहचान खुद दर्ज करनी होगी और इसके लिए सबसे पहले अपने समृद्धशाली इतिहास और परंपराओं के साथ रूबरू होना होगा। अपने पुरखों की संस्कृति को याद रखना होगा। आधुनिकता के दौर ने हमें अपनी पुरखों की संस्कृति को विस्मृत कर दिया है। वंदना टेटे अपनी कविताओं में आदिवासी समाज के मिट रहे अस्तित्व के प्रति संवेदना व्यक्त करती हैं। भूमंडलीकरण के इस दौर में विकास के नाम पर जंगल-पहाड़ को खत्म किया जा रहा है। बड़े-बड़े पहाड़ विलीन होते जा रहे हैं। इस पर वंदना टेटे लिखती हैं कि-

"हम नहीं लड़ रहे
अपने लिए
कोनजोगा को
तोड़ रहे हैं लोग
कोनजोगा टूट रहा है
बगल की टोंगरी की तरह
नेस्तनाबूत कर देंगे वह
फिर भी
हम नहीं लड़ रहे
अपने लिए।
पुरखा कथाओं में दर्ज
कोनजोगा टूट रहा है
जतरा के ढोल की आवाज
दफन हो रही है।

छेनी और हथौड़ी की आवाज में
पाना, मारतुल और घन
ठोंक रहे हैं
सीने पर कोनजोगा के
सरकारी नुमाइंदे
ठेकेदार और मुंशी।"

आदिवासी जीवन की कल्पना प्रकृति के बिना संभव नहीं है। प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ करना आदिवासियों के लिए पीड़ा की बात है। वंदना टेटे इस कविता में मिट रहे अस्तित्व को लेकर चिंता व्यक्त करती हैं। विकास के नाम पर खडिया समुदाय के सांकृतिक पहचान से जुड़े 'कोनजोगा' (पहाड़) वर्तमान समय में ठेकेदारों एवं पूँजीपतियों के चंगुल में जा चूका है। वे इस पहाड़ को अपने व्यापर के लिए दिन पर दिन तोड़ रहे हैं। कोनजोगा (पहाड़) धीरे-धीरे अपने अस्तित्व को खोते जा रहा है। किन्तु विडम्बना यह है कि आदिवासी समुदाय प्रतिरोध करने के बजाय शांत है। वंदना टेटे प्रश्न करती हैं कि- हम इसके प्रति जागरूक क्यों नहीं है? अगर समय रहते हम जागरूक नहीं हुए तो आदिवासियों की यह सांस्कृतिक पहचान एक दीन विलुप्त हो जाएगी। वंदना टेटे ने भी कोनजोगा के अस्तित्व को कविता तक ही सीमित कर दी हैं।

आधुनिकरण, शहरीकरण और बाहरी सांस्कृतिक प्रभावों के कारण आदिवासियों की भाषा, रीति-रिवाज, खान-पान, पहनावा और धार्मिक आस्थाओं पर असर पड़ा है। धीरे-धीरे आदिवासी भाषाएँ विलुप्त हो रही हैं और उनके पारंपरिक त्योहार व धार्मिक अनुष्ठान भी कम होते जा रहे हैं। वंदना टेटे असीवासियों को उनकी सांस्कृतिक विरासत के विघटन के प्रति सचेत करते हुए, उसे पुनः जागृत करने का कार्य कर रही हैं। वे 'कोनजोगा' कविता संग्रह में लिखती हैं कि -

"सारंडा में कौन लोग हाथ जोड़ा रहे हैं
ए दादा सलय सलय...
नेतरहाट के पाट पर कौन लोग आग जला रहे हैं
ए दीदी सलय सलय...
डोम्बारी पहाड़ पर कौन लोग तीर चमका रहे हैं
ए संगी रियो रियो...
बीरू दिसुम में कौन लोग नाच रहे हैं
ए सांगो धिरोम धिरोम ...
धिरोम धिरोम ... अनि चोनानिड धिरोम धिरोम ...
सारंडा जंगल में जुट रहे हैं पुरखा लड़ाके
ए संगी सलय सलय ...
पाट पर लोहा बना रहे हैं पुरखा असुर लड़ाके
ए संगी रियो रियो ...
डोम्बारी पहाड़ पर तीर चमका रहे हैं पुरखा लड़ाके
ए संगी रियो रियो ..."

इस काव्य अभिव्यक्ति में वंदना टेटे आदिवासी संस्कृति पर हो रहे अतिक्रमण पर चिंता जाहिर करती हैं। भूमंडलीकरण ने आदिवासी भाषा, संस्कृति और पहचान को अपनी आगोश में लेकर उन्हें खिन्न-भिन्न कर दिया है। नेतरहाट, सारंडा, डोम्बारी पहाड़ आदि जैसे घने जंगलों में वर्तमान में बड़े-बड़े पूँजीपतियों की दखल है, जिन्हें उद्योग स्थापित करने के लिए सरकार ने दे दिया है, जिसके फलस्वरूप हजारों आदिवासियों को अपने निवास सस्थान को छोड़कर विस्थापित होना पड़ रहा है। अपने मूल

निवास से बिछड़ने के कारण आदिवासियों में आक्रोश है और वे सभी उन घुसपैठियों के प्रति युद्ध करने के लिए तैयार हो रहे हैं।

वंदना टेटे अपनी कविता के माध्यम से औद्योगीकरण द्वारा आदिवासियों को किस तरह विस्थापित किया जा रहा है, उसका स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करती हैं। विकास के नाम पर आदिवासियों की बेदखली का खेल लगातार चल रहा है। विकास और विस्थापन का द्वन्द वंदना टेटे की कविताओं में अक्सर झाँकता रहता है। सरकार और उद्योगकर्ता मिलकर आदिवासियों की जमीन को लूट रहें हैं। वंदना टेटे इसका सजीव चित्रण 'कोनजोगा' में करती हैं-

"रची जा रही हैं
साजिशें गहरी-गहरी
हमारे ही खात्मे के लिए
बिछाए जा रहे हैं फंदे
ताकि
तुम्हारे विकास की गाड़ी
दौड़ सके रौंदती हुई हमारे
भूत, वर्माम और भविष्य को
कुछ इस तरह
कि न उठ सके कोई दुबारा
और न कर सके कोई दावा।"

उपर्युक्त पंक्ति में विकास के इतर आदिवासियों के विस्थापन के षड्यन्त्र का खुलासा किया गया है। आदिवासियों को साजिश के तहत इस तरह गुमराह किया जा रहा है कि वे अपने अधिकारों से वंचित हो जाएँ। भूस्वामियों और सरकारों की मिलीभगत ने आदिवासियों को इस कदर परेशान किया है कि वे मजबूर होकर अपनी घर-द्वार छोड़ रहें है। उनकी जमीन पर बड़ी-बड़ी मिलें, कल-कारखाने, हवाई अड्डे, शॉपिंग मॉल, यानी व्यापारियों के प्रतिनिधित्व करने वाले भवन बनाए जाते हैं। अपनी जमीन को बेचने के लिए आदिवासियों को प्रलोभन देकर बेदखली का 'खेल' खेला जा रहा है। इसके विरुद्ध आदिवासी निरंतर संघर्ष कर रहे हैं। विकास के सौदागर उन्हें उजाड़ कर बर्बाद कर रहे हैं। इस विस्थापन और बेदखली से आदिवासी केवल अपने घर से नहीं, बल्कि अपनी संस्कृति, भाषा, और अस्तित्व से भी विस्थापित हो रहे हैं।

वर्तमान समय की सबसे बड़ी विडंबना यह है कि प्रतिदिन 'आदिवासी' विषयक चर्चा-परिचर्चा, शोध-संगोष्ठी आदि में आदिवासियों की जीवनशैली, उनकी समस्याएं और सांस्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक मुद्दे को लेकर विभिन्न कार्यक्रम शिततात नियात्रित कक्ष में हो रहें हैं। आदिवासी विषय के अध्येता निरंतर अकादमिक ऊंचाइयाँ हासिल कर रहे हैं, परंतु आदिवासी समाज वहीं के वहीं ठहरे रहने पर विवश हैं। उनकी समस्याएँ आज भी जस की तस बनी हुई है।

वंदना टेटे की कविताएँ नए भाव-बोध द्वारा आदिवासी जीवन-यथार्थ से परिचय कराती हैं। इनमें आदिवासी जीवन दर्शन और संस्कृति के समक्ष उपस्थित संकट और चुनौतियों को उजागर किया गया है। वर्तमान में भौतिकवादी जीवनशैली ने आदिवासी समाज को इस कदर प्रभावित किया है कि आदिवासी समाज की नई पीढ़ी अपनी मूल संस्कृति से दूर होती नजर आ रही है। इसके प्रति वंदना टेटे गहरी चिंता व्यक्त करते हुए लिखती हैं कि-

"मैं चिंतित और उदास भी
कि छुट रही हैं मेरे बच्चों से
बहुत सारी चीजें
बहुत बड़ी दुनिया
जिन्हें वे शायद ही जान पाएँ।
बंद कमरे में, / आँखे खोलते ही
टी.वी., कम्प्यूटर, नेट की दुनिया में
वायर के जरिये आती सूचनाओं
और रंगीनियों के अभ्यस्त होते
मेरे बच्चो की अंगुलियाँ
रिमोट, माउस और मोबाईल के बटनों पर
खेलती नाचती थिरकती हैं।"

यह पंक्ति आधुनिक जीवनशैली के मध्य आदिवासी समाज की नई पीढ़ी की प्रभावित जीवनशैली को दर्शाती है। 'भौतिकवादी जीवनशैली' आदिवासी समाज पर इस कदर हावी हो रही है कि वे अपनी सांस्कृतिक विरासत को भूलते जा रहे हैं। नई पीढ़ी को तकनीकों के बारे में बहुत सारी जानकारियाँ हैं, जिससे देश-दुनिया की जानकारियाँ बंद कमरे में माउस और रिमोट के जरिए ऊँगली घुमाते ही प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन वे नहीं जानते कि बारिश की पहली बूंद धरती पर पड़ने पर सोंधी महक क्यों आती है और न ही वे जान पाएँगे कि बारिश होने से पहले चीटियाँ अपने अंडे लेकर क्यों भागती हैं ? वर्तमान में समाज यथार्थ से ज्यादा आभासी दुनिया की जानकारी रखता है। इसके फलस्वरूप प्रकृति और जीवन का संबंध खंडित हो रहा है। आदिवासी और प्रकृति का अन्योनाश्रित संबंध है। आदिवासी समुदाय को प्रकृति और जीवन-जगत से जुड़ी अनेक जानकारियाँ हैं, जो पुरखों की पारंपरिक ज्ञान है, वह कहीं इतिहास में दर्ज नहीं है, वह वाचिक है।। इस ज्ञान परंपरा से वंचित नई पीढ़ी प्रकृति के कई रहस्यों से दूर चली जा रही है। यह चिंता केवल वंदना टेटे की नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव जगत की चिंता है।

आदिवासी समाज समानता का भाव रखता है, जिसमें सहजीविता, सहभागिता और सह-अस्तित्व निहित है। वंदना टेटे अपनी कविताओं में यह बार-बार दिखाने का प्रयास करती हैं कि आदिवासी समाज में लैंगिक भेदभाव नहीं है और न ही पितृसत्तात्मकता की प्रभावशाली व्यवस्था है। हालांकि, सभ्य समाज इस लैंगिक असमानता के भेद-भाव को भोगता है। वंदना टेटे एक आदिवासी स्त्री होने के नाते स्त्रियों के प्रति अधिक संवेदनशील हैं। उनकी नजर में कोई स्त्री असमर्थ नहीं है; बल्कि वे अपने आप में समृद्धशाली और प्रत्येक मुसीबतों से जूझने वाली सक्षम स्त्री हैं। आदिवासी समाज में स्त्रियों को समान दृष्टि से देखा जाता है और वे पुरुषों के समक्ष कार्य करते हुए दिखाई देती हैं। वे लिखती हैं कि-

"टांगी, हंसिया, दाब, दराती

ये सब हमारी सुन्दरता के
प्रसाधन है
जिन्हें हाथ में पकड़ते ही
मैं दुनिया की
सबसे सुंदर स्त्री हो जाती हूँ।"

आदिवासी समाज में इंसान के श्रम और हुनर का सम्मान है। उपर्युक्त कविता में वंदना टेटे कहती हैं कि तथाकथित सभ्य समाज हमारी स्त्रियों को डरपोक एवं कमजोर समझता हैं। लेकिन जब आदिवासी स्त्रियाँ हाथों में टांगी, दराती, हसियां, कुल्हाड़ी लेकर विरोध करने उतरती हैं तो सभी आश्चर्यचकित रह जाते हैं। जब-जब आदिवासी अस्मिता के ऊपर खतरे मंडराते हैं तब-तब वे अपने पारम्परिक हथियारों के सहारे लड़ने के लिए तैयार हो जाती हैं।

छठवीं शताब्दी में मुगलों के खिलाफ रोहतासगढ़ के सींगी देई के आन्दोलन इतिहास में दर्ज है। सींगी देई एक आदिवासी स्त्री हैं, उन्होंने तत्कालीन मुगल शासक को दो बार पराजित किया था। एक तरफ जहाँ मुगल शासन के पास अत्याधुनिक अस्त्र-शस्त्र थे, वहीं सींगी देई के पास पारम्परिक हथियार थे। इसके बावजूद भी सींगी देई ने अपने अदम्य साहस का परिचय दिया था। विस्थापन और गैर-आदिवासियों की घुसपैठ के प्रभाव से सभ्य समाज की भाँति आदिवासी समाज में भी आदिवासी स्त्रियाँ शोषण का शिकार हो रहीं है। वर्तमान में आदिवासी स्त्रियाँ दोहरे शोषण का शिकार हो रही हैं, एक आदिवासी होने के नाते, दूसरी स्त्री होने के नाते। आदिवासी स्त्रियों को आदिवासी समाज के भीतर संघर्ष करना पड़ रहा है। वंदना टेटे अपनी कविताओं में आदिवासी स्त्रियों के संघर्ष और इसके साथ ही हो रहे शोषण के प्रति सचेत करती हुई दिखाई देती हैं, वे लिखती हैं कि –

"तुम्हारी खिंची लक्ष्मण रेखा
के खिलाफ
उसने बो दिए हैं संघर्ष-बिज
और पिरो दिए हैं मधुर गीत
हताश होती और उलाहने देती
तुम्हारी नफरत भरी आवाज को
बना लिया है उसने अपनी ताकत।"

उपर्युक्त पंक्तियों में वंदना टेटे आदिवासी स्त्रियों के विरोध एवं संघर्ष से परिचय कराती हैं। वर्तमान मे आदिवासी तथा गैर-आदिवासी महिलाएँ, अब कीसी एक दायरे में सीमित होकर नहीं रहना चाहती हैं। पुरुषवादी वर्चश्व को अपने संघर्ष से तोड़ने की पहल करती हैं। प्रकृति की ही तरह स्त्री की सृजन-शक्ति पुरुषत्व की दंभ को ललकारती हुई दिखाई देती हैं। वे अपनी कमजोरी को अब अपनी ताकत बनाने लगी हैं।

निष्कर्ष :

वंदना टेटे अपनी कविताओं में आदिवासी जीवन-दृष्टि, संस्कृति के वैशिष्ठ्य के साथ कथित सभ्य समाज की संकीर्ण एवं एकल दृष्टि तथा विकास की एकपक्षीय नीतियों पर नजर रखते हुए इनके खिलाफ बेवाकी से आवाज उठाती हुई नजर आती हैं। वे आदिवासी जीवन के अभिन्न अंगों; यथा- गीत-संगीत, पर्व-त्यौहार, देशज ज्ञान, भाषा, सांस्कृतिक प्रतीक और प्रकृति से गहरे सम्बन्धों के चिन्तन को कविता में एक बीज की तरह रोपती हैं और नव-आस्वाद भूमि उपलब्ध कराती हैं। इनकी कविताएँ कई आयामों को एक साथ लाती हैं- विस्थापन का दर्द, दिकुओं की धूर्तता, विकास-विनाश का द्वंद, त्रासदी, आन्दोलन, संघर्ष, अस्मिता बचाने की आशा, धर्म के नाम पर सभ्य बनाने का खेल, पर्यावरण संबंधी मुद्दे, भाषा आदि और फिर इन सब से निकलने की राह एवं ललक भी है। वंदना टेटे की कविताएँ आदिवासी समाज की वास्तविक समस्याओं और उनके विसंगतियों को संवेदनशील और सशक्त तरीके से व्यक्त करती हैं। उनके काव्य में आदिवासी जीवन की विषमताओं, शोषण और विस्थापन का यथार्थ चित्रण हैं। वंदना टेटे की कविताएँ यथार्थ रूप से अभिव्यक्ति के लिए सृजनात्मक भाषा और प्रतीकों का उपयोग करती हैं। वे अपनी कविताओं में आदिवासी समाज की अस्मिता को सृजनात्मक तरीके से संरक्षित करना भी बताती हैं। उनके काव्य में दिखाई देने वाली आक्रोश की यह भावना न केवल आदिवासी संस्कृति और अधिकारों की रक्षा करती है, बल्कि यह समाज के भीतर चल रहे अन्याय और विस्थापन के खिलाफ भी एक सशक्त आवाज प्रदान करती है। उनकी कविताएँ आदिवासी समाज के संघर्षों और उनकी सामाजिक-सांस्कृतिक अस्मिता के लिए एक महत्वपूर्ण साहित्यिक योगदान हैं।

संदर्भ :

1. वंदना टेटे, किनिर,प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, 2022, पृष्ट संख्या -19
2. वंदना टेटे, कोनजोगा, प्यारा केरकेट्टा फाउनडेशन, रांची, पृष्ठ सं. 68
3. वही, पृष्ठ सं. 94
4. वही, पृष्ट सं 84
5. वही, पृष्ठ सं. 78
6. वही, पृष्ठ सं. 12
7. वंदना टेटे, किनिर, प्यारा केरकेट्टा फाउंडेशन, रांची, 2022, पृष्ट संख्या- पृष्ठ सं 34
8. वंदना टेटे, कोनजोगा, प्यारा केरकेट्टा फाउनडेशन, रांची, पृष्ठ सं. 35

****

औपनिवेशिक भाषा विमर्श और भारतेन्दु हरिश्चंद्र का भाषा चिंतन

-सर्वेश कुमार
शोधार्थी
दिल्ली विश्वविद्यालय
9999354211

शोध सार:- औपनिवेशिक काल में हिंदी भाषा संबंधी विमर्श व उसके जातीय स्वरूप के निर्माण में ऐतिहासिक घटनाओं के साथ ही साथ कुछ संस्थाओं और प्रमुख व्यक्तित्वों की महती भूमिका रही है | इनमें से कुछ प्रमुख हस्ताक्षर राजा लक्ष्मण सिंह, सर सैयद अहमद खान, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, भारतेन्दु और उनका मंडल आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय है | भारतेंदु ने अपने समय व साहित्य को गंभीर रूप से प्रभावित करते हुए निज भाषा की वकालत किया |

प्रमुख शब्द:- उपनिवेश, भाषा विमर्श, बाइबिल, आर्य समाज, हरिश्चंद्री हिंदी, निज भाषा |

जब हम औपनिवेशिक भारत के भाषा विमर्श और उससे संबद्ध जातीय स्वरूप पर विचार करते हैं तब उसके कई स्तर दिखते हैं | इस भाषाई विमर्श के जातीय स्वरूप की पृष्ठभूमि के रूप में जहाँ एक ओर कुछ प्रमुख ऐतिहासिक घटनाएं हैं, वहीं दूसरी ओर सर सैयद अहमद खान, राजा लक्ष्मण सिंह, राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द, भारतेन्दु और उनके मंडल का भाषा-चिन्तन आदि दिखाई देते हैं | इन सबके बीच उस वक्त भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी को अपने शक्ति व साम्राज्य विस्तार हेतु यहाँ की भाषा को जानना-अपनाना भी अनिवार्य हो रहा था | इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु सन् 1800 ईस्वी में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई | कॉलेज के प्रधानाध्यापक गिलक्राइस्ट का झुकाव उर्दू की ओर था जबकि उस समय जनसाधारण का रुख हिंदी की तरफ था | इसीलिए ईसाई धर्मप्रचारकों ने जनता के बीच लोकप्रचलित हिंदी भाषा को अपने धर्म के प्रचार का माध्यम बनाया | इसके लिए उन्होंने पाठशालाएं स्थापित की, अनेक पुस्तकों की रचना हिंदी में करने के साथ ही बाइबिल का हिंदी में अनुवाद किया | इससे उन्होंने जहाँ एक ओर जनता के बीच अपने धर्म को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया वहीं दूसरे पहलू के रूप में हिंदी गद्य का प्रसार व परिष्करण भी हुआ | इसी समय अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति हेतु कंपनी सरकार द्वारा तत्कालीन न्याय व शासन की भाषा फारसी के स्थान पर सरकारी दफ्तरों की भाषा हिंदी कर दी गई | अंग्रेजों की यह नीति सफल रही जिसके परिणामस्वरूप भाषा विभेद की समस्या नेपथ्य से निकलकर केंद्र में आ गई | ऐसी स्थिति में कई उर्दू समर्थक आग-बबूला हो गए | गार्सा द तासी ने तो यहाँ तक कह दिया कि,**"हिंदी, हिंदू धर्म की प्रतीक है लेकिन उर्दू, मुसलमानों की भाषा है जो बाइबिल को मान देते हैं | उनका मत ईसाई मत से मिलता-जुलता है |"**

तत्कालीन अंग्रेजी हुकूमत ने हिंदू-मुसलमानों को आपस में लड़ाने की नीति अपनाते हुए दोनों भाषाओं को प्रोत्साहित किया | इसी क्रम में आगे हिंदी का मजाक उड़ाते हुए हैवेल जो कि तत्कालीन संयुक्त प्रदेश के शिक्षा सचिव थे उसने घोषणा किया कि, **"यह अधिक अच्छा होता यदि हिंदू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती न की एक ऐसी बोली में विचार करने का अभ्यास कराया जाता जिसे अंत में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा |"** अपनी तुष्टीकरण की नीति के तहत ही अंग्रेजों ने एक वर्ष बाद 1837 में उर्दू को सरकारी कामकाज की भाषा के पद पर बैठा दिया | किंतु जनता का मनोभाव इस परिवर्तन के बावजूद हिंदी के प्रति नियत रहा | इसी क्रम में हम देखते है की उस समय की कुछ भारतीय शख्सियतें भी समानांतर रूप से इस विमर्श को प्रभावित कर रही थी | इसमें जहाँ एक तरफ राजा लक्ष्मण सिंह संस्कृत शब्दों से युक्त हिंदी को हिंदुओं की भाषा और उर्दू को मुसलमानों की भाषा बतला कर संस्कृतनिष्ठ भाषा को अपनाया वहीं दूसरी तरफ राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द जो कि विद्यालयों के निरीक्षक भी थे निहित स्वार्थों की पूर्ति हेतु लिपि के रूप में देवनागरी का समर्थन तो किया किंतु भाषा के रूप में हिंदी व उर्दू के मिले-जुले रूप का समर्थन कर दिया |

ऐसे संकटपूर्ण समय में भारतेन्दु हरिश्चंद्र और स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रयास हिंदी के लिए संजीवनी साबित हुए | भारतेंदु हरिश्चंद्र हिंदी को एक नई दिशा देते हुए हिंदी साहित्य के जनक के रूप में अवतरित हुए |

उन्होंने हिंदी गद्य को परिष्कृत व परिमार्जित कर एक नए सांचे में ढाला लेकिन काव्य भाषा को लेकर मतैक्यता का अभाव था | देश में अभी तक काव्य भाषा के रूप में ब्रजभाषा लोकप्रिय थी और खड़ी बोली में काव्य रचना संभव नहीं है भारतेंदु भी इससे सहमत थे | इसी विकास-क्रम में हम आगे देखते हैं कि स्वामी दयानंद सरस्वती का भी हिंदी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान रहा है | स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश के साथ ही साथ हिंदी में अनेक रचनाएँ की जिससे हिंदी प्रेम खूब बढ़ा | आर्य समाज ने हिंदी के गौरव को बढ़ाने का प्रयास किया जहाँ नैरोबी और जंजीबार जैसे स्थानों पर हिंदी पाठशालाएं खोली गई वहीं पंजाब जैसे उर्दू परस्त प्रदेश में हिंदी बोलने व लिखने में लोग गौरवान्वित महसूस करने लगे | मार्च 1883 में आर्य समाज लाहौर के मंत्री सरदार जवाहरसिंह के पत्र के उत्तर में स्वामी जी ने लिखा कि, **"तुमने इतनी बड़ी चिट्ठी आर्यभाषा में लिखी, यही हमने तुम्हारी शुद्धि जानी |"**

जैसा कि अभी पीछे हमने भारतेंदु हरिश्चंद्र की चर्चा हिंदी साहित्य के जनक के रूप में किया उसके अनुरूप उन्होंने अपने समय व साहित्य को गंभीर रूप से प्रभावित किया | उस वक्त के अनेक लेखक इनका अनुसरण करने के साथ ही इनके करीबी मित्र बन गए जिसे आगे चलकर भारतेन्दु मंडल के नाम से जाना गया | इनके द्वारा रचित कहानी, उपन्यास, नाटक, निबंध, आलोचना, कविता व पत्रकारिता में भारतेंदु और इस मंडल का भाषा-चिन्तन स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है | भारतेन्दु हरिश्चन्द्र में जहाँ एक ओर वर्तमान के प्रति गहनता बोध दिखाई देता है वहीं दूसरी तरफ भारत के गौरवपूर्ण इतिहास के प्रति अगाध आस्था व श्रद्धा भी स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ती है | वह संस्कृति, साहित्य, भाषा व समाज के मंगलपूर्ण कामना से युक्त हो 'निज भाषा' की वकालत करते थे | इस संदर्भ में उनका मानना था कि भाषा ही सांस्कृतिक व राष्ट्रीयता के अस्मिता की संवाहक है | इसीलिए उन्होंने 'निज भाषा' की वकालत करते हुए लिखा- 'निज भाषा उन्नति अहे सब भाषा को मूल |' भारतेंदु की 'निज भाषा' राजा शिवप्रसाद सितारेहिंद, राजा लक्ष्मण सिंह के भाषा विचार के मध्य की स्थिति है | क्योंकि भारतेन्दु को यह अनुभव था कि अन्य दोनों के भाषा रूप सामान्य जनता की भावाभिव्यक्ति के माध्यम नहीं थे | इसलिए एक सजग साहित्यकार की भांति भारतेंदु ने शिष्ट जन और नगर परिप्रेक्ष्य में प्रचलित बहुजन भाषा को उन्होंने साहित्यिक अभिव्यक्ति का उचित माध्यम माना और उसे ही उन्होंने 'निज भाषा' की संज्ञा दी |

भाषा चयन की अगली कड़ी के परिणामस्वरूप भाषा में शब्द प्रयोग को लेकर एक ऐसे प्रारूप की जरूरत थी जिसमें प्रचलित सभी भाषाओं के शब्द हों | हालांकि भारतेन्दु के समक्ष दो शैलियाँ थी पहला तद्भव-तत्सम रूपों से युक्त तथा दूसरा अरबी-फारसी मिश्रित शब्दावली से युक्त | भारतेन्दु ने शब्द प्रयोग संबंधी विवाद का उल्लेख अपने निबंध 'हिंदी भाषा' में करते हुए कहा है कि, **"भाषा का तीसरा अंग लिखने की भाषा है और इसमें बड़ा झगड़ा है, कोई कहता है कि उर्दू शब्द मिलने चाहिए, कोई कहता है कि संस्कृत शब्द होने चाहिए और अपनी-अपनी रुचि के अनुसार सब लिखते हैं और इसके हेतु कोई भाषा अभी नहीं हो सकती है |"** आगे उसी निबंध में उन्होंने कहा कि, **"मुझसे कोई अनुमति पूछे तो नंबर 2 और नं. 3 लिखने योग्य है | नंबर 2 में संस्कृत के थोड़े शब्द हैं तथा नं. 3 में संस्कृत शब्दों का लगभग बहिष्कार है | इसमें तद्भव तथा प्रचलित शब्दों को स्थान दिया गया है | इसमें नं. 3 को ही शुद्ध हिंदी की संज्ञा दी है |"** इतना ही नहीं उनकी 'हरिश्चंद्री हिंदी' में किसी प्रकार के शब्द प्रयोग को लेकर कोई आग्रह नहीं मिलता है | उन्होंने ऐसे गद्य का आदर्श रखा जिसमें सभी भाषाओं में प्रचलित शब्द प्रयुक्त हुए | उन्होंने भाषा में मध्यम मार्ग अपनाकर उसे कृत्रिम होने से बचा लिया | उन्होंने प्रसंग, नाटकीय पात्र और परिस्थिति के अनुरूप शब्दों का प्रयोग किया | लोकभाषा को महत्त्व देते हुए उन्होंने अपनी रचनाओं में प्रांतीय भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग किया | उनके निबंधों में भाषा में जहाँ आनंद, उत्साह, म्यूनिसिपलटी, लंकिलाट जैसे यूरोपीय और अंग्रेजी भाषाओं के शब्द भी मिलते हैं |

भारतेन्दु को अपनी भाषा नीति को परिभाषित या व्याख्यायित करने में अनेक अवरोधों और विरोधों का सामना करना पड़ा | उन्होंने जहाँ एक ओर 'निज भाषा' को अपनाने पर बल दिया दूसरी ओर विश्व की दूसरी भाषाओं के प्रति भी समुचित आदर भाव प्रदर्शित किया | इतना ही नहीं बल्कि अपने साहित्य में लोक-भाषा के शब्दों, मुहावरों और उसकी अभिव्यक्ति शैली को भी खुलकर अपनाया | भारतेंदु की यह सबसे बड़ी उपलब्धि रही है कि वह भाषा के संदर्भ में भारत की जातीय व सांप्रदायिक विविधता से उत्पन्न भाषा-संस्कृति या भाषागत भिन्नता को स्वाभाविक मानकर सबके प्रति आदर भाव प्रकट करते हैं | किसी भाषा विशेष के प्रति भारतेन्दु के मन में न तो अति दुराव था और न ही अतिशय लगाव | वे इन दोनों वादों के मध्य हैं | भारतेंदु की यह निश्चित मान्यता थी कि भाषा सर्वजन सुलभ होनी चाहिए | इस तरह वे भाषा को जनभाषा से पूरी तरह जोड़ना चाहते थे | इसके साथ ही साहित्य में प्रयुक्त होने वाली भाषा के क्षेत्रीय रूप से भी उन्हें परहेज ना था, यह बात उनके कथन से स्पष्ट है- **"इस हेतु ऐसे गीत बहुत छोटे-छोटे छंदों में और साधारण भाषा में**

बने वरंच गंवारी भाषा में और स्त्रियों की भाषा में विशेष हो- और सब देश की भाषाओं में इसी अनुत हो अर्थात पंजाब व पंजाबी, बुंदेलखंड में बुन्देलखण्डी, बिहार में बिहारी ऐसे जिनमें निज भाषा का साधारण प्रचार हो उसी भाषा में ये गीत बनें।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारंभ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र लोक भाषाओं को राष्ट्रीय चेतना का संवाहक मानकर और उनमें साहित्य रचना कर उन्हें समर्थ बनाने के पक्ष में थे। उन्हें लोक भाषाओं और स्त्रियों की बोलचाल में भी सार्वदेशिक महत्व के साहित्य-सर्जन की संभावना दिखाई देती थी। संभवतः इस मान्यता के मूल में उनका भाव यह है कि जातीय अस्मिता की पहचान के लिए जन भाषाओं का भी उपयोग होना चाहिए। बोलचाल की भाषा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का आधार बनाने के कारण ही युग का साहित्य जन समाज में ग्राह्य हो सका। उसमें जो व्यंग्य, परिहास, जीवन्तता, चुटकुलेबाजी और आकर्षण है वह उनके परवर्ती साहित्य में दुर्लभ है। भारतेन्दु आवश्यकतानुसार समाज में प्रचलित हर भाषा के शब्द को पचा लेने में लगे हुए थे। कहीं वे उन शब्दों का ध्वन्यात्मक रूपान्तरण करते थे और कहीं ज्यों का त्यों ले लेते थे। गद्य को कविता के निकट ले जाने का उनका प्रयास भी समाज के लिए आकर्षण का कारण था | भारतेन्दु को संस्कृत या उर्दू का विरोधी मानना भारी भूल है। वे इन दोनों के विरोधी तो नहीं ही थे बल्कि साहित्य-भाषा में इनके उचित ग्रहण के पक्षधर थे। इतना अवश्य है कि हिन्दी को संस्कृत या उर्दू नहीं बनाना चाहते थे। उनका किसी भाषा-विशेष से स्थिर विरोध नहीं था | परन्तु साथ ही खड़ी बोली हिन्दी को उसका उचित स्थान दिलाने के लिए उपयुक्त जमीन तैयार करने की आवश्यकता को वे महसूस करते थे। इस भाषा की जमीन तभी बन सकती थी जब संस्कृत, फारसी, अंग्रेजी और क्षेत्रीय बोलियों को एक सीमा तक पीछे हटा दिया जाय। भारतेन्दु का देश-प्रेम और भाषा-प्रेम एक व्यापक क्षेत्र में फैला हुआ था। वे ज्ञान-विज्ञान के समस्त भण्डार को 'निज भाषा' में लाने के लिए प्रयत्नशील थे।

1. प्रभाकर,विष्णु, भारतीय साहित्य के निर्माता:स्वामी दयानन्द सरस्वती, साहित्य अकादमी, दिल्ली, संस्करण:2005, पृष्ठ-74
2. गुप्त, डॉ.लक्ष्मीनारायण, हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्य समाज की देन, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ, संस्करण:1961, पृष्ठ-51
3. युधिष्ठिर, मीमांसक, सम्पादक, ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन भाग-2,पृष्ठ-672
4. शुक्ल, केशरी नारायण, भारतेन्दु के निबंध, सरस्वती मंदिर, बनारस, संस्करण:2008 वि.,पृष्ठ-64
5. उपर्युक्त, पृष्ठ- 64
6. दास, ब्रजरत्न, सम्पादक, भारतेन्दु ग्रंथावली, तीसरा भाग, नागरी प्रचारिणी सभा, 2010 वि.,पृष्ठ-935

****

प्रसाद की कहानियों में संदेश

मनोजकुमार सुभाष शर्मा
रूम नंबर : 1, 1st माहिमवाला
न्यू फिश मार्केट काजूपाड़ा,
बोरीवली (पूर्व), मुंबई : 400066
सम्पर्क नंबर : 9769068306 /
smanoj475@gmail.com

प्रस्तावना :

कथाकार 'जयशंकर प्रसाद' हिंदी साहित्य जगत के जाने-माने लेखकों अग्रणिय हैं। यद्पि वे जितने अच्छे लेखक है, उतने ही अच्छे कवि और नाटककार भी हैं। इसलिए उन्हें 'बहमुखि प्रतिभा' का धनी भी कहा जाता है। भगवान 'शंकर' उनके ईष्ट देव के रुप में माने जाते हैं। उनकी रचनाओं में अधिकतर ऐतिहासिकता के साथ-साथ पौराणिकता के तत्त्व विद्यमान रहते हैं। इस तरह लेखक ने हमेशा अपने रचनाओं के माध्यम से 'भारतीय इतिहास' और 'भारतीय मूल संस्कृति' को पाठकों से जोड़े रखा है। उन्होंने 'भारतीय इतिहास' और पुराण ने जीवित पात्रों को अपने रचनाओं में द्रष्टव्य कर ऐतिहासिक धरोहर को आधुनिक समाज में जीवित रखा है।

लेखक ने ऐतिहासिक पात्रों के माध्यम से जितना आदर्शवाद को प्रकट किया है, उतना ही जीवन की वास्तविकता को प्रकटकर मानवतावाद को भी जागृत किया है। स्नातनी होने के बावजूद भी कहीं-कहीं उनकी रचनाओं में धर्म के नाम पर व्यंग्य बाण चलाए गये हैं। नारी के प्रति प्रसाद जी बहुत ही उदार दृष्टिकोण रखते हैं। उनकी पंक्ति "नारी तुम केवल श्रद्धा को" नारी के उदारता एवं करुणा को अभुदय भाव को प्रकट करती हैं। कहानीकार 'प्रसाद' जी ने अपनी रचनाओं में नारी की प्रेम, त्याग, संघर्ष, बलिदान, स्नेह आदि को कल्पना के माध्यम से यथार्थ रूप देने का प्रयत्न किया है। स्त्री के इन सभी भावनाओं के कारण 'प्रसाद' जी ने उन्हें देवी की उपमा से भी अभिहित किया है। इनकी रचनाओं में सामाजिक स्वाधिनता, मानवाधिकार, व्यक्ति स्वातंत्र्य, देश प्रेम, ममता और मानव-गरिमा को सर्वोपरि रखा गया है।

रचनाकार प्रसाद की 'ममता' और 'चूड़ीवाली' कहानी की नायिका का संघर्ष एक सा है। दोनों कहानी में नायिका समाज द्वारा त्याग देने के बावजूद उसी समाज की सेवा करते हैं, जिस समाज ने उस ठुकराया हैं। यही वास्तविक और पुरानी स्नातनी परंपरा है। 'विराम-चिह्न' की नायिका 'बुढ़िया' जो कहानी के अंत में आते-आते एक संघर्षमय और विद्रोही पात्र के रूप में उभरकर आती है।

'दुखिया' कहानी की नायिका दुखिया किसी से भीख न माँगकर अपने बलपर अपना और अपने बुढे बाबा का भरण-पोषण करती हैं। उसका यह दृढ निर्णय उसके स्वाभिमान को दर्शाता है। प्रसाद की कहानी 'छोट-जादूगर' का नायक भी कुछ इसी तरह स्वाभिमानी है, जो अपनी कला और जादू का खेल दिखाकर अपनी बीमार माँ का भरण-पोषण करता है और उनके दवा का इंतेजाम स्वयं करता है। इस कहानी लेखक 'प्रसाद' जी ने बाल-मनोविज्ञान को रेखांकित किया है। अपितु बचपन से ही लेखक 'जयशंकर प्रसाद' का जीवन संघर्षमय रहा था। इसलिए परिणामत: कहानी का पाठ करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कहानी के सारे पात्र उनके जीवन से जुड़े जीवित पात्र है और कहानी की सारी घटना वास्तविक घटनाएँ हैं।

अस्तु कथाकार 'प्रसाद' जी की रचनाओं में भारतीय परिवेश, भारतीय संस्कृति के साथ-साथ प्रकृति का भी सुंदर वर्णन मिलता है। प्रसाद की कहानियों में प्रकृति, ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक, वर्ग व्यवस्था, स्त्री समस्या, मानवतावाद, आदर्शवाद, यथार्थवाद, जीवन की वास्तविकता, जीवन का संघर्ष आदि भाव-भंगिमा स्पष्ट रुप से नजर आते हैं।

रचनाकार 'जयशंकर प्रसाद' हिंदी साहित्य के जानेमाने रचनाकर हैं। जयशंकर प्रसाद हिंदी साहित्य में छायावाद के प्रवर्तक के रूप में उभरकर हमारे सामने आते हैं। इसलिए इन्हें 'छायावाद' का आधार स्तंभ माना जाता है। "इनकें गुरु 'रस्मय सिध्द' माने जाते हैं।"1 कथाकार 'जयशंकर प्रसाद' वैश्य परिवार से संबंध रखते हैं। "इनका परिवार वाराणसी का एक प्रतिष्ठित व्यापारी है। इनके दादा का नाम 'शिवरतन शाहू' था।"2 इनके दादा बहुत दयावान तथा दानवान थे। प्रसाद के पिता भी दयावान एवं एक सच्चे कला प्रेमी थे। इन्होंने हमेशा से कला और संस्कृत की सराहना की थी। ऐसा माना जाता है कि वाराणसी में इनका तंबाकू का व्यवसाय था। 'जयशंकर प्रसाद' का जन्म 30 जनवरी, 1889 ई. को उत्तर-प्रदेश के वाराणसी में हुआ था। जन्म से ही 'प्रसाद' बहुत बदनसीब थे क्योंकि इनके जन्म के उपरांत ही इनके पिता का देहवसान हो गया था। किशोरा अवस्था में आते-आते इनके भाई और इनकी माता इन्हें छोड़कर चले गये।

'प्रसाद' के जन्म के लिये इनके माता-पिता ने बहुत संघर्ष किया था। प्रसाद के जन्म के लिये उनके माता-पिता ने शिव की आराधना, उपासना, व्रत तथा पूजा-पाठ किये। संघर्षमय जीवन के कारण उनकी सामाजिक ज्ञान की चक्षु खुल गयी। इस तरह जीवन के कठिन समय एवं परिस्थितियों ने 'प्रसाद' को बहुमुखि बना दिया। रचनाकार 'प्रसाद' क्वींस स्कूल में कक्षा आठ तक अध्ययन किया, उसके उपरांत घर रहकर

स्वाध्याय से अंग्रेजी, फारसी, संस्कृत, उर्दू आदि बहुत-सी भाषाओं का ज्ञान अर्जन किया हिंदी साहित्य में छायावाद के प्रवर्तक जयशंकर प्रसाद 14 जनवरी, 1937 को वाराणसी में देह त्याग गये थे।

'जयशंकर प्रसाद' की रचनाएँ 'ऐतिहासिक, पौराणिक, सांस्कृतिक विषय पर अधिक होती हैं। उनकी ज्यादातर रचना भारतीय इतिहास से संबंधित है। हिंदी साहित्य में 'प्रसाद' को एक नाटककार के रूप में भी जाना जाता है। "'प्रसाद का पहला काव्य संग्रह 'कानन-कुसुम' है।"3 'प्रसाद' पर ब्रज भाषा का प्रभाव भी देखा गया है किन्तु धीरे-धीरे इन्होंने हिंदी के खड़ीबोली के क्षेत्र में अपना लेखन कार्य आगे बढाया। इनकी पहली कहानी ग्राम (1911) में 'इंदू' नामक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। 'बीति विभागरी, जागरी तथा अरुण-रे यह मधुमय देश हमारा' 'प्रसाद' की प्रसिद्ध रचनाएँ मानी जाती है। 'प्रसाद' के कुल 13 नाटक माने जाते हैं। 'जयशंकर प्रसाद' की कुल अनुमानत: '72-कहानियाँ', '13-नाटक', '3-उपन्यास' तथा बहुत से प्रसिद्ध 'काव्य-संग्रह' प्रकाशित हैं।

छाया (1912), प्रतिध्वनि (1926), आकाशदीप (1929), आँधी (1931), इंद्रजाल (1936), 'प्रतिध्वनि' इनकी लघुकथा संग्रह मानी जाती हैं। 'ग्राम', 'अपराधी', 'चूड़ीवाली', 'रमला', 'बिसाती', 'दासी', 'घीसू', 'नीरा', 'माधव', 'पुरस्कार', 'इंद्रजाल', 'विरामचिन्ह', 'आकाशदीप', 'स्वर्ग के खंडहर में', 'ममता', 'व्रत-भंग', 'गुंडा', 'आँधी', 'सुनहला सांप', 'दुखिया', 'शरणागत', 'पत्थर की पुकार' आदि कुल 72 कहानियाँ प्रकाशित हुई है। 'छाया' प्रसाद की प्रथम कहानी संग्रह मानी जाती है एवं 'ग्राम' प्रथम कहानी मानी जाती है।

कथाकार 'प्रसाद' की रचनाओं में नारी का जीता जागता संघर्ष तथा मनुष्य के भक्तिगत मूल्य स्पष्ट रूप से नजर आते हैं। इनकी रचनाओं में इतिहास और संस्कृत के मनोरथ कथा-उकेरे गये हैं। रचनाकार 'प्रसाद' की रचनाएँ पौराणिक होने के साथ-साथ ऐतिहासिक भी है। ऐतिहासिक होने के कारण इसमें आदर्शवादी यथार्थवाद स्पष्ट रूप से झलकता है। अत: रचनाओं में आये पात्र आदर्श पक्ष की प्रस्तुत के साथ -साथ यथार्थ पक्ष भी प्रकट करता है। इनकी की रचनाओं के अधिकांश पात्र संघर्षमय पात्र के रुप में उभरकर आते हैं। इनके सभी पात्र किसी न किसी तरह उनके जीवन से जुड़े हैं, ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी। कहानीकार 'प्रसाद' की कुल 72 कहानियाँ प्रकाशित मानी जाती हैं। प्रत्येक कहानी का अपना एक उद्देश्य तथा अपना एक संदेश हैं। कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक आधार पर लिखी गयी हैं, तो कुछ भावना के पक्ष को प्रकट करती नजर आती हैं तथा प्राचीन पंरपरावादी होने के बावजूद भी 'प्रसाद' जी की कहानियों में मानवतावाद नजर आता है। जहाँ कुकर्मी पात्रों में घृणा नहीं बल्कि क्षमा दान अर्थात् उदार भाव प्रकट किया गया है।

कहानीकार जयशंकर प्रसाद की पहली कहानी 'ग्राम' है। यह 1911 'इंदू' पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। यह कहानी वैसे तो बहुत ही साधारण है किंतु अंत में आते-आते यह एक विशेष मोड पर थम जाती हैं। इस कहानी का शीर्षक जितना सरल है उतना ही गहन मानवीय भाव इसमें निहित है। ग्राम नाम के साथ-साथ कहानी में चित्रित परिवेश ग्रामीण ही नजर आये हैं। इस कहानी को अगर सीधे-सीधे देखे तो इसका उद्देश्य एक शब्द में ही स्पष्ट हो जाता है, वह है ; मानवतावाद किंतु इसे अच्छे से विश्लेषित करने पर इसमें भाव पक्ष अधिक स्पष्ट रुप से नजर आता है। पूरी कहानी में स्पष्ट होता है कि लालचवस एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को काँट रहा है तथा उसके रक्त से अपने लालच के पिपासा को तृप्त करने की कोशिश कर रहा है। इस तरह मनुष्य की लालची प्रवृत्ति ही मनुष्य को मनुष्य का दुश्मन बना रही है। कहानी में एक पक्ष गरीबी का भी नजर आता है, जहाँ व्यक्ति मेहनत-मजदूरी करके अपने भरण-पोषण के लिए दो-वक्त की रोटी जूटाकर भी संपन्न है तथा दूसरी ओर लालच के चक्र में फँसकर अमीर वर्ग केवल असंतोष, अशांति से घिरा हुआ है।

कहानी की नायिका 'स्त्री' जिसे पति को उसके ही गाँव के 'कुंदनलाल' ने कुछ जमीन के लिए ठग लिया था। परिणामस्वरुप उस दुर्घटना की वजह से 'स्त्री' के पति को 'हृदयघात' हो जाता है। कहानी की उपयुक्त पंक्ति "फिर हमारे पति के हृदय में, उस इलाके के इस भाँति निकल जाने के कारण, बहुत चोट पहुँची और इसी से उनकी मृत्यु हो गई।"4 यह कथन पात्र 'पत्नी' ने 'युवक' से कहते हुए अपना संपूर्ण दुख प्रकट कर दिया।

कहानी में एक जमींदार ऐसा भी चित्रित हुआ है, जिसने अपनी कुछ जमीन रहने-खाने के लिए 'स्त्री' को दे दी है। उसके प्रति कृतार्थ भाव को प्रकट करते हुए कहानी की पात्र 'पत्नी' कहती है कि "यहाँ के जमींदार बहुत धर्मात्मा है, उन्होंने कुछ समान्य 'कर' पर यह भूमि दी है, इसी से अब हमारी जीविका है।"5 उपयुक्त कहानी में यह संदेश मिलता है कि व्यक्ति के कर्तव्य कभी-भी उसका साथ नहीं छोड़ते हैं। वे अतीत के साये की तरह हमेशा व्यक्ति का पीछा करते रहते हैं। अगर कर्तव्य अच्छा अर्थात् भावनापक्ष के साथ-साथ मानवतावाद से जुड़ा हुआ हो तो सब उचित है वरन व्यक्ति के चरित्र पर अपयश लगते देर नहीं लगती है। जगत के इस संपूर्ण यथार्थ को झूठलाया भी नहीं जा सकता। अत: व्यक्ति का कर्तव्य जिस प्रकार उसे कीर्तिमान बनाता है उसी प्रकार उसे विध्वंस भी करता है। 'ग्राम' कहानी का 'कुंदनलाल' भी कुछ इसी तरह का व्यक्ति है, जिसके कर्तव्य के कारण उसके बेटे 'मोहनलाल' को अंत में खुद पर ही शर्मिंदा होना पड़ा है।

कथाकार जयशंकर प्रसाद की 'ममता' कहानी हिंदू संस्कृत पर करारा व्यंग्य करती दृष्टव्य हुई है। इस कहानी में मानवतावाद का प्रकटीकरण हुआ है। कहानी में ममता ही कहानी की नायिका है, जो

संपूर्ण कहानी में एक सबल, सक्षम और स्वाभिमानी स्त्री के रुप में दृष्टव्यमान हुई हैं। रचनाकार प्रसाद की 'ममता' कहानी के शुरु से अंत तक ममता के चरित्र को एक आदर्श के रुप में भी प्रस्तुत किया है। कहानी में अंत में ममता लोगों की सेवा में ही अपना संपूर्ण जीवन अर्पण कर देती है किंतु हूमायूँ राजा के सामने उसकी छवि नष्ट हो जाती है। राजा हूमायूँ जो केवल कुछ क्षण के लिये ममता के निवास स्थान पर विश्राम किए थे ; वहाँ उनका मंदिर बनवा दिया जाता है। इस तरह ममता की मानवतावादी छवि को आहत किया जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि मनुष्य वास्तविकता पर नहीं बल्कि दिखावे पर जीता है। दिखावापन के आधार पर ही ये दुनिया चल रही है, ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी।

ममता एक स्त्री है और स्त्री होने के कारण उसमें अधिक मात्रा में भावना का प्रसार होता है। किंतु हूमायूँ राजा के सामने उसकी भावना धूंधली पड़ जाती है। इसी प्रकार उच्च वर्ग का हर व्यक्ति गरीब और बेसहाय लोगों के संपत्ति के साथ-साथ उसके नाम पर भी अपना अधिपत्य जमाने लगा है। फलस्वरुप जिस प्रकार सदियों से पुरुष स्त्रियों के अधिकारों को हनन कर उस पर अपना अधिकार जमा रहा है। उसी प्रकार हूमायूँ राजा द्वारा भी ममता के अधिकारों का हनन किया गया। इस कहानी में कथाकार प्रसाद जी ने कहानी की नायिका 'ममता' द्वारा त्याग, मानवतावाद तथा अतिथि संस्कार जैसे संस्कारों को प्रकट किया है। ये सभी संस्कार मूल रूप से सनातन धर्म में विद्यान है। अत: इस कहानी के माध्यम से लेखक ने सनातन धर्म के संस्कारों को प्रकाशवान किया है।

राजा हूमायूँ ने ममता का सारा राज्य जीत कर उसे गरीब बना दिया था किंतु ममता अतीत को भूलाकर भी उसकी मदद करती हैं। सनातन धर्म के अनुसार घर की चौखट पर आया हर व्यक्ति हमारा अतिथि होता है और अतिथि देव तुल्य माना जाता है। कहानी में वर्णित है कि "जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण कुमारी हूँ। सब अपना धर्म छोड़ दे, तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ ?"6 इस पंक्ति के माद्यम से लेखक ने स्त्री के उच्च सहृदयता के रूप को अभिहित किया है।

प्रसाद की कहानी 'विराम् चिन्ह' बहुत सरल और स्पष्ट है। अत: इस कहानी घूमाव नहीं है। इस कहानी का नायक जाति गत व्यवस्था का प्रतिकार करता हुआ हुआ मृत्यु की शैया तक पहुँच जाता है। कहानी के शुरु- शुरु में कहानी की नायिका बुढ़िया भगवान के प्रकोप से डरती है इसलिए वह मंदिर में प्रवेश करने से डरती है किंतु अपने बेटे राधे के मृत्यु के उपंरात वह मंदिर में प्रकोप के डर के भय से स्वत्रंत होकर मंदिर में प्रवेश करती हैं। हिंदू धर्म में सवर्णों वर्ण का मानना है ईश्वर कण-कण में निवास करते हैं, वहीं उसी धर्म और उसी वर्ण के लोग निम्न जाति के लोगों का मंदिर में प्रवेश वर्जित किये हुए है। अत: कहानी की नायिका बुढिया जिस मंदिर के सामने प्रसाद बेचा करती थी। उसी मंदिर में प्रतिष्ठित मूर्ति के दर्शन करना बुढिया के लिए दुर्लभ थे। किंतु फिर भी उस बुढ़िया को मंदिर में प्रविष्ठ ईश्वर पर भरोसा था। इस कहानी में प्रसाद जी कहना चाहते हैं कि आज भी समाज में जातिगत व्यवस्था मनुष्य को जकड़ी हुई है। मनुष्य साक्षर तो हो गया किंतु शिक्षित नहीं हुआ है। उसके मन में आज भी जाति व्यवस्था को लेकर एक अमिट छवि बनी हुई है। इस प्रकार ये धर्म के ठेकेदारों ने दो मुहाँ बात कर संपूर्ण समाज को खंडित कर रखा है।

छोटा जादूगर बालक की करूण कहानी कही जाती है। इस कहानी में बाल-मनोविज्ञान का चित्रांकन किया गया है। कहानी में माँ के प्रति बालक का अतिविष्मर्णिय प्रेम प्रकट हुआ है ; जहाँ बालक अपनी माँ के लिये ईलाज और भोजन की व्यवस्था के लिये जादू का खेल दिखाता है। अत: नायक छोटा जादूगर परिस्थियों के कारण बहुत जल्दी परिपक्व हो गया है। वह जितना ईमानदार है उतना ही कर्तव्यनिष्ठ एवं स्वावलंबी भी है। फलस्वरूप कभी-कभी लेखक भी उसकी मनोस्थिति को भापने में नाकामयाब हो जाते हैं। उसमें नायक छोटा जादूगर का दोष नहीं है। अपितु परिस्थित के मजबूरी के कारण उसे अपनी माँ को रुग्ण अवस्था में छोड़कर जादू दिखाने जाना पड़ता है क्योंकि उसी जादूगर के कारण ही वह अपनी माँ के लिये दवा एवं दारू व्यवस्था कर पाता है किंतु कहानी के अंत में छोटे जादूगर की माँ उसे छोड़ कर चली जाती है अर्थात् उसका देहांत हो जाता है। इस कहानी के माध्यम से लेखक यह संदेश देना चाहते हैं कि व्यक्ति का जीवन संघर्षमय है तथा कोई भी उसके अंतिम साँस तक उसके साथ नहीं रह सकता है। अंत इस जीवन को व्यक्ति को कभी न कभी त्यागना पड़ता है। फलस्वरूप परिस्थिति के कारण ही व्यक्ति के जीवन मे नये-नये मोड़ आते हैं। यह कहानी मैं शैली में लिखा गया है।

इस कहानी में प्रसाद जी ने नायक घीसू के माद्यम से भारतीय परिवेश और संस्कृति पर व्यंग्यात्मक प्रहार किया है। कहानी की नायक घीसू तो बेसहाय और अकेला है। इस पुरी दुनिया में उसका कोई नहीं ; उसके पास है तो केवल एक सौ रूपये हैं और उन्ही रूपये के दम पर वह अपनी जीविका चलाता है। अकेले होने के कारण वह किसी के बारे में नहीं सोचा वह केवल व केवल अपना जीवन निंवाह कर करने के बारे में सोचता है। कहानी की नायिका बिंदो को तकलीफ में देखकर वह उसे सहारा देता है। सड़क पर बिजली के उजालें में बिंदो को रोते हुऐ देख कर घीसू का दम घुटने लगा। अत: वह अकेली महिला बिंदो अपने साथ ले जाकर उसे सहारा देता है। किंतु वह पूर्ण मन से उसकी सहायता नहीं करता। कहानी के अंत में घीसू को इस बात का पछतावा भी होता है कि वह

बिंदा की मदत ठीक तरिके से न कर सका । परिणामस्वरुप वह अपनी संपूर्ण जमा राशि बिंदा को देकर उससे दूर चला जाता है । कहानी में मानववाद को प्रकट किया गया है । कहानी की अंत में लेखक प्रसाद जी यह संदेश देना चाहते हैं कि व्यक्ति बड़ा हो या छोटा अंत में उसे मिट्टी में ही मिल जाना पड़ता है । मनुष्य का तन नश्वर है । गरीब हो या अमीर छोटा हो या बड़ा वह अपने पेट भरने के लिये अर्थात् अपने इस तन को बचाने के लिए अथक प्रयत्न करता है, जो मनुष्य की स्वाभाविकता के अंर्तगत माना जाता है । एक वेश्या भी अपने तन को जलाने के लिये अपने तन को बेचती है । दुनिया की यह बहुत ही अनोखी विडंबना है । अत: जीवन के ऐसे वास्तविक पहलू है, जिसे चाहकर भी हम नकार नहीं सकते ।

मधुवा कहानी एक शराबी की कहानी है । इस कहानी में शराबी अपने कर्तव्यों की जिम्मेदारियों से परे अपने आप में ही जीता है । इस दुनिया मे उसे किसी से लेना देना नहीं है । वह केवल अपने शराब के लिए जीता है । सांसारिक मोह माया से परे उसका जीवन सरल और सुखमय था किंतु जब मधुवा ने उसके जीवन में प्रवेश किया तो उसके जीवन में और उसके जिम्मेदारियों में काया पट हो गयी । अत: अब उसे अपने साथ-साथ मधुवा के बारे में भी सोचना पड़ता है । कहानी की शुरूवात दौर में शराबी अपने पेट की भुख मिटाने के बदले अपने तलब को मिटाने की प्रयत्न करता है । किंतु इस कहानी का शराबी बहुत ही सहज एवं उदार हृदयवाला होता है । कहानी में कुवर साहब ने जब मधुवा को मार कर घर से निकाल दिया । तब उसे शराबी ने ही सहारा दिया । कहानी के अंत में मधुवा के भरण-पोषण और लालन-पालन के लिये शराबी ने शराब छोडने का प्रण लिया । इस कहानी में जीवन की सार्थकता को प्रकट किया गया है । अत: मधुवा को मार्ग बना कर शराबी को जीवन का एक नया मार्ग दिखाया है । जहाँ शराबी सांसारिक बंधन में रहकर कर्तव्य करता हुआ दिखायी देता है । कहानी में नायिका विलासिनी के द्वारा लेखक प्रसाद जी ने स्त्री जीवन की करूणा-गाथा, स्त्री जीवन का संघर्ष, स्त्री जीवन का त्याग और बलिदान तथा साथ ही साथ स्त्री जीवन की सेवा से जुड़े तथ्यों को हमारे सम्मुख प्रकट किया है । कहानी में चूड़ीवाली एक वेश्या की कन्या के रूप मे दिखायी गयी हैं । इसी कारण लोग उसका परित्याग करते हैं । उससे दूर रहते हैं साथ ही साथ उसके साथ जीवन बिताने से भी कतराते हैं किंतु उसी स्थान पर वे लोग उस स्त्री का भोग करने की लालसा मन मे अवश्य रखते हैं । चूड़ीवाली विलासिनी अपने प्रेम की लालसा को त्याग कर समाजसेवी के रूप मे उभरकर आती है ।

पूरी कथा में वह व्यक्ति व्यक्ति में भेद न कर सभी पथिकों की सेवा करती हुई नजर आती हैं । नायिका विलासिनी ने अनाथ बालक को शरण देकर उन्हें सहयोग किया । उसने वन वृक्ष के नीचे एक अनाथ बालक नंदु को चना और गुड़ की दुकान खुलवाकर उसके भरण-पोषण का इंतजाम करवा दिया । इस प्रकार चूड़ीवाली दूसरों की मदद करती नजर आती है । इस कहानी में लेखक संदेश देना चाहता है कि प्रेम से बड़ा कर्तव्य होता है और अच्छे कर्मों का परिणाम अच्छा ही होता है । अंततः लेखक का मत है कि स्नेह पाकर केवल मनुष्य अपने आप तक न सीमित रख अगर औरों से स्नेह करे तो वह पूर्णतः स्नेह तृप्त हो जाएगा । इस प्रकार पूरे विश्व में स्नेह का प्रसार होगा ।

निष्कर्षत: कहानी में साहित्यकार जयशंकर प्रसाद के सभी कहानियों में भिन्न-भिन्न संदेश निहित है । किंतु अगर सूक्ष्म रूप से देखा जाये तो सभी कहानियों में मानवतावाद, देश प्रेम, त्याग, स्नेह आदि मुख्य रूप से विद्यान है । कहानी में अधिकतर पात्र संघर्षमय और दयावान के साथ-साथ कर्तव्यनिष्ठ के रूप में प्रकट हुए है । लेखक ने अपनी कहानियों के माध्यम से मानव-गरिमा और सामाजिक स्वाधीनता को स्पष्ट रूप से हमारे सामने प्रस्तुत किया है ।

संदर्भ सूची :

1. http//:youtube/bzI7xqm84 को देखा गया|
2. http//:youtube/bzI7xqm84 को देखा गया|
3. http//:youtube/bzI7xqm84 को देखा गया|
4. जयशंकर प्रसाद ; प्रतिनिधि कहानियाँ ; राजकमल प्रकाशन, पृ. 11
5. जयशंकर प्रसाद ; प्रतिनिधि कहानियाँ ; राजकमल प्रकाशन, पृ. 11

वही से|

****

बनारस की लोक-सांस्कृतिक विरासत: नाग-नथैया लोक-नाट्य

-प्रियंका राजेन्द्रप्रसाद चौहान
सहायक प्राध्यापक
पाटकर वर्दे महाविद्यालय (स्वायत्त)
गोरेगाँव (पश्चिम) मुंबई, महाराष्ट्र 400061
मो. न. 9594464143

सारांश : भारत पूरे विश्व में अपनी लोक-संस्कृति और सभ्यता के लिए प्रसिद्ध है | भारत की लोक-संस्कृति की बात जब भी आती है, तो विशेषरूप से 'बनारस' शहर का नाम लिया जाता है | बनारस शहर जो गंगा नदी के किनारे बसा है| हर घाट पर विविध देवी-देवताओं के मंदिर प्रतिष्ठित किये गये हैं | विशेषरूप से इसे 'शिव की नगरी' कहा जाता है | यहाँ की विविध संस्कृति में एकता के स्वर गूंजती हैं| यहाँ की संस्कृति को समझना हो तो, यहाँ की लोक-कलाओं तथा लोक-साहित्य में झाँकना होगा, जो यहाँ के इतिहास को बयाँ करती है | यहाँ की प्रसिद्ध पारम्परिक लोक-कलाओं में लोकनाट्य 'नाग-नथैया' है, जो लोग चार सौ साल से मनाते आ रहे हैं | इसे तुलसीदास ने अपने जीवन काल में ही प्रस्थापित किया था | इस नाट्य के माध्यम से बनारस की भाषा तथा समन्वयवादी संस्कृति प्रस्थापित होती है | जहाँ एक तरफ शिव के डमरू के नाद से पूरा घाट गूंज उठता है तो दूसरी तरफ कालिया मर्दन की लीला का अद्भुत दृश्य इस लोकनाट्य के माध्यम से दिखाई देता है, जो इसके माध्यम से शिव दर्शन और विष्णु दर्शन में समन्वय दृष्टिकोण को प्रस्थापित करता है| नाग-नथैया लोकनाट्य विष्णु के अवतार कृष्ण की बाल-लीला पर जलधारा में मंचित किया जाता है, जो पूरे भारत में अपनी शैली और शिल्प के लिए विख्यात है | वर्तमान समय में इस लोकनाट्य का महत्त्व क्या है/ और किस प्रकार वह दो संस्कृतियों को जोड़ने का माध्यम बना है /तथा इसका स्वरूप एवं अस्तित्व क्या है? इन सभी मुद्दों को उजागर करना मेरा उद्देश्य है |

बीज शब्द : बनारस, लोक संस्कृति, लोकनाट्य, घाट, रंगमंच, साज-सज्जा, मेला, पर्व, परम्परा, नाग-नथैया

"सुनहरी धूप है बनारस, गंगा की आरती है, बनारस
शिव का डमरू है, बनारस, नदियों का संगीत है, बनारस
इसकी हवाओं में मंत्र है, इसकी नदियों में शंख है
त्रिवेणी का संगम है |
संस्कृति में एक विरासत है, बनारस ।"

बनारस की आबों हवाओं में वहाँ की संस्कृति महकती है | जन्म भले मनुष्यों का कहीं भी हुआ है लेकिन मरने की इच्छा सभी बनारस में ही करते हैं | बनारस शहर की विशेषता को बयां करती केदारनाथ सिंह की यह पंक्तियाँ "यह आधा जल में है, आधा मंत्र में, आधा फूल में, आधा शव में, आधा नींद में है, आधा शंख में है, अगर ध्यान से देखो तो यह आधा है और आधा नहीं है |" [1] भारत के प्रत्येक राज्य की अपनी अलग परम्परा, बोली, भाषा, कथाएँ, संस्कार, रीति-रिवाज है | इतनी विविधता होने के बावजूद भी भारत के लोगों की एकता की मिसाल पूरे विश्व में विख्यात है| भारत के समृद्ध राज्यों में से एक उत्तर-प्रदेश, जिसे बहुसांस्कृतिक प्रदेश भी कहा जाता है | यहाँ की संस्कृति अपने आप में एक विरासत है | उत्तर-प्रदेश का 'बनारस' जिला उस प्रदेश का प्राण है, ऐसा कहे तो यह असंगत न होगा | उत्तर-प्रदेश राज्य गंगा नदी के किनारे पश्चिमी भाग में स्थित है | "वाराणसी नगरी उत्तर-प्रदेश में गंगा नदी के बाएँ किनारे पर अक्षांश 25 डिगरी 18 डिगरी उत्तर और देशांतर 83 डिगरी 1 डिगरी पूर्व में स्थित है | इस नगरी की आकृति अर्ध-चंद्रकार है | नगर की रचना एवं ऊँचे कंकरीले करारे पर, जो गंगा के उत्तरी किनारे 5 किलोमीटर फैला है, होने से गंगा नदी की बाढ़ से कोई भय नहीं है |"[2] इस शहर का नाम वरणावती' नदी के नाम पर रखा गया है, जिसका सर्वप्रथम उल्लेख "'अथर्ववेद' में वरणावती' नदी का नाम आया है , जिसके आधार पर इस स्थल का नाम वाराणसी पड़ा |"[3] बनारस (वाराणसी) भारतीय उपमहाद्वीप के प्रमुख नगरों में से एक है और यह पवित्र शहर माना जाता है। बनारस एक प्राचीन शहर है, जो अपनी समृद्धि, सांस्कृतिक विरासत, भारतीय संस्कृति, धर्म, और ज्ञान-विज्ञान का केंद्र भी माना जाता है। यह शहर शिव के एक प्रमुख मंदिर 'काशी विश्वनाथ मंदिर' के लिए प्रसिद्ध है इसलिए इसे "शिव की नगरी" और "सर्वेश्वर" भी कहा जाता है, गंगा नदी के किनारे स्थित होने के कारण यह हिन्दू धर्म का पवित्र स्थल भी माना जाता है | यहाँ कई घाट हैं, जो धार्मिक क्रिया-कलाप, संस्कृति और सामाजिक गतिविधियों के लिए बहुत प्रसिद्द हैं, "वरदराज की "गीर्वाण पद मंजरी" में पच्चीस घाटों का वर्णन है" और "प्रिंसेप १८८२ के मानचित्र के अनुसार गंगाजी पर सत्तावन घाट थे वही वैक्स १८६८ के मानचित्र के आधार पर छप्पन घाट थे | आज गंगा जी पर नवासी घाट है"[4] जिसमें से अस्सी घाट, तुलसी घाट, मनिकर्णिका घाट, और दशाश्वमेध घाट प्रसिद्ध है। साहित्यों में भी बनारस का वर्णन प्रायः साहित्यकारों ने किया हैं, जिसमें से काशीनाथ द्वारा लिखित 'काशी का अस्सी' रचना है, जिसमें लेखक ने वहाँ के लोक-जीवन को दर्शाने का सार्थक प्रयास किया है | वे बनारस के बारे में कहते है "जो मजा बनारस में; न पेरिस में, न फारस में"[5] अतः कह सकते है कि बनारस की संस्कृति ही अद्भुद है, जो यहाँ आता है, मानों यहीं का हो जाता है |

मनुष्य का जन्म जब से हुआ, उसने अपनी सभ्यता और संस्कारों से ही समाज का विकास किया हैं | मनुष्य अपनी लोक-कलाओं के माध्यम से सांस्कृतिक परंपराओं, जीवनशैली, और स्थानीय परिवर्तनों को

दर्शाते आया हैं। लोक-कला अक्सर गाँवों और छोटे शहरों में देखने के लिए मिलती हैं और इसमें स्थानीय भाषा, संगीत, नृत्य, और शिल्पकला में विविधता होती हैं। लोक-कलाओं में लोकनाट्य अपनी संस्कृति को संजोने का काम करती हैं और अपने विरासत को दर-पीढ़ी-दर प्रेषित करती हैं | बनारस को कला का केंद्र भी कहा जाता है | लोक-कलाओं में से यहाँ का प्रसिद्द लोकनाट्य नाग-नथैया अपने आप में अद्भुत है, जो की एक प्राचीन परम्परा है | नाग-नथैया कृष्ण की 64 लीलाओं में से एक लीला है, जिसपर बनारस में लोक-नाट्य के रूप में तुलसी घाट पर पारम्परिक रूप से खेला जाता है |

(चित्र 1. बनारस में प्रदर्शित २०२१ में नाग नथैया नाट्य तुलसीघाट)

बनारस की संस्कृति में घाट का विशेष महत्व है, | तुलसी घाट, मेलों का प्रमुख स्थान रहा है । बनारस में अनेक मेले समय-समय पर लगाये जाते हैं, इन मेलों के उद्गम के विषय में साहित्यकार 'वेदप्रकाश सोनी' लिखते है "ये प्रायः धर्म जन-समारोहों से संबंधित हैं तथा इसका उद्गम ऐसे धार्मिक कृत्यों से है अथवा रहा हो जो किसी पवित्र स्थान यथा नदी तट या पवित्र तड़ाग आदि पर किए जाते थे।"[6] अतः मेलों में लोक-नाट्य का प्रदर्शन कर लोक-संस्कृति और परम्पराओं को जन तक पहुँचाने का माध्यम बनाते थे। जिसमें से मुख्य रूप से यह मेले प्रसिद्ध है "नवरात्रि मेला (दुर्गाकुंड पर लगता है), गनगौर मेला मंदिरों पर जो राजस्थान के वासियों द्वारा लगाया जाता है, रामनवमी (रामघाट), नरसिंह चौदस मेला जो गणेश मोहल्ला में लगता है, गंगा दशहरा मेला गंगा के तट पर, रथयात्रा मेला अस्सी घाट, नागपंचमी मेला नाग कुआं पर, लक्खा मेला तुलसीघाट पर जिसे नाग-नथैया मेला भी कहा जाता है।"[7] इस प्रकार बनारस में अनेक पारम्परिक मेले लगाए जाते हैं | इसे देखने के लिए लाखों की भीड़ में जन उपस्थित होते हैं | नृत्य, गायन, गीत, नाट्य के माध्यम से वहाँ की संस्कृति को प्रदर्शित किया जाता है |

नाग-नथैया एक धार्मिक पारम्परिक लोक-नाट्य है, तुलसी घाट पर जिसे बड़े ही श्रद्धा पूर्वक लोग प्रदर्शित करते हैं | यह कृष्ण की बाललीला पर आधारित लोकनाट्य खेला जाता है | वैसे तो यह शिव की नगरी कहा जाता है, जहाँ शिव दर्शन अधिक रूप से देखने मिलता है | इस नगरी में शैव दर्शन के साथ- साथ विष्णु के अवतार कहे जानेवाले कृष्ण के अनुयायी भी मिलते हैं | विष्णु और शैव दर्शन के समन्वय का श्रेय तुलसी दास जी को जाता है | यही पर उन्होंने कृष्णगीतावली और रामचरितमानस की रचना की थी, जिसके संदर्भ में कहा जाता है "अस्सी घाट के आगे चलने पर तुलसी घाट आता है इसका पुराना नाम बाजीराव घाट है। इसी स्थान पर तुलसीदास जी ने "रामचरित मानस के कुछ अंश की रचना की थी । गोस्वामी तुलसी दास की प्रतिमा यहाँ स्थापित है"[8] इस स्थल पर तुलसीदास जी का मंदिर भी स्थापित किया गया है और यही पर इन्होंने रामचरितमानस रचना लिख कर पूर्ण की थी और इन्हीं के हाथों हनुमान जी की प्रतिमा स्थापित की गई थी | इसके संदर्भ में आकाशवाणी के पूर्व संवाददाता 'रामसुंदर शुक्ल' भी कहते है कि "यहाँ पर गंगा के किनारे अस्सी घाट है जहाँ रहकर तुलसीदास ने अपने अमर महाकाव्य रामचरित मानस को पूरा किया | जिस स्थान पर तुलसीदास रहते थे वहां पर उन्होंने अपने हाथों से हनुमान जी की एक मूर्ति स्थपित की थी जिसकी पूजा अर्चना के साथ उनकी दिनचर्या शुरू होती थी | इसी भवन को अब तुलसी मंदिर कहा जाता है |"[9] इस प्रकार तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' को लिखकर राम को घर-घर पहुँचाया, जिससे राम का चरित्र महान हो गया, दूसरी तरफ कृष्णगीतावली लिखकर कृष्ण के प्रति भी अटूट श्रद्धा का भाव प्रकट किया और उनकी लीलाओं को लोगों तक पहुँचाया है |

(चित्र 2 : कृष्ण और बलराम के रूप में बच्चों का चयन)

नाग-नथैया लोकनाट्य परम्परा को 450 ई, सन् से प्रारंभ किया गया था और इसी रूप में आज भी उसी प्रकार प्रस्तुत किया जाता है | "इसकी परम्परा तुलसीदास जी ने अपने जीवन काल में ही आज से करीब चार सौ साल पहले आरम्भ की थी यहाँ अब से वैसे ही उल्लासपूर्वक हर साल प्रस्तुत की जाती है |"[10] अतः इस लोक-नाट्य में भगवान कृष्ण के जन्म कथा से लेकर कंस वध कथा तक की सभी बाल लीलाओं का मंचन किया जाता है। इस नाट्य को प्रदर्शन करने के लिए एक महीने पहले हीं कृष्ण, बलराम तथा राधिका का चयन किया जाता है| यह लीला "कार्तिक अष्टमी को मुकुट पूजा के साथ आरम्भ होती है और करीब तीन सप्ताह तक चलते रहने के बाद कंस-वध और उग्रसेन राज्यभिषेक के साथ इसका समापन होता है"।[11] अतः इस लोकनाट्य का प्रारंभ कार्तिक महीने में कृष्ण जन्मोत्सव से आरम्भ होता है | तुलसी दास की स्तुति की जाती है | हनुमान चालीसा पाठ के साथ रामचरितमानस तथा कृष्ण गीतावली का पाठ किया जाता है इस प्रकार एक धार्मिक समन्वय का रूप दिखाई देता है | संकट मोचन मंदिर के महंत प्रो 'विश्वंभरनाथ मिश्रा' का कहना है कि "तुलसीदास ने इस लीला में सभी धर्मों के भेदभाव को मिटा दिया है। सभी कलाकार अस्सी भेदनी के ही होते हैं। सबसे प्रमुख दीपावली के चार दिन

बाद होने वाली नाग-नथैया अपने आप में अनोखी लीला है।"[12] इस प्रकार सभी धर्मों में भेद-भाव को मिटाकर एकता का रूप इस लीला में दिखाई देता है | कृष्ण लीला में सर्वाधिक आकर्षण कालियामर्दन लीला होता है, जिसे वहाँ के लोग नाग-नथैया लीला कहते हैं | लाखों की भीड़ उमड़ने के कारण इसे 'लक्खा' मेला भी कहा जाता है |

काशी में मुख्य रूप से चार मेले प्रसिद्ध है, नाग-नथैया उसमें से मुख्य लीला है | "काशी के 'चार लक्खा मेला' प्रसिद्ध हैं। इसमें रथयात्रा का मेला, 'नाटी इमली का भरत मिलाप', 'चेतगंज की नक्कटैया' और 'तुलसी घाट की नाग-नथैया' शामिल है। एक लाख से अधिक भीड़ आने के चलते इन्हें लक्खा मेला कहा जाता है।"[13]

(चित्र 3 में तुलसी घाट पर उमड़ती लाखों की भीड़ (लक्खा मेला))

नाट्य का आरम्भ तुलसीदास जी की स्तुति के साथ हनुमान चालीसा पाठ, रामचरितमानस तथा कृष्ण गीतावली के पाठ से होता है | वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य अद्भुत दिखाई देता है | जहाँ विविध लोक-नाट्य अंकिया, दशावतार, रामलीला, रासलीला आदि को जनपथ, अखाड़ा, मंदिर के प्रांगणों में तथा चौपालों पर मंचन किया जाता हैं, वहीं दूसरी तरफ इस नाट्य को पूरी तरह यथार्थ रूप से दिखाने के लिए इसे गंगा नदी की 'जलधारा' में मंचित किया जाता है | उस दिन गंगा नदी को यमुना नदी के प्रतीक के रूप में मान लिया जाता है, वहाँ के मनोरम दृश्य का वर्णन करते हुए "कालियादमन देखने के लिए दोपहर से ही दर्शकों का आना आरम्भ हो जाता है हांलाकि लीला अपराह्न तीन बजे आरम्भ होती है | तुलसीदास घाट, अस्सी घाट, रीवा घाट, मदैनी पंपिंग स्टेशन के आस पास तथा लीला स्थल के समीप सैकड़ों नावों और बजरों पर दर्शक जमा होते हैं |"[14] इस प्रकार नागनथैया लोकनाट्य में पौराणिक कथा का रोमांचकारी अभिनय होता है।

(चित्र 4 : कदम के पेड़ पर चढ़ कर नदी में जाना)

नाग-नथैया नाट्य कालियामर्दन की लीला पर आधारित होता है जो इस प्रकार है "ब्रज में गोकुल के पास यमुना नदी में कालियादमन नाम के कुंड में भयंकर विष वाला कालियानाग रहता था उसके आतंक के मारे ब्रजवासियों का स्नान और गउओं का पानी पीना दूभर था | जनता का कष्ट दूर करने के लिए कृष्ण इस आततायी नाग को मारना चाहते थे | यमुना तट पर सखाओं के साथ गेंद खेलते हुए एक बार कृष्ण ने जानबूझ कर गेंद कालियादह में फेंक दी | साथियों ने उनसे गेंद मांगी, तो वह कदंब के एक वृक्ष से यमुना में कुंद पासे और कालियानाग को पराजित कर उसे नाथ दिया नाग की प्रार्थना और किसी को कष्ट न देने की कसम खाने पर भगवान् कृष्ण ने उसे जीवनदान दिया और और कहीं अलग जाकर रहने का आदेश दिया |"[15] अतः नाग-नथैया इसी पौराणिक कथा के आधार पर खेला जाता है और तुलसी घाट के गंगा नदी को यमुना नदी का प्रतीक मान लिया जाता है | उसी नदी में एक कदंब के वृक्ष की डाली को मजबूती से नदी के किनारे लटका दिया जाता है जिसके ऊपर से चढ़ कर कृष्ण नदीं में प्रवेश करते है | नदी में प्रवेश करने के बाद वाद्य में शिव की डमरू के नाद का स्वर चारों तरफ सुनाई देने लगता है|, जिसके सन्दर्भ में राम सुन्दर शुक्ल कहते हैं "पुसाल के बनाए गए बहुत बड़े नाग को कदम्ब वृक्ष के पास नदी के अंदर रस्सी से बांध दिया जाता है। बालक कृष्ण कदम्ब के वृक्ष से, सीधे खड़े हुए जैसे ही पानी में कूदते हैं, वह सीधे निकलने के बजाय पास के मंदिरनुमा कपड़े की चोट में उतरते हैं जहाँ तैरता हुआ एक मल्लाह उन्हें सहारा देता है।"[16] अतः इस लोकनाट्य को मंचित करने के लिए कदंब के वृक्ष की डाली को ही पारंपरिक रूप से प्रयोग किया जाता है | नदी में प्रवेश के बाद कुछ समय तक जब कृष्ण दिखायी नहीं देते, तो सभी दर्शक स्तब्ध होकर देखते रह जाते हैं । उसी बीज मल्लाह रस्सियाँ काट देते हैं और नाग नदी के ऊपर आ जाता है। इसके विशाल फन पर एक पैर रख कर खड़े पीताम्बर पहने मुकुट धारण किये बंसी बजाते कृष्ण नदी के वृत्तानुरूप चक्कर लगाते है | दर्शक जय-जयकार का नारा लगाते हैं जो दृश्य देखने में आकर्षक लगता है | सभी लोग कृष्ण की भक्ति में लीन हो जाते हैं | इनकी बाल छवि को देख कर सभी दर्शक मुग्ध हो जाते है | जय जयकार और करतल ध्वनि के साथ नाग नथैया नाट्य समाप्त होती है |

(चित्र 5. कालिया नाग के ऊपर चढ़ कर नदी में वृत्तानुरूप भ्रमण करना और असत्य पर सत्य की विजय दिखाना)

नाग-नथैया के अवसर पर घाट का दृश्य कुछ इस प्रकार हो जाता है, जिसका वर्णन करते हुए 'रामसुंदर शुक्ल' कहते हैं "मैं इसे अपना सौभाग्य मानता हूं कि इस वर्ष वाराणसी की यह प्रसिद्ध लीला देखने का मुझे अवसर मिला। लीला प्रारम्भ होने से पहले ही जन समूह इकट्ठा था। गंगा में नावों की बहुत भीड़ थी विस्तुतः उधर नावों का मेला सा दिखायी दे

रहा था। नगर में जिन लोगों के अपनी नाव हैं, वे इस अवसर उनका उपयोग करके इस कार्यक्रम में शामिल होते हैं। मौसम भी बहुत अच्छा था। हल्की सी सुखद धूप खिली थी। कालियदमन का वह दृश्य लगभग पाँच बजे सामने आया। सूर्य की लाल किरणों में कृष्ण का मुकुट झिलमिला रहा था। सूर्य की लालिमा जलधारा में प्रतिबिंबित होकर पूरे दृश्य को मनोरम पृष्ठभूमि प्रदान कर रही थी।"[17] इस प्रकार बनारस का अनोखा दृश्य दिखाई देता है | पात्रों की वेशभूषा परम्परानुसार पौराणिक है | इसमें संवाद का प्रयोग नहीं होता, यह पूरी तरह मूक नाट्य है | इसमें सिर्फ कथा का प्रदर्शन किया जाता है | गंगा आरती के बाद इस लीला का समापन किया जाता है | वर्तमान समय में इस लोक नाट्य की प्रासंगिकता बढ़ती हुई दिखाई दे रही है | नाट्य को प्रदर्शित करने के लिए वहाँ अब विविध मंडलियाँ बन गई है, जिनके द्वारा पारम्परिक रूप से हर साल प्रदर्शित किया जाता है |

निष्कर्ष :

बनारस का प्रसिद्ध लोकनाट्य नाग-नथैया असत्य पर सत्य की विजय का द्धोतक है| इस नाट्य परम्परा को तुलसी दास जी ने अपने जीवन काल में ही आरम्भ किया था और आज तक उसी रूप में हर साल इसे खेला जाता है | यहाँ लोगों के आकर्षण का केंद्र बना हुआ है | जिसे संतों की भूमि भी कह सकते हैं यही भगवान् बुद्ध, शंकराचार्य से लेकर वल्लभाचार्य, संत कबीर, गुरु नानक, तुलसीदास, चैतन्य महाप्रभु, रैदास ने अपने ज्ञान से इस नगरी को समृद्ध किया है, मतभेदों को मिटाया है | वही इस लोक नाट्य के माध्यम से कृष्ण के प्रति अटूट प्रेम, श्रद्धा का भाव लोगों में दिखाई देता है | एक तरफ गंगा आरती से बनारस शहर में दिनचर्या का आरम्भ होता है, वहीं दूसरी तरफ शिव आरती की गूँज, वहीं राम और कृष्ण की भक्ति का संगम का अविस्मरणीय दृश्य दिखाई देता है अतः कह सकते हैं यह नाट्य लोगों में एकता भाव का प्रतीक है | प्राचीन समय में विष्णु और शिव के मतावलंबियों में जो विरोधाभास दिखाई देता था | तुलसीदास की रचनाओं और नाट्य प्रस्तुति के कारण दो विचारधाओं में समन्वय दिखाई देता है |

संदर्भ :

1. विजय बहादुर सिंह, आलोचना का स्वदेश (नंददुलारे बाजपेयी की जीवन), अनामिका पब्लिकेशन एंड डिस्ट्रीब्यूटर, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण २००८, पृष्ठ क्रमांक २७

2. वेदप्रकाश सोनी, भारत के सांस्कृतिक केंद्र काशी-वाराणसी पुनर्लेखन, संकलन एवं सम्पादन, स्मायरा पब्लिकेशन, नोएडा यू. पी, संस्करण सन २०१२ पृष्ठ क्रमांक 9

3. वेदप्रकाश सोनी, भारत के सांस्कृतिक केंद्र काशी-वाराणसी पुनर्लेखन, संकलन एवं सम्पादन, स्मायरा पब्लिकेशन, नोएडा यू. पी, संस्करण सन २०१२ ३२

4. वेदप्रकाश सोनी, भारत के सांस्कृतिक केंद्र काशी-वाराणसी पुनर्लेखन, संकलन एवं सम्पादन, स्मायरा पब्लिकेशन, नोएडा यू. पी, संस्करण सन २०१२ पृष्ठ क्रमांक १३५

5. काशीनाथ सिंह, याद हो की न याद हो, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पहला संस्करण १९९२, दूसरी आवृत्ति २००९ पृष्ठ क्रमांक १५८

6. वेदप्रकाश सोनी, भारत के सांस्कृतिक केंद्र काशी-वाराणसी पुनर्लेखन, संकलन एवं सम्पादन, स्मायरा पब्लिकेशन, नोएडा यू. पी, संस्करण सन २०१२ पृष्ठ क्रमांक १५९

7. वेदप्रकाश सोनी, भारत के सांस्कृतिक केंद्र काशी-वाराणसी पुनर्लेखन, संकलन एवं सम्पादन, स्मायरा पब्लिकेशन, नोएडा यू. पी, संस्करण सन २०१२ , पृष्ठ क्रमांक १५९-१६०

8. वेदप्रकाश सोनी, भारत के सांस्कृतिक केंद्र काशी-वाराणसी पुनर्लेखन, संकलन एवं सम्पादन, स्मायरा पब्लिकेशन, नोएडा यू. पी, संस्करण सन २०१२ , पृष्ठ क्रमांक १२१

9. संवादाता रामसुंदर शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जनवरी १९७९, पृष्ठ क्रमांक 11

10. संवादाता रामसुंदर शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जनवरी १९७९, पृष्ठ क्रमांक 11

11. संवादाता रामसुंदर शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जनवरी १९७९, पृष्ठ क्रमांक 11

12.अमर उजाला, वाराणसी Published by: किरन रौतेला, https://www.amarujala.com/uttar-pradesh/varanasi/what-is-nag-nathiya-leela-it-started-about-400-years-ago-ganga-becomes-yamuna-and-tulsi-ghat-becomes-gokul?pageId=1 , Sat, 29 Oct 2022 12:28 PM

13.अमर उजाला, वाराणसी Published by: किरन रौतेला, https://www.amarujala.com/uttar-pradesh/varanasi/what-is-nag-nathiya-leela-it-started-about-400-years-ago-ganga-becomes-yamuna-and-tulsi-ghat-becomes-gokul?pageId=1 , Sat, 29 Oct 2022 12:28 PM

14.संवादाता रामसुंदर शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका , 16 जनवरी १९७९, पृष्ठ क्रमांक 11

15.संवादाता रामसुंदर शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जनवरी १९७९, पृष्ठ क्रमांक 12

16.संवादाता रामसुंदर शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जनवरी १९७९, पृष्ठ क्रमांक 12

17.संवादाता रामसुंदर शुक्ल, आकाशवाणी पत्रिका, 16 जनवरी १९७९, पृष्ठ क्रमांक 12

18.सभी चित्र https://youtu.be/JmywN0I8IYY?si=FcCYTjACF4G6IkmC से ली गई है |

****

औपनिवेशिक काल में प्रतिबंधित हिंदुस्तानी साहित्य में सोज़े-वतन

- दिवेश कुमार चंद्रा
पीएच-डी शोधार्थी
हिंदी विभाग,
मिजोरम विश्वविद्यालय
आइजोल-796004, मिजोरम
मोबाईल- 9506764716

प्रेमचंद की पहली लघु कहानी संग्रह सोज़े-वतन सन 1906 में प्रकाशित हुआ। जिस समय यह कहानी संग्रह प्रकाशित हुआ उस समय देश में ब्रिटिश शासन चल रहा था। औपनिवेशिक काल में न सच लिखने की आज़ादी थी न ही स्वच्छंद रूप से कोई कार्य करने की। अभिव्यक्ति की आज़ादी हम उसे कहते हैं जिसमें सबसे पहले अपनी बात को बोल सकें चाहे वह पत्र, पत्रिका, समाचार पत्र, भाषण या मंच संबोधन हो। सबसे ज्यादा अगर लोगों को प्रभावित करता है वह है नाटक, एकांकी, कविता, कहानी, उपन्यास, जो लोगों को तुरंत प्रभावित करता है। सोज़े वतन का अर्थ होता है देश का मातम। इस कहानी संग्रह की पहली कहानी 'दुनिया का सबसे अनमोल रतन' जिसके अंत में एक पंक्ति को कहानी की नायिका रानी मल्लिका अपने प्रेमी दिलफिगार को देती है जिसमें लिखा होता है "खून का वह आख़िरी कतरा जो वतन की हिफ़ाजत में गिरे दुनिया की सबसे अनमोल चीज है।"[1] कहानी की यह पंक्ति यह बताती है की इस संसार में सब कुछ बेकार है सुख, ऐश्वर्य, धन, प्रेम इस सांसारिक दुनिया में अगर प्रेम करना है तब स्वदेश से प्रेम और देश के लिए मर जाना ही सब कुछ है।

प्रेमचंद अपने कथा साहित्य के माध्यम से समाज के असमानता के खिलाफ मुखर रूप से लिखते थे। प्रेमचंद समाज की बुराइयों को अपनी लेखनी के माध्यम से उनका विरोध करते थे। उन्होंने जो कुछ लिखा बेबाक लिखा तीखी और प्रत्यक्ष लेखनी के कारन अंग्रेजी सरकार उनसे खुश नहीं थी। इस दौर में उन्होंने उपन्यास और कहानियाँ लिखी। ज्यादातर कहानियाँ क्रांतिकारी प्रवृत्ति की थी और स्वतंत्रता संग्राम के दौरान रची गई थी। अपनी कहानियों के माध्यम से उन्होंने न केवल सामाजिक सरोकारों और प्रगतिशील मूल्यों के साथ समाज को आगे बढ़ाने का कार्य किया बल्कि साहित्य जगत को एक नई दिशा भी दी। 1906 में उनका कहानी संग्रह 'सोजे वतन' प्रकाशित हुआ। देशभक्ति की भावना से भरपूर इस कहानी संग्रह पर हमीरपुर के जिला कलक्टर ने प्रेमचंद पर जनता को भड़काने का आरोप लगाया और ब्रिटिश शासन ने इन्हें अपनी 'सुरक्षा' के लिए 'खतरनाक' समझ कर प्रतिबंधित किया, सारी की सारी प्रतियां जला दी और आगाह किया कि वह भविष्य में ऐसा ना करें।

"वैसे तो यह संयोग मात्र भी हो सकता है, पर सच्चाई है कि जिस वर्ष स्वाधीन भारत के लोगों ने अभिव्यक्ति पर प्रतिबन्ध अनुभव किया, उसके ठीक एक वर्ष बाद सन् 1976 में एन. जेराल्ड वैरीयर की किताब बैण्ड कण्ट्रोवर्सियल लिटरेचर एण्ड पोलिटिकल कण्ट्रोल इन ब्रिटिश इण्डिया 1907-1947 (BANNED CONTROVERSIAL LITERATURE AND POLITICAL CONTROL IN BRITISH INDIA 1907-1947) प्रकाशित हुई। सन् 1907 से लेकर 1947 के बीच ब्रिटिश शासन द्वारा भारतीय भाषाओं में लिखे जाने वाले साहित्य पर प्रतिबन्ध का इस किताब में अध्ययन किया गया है। भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागर (NATIONAL ARCHIV OF INDIA), ब्रिटिश संग्रहालय (ब्रिटिश म्युजियम) इण्डिया के पुस्तकालय में मौजूद प्रतिबन्धित रचनाओं की सूची भी इस किताब में है। जेराल्ड के अनुसार बंग्ला में 226, गुजराती में 158, हिन्दी में 1,391, हिन्दुस्तानी में 320, मराठी में 185, अंग्रेजी में 273, पंजाबी में 135, उर्दू में 468, द्रविड़ भाषाओं में 224 और अन्य में 538 रचनाओं को

ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत प्रतिबन्धित किया गया था।"[2] औपनिवेशिक काल में सिर्फ हिंदी ही नहीं भारतीय साहित्य को प्रतिबंध लगा दिया गया जो साहित्य समाज की जन चेतना को उजागर करने का प्रयास कर रही थी उसे ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रतिबंधित लगा दिया जाता लेकिन उसे समय के हमारे साहित्यकारों ने किसी की भी नहीं सुनी न ही उन्होंने अंग्रेजी सरकार की जुल्मों से न डरें वह अपने कार्य में हमेशा लग रहे। और लेखनी का कार्य करते रहें।

"प्रतिबन्धित साहित्य के अध्ययन के क्रम में दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान विश्वामित्र उपाध्याय का है। सन् 1986 ई. में उनकी पहली किताब विदेशों में भारतीय क्रान्ति कारी आन्दोलन दो भागों में प्रकाशित हुई। इस किताब में भारत सहित दुनिया के तमाम देशों में भारतीय स्वाधीनता से सम्बन्धित आन्दोलनों और प्रयासों का अध्ययन और मूल्यांकन किया गया है। सन् 1989 में विश्वामित्र की दूसरी किताब भारतीय क्रान्ति कारी आन्दोलन और हिन्दी साहित्य प्रकाशित हुई। इस किताब में एक अध्याय के अन्तर्गत प्रतिबन्धित हिन्दी साहित्य की राजनीतिक चेतना और साहित्य की विभिन्न विधाओं पर क्रान्ति कारी स्वाधीनता आन्दोलन के प्रभाव का मूल्यांकन भी किया गया है। विश्वामित्र उपाध्याय ने केवल हिन्दी, उर्दू और बांग्ला साहित्य पर क्रान्ति कारी स्वाधीनता आन्दोलनों के प्रभावों का विश्लेषण ही नहीं, विभिन्न लोक भाषाओं के लोक गीतों में मौजूद क्रान्ति कारी चेतना का भी अध्ययन एवं मूल्यांकन किया है। रामजन्म शर्मा की पुस्तक जो प्रकाशन विभाग, भारत सरकार द्वारा जब्त शुदा गीत आजादी और एकता के तराने नाम से प्रकाशित है (सन् 1987) भी उल्लेखनीय है। इस पुस्तक में प्रतिबंधित हिन्दी गीतों का संकलन है।"[3] प्रतिबंधित साहित्य में गीत, ग़ज़ल, कविताओं पर भी प्रतिबंध लगा दिया गया जिसमें की ओज और वीर रस की कविताएँ मुख्य थी।

"पुस्तक की भूमिका में डॉ. शर्मा ने लिखा है हिन्दी में इन गीतों की पुस्तकों का प्रकाशन मुख्यतः सन् 1922, 1923, 1928, 1929 1930 1931 1932 एवं 1940 में हुआ। ये पुस्तकें 500 से 6000 तक मुद्रित की गई थीं। इन पुस्तकों की कीमत तीन पैसे, एक आना, चार आना से लेकर एक रुपये तक है। पुस्तकों की पृष्ठ संख्या 2 से 77 तक है। पुस्तकों में 2 से 50 तक गीत हैं। मुख पृष्ठ पर किसी शहीद (भगत सिंह, चन्द्र शेखर आजाद, राजगुरु आदि) का चित्र छपा हुआ है। "(जब्त शुदा गीत की भूमिका, रामजन्म शर्मा) डॉ. बैरियार के अनुसार जब्त शुदा गीतों की पुस्तकें इस प्रकार हैं- हिन्दी-264 उर्दू-58, मराठी- 33. पंजाबी-22, गुजराती-22, तमिल -19, तेलुगु-10, सिंधी-9, बांग्ला-4, कन्नड-3, उड़िया-11। (जब्त शुदा गीत की भूमिका, रामजन्म शर्मा)"[4] वैसे असंख्य पुस्तकों पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और ही उसे दुबारा छापने की मनाही की गई।

'सोज़े-वतन' का प्रथम प्रकाशन अगस्त, 1908 में ज़माना प्रेस, कानपुर से हुआ था। यह पुस्तक 'नवाब राय' के नाम से प्रकाशित हुई थी। यह 'सोज़े-वतन' ही थी जिसके कारण प्रेमचन्द ने उपनाम-छद्म नाम अपनाया। यह पुस्तक विधिवत रूप से प्रतिबंधित नहीं हुई थी। प्रेमचन्द को किसी भी प्रकार के बुलावे या करवाई का सामना 8 फ़रवरी, 1910 के बाद ही करना पड़ा होगा। 'सोज़े-वतन' कहानी संग्रह में कुल पाँच कहानियाँ हैं। मगर ध्यान देने योग्य बात तो ये है कि इसमें 'सोज़े-वतन' शीर्षक की कोई कहानी नहीं है। फिर "इस कहानी-संग्रह का शीर्षक 'सोज़े-वतन' रखने से प्रेमचन्द का क्या अभिप्राय था? प्रेमचन्द के लिए वतन का क्या अर्थ था? और प्रेमचन्द वतन के दर्द, वतन की पीड़ा को किस प्रकार समझते थे? ऐसे कई प्रश्न हैं जो हमें 'सोज़े-वतन' को खोलने-परखने में मददगार साबित होंगे।"[5]

प्रेमचन्द का वतन के प्रति निष्ठावान दृष्टिकोण उनके शुरूआती उपन्यास 'असरारे-मआविद्' से लेकर आख़िरी सम्पूर्ण उपन्यास 'गोदान' तक में मिलता है। कभी वे 'असरारे-मआविद्' के माध्यम से मंदिरों में धर्म के नाम पर होने वाले व्याभिचारों और पाखण्डों का चित्रण करते हैं तो कभी 'हमख़ुर्मा-ओ-हमसवाब' के माध्यम से विधवा विवाह पर प्रकाश डालते हैं। कभी 'किशना' और 'ग़बन' के माध्यम से एक मध्यमवर्गीय समाज की समस्याओं को रेखांकित करते हैं। तो

कभी 'जलवाए-ईसार' और 'सोज़े-वतन' के मार्फ़त क्रांति की बात करते हैं। "प्रेमचन्द की चिंता देश और समाज की छोटी-छोटी बुनियादी समस्याओं को लेकर प्रकट हुई है। इसलिए प्रेमचन्द के यहाँ समाज के हरेक वर्ग की प्रति सहानुभूति है. वे सिर्फ़ 'होरी' और 'घीसू' जैसे पात्रों से ही सहानुभूति नहीं रखते, उनकी सहानुभूति 'रायसाहब' और 'निर्मला' के प्रति भी है। वे दलितों के अस्पृश्यता की समस्या (कर्मभूमि) और ग़रीबों के दमन (गोदान) की बात भी उठाते हैं तो समाज में होने वाले नारी जागरण की सूचना भी देते हैं। इस प्रकार प्रेमचन्द का दर्द समाज में व्याप्त सभी समस्याओं के प्रति है। प्रेमचन्द की क़सक, प्रेमचन्द की पीड़ा, सिर्फ़ वतन की ग़ुलामी ही नहीं, वरन देश की बुनियादी समस्याएँ भी हैं। इस दृष्टिकोण से अगर देखें तो प्रेमचन्द का सम्पूर्ण साहित्य देश और समाज के प्रति पीड़ा का उदगार है। ऐसे में यदि प्रेमचन्द के संपूर्ण साहित्य का संग्रह कर उसे 'सोज़े-वतन' का नाम दे दिया जाये तो भी कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी।"[6]

प्रेमचंद ने हिंदी में करीब तीन सौ कहानियां, लगभग एक दर्जन उपन्यास और कई लेख लिखे। उन्होंने कुछ नाटक भी लिखे और कुछ अनुवाद कार्य भी किया। प्रेमचंद के उपन्यास न केवल हिंदी उपन्यास साहित्य में बल्कि संपूर्ण भारतीय साहित्य में मील के पत्थर हैं। वह उर्दू का संस्कार लेकर हिंदी में आए थे और हिंदी के महान लेखक बने। हिंदी को अपना खास मुहावरा और खुलापन दिया। कहानी और उपन्यास दोंनो में युगांतरकारी परिवर्तन किए।

प्रेमचन्द की अरबी-फ़ारसी दास्तानगोई की शैली में जो एक प्रवाह और रवानी है, वह प्रेमचन्द की गद्य-भाषा को काव्य-भाषा के अति निकट ले जाती है। इन रचनाओं में व्यंग्य और उपमाओं का जो आधार है वह प्रेमचन्द के बाद की रचनाओं में जाकर विस्तृत रूप ले लेती है। प्रेमचन्द के बाद की कहानी कला इसी सोते से विकसित होती है। उन कहानियों का आधार समझने के लिए इस सोते की पड़ताल अति आवश्यक है. प्रेमचन्द के यहाँ जो दृश्य उपस्थित करने की कला है वह प्रेमचन्द की आख़िरी रचनाओं तक में बनी रहती है । प्रेमचन्द शब्दों को अनावश्यक रूप से थोपते नहीं हैं और न ही शब्दों को अन्यथा निकाल फेंकते हैं। उनके यहाँ हिंदी-उर्दू की मेंड़ नहीं खींची जा सकती। वे जैसा देखते हैं, जैसा सुनते हैं नैसर्गिक रूप से पन्नों पर उतार देते हैं। प्रेमचन्द में ये गुण यकायक ही नहीं आ जाते, उनकी कला एक बारगी ही इतनी प्राकृतिक नहीं हो जाती, इसके बीज उनकी आरम्भिक रचनाओं में छुपे पड़े हैं।

इसमें कोई दो राय नहीं है कि उर्दू से हिंदी लिप्यंतरण का कोई मानक तरीक़ा अभी तक ईजाद नहीं हो पाया है।उर्दू-फ़ारसी में कई ऐसे स्वर हैं। जिन्हें देवनागरी में दर्शाना मुमकिन नहीं हो पाता है। विभिन्न विद्वानों ने अपने-अपने हिसाब से लिप्यन्तरण के अलग-अलग तरीक़े सुझाये हैं। परन्तु कोई भी तरीक़ा उर्दू शब्दों को सही प्रतीक देने में पूर्ण रूप से सक्षम नहीं है। लिप्यन्तरण की इन समस्याओं के बावज़ूद डॉ. पार्थेश्वर ने जिन विधियों और प्रतीकों को अपनाया है, वह शब्दों को उर्दू के काफी क़रीब पहुँचाने में सफल होती है।

कहना गलत न होगा कि प्रेमचंद आम भारतीय के रचनाकार थे। उनकी रचनाओं में वे नायक हुए, जिसे भारतीय समाज अछूत और घृणित समझा था। उन्होंने सरल, सहज और आम बोल-चाल की भाषा का उपयोग किया और अपने प्रगतिशील विचारों को दृढता से तर्क देते हुए समाज के सामने प्रस्तुत किया। जीवन के अंतिम दिनों में वे गंभीर रुप से बीमार पड़े। लम्बी बीमारी के बाद 8 अक्टूबर 1936 को उनका निधन हो गया।

संदर्भ:

1. सोज़े वतन, प्रेमचंद, भारतीय साहित्य संग्रह, दिल्ली, 1961 पृ. 19
2. https://epgp.inflibnet.ac.in/epgpdata/uploads/epgp_content/S000018HI/P00152 5/M016548/ET/1579861148HND_P1_M31.pdf
3. वही.
4. वही.
5. https://www.swargvibha.com/post-single/Purushottam-Prateek/Premchand-Ka-
6. वही.

माखनलाल चतुर्वेदी के कहानियों में राष्ट्रीय चेतना

-डॉ. राजकुमार एस. नाईक
सह-प्राध्यापक
उच्च शिक्षा और शोध संस्थान,
दक्षिण भारत हिंदी प्रचार सभा,
धारवाड – कर्नाटक - 580001
मोब : 9449108567

भारतीय साहित्य में स्वतंत्रता संग्राम में कहानिकारों का योगदान के रूप में माखनलाल चतुर्वेदी हमारे सामने आते हैं । माखनलाल का युग परतंत्रता का युग था। माखनलाल चतुर्वेदी का जन्म 1889 में हुआ था। युगीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक दृष्टि में युग सापेक्षता है। राष्ट्रीय भावना, स्वतंत्रता की कामना, पुनरूत्थान का आग्रह आदि इनकी कहानियों में दृष्ठव्य है।

हम जानते है कि भारतीय जनता अंग्रेज़ों की शासन से अपने को मुक्त करने के लिए दो शताब्दियों तक दिल तोड़ कर प्रयत्न किया था । 1857 का आंदोलन उस आंदोलन की मुख्य मुखमुद्रा हो जाता है। उस समय से भारतीय लगातार किसी-नप किसी प्रकार से इस लक्ष्य में जूझते रहे 1857 से 1947 तक अनेकानेक बल परीक्षण एवं आत्मसंपुर्ण निरंतर होती रही इसके परिणाम अंतत: 15 अगस्त 1947 को भारत स्वतंत्र घोषित हुआ।

इस महान यक्ष में किसान, मजदूर, विध्याथी, वकील, सरकारी कर्मचारी, संपादक, कवि, साहित्यकार सभी का अपना महत्वपूर्ण दायित्व है। अंग्रेजी सरकार ने अपनी दंडनीति और घोर दबाव से कुछ समय तक शासन चलाया। उनकी दुहरी नीति को लोग समझ गए तो समस्त जनता ने धर्म-जाति, रंग-भेद भुलकर देश को स्वतंत्र बनाने की शपथ ली। इस स्वतंत्रता आंदोलन में साहित्यकारों का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा, छद्दबध्दता, संघर्ष साहित्यकारों का प्रथम गुण है। इसलिए भारतीय साहित्यकारों ने जनजागरण के लिए अपनी जो कलम चलाई, वही तलवार बनी। बंगाल इस कार्य में आगे रहा। रवीन्द्रनाथ ठाकूर, शरतचंद्र, बंकिमचंद आदि प्रमुख साहित्यकारों ने अपनी रचनाओं के व्दारा भारतीय जनता की दुर्दशा पर प्रकाश डाला और उसके कारण विदेशी शासन को धिक्करा।

हिंदी के साहित्यकार भी इस संघर्ष में अपना हिस्सा अदा करते रहे। भारतेन्दु ने अंग्रेज़ी शासन के कारण उत्पन्न दुर्दशा का परिचय दिया। व्दिवेदी युग में भी मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश रामनरेश त्रिपाठी हरिऔध जैसे महान साहित्यकारों ने देश की परतंत्रता पर आँसू बहाए। व्दिवेदी युग में ही पत्रकारिता एवं लेखन शुरू करते हे माखनलाल जी । व्दिवेदीकालीन रचनाओं से स्पूर्ण पाकर माखनलाल जी भी संपादक एवं लेखन काई में आगे बड़े। नवीन, दिनकर जैसे प्रगतिशील, क्रांतिकारी कवियों के सामने माखनलाल भी राष्ट्रीय लक्ष्यों अपने लेखन के व्दरा प्रस्तुत करते रहे।

कविता, कहानी, निबंध ये विधाएँ माखनलाल की लेखन में प्लावित है। उनकी सभी रचनाओं में राष्ट्रीय चेतना के स्वर मुखरित होते है। लेखोअ तथा कवितओं में उनकी अनुपात शक्ति के दर्शन होते है। उनकी कहानियों का भी उद्देश्य यही था। प्रभा का संपादक गणेशशंकर विध्यार्थी का ग्रामीण एवं गाँधीवादी विचारधारा से प्रेरणा लेकर उनकी लेखनी ने नवजागरण एवं क्रांति का शंकनाद बजाई। एक गरीब अध्यापक ने अपनी नौकरी छोड़कर पत्र संपादन और साहित्य सृजन को स्वीकार कर अपना जीवन लक्ष्य बनाया।

कविता हो या कहानी, निबंध हो या अन्य सभी में राष्ट्रीय चेतना को उजागर करना ही माखनलाल जी का उद्देश्य था । "माखनलाल की कहानियों में कथा-तत्व तथा शैलीगत गुणों के साथ-साथ जीवन यथार्थ को प्रस्तुत करने की अमोघ शक्ति है। कथा साहित्य जनता के हृदय स्पंदन को आत्मसात करने में समर्थ है। वही जन साहित्य का उत्तम रूप है। कहानी के समान खुलने में समर्थ दुसरी साहित्यिक विधा नहीं है। यह स्वाभाविक गति से चलती है, जनता का दर्पण है, सत्यस्थित का पर्दाफश करती है।"

माखनलाल जी की कहानियों की संख्या चालीस-पैतालिस से अधिक नहीं है। उनमें लंबी कहानियाँ है – (1) राजा प्रजा, प्रजा राजा (2) जाल (3) दगा नहीं देंगे (4) मृत्यु (5) कला का आनुवाद (6) बरसात सावन बेसाल हो गया (7) बेगार का दंड (8) राज नर्तकी (9) बिरन मेरी सावन बित जाए (10) नीलम की चीज़ (11) मुहब्बत का रंग (12) कच्चा रास्ता (13) जमनिया (14) संदेह (15) हत्यारी (16) शांति या क्रांति (17) गोलमेज़ की दाव, (18) आत्म समर्पण और (19) जेल का साथी। बाकी सब छोटी है और कतिपय कहानियाँ आधुनिक लघुकथाओं की टाइप की है । इन सभी में राजनैतिक परिवेश में भारतीय राष्ट्रीय परिस्थितियों की समीक्षा करना कथाकार का उद्देश्य है। पुण्य प्रदेश शीर्षक कहानी में दलजीत और मोहीनी दो व्यक्तियों की बातचीत के सहारे भारतवासियों के ही खून से भारत भूमि को रंगीन बनानेवाले अंग्रेज़ सैनिकों की क्रूरता का चित्रण है, जलियाँवाला बाग के कांड मे पास-पास पड़े-पड़े मरने की इच्छा रखनेवालों का यथार्थ निर्भीक रूप है। कथा पात्र मोहिनी के मुँह से आने वाले शब्दों में-तो की ज़रूरत हो कहाँरही। बस खड़े रहो और इन जानेवाली गोलियों के सामने इसलिए प्राण दो कि पापियों के प्रहारों से कोई पुण्य प्रदेश विचलित नहीं होता। देखोगे यह अमृतसर हमारे मरने से तीर्थ बन जाएगा, और बन जाएगा वह जलियाँवाला । उनकी कहानी जेल का साथी यथार्थ उनके जेल जीवन की वेदनाजनक कहानी है। जिस में ब्राह्मण कैदी के लिए दिए गए थोड़े से दूध को पीकर उसी की छाती पर आ बैठने वाली बिल्ली की कथा है। उस समय के जेल जीवन पर गहरा व्यंग्य इसमें है। 'आत्म समर्पण कहानी की समाप्ति देखिए कैसा जोशीला है -दूसरे दिन दैनिक विश्वामित्र में छपा 'एक षडयंत्रकारी ने, चांदा षडयंत्र

केस के सरकारी गवाह कमलनारायण दुबे के घर में घुस कर दो बजे रात को उन्हें पिस्तौल से मार डाला। हत्यारे ने आत्मसमर्पण भी किया है। इसी से प्रति पाध्य स्पष्ट होता है और भारतीय षड्यंत्रकारियों की नग्न कथा भी सामने आती है। 'गुपचुप कहानी अंग्रेजों के भारतीय नारियों के साथ अनैतिक रिश्तों का पर्दाफाश करती है तो गोलमेल की दावत 1931 के दिसंबर के व्दितीय गोलमेज पर आदारित है जिस ने अंग्रेज़ों ने सांप्रदायिक प्रश्नों में उलझा कर सम्मेलन को लक्ष्य से दूर ले जाना चाहा था और वहाँ गाँधीजी ने कहा क्या बाप यह नहीं देखेंगे कि हम आज गेहूँ की बनी हुई रोटी नहीं बल्कि आज़ादी के रोटी चाहते है।

विदेशी वस्त्रों की दुकान पर धरना देने के कारण गिरफ्तार किए सुशील, सदाचारी, नम्र, देश में क्यातिप्राप्त देश सेनानी रामदेव की गिरफ्तारी तथा जेल जीवन की दिल दहकनेवाली कथा है शाँति या काँति। जेल में रामदेव के शाँतिमय व्यवहार से अधिकारीगण चकित होते है। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार को शासन चलाना कठिन हो गया। बड़ी शासन-व्यवस्था हिलने लगी। यहाँ गाँधी जैसे उज्जवल सेनानी की कथा ही मानो कथाकार कह रहे है और उनके लक्ष्य के चरम परिणाम पर भी इशारा करते है। साहित्यिक धर्म से अधिक खुल जाने की प्रवृत्ति इसमें है तो भी कथोपकथन की रीति हम में खून जाने की प्रवृत्ति इसमें तो भी कथोपकथन की रीति हम में खून उचाल देती है। "तीर्थयात्र" नामक कहानी में भारतीयों की गरीबी, एक राजा था, एक रानी में पंचतंत्र की भाँति 'चिडियों की कहानी' व्दारा राष्ट्रीय तथ्य का उद्घाटन करते है, अतीत को वर्तमान में लाकर कथाकार कहते है और जब साहित्य पंडितों के क्रांदन में, दुर्बलों के अन्याय से पिसे हुए व्यक्तित्व में और पाप से सने हुए मनुष्यत्व में विश्वात्मा की प्रेम विह्वल पुकार सुनता है, तब मनुष्य अमरत्व में एक हो जाता है। लाठीचार्ज में मूर्छित पड़े एक बालक पर रहमदिल पुलिस का सिपाही जालिम सिंह की कथा रोचक है, कवित्वमयी है बालक को रक्त बिंदुओं से रंगा हुआ वह केसरिया बाना वैसा ही सुंदर मालूम पड़ता था जैसे संध्या को पल भर में ही मिट जानेवाले रंगीन बादलों का वैभव। इसी समय तक स्त्री चिल्लाती जालिम सिंह की ओर दौड़ी। जालिम सिंह ने उसे धैर्य बंधाया और बालक को लेकर वह उस स्त्री के पीछे चला गया। दूसरे सिपाही और कप्तान साहब जालिम सिंह और आश्चर्य भरी दृष्टि से देखते ही रह गए। अन्य लोग उसकी विस्मयभरी दृष्टि से देख रहे थे। ऐसी ही उत्तेजनात्मक लक्ष्य पर बोलनेवाली छोटी कहानी है। 'कमाल की प्रेम' कहानी में फ्रांस में शिक्षा प्राप्त दो तुर्की प्रेमियों की प्रखर देश प्रेम की कथा व्यंजित। लतीफह एशिया के प्रेम को प्रखरता और कमाल एशिया की सैनिकता का रागहीन स्वप्न बन जाते है।

' अधिकार पाकर ' और ' मजदूरी ' दो छोटी कहानियाँ है, जिन में अधिकार तथा श्रम पर तीखा व्यंग्य बाण चलता है। ' हत्यारी ' उस भारतीय वीर महिला की कथा है, जिसने अपने ड़ंड़े की परीक्षा ली और अपने मान-अभिमान एवं नारीत्व को रक्षा की थी। शासकों के हाथ में उस समय भारतीय नारियाँ भी बचती नहीं थी। ' संदेह ' कहानी माता का अपमान करनेवाले की हत्या कर फाँसी पर चढ़नेवाले मोहन की हृदय को कंपित करनेवाली कथा है। ' फूल और काँटे ' कहानी का प्रतिपाध्य भी इसी तरह का है भिन्नता है कि मोइन के स्थान पर बंगाली महिला हेमंतवाला है। कथाकार सभी को इस कथा व्दारा चुनौती भी देते है – कितने घरों में कटारें है, चाँदी के डिब्बे भी। पर वे सब के सब हेमंतवालाओं का प्रतीक्षा कर रहे है। वह प्रतीक्षा कब तक ? इस तरह जमनिया को धीरोदत्त कहानी शोहदे लड़कों को छेड़छाड़ के लिए उत्तम उपचार है। अब भी अबलाओं पर अत्याचार चल रहा है, तो उस समय की बात ही क्या रही होगा ? फिर भी जमनिया में भारतीय नारी की शान है, गरिमा है। माखनलाल जी अपनी कहानी ' कच्चा रास्ता ' में गाँधीवादी जीवन का यथार्थ खोल देते है, तो 'नवेली मेहमानिन ' में जन-सेवक के लिए आवश्यक स्थान की महिमा समझा देते है।

इस प्रकार हम देखते है कि माखनलाल जी की सभी कहानियों में सामजिक जीवन का कटु यथार्थ भरा है। राजनैतिक उथल-पुथल के सारे दृश्य, अंग्रेज़ी शासन की क्रूरता और अनैतिकता देश के विद्रोही सैनिकों की उदात्त कर्मधीरता, भारतीय स्त्रियों की धीरता, अनीति के खिलाफ लड़ने वाले भारतीय का दृढ़ निश्चय, भारत को परतंत्रता के कारण देश भर में व्यापी गरीबों , बेकारी, अकाल, बीमारी, अशिक्षा, अस्वस्थाता, विसंगतियों आदि सभी का व्यापक चित्रण उनकी कहानियों में सर्वत्र व्याप्त है। माखनलाल की संपूर्ण साहित्यतिक साधना लक्ष्य बेधी थी। कहानियाँ भी भारतीय जनता के स्वप्न एवं यथार्थ पर आधारित है इस कारण साहित्य के जनहिताय लक्ष्य पर बल देती है। यहाँ सर्वसाधारण जन ही लक्ष्याधीन है। संपूर्ण भारतीय समार का प्रतिबिंबित है। उनमें माखनलाल कहानिकार के साथ-साथ क्रांतिजारी देश सेवक, स्वतंत्रता संग्राम के सैनिक एवं देश हितैषी थे। इसलिए अपनी कहानियों के माध्यम से जन चेतना को उन्होंने दर्शाया और उस चेतना को राष्ट्रीय स्तर पर पहूँचा दिया।

संदर्भ :

डॉ.कृष्णदेव, माखनलाल चतुर्वेदी की रचनाएँ पृ.30
रामस्वरूप चतुर्वेदी, हिंदी गध्य विन्यास और विकास पृ. 118

****

आधुनिकता के संदर्भ में राम

- मनु पाण्डेय

आधुनिकता की अवधारणा की एक लंबी विचार-यात्रा रही है। अपने को आधुनिक समझने वाला व्यक्ति परंपरा को पुरातन एवं और विकसित ढकोसला मानता है, जो उसे प्रगति एवं कार्य कुशलता में बाधा लगती है। आधुनिक होने का एक अर्थ यह है यह भी है 'एडवांस' होना अर्थात् धनी होना, पारिवारिक धार्मिक सत्ता के झमेलों से मुक्त होना तथा तार्किक व बुद्धिशाली होना। वहीं उत्तर-आधुनिकता अपने में एक प्रवृत्ति है जो साहित्य, समाज-विज्ञान एवं आम जीवन के अनेक क्षेत्रों में दिखलाई पड़ती है। उत्तर-आधुनिकता एक भूमंडलीय अवस्था है जो समाज के अति-आधुनिकता के जरायु हो उठने की पीड़ा है, अपना बोझ न संभाल पाने की पीड़ा है, विवशता है।

उत्तर-आधुनिकता उस विश्ववादी आधुनिकता की प्रतिक्रिया है जो सामान्यतः प्रत्यक्षवादी, प्रौद्योगिकी प्रधान एवं तार्किक मानी जाती है। उत्तर-आधुनिकता एक मन: स्थिति है, एक ज्ञानदशा या जीवन दशा है जिसकी विशेषता ध्वंसात्मक प्रवृति मानी जाती है। यह विचार एक ऐसे विश्व का निर्माण करने का प्रयास कर रही है, जिसमें स्थायी, वस्तुनिष्ठ परम आदर्श नहीं है। विचारणीय यह है कि इस विश्वव्यापी सांस्कृतिक षड्यंत्र का वैचारिक अंधानुकरण किया जा रहा है।

"उत्तर-आधुनिकतावाद" नवजागरण के विवेकवाद का ही शत्रु नहीं है, राष्ट्रीय जागरण के सभी आदर्शों का विरोधी है। यह नयी विश्वबाजार व्यवस्था को एक नियति मानता है, जिसमें मनुष्य गरिमाहीन और नगण्य है। इसके अनुसार मनुष्य की गरिमा और अर्थवत्ता का अहसास कराने वाले सभी परंपरागत सांस्कृतिक माध्यम व्यर्थ हैं, क्योंकि संस्कृति के व्यवसायिक भूमंडलीकरण के युग में उनका कोई अर्थ नहीं है। इसी भौतिकवादी जीवन का उल्लेख करते हुए कुंवर नारायण लिखते हैं-

सविनय निवेदन है प्रभु कि लौट जाओ
किसी पुराण –
किसी धर्मग्रंथ में
सकुशल सपत्नीक
अब के जंगल वह जंगल नहीं
जिन में घूमा करते थे वाल्मीक।
मूल प्रश्न यह है कि इस उपभोक्तावादी संस्कृति के भार से बेचैन मन – 'रामचरितमानस' और 'तुलसी के राम' की कितनी
अर्थवत्ता है।

तुलसीदास लोकदर्शी कवि थे। जीवन के विभिन्न पक्षों को उन्होंने सूक्ष्मता से देखा और परखा था। उनकी दृष्टि विश्व कल्याणकारी भावना से अनुप्राणित होने के कारण उनकी लोकानुभूति उनकी स्वानुभूति बन गई थी। तुलसीदास ने अपने साहित्य का सृजन करते समय जिस तरह के समाज की कल्पना की है और उसका चित्रण किया वह आज भी उसी रूप में अनुकरणीय, अनुसरणीय और उपयोगी है। टूटते परिवार, सामाजिक व्यवस्था, जीवन मूल्यों के विघटन, आस्थाओं की कमी और कुल मिलाकर मानवीय मूल्यों के हास को देखकर तुलसी का संत हृदय व्याकुल हो उठता है। उनकी दृष्टि में लोक हित सर्वोपरि महत्व का है। उनकी लोकहित और राम में कोई भेद नहीं है। राम न केवल मर्यादा पुरुषोत्तम है बल्कि सामाजिक जागतिक और समकालीन नैतिक मूल्यों के आदर्शों का जीवंत प्रतीक भी है। रामचरितमानस 'विवेक', 'मंगल', 'संघर्ष' और 'मर्यादा' का महाकाव्य है।

आज का युग विभ्रम विमर्श और विवेक का युग है। तुलसी का युग भी 'मानहु कालरात्रि अधियारी' का था। लेकिन उन्होंने शैव-शाक्तों-वैष्णवों में एकता का मंत्र दिया, अगड़े पिछड़े में एकता स्थापित करने की दिशा दी, नर-नारी के भेदभाव से राम समाज को मुक्त करते हैं। 'अधम ते अधम अधम अति नारी' का प्रतिवाद करते हुए राम शबरी से कहते हैं –
नव महुँ एकौ जिन्ह कें होई। नारि पुरूष सचराचर कोई।।
सोइ अतिसय प्रिय भामिनि मोरे। सकल प्रकार भगति दृढ़ तोरें।।
शबरी किसी वन्य जाति की स्त्री है। लेकिन राम इसका आतिथ्य ग्रहण करते हैं। वह अपने को अधम नारी कहती है, राम उसे 'भामिनी', 'करिबर गामिनी' कहकर संबोधित करते हैं। राम किसी को 'पराया' नहीं रहने देते, सबको अपनाते हैं, सबके हो जाते हैं। इसी लोकनायक शक्ति धारा से हिन्दू-मुसलमान सिख-ईसाई सभी को एक समभूमि प्रदान की जा सकती है, शोषितों-दलितों को हृदय से लगाकर आगे बढ़ने का अवसर दिया जा सकता है।
वर्तमान की मूल्यदृष्टियाँ वर्गाश्रित निर्धारित हैं। मुक्तिबोध बार-बार कहते हैं 'क्या उत्पीड़कों के वर्ग से होगी न मेरी मुक्ति।' यह मानवता को शर्मसार और पराजय की तरफ धकेलने वाली मूल्यदृष्टि है जो वे कहते हैं-

'बिनासंहार के सृजन असम्भव है
मसन्वय झूठ है।'
तुलसी के राम का आदर्श ही समन्वय की विराट चेष्टा है। आज की राजनीति जैसे-जैसे इस चिन्तन से कट रही है उतनी ही विपत्ति के जाल में फंस रही है। 'जितना हम तुलसी की आस्थावादी परम्परा से कट रहे हैं, तो राम से कट रहे हैं, उतने ही अकेलेपन, यन्त्रणा, पीड़ा, आत्म-निर्वासन, आत्मपरायेन, अवसाद, विद्रूपता, मोहभंग' में डूबते-उतरते जा रहे हैं।
वर्तमान की स्थिति को परखते-तौलते हुए प्रतापराव कदत लिखते हैं – "आना था बूढ़ों को। घाघ आये।" और वे 'घाघ' थे इसलिए 'सत्ता' के सूत्रधार बन गए। केवल राजनैतिक सत्ता के ही नहीं, शैक्षणिक-नैतिक-धार्मिक-सांस्कृतिक आदि-आदि सारी सत्ताओं के। केवल, वर्तमान ही वर्तमान रह गया। कैसा वर्तमान? एक ओर यातना और पीड़ा और अत्याचार का पर्यायवाची और दूसरी ओर - ? इसी दूसरी ओर की व्याख्या लीलाधन मण्डलोई करते हैं-

"गुजरते समय की देह जबकि लहूलुहान है

सुर क्षित नहीं है कुछ भी जब,
न जंगल न नदी न समुद्र न मनुष्य –
कितने मजे से उछलता शब्द किसी और समय के
कैसे जी लेता है यह आदमी कविता में।"

आज समय दो हो गये हैं – एक वास्तविक, एक अवास्तविक। एक वह जो अनुरक्षित है – जिसकी देह लहूलुहान है, जो जंगल और नदी और समुद्र और मनुष्य की तरह ही 'खतरे' में है और दूसरा वह जो बेहद सुरक्षित है। जिसको सब कुछ उपलब्ध है – रोटी, कपड़ा और मकान – और उसके सारे दृश्य – अदृश्य आयाम। इसी स्वायत संसार के बढ़ते दायरे के लिए राजेश जोशी की चेतावनी है –

'कहना मुझे सिर्फ इतना है बहनों और भाईयों।
आने वाले दिनों में ज्यादा लड़ने की जरूरत होगी
ज्यादा मरने की और ज्यादा बचाने की
अपने आप को।'

आज पूरा युग परिवेश उत्तर-आधुनिकता की अंधी आंधी से त्रस्त है। उत्तर-आधुनिकता का साम्राज्यवाद धीरे-धीरे हमारा सब-कुछ घर-परिवार, गाँव-कस्बा, शिक्षा-संस्कृति, कविता-कहानी, दर्शन विचार, सम्बन्ध-रिश्ते, प्रेम-श्रद्धा सबको अपने में लपेट निगल रहा है। एकान्त श्रीवास्तव लिखते हैं –

'सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है
और छिन जाती है हमारी आंखें
कट जाते हैं हमारे हाथ"
हस्ताक्षर करना अपना देश खो देना है-
"सिर्फ एक हस्ताक्षर किया जाता है
और खो देते हैं हम
अपना देश।"

क्या विडम्बना है कि पराधीन भारत में हम पश्चिम से मुक्ति पाने का संघर्ष करते रहे और आजाद भारत में हम न केवल पश्चिम के पीछे लग गए बल्कि पश्चिम के एक उपनिवेश बन गये। बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के बाजारवाद में, सूचना क्रान्ति की चहकती दुनियामें जीने मरने को बेचैन हो गये। जातिवादी अमानवीय राजनीति ने भारतीय-चिन्तन-परम्परा-मूल्यचेतना की जड़ें खोद डाली। ऐसे कठिन समय में तुलसी ही हमारे लिए सार्थक हैं –

"जौं करि कष्ट जाइ पुनि कोई। जानहिं नींद जुड़ाई होई।।
जड़ता जाड़ विषम डर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा।।"

तुलसी की काव्य-दृष्टि का आधार है – ज्ञान-नयन से जीवन के मर्म का ग्रहण, राम-सीता के भावजल में अवगाहन, अहंकार से रहित भक्ति-भाव में शरणगति, प्रपत्तिवाद। तुलसी के अनुसार राममय होने के अर्थ हैं –क्षुद्रताओं- विकृतियों से ऊपर उठकर विश्व-हृदय में अपने हृदय को मिला देना –

"भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोऊ।।
भनिति भदेस वस्तु कवि बरनी। राम कथा जग मंगल करनी।।"

आज हम पश्चिमी आधुनिकता की कसौटी पर अपने को परखने की तैयारी कर रहे हैं। जबकि पश्चिम की परम्परा मिल्टन या दाँते की परम्परा है जबकि हमारे पास एक समग्र अखण्ड परम्परा है, जिसमें वेदों से लेकर कालिदास तक, कालिदास से लेकर तुलसीदास तक, तुलसीदास से लेकर निराला और अज्ञेय तक इन अखण्ड धाराओं का कोलाहल सुनाई देता है। हम भूल गये कि परम्परा हमारा जमा हुआ, टिका हुआ पैर है। पूरा बोझ टिका हुआ पैर संभलता है। यह पैर न हो तो दूसरा पैर उठकर आगे बढ़ ही नहीं सकता।

उत्तर-आधुनिकतावाद एक रूप है – नव सांस्कृतिक साम्राज्यवाद। यह नव सांस्कृतिक साम्राज्यवाद 'तीसरी दुनिया' के देशों में उपभोक्तावादी संस्कृति का प्रचार-प्रसार करके हमेशा के लिए अपना वर्चस्व स्थापित करना चाहता है। इस कार्य के लिए पश्चिम 'बाजारवाद की संस्कृति' का खेल खेल रहा है। जातीय-स्मृति के विनाश के बिना पश्चिमी संस्कृति का दबदबा कायम नहीं हो सकता। इसलिए वेद-उपनिषद्-रामायण, महाभारत, कालिदास, विशेषकर तुलसीदास पर कई वादों की तर्क-बुद्धि से माध्यम से खारिज कर भारत से छुड़ाने का प्रयास किया जाता रहा है। किसी भी सांस्कृतिक देश की बनावट में कवियों का उतना बड़ा योगदान नहीं है जितना की भारतीय संस्कृति के निर्माण में कवियों ने योगदान किया है। स्वाधीनता संस्कृति के पूरे आन्दोलन में या फिर व्यक्तिगत संघर्ष में तुलसी के राम की कल्पना उर्जा भरती है – 'कारज वही सम्हारि हैं सीतापति रघुवीर'। भारतीय सामूहिक और वैयक्तिक अवचेतन मन में राम के आधार बिम्ब बसते हैं – हमारा कोई चिन्तन राम के बिना पूरा नहीं होता, क्योंकि राम 'अपराजेय भाव' की निष्पति है।

मनोवैज्ञानिक कारण है कि भारतीय साहित्य में शायद फिर ही कोई अन्य पात्र हो जिसका जीवन राम जितना संघर्ष – आकुल हो। "राम के शोक और संघर्ष का कारण व्यक्तिगत नहीं लोकहित है" शायद ही ऐसा पौराणिक ऐतिहासिक नरेश मिले जिन्होंने माता-पिता की आज्ञा पर राज्य का त्याग किया हो, एक पत्नीव्रत का धर्म निभाया हो, प्रजा की आलोचना के कारण अपनी प्रिय पत्नी का त्याग किया हो। उनका संघर्षपूर्ण जीवन 'धिक् जीवन जो पाता ही आया विरोध" जैसा रहा है। लेकिन राम 'विवेक', 'मंगल' और 'दीनबंधुत्व' के भाव का त्याग कहीं नहीं करते। वे परमब्रह्म शक्तिवान होने के बावजूद अपने मानवीय कर्म और करूणा के आदर्श पर अड़े रहते हैं। उच्च वर्ग के लोग जिन्हें छोटा या नीच समझते हैं, जिनकी वे उपेक्षा करते हैं, अहल्या, ग्रामीण नर-नारी, केवट, कोल-किरात, शबरी, गिद्ध, बन्दर-भालुओं से राम आत्मीयता से भेंट करते हैं। पति द्वारा परित्यक्ता अहल्या को राम पवित्र करते हैं। राम विवेक की मूर्ति हैं। वे सुख और दुख दोनों से विचलित नहीं होते। कैकेयी ने राम के साथ 'कुचाल' की थी। राम को इसके लिए न तो कैकेयी के प्रति क्रोध है, न मन में विषाद। राम मातृशक्ति का सम्मान करते थे। आज हम बाजारवाद के कारण नारी में मौजूद 'सीता भाव' की कद्र करना ही भूल गये है। कारण, बाजार ने हमारे विवेक पर प्रहार कर हमारी सोचने की दिशा को भ्रमित कर दिया है।

तुलसीदास एक पुष्ट समाज के लिए विवेक का होना अनिवार्य मानते हैं और इसका अत्यधिक प्रयोग करते हैं।

"राम कथा कलि पन्नग भरनी। पुनि विवेक पावक कहुँ अरनी"

हनुमान बुद्धि, विवेक और विज्ञान के निधान हैं –

"पवन तनय बल पवन समाना। बुधि विवेक बिग्यान निधाना।"

कारण, विवेक की आवश्यकता जीवन में जूझने वाले को पड़ती है, जीवन का निषेध करने वाले या समाज से अलग-थलग रहने वाले को विवेक की कोई विशेष आवश्यकता नहीं। विवेक जीवन में संघर्ष करने की प्रेरणादायी शक्ति है, इसलिए वे अपने काव्य और 'राम' दोनों में विवेक का इतना आग्रह करते हैं। तुलसी का विवेक कुछ मूल्यों पर आधारित है। उन मूल्यों के प्रतीक राम हैं। राम

न केवल लोकमंगल के विधायक हैं, सामाजिक मूल्यों के भी प्रतीक हैं। मूल्य और विवेक में संग्रह-त्याग निहित होता है, वे सब-कुछ का स्वीकार या इनकार कदापि नहीं कर सकते। विवेक अकरणीय का निर्मन त्याग कराता है।

राम के खरेपन का सबसे विश्वसनीय प्रमाण यह है कि वे सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से निम्न वर्ग के सहायक और मित्र हैं। वे अपने समय के सबसे शक्तिशाली, साधन-सम्पन्न अन्यायी शासक रावण से टक्कर लेते हैं, झुकते नहीं। रावण कुलीन था, परशुराम ब्राह्मण थे, बालि भी शक्तिशाली अत्याचारी था। राम इनका नाश करते हैं। दूसरी तरफ राम पति-परित्यक्ता अहल्या का उद्धार करते हैं, शबरी को स्नेह देते हैं, साधनहीन किन्तु शक्ति की सम्भावनाओं से युक्त बन्दर-भालुओं, वन्य जनों को स्नेह देते हैं, केवट को सखा बनाते हैं। राम ऐसे साहब हैं-

"प्रभु तरू तर कपि डार पर ते किए आपु समान।
तुलसी कहुँ न राम से साहिब शील निधान।।"

ये बन्दर-भालू अनागरिक, वन्य थे। इन्हीं को राम ने सहायक और सखा बनाया। राम उस शक्ति के प्रतीक दिखलाई पड़ते हैं जो समाज के सबसे साधनहीन वर्ग की सहायता से अपने युग की अन्यायी शक्ति से टक्कर लेती है। राम सोने के महलों की मूल्यहीनता के विरोध में डटे थे। 'साकेत', 'पंचवटी', 'राम की शक्ति-पूजा' की पूरी अवधारणा सामन्तवाद-साम्राज्यवाद-रीतिवाद के विरोध में निर्मिति पाती है – 'राम तुम्हारा चरित स्वयं ही काव्य है' का अर्थ इसी संदर्भ में महत्व रखता है।

तुलसी ने केवल कष्ट ही नहीं झेले, उन्होंने जीवन का अमृत भी पिया, वह अमृत जिसे संघर्षशील ही प्राप्त कर सकता है। उन्होंने प्रकृति और मानव-जीवन की अक्षय छवियाँ शब्दों के माध्यम से उकेरी। उनके राम का रूप इन सभी छवियों का समुच्चय है। तुलसी के राम केवल कल्प पुरूष नहीं हैं, वे सृष्ट पुरूष भी हैं। राम के माध्यम से तुलसी नैतिकता और आचरण का आदर्श प्रस्तुत करते है, जो आज के समय की आवश्यकता है। राम के मानव-धर्म में सीमाएँ नहीं हैं – खुलापन है। एक ऐसा खुलापन जिसमें न किसी धर्म का विरोध है न किसी का समर्थन। राम उस मानव-भाव का उदात्त-प्रतीक है जो भक्ति – भाव से उस विराट भाव को धारण करता है, जो सभी धर्मों से ऊपर है। भक्ति अपने को तपाने का, अपनी क्षुद्रताओं को छोड़ने का, अपने अहंकार को तोड़ने का साधन है, साध्य है – मानव प्रेम। यह प्रेम उन सभी मूल्यों को धारण करता है, जिससे मानव बड़ा होता है, शोषण अन्याय-अत्याचार के तन्त्र का अन्त होता है।

'मानस' में राम के माध्यम से जिस स्वाधीनता की महत्व-प्रतिष्ठा की गयी है - वह राजनीतिक-सन्दर्भ वाली स्वाधीनता से बहुत ऊँची चीज है। फ्रांसीसी राज्य – क्रान्ति में रूसों का नारा था, मानव को स्वतन्त्रता, समानता, बन्धुता तीनों चाहिए। रूसों के इस सिद्धांत का 'रामचरितमानस' के द्वारा बहुत पहले इसका व्यावहारिक रूप दिया जा चुका था। वैष्णव-परम्परा में 'स्वाधीनता' दूसरों की 'पराधीनता' पर आधारित नहीं है – सबकी स्वाधीनता के साथ ही उसकी स्वाधीनता का अर्थ है। वैष्णव जन 'परायी पीर' से पीड़ित होता है – दूसरों का उपकार करके भी उपकार करने का दम्भ नहीं पालता। इस चिन्तन में 'मैं' का विकास नहीं – 'हम सब' का विकास ही इसका ध्येय रहता है।

'रामराज्य' में भारतीय संस्कृति के सभी मानवीय मूल्य ध्वनित – प्रतिध्वनित हैं। हर प्रताड़ित, निर्वासित – पीड़ित – अपमानित चित्त के लिए 'रामराज्य' में आशा की किरण है। राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त बड़े उमंग के भाव से कहते हैं – 'मृत जाति को कवि ही जिलाते रस – सुधा के योग से।' यह लोकमंगल विश्वमंगल का पर्याय है। यह 'लोक' शब्द संकुचित अर्थ मे 'भारत' मात्र के सन्दर्भ तक सीमित नहीं है – अपने व्यापक अर्थ में वह मानव-मात्र के कल्याण का अर्थ रखता है।

राम के रूप में तुलसी ने ऐसे 'समग्र मानव' या 'पूर्ण मानव' की सृष्टि की है, जिसके सामने सभी क्षूद्रताएँ पराजित हैं, जिसके सामने सभी गुण अखण्ड होकर दिव्यता को प्राप्त करते हैं। यह राम भाव-पुरूष है, इतिहास – पुरूष नहीं। भाव-पुरूष है। इसीलिए हमारी संस्कृति के विभाव-भाव दोनों हैं।

नैतिक-सौन्दर्य ही सांस्कृतिक सौन्दर्य को निखारता है। सम्पूर्ण 'रामचरितमानस' नैतिक-मूल्यों की मणि माला है। नैतिक-मूल्यों से रहित-समाज बर्बर पशुता, अनियन्त्रित भोग-विलास में गर्क होकर दिशाहीन हो जाता है। आज के समय में देश की सबसे बड़ी समस्या – नैतिक पतन है। इसी ने अपसंस्कृति को जन्म दिया है। बलात्कार-व्यभिचार-भ्रष्टाचार आज हमारी सबसे बड़ी चिन्ताएँ हैं। मुरझाये हुए मूल्यों के समाज में समाधान हम आज भी 'रामचरितमानस' और 'राम' में पाते है। तुलसी के राम लाभ के स्थान पर भाव-संस्कार को महत्व प्रदान कर जीवन को 'मंगल भवन अमंगल हारी' स्वरूप प्रदान करते है।

संदर्भ:

1 कविता का यथार्थ – सं० ए० अरविन्दाक्षन; प्रकाशक हिन्दी विभाग, कोच्चिन विज्ञान व प्रोद्योगिकी विश्वविद्यालय, पृ० 11
2 भक्तिकाव्य से साक्षात्कार – कृष्णदत पालीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ-2007, पृ० 143
3 भक्तिकाव्य से साक्षात्कार – कृष्णदत पालीवाल, भारतीय ज्ञानपीठ-2007, पृ० 165
4 लोकवादी तुलसीदास –विश्वनाथ त्रिपाठी, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राईवेट लिमिटेड, 2011, पृ० 16

****

रामदरश मिश्र के उपन्यासों में आँचलिकता

-डॉ. अनिरुद्ध कुमार
असिस्टेंट प्राफ़ेसर
दिल्ली विश्वविद्यालय
मो-9971087592

उपन्यास हिन्दी कथा साहित्य की अनुपम निधि है और 'आँचलिकता' इस विद्या को समृध्द करने वाला आध ारस्तंभ। औपन्यासिक दुनिया में 'आँचलिकता' को पहचान देने वाले 'पफणीश्वरनाथ रेणु' हिन्दी कथा साहित्य के सिद्ध ाहस्त कथाकार हैं। आंचलिक परंपरा के वाहकों में एक अन्य चिर–परिचित नाम रामदरश मिश्र का है। मिश्र जी की आँचलिकता उनके अनुभव और अन्वेषण की मर्यादा नहीं बल्कि दिशा है।

आँचलिक उपन्यासों में पिछड़े हुए किसी क्षेत्र विशेष या अंचल अथवा किसी अपरिचित या अर्ध्परिचित जाति या जनजाति के जीवन को पूरी सहजता एवं सरलता के साथ निरूपित किया जाता है। आँचलिकता को स्पष्ट करते हुए रामचंद्र तिवारी अपनी किताब 'हिन्दी का गद्य–साहित्य' में लिखते हैं, ''आँचलिक उपन्यास, रीजनल नावेल का समानार्थी माना जा सकता है। 'रीजनल नावेल' में किसी राष्ट्र के क्षेत्रा–विशेष (अंचल) में रहने वालों के जीवन की उन विशेषताओं का अंकन किया जाता हैं, जो उसे निजता प्रदान करती है और जिनके कारण वह क्षेत्रा अन्यों से भिन्न और विशिष्ट समझा जाता है।'' वस्तुतः आँचलिक उपन्यासकार के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह उस अंचल या उस जाति के जीवन–जगत में गहराई से संलिप्त हो, जिसका उसे विश्लेषण करना है। आँचलिक उपन्यास अपनी संस्कृति के हर कोने से रू–ब–रू होने की प्रकृति का परिचायक है। हमारे ज्ञान का व्यापक पफलक जैसे–जैसे बढ़ता जा रहा है, वैसे–वैसे भावलोक भी आकार लेता जा रहा है। अतः देश के तमाम विकसित एवं अविकसित अंचल उपन्यास का रूप लेते जा रहा है।

हिन्दी कथा साहित्य में आँचलिक उपन्यासों की परंपरा शुरू से समृद्ध रही है। फणीश्वरनाथ रेणु इसके अग्रदूत माने जाते हैं। सन् 1954 में प्रकाशित रेणु जी का उपन्यास 'मैला आँचल' आँचलिकता का अभिनव प्रयोग है। आँचलिकता की परंपरा को समद्ध बनाने वालों में रेणु के अलावा नागार्जुन, देवेन्द्र सत्यार्थी, उदयशंकर भट्ट, रामदरश मिश्र आदि की समृद्धशाली परंपरा रही है।

'रामदरश मिश्र जी ने आँचलिकता को आधर बनाकर उपन्यास सृजन किया। 'पानी के प्राचीर' एवं 'जल टूटता हुआ' मिश्र जी के आँचलिक उपन्यासों का दृष्टांत है। 'पानी के प्राचीर' गोरखपुर जिले के 'पांडे पुरवा' गाँव को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। पानी के प्राचीरों से घिरे हुए इस गाँव की मुफलीशी का चित्रा लेखक ने बड़ी बारीकी से खींचा है। उपन्यास का संघर्षशील पात्रा 'नीरू' गरीबी से जूझता हुआ क्रमशः गजेन्द्र सिंह, राय साहब और सरैया मिल में नौकरी करता है। किन्तु इनका सारा जीवन संघर्ष की कहानी बयां करता है।

'पानी के प्राचीर' रामदरश मिश्र का पहला लोकप्रिय आंचलिक उपन्यास है। इसका प्रकाशन सन् 1961 ई. में हुआ। यह वह दौर था जब भारत की स्वतंत्राता को महज एक दशक ही हुआ था। भारत के सामने बहु–आयामी चुनौतियाँ विकराल रूप धरण किए खड़ी थी। गरीबी, भू खमरी अशिक्षा आदि कई समस्याएँ समाज में मौजूद थीं, इन तमाम समस्याओं का मार्मिक चित्राण उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों में किया है। इन्हीं समस्याओं का एक दृष्टांत है 'पानी के प्राचीर'। मिश्र जी इस उपन्यास में गोर खपुर जिले के 'राप्ती' और 'गोरा' नदियों के प्राचीरों से घिरे कहगर अंचल को रेखांकित करते हैं। इस उपन्यास का केन्द्र–बिन्दु स्वतंत्राता प्राप्ति के पश्चात् एक अभावग्रस्त गाँव 'पांडेपुरवा' है जिसमें भारतीय ग्राम्य समाज की गाथा प्रस्तुत की गई है।

उपन्यास में 'पाण्डेपुरवा' गाँव का चित्राण है, जो मुपफलीशी और दरिद्रता से बेहाल है। इस गाँव के विषय में मिश्र जी लिखते हैं। '' 'पानी के प्राचीर' का कथांचल गोर खपुर जिले में राप्ती और गोरों नदियों की धराओं से घिरा हुआ एक विशाल भू–भाग है, जो युगों से अपनी सारी हरियाली नदियों की भूखी घाटाओं जो लुटकर केवल विवशता अभाव और संघर्ष के रूप में शेष रह गया है। संस्कार के सारे सूत्राों से...।'' इस कथन के माध्यम से उपन्यासकार संसाध्न विहीन जर्जर अवसंरचना का एक

दृष्टांत प्रस्तुत करते हैं। विकराल नदियों के गिरफ़्त में गाँव, डाकखाना, रेलवे, सड़क, बिजली, पानी का अभाव महज समस्या भर नहीं है, बल्कि पिछड़ेपन का अहम मुद्दा भी है।

सामान्य गाँव जैसी हालात इस गाँव की भी है। अशिक्षा और गरीबी के कारण शोषण का चक्र निरंतर जारी है। इसे उद्घाटित करते हुए मिश्र जी इस उपन्यास में लिखते हैं, ''बेटा हम गरीब हैं। हमें, अपना हांथ–पांव समेटकर चलना चाहिए। बोलों–बोलों क्या हुआ?' तब तक दरवाजे पर गरजने की आवाज सुनाई दी।'' यहाँ गरीब दीन–हीनता, शक्तिविहीनता का प्रतीक है। समाज का शक्तिशाली या पूँजी–पति वर्ग हमेशा अपनी ताकत का प्रयोग गरीबों पर ही करता है। गरीबी एक सामाजिक मनो–दशा नहीं है, बल्कि यह एक प्रकार का व्यक्तित्व है, जिसे मनुष्य स्वयं दूर करता है। इसे दूर करने का सबसे बड़ा हथियार है 'शिक्षा'।

इस उपन्यास का कथानायक नीरू आशावादी इंसान है। वह सामाजिक परिवर्तन चाहता है। अशिक्षित लोग यह नहीं समझ पाते कि हमें क्या करना चाहिए? अशिक्षित होने के कारण ही समाज के लोग अंधविश्वासों को गले लगाते हैं। नीरू जैसा पात्रा सत्य एवं सदाचार के पथ पर चलना चाहता है, परंतु मुखिया की कुटिल राजनीति उसका जीवन तहस–नहस कर देती है। उसके मन में सत्य और कल्पना का एक समायोजित चित्रा है। तमाम खेत वर्चस्व और आध्पिय के कारण मुखिया के गिरफ़्त में चला गया। घर का सामान कस्बा का बनिया ले गया। कर्ज की मार चौतरपफा है, छुटकारे की दूर–दूर तक कोई उम्मीद नहीं दिखती। गाँव के चारों ओर असामाजिक तत्वों का तांता लगा है और मुखिया सत्ता की मलाई खा रहा है। आर्थिक हालात जर्जर होने के कारण नीरू को गजेन्द्र सिंह जैसे बड़े जमींदारों के यहाँ दो रुपये मासिक वेतन की नौकरी करनी पड़ती है। अन्याय और शोषण के विरोध की आवाज उठाता नीरू नौकरी करते–करते अपना आदर्श भूलने लगता है।

आधुनिक औद्योगिकीकरण की नींव भले ही पश्चिम में रखी गयी, लेकिन स्वतंत्राता पश्चात् भारत में भी यह तीव्र गति से पफला–पफूला। आज़ाद भारत में औद्योगिक विकास ने तेजी से शहरों को जन्म दिया। जब शहरों का शहरीकरण होने लगा, तब गाँव भी शहरीकरण के गर्त में चले गए। कमोवेश शहर अपने पंख उस क्षेत्रा विशेष में किस गति से पफैला रहा है 'पानी का प्राचीर' इसका सर्वोत्तम दृष्टांत है। मिश्र जी इस उपन्यास में जनसाधरण की व्यथा–कथा को बड़े ही मनोयोग से चित्रित करते हैं। गाँव की गरीबी कितनी विकराल है कि लोगों के बदन पर पूरा वस्त्रा तक नहीं है। बाढ़, प्लेग, अकाल जैसी विकराल समसयाएँ समाज के सामने मौजूद थीं। विदेशी दासता के चंगुल से मुक्त होने वाले भारत के अध्किांश नागरिक रोटी के लिए तरस रहे थे। दरअसल रोटी, कपड़ा और मकान किसी नागरिक के लिए बुनियादी आधार है। मकान के यथास्थिति पर टिप्पणी करते हुए मिश्र जी लिखते हैं, ''नीरू अपनी माँ और पिता के साथ घर में भीगते हुए सामानों को यहाँ से वहाँ और वहाँ से यहाँ टकसाने में व्यस्त रहा। पिफर भी उसके घर में एक–एक बीता पानी हो गया। आज़ादी के बाद का दूसरा दशक जब यह उपन्यास प्रकाशित हुआ, समाज में गम्भीर समस्याओं का अंबार लगा था। यहाँ मकान तो जर्जर है ही, समाज के तमाम नागरिक दो जून की रोटी के लिए भी तरस रहे थे, जिसका मिश्र जी ने इस उपन्यास में मार्मिक चित्राण किया है।

इसके बाद मिश्र जी का दूसरा उपन्यास 'जल टूटता हुआ' 1969 में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास की शुरुआत स्वतंत्राता दिवस की वर्षगांठ से शुरू होती है। इस उपन्यास में एक विशेष भू–भाग तिवारीपुर गाँव के माध्यम से विकसित होती गाँव की अनुभूति की कहानी बयां करती है। इस उपन्यास के प्रतिनिधि पात्रा सुग्गन तिवारी प्राइमरी स्कूल के हेडमास्टर हैं। वे कष्टमय आर्थिक हालात में जीवन यापन करते हैं। इन्हें कई महीनों से मासिक वेतन नहीं मिला है। वे आज़ादी के वर्षगांठ मनाने भी भूखे पेट आते हैं। विद्यालय का असहज कर देने वाला सजावट एवं बच्चों के चेहरे पर मायूसी हेडमास्टर साहब को स्पष्ट दिखाई पड़ती है। परिस्थितिवश इनके अरमानों का गला घोंटा जा रहा है। महीप सिंह सामंती सोच के व्यक्ति हैं। हेडमास्टर साहब को न चाहते हुए भी उनकी प्रशंसा करनी पड़ती है। उत्तर में महीप सिंह को आज़ादी का महत्व एवं आपसी सौहार्द का उपदेश सुनना पड़ता है।

यह उपन्यास आज़ादी की सालगिरह के माध्यम से उन तमाम चुनौतियों पर प्रकाश डालती है, जिसमें आज़ादी के एक दशक पश्चात् भी कोई सुधर नहीं दिखलाई पड़ता है। मिश्र जी अपने अनुभवों के आधर पर गाँव की गरीबी, पीड़ा, राजनीति पर आक्रोश व्यक्त करते हुए, आज़ादी के पश्चात् भी महीप सिंह जैसे सामंती एवं जमींदारी सोंच रखने वाला व्यक्ति समाज पर अपना वर्चस्व कायम रखना चाहता है। 15 अगस्त के इस उत्सव के माध्यम से लेखक ने गाँव की गम्भीर गरीबी में व्याप्त प्रपंचकारी राजनीति का मार्मिक चित्राण किया है।

आज़ादी के एक दशक बाद भी आधरभूत संरचना के अभाव की दिशा में एक भी कदम नहीं रखा गया। इस तरपफ इशारा करते हुए मिश्र जी लिखते है, ''तिवारीपुर के तमाम लोग मंझरिया नाले पर बांध बांध्ने के लिए टूट पड़े। दूर से राप्ती के झलकता हुआ सपफेद–सपफेद जल दि खाई पड़ रहा था। लोग एक बार इस उपफनते हुए जल को देखते थे, एक बार अपनी उपफनती हुई पफसलों को। सतीश तिवारी ने देखा कि मास्टर सुग्गन टोपी लगाये सबसे कतराकर दक्षिण की ओर भागे जा रहे थे। उसने सुग्गन को टोका– 'क्यों मास्टर। तुम्हारे खेतों को बाढ़ नहीं पूछेगी क्या? न तुम आये और न हलवाहे को भेजा।'' बड़े–बड़े नदियों एवं नहरों पर पुल, बांध इत्यादि का निर्माण विकास का प्रतीक है। इन आधारभूत संरचनाओं के अभाव में किसानों के पफसल बर्बाद होते है, इससे आर्थिक नुकसान के साथ–साथ पूरा आर्थिक संरचना चरमरा जाता है। गाँव के लोग अपनी पफसल को किसी कीमत पर बचाए रखना चाहते हैं, अगर फसल बर्बाद हो गया तो, दूसरी समस्या भूख की आ खड़ी होगी। यहाँ हेडमास्टर साहब और सतीश तिवारी के माध्यम से मिश्र जी ने समाज के स्वार्थी एवं मौका–परस्त लोगों पर भी करारा व्यंग्य करते हैं। हेडमास्टर साहब के न जाने से ऐसा नहीं है कि आंदोलन कमजोर पड़ जाता या कमजोर हो जाता लेकिन हेडमास्टर साहब का वहाँ न होना, सतीश तिवारी को खटकता है।

तत्कालीन समाज तमाम तरह–तरह के भेदभाव का शिकार है। जाति व्यवस्था, धर्म, लिंग आदि के आधर पर समाज कई हिस्सों में बंटा हुआ था। यह हालात आज भी हमारे सामने मौजूद है। इस भेद–भाव के कारण सामाजिक संरचना के स्वरूप में जो परिवर्तन आया है, उसके तरपफ संकेत करते हुए मिश्र जी लिखते हैं, ''तिवारी तुम्हारे गाँव के लोग तो यहीं कहते हैं कि बदमी आवार है और कुलच्छिनी हैऋ जहाँ गयी, नहीं पटी, या तो मतार खा गई या छोड़ भागी, मगर तुम्हारे इन बाभनों को कौन समझाए? वे भी तो मरद ही हैं न। मरद मरद ही होता है। चाहे किसी जाति का हो, और औरत की भी एक जाति है, औरत की। औरत यह दरद भोगकर भी एक–दूसरे पर हंसती हैं, बल्कि वहीं अधिक हंसती हैं, मुझ पर भी हंसने वाली ये औरत ही ज़्यादा है।'' समाज में व्याप्त स्त्री–पुरुष, जाति–व्यवस्था का मार्मिक उद्घाटन इस अंश के माध्यम से किया गया है। यहाँ लिंग के आधर पर समाज में चर्चा हो रही है। पुरुष, पुरुष से कह रहा है कि औरत की पीड़ा सिपर्फ औरत ही समझ सकती है, मर्द सिपर्फ अनुमान के आधर पर कह सकता है, लेकिन औरत अनुभव के आधर पर बात कहेंगी। एक जाति विशेष की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'बाभन का मरद', अर्थात् वर्चस्ववादी जाति, जिसके इर्द–गिर्द समाज का ताना–बाना बनता है। अतः सामाजिक संरचना में भेदभाव एक गंभीर समस्या है, जिसकी तरपफ पाठकों का ध्यान लेखक आकर्षित करते हैं।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि मिश्र जी ने औपन्यासिक दुनिया में भारतीय समाज में चल रहे आर्थिक शोषण की प्रवृत्तियों के साथ–साथ निर्ध्नता, निर्ध्नता से उफपजी समस्याएँ भोजन, आवास, बेरोजगारी, महंगाई, महंगाई की चक्की में पिसता मानव के त्रासदीपूर्ण जीवन को रेखांकित किया है। चकबन्दी के कारण गाँव में पफैली आपसी दुश्मनी जमींदारी उन्मूलन के पश्चात् नए सामंतवादी व्यवस्था का जन्म हुआ, इनकी आर्थिक नीति भी साहूकारों के ही जैसी थी। इन तमाम पक्षों का मार्मिक चित्रण अपने तमाम उपन्यासों में मिश्र जी करते हैं। ये तमाम घटनाएँ साठ और सत्तर के दशक की है, किन्तु आज भी इसमें कोई गुणात्मक परिवर्तन नहीं आया है। आज आंचलिकता का स्वरूप एकदम से गायब होता जा रहा है। बड़ा कारण है 'पलायन'। पलायन के भी कई कारण है, गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी इत्यादि। पलायन के साथ–साथ ही आंचलिकता का स्वर कथा–साहित्य में दब–सा गया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. हिन्दी का गद्य-साहित्य, डॉ- रामचंद्र तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, पोस्ट बॉक्स नम्बर-1149, विशालाक्षी भवन (भूगर्भ तल) चौक, वाराणसी-221001 (उत्तर प्रदेश, भारत)
2. पानी के प्राचीर, रामदरश मिश्र, 4695-21ए, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, 110002, पृष्ठ 41
3. पानी के प्राचीर, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 34
4. पानी के प्राचीर, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 120
5. जल टूटता हुआ, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 10
6. जल टूटता हुआ, रामदरश मिश्र, पृष्ठ 47

****

स्त्री विमर्श

मेघ सिंह 'बादल' के उपन्यासों में नारी की स्थिति

सोनाली राजपूत
शोधार्थी, भारतीय भाषा विभाग, दक्षिण
बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया, (बिहार)

प्रोफेसर सुरेश चन्द्र
शोध निर्देशक,
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया, (बिहार)

सामाजिक परिवर्तन के उपादानों में साहित्य की भूमिका सदैव अग्रणी रही है। साहित्यकार, साहित्य की विभिन्न विधाओं में वास्तविक, काल्पनिक और मिथकीय सन्दर्भों को लेकर परिस्थितियों और घटना-क्रमों को इस तरह पिरोता है कि पाठक का मन सकारात्मक परिवर्तन के लिए प्रेरित हो उठता है। साहित्य केवल वर्तमान परिस्थितियों को बदलने की बात नहीं करता बल्कि किसी समस्या के दूरगामी परिणामों को भी बताता है। विमर्श केंद्रित साहित्य की पहचान तो इन्हीं बातों से है कि वह शोषित, पीड़ित और वंचित लोगों की परिस्थितियों में सकारात्मक परिवर्तन एवं बराबरी की माँग करता है। साहित्य में अनेक विमर्श केन्द्र में आए जिसमें स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श और किन्नर विमर्श प्रमुख है। स्त्री विमर्श का मुख्य आधार स्त्री जीवन से जुड़ी उन तमाम समस्याओं को उजागर करके, स्त्रियों को अपने अधिकारों और शोषण के प्रति सचेत करना है। "स्त्री विमर्श का उद्देश्य पुरुष का विरोध नहीं है बल्कि उस पितृसत्तावादी मानसिकता का विरोध है जो अपनी सामंती वृतियों के चलते स्त्री को मानवीय गरिमा न देकर उसे अपनी सम्पति समझता है।"[1] यह साहित्य केवल सामाजिक विसंगतियों से परिचय ही नहीं कराता अपितु उन विसंगतियों के कारण और उनके निदान को भी बताता है।

बहुमुखी प्रतिभा संपन्न दलित साहित्यकार मेघ सिंह 'बादल' दलित साहित्य की परिवर्तनगामी विचारों को अपनी साहित्यिक कृतियों में निरन्तर अभिव्यक्त किया है। अपनी कृतियों के माध्यम से मेघ सिंह 'बादल' स्त्री वर्ग को उनके अधिकारों के प्रति जागरूक किया है। इसके साथ ही समाज में मानवीय मूल्यों की स्थापना और विघटनकारी तत्त्वों को दूर करने का भरसक प्रयास किया है। लेखक ने स्त्री वर्ग के प्रति हो रहे अत्याचार, शोषण, उत्पीड़न के साथ ही, स्त्री वर्ग द्वारा अपनी अस्मिता को बचाये रखने के जुझारूपन की रचनात्मक अभिव्यक्ति की है। अनेक प्रकार के अत्याचार और शोषणों के बावजूद स्त्रियाँ टूट कर बिखरती नहीं, बल्कि इनका डटकर सामना करती हैं। स्त्री वर्ग से निकलकर विभिन्न विभूतियों ने समाज को नेतृत्त्व प्रदान किया है जो इस वर्ग के प्रतिभा संपन्न होने का परिचायक है।

मेघ सिंह 'बादल' ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्रियों की समस्याओं को चिन्तन के केंद्र में लाने का प्रयास किया है। जाति व्यवस्था, पितृसत्ता और पुरुष वर्चस्व के त्रिकोण के खिलाफ अस्तित्व बोध का मार्ग प्रशस्त किया है। भारतीय समाज में नारी पूजनीय (देवी) के रूप में देखी जाती रही है। पूजनीय होने का अर्थ यह हो सकता है कि अमुक व्यक्ति की तार्किक और बौद्धिक क्षमता को कम करते हुए उसकी प्रतिभाओं को निष्क्रिय कर देना। पण्डिता रामाबई और डॉ. भीमराव अम्बेडकर जैसे सामाजिक चिन्तकों के अथक संघर्षों और प्रयासों से स्त्रियों के लिए शिक्षा के दरवाजे खुले। उन मनीषियों के प्रयास से ही स्त्रियाँ शिक्षा प्राप्त कर ज्ञान - विज्ञान, राजनीति, तकनीकी, खेल आदि क्षेत्रों में अपनी योग्यता तथा क्षमता का सफल परिचय दे रही हैं। फ्रांसीसी लेखिका सिमोन द बोउवार कहती हैं-औरत जन्म से ही औरत नहीं होती बढ़कर औरत बनती है।"[2] परन्तु, अभी समाज में सम्पूर्ण बराबरी के क्रम में स्त्रियाँ पिछड़ी हुई हैं, लेकिन वह दिन दूर नहीं जब स्त्री और पुरूष समान स्तर पर होंगे और स्त्रियाँ अपने जीवन से संबंधित फैसले स्वयं ले सेकेंगी।

जाति व्यवस्था स्त्री उत्पीड़न और स्त्री शोषण के प्रमुख कारणों में से एक है। "भारतीय समाज में स्त्री की अस्मिता और अधिकारों का जाति व्यवस्था से सीधा अंतर्विरोध है।"[3] जातिगत आधार पर शोषण के कारण दलित स्त्री को दोहरा शोषण झेलना पड़ता है, एक स्त्री होने के कारण और दूसरा दलित स्त्री के कारण। "भारतीय समाज में औरत ही एक ऐसी हस्ती है, जिसका नसीब संस्कृतियों, क्षेत्रों, वर्गों और धर्मों में व्यापक अंतर और भेद होने के बावजूद हर जगह एक जैसा ही रहता है।"[3]

स्त्री मुक्ति और स्त्री अस्मिता की लड़ाई जाति व्यवस्था और

पितृसत्ता को समाप्त करके ही संभव हो सकती हैं। "वर्ण व्यवस्था की वैधता को चुनौती देना स्त्री अधिकारों को अर्जित करने की पहली शर्त है।"[5] वर्ण व्यवस्था समाज के लिए अभिशाप है और स्त्रियों के लिए तो यह दोहरा अभिशाप है। धर्म के आधार पर भी स्त्री का शोषण किया जाता है। हिन्दू धर्म की महिलाओं पर जहाँ घर में पर्दा करने का नियम है वहीं मुस्लिम महिलाओं को घर के बाहर हिजाब पहनकर निकलने का नियम है, जाति कोई भी हो, धर्म कोई भी हो, समुदाय कोई भी हो, इन सबने स्त्रियों पर अलग-अलग नियम लगाकर उसे कमजोर बनाये रखने और नियंत्रण करने की कोशिश की है क्योंकि धर्म के नाम पर एक साजिश के तहत स्त्रियों से उसकी पहचान, अस्तित्व, आजादी और अधिकार इन सबसे वंचित रखा जाता है।

जाति और धर्म के अतिरिक्त समुदाय के आधार पर भी स्त्री शोषण में भिन्नता है, अन्य महिलाओं की तुलना में दलित और आदिवासी स्त्रियों को ज्यादा शोषण और उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है, क्योंकि भारतीय समाज में शैक्षिक स्तर से, सामाजिक स्तर से, आर्थिक स्तर से दलित और आदिवासी स्त्रियों की स्थिति अन्य स्त्रियों की तुलना में अत्यंत भिन्न एवं दारुण है।

मेघ सिंह 'बादल' ने अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन की करुणामय स्थिति का वर्णन किया है। उन्होनें बाल विवाह, पर्दा प्रथा, अनमेल विवाह, स्त्री शिक्षा, छेड़छाड़ और बलात्कार, दहेज प्रथा, घरेलू हिंसा, लैंगिक असमानता और जातिगत भेदभाव आदि समस्याओं को अपने उपन्यास के माध्यम से दर्शाया है। मेघ सिंह 'बादल' एक तरफ नारी की दीन-हीन स्थिति का वर्णन करते हैं तो वहीं दूसरी तरफ उन्होंने अपने उपन्यासों में सशक्त नारी का चित्रण भी किया है, जो अपने अधिकारों के लिए लड़ रही हैं, जो शिक्षित है और अपने जीवन के निर्णय लेने में सक्षम है।

पितृसत्ता ने स्त्री जीवन को सदैव अपने नियंत्रण में रखा और रखना चाहा, जिसके कारण अधिकांश स्त्रियों ने सदा खुद को पुरुष से कम आँका और पितृसत्ता का शिकार होती गयीं। जिन रीति-रिवाजों, प्रथाओं और परम्पराओं ने नारी के व्यक्तित्व को कुण्ठित करने में बहुत बड़ा योगदान दिया है, उनमें से एक है- पर्दा प्रथा। पर्दा प्रथा भारत में आज भी विद्यमान है, स्त्रियाँ शादी के बाद अपने ससुराल में इस प्रथा का पालन करती हैं। मेघ सिंह 'बादल' ने अपने उपन्यास 'दर्द भरे मोड़ो से' में पर्दा प्रथा का विरोध किया है। आज गाँव-देहात में बहुओं को घूँघट में रहना पड़ता है, यदि वह इसका पालन न करे तो, वह गाँव भर में निन्दा की पात्र बनती हैं। "साठ साल की तुर्सनिया अम्मा बोल पड़ी-कहा करौगी जमानों ही ऐसौ आइगौ है। अब कोई कछू कैतु नांए। नई-नई बात आय रही हैं। सब लोग देखि लेऊ जेठ ससुर की कोई लिहाज कर रही है। नई-नई बहू कल्लि पस्सौ आइऐ मूड फिकेर के रहेति एगी। हमारे जमाने में हतो ऐसौ। व्याह होत खेम ही लौंडा बहू कू लेके न जाने कहां-कहां घूमतएं।"[6] यहां पर्दा करने का अर्थ मात्र इतना ही नहीं है कि सिर का पल्लू या घूंघट बना कर मुंह ढांक लिया जाय। पर्दा करने का अर्थ यह भी है कि पुरुष की उपस्थिति से अपने आपको भयभीत या लज्जित अनुभव करना है। समाज में आज भी घूँघट न डालना हीन समझा जाता है। इन दिनों शिक्षा के बढ़ते हुए प्रसार से इस प्रथा के पिछड़ेपन और हानिकारक पक्ष को भी समझा जाने लगा है, किन्तु जिन परिवारों में परम्परागत मान्यताएँ और रूढ़िवादी मानसिकता को ही प्रश्रय दिया जाता है भले ही वे शिक्षित हों या अशिक्षित पर्दा नारी के शील और लज्जा का प्रतीक बना हुआ है। शहर में बसने वाले शिक्षित परिवारों की स्त्रियाँ भी बाहर के व्यक्ति से खुल कर बात कर लेती हैं, किन्तु जब घर का कोई बड़ा बुजुर्ग आ जाता है तो सिर ढांक कर, घूँघट मार कर अलग जा बैठती हैं। इस प्रथा का विरोध करने वाली महिलाओं को असभ्य की श्रेणी में रख दिया जाता है।

परंपरागत रूप से समाज में महिलाओं को कमज़ोर व्यक्तित्व के रूप में देखा जाता रहा है। वे घर और समाज दोनों जगहों पर शोषण, अपमान और भेद-भाव से पीड़ित होती हैं। मेघ सिंह 'बादल' ने अपने उपन्यास 'कुछ और बात होती' और 'शूल भरे पथ' में लैंगिक असमानता जैसी सामाजिक विसंगति को उद्घाटित किया है। उपन्यास 'कुछ और बात होती' से एक उदाहरण प्रस्तुत है- "केहर सिंह भी संतुष्ट थे कि सही-सलामत बच्चा हो गया। लेकिन लाजो और जानकी ज्यादा प्रसन्न नहीं थी। यह बात यहाँ प्रमाणित होती है कि नारी की दुश्मन नारी ही बनती है। स्त्रीलिंग वयस्क ही स्त्रीलिंग बच्चे को उतना प्यार नहीं करते जितना पुल्लिंग बच्चे को प्यार करते हैं। जानकी ने आज उतनी खुशी नहीं मनाई जितनी नवजात शिशु के आगमन पर होनी चाहिए थी। लाजो की बहन अलका, अला की सास सरूपी, लाजो की दूसरी बहन रुचि तथा उसकी सास छटंकी भी देखने आये लेकिन सभी कराह कर ही कह रहे थे कि चलो भगवान की कृपा है। पहली बार का बच्चा हैजो हो गया सो ठीक है।"[7] इन पंक्तियों से अन्दाजा लगाया जा सकता है कि समाज की मानसिकता आज भी लड़का-लड़की में भेद करती है। पुत्र होने पर जहाँ सुख की प्राप्ति होती है वही पुत्री होने पर निराशा और ग्लानि

होती है। आधुनिक समय में भारतीय समाज में कई बदलाव हुए लेकिन सन्तानोत्पत्ति के समय पुत्र होने की कामना रखना ये विचारधारा आज भी विद्यमान है। शहरी जीवन में ये मानसिकता बदली है, लेकिन ग्रामीण परिवेश में आज भी स्त्री-पुरुष में भेदभाव होता है। "भंवरी और उसके पति सोहन को भी बलवती इच्छा थी कि पुत्र उत्पन्न हो जाए।"[8] 'शूल भरे पथ' उपन्यास में भंवरी और सोहन दोनों पत्रों के माध्यम से मेघ सिंह 'बादल' ने ग्रामीण परिवेश की पुत्र कामना की यथार्थ स्थिति का वर्णन किया है।

आधुनिक समय में घरेलू हिंसा का शिकार होती स्त्रियों की संख्या बढ़ती जा रही है। घरेलू हिंसा से तात्पर्य ऐसे दुर्व्यवहार से है जो किसी भी परिवार या घर में घटित हो। घरेलू हिंसा का अर्थ केवल शारीरिक उत्पीड़न से ही नहीं है, बल्कि मानसिक उत्पीड़न से भी है। स्त्री पर नियंत्रण रखने की मंशा घरेलू हिंसा को जन्म देती है। यह विशेष रूप से जीवनसाथी के प्रति होता है। इसका शिकार आमतौर पर महिलाएँ अधिक होती हैं। स्त्री के साथ विडम्बना यह है कि स्त्री ना घर में सुरक्षित है ना घर के बाहर। घर की चारदीवारी के भीतर स्त्रियों की स्थिति ज्यादा दयनीय है। मेघ सिंह 'बादल' के उपन्यास से लिया गया घरेलू हिंसा एक उदाहरण द्रष्टव्य है- "बीना बोली- जि सूधी सौ बैठो काए-दारु पी के गाली गलौज करें है, मारत - पीटत है। घर से बाहर करके कहता है पीहर चली जा। इतकं आवे तो स्कूटर ले के, रुपया ले के अइयो! मैं नहीं जाऊंगी, जा की बाप चुप्पी साधे रहवे। जै काऊ दिन मोकू मार डारेंगे। पवन बोला मेरी बहन इन्होंने बहुत दुखी करी है। हम नहीं भेजेंगे इनके यहां। मैं इनके खिलाफ मुकदमा करूंगा।"[9] बीना के माध्यम से मेघ सिंह 'बादल' ने समाज की कड़वी सच्चाई को रेखांकित किया है। बीना का भाई पवन के माध्यम से मेघ सिंह 'बादल' जागरूक और शिक्षा के महत्त्व को दर्शाया है। पवन बहन बीना को ससुराल ना भेजने को कहता है और इसके साथ ही घरेलू हिंसा करने पर बीना के ससुराल परिजनों पर कानूनी कार्यवाई कराने बात भी करता है।

जनसंख्या के आँकड़ों को देखा जाए तो महिलाओं की संख्या लगभग पुरुषों के बराबर ही हैं, लेकिन आज भी स्त्री अपने लिए पुरुषों के बराबर सम्मान, अधिकार और अवसर की माँग कर रही है। समाज ने स्त्री के अधिकारों पर बन्दिशें लगाई, इतने से भी उसे संतुष्टि नहीं मिली तो उसके जीने के अधिकार भी छीनने लगे। यह अमानवीय कृत्य हमें कन्या भ्रूण हत्या के रूप में समाज में देखने को मिलता है। "कमली के मूड में एक बात और आ गई कि लड़का हो तो ठीक है यदि लड़की हुई तो उस स्थिति में मीना का गर्भपात करायेंगे।"[10] आज भी जन्म लेने से पहले ही जीने का हक स्त्रियों से छीन लिया जाता है। सरकारों ने कन्या भ्रूण हत्या को रोकने के लिए कई योजनाओं बनाई है, जैसे- शिशु होने से पहले लिंग जाँच को गैर कानूनी माना है। मेघ सिंह 'बादल' इन समस्याओं को उपन्यास का विषय बनाकर समाज की विसंगतियों को उजागर किया है।

आर्थिक दृष्टि से निर्भरता और सामाजिक सुरक्षा के अभाव में दलित स्त्री और आदिवासी स्त्री उच्च जाति के लोगों के दुर्व्यवहार का शिकार अधिक होती है। बलात्कार की खबरें रोज समाचार पत्रों में पढ़ने को मिलती हैं । "दर्द भरे मोड़ो से" उपन्यास में मेघ सिंह 'बादल' ने दलित स्त्री के साथ किस प्रकार समाज व्यवहार करता है इसका वर्णन किया है। दलित स्त्री के साथ अमानवीय व्यवहार करके सवर्ण वर्ग खुले आम घूमता है, पुलिस, प्रशासनिक कर्मचारी भी सवर्णों के दवाब में कोई कार्यवाही नहीं करते है, जिसके कारण पीड़ित को न्याय नहीं मिल पता। "सुमित्रा अपने पति की बात से सहमत होती हुई कहती है वो बात ठीक है लेकिन आजकल के समाज के माहौल को देखते हुए लड़की के हाथ जल्दी पीले कर देना उचित है । वो जमाना नहीं रहा है की गाँव की छोटी बड़ी सभी जाति की बहन बेटियों को एक समान नज़र से देखा जाता था। आजकल समाज में मनचले, सिरफिरे, गुंडों की भरमार हो गई है। वे बहन बेटियों की इज्जत पर हमला करते है रोज़ ही अपहरण, बलात्कार, छेड़छाड़ की घटनाएं होती रहती है। इन सिरफिरों का कुछ नहीं बिगड़ता, अपनी हेकड़ी के बल पर गरीब छोटी कौम को हड़का लेते हैं। गरीब को सही न्याय भी नहीं मिल पाता। आपको खूब पता है कि धनिया की बारह साल की बिटिया शन्नो को घर से उठा ले गए। उसके साथ कुकर्म किया और अन्त में जान से मारकर उसकी लाश खेतों में फेंक गए। धनिया उनके खिलाफ पुलिस में नामजद रिपोर्ट भी नहीं कर सका। उसने किसी का बिना नाम लिए रिपोर्ट लिखवाई। पुलिस ने दो अपराधी पकड़े भी लेकिन वे जमानत पर छूट आए। छुट्टल घूमते रहे। उनके पास जन बल, धन बल और राजनीतिक बल था। उनके मामले में पुलिस ने अपनी शक्ति के बल पर एफ.आर. लगाकर मामला शान्त कर दिया।"[11] बलात्कार एक ऐसी समस्या है जिसका शिकार गैर दलित महिलाओं की अपेक्षा दलित महिलायें ज्यादा होती है। क्योंकि ये मजदूरी के लिए उच्च जातियों पर निर्भर होती है। "शूल भरे पथ" उपन्यास में मेघ सिंह 'बादल' ने दलित स्त्रियों को गाँव में किन-किन

समस्याओं का सामना करना पड़ता है इसका यथार्थ चित्रण किया है। "सोहन ने कहा, दलित युवतियाँ इन्हीं सवर्णों के खेतों में काम करके घास-फूंस लेने जाती है। उसका भी सवर्ण नाजायज लाभ उठा लेते हैं और बलात्कार, उत्पीड़न आदि घिनौनी हरकत करते रहते हैं। सरकारी मदद मिलने में भी बाधाएँ आ जाती है। थानों में ऐसी हरकतों की पहले तो रिपोर्ट ही नहीं लिखी जाती। रिपोर्ट लिख भी जाये तो पुलिस जाँच में वास्तविक स्थिति उभर कर सामने नहीं आती है, मामले दबा दिए जाते हैं। सरकारी कर्मचारियों, अधिकारियों पर राजनैतिक दबाव डलवाकर मामले तोड़े-मरोड़े जाते हैं। धनबल व जनबल के आधार पर पीड़ित को हतोत्साहित किया जाता है। उसे अपना बयान बदलने के लिए मजबूर किया जाता है। बलात्कारी, दबंग लोग खुले रूप में छुट्टे घूमते रहते हैं। उन्हें अपनी दबंगई के बल पर सफलता मिल जाती है। दलित को उसकी मजबूरी के चलते सही न्याय नहीं मिल पाता। सरकार ने ऐसे मामलों को देखते हुए हरिजन एक्ट की व्यवस्था की थी उसमें अपराधी तुरन्त पकड़ा जाता था। परन्तु, राजनीतिक दबाव के कारण हरिजन एक्ट को तोड़-मरोड़कर निष्प्रभावी कर दिया जाता है। अब सीधे तौर पर अपराधी को पुलिस नहीं पकड़ती। पहले ऐसे मामले में एस.ओ. थाना की ओर से जाँच होती थी। अब सी.ओ. के स्तर से तफ्तीश होती है। अब केस में गवाहों में मौके का एक गवाह सवर्ण होना चाहिए। जाँच अधिकारी भी सवर्ण होता है। सवर्ण अपराधी के खिलाफ सवर्ण गवाह सही बात नहीं बताता। वह सवर्ण का पक्ष किसी-न-किसी रूप सही में कर देता है। सवर्ण अधिकारी भी सवर्ण अपराधी के विरुद्ध सही तफ्तीश नहीं करता। कुछ मामलों को छोड़कर प्रायः ऐसे मामलों में दलित घाटे में रह जाता है और जिसका कुप्रभाव यह पड़ता है कि दलित उत्पीड़न सम्बन्धी बलात्कार, लूटपाट, चोरी, डकैती, मारपीट, मानहानि, आर्थिक शोषण आदि मामलों में दलित को न्याय नहीं मिलता। दलित अपनी तकलीफ भी जिन्दगी जीता है। दलित के साथ गाली-गलौज और मारपीट भी गाँव में आम बात है। वह उत्पीड़न झेलता रहता है।"[12]

नारी को समाज ने हमेशा उपेक्षित श्रेणी में रखा। यहाँ तक की खान-पान, वेशभूषा, शिक्षा पर भी अपना नियंत्रण करने का भरपूर प्रयास किया है लेकिन स्त्रियों ने अपने हक किए आवाज उठाई और आधुनिक समय में उनकी स्थिति पहले की तुलना में बहुत बेहतर हुई है।

निष्कर्ष

मेघ सिंह 'बादल' ने अपने उपन्यासों के माध्यम से भारतीय समाज में नारी जीवन की विभिन्न समस्याओं को प्रकाश में लाने का सफल प्रयास किया है। लेखक ने अपने उपन्यासों में स्त्री जीवन की तमाम विसंगतियों और रूढ़ियों को उद्घाटित किया है। जाति व्यवस्था और पित्तसत्ता किस रूप स्त्री जीवन के एक अभिशाप है इसका वर्णन किया है। पुरुषों ने उनका अस्तित्व ,उनकी पहचान मिटाने की बहुत कोशिश की लेकिन स्त्रियाँ अधिकारों के लिए लड़ती रही और उनकी ये जंग अब भी जारी है।

संदर्भ

1. अस्मितामूलक विमर्श और हिन्दी साहित्य - डॉ.रजत रानी 'मीनू', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2016 ई., पृ. सं. 20
2. स्त्री उपेक्षिता - सीमोन द बोउवार, हिन्दी पॉकेट बुक्स, प्राइवेट, लिमिटेड, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2002 ई., पृ. सं. 131
3. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श - जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पुब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011 ई., पृ. सं. 46
4. स्त्री के लिए जगह - राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण 1994 ई., पृ. सं. 65
5. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श - जगदीश्वर चतुर्वेदी, अनामिका पुब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011 ई., पृ. सं. 46
6. दर्द भरे मोड़ो से - मेघ सिंह 'बादल', साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2017 ई. पृ. सं. 16
7. कुछ और बात होती - मेघ सिंह 'बादल', साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2018 ई. पृ. सं 74
8. शूल भरे पथ - मेघ सिंह 'बादल', साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2017 ई. पृ. सं. 12
9. दर्द भरे मोड़ो से - मेघ सिंह 'बादल', पृ. सं. 23
10. शूल भरे पथ - मेघ सिंह 'बादल', पृ. सं. 83
11. दर्द भरे मोड़ो से - मेघ सिंह 'बादल',पृ. सं. 12
12. शूल भरे पथ - मेघ सिंह 'बादल' , पृ. सं. 26-27

****

'जया जादवानी' की कहानियों में स्त्री चेतना का स्वर

-सुमन कुमारी
शोधार्थी
पीएच.डी. हिन्दी
जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली
ईमेल- aashisumankumari@gmail-com

जब–जब समाज ने स्त्री के वजूद को चोट पहुंच. ाने की कोशिश की है तब–तब स्त्री अपने विरोध को कभी चुप रहकर, कभी आंदोलन करके प्रकट करती है। चुप्पी साध लेना या आंदोलन करना चेतना का ही रूप है। शहरी मध्यमवर्गीय स्त्री अपने विरोध को आंदोलन के माध्यम से प्रकट करती है। वह अपनी आज़ादी और वजूद को पाने या कायम रखने के लिए समाज से सदैव संघर्ष करती है। आधुनिक समाज में स्त्री अपनी आज़ादी से समझौता नहीं करना चाहती है। वह अपने अस्तित्व को पाने के लिए समाज के किसी भी रीति–रिवाज़ों में बंधना नहीं चाहती है। वह स्वयं से स्वयं की पहचान कायम करना चाहती है। यह सब पाने के लिए स्त्री को समाज में कदम–कदम पर विरोध करना पड़ता है।

'जया जादवानी' शहरी मध्यवर्गीय स्त्रियों को केंद्र में रखकर अपनी कहानियों को रेखाकिंत करती है। वह स्त्री की आज़ादी और उसके अस्तित्व की बात करती है। स्त्री समाज में पुरुषों के ही समान स्वतंत्रता और प्रतिष्ठा चाहती है। स्त्री को पुरुषों की बराबरी करने के लिए कदम–कदम पर कठिनाइयों और समझौतों से दो–चार होना पड़ता है। आधुनिक समाज की स्त्री इन कठिनाइयों से पीछे नहीं हटती है बल्कि उसका सामना करती है और समाज में अपनी एक अलग पहचान कायम करती है।

'जया जादवानी' का कहानी–संग्रह 'अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है' पूर्णतया शहरी मध्यमवर्गीय स्त्रियों पर केंद्रित है। शहरी मध्यमवर्गीय स्त्री गृहणी हो या कामकाजी, वह अपनी आज़ादी और अपने वजूद को लेकर बहुत सकारात्मक रहती है। वह आज़ादी और वजूद को लेकर अपने निजी जीवन से कोई समझौता नहीं करती है। अपने अस्तित्व को पाने के लिए आधुनिक स्त्रियां अपनी शादीशुदा जिंदगी को भी त्याग देती है। जब वह अपने अस्तित्व को पाती है तभी उसके मन को सुकून मिलता है।

कहानी–संग्रह 'अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है।' में स्त्री मन की व्यथा की कहानियां है। स्त्री–जीवन का यह सारा वृत्तान्त सार्थकता की खोज करता है। स्त्री–पुरुष के संबंधो को आंकता है और उसके हर पहलूओं को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करता है। इस कहानी–संग्रह में बीस कहानियां है :–

'क़यामत का दिन उर्फ कब्र से बाहर', 'पलास का फूल', 'कॉकरोच', 'मुक्ति', 'दूसरी सड़क पर', 'परिदृ''य', 'साक्षी', 'तलाश जारी है', 'एक लम्हें में', 'मैं मनुष्य हूं', 'रूपान्तर', 'बाज़ार', 'फिर–फिर लौटेगा', 'जब पेड़ों से पत्ते गिरते हैं', 'अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है', 'अभी–अभी जो चलकर गया है', 'जो नहीं है, वह', 'जो बचा, 'वह शब्द नहीं था', 'इसे ऐसा ही होने दो', और 'आईना'। सभी कहानियां अपने आप में समाज के प्रत्येक बिंदुओं को उजागर करती है।

प्रस्तुत अध्याय में जया जादवानी की 'क़यामत का दिन उफ कब्र से बाहर', 'पलाश का फूल', 'रूपातंरण', 'जब पेड़ों से पत्ते गिरते है' और 'अंदर के पानियों में कोई

सपना कांपता है' कहानियों का चयन किया गया है जिसका विषयानुसार वि''लेषण प्रस्तुत किया जा रहा हैं।

कहानी **'क़यामत का दिन उर्फ कब्र से बाहर'** में स्त्री आज़ाद होकर उड़ना चाहती है। वह स्वंय को पाना चाहती है, वह चारदीवारी के बीच कैद होकर रह गई है। वह स्वंय की पहचान चाहती है साथ ही समाज में पुरुषों के समान आज़ादी भी चाहती है। कहानी की नायिका अपने मन के उधेड़बुन में फंसी स्वंय ही बातें करते हुए कहती है कि

''मेरा नाम सुमिता नागपाल है। नागपाल परिवार की बहू हूं। मैं एक दिन अपने तरीके से, बिना किसी डर, संकोच या दबाव के, बिना किसी जिम्मेदारी के जीने के लिए घर से निकली थी पर पाया कि इस दुनिया को हमने अपने हाथों से इतना तबाह कर दिया है कि अब यह दुनिया इस काबिल नहीं रही कि यहां मनुष्य बनकर एक दिन जी सकें।''

हमारा समाज कभी भी स्त्री को पुरुषों के समान आज़ादी नहीं दे सका है। समाज स्त्री को पुरुषों के समान आज़ादी देने की बात कभी भी नहीं स्वीकारता है। समाज सदैव स्त्री को पुरुषों के कमतर ही रहने देना चाहता है। समाज में अकेली स्त्री को आज भी स्वीकारा नहीं गया है, सभी किसी ना किसी तरीके से एक अकेली औरत का फायदा उठा लेना चाहते है। जब सुमिता नागपाल ने अपनी मर्जी से एक दिन आज़ादी से जी लेने का सोचा, तो पुरुष प्रधान समाज ने उसके अकेलेपन का फायदा उठाना चाहा। चाय वाला, मोची और सभी राहगिर उसके शरीर का भोग कर लेना चाहते हैं। इन सब के लिए एक अकेली स्त्री सिर्फ वस्तु के समान है।

लम्बे समय तक स्त्री घर के चारदीवारी के बीच रहकर उबाऊ महसूस करने लगती है। घर कैदखाना लगने लग जाता है। वह स्वंय के वजूद को भूल जाती है। इस उबाऊ जीवन से निकलने के लिए स्त्री को आज़ादी चाहिए, ताकि वह उस आज़ादी में स्वयं की मर्जी से जी सके। लेकिन स्त्री जैसे ही घर के बाहर निकलती है, समाज का प्रत्येक प्राणी उसे बुरी नज़र से देखता है। बिना घर और बिना पति के समाज में उसकी कोई महत्ता नहीं होती है।

स्त्री–मन आज़ाद होकर उड़ना चाहता है परंतु समाज उसे उड़ने नहीं देता है। घर की चारदीवारी में ही स्त्री की सुरक्षा और प्रतिष्ठा तय की गई है, इससे परे स्त्रियों का कोई वजूद नहीं माना जाता है। सुमिता को एक राहगीर समझाते हुए कहता है कि

''मैं आपको बहुत देर से देख रहा हूं। आपका चेहरा, आपकी आंखें– इन सब हालतों से मैच नहीं करते, जिनमें आप खड़ी हैं। आप जो नहीं हैं, वही दिखने का प्रयत्न कर रही हैं और इस तरह अपनी तकलीफ बढ़ा रही हैं। मैं आपको नहीं जानता, पर इतना जरूर कहूगां – आप घर लौट जाइए, यह दुनिया इतनी भली नहीं है कि..... ...।''

किसी अनजान व्यक्ति ने सुमिता नागपाल को घर वापस जाने की बात कही। क्योंकि यह समाज अकेली स्त्री को जीने नहीं देता है। अकेली स्त्री इस स्थिति में भी नहीं होती की वह नये सिरे से अपनी एक अलग पहचान बना सके।

यह कहानी एक तरफ ऐसी स्त्री की व्याख्या करता है जो अपने घर और पति के कैद से भाग जाती है और दूसरी तरफ एक ऐसा समाज प्रस्तुत करता है जो अकेली स्त्री को कोई महता नहीं देता है। इस समाज में स्त्री अप. नी मर्जी से एक दिन भी आज़ादी से नहीं रह सकती है। सुमिता नागपाल घर से बाहर निकल कर एक–एक मनुष्य के मनोस्थिति को समझती है और उसका वि''लेषण करती है। सुमिता के बिना डर और बेबाक चलने पर उसे पागल करार दिया जाता है। सभी किसी ना किसी बहाने उसके

करीब आना चाहते थे। वह सबके लिए मात्र एक शरीर ही थी, इससे परे स्त्री पात्र की कोई अहमियत नहीं है। समाज का यह रूप देख कर सुमिता अपने लिए घर का कैद ही सुरक्षित समझती है और अपने आगे के जीवन के लिए कैद का ही चुनाव करती है।

स्त्री–मन का चाह कर भी आज़ादी न पाने की कसक इस कहानी में मिलती है। कहानी का एक पहलू यह भी हो सकता था कि कहानी की नायिका सुमिता नागपाल पहले स्वंय को सबल बनाती और उसके बाद समाज में आज़ादी पाने के लिए संघर्ष करती है। स्त्री जब आर्थिक रूप से मजबूत होती है तब वह अधिक शक्तिशाली होती है, तभी वह अपने अधिकार के लिए समाज से संघर्ष करने के लिए तत्पर हो पाती है। इस तरह से समाज में स्त्री अपनी पहचान के साथ–साथ अप. नी आज़ादी को भी पा सकेगी और समाज में इससे सकारात्मक बदलाव आएगा। आर्थिक रूप से मजबूत होना स्त्रियों की कई परेशानियों को खत्म करती है।

'क़यामत का दिन उर्फ कब्र से बाहर' में स्त्री पात्र हारी हुई प्रस्तुत की गई। वह इस समाज से नहीं लड़ पाती है और स्वयं ही हार स्वीकार कर वापस अपने पिंजरे में लौट जाती है।

'पलाश का फूल' एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो शादी के बाद सभी संघर्ष को पार करते हुए अपनी पहचान कायम करती है। आज की स्त्री इतनी सशक्त हो गई है कि वह सिर्फ शादी करना ही अपने जीवन का उद्दे''य नहीं मानती है। शादी की सभी जिम्मेदारियों को निभाते हुए स्त्री समाज में अपनी एक छवि चाहती है, जिससे उसकी स्वयं की पहचान कायम हो।

अपूर्वा ने रोहित से अपनी मर्जी से शादी की थी। रोहित की यह दूसरी शादी थी और उसके तीन बच्चे भी थे। शादी के बाद अपूर्वा को रोहित के घर में किसी ने नहीं अपनाया। बच्चे भी उससे कोसों दूर रहते थे। तीन वर्ष तक उसने स्थिति बदलने का इंतज़ार किया परंतु घर में किसी ने भी उसे अपनाया नहीं, तब अपूर्वा ने रोहित से एक बच्चे की अपेक्षा की। उसके लिए भी उसे मना कर दिया गया। अपूर्वा ने फिर काम करने की इच्छा जाहिर की, इसके लिए भी घर में खूब कलह हुआ। इन सभी नकारात्मक स्थितियों के बाद अपूर्वा ने अपना स्कूल खोलने की ठान ली। तब रोहित, अपूर्वा को चोट पहुंचाते हुए कहता है :–

''सॉरी, मैं तुम्हारी कोई मदद नहीं कर सकता, वैसे भी 'वूमन लिब' के नारे लगा लेना जितना आसान है, उस पर अमल करना उतना ही मुश्किल । तुम दिखा दो न दुनिया को, औरत किस तरह जीती है अकेले.... बगैर पुरुष की मदद के और यही तो तुम दिखाना भी चाहती हो...''

स्त्री जब कुछ करने का ठान ले, तो वह करके ही मानती है। ऐसा नहीं है कि बिना पुरुष के स्त्री रह नहीं सकती या रहती नहीं है। शहरी परिवेश में स्त्रियां अकेली रहती है और स्वयं की पहचान भी बनाती है। उनकी परवरिश इस तरह से होती है कि उन्हें इस बात का ज्ञात होता है कि पढ़ाई खत्म करने के बाद उन्हें आत्मनिर्भर होना है। शहरी मध्यमवर्गीय परिवार में लड़कियां शादी से पहले ही कमाने लग जाती है। अपूर्वा भी शादी से पहले आत्मनिर्भर थी, शादी के बाद उसने अपनी नौकरी छोड़ दी थी। जब शादी के तीन वर्ष बाद दोबारा नौकरी करना चाहा, तो रोहित ने उसका साथ नहीं दिया। तब अपूर्वा ने अलग रहने का फैसला किया और स्वंय के वजूद को पाने का भी ठान लिया।

अपूर्वा ने नैनिताल में पांच वर्ष अकेले संघर्ष करके अपना स्कूल खोला और ट्यूशन भी शुरू किया। इस बीच रोहित से कोई सहायता नहीं मिलती। रोहित वर्ष छह महीने में मिलने आता और कुछ दिन रहता, फिर अनमने ढंग से वापस चला जाता। इन पांच वर्षो में दोनों ने एक–दूसरे की

जरूरत को ना जताया और ना ही कहा। काफी समय बाद जब रोहित अपूर्वा से मिलने आया, तब इन दोनों के बीच बीते कल की कुछ बातें हुई :–''मुक्त इन्सान, इन्सान को नहीं करता, अपने कर्तव्यों और जिम्मेदारियों से भागने को तुम मुक्ति कहती हो। अपनी स्वतंत्रता के लिए तुम्हें मुक्ति चाहिए?

हां, मुझे इसीलिए मुक्ति चाहिए....इस सबसे.... और तुमसे भी। तुम मेरे सपनों के पुरुष नहीं...पुरुष तो वह होता है, जो कुछ दे कुछ ले, तुम न दे सकते हो न ले। तुम्हारा न लेना मेरी बदनसीबी हो सकती है, न देना मेरी हार नहीं।''

इन संवाद से यही प्रतीत होता है कि स्त्री मन की मुक्ति चाहती है। वह किसी भी तरह के बंधन में नहीं बंधना चाहती, बंधनों से मुक्त रिश्ते चाहती है, जिसमें कुछ भी कहने कुछ भी करने की हर तरह से स्वतंत्रता मिले। अपूर्वा भी यही चाहती थी। जब उसे स्वतंत्रता नहीं मिली तब उसने स्वयं को सबसे मुक्त कर लिया।

इस कहानी में अगर रोहित अपूर्वा का साथ देता और अपने घर के माहौल को कुछ सुधारने की कोशिश करता, तो अपूर्वा वहीं रहकर अपना काम करती। और वह अपने काम से संतुष्ट रहती, साथ ही घर संभालने के साथ–साथ रोहित का भी सहयोग करती। स्त्री को आगे बढ़ने में उसका परिवार साथ देता है, तो वह हर मुश्किल का सामना आसानी से कर सकती है। फिर स्त्री स्वंय को अकेला नहीं पाती और अकेले होने की वजह से टूटती नहीं हैं। अगर किसी परिस्थिति में स्त्री को परिवार का साथ ना भी मिले, तो भी स्त्री अपने अस्तित्व को कायम करने से पीछे नहीं हटती है। स्त्री स्वयं में बहुत मजबूत मानी जाती है। इसीलिए वह हर परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहती है और हर परिस्थिती पर अपनी विजय हासिल करती है।

'पलाश का फूल' कहानी समाज के लिए एक उदाहरण है, जिसमें स्त्री अपने बल पर अपना जीवन संवारती है और साथ ही आने वाले सौ भविष्य को भी संवारने का दंभ भरती है। वह इस बात का भी खंडन करती है कि अकेली स्त्री कुछ नहीं कर सकती है। स्त्री में चेतना का प्रवाह बचपन से ही होता है और जब यह चेतना सकारात्मक रूप लेती है तब वह समाज को बदलने की हिम्मत रखती है।

स्त्री मन को समझती अगली कहानी ह–**'रूपातंरण'।** 'रूपातंरण' कहानी जैसे विषय हमारे समाज में कम ही देखने को मिलते है। स्त्री मन में विभिन्न भावनाएं उजागर होती है। स्त्री एकसाथ कई रिश्ते बहुत ही सच्चाई और ईमानदारी से निभाती है। सभी रिश्तों में मां का रिश्ता सबसे सर्वोपरि माना जाता है। इस कहानी में स्त्री के एक ऐसे बदलाव को दिखाया गया है जिसे संसार में किसी भी मूल्य से नहीं आंका जा सकता है।

समगा–जबलपुर मोड़ पर छेदीलाल अपना एक चिकन–कॉर्नर चलाता है। पिता के बहुत पहले गुजर जाने पर वह मां के साथ मजदूरी करता था। फिर कुछ समय बाद वह अपना गांव छोड़ देता है और चिकन–कार्नर की दुकान चलाने लग जाता है। एक दिन जब उसकी दुकान पर एक दंपती अपने बेटे के साथ आए तो पिता और बेटे का प्रेम देखकर छेदीलाल के मन में भी पिता बनने की इच्छा उभरी, तब उसका भी मन बच्चे के लिए ललायित हुआ। तब छेदीलाल शादी ना करके, गांव की एक वेश्या रामकली से अपना बेटा जन्मने की बात सोचता है। छेदीलाल हर सप्ताह रामकली के पास जाता भी था। उसी से छेदीलाल ने अपनी बात कही और उसकी बात को नकारती हुई रामकली ने कहा :–

''पहली बात बच्चा पैदा करने से मुझे सख्त चिढ़ है। ये काम महरिया लोगों का है। दूसरे मेरा बच्चा तो मिक्चर पैदा होगा। तुझे तो अपना चाहिए।''

समाज में वे''याओं को एक अलग ही दर्जे में रखा

जाता है। वह स्वयं को किसी रिश्ते में बांध कर नहीं र खती है। वह अपना शरीर बेचती है, उसमे भी उसे अभि. ामान रहता है। वेश्या स्वयं को किसी से कमतर नहीं आंकती है। वह शादी और अन्य रिश्तों को निभाने के लिए स्वयं को और स्त्रियों की तरह बाध्य नहीं मानती है।

छेदीलाल और रामकली में बच्चा जन्मने की बात को लेकर बहस होती है और दोनों ही एक दूसरे को नीचा दिखाने की बात कहते है।

''भेजा मत खा छेदी।'' वह सब समझ गई–''ऐसे ही किसी के घर बैठना होता तो किसी भड़वे का हाथ पकड़ लेती। अपनी मेहनत का खाती हूं, हराम का नहीं। मेहनत का खाती है साली।'' छेदीलाल ने नफरत से दे खा–''जिस्म बेचती है और.....।

ऐ छेदी साले....तू क्या करता है? दूसरों का मांस बेचता है, मैं अपना बेचती हूं । तुझसे तो अच्छी हूं मैं। रह के तो दि खा औरत के बिना महीने भर, साला बात करता है।''

वे''याओं के लिए स्वयं को बेचने में कोई बुराई नज़र नहीं आती है। किंतु मन में कहीं ना कहीं अपने भावी जीवन को लेकर चिंता जरूर होती है। क्योंकि इनका काम तबतक ही चलता है जब तक इनके शरीर के हाड़–मांस में जान रहती है। उसके बाद उन्हें कोई नहीं पूछता, वह गुमनामी की जिंदगी में गुम हो जाती है। काफी सोच–विचार करके और अपने भविष्य को देखते हुए राम. कली 24000 रुपये में छेदीलाल का बच्चा पैदा करने के लिए तैयार हो जाती है, और एक वर्ष तक उसकी बीबी बनकर रहने के लिए मान जाती है। कुछ इंतजार के बाद रामकली एक लड़के को पैदा करती है, जो नैन–नक्श में बिल्कुल रामकली पर गया था।

अपने कोख़ से पैदा हुए बच्चे को देखकर वह भावविभोर हो उठी, रामकली को यह विश्वास नहीं हो रहा था कि उसने यह करिश्मा किया है। उसमें ममता उमड़ने लगी, पैदा किये बच्चे को सीने से लगा के जब उसने दूध पिलाया, तब उसे जीवन भर का सुकून मिल गया। राम. कली का मन अब बदल जाता है। वह अपने बच्चे से दूर नहीं होना चाहती है। छेदीलाल से उसने जो सौदा किया, उस सौदे को वह तोड़ देना चाहती है। मातृत्व भाव स्त्री मन को बदलने की शक्ति रखता है। अब रामकली स्वयं को वे''या नहीं, मां मानने लगी है। वह अपने बच्चे को अप. ने पास रखने के लिए छेदीलाल से कहती है कि–

''देख छेदी, अगर मैं चाहती तो इसे लेकर रातों–रात भाग सकती थी। तू क्या कर लेता ? पुलिस को भी किस मुंह से कहता। वह पूछती नहीं तुझसे, एक छिनाल रंडी भाग गई, तुझे क्या ? पर अब मैं मां बन गई हूं। तुझसे दगा नहीं करना चाहती, पर इस बच्चे को भी नहीं देना चाहती। तेरी मेहरबानियों से मुझे यह दिन नसीब हुआ है– नहीं तो कौन जाने कभी यह दिन आता भी या नहीं– पर अब मुझे बख्श दे छेदी, मुझे जीने दे। यह मेरा है। मेरा हक है इस पर।''

स्त्री–मन प्रत्येक रिश्ते से स्वंय को अलग ------- कर सकती है परंतु मां के रिश्ते से स्वयं को कभी अलग नहीं कर सकती है। मां का रिश्ता स्त्री के लिए संपूर्ण ब्रह्माण्ड में सर्वोपरि है। जिसे वह किसी भी रूप में नाकार नहीं सकती है। मातृत्व भाव स्त्री को नव जीवन प्रदान करती है। उसे स्वयं में एक पहचान देती है, ममत्व को निभाने के लिए वह आत्मनिर्भर बनती है। जिससे वह अपनी संतान के समक्ष एक प्रतिष्ठत छवि में सामने आए। यही सब रामकली के साथ हुआ, उसके जीवन में संतान का सु ख आते ही उसने अपने बीते कल से नाता तोड़ लिया और नये जीवन की शुरूआत की इच्छा मन में उत्पन्न होने लग. ी।

इस कहानी में स्त्री का एक डर यह भी दिखाया गया है कि जो उसका है वह उसका कभी होने नहीं दिया गया, किंतु स्त्री सदैव अपने अधिकार के लिए संघर्ष करती रही है और कर रही है। रामकली को भी इस बात का डर

होता है, फिर भी वह अपनी संतान को अपने पास ही र खने की बात छेदीलाल से करती है।

कहानी 'रूपातंरण' में रामकली के मन में वे''या का रूप छोड़कर आम स्त्री की तरह सिर्फ और सिर्फ मां बनकर रहने की इच्छा प्रबल होती है। कहानी में ममतामयी भाव के साथ स्त्री में बहुत बड़ा बदलाव दिखाया गया है। इस कहानी के सुखद अंत जैसा और कोई अंत नहीं लिखा जा सकता है। लेखिका ने बड़े ही मार्मिकता के साथ कहानी के प्रत्येक पहलू को विस्तार रूप में प्रस्तुत किया है। यह कहानी समाज के लिए प्रेरणास्त्रोत है।

कहानी **'जब पेड़ों से पत्ते गिरते हैं'** में तीन पीढ़ियों की स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। पुरुष का स्त्री पर तानाशाही व्यवहार प्राचीन काल से ही देखने को मिलता है। स्त्री, पुरुष के हर अत्याचार को सहती है, फिर भी उसके सभी जरूरतों को पूरा करती रहती है। कभी भी उसे अपने किये का सम्मान नहीं मिलता है, संपूर्ण जीवन वह सम्मान और प्रेम की अपेक्षा करती रहती है। जीवन भर उसे ना सम्मान मिलता है और ना प्रेम। वह इस उम्मीद को पाले ही संसार से चली जाती है। उसके जाने के बाद ही सभी को उसकी अहमियत समझ आती है।

कभी–कभी जब एक पीढ़ी अत्याचार सह चुकी हो, तब वह अपनी दूसरी पीढ़ी को अत्याचार नहीं सहने देती है, वह उसका विरोध करती है।

निक्की अपने दादा–दादी और माता–पिता के साथ रहती थी। निक्की ने कभी भी अपने घर में स्त्रियों का सम्मान होते नहीं देखा। कभी दादा, दादी को खरी–खोटी सुनाते, तो कभी पिता, माता को पटीते। दिन–प्रतिदिन यह सब उसे अपने घर में देखने को मिलता था। घर में आर्थिक मदद के लिए निक्की अपनी मां के साथ मिल कर सिलाई करती थी, दादी इस उम्र में भी घर के सारे काम करती थी। एक रात जब निक्की के पिता उसकी मां को पीट रहे थे, तब दादी चिल्ला कर कहती है :–

''रूक–रूक पापी, राक्षस, औरत पर हाथ उठाता है। मर्द बनता है हिजड़े। तुझे इसी दिन के लिए भगवान से मांगा था.... मरेगा तू और उस दिन तुझ पर रोने वाला कोई न होगा....।''

निक्की की दादी ने तो पूरा जीवन अपने पति की मार खाते हुए बीता दिया लेकिन वह यह हरगिज नहीं चाहती थी कि उसकी बहू भी अपने पति से पूरा जीवन पिटती रहे। तभी निक्की की दादी अपनी बहू को पिटता दे खती तो अपने बेटे को खूब बुरा–भला कहती।

निक्की के दादा निककी को सदैव शायरा या गायिका बनने के लिए कहते थे। वह मानते थे कि शायर खुदा की जुबान होते है। दादा को अनपढ़ औरतों से नफरत थी। वे कहते थे कि :–

''ढोल, गंवार, शूद्र, प्शु, नारी ये सब ताड़न के अधि ाकारी ।' 'औरतों को डंडे की नोक पर रखना चाहिए, तभी वे सीधी रहती हैं।''

स्त्रियों को कितने सदियों तक अपने उपर हो रहे अत्याचार को सहना पड़ा है। यह भी सत्य है कि स्त्रियों पर तब तक ही अत्याचार होते है जब तक वह स्वयं पर अत्याचार होने देती है। स्त्री को स्वयं के लिए संघर्ष करना होगा, लड़ना होगा। चुपचाप रहकर सब सहन करने से कभी कुछ नहीं बदल सकेगा। निक्की के पिता ने दोबारा उसकी मां को पीटा और इस बार इतना पीटा की उसका गर्भपात हो गया। निक्की तब से अपने पिता से दूर–दूर रहने लगी। निक्की अपने घर में सबसे छुपा कर उपन्यास पढ़ा करती थी, कई बार उसकी मां उपन्यास को चुल्हे में जला दिया करती थी, परंतु जब से निक्की की मां का गर्भपात हुआ है तब से निक्की की मां निक्की को उपन्यास पढ़ने पर कुछ नहीं कहती। बल्कि निक्की अब अपनी मां को भी रात में उपन्यास पढ़ कर सुनाती है, एक बार 'सारा आका''ा' उपन्यास सुनकर निक्की की मां कहती है कि

''औरत सभी को सुख देती है–देह का सुख, मन का सुख। पर बदले में उसे क्या मिलता है– थोड़ी–सी रोटी.....थोड़ी–सी दया।''

सारी उम्र इस थोड़ी–सी रोटी और थोड़ी–सी दया में ही कट जाती है। अपने ही घर में परायापन झेलना पड़ता है। मन में तो हर स्थिती को लेकर मंथन होता है, परंतु परिस्थिति का विरोध करने की हिम्मत नहीं मिलती और तब स्त्री हारी हुई मानी जाती है। निक्की की दादी जीवन के अंतिम क्षणों को गिन रही थी, इस स्थिति में भी पति से स्नेह भरे शब्द सुनने को नहीं मिले। दादी के बीमार होने पर दादा कहते है कि

''क्या जरूरत है इतना हंगामा करने की और इतना पैसा खर्च करने की। औरतों पर इतना पैसा खर्च करोगे तो बचाओगे क्या ? जिसे मरना है वह तो हर हाल में मरेगा, तुम बचा लोगे क्या ?''

स्त्री स्वयं में सपूर्ण होते हुए भी सदैव पुरुष का सहारा चाहती है, पुरुष का साथ चाहती है। परंतु पुरुष इस साथ को अपना अहम बना लेता है और स्त्री को अप. ना गुलाम मानता है। तभी पुरुष, स्त्री को सम्मान का दर्जा नहीं देता है। पुरुष को इस बात से भी अवगत होना चाहिए कि स्त्री का अस्तित्व है तभी पुरुष जाति का सम्मान है वरना पुरुष जाति का कोई अस्तित्व नहीं। स्त्री को स्वयं की अहमियत को जानना होगा, तभी वह पुरुष प्रध ाान समाज में सम्मान के साथ रह सकेगी।

इस कहानी में दादा के शब्दों में एक जगह कहा गया है कि पुरुष से औरत का डर का रि''ता होना चाहिए, डर की वजह से ही स्त्री काबू में रहती है। जिस दिन स्त्री का डर खत्म हो जाएगा, रि''ता खत्म हो जाएगा।

जहां पति–पत्नी के बीच प्रेम और सम्मान का रि''ता होता है, वहीं इस कहानी में पति–पत्नी के बीच डर का रि''ता दिखाया गया है। यह डर स्त्रियों में उनके जीवन के अंतिम क्षण तक बना रहता है। प्रत्येक अत्याचार से परिचित होते हुए भी अपनी डर की वजह से वह कभी भी अपना सम्मान नहीं पा सकती है। इस डर पर सर्वप्रथम विजय पाना होगा, तभी वह स्वयं का सम्मान कर दूसरों से भी सम्मान पा सकेगी। इस कहानी में स्त्री पात्र को अंत तक कमज़ोर दिखाया गया है। स्त्री की अहमियत का सिर्फ एक पक्ष अंत में जान पड़ता है जब निक्की की दादी दुनिया से चली जाती है। तब दादा को हर पल दादी की याद आती है और यह आभास कराती है कि वह अपने उपर हुए अत्याचारों का बदला लेगी। यही डर पल–पल उन्हें डरा रहा है, जो इंसान दादी के जीवित रहने पर शेर के समान घर में घूमता था वही वर्तमान में डर की वजह से घर के एक कोने में बैठा है। यही डर दादी को जीवन भर रहा और मृत्यु ही उस डर से उन्हें मुक्त कर सका।

इस कहानी में यही एक पक्ष सकारात्मक है कि स्त्री मरने के बाद ही अपनी अहमियत को बता सकी और साथ ही परिवार के लिए जीते जी निस्वार्थ भाव से सबकी सेवा कर सबकी ढाल बनी रही। स्त्री संपूर्ण जीवन अपने त्याग और बलिदान से अपने परिवार को सदैव सुख देती है और उन्हें एकजुट करके रखती है और इन सब में वह स्वयं के अस्तित्व को ही खो बैठती है। पुरुष प्रधान समाज में स्त्री में चेतना का प्रवाह होने से पहले ही खत्म हो जाता है। स्त्री सिर्फ भौतिक वस्तु बन कर रह जाती है। कहानी लंबे समय से चले आ रहे पुरुष और स्त्री के बीच के अलगाव को द''र्शाता है। यहां पुरुष के अत्यचार से त्रस्त स्त्री की कहानी को बहुत ही मार्मिक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

शीर्षक **'अंदर के पानियों में कोई सपना कांपता है'** कहानी बहुत ही संवेदन''ाील है। इस कहानी में एक गर्भवती स्त्री के मन की भावनाओं को उकेरा है। स्त्री को संपूर्ण ब्रह्ममाण्ड में श्रेष्ठ माना गया है, स्त्री को ही अपने भीतर नव जीवन धारण करने का वरदान प्राप्त है।

स्त्री अपनी कोख़ में नव जीवन धारण कर उसे नौ महीने पालती है, उसके बाद उसे इस संसार में लाती है। यह संसार का अद्‌भुत चमत्कार है, जिस चमत्कार को सिर्फ स्त्री ही कर सकती है। नव जीवन को संसार में लाने के समय स्त्री को अथाह दर्द से गुजरना पड़ता है और यह दर्द सिर्फ स्त्री ही सह सकती है।

विक्की की पत्नी एकल परिवार से आई थी, जिस वजह से उसे अकेले रहने की आदत होती है। परंतु विक्की संयुक्त परिवार में रहता है और उसके घर में कोई भी कभी भी अकेला नहीं रह सकता है। विक्की की पत्नी के लिए यह सब अपनी आज़ादी छीन जाने जैसा था, उसे अकेले रहने के लिए रात बारह बजे तक का इंतज़ार करना होता था। विक्की नौकरी के लिए घर से दूर रहता था, महीने में एक बार आता था।

नयी–नयी शादी की रातों को विक्की की पत्नी जैसे सुबह की किरण के साथ महसूस करना चाहती, वैसे ही घर का रूटीन इन सबसे उसे दूर ले जाता है। भरा–पूरा परिवार होने के बावजूद भी वह अकेला महसूस करती है। सभी को अपना सुनाना होता है, किसी के पास किसी को सुनने का वक्त नहीं होता है। विक्की के घर में कुछ भी अपना नहीं होता है, सब सबका होता है– गहना, कपड़े, टॉवेल, साबुन इत्यादि। यहां तक की अपने हं. सने–रोने पर भी अपना ज़ोर नहीं। बहुत कोशिश के बाद भी विक्की की पत्नी इस घर के रहन–सहन को नहीं अप. ना पाई और इसी तरह तीन वर्ष बीत गए।

तीसरे वर्ष में पता चला कि वह गर्भवती है, पूरे परिवार, पूरे मोहल्ले में खुशी की लहर दौड़ गई। जिसकी वजह से यह खुशी आई उसे तो कुछ और ही चाहिए था। परंतु क्या चाहिए उसे ही नहीं पता ?

कई बार स्त्री स्वयं से क्या चाहती है उसे स्वयं ही पता नहीं होता है। इसी उधेड़बुन में वह अपने मन की उपेक्षा कर समय के साथ चलती रहती है। तबतक उसके मन में अकेलापन घर कर जाता है। वह अपने आस–पास वालों से भी अपेक्षाएं करना छोड़ देती है। स्त्री का सबसे श्रेष्ठ रूप मातृत्व का है, जैसे ही वह मातृत्व रूप को धारण करती है वैसे ही वह अपना सर्वस्व अपने बच्चे पर न्यौछावर कर देती है। यही रूप विक्की की पत्नी का भी देखने को मिला।

देखते–देखते विक्की की पत्नी के नौ महीने पूरे हो गए और जब बच्चा जन्म लेने का समय आया, तब ना उसकी मां और ना ही उसका पति उसके साथ था। हॉ. स्पिटल जाने तक की पूरी तैयारी वह स्वयं करती है। ननद और छोटा भाई हॉस्पिटल साथ गये थे। ननद के होते हुए भी कोई मदद नहीं मिली। दर्द से बेहाल थी, इसमें भी कोई नर्स ठीक से कुछ नहीं कहती, नर्स का बर्ताव बेरू खी–भरा था। इन सबको झेलते हुए भी विक्की की पत्नी सिर्फ अपने आने वाले बच्चे के बारे में सोचती है।

''असहनीय दर्द की लहरें .... पर वहां मृत्यु भय नहीं था। न कुछ और .... मेरे जेहन में सिर्फ बच्चा था .... मेरा अपना बच्चा।''

स्त्री मृत्यु से भी भयानक दर्द को सहती है और उसी दर्द को सहते हुए अपने अस्तित्व का हिस्सा संसार में लाती है। उसे एक पहचान देती है। जब तक बच्चा बोलना नहीं सीख जाता तब तक उसकी मां उसकी हर जरूरत को उसके बिना कहे ही पूरा करती है। मां और बच्चे का संबंध मन से जुड़ा होता है तभी मां बच्चे के प्रत्येक हरकत को पहचानती है। इस रि''ते में किसी भी तरह के दिखावे की दरकार नहीं होती है। इस रि''ते में जितना अपनत्व होता है, उतना और किसी रि''ते में नहीं होता है। यह माना जाता है कि स्त्री जब मां बनती है तब उसका इस संसार में नया जन्म होता है और स्त्री मां बनकर ही संपूर्ण होती है। जब विक्की की पत्नी एक बच्ची को जन्म देती है तब वह स्वयं से कहती है कि :–

''मैं जिसे आज तक अपना अकेलापन समझती आई थी, एक अन्धी गहरी काली खोह, उसी में से एक सुख अनायास मेरे हाथों में आ गया था। एक अकेलापन..... दूसरे अकेलेपन को ही जन्म दे सकता है, इतना जानती थी, पर यह तो सुख का झरना है, जो जाने कहां से फूटता चला आ रहा है। मैंने अन्दर चट्टानों के टूटकर गिरने की आवाज़ भी सुनी और फिर शान्त–गहरी बहती नदी की भी....''

विक्की की पत्नी को अपनी बच्ची को गोद में लेते ही सुख की अनुभूति हुई। उसे विश्वास ही नहीं हो रहा था कि गहरे अंधेरे अकेलेपन में भी वह एक सुख के झरने को संसार में ला सकती है। उसने अपनी बच्ची के माथे को अपने होठों से छुआ और उसे अपनी बांह में समेट आंखे बंद कर ली। वह विश्वास कर लेना चाहती थी कि यह सुख का झरना सिर्फ और सिर्फ उसका अपना है।

मां बनने के बाद विक्की की पत्नी में एक नयी उर्जा का संचार हुआ। उसमें नया आत्मवि''वास, नयी उम्मीद और नयी चेतना जागृत हुई। जिस अकेलेपन के अंधेरे में वह गुम होती जा रही थी, वह अंधेरा उसके जीवन से कोसो दूर जा चुका था। उसे स्वयं की एक अलग पहचान मिल चुकी थी, जिस पहचान ने उसके जीवन को नयी राह दी।

'अंदर के पानियों में कोई सपना कांपता है' कहानी में लेखिका ने स्त्री के उस रूप की व्याख्या की है, जिस रूप में आने से स्त्री संपूर्ण मानी जाती है। मातृत्व की भावना स्त्री को बहुमूल्य स्थान प्राप्त कराती है। दर्द का समुंद्र पार कर जब स्त्री नव जीवन को जीवन दान देती है, तभी वह संसार में अपना जीवन सार्थक मानती है।

1ण् जादवानी जया, कहानी : कयामत का दिन उर्फ क़ब्र से बाहर, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 9

2. जादवानी जया, कहानी : कयामत का दिन उर्फ क़ब्र से बाहर, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रका''ान, 2002, पृ. सं. 6

3. जादवानी जया, कहानी : पलाश का फूल, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 14

4. जादवानी जया, कहानी : पलाश का फूल, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 18

5. जादवानी जया, कहानी : रुपान्तरण, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रका''ान, 2002, पृ. सं. 85

6. जादवानी जया, कहानी : रुपान्तरण, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 85

7. जादवानी जया, कहानी : रुपान्तरण, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 87

8. जादवानी जया, कहानी : जब पेड़ों से पत्ते गिरते हैं, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रका''ान, 2002, पृ. सं. 110

9. जादवानी जया, कहानी : जब पेड़ों से पत्ते गिरते हैं, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रका''ान, 2002, पृ. सं. 108

10. जादवानी जया, कहानी : जब पेड़ों से पत्ते गिरते हैं, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 113

11. वही, पृ. सं. 114

12. जादवानी जया, कहानी : अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 125

13. जादवानी जया, कहानी : अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, अंदर पानियों में कोई सपना कांपता है, नयी दिल्ली, वाणी प्रकाशन, 2002, पृ. सं. 127

****

भारतीय हिंदी सिनेमा में स्त्री बदलता का स्वरूप

-राकेश कुमार त्रिपाठी
एसोसिएट प्रोफेसर
हिंदी विभाग
राजधानी महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली -110007

डॉ भीमराव अम्बेडकर ने बहुत ठीक कहा है कि यदि संसार के किसी भी देश की अवस्था का पता लगाना हो, तो वहाँ की स्त्रियों की दशा जानना बहुत जरुरी है । इसका तात्पर्य है कि जो समाज जितना अधिक उन्नत होगा, वहाँ स्त्रियों की दशा उतनी ही विकसित होगी। भारतीय स्त्रियों की अवस्था का पता हम भारतीय भाषाओं में लिखे जा रहे 'स्त्रीवादी' साहित्य के माध्यम से तो लगा ही सकते हैं, साथ ही हम उन कलाओं का भी अध्ययन कर सकते हैं जिनका भारतीय समाज और साहित्य से गहरा अंतर्संबंध है। इन्हीं कला माध्यमों में सबसे अग्रणी कला माध्यम है 'सिनेमा'। अर्थात् सिनेमा के अध्ययन से भी समाज में स्त्रियों की अवस्था एवं विकास को समझा जा सकता है। इस लेख में हम सर्व प्रथम भारतीय संदर्भ में स्त्री स्वरुप को समझने का प्रयास करेंगे। उसके बाद भारतीय समाज और हिंदी सिनेमा के अंतर्संबंध की चर्चा करते हुए, हिंदी सिनेमा के विभिन्न दौरों में स्त्री के बदलते प्रतिरूप को समझने का प्रयास होगा।

भारत में सिनेमा जनसंचार का सबसे लोकप्रिय और सशक्त माध्यम रहा है । प्रारंभिक दौर में जब मूक फिल्मों से सिनेमा की शुरुआत हुई तब से लेकर वर्तमान समय तक सिनेमा आकर्षण का केंद्र बना हुआ है। समाज के भीतर मनोरंजन के साथ-साथ शिक्षा एवं जागरूकता को प्रेरित करने में भी इसका योगदान रहा है। आज जो संस्कृति का स्वरूप समाज में नजर आता है। जो जीवन शैली विकसित हो रही है वह सिनेमा से बहुत हद तक प्रभावित है। इसी संदर्भ में सिनेमा विद्वान डॉ. टी. शशिधरन ने सिनेमा के इसी पक्ष के बारे में कुछ इस प्रकार टिप्पणी की है:- "सिनेमा संपूर्ण कलाओं का संगम है। चित्रकारी और नाटक, संगीत और शिल्प, वस्तुकला और नृत्य आदि कलाओं की तरह सिनेमा भी हमारे समाज और समय की बुनियादी और सामयिक चिंताओं, जिज्ञासाओं, सृजनशीलता का एक अनिवार्य अंश बनता रहा है।"[1]

प्रारंभिक हिंदी सिनेमा में भारतीय स्त्री :

भारतीय हिंदी सिनेमा के प्रारंभिक समय की फिल्में सामाजिक सुधार एवं स्त्री -चेतना और सशक्तिकरण की दृष्टि से महत्वपूर्ण कही जा सकती हैं। इस समय की फिल्मों में स्त्री जीवन से संबंधित जिन समस्याओं को उजागर किया गया है। उनमें बाल विवाह, अनमेल विवाह, पर्दा प्रथा, अशिक्षा, विधवा जीवन संघर्ष आदि शामिल थे। इन फिल्मों में धीरेंद्र नाथ गांगुली की 'इंग्लैंड रिटर्न' (1921), चंदूलाल शाह की 'टाइपिस्ट गर्ल' (1926), 'गुण सुंदरी' (1927), 'विश्व मोहिनी' (1929) आदि हैं। परन्तु भारतीय हिंदी सिनेमा में वर्ष 1931 के कुछ समय उपरांत ही भारतीय समाज में पर्याप्त स्त्री जीवन की विडंबनाओं को लेकर कई फिल्में बनाई गई। जिनमें 'इंदिरा एम.ए.' (1934), काली प्रसाद घोष की 'शहर का जादू' (1934), 'देवदास' (1935), 'अछूत कन्या' (1936), के. सुब्रमण्यम की 'बाल योगिनी' (1936), आर.वी. शांताराम की 'दुनिया ना माने' (1937) प्रसिद्ध रही हैं। जिनमें 'अछूत कन्या', 'बाल योगिनी' और 'दुनिया न माने' स्त्री दृष्टि से अपने समय से बहुत आगे की फिल्में हैं।

वर्ष 1936 में फ्रांज़ ऑस्टेन द्वारा निर्देशित फिल्म 'अछूत कन्या' प्रथम दृष्टि में, एक दलित स्त्री 'कस्तूरी' और सवर्ण पुरुष 'प्रताप' के प्रेम प्रसंग पर केंद्रित है। इस फिल्म में न केवल दलित स्त्री और ब्राह्मण पुरूष के प्रेम को बहुत अच्छे से उकेरा गया है बल्कि इस फिल्म ने स्त्री के त्यागी और देवीय रूप को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया गया है। जबकि गंभीरता से विचारने पर इस फिल्म के माध्यम से भारतीय पितृसत्तात्मक समाज में जाति-प्रथा के दंश से अभिशप्त स्त्री के जीवन की गति को समझा जा सकता है। जहाँ वह एक ओर तो स्त्री है और ऊपर से दलित है। अपनी संपूर्णता में 'अछूत कन्या' एक प्रगतिशील कथानक पर बनी फिल्म है जो अनेक रूपों में अपने समय और समाज की समस्याओं को उकेरते हुए, अपने समय का अतिक्रमण करती है।

वर्ष 1936 में ही के. सुब्रमण्यम 'बाल योगिनी' नाम की फिल्म लेकर आए। "बाल योगिनी जिसमें एक ब्राह्मण विधवा की जीवन की कथा कही गई थी। तब विधाएं समाज से अलग रखी जाती थीं और वे अछूत छाया की तरह होती थीं। उनके लिए अलग आश्रम होते थे जहां उन्हें बेहद नारकीय जीवन जीना होता था। कोई भी सामाजिक व्यवस्था उन्हें स्वीकार करने को तैयार नहीं होती थी, जबकि 1936 का वर्ष भारतीय समाज में प्रगतिशील आंदोलन का वर्ष था।"[2] वहीं वर्ष 1937 में वी शांताराम की फिल्म 'दुनिया ना माने' आई। इस फिल्म में भी एक विधवा के जीवन की कथा कही गई थी। इस फिल्म के माध्यम से विधवा जीवन को मान्यता दिलाने का प्रयास किया। इस फिल्म से मंडित मस्तक विधवाओं को फिर से एक नया जीवन शुरू करने की प्रेरणा मिलती है। इस प्रकार प्रारंभिक दौर की फिल्मों में मूलतः स्त्री जीवन के दुःख को ही स्थान मिला है जिसके कारण इन फिल्मों में रुढिवादी सामाजिक मूल्यों के प्रति संघर्ष का आभाव दिखाई देता है।

भारतीय हिंदी सिनेमा में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद ही आगमन हुआ 'शो-मैन' राज कपूर का। राज कपूर ने 1949 से फिल्में बनानी शुरू की थी। राज कपूर अपने समय के स्त्री अस्मिता के महत्वपूर्ण चितेरे माने जाते हैं। उन्होंने स्त्री अस्मिता को स्त्री की जगह खड़े होकर समझने का प्रयास किया है। 'बरसात', 'आवारा', 'श्री 420', 'चोरी-चोरी', 'जागते रहो', 'जिस देश में गंगा बहती है' सभी फिल्मों में स्त्री देवी या दानवी के स्टीरियोटाइप से बहुत हद तक दूर हटकर, अपने व्यक्तित्व, गरिमा, आकांक्षाओं और यहां तक की दैहिकता में मानवी दिखाई देती है। इसी दौर में महबूब खान की एक महत्वपूर्ण फिल्म आई, जिसका नाम था 'मदर इंडिया' (1957)। 'मदर इंडिया' में पात्र 'राधा' के माध्यम से एक परम्परागत भारतीय स्त्री की छवि को दर्शाया गया है। वह पतिव्रता संघर्षशील भारतीय स्त्री के रूप में जीवन में आने वाली कड़ी से कड़ी कठिनाइयों का सामना करते हुए अपने सतीत्व की रक्षा करती है और अपने बच्चों का पालन-पोषण करती है। वह स्वयं अपने अपराधी बेटे बिरजू को मार कर समाज के समकक्ष स्त्रीत्व रक्षा की एक मिसाल कायम करती है। "महबूब खान की 'मदर इंडिया' (1957) में स्त्री की उदात्त को मातृत्व में नहीं बल्कि यथार्थ के धरातल पर उसके जीवन संघर्ष में स्थापित किया गया है।"[4]

इसी बीच 50 के और 60 के दशक में विमल रॉय, गुरुदत्त, महबूब खान और राज कपूर जैसे फिल्म बनाने वाली हस्तियों ने स्त्री के कई रूप पत्नी, माँ, प्रेमिका का सही चित्र प्रस्तुत किया। जिसके विषय है स्त्री की आंतरिक हाल और विचार पर केंद्रित रहे। 'मदर इंडिया', 'प्यासा', 'कागज के फूल' और 'मधुमालती' जैसी फिल्मों ने यह साबित किया कि किस तरह स्त्री अपने व्यक्तित्व को जीती है? किस तरह खुश रहती है? उनका आंतरिक हृदय क्या करता है? और वह किस तरह समाज और परिवार को देखते हुए कहां पहुंचना और रहना चाहती है? यदि हम विमल रॉय की फिल्मों को देखें तो हम पाएंगे कि विमल रॉय ने भी इस दृष्टि से काफी अच्छी फिल्मों का निर्माण किया है। जिनमें 'दो बीघा जमीन', 'परिणिता', 'बिराज बहू', 'मधुमिता', 'सुजाता', 'बंदिनी' स्त्री चेतना की महत्वपूर्ण फिल्में हैं। जिनमें स्त्री संघर्ष के तार समाज के अन्य संघर्षों से जुड़ते हैं। 'सुजाता' (1959) प्रेम और जाति का अंतर्द्वंद दर्शाया गया है। 'सुजाता' स्त्री दृष्टि से अपने समय की काफी महत्वपूर्ण फिल्म मानी जाती है।

इस प्रकार हिंदी सिनेमा का प्रारंभिक चरण धार्मिक मान्यताओं, सामाजिक समस्याओं और कुरीतियों पर बनने वाली फिल्मों का है। "1940, 1950, 1960 के दशकों को हिंदी सिनेमा का स्वर्ण युग कहा जाता है। इस युग में एक और तो मृदुल रोमानिया ने सामंतवाद पर अप्रत्यक्ष वार किया, दूसरे सामाजिक संबंधों को ठोस यथार्थ के धरातल पर दर्शन की प्रवृतियां सामने आई।"[5]

समांतर हिंदी सिनेमा स्त्री-चेतना:

भारतीय हिंदी सिनेमा में सातवें दशक में शुरू हुए कला-सिनेमा आंदोलन के प्रगतिशील और यथार्थवादी नजरिए ने सिनेमा में स्त्री के प्रति दृष्टिकोण में व्यापक बदलाव लाने की कोशिश की। इस यथार्थवादी नजरिए के कई कारणों में से एक साहित्य से कला सिनेमा का जुड़ाव भी था। इस समय के फिल्मकारों में मृणाल सेन, ऋत्विक घटक, श्याम बेनेगल, बासु भट्टाचार्य, गोविंद निलहानी और बासु चटर्जी आदि ने हिंदी सिनेमा को यथार्थवादी नजरिया दिया। इसमें से बहुत से फिल्मकारों ने हिंदी साहित्य पर भी कई फिल्मों का निर्माण किया। जहाँ एक ओर 70 के दशक के दौर की कला फिल्मों में स्त्री जीवन के प्रश्नों ने व उसकी समस्याओं ने अपना स्थान बनाया। वहीं उसके समांतर बन रही कमर्शियल सिनेमा में 1970 और 80 के दौर की फिल्में हिंसा और मारधाड़ से भरी रहीं। जिनमें स्त्री पात्र एंग्री यंगमैन की क्रोध का निकास मात्र बन गए। इसलिए यह स्त्री पात्र व्यक्तित्वहीन निरीहता का शिकार हो गए। समग्र रूप से देखें तो हिंदी सिनेमा के 1970, 80 और 90 के दशक में स्त्री पक्ष को लेकर गजब का बदलाव आया जिसने पर्दे पर तो स्त्री चरित्रों को तो बदला ही, साथ ही इसने समाज में पल रही पुरातन रुढ़िवादी विचारधारा को भी तोड़ा दिया कि स्त्री सिर्फ घर की चारदीवारी में रहकर घर का कामकाज और बच्चों को पालने के लिए होती है। 70 और 80 के दशक के दौरान 'दो बीघा जमीन', 'बूट पॉलिश', 'जागृति', 'झनक-झनक पायल बाजे', 'सुजाता', 'गाइड', 'उपकार', 'आनंद' इसके अलावा ऋषिकेश मुखर्जी की 'अभिमान' और 'मिली' जैसी फिल्मों में सामाजिक अंतर्द्वंद्व और किस प्रकार स्त्री जीवन जीती है, उसका चित्रण हुआ।

वैश्वीकरण के दौर के हिंदी सिनेमा में भारतीय स्त्री:

भारतीय हिंदी सिनेमा में वर्ष 1990 के बाद के दशक में जब भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था से जोड़ा गया। यही समय था जब भारत में बाजार के उदारीकरण और अर्थव्यवस्था के वैश्वीकरण की शुरुआत होती है। जिससे भारतीय हिंदी सिनेमा में विदेशी कंपनियों की भागीदारी बढ़ी और भारतीय समाज में हॉलीवुड की फिल्मों का अच्छा प्रभाव देखकर उसी तरह की तकनीक और शैली का विकास हुआ। बड़े पैमाने पर भारतीय समाज में स्त्रियों पर प्रव हिंदी सिनेमा में इस दौर में देखा गया। यही कारण है कि वर्ष 1991 में आई फिल्म 'लम्हे' और 'हिना' स्त्री संवेदना और चरित्रों की विशेष प्रकार की फिल्म है जिनमें प्रेम तो है पर समझ भी है, जीवन के प्रति जीने की। 1992 में 'रुदाली' और 'रोजा' जैसी फिल्मों ने फिर समाज में स्त्री के चरित्रों और कमजोरियों को उभारा। दोनों फिल्मों की स्त्री पात्र लड़ती हैं पर समय और परिस्थितियों के आगे झुक जाती हैं। 1993 में राजकुमार संतोषी द्वारा निर्देशित फिल्म 'दामिनी' पर्दे पर आई। इस फिल्म से स्त्री एक सशक्त चरित्र के रूप में उभरकर आती है। जहां वह अपने पति से अलग रहकर सम्मान की लड़ाई लड़ती है। समाज में हो रहे अत्याचार के विरुद्ध खड़ी होती है। बेखौफ होकर हाथ में फावड़ा लेकर गुंडों से लड़ती है। इस फिल्म में स्त्री के बदलते रूप को देखा जा सकता है। इस फिल्म में स्त्री को एक शक्तिशाली तथा निडर स्त्री के रूप में दर्शाया गया है। वर्ष 1991 में अरुण कॉल द्वारा निर्देशित एक फिल्म आती है 'दीक्षा', यह फिल्म डॉ.

यू.आर. अनंतमूर्ति की कहानी 'घटश्राद्ध' पर आधारित थी। इस फिल्म में मार्मिक ढंग से वैधव्य जीवन की त्रासदी और विधवा स्त्री के गर्भवती होने पर सामाजिक प्रताड़ना और बहिष्कार को दर्शाया गया है। कहानी में दर्शाया गया है कि विधवा स्त्री को न तो प्रेम का अधिकार है और न ही विवाह का। विधवा होते हुए 'माँ' बन जाना तो समाज की दृष्टि में घोरतम पाप है और सजा की अधिकारिणी भी स्त्री ही होती है। फिल्म में एक पात्र कहता है कि "यह धर्म नहीं है व्यक्तिगत सिद्धांतों की रणनीति में असहाय है स्त्री की बलि है।" फिल्म में संपूर्ण ब्राह्मण समाज एकत्रित होकर एक जीवित स्त्री के घर श्राद्ध का विकल्प देता है। उस विकल्प का पालन करते हुए स्वयं उसका पिता ही अपनी जीवित पुत्री का श्राद्ध करते हुए कहता है कि "जा तुझे मुक्ति प्राप्त हो।" यह कैसी मुक्ति है जो जीते-जागते मनुष्य को मृतक बना रही है। इस फिल्म के माध्यम से यह समझा जा सकता है कि किस प्रकार पितृसत्तात्मक समाज की क्रूरता के समक्ष स्त्री का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है।

इस प्रकार इस दौर में दीपा मेहता द्वारा निर्देशित एक फिल्म 'फायर' (1996) दो स्त्रियों सीता और राधा जो की फिल्म में देवरानी-जेठानी की भूमिका में हैं, दोनों नायिकाओं के पति अपनी पत्नियों के स्थान पर क्रमशः ब्रह्मचर्य और प्रेमिका को चुनौती हैं। उनके लिए उनकी पत्नियों के प्रेम संवेदनाओं, स्वप्न और आकांक्षाओं से कोई सरोकार नहीं है। अपनी पतियों की उपेक्षा से आहत सीता और राधा एक दूसरे के प्रति आकर्षित होती हैं और अपने प्रेम तथा संवेदना का इजहार करती हैं। इस तरह का आचरण पितृसत्तात्मक समाज के लिए घोर पाप है, प्रज्वलित अग्नि के समान है। इसलिए इस आचरण का सर्वत्र विरोध और निंदा होती है। क्योंकि इस रूढिवादी समाज को हमेशा ही स्त्री की गलती नज़र आती है। वर्ष 1994 में 'बैंडिट क्वीन' को भी इस दिशा में सफलता मिली। शेखर कपूर द्वारा बनाई गई यह फिल्म दलित स्त्री के उत्पीड़न का वास्तविक इतिहास बताती है। जिसमें 11 वर्ष की फूलन का बलात्कार पहले तो स्वयं उसका पति करता है और बाद में ऊंची जाति के लोगों द्वारा सामूहिक बलात्कार करने के बाद उसे निर्वस्त्र करके पूरे गांव में घुमाया जाता है। लेकिन फूलन हार नहीं मानती, अपराधियों से बदला लेती है और जेल चली जाती है और बाहर आने पर अपने दम पर राजनीति में सांसद चुनी जाती है। 'बैंडिट क्वीन' फिल्म दलित स्त्री के जीवन संघर्ष की यथार्थ रचना है जिससे सभी स्त्रियों ने प्रेरणा ग्रहण की है। वहीं वर्ष 1995 में 'बांबे' फिल्म में एक मुस्लिम लड़की का हिंदू लड़के के साथ विवाह और उससे उत्पन्न समस्याओं को दर्शाया गया है। वर्ष 1998 और 1999 में 'गॉड मदर', 'हम दिल दे चुके सनम', 'ताल' आदि जैसी फ़िल्मों में भी स्त्री के अनगिनत चरित्र पेश किए गए हैं। जिनमें सामाजिक बंधनों को तोड़ने का प्रयास किया गया है। तथा स्त्री के बदलते रूप को दर्शाया गया है। इसके साथ फिल्मों में उपभोक्तावादी संस्कृति का विकास हुआ जिसका कार्य सिर्फ और सिर्फ मुनाफा था।

इस तरह से बीसवीं शताब्दी के आखिरी दशक के सिनेमा में भी महिलाओं के मुद्दों पर परंपरा और आधुनिकता का द्वंद्व दिखाई देता है। जहां एक तरफ स्त्री जीवन के अनछुए विषयों पर प्रगतिशील फिल्में देखने को मिलती हैं वहीं दूसरी तरफ परंपरागत पितृसत्तात्मक सोच की हिमायती फिल्मों की भी इस दौर में कमी नहीं है। इसी मिले-जुले रुख के साथ हिंदी सिनेमा ने 21वीं शताब्दी में प्रवेश किया।

21वीं शताब्दी के हिंदी सिनेमा में स्त्री-चेतना:

21वीं शताब्दी के प्रारंभ में ही 'क्या कहना', 'लज्जा', 'चांदनी बार', 'मिस एंड मिसेज अय्यर' जैसी फिल्में आईं, बेशक इन फिल्मों ने भारतीय समाज की पोल खोलकर रख दी। जिससे स्त्री की स्वतंत्रता कहीं-न-कहीं बाधित हो रही थी। 'क्या कहना' फिल्म में प्रीति जिंटा स्त्री पात्र नायिका एक लड़के के प्रेम करती है। उसकी परिणति गर्भधारण के रूप में होती है। नायिका उस लड़के से शादी करना चाहती है, पर वह उस गर्भ को गिराने की सलाह देता है। परंतु वह बच्चे को जन्म देने का फैसला करती है। इसी परंपरा में फिल्म 'पा' सराहनीय है जहां नायिका किसी पर दोष नहीं मढ़ती है और अकेले बच्चे को जन्म देकर पालती है। वहीं राजकुमार संतोषी की फिल्म 'लज्जा' तत्कालिक समाज की विसंगतियों को प्रदर्शित करती है, फिल्म में चार स्त्रियों की कहानी दिखाई गई है। जो समाज द्वारा प्रताड़ित हैं वे बार-बार सीता की तरह अग्निपरीक्षा से गुजरती दिखती हैं। चारों स्त्री पात्रों का नाम सीता के नाम पर होना उन्हें मिथकीय आयाम देता है। वैदेही अपने पति की इच्छा के आगे झुकने से इंकार करती है, मैथिली दहेज दानवों के विरुद्ध खड़ी होती है, रामदुलारी गांव में साक्षरता की अलख जगाती है अंततः बलात्कार के बाद जिंदा जलाई जाती है। जानकी समाज में औरतों की स्थिति पर प्रश्नचिन्ह लगाती है। 'लज्जा' की कोई भी सीता समकालीन सामाजिक यथार्थ पर सीता की तरह चुप नहीं रहती, वे सीमाओं का अतिक्रमण करती हैं, जो पुरुष द्वारा बनाई गई हैं। संयम के, धीरज के टूटते ही ये सीतायें सामाजिक चौखटों को लाँघती हैं।

भारतीय हिंदी सिनेमा की एक सच्चाई यह भी है कि फिल्में केवल अभिनेता के सहारे चला करती हैं। हिंदी सिनेमा में अधिकांश हिंदी फिल्में पुरुष प्रधान होती हैं। नायक के कंधे पर चलती हैं फिल्म की सफलता का पूरा श्रेय नायक को जाता है। नायिका की भूमिका नायक का दिल बहलाने मात्र की होती है। बहन-बेटी तो अबला होती है और नहीं, तो पेड़ों के इर्द-गिर्द हीरों के साथ नाचने वाली सुकुमारी नायिका के रूप में होती है। कभी-कभी वह कोठे पर नाच-गाकर पेशा करने वाली बना दी जाती है। निर्देशक जब चाहता है, वह प्रकट हो जाती है जब और जहां चाहता है, अदृश्य हो जाती है। उसका कोई व्यक्तित्व नहीं होता, स्वतंत्र अस्तित्व या छवि नहीं होती। परन्तु एक सकरात्मक पक्ष यह है कि 21वीं शताब्दी के हिंदी सिनेमा में कई परिवर्तन विस्तृत फलक पर दिखाई देते हैं। चाहे भाषा का प्रश्न हो, वेशभूषा का प्रश्न हो या फिर किरदार की बात हो। प्रत्येक क्षेत्र में बहुत अधिक बदलाव दृष्टिगोचर होता है। अब फिल्में केवल हीरो या नायक के बल पर नहीं चलतीं, अपितु उनमें नायिका की भूमिका भी महत्वपूर्ण हो गई है। न केवल महत्वपूर्ण बल्कि इस सदी में कई फिल्में ऐसी भी रिलीज हुई जो पूर्णत: नायिका पर ही केंद्रित थीं। इन फिल्मों 'मेरीकॉम', 'मर्दानी', 'नाम

शबाना', 'गुलाबी गैंग', 'कहानी', 'नो वन किल्ड जेसिका', 'इंग्लिश-विंग्लिश', 'गुंजन सक्सेना', 'अनारकली ऑफ़ आरा', 'निल-बटे सन्नाटा' आदि फिल्में शामिल हैं। अब वो जमाना गुजर चुका है, जब नायिका को केवल नाममात्र और खानापूर्ति के लिए फिल्मों में लिया जाता था। कुछ सुपरस्टार ऐसे भी रहे जो पूरी फिल्म कास्ट का चुनाव स्वयं ही करते थे, यहां तक कि निर्देशक का चयन भी। किंतु धीरे-धीरे यह प्रचलन खत्म होने लगा है। नायिका अब केवल दिखावे के लिए नहीं ली जाती, अपितु पूरी फिल्म उसी के बल पर चलने लगी है। पूरी फिल्म का केंद्र बिंदु अभिनेत्री ही होने लगी हैं। न केवल उसने हीरो के बराबर फीस प्राप्त की अपितु अपने किरदार और भूमिका के लिए हीरो से अधिक तालियां भी बटोरी और पुरस्कार भी जीते। एक्शन से लेकर रोमांस तक, किसी भी क्षेत्र में वह पुरुष अभिनेता से उन्नीस नहीं दिखाई पड़ती है। वह न केवल अभिनेता से फाइट करती है बल्कि उसके साथ प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिस्पर्धा करती है। वर्ष 2014 में उमंग कुमार द्वारा निर्देशित फिल्म 'मैरीकॉम' भी खासी चर्चा में रही। यह फिल्म भारतीय खेल जगत की प्रसिद्ध चैंपियन महिला बॉक्सर मैरीकॉम की जीवनी पर आधारित है। इसमें मैरीकॉम के किरदार को प्रियंका चोपड़ा ने बखूबी निभाया इस अभिनय के लिए उन्होंने पर्याप्त तैयारी की थी। अपने लुक को रफ एंड टफ बनाने के लिए उन्होंने खूब पसीना बहाया। मणिपुर के एक सामान्य ईसाई परिवार में जन्मी लड़की की बॉक्सर बनने तथा अपने सपनों को हकीकत में बदलने की कथा है 'मैरीकॉम'।

वर्ष 2014 में ही 'मर्दानी' फिल्म आई। इस फिल्म में रानी मुखर्जी को उनकी दमदार भूमिका और अभिनय के लिए खूब वाहवाही मिली। उनका काम ही कुछ ऐसा था। फिल्म की शुरुआत से आरंभ हुआ द्वंद्व अंत तक चलता रहता है। यह संघर्ष ऐसा हुआ जैसा अक्सर हिंदी फिल्मों के नायक या किसी पुरुष पात्र द्वारा किया जाता है। यह फिल्म मुख्य रूप से भारत में हो रहे युवतियों के रहस्यमय अपहरण कर विदेशों में उनको तस्करी कर उपलब्ध कराने पर केंद्रित है। यह एक गंभीर विषय है। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि आज का हिंदी सिनेमा स्त्रियों के स्टीरियोटाइप छवि को तोड़कर सशक्त स्त्री के रूप में प्रस्तुत कर रहा है। युवा निर्देशक एवं महिला निर्देशक स्त्री की नवीन छवि को दर्शकों के समक्ष ला रहे हैं। दर्शक भी इसे स्वीकार कर रहे हैं। यह स्त्री सशक्तिकरण एवं स्त्री चेतना के दृष्टिकोण से एक शुभ संकेत है। वर्तमान में नायक प्रधान फिल्मों के प्रतिमान बदल रहे हैं। ' 'हँसी तो फँसी', 'हाईवे', 'क्वीन', 'टॉयलेट एक प्रेम कहानी', 'पैडमैन', 'पिंक' और 'थप्पड़' जैसी सरीखी फिल्में स्त्री की चुनौतीपूर्ण भूमिकाओं को प्रस्तुत कर रही हैं। इन फिल्मों में स्त्री की ऐसी समस्याओं को समाज के समक्ष प्रस्तुत कर रहीं हैं जिन्हें कभी प्रस्तुत नहीं किया गया।

अंततः कहा जा सकता है कि भारतीय समाज में हिंदी सिनेमा नें स्त्री को बराबरी का अधिकार दिलवाने, उसे जागरुक करने, आगे बढ़ने की प्रेरणा देने, उसे घर की चारदीवारी से मुक्त करने, उसे सपने दिखाने और उन्हें पूरा करने का साहस देने, उसके साथ हुए दुर्व्यवहार का विरोध करने, गलत का विरोध और सही का समर्थन करने का प्रयास सदैव करता रहा है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि हिंदी सिनेमा ने स्त्री को सशक्त बनाने में अहम भूमिका अदा की है और स्त्री में चेतना का विकास कर स्त्री को सशक्त किया है। स्त्री विमर्श की दृष्टि से हिंदी सिनेमा का योगदान अनमोल है।

संदर्भ:

1. शशिधरन, डॉ. टी., 'सिनेमा के चार अध्याय', वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, 2014, पृ. स.9
2. शर्मा, पंकज (संपा), 'हिंदी सिनेमा की यात्रा', लेख अरविन्द कुमार 'सातवें-आठवें दशक का सिनेमा', अनन्य प्रकाशन दिल्ली, पृ. स. 76
3. श्रीवास्तव, राकेश कुमार (लेख), 'हिंदी सिनेमा में स्त्री छवि: कुछ प्रतिबिंब', पत्रिका 'समसामयिक सृजन', अक्तूबर-मार्च, 2012-13, पृ. स. 74
4. वही, पृ.स. 73
5. पारख, जवारीमल्ल, 'हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र', ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन,नई दिल्ली पृ. स.19

****

तीसरा आदमी : उत्तर आधुनिकता एवं स्त्री विमर्श

-प्रभा साह
शोध निर्देशक
इन्दिरा प्रियदर्शिनी राजकीय स्नातकोत्तर महिला वाणिज्य महाविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल (उत्तराखण्ड)

-प्रमांशु यादव
शोध छात्र
इन्दिरा प्रियदर्शिनी राजकीय स्नातकोत्तर महिला वाणिज्य महाविद्यालय,
हल्द्वानी, नैनीताल (उत्तराखण्ड)
मो.9628074223

कालजयी कथाकार कमलेश्वर हिन्दी साहित्य जगत के बहुचर्चित, लोकप्रिय तथा सशक्त रचनाकार रहे हैं। उनकी ख्याति भले ही एक पटकथा लेखक या एक सरल कहानीकार के रूप में रही हो, फिर भी उन्होंने एक प्रतिष्ठित साहित्यकार का रूतवा हासिल किया है। लगभग एक दर्जन श्रेष्ठ उपन्यासों का सृजन कार्य करते हुए उन्होंने विषयवस्तु के अनूठेपन की बुनियाद पर अपना अलग अस्तित्व निर्माण किया जिसमें उनकी उपन्यास यात्रा अपनी मूल्यवक्ता सिद्ध कराती है। बहुआयामी दायित्व वहन करने वाले कमलेश्वर ने साहित्य की सभी विधाओं में सृजन कर्म किया है। उन्होंने जिसमें भी कलम चलाई, परम्परागत मानदण्डों से अलग साहित्य का निर्माण किया। कमलेश्वर शोषित एवं वंचित मानवता के पक्षधर रहे परन्तु मानवीय सृष्टि में विचरण करने वाले अन्य जीवों को भी नहीं भूले। उनके उपन्यासों में शोषित एवं वंचित समाज का मुख्य केन्द्र स्त्री जीवन की समस्याएं रही हैं। इसी परम्परा को 'तीसरा आदमी' उपन्यास में प्रस्तुत किया है। जिसमें उत्तर आधुनिक स्त्री के जीवन का दर्शन प्रतिबिम्बत होता है। इसलिए प्रस्तुत उपन्यास में उत्तर आधुनिक स्त्री विमर्श का विश्लेषण प्रस्तुत करने से पहले आधुनिकता एवं उत्तर आधुनिकता का भी विश्लेषण अपरिहार्य हो जाता है और उसका स्त्री–विमर्श से सम्बन्ध भी है।

सामान्य समझ के मुताबिक वर्तमान में होना या अपने समय में अवस्थित होना आधुनिक होने की पहचान है। वैसे सत्रहवीं शताब्दी में यूरोप में आधुनिक शब्द का प्रयोग वर्तमान समय के संदर्भ में होता था। इस दौर में रूढ़िग्रस्त, अप्रचलित एवं पुराने विचारों के खिलाफ इसका प्रयोग होता था और आधुनिक होना क्रमशः श्रेष्ठ होना माना जाने लगा। अतः आधुनिक होना एक बौद्धिक अभिवृत्ति है। इसमें पारम्परिक विचारों, सिद्धान्तों एवं सांस्कृतिक मूल्यों से परे हटते हुए विवेक, वैज्ञानिकता एवं तर्क के आधार पर चीजों को जानने और समझने का प्रयास किया जाता है। इस आधुनिकता की अवधारणा ने कई देशों में औद्योगिक विकास किया। रहन–सहन के स्तर को ऊँचा किया, जिन्दगियों को आसान और सुविधाजनक बना दिया। परन्तु क्या आम लोगों में भी आधुनिकता की यही समझ है। इस पर एस0एल0 दोषी टिप्पणी करते हैं कि ''आम आदमी की आधुनिकता के बारे में समझ बहुत अजीब है। सफेद कागज पर स्याही का धब्बा जिसका आकार है भी सही और नहीं भी या वह केवल निराकार है, आधुनिकता है। आधुनिकता का मतलब एकदम मनमाना है। स्वयं चित्रकार को समझाना पड़ता है कि उसने अपने चित्र में क्या प्रदर्शित किया है। चित्र स्वयं कुछ नहीं बोलता। चित्रकार बार–बार कहता है कि यह मॉडर्न आर्ट, तुम्हारी समझ में नहीं आएगा। आधुनिकता का सामान्य अर्थ जो आम आदमी निकालता है वह यह है कि जो समझ में न आए, वह मॉर्डन है। आधुनिकता केवल चित्रकारी में हो, ऐसा नहीं है। यह अवधारणा बहुत व्यापक है। कला, संगीत, साहित्य और यहाँ तक कि आदमी की जीवनशैली में भी आधुनिकता होती है।''[1] यह तथ्य है कि आज भी परम्परागत समाज आधुनिकताबोध को अपने खिलाफ ही मानता है। फिर भी आधुनिकता ने परम्परागत समाज में परिवर्तन लाने में सफलता प्राप्त कर लिया है, परन्तु कालान्तर में पुनः आधुनिकता द्वारा प्रस्तावित व्यक्तिनिष्ठ मानवता पर पुनर्विचार करने का अवसर आ गया था। यह सवाल उठने लगा कि आधुनिकता के दौर में ही विश्वयुद्ध जैसी विभीषिकाएँ उत्पन्न हुई, अतः इसकी जड़ें कहीं इसके चिंतन में तो नहीं है? यह चिंतन की प्रक्रिया ही उत्तर–आधुनिकता के रूप में स्थापित हुई। यहाँ सबसे पहले यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि उत्तर–आधुनिकता का चिंतन आधुनिकता की प्रतिक्रिया या उसके विरोध में नहीं आया है। यह उसकी अपर्याप्तता की उपज है। उत्तर का तात्पर्य 'बाद' (After) से है। कालांतर में आधुनिकता ही उत्तर–आधुनिकता

में रूपांतरित होती है। अन्य क्षेत्रों की तरह कला के क्षेत्र में भी आधुनिक समय के खिलाफ भी विद्रोह किया गया। यह 'समय' इतिहास का था जिसे 'हीगेल' जैसे विद्वानों ने प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होते हुए देखा था। इस काल के विचारकों ने न्याय का राज एवं समतामूलक समाज का जो सपना देखा था, मानव प्रगति की जो आशा बंधी थी, दो–दो महायुद्धों ने उसे विखण्डित कर दिया। ज्ञान और लोकतंत्र से जुड़ी अपेक्षाएँ भी अधूरी रह गई। इस प्रकार आधुनिकता के वृहद अभियान की कमियों को उजागर करते हुए उत्तर–आधुनिक चिंतन का प्रादुर्भाव होता है। आधुनिकता की तरह उत्तर–आधुनिकता का कोई एक और सुनिश्चित अभिलक्षण नहीं है। अब बहुत कुछ द्रवणशील, अनिर्णेय एवं अनंतिम है। इसमें सत्य–सत्य नहीं रहता है, आख्यान में परिणत हो जाता है। इसमें कोई केन्द्र नहीं रहता। इसका जोर विकेन्द्रण पर होता है। इसमें महाख्यानों के बजाय आ ख्यान बहुलता पर बल दिया गया। इसका समर्थन करते हुए 'The Post Modern condition : A Report on knowledge (1979) के लेखक त्यौंतार भी मानते हैं कि ''उत्तर–आधुनिकतावाद महावृत्तांत के विरूद्ध है। अब महावृत्तांत का अंत हो चुका है। ईसाइयत, मार्क्सवाद और वैज्ञानिक प्रगति का मिथ महावृत्तांत है। त्यौंतार के अनुसार मैक्रो और ग्लोबल की जगह माइक्रो और एथनिक विमर्श के केन्द्र में आ रहे हैं। छोटे–छोटे अस्मिता समूहों का उदय (नारी विमर्श, दलित विमर्श आदि) वस्तुतः सकलतावादी विश्व व्यवस्था के खिलाफ उत्तर–आधुनिक आगाज का परिणाम है।''[2] इस प्रकार उत्तर–आधुनिकता के अभियान के कारण यूरो–केंद्रिकता, साम्राज्यवाद एवं पितृसत्ता समेत कई केन्द्रिकताएँ विखण्डित होती हैं। इसलिए उत्तर–आधुनिकता के समर्थकों को भरोसा है कि जिस तरह आधुनिकता ने विज्ञान और विकास के नाम पर अपना बौद्धिक और राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया है वैसे ही उत्तर–आधुनिकता मनुष्य की मुक्ति के रूप में जिसमें विखण्डन, संस्कृतियों की बहुलता और समूहों की विविधता है, अपने आपको स्थापित कर लेगी। इसमें सैकड़ों फूल खिलेंगे। यह इसके विकास में ही है कि अगणित अल्पसंख्यक समूह, उदाहरण के लिए पिछड़े और कमजोर वर्ग, स्त्रियाँ और नाना प्रकार के सम्प्रदाय आगे आ पायेंगे। अतः अब उत्तर–आधुनिकता के केन्द्र में उपेक्षित महिला, अश्वेत लोग एवं हाशिए में रहने वाले वर्ग माने जाते हैं। इसमें मुख्य केन्द्र रहा स्त्री एवं स्त्री विमर्श। इस क्षेत्र में उत्तर–आधुनिक स्थितियों ने उन केन्द्रों को व्यर्थ कर दिया जो मूलतः पुरुष केन्द्र थे।

अतः उत्तर–आधुनिक परिदृश्य का एक हिस्सा होकर स्त्री–विमर्श ने संस्कृति के मर्द केन्द्रित सामान्य सिद्धांतों को नहीं माना है। इससे तमाम सांस्कृतिक विमर्शों की चूलें हिल गई हैं। स्त्री विमर्श एक नया उत्तर–आधुनिक सामाजिक क्षेत्र है और उसकी अनदेखी संभव नहीं हैं। नए स्त्री क्षेत्र का स्वीकार हमारी अर्थव्यवस्था के नए चरण का ही स्वीकार है। इस अर्थ में स्त्री क्षेत्र और उत्तर–आधुनिकता की अपनी अर्थव्यवस्था है। यानी कि स्त्री केन्द्र के जागरण के पीछे ठोस, किन्तु अति–चंचल उत्तर–आधुनिक कारण सक्रिय है। उत्तर–आधुनिक दौर में फेमिनिष्टों ने लिंग भेदी विचार को नया आयाम दिया। साहित्य में अनुभव की प्रमाणिकता के आधार पर किया गया लेखन, साहित्य को एक प्रकार के छद्म से बचा लेने में काफी हद तक समर्थ भी हुआ, क्योंकि स्त्री स्वतंत्रता का अहसास आंतरिक होता है। वह अपने प्रति विश्वास में से गुजरता हुआ दूसरों में अपना समर्थन और स्वीकार भी जगाता है। स्वतंत्रता मात्र व्यवसायिक दक्षता का पर्याय न होकर बौद्धक सजगता और दायित्व के बोध को प्रकाशित करता है। इस प्रकार लिंग सम्बन्धी एक उत्तर–आधुनिक मुद्दा सामने आया और परिणामस्वरूप नए सांस्कृतिक जनक्षेत्र का निर्माण हुआ। इस प्रकार की नई चेतना के बावजूद स्त्री–विमर्श के लेखन पर सबसे अधिक यह आरोप लगाया जाता है कि उनका यथार्थ सीमित है, उनकी अनुभूति सीमित हैं। उनका अनुभव जगत् चहारदीवारियों के बीच ही घूमता रहता है। किन्तु स्त्री के यथार्थ सीमित हैं तो भी यहीं यथार्थ उसका अपना है और यदि उसे सीमित कहकर अस्वीकार कर दिया जाता है तो यह स्त्री–विमर्श के लेखन के प्रति नाइंसाफी होगी। उत्तर–आधुनिकता के इस दौर में भी स्त्री की सामाजिक अवस्था एवं उसका अनुभव जगत् सीमित है, जिसके बारे में राजेन्द्र यादव लिखते हें कि ''आदमी ने औरत की जिस एक चीज को मारा, कुचला या पालतू बनाया है, वह है उसकी स्वतंत्रता। आदमी हमेशा से नारी की स्वतंत्रत सत्ता से डरता रहा है और उसे ही उसने बाकायदा अपने आक्रमण का केन्द्र बनाया है। अपनी अखण्डता एवं सम्पूर्णता में नारी दुर्जेय और अजेय है। वहाँ वह ऐसी शक्ति है जो स्वतंत्र और स्वच्छन्द है, बनैली और स्वैरिणी–इसलिए आदमी ने

उसे ही तोड़ा है। तोड़कर ही किसी को कमजोर और पालतू बनाया जा सकता है। आदमी ने लगातार और हर तरह कोशिश की है कि उसे परतंत्र और निष्क्रिय बनाया जा सके–तभी बोउवा कहती है कि ''औरत पैदा नहीं होती, बनाई जाती है।''[3] स्त्री की इन्हीं स्वच्छंदता और स्वतंत्रता की भावना को केन्द्र में र खकर हिंदी के साहित्यकारों ने अपनी रचना का निर्माण किया जिसमें स्त्री की स्वतंत्र अस्तित्व–चेतना को और स्त्री–पुरुष के द्वन्द्वात्मक सम्बन्धों को महत्त्व दिया गया, जो कि अपने समकालीन दौर में वह प्रासंगिक भले नहीं था। लेकिन उत्तर–आधुनिक विचारों से प्रेरित जरूर था। ऐसे ही साहित्यकारों में कमलेश्वर एक प्रतिष्ठित नाम है। उन्होंने स्त्री की स्व. तंत्र एवं आत्मनिर्भरता की चेतना की भावना को केन्द्र में रखकर उपन्यासों की रचना की, जिसका सशक्त चित्रण उन्होंने अपने 'तीसरा आदमी' उपन्यास में किया है।

कमलेश्वर उत्तर–आधुनिक दौर के उपन्यासकार है, जहाँ वे स्त्री के स्वतंत्र अस्तित्व एवं आर्थिक आत्मनिभ. रिता को महत्त्व देते हैं। इसी बिन्दु को वे अपने 'तीसरा आदमी' उपन्यास में दर्शाते हैं। वस्तुतः यह उपन्यास सहज रूप से 'मैं' की शैली में लिखा गया है। उत्तर–आधुनिकता के भावों के साथ नयी कहानी में स्त्री–पुरुष सम्बन्धों के बीच तीसरे आदमी की उपस्थिति को विशिष्ट शैली माना गया और कथ्य का महत्त्वपूर्ण अंग। तीसरा आदमी भी पति–पत्नी के बीच का उपस्थित पात्र है। इसे कथाकार ने सामाजिक–आर्थिक जीवन से जोड़कर विशिष्ट बना दिया है। इस तरह यह कहानी मध्यवर्गीय परिवार के दाम्पत्य जीवन के ऊँच–नीच और असहज सम्बन्धों का प्रामाणिक दस्तावेज बन जाती है। कमलेश्वर का 'तीसरा आदमी' उपन्यास आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की उपज है। मैं (नरेश), चित्रा और सुमन्त के बीच घूमती हुई यह कहानी अन्य त्रिकोणात्मक कहानियों से भिन्न है। सुमन्त नरेश का दूरदराज का भाई है। इसलिए चित्रा और सुमंत में एक स्वाभाविक नेकट्य या मैत्री का भाव है। नरेश जब तक इलाहाबाद के आकाशवाणी में काम करता रहा तब तक तो वहाँ के परिवेश के कारण उसका अहम् सन्तुष्ट होता रहा। परन्तु प्रगति के लिए दिल्ली आ जाने के बाद महानगरीय परिवेश के कारण उसका अहम् टूटने लगता है। दूसरी ओर आर्थिक कठिनाइयों के कारण वह सुमन्त के साथ एक कमरे में रहने के लिए बाध्य हो जाता है। भारतीय विवाह के व्यवस्था में पुरुष वर्चस्व एवं पूर्ण स्वतंत्रता या पत्नी पर पूर्णाधिकार बिना आत्मनिर्भरता के असम्भव है। आज की आर्थिक विषमताओं के कारण नारी ने घर के बाहर पाँव रखा है तो यह स्वाभाविक है कि किसी तीसर आदमी के आने की सम्भावना बढ़ जाती है। जाने अनजाने न्यूनाधिक मात्रा में तीसरे आदमी का प्रवेश हो जाता है। दाम्पत्य जीवन की आर्थिक परिवेश में तीसरे आदमी के आगमन की परिस्थिति का चित्रण करते हुए मैत्रेयी पुष्पा टिप्पणी करती हैं कि ''दो घड़ी किसी से बात करना पाप... किसी के साथ बात करके अगर स्त्री के मन को सुख के दो छीटें मिलें तो पाप... स्त्री का हर वो सुख, जो उसे अपने पति से इतर मिले, वह पवित्रता की परिधि को लांघता है। उसकी हर गतिविधि परम्पराओं के कैमरे में कैद है। उस पर पहला आरोप सेक्सुअल डिसबैलेंस का। पति नामक प्राणी यह कभी नही समझ पाता कि उसकी पत्नी कोई सामान नहीं है। वह बेपरवाह है, भीतर बहते प्रेम के उन झरनों से जो उसके हो सकते हैं, लेकिन उन झरनों का रूख अपनी ओर मोड़ने का हुनर उसे नहीं आता। स्त्री भी अपने भीतर की ख्वाहिशों को पहचाने बगैर अपने झरनों को सूखने देती है। पति के इर्द–गिर्द नाचते रहने की परम्पराओं को दायित्वों का चोला पहनाकर चौड़ा सिंदूर भरकर वह खुश होने का उपक्रम करती है, लेकिन ये परम्पराएँ तब लड़खड़ाने लगती हैं जब इन सूखते झरनों को कहीं से कल–कल के स्वर मिलने लगते हैं। उसके अंदर से निकलकर उसके अंतर्मन की आवाजें उसे ही भिगोने लगती हैं। उसे समझ में नहीं आता कि पति की सेवा के इतर यह कैसा सुख है जो उसके हाथ लगा है। जिस सुख की कामना से भी वह अनजान थी। अगर इन कामनाओं को जगाने में किसी पुरुष साथी का योगदान है तब तो परम्पराओं के साथ–साथ नैतिकताओं का किला भी ढहने लगता है।''[4] यही नैतिकताएँ नरेश की पत्नी चित्रा एवं सुमंत के बीच बनते रिश्तों के कारण टूटती नजर आती हैं। अपने अधिक खुले स्वभाव के कारण सुमन्त चित्रा के अधिक निकट होता जाता है। इसमें सुमन्त के रूप में तीसरे आदमी और पत्नी चित्रा के बीच अंतरंग सम्बन्धों का मुक्त चित्रण है। यह चित्रण संकेतों में उभरता है। चूँकि नरेश के रूप में 'मैं' द्रष्टा नहीं है अतः विशेष स्थिति के कारण उसके मन का संदेह और आंतरिक द्वन्द्व, उसके भीतर का घृणा भाव और द्वेष ती खा होकर उभरता है। इस प्रक्रिया में यह बहुत विश्वस. नीय बन जाता है। आकाशवाणी के काम से जब नरेश

को कुछ दिनों के लिए बाहर जाना पड़ता है तब संशय की यह काली घनी छाया सुदीर्घ होती जाती है। यहाँ तक कि लेखक ने नेरश की मानसिक प्रतिक्रिया बड़ी विशिष्टता से अंकित किया है– ''और वह तीसरा आदमी दिन–ब–दिन हमारी जिन्दगी में ध ंसता चला आ रहा था। अपनी अनुपस्थिति से शायद और भी ज्यादा। काम करते–करते एकाएक चित्रा बीच में जैसे बात कर उठती थी, वह भी उसी छाया जैसा था। यहाँ तक कि मुझे उसके चेहरे में भी उस छाया का हल्का–सा–रूपाभास दिखाई देता था। आँखों के आसपास और नाकवाला हिस्सा बिलकुल उस छाया के सांचे में ढला हुआ लगता था।''[5] नरेश का यह संशय बढ़ता चला जाता है। वह सुमन्त को देखते ही चिड़चिड़ा हो जाता है। अपने इन परेशानियों से मुक्त होने के लिए नरेश अपना तबादला पटना करवा लेता है, लेकिन चित्रा उसके साथ जाने से इनकार कर देती है क्योंकि वह दिल्ली में पढ़ाने का काम शुरू कर चुकी होती है। अतः वह आत्मनिर्भर होने के कारण अब वह नरेश के अपने ऊपर पूर्णाधिकार की भावना से मुक्त होना चाहती है। इससे नरेश का संशय यकीन में बदलने लगता है, परन्तु पति–पत्नी के बीच बदले आर्थिक समीकरण के कारण नरेश को अकेले पटना जाना पड़ता है और चित्रा सुमंत के साथ ही रहने लगती है। इस बीच चित्रा माँ भी बन चुकी थी। कुछ समय बाद नरेश पुनः पटना से दिल्ली आता है और चित्रा से मिलता है। लेकिन अबकी ये मुलाकात पति–पत्नी के रूप में नहीं बल्कि एक परिचित इंसान के रूप में होती है। बाद में जब सुमन्त को नरेश एवं चित्रा के अकेले मिलने की बात पता चलती है तो सुमन्त को भी नरेश तीसरा आदमी के रूप में नजर आता है। पुरुष का चरित्र बहुत ही अजीब होता है। यदि पति–पत्नी के बीच में किसी तीसरी औरत का आगमन हो जाए तो यह एक पुरुष और स्त्री दोनों के लिए सामान्य बात हो सकती है, लेकिन यदि पुरुष के जीवन में तीसरा आदमी का आभास हो जाए तो चरित्रता का पूरा दर्शन सामने आ जाता है। सुमन्त नरेश को तीसरे आदमी के रूप में बर्दाश्त नहीं कर पाता है और आत्म–हत्या कर लेता है। नरेश भी यह स्वीकार करता है कि ''किसी–होटल के कमरे में जाकर सुमन्त ने आत्महत्या कर ली थी। शायद किसी तीसरे आदमी के कारण... शायद वह मैं...।''[6] इस प्रकार संशय का यह भूजंग न केवल नरेश–चित्रा के दाम्पत्य जीवन को डंसता है बल्कि वह सुमंत के जीवन को भी डंस लेता है।

इसमें उत्तर–आधुनिक विमर्श को प्रस्तुत किया गया है, और 'तीसरा आदमी' में एक ओर परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त होकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व का विकास चाहती नारी है तो दूसरी ओर अपने व्यक्तित्व की सार्थकता की खोज करता पुरुष है। 'तीसरा आदमी' एक त्रिकोण है, जिसका आरंभ विवाह, अधिकार, संदेह और फिर सम्बन्धों के बिखरने पर सम. ाप्त हो जाता है। नरेश अपने व्यक्तित्व को आकार नहीं दे पाता, यहीं पर उसकी हार जो जाती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ

1-एस0एल0 दोषी–आधुनिकता, उत्तर–आधुनिकता एवं नव समाजशास्त्रीय सिद्धांत, रावत पब्लिकेशन–दिल्ली, सं0 2002, पृ0–3

2.डॉ0 अमरनाथ–हिन्दी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन–दिल्ली, सं0 2020, पृ0–78

3.राजेन्द्र यादव–आदमी की निगाह में औरत, राजकमल प्रकाशन–दिल्ली, सं0 2019, पृ0–15

4.मैत्रेयी पुष्पा–चर्चा हमारा, सामायिक प्रकाशन, नई दिल्ली, सं0 2016, पृ0–36

5.कमलेश्वर, समग्र उपन्यास –पृ0–200

6.कमलेश्वर, समग्र उपन्यास–पृ0–208

आदिवासी विमर्श

'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी में आदिवासी दृष्टि

-पवन कुमार
शोधार्थी, हिन्दी विभाग,
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-110007
पता – सुभाष नगर, महोबा, उ.प्र.-210427
मो. – 7054242753
ईमेल – pavankumar210504@gmail.com

आदिवासी समुदाय भारतीय समाज का एक बड़ा भाग है। 2011 की जनगणना के ऑकड़ों के अनुसार भारतीय आदिवासी समुदाय की जनसंख्या लगभग साढ़े आठ करोड़ है। प्रत्येक आदिवासी समुदाय दूसरे से विशिष्ट है, फिर भी उनमें कुछ ऐसे सांस्कृतिक मूल्य एवं चुनौतियाँ विद्यमान हैं जो उन्हें एकसूत्रता में पिरोती हैं। भारतीय संस्कृति की अवधारणा में आदिवासियों के जीवन-मूल्यों की छाप देखी जा सकती है। कथाकार कमलेश्वर जी ने ठीक ही कहा है — "जिसे हम 5000 वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता कहते हैं वह मूलरूप से हमारी आदिवासी सभ्यता ही है, वह सभ्यता जो भारत भूखण्ड के हमारे मूल निवासी पूर्वजों ने विकसित की है, मनुष्य और प्रकृति की सहभागिता, सहयोग और सह-अस्तित्व का जीवन दर्शन हमारे इन्हीं आदिवासी पूर्वजों की देन है।"[1] आज इन्हीं आदिवासियों के अस्तित्व, अस्मिता, भाषा एवं संस्कृति पर संकट के बादल छाए हुए हैं।

आदिवासी समुदायों को देखने-समझने की मुख्यतः दो दृष्टियाँ प्रचलित हैं — एक उनकी पक्षधर हैं तो दूसरी उनकी सम्पूर्ण संस्कृति को खारिज करती है। मुख्यधारा का एक बड़ा वर्ग — उद्योगपति, राजनेता, प्रशासन आदि आदिवासियों को असभ्य, बर्बर एवं विकास से कटा हुआ समझता है एवं उन्हें मुख्यधारा के छल-प्रपंचों में दीक्षित होकर सुसंस्कृत होने का सुझाव देता रहता है। दूसरी दृष्टि जो आदिवासियों की पक्षधर है वह उन्हें प्रकृति के साथ सह-अस्तित्व रखने वाले समुदाय के रूप में लक्षित करती है। "अध्ययनकर्ताओं ने या तो आदिवासियों की असभ्य और बर्बर छवि निर्मित करने की कोशिश की है, या फिर उनका इतना अधिक महिमामण्डन किया है कि वे इंसान नहीं, मिथकीय देवता लगते हैं।"[2] आदिवासी कवि अनुज लुगुन इस दूसरी दृष्टि को भी दो भागों में विभाजित करते हैं — "आदिवासी समाज को देखने का अब तक का नजरिया रूमानियत भरा रहा है। आदिवासी समाज की अलग सांस्कृतिक विशिष्टता की बात करते हुए बाहरी समाज उस पर रीझ तो जाता है, लेकिन वही समाज जब अपनी उसी विशिष्टता के साथ जीने के लिए अपने हक की माँग करता है तो उसे असामाजिक और अतार्किक माना जाता है। ऐसा कर वह आदिवासी समाज की विशिष्टता को ही अस्वीकार नहीं करता बल्कि वह संवैधानिक व्यवस्थाओं को भी नकारता है। बाहरी समाज का आदिवासी समाज के प्रति यह ब्राह्मणवादी व्यवहार ही है। दूसरा नजरिया आदिवासी समाज को आर्थिक रूप से पिछड़े समाज के रूप में चिन्हित करने की रही है।"[3] अनुज लुगुन जी की यह दृष्टि आदिवासी बुद्धिजीवियों की दृष्टि है जो आदिवासी समाज के मुद्दों को सांस्कृतिक अथवा आर्थिक में न बाँटकर एक मुकम्मल समुच्चय के रूप में देखते हैं जहाँ दिकुओं के शोषण के खिलाफ प्रतिरोध है तो वहीं प्रकृति एवं जीवमात्र के प्रति समता एवं प्रेम का भाव भी है। कथाकार कामेश्वर पाण्डेय जी की कहानी 'राष्ट्रपति का दत्तक' इसी दृष्टि को व्यक्त करती है।

राजेंद्र यादव हंस कथा सम्मान 2020 से पुरस्कृत 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी छत्तीसगढ़ के उस कोरवा आदिवासी क्षेत्र को कथाभूमि बनाती है जहाँ आये दिन दंतैलों(हाथियों) का हमला जंगलों के पास रहने वाले मानवों पर होता रहता है। बढ़ती मानव आबादी, वनक्षेत्रों में बढ़ते अतिक्रमण एवं जंगली जानवरों के भोजन के संकट की वजह से जंगली जानवरों और जंगल के नजदीक रहने वाले मानवों के बीच टकराव निरन्तर बढ़ रहा है। 2 अगस्त, 2021 को राज्यसभा में केन्द्र सरकार ने बताया कि **'2018-2020** के दौरान भारत में हाथी मानव टकरावों से भारत में **1401** मानवों एवं **301** हाथियों की मृत्यु हुई।'[4] कथाकार कामेश्वर पाण्डेय जी ने इसी हाथी-मानव टकराव को आधार बनाकर 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी रची है।

'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी राष्ट्रपति के द्वारा गोद लिए आदिवासी समुदाय कोरवा जनजाति के सदस्य बुटूराम के इर्द-गिर्द घूमती है। कहानी का कथानक दो समानान्तर स्तरों पर फैला है — एक तरफ बुटूराम है जिसकी डौकी(पत्नी) एवं उसकी सन्तानों को 'मोहम्मद अजीज' नामक एक गैर-आदिवासी भगा ले गया है, जिनकी वापसी हेतु बुटूराम प्रशासनिक महकमें में गुहार लगाते घूम रहा है, तो वहीं दूसरी तरफ प्रशासन है जो आदिवासी इलाके 'लेमरू' के हाथी अभ्यारण्य घोषित होने पर वहाँ रहने वाले 'राष्ट्रपति का दत्तक' घोषित हुए कोरवा एवं बिरहोर आदिवासी समुदायों को उजाड़ने पर तुला है। बुटूराम अपने स्थानीय थाने में गुहार लगाने जाता है तो वहाँ पुलिसकर्मी उसकी पीड़ा का मजाक बनाते हुए उसकी कोई रपट दर्ज किए बिना भगा देते हैं। वह जब कलेक्टर ऑफिस जाता है तो पहले तो कलेक्टर साहिबा कोई रुचि नहीं लेती है, किन्तु जैसे ही उन्हें पता चलता है कि बुटूराम अभ्यारण्य क्षेत्र से है तो उनका मस्तिष्क तुरन्त सक्रिय हो जाता है — "अभ्यारण्य! कलेक्टर साहिबा के चेहरे पर टेढ़ी मुस्कान झलक उठी।"[5] उनकी टेढ़ी मुस्कान बुटूराम में इस बात की संभावना तलाश लेती है कि वह अपने समुदाय के लोगों को गाँव खाली करने के लिए मनायेगा — "... लोग मारे जा रहे हैं... तुम भी समझाना अपने गाँवों के लोगों को। सबको बसाहट के लिए बढ़िया जगह दी जाएगी। वहाँ बेकार ही अपनी जान को सांसत में डाले हुए हो।"[6]

इसी तरह कप्तान साहब को भी बुटूराम की स्थिति पर 'दया' आ जाती है। उनकी सौ रुपये की दयालुता के पीछे भी उन्हें विस्थापित करने की योजना ही कार्य करती है —"हाथी अभ्यारण्य क्षेत्र में रहता है यह। इन्हें वहाँ से

हटाना है। मतलब, विस्थापित करना है। लेकिन बुटूराम को तो कुछ सांत्वना देना होगा। मौके पर ये लोग काम **आयेंगे।**"[7] प्रशासन के इसी दोहरे चरित्र को कथाकार महाश्वेता देवी जी अपने उपन्यास 'अग्निगर्भ' में भी लक्षित करती हैं — "प्रशासन माँ बनकर भुलावे में रखता है और बाप बन कर **डण्डा** मारता है।"[8]

विस्थापन और पुनर्वास भारतीय आदिवासियों की नियति है। उन्हें कभी औद्योगिक योजनाओं के क्रियान्वयन के लिए उजाड़ा जाता है तो कभी अभ्यारण्य, राष्ट्रीय पार्क आदि संरक्षित क्षेत्र स्थापित करने के नाम पर। "विस्थापन उनके जीवन की मुख्य समस्या बन गई है। इस प्रक्रिया में एक ओर उनकी सांस्कृतिक पहचान उनसे छूट रही है, दूसरी ओर उनके अस्तित्व की रक्षा का प्रश्न खड़ा हो गया है। अगर वे पहचान बचाते हैं तो अस्तित्व पर संकट खड़ा होता है और अगर अस्तित्व बचाते हैं तो सांस्कृतिक पहचान नष्ट होती है।"[9] कथाकार कोरवा आदिवासियों के बार-बार हो रहे इसी विस्थापन का प्रश्न प्रस्तुत करता है — "कुछ साल पहले जनसुविधाओं और रोजगार से जोड़ने के लिए इन (हाथी अभ्यारण्य क्षेत्र के) आदिवासियों को मानगुरू पहाड़ियों से उसालकर नीचे जंगल में बसाया गया था। कुछ परिवार को यह जमा नहीं तो वे फिर पहाड़ियों पर रहने चले गए। बाकी लोगों ने खेती-पाती करना शुरू कर दिया था। अब वे जमने लगे थे तो अभ्यारण्य के कारण उन्हें वहाँ से उसाला जाना जरूरी है।"[10] आदिवासी विद्वान हरिराम मीणा विस्थापन की पूरी प्रक्रिया पर ठीक ही कहते हैं — "केवल विस्थापन के कारण आदिवासी उत्थान की अन्य सारी गतिविधियाँ बाधित हो जाती है चाहे वह शिक्षा, स्वास्थ्य, पेयजल, सड़क, संचार, आवास और जीविकोपार्जन आदि किसी भी अहम मसले से जुड़ी हुई क्यों न हो।"[11] वास्तव में आदिवासियों के विस्थापन के साथ उनकी सारी संस्कृति विस्थापित हो जाती है।

हाथियों के बढ़ते हमलों के कारण क्षेत्र को अभ्यारण्य घोषित किया गया है जिसके कारण विस्थापन की पीड़ा झेलने को वहाँ का आदिवासी समुदाय मजबूर है। जबकि वास्तविकता यह है कि "हाथियों के आबादी क्षेत्र में घुसने का मूल कारण है जंगलों का खनन क्षेत्र के हवाले कर हाथियों के रहवास को खत्म कर देना। लेकिन उस तरफ सोचना कलेक्टर साहिबा का काम नहीं है। उनका काम है सरकारी आदेश का पालन करना।"[12] उद्योगपतियों के लाभ के लिए बनी नीतियाँ प्रकृति के साथ-साथ जंगली जन्तुओं और आदिवासियों को नष्ट कर रही हैं और ब्यूरोक्रेसी(प्रशासन) उद्योगपतियों-राजनेताओं के इशारे पर सरकारी नीति के पालन के नाम पर आदिवासियों को उजाड़कर अपने कैरियर को चमकाने की फिक्र में है। विकास और समृद्धि का यह अन्यायपूर्ण बँटवारा आदिवासी समुदाय के लिए विस्थापन की त्रासदी लेकर आता है। परन्तु प्रशासन इस अन्याय को न देखकर खनन-माफियाओं का एजेंट प्रतीत होता है जो कोरवा एवं बिरहोर जनजातियों के विस्थापन को सफल करने में लगा है।

विस्थापन के साथ-साथ पुनर्वास की भी बड़ी-बड़ी योजनायें बनती हैं — आदिवासियों को सुविधाओं और सहूलियतों के बड़े-बड़े वादे किए जाते हैं, उन्हें 'राष्ट्रपति का दत्तक' घोषित करवाया जाता है परन्तु परिणाम 'ढाक के तीन पात' ही निकलता है। आदिवासियों की विडम्बना यह है कि "इनकी जातियों को लुप्तप्राय देखकर ही राष्ट्रपति से इन्हें गोद लिवाया गया था। गोद लेने वाले उस पिता को उन्होंने कभी देखा नहीं होगा। राष्ट्रपति को भला क्या मालूम कि उनके कितने दत्तक हैं, और किस हाल में हैं।"[13] शासन के प्रतिनिधि के रूप में प्रशासन संवेदनशील होने का ढोंग तो करता है किन्तु वह इतना अधिक संवेदनहीन है कि कलेक्टर साहिबा को सारे आदिवासी पशु-पक्षियों की भाँति एक जैसे प्रतीत होते हैं। सफेद कुर्ता-पैजामाधारी नेता तो कलेक्टर से बिना स्लिप(एप्वाइंटमेंट) के सीधे मिलते-जुलते हैं किन्तु बुटूराम जैसे आम नागरिक को घण्टों मिलने के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है। पुनर्वास के नाम पर प्रशासन शिक्षा, नौकरी, रोजगार और समृद्धि का सुमधुर स्वप्न दिखाता है। इन स्वप्नों की वास्तविकता कलेक्टर साहिबा (प्रशासन) को तो पता होती है किन्तु भोले-भाले निरीह आदिवासी इन स्वप्नों के नाम पर ठगे जाते हैं — "उन्होंने (कलेक्टर साहिबा) उन्हें (इन आदिवासियों को) कोसा रेलिंग का प्रशिक्षण दिलाकर रोजगार दिलाने और वनोपज की समिति द्वारा मार्केटिंग कराने का भरोसा दिया है। युवकों ने उत्सुकता दिखाई है। पर वह जानती हैं कि वनों से दूर कर देने पर न तो वनोपज तक उनकी **पहुँच** होगी और न कोसा रेलिंग का प्रशिक्षण ही कुछ काम आएगा। प्राकृतिक ककून वाले पिंटू अभ्यारण्य के **अन्दर** आ **जायेंगे।** वनोपज इकट्ठा करने की अनुमति क्या उन्हें मिलेगी?"[14]

ग्रामीण समुदायों एवं वंचितों के कल्याणार्थ सरकारें राजधानियों से बड़ी-बड़ी नीतियों की घोषणा करती हैं। किन्तु लाभार्थियों के द्वार तक पहुँच कर ये योजनायें दम तोड़ देती हैं या फिर यों कहें कि लाभार्थी इन योजनाओं के सामने दम तोड़ देते हैं। आधार और जनधन खाते लिंक होने के झंझट के कारण बुटुराम को सरकारी राशन से हाथ धोना पड़ता है — "क्या खिलाओगे इन्हें? पालने-पोसने की औकात है? मतलब, उसे मालूम हो गया था कि सरकारी राशन मिलना बंद हो गया है। कहाँ से यह आधार और जनधन खाते का झंझट आ गया। राशन कार्ड के साथ **नम्बर** लिंक नहीं होने के कारण अब राशन मिल नहीं पा रहा है।"[15] प्रशासनिक तंत्र की जटिलता बुटूराम को मुट्ठी भर राशन से भी वंचित कर देती है। आजीविका और रोजगार की तलाश में आदिवासी ईंट-भट्ठों से लेकर महानगरों तक भटकते हैं। "समाज की मुख्यधारा में कदम रखते ही ये गायब होने लगते हैं। उनकी लड़कियाँ भगाकर महानगरों के देह-व्यापार में खपाई जाती हैं। भाषा और संस्कृति विलुप्ति के कगार पर है।"[16] आदिवासी स्त्रियों का कार्यस्थलों पर आर्थिक-दैहिक शोषण आम है। ठेकेदार एवं एजेंट कई बार उन्हें दलालों आदि के हाथों देह-व्यापार के लिए बेच देते हैं तो कई बार उनका यौन-शोषण करने के बाद उन्हें उनके हाल पर छोड़ देते हैं। आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल झारखंडी आदिवासी महिलाओं के संबंध में खेदपूर्ण टिप्पणी करती है कि "भूख से खाली पेट गई कुछ **महिलायें** पेट सजाकर वापस लौटती है और कुछ वहीं किसी के साथ रह जाती हैं।"[17]

प्रशासनिक संवेदनहीनता एवं विनाशकारी औद्योगिक नीतियाँ तो आदिवासी समुदायों को उजाड़ ही रही हैं, साथ ही स्थानीय गैर-आदिवासी समाज भी उन्हें उनकी दया-सहृदयता के बदले पीड़ा ही देता है। ट्रक ड्राइवर मोहम्मद अजीज जिसे ट्रक खराब होने पर बुटूराम आश्रय देता है, खाना

खिलाता है और दारू पिलाता है, वही उसकी डौकी बिरसो को भगा ले जाता है और उसके बच्चों को पंचर बनाने के काम में लगा देता है। बुटूराम की बच्चे छिनने की पीड़ा को आदिवासी कवयित्री वंदना टेटे की निम्नलिखित पंक्तियों से सादृश्य के आधार पर महसूस किया जा सकता है —

"चिंतित **हूँ** और उदास भी
कि छूट रही है मेरे बच्चों से
बहुत सारी चीजें
बहुत बड़ी दुनिया
जिन्हें वे शायद ही जान **पायें**।"[18]

बुटूराम की गरीबी का यह हाल है कि बुटूराम के पास जिला मुख्यालय आने के लिए बस के टिकट के भी पैसे नहीं है। वह जंगली जानवरों के बीच जंगल से गुजरते हुए सारी रात पैदल चलकर आता है और एस.पी. ऑफिस में भूख के कारण मूर्छित हो गिर पड़ता है। कर्मचारियों-सिपाहियों की संवेदनहीनता इतनी अधिक है कि वे पहले तो बुटूराम के तीर-कमान एवं थैले को 'डस्टबिन' के पास रखवाते हैं, किन्तु उसके जाते समय नगर सेवक अपने घर की सज्जा हेतु उससे कमान छीन लेता है और बुटूराम के पास केवल तीर रह जाते हैं। कमान के बिना तीरों का भला क्या ही उपयोग है! आदिवासी समुदायों की विडम्बना यही है कि उद्योगपतियों, प्रशासनिक अधिकारियों एवं राजनेताओं का गठजोड़ अपनी साज-सज्जा के लिए उनके हाथों से 'जल, जंगल, जमीन' रूपी कमान छीन लेता है और उनके हाथों में रह जाते हैं 'गरीबी, आश्रयहीनता और लाचारी' के तीर। बुटूराम की ही भाँति जंगली जानवरों से भिड़ने एवं अदम्य जिजीविषा रखने वाले आदिवासियों का विस्थापित होकर 'शहर में आकर चौकन्नापन गायब हो जाता है।' अपने जंगल और अपनी स्वायत्तता छिन जाने के बाद वे शहरों में झुग्गी-झोपड़ियों, फ्लाईओवर्स के नीचे रहने और दिहाड़ी मजदूर, घरेलू नौकर-नौकरानी बनने अथवा भूखों मरने के लिए अभिशप्त होते हैं।

कथाकार इस कहानी में आदिवासियों के प्रति प्रशासनिक संवेदनहीनता एवं सरकारी कुनीतियों को तो मुख्य विषय बनाता ही है, साथ ही वह आदिवासियों की भाषा, संस्कृति एवं उनमें प्रचलित बुरी आदतों का भी संकेत करता चलता है। वह 'डौकी', 'हेंजवारी', 'अड़हा' आदि आदिवासी शब्दों का प्रयोग करता है। बुटूराम के माध्यम से वह महुआ से दारू बनाने एवं पीने की बुराई का भी संकेत करता है — "... अब घर में मउहा नहीं उतारते। उसकी महक पाकर वह (हाथी) आता है।"[19] वह 'पंचायत द्वारा बिरसो को जात बाहर करने के निर्णय के माध्यम से' आदिवासियों में प्रचलित रहे सामुदायिक निर्णय-प्रणाली की ओर संकेत करता है।

प्रकृति, प्रेम और उत्सवधर्मिता का आदिवासी दर्शन में बेहद महत्व है। स्त्री-पुरुष समता का भाव एवं प्रेम करने की स्वतन्त्रता आदिवासी समुदायों की विशेषता रही है। बुटूराम ने भी बिरसो के साथ प्रेम विवाह ही किया था — "सरहुली पूजा के दिन उन्होंने हंड़िया पीकर खूब नाचा था। जदूरा नाच। वह उसका हाथ पकड़ कर अपने घर ले आया था। दाई ने भी मना नहीं किया। वे साथ रहने लगे। फिर उन्होंने ढुकू बिहाव कर लिया था।"[20] आदिवासी विमर्शकार गंगा सहाय मीणा लिखते हैं — "प्रेम और विवाह के मामले में आदिवासी समाज तथाकथित मुख्यधारा से हमेशा से उदार रहा है। यौन शुचिता और पवित्रता की **धारणायें** यहाँ अभी तक नहीं **पहुँच** पाई हैं और शायद इसीलिए स्त्री मजबूत स्थिति में है। युवागृहों (घोटुल, भोटिया आदि) और सामुदायिक गृहों की आदिवासी संस्कृति के विकास में अहम **भूमिकायें** हैं।"[21]

कथाकार आदिवासी संस्कृति में गैर-आदिवासी संस्कृति के हस्तक्षेप का भी इस कहानी में संकेत करता है। प्रकृतिपूजक आदिवासियों से उनकी 'आदिवासी' पहचान छीनकर 'वनवासी' बनाकर उनका हिन्दूकरण, इस्लामीकरण एवं ईसाईकरण करने के प्रयास जारी हैं जो उनके जीवन मूल्यों को परिवर्तित कर रहे हैं। कथाकार बुटूराम की मनःस्थिति का वर्णन करता है — "सोचता था, उसके जैसे अड़हा(कमसमझ) आदमी को होशियार घरवाली मिल गई है। आठवीं तक पढ़ी थी वह वनवासी कल्याण आश्रम के स्कूल में। वह तो अनपढ़ ही रह गया। सोचा था, बिरसो उसके घर को संभालेगी।.... पर उसे तो चटक-मटक का चस्का लग गया था। कितनों भी **रुपिये** हाथ में धराओ, पूरा ही नहीं पड़ता था। हमेशा पैसा माँगती थी। घर के धान-पान बेच देती थी। अपने और बच्चों के लिए कपड़े, खजेना, खिलौने लेती ही रहती थी।"[22] कथाकार गैर-आदिवासी संगठनों के उन प्रयासों की पोल खोलता है जो शिक्षित-सुसंस्कृत बनाने के नाम पर आदिवासी समुदायों में बाजारवाद-उपभोक्तावाद की चटक-मटक संस्कृति का प्रचार कर रहे हैं जो पारिवारिक विखण्डन से लेकर आदिवासी जीवन-मूल्यों के विघटन का कारण बन रही है। रमणिका गुप्ता जी ने इस प्रक्रिया को लक्षित करते हुए ठीक ही कहा है — "आजादी के पश्चात् पिछले **65** (77) वर्षों में राजनीतिक पार्टियों, स्वयंसेवी संस्थाओं, विकास प्रक्रिया एवं मुख्य धारा से जुड़े आदिवासी नेतृत्व ने आदिवासियों को वनों, भूमि, बच्चों, स्वाभिमान, पानी, पहचान, सहकार भावना, सांस्कृतिक धरोहर, प्राकृतिक धर्म, श्रम, **पारम्परिक** वेशभूषा, **परम्परागत** न्याय-व्यवस्था से विस्थापित ही किया है। आज के आदिवासी समाज को भूमिहीन, संस्कृतिहीन, नेतृत्वहीन एवं बेरोजगार आदि बनाने में राजनीतिक व्यवस्था की बड़ी भूमिका है। वहीं विकास का नारा देने वाली राजनीतिक **पार्टियों** और दलालों ने आदिवासियों की भूमि, वन, माइंस एवं अन्य प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा कर लिया है।"[23]

'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी मुख्यतः आदिवासी जीवन में गैर-आदिवासी हस्तक्षेप की कहानी है। यह गैर-आदिवासी हस्तक्षेप बुटूराम के निजी जीवन को तो तहस-नहस कर ही देता है। वृहत्तर परिप्रेक्ष्य में देखें तो यह हस्तक्षेप इसके समुदाय कोरवा जनजाति एवं बिरहोर जाति के गाँवों को उजाड़ने का षड्यंत्र कर रहा है।

समग्रतः देखें तो 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी में कथाकार कामेश्वर पाण्डेय जी ने संवेदनहीन प्रशासन की कथा कही है जो राजनेताओं-उद्योगपतियों के इशारे पर — कभी अभ्यारण्य के नाम पर, तो कभी उद्योगों के नाम पर — आदिवासी समुदायों को उनके जंगलों एवं जमीनों से उजाड़ने पर आमादा है। विडम्बना है कि इन "राष्ट्रपति के दत्तक को एस.पी. भी जानता है। बस,

पहचानता कोई नहीं।"[24] गैर-आदिवासी संस्कृति का हस्तक्षेप उनकी इस बची-खुची पहचान को भी नष्ट कर रहा है। कथाकार इस कहानी में प्रशासन के दोहरे चरित्र एवं सरकारी कुनीतियों के अतिरिक्त बुटूराम के माध्यम से आदिवासियों की अस्मिता एवं अस्तित्व बचाए रखने के संघर्ष को अंकित करता है। मुख्यधारा के समाज ने उसकी डौकी छीन ली, उसके बच्चे बेगार में लगा दिये, उसकी कमान रख ली और अभ्यारण्य के नाम पर उसका गाँव-घर भी कब्जा करने की कोशिश में है। फिर भी बुटूराम अपनी क्षमता भर इस सब को बचाने एवं संजोने की जद्दोजहद कर रहा है। अगर हम कहानी के मुख्यार्थ गैर-आदिवासी हस्तक्षेप, बाजारवाद, विस्थापन, लाचारी, सरकारी कुनीतियों एवं आदिवासियों की बदलती मनोवृत्ति पर ध्यान केन्द्रित करें तो निःसंदेह यह हमारे समय के आदिवासी यथार्थ को समग्रता में व्यक्त करती है। कथाकार न सिर्फ प्रशासनिक षड्यंत्र एवं संवेदनहीनता को अनावृत्त करता है बल्कि वह नेपथ्य से पूरे खेल को संचालित कर रहे असली दोषियों यथा राजनेताओं एवं उद्योगपतियों के गठजोड़ का भी संकेत करता है - '"हाथियों के आबादी क्षेत्र में घुसने का मूल कारण है जंगलों का खनन क्षेत्र के हवाले कर हाथियों के रहवास को खत्म कर देना। लेकिन उस तरफ सोचना कलेक्टर साहिबा का काम नहीं है। उनका काम है सरकारी आदेश का पालन करना। योजनाओं को कार्यान्वित करना। प्रगति और विकास के लक्ष्यों को पूरा कर अपनी करियर को चमकाना "[25]

'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी उस आदिवासी दृष्टि की परिचायक के रूप में उभरती है जो आदिवासी समुदायों को आदिवासियत के मुकम्मल रूप — बाहरी समाज के छल-प्रपंचों का शिकार होते, किन्तु अदम्य जीवट एवं जिजीविषा वाले समुदाय के रूप में देखती है। यह आदिवासी दृष्टि इस दृष्टि से विशिष्ट है कि कथाकार आदिवासियों की उस बदलती मनोवृत्ति - अस्मिता के स्थान पर अस्तित्व को महत्व - की ओर संकेत करता है जिससे वर्तमान में आदिवासी समुदाय गुजर रहा है। बुटूराम अन्ततः कलेक्टर साहिबा के सुझाव को मानने का निश्चय करता है - "गाँव छोड़ देने में ही भलाई है। सरकार किसी जगह **बसायेगी** तो रोजी - रोटी की भी व्यवस्था हो ही **जायेगी**। क्या पता, बिरसो उसकी हालत बेहतर देख फिर वापस आ **जाय**।"[26] बुटूराम के इस निश्चय के माध्यम से कथाकार संकेत करते हैं कि बाहरी षड्यंत्र सफल हो रहा है और परिणामतः आदिवासी समुदाय अपना अस्तित्व बचाने के लिए अपनी अस्मिता - अपने जल, जंगल, जमीन - से समझौता करने को विवश हो रहे हैं।

सन्दर्भ:

1. कमलेश्वर, सम्पादक : रमणिका गुप्ता, भारत का आदिवासी स्वर, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 27
2. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी चिन्तन की भूमिका, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 13
3. अनुज लुगुन, आदिवासी अस्मिता : प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. (xi)
4. www.downtoearth.org.in/news/wildlife-&-biodiversity/amp/elephant-in-the-room-human-animal-conflicts-kill-1-401-people-301-jumbos-in-3-years-in-india-78251 (21 अप्रैल, 2022. 11 बजे पूर्वाह्न)
5. कामेश्वर पाण्डेय, 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी, हंस कथा मासिक - जून 2020, पृ. 63
6. वही, पृ. 63
7. वही, पृ. 64
8. महाश्वेता देवी, अग्निगर्भ, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2015, पृ. 24
9. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी साहित्य विमर्श, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 11
10. कामेश्वर पाण्डेय, 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी, हंस कथा मासिक - जून 2020, पृ. 63
11. हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, पहला संस्करण, पृ. 146
12. कामेश्वर पाण्डेय, 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी, हंस कथा मासिक - जून 2020, पृ. 63
13. वही, पृ. 63
14. वही, पृ. 63
15. वही, पृ. 61
16. वही, पृ. 65
17. निर्मला पुतुल, सम्पादक : उमा शंकर चौधरी, हिस्सेदारी के प्रश्न-प्रतिप्रश्न, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, संस्करण 2009, पृ. 208
18. वंदना टेटे, कोनजोगा, प्यारा केरकेट्टा प्रकाशन, प्रथम संस्करण, पृ. 11
19. कामेश्वर पाण्डेय, 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी, हंस कथा मासिक - जून 2020, पृ. 63
20. वही, पृ. 62
21. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी और हिन्दी उपन्यास : अस्मिता और अस्तित्व का संघर्ष, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण, पृ. 59
22. कामेश्वर पाण्डेय, 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी, हंस कथा मासिक - जून 2020, पृ. 62
23. रमणिका गुप्ता, आदिवासी स्वर एवं नई शताब्दी, वाणी प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, पृ. 321
24. कामेश्वर पाण्डेय, 'राष्ट्रपति का दत्तक' कहानी, हंस कथा मासिक - जून 2020, पृ. 64
25. वही, पृ. 63
26. वही, पृ. 64

****

आदिवासी जीवन में व्याप्त विषमताओं को उकेरता 'जंगल की ललकार'

-सायरा बानो
पीएच.डी (हिंदी)
जामिया मिल्लिया इस्लामिया विश्वविद्यालय

वैश्विक स्तर पर भारत की आदिवासी जनसंख्या अफ्रीका के बाद दूसरे स्थान पर है। भारत का आदिवासी समाज बहुत विस्तृत है। इस समाज की अपनी विशिष्ट संस्कृति, धर्म, भाषा व जीवन-शैली है जो इनकी वास्तविक पहचान का प्रतीक चिन्ह है। जीवन के प्रति इनका नज़रिया बेहद सादा है। प्रकृति इनके जीवन का मुख्य आधार है जिस पर यह पूरी तरह से निर्भर रहते आए हैं। प्रकृति के प्रति अटूट श्रद्धा ही इनका धर्म है। ये अशिक्षित है लेकिन तर्कहीन नहीं है। इनकी जीवन-शैली में व्याप्त प्रत्येक कार्य हेतु इनके अपने तर्क है जिनके प्रति ये एकनिष्ठ है। इस समाज के अपने नियम है जिनके प्रति यह समर्पण की भावना रखते है परन्तु इनके इस तरह के व्यवस्थित जीवन के प्रति गैर-आदिवासी समाज उपेक्षा का भाव रखता है। गैर-आदिवासी समाज इस समाज के नियमों को दकियानूसी कह कर असभ्य घोषित करते हुए इन्हें सभ्य बनाने की जिम्मेदारी लेता है जबकि तथाकथित सभ्य समाज किसी भी स्तर पर आदिवासी समाज को असभ्य कहने लायक नहीं है। आदिवासी समाज में कई ऐसे तौर-तरीके हैं जिन्हें गैर-आदिवासी समाज को आत्मसात करने की आवश्यकता है। गैर-आदिवासी समाज यदि आदिवासी समाज को अंधविश्वासी, नशाखोर आदि कह कर असभ्य साबित करता है तो गैर-आदिवासी समाज में व्याप्त अंधविश्वास, जातिगत भेदभाव, रंगभेद, बलात्कार, भ्रूण हत्या, राजनैतिक षड्यंत्र आदि अनगिनत ऐसे कृत्य हैं जो इन्हें आदिवासियों से अधिक असभ्य साबित करते हैं। दरअसल यहाँ मुद्दा सभ्य-असभ्य का न होकर आदिवासी क्षेत्रों में मौजूद प्राकृतिक संपदा की लूट का है।

आदिवासी क्षेत्र में प्रवेश के बाद किस तरह गैर-आदिवासी धीरे-धीरे आदिवासियों को उनकी जड़ से उखाड़ देता है, इसका सटीक चित्रण वाल्टर भेंगरा 'तरूण' के कहानी संग्रह 'जंगल की ललकार' में मिलता है। कहानी संग्रह में कुल 12 लघु कहानियाँ है। कहानी संग्रह में अधिकतर पात्र चरित्र प्रधान और घटना प्रधान कहानियाँ हैं। इन कहानियों के माध्यम से लेखक ने आदिवासी जीवन के लगभग सभी पक्षों पर प्रकाश डाला है। आदिवासी समाज का शोषण गैर आदिवासी समाज एक प्रक्रिया या कहें योजना के अनुसार करता है जिसमें सर्वप्रथम उसे विकास रुपी सब्जबाग दिखाए जाते है। उन्हें यकीन दिलाया जाता है कि उनके जीने का तरीका असभ्य है और सभ्य बनाने की जिम्मेदारी हमारी है। उसे झूठे आश्वासन और घूसखोरी में उलझाया जाता है। जिसका उदाहरण कहानी संग्रह की सोमा, संकल्पदीप और पलास कहानियों में देखा जा सकता है। संकल्पदीप कहानी का पात्र लेपा सुगनी से कहता है कि "खेती-बारी का काम तो बाप दादा करते ही आ रहे हैं। हमें कोई दूसरा काम भी करना चाहिए।" लेपा ने तब थोड़ी देर खामोश होकर सोचने के बाद कहा था। "हम धान उपजाते हैं। लाह लगाते हैं। कुसुम, इमली, महुआ आदि जमा करते हैं। उनके लिए हमें कितना पैसा मिलता है? ....सब बनिया, साहूकार, दलाल आदि सस्ते दामों में हमसे लेकर हड़प लेते है। वे एक तरह से हमें ठग लेते हैं। जब हम बेचते हैं, तो हमसे दाम गिराकर सस्ते भाव में खरीद लेते हैं, और जब वही बनिया -सेठ हमें कोई सामान देता है तो ऊँचे दाम पर।"[1] आदिवासी जीविकोपार्जन हेतु कुछ प्राकृतिक वस्तुओं का क्रय करते हैं जिनके लिए उन्हें हाड़-तोड़ मेहनत भी करनी पड़ती है लेकिन गैर-आदिवासी समाज कहीं भी आदिवासियों को जायज मेहनताना नहीं देता है।

कारखानों और घरों में काम करने वाले आदिवासियों को बंधुआ और सस्ते मजदूर की तरह इस्तेमाल किया जाता है। आदिवासियों पर उल्टे-सीधे जुर्माने लगा कर जंगलों में उनके प्रवेश को पूर्णतः निषेध कर दिया जाता है। 'जंगल की ललकार' कहानी में सिपाही बुदू पर चिल्लाते हुए कहता है कि "यह लकड़ी कहाँ से काट कर लाये हो? बाप का जंगल समझा है क्या? निकालो जुर्माना पाँच सौ रूपये, नहीं तो थाना चलो।"[2] आदिवासी अपने साथ हो रहे छल से अनजान नहीं है। "वैसे भी सभी को पता है, जंगल की मोटी लकडियाँ और पेड़ काट कर कौन ले जाता है। शहर में शंभु सेठ ट्रक लेकर आता है और रातों-रात उस पर लकड़ी लादकर वापस चला जाता है। उस समय कोई फोरेस्ट गार्ड जंगल में नहीं आता। लेकिन जब गाँव के लोग जलावन के लिए लकडियाँ काटते हैं, तो वह चावल-दाल से लेकर मुर्गा और पैसे भी वसूल लेता है।"[3] अन्त में पुलिस बुदू को गिरफ्तार कर लेती है। साथ ही दरवाज़े पर बंधा खस्सी भी ले जाती है जिसकी प्रतिक्रिया में बुदू की बेटी मंगरी सिपाही को काट देती है और मुठभेड़ में खुद भी मारी जाती है। आदिवासी समाज में आज हिंसात्मक वारदातें इसलिए मिलती है क्योंकि जीवन में आई अकारण त्रासदी से यह समाज त्रस्त हो चुका है कारणवश कानून व्यवस्था पर इसका अविश्वास बढ़ता चला जा रहा है।

सोमा कहानी में बुधनी से कम कीमत पर सुरगुजा खरीदने वाला दलाल बहुत आसानी से छूट जाता है। "बुधनी बेबस सी रोती रही। सोमा की तरफ से किसी ने कुछ नहीं कहा। बाद में पता चला कि दलाल के साथियों ने दारोगा को एक मोटी रकम भेंट की थी।"[4] कमज़ोर क़ानून-व्यवस्था के कारण गैर-आदिवासी समाज के प्रति आदिवासी समाज का अविश्वास अधिक गहराता जा रहा है।

विस्थापन से केवल भुखमरी, बेरोजगारी, बंधुआ मजदूरी व बाल श्रम जैसी समस्याएं ही पैदा नहीं हुई बल्कि देह-व्यापार के मामले भी बढ़ें हैं। 'बसेरे की ओर' कहानी का बिरसिंग अकाल व भुखमरी के कारण शहर की ओर पलायन करने पर मजबूर हो जाता है उसके पीछे सुकमनी भी शहर आना चाहती है जिसका फायदा उठाते हुए किसन नामक एक गैर-आदिवासी पात्र उसे बहला-फुसला कर शहर ले आता है जिसका बिरसिंग को बाद में पता लगता है। बिरसिंग किसन जैसे देह व्यापारियों को जानता है। "किसन नंबर एक बदमाश था। गाँव के लोगों को बहला-फुसला कर शहर ले जाता और उनकी कमाई का कमीशन खाता था। यही नहीं, गाँव की भोली-भाली लडकियों को भी प्रलोभन देकर शहर ले जाता था और ठेकेदारों के हाथ ऐश करने के लिए उन्हें बेच दिया करता था।...तो क्या मेरी सुकमनी को भी उस नीच, कमीना, बदमाश ने....मेरी मुट्ठियाँ कस गयी थी।"[5] यही वे स्थितियाँ है जिनमें शांत स्वभाव का आदिवासी आक्रामक हो उठता है। कुछ गैर-आदिवासी सही मायनों में आदिवासी समाज के हितैषी है परन्तु यह चंद मुट्ठी भर लोग है| यदि एक तरफ गैर-आदिवासी समाज इस समाज के प्रति संवेदनहीन है तो वहीँ दूसरी ओर कुछ ऐसे भी पात्र है जिनकी संवेदना इस समाज के शोषित वर्ग के साथ है। फुलो कहानी का गैर-आदिवासी पात्र फुलो के त्रासद जीवन का मूक दर्शक रहा है "कुछ दिनों के बाद एक दिन स्थानीय समाचार पत्र में एक अज्ञात ग्रामीण युवती की हत्या का समाचार पढ़ा। एक विकृत सी लाश की तस्वीर भी समाचार के साथ छपी थी। मैं चौंक पड़ा। वह और कोई हो नहीं सकती थी, सिवाय फुलो के। दर्जनों फोटो पड़े थे फुलो के मेरी मेज पर।"[6] इन घिनौने व जघन्य अपराधों में समाज का वह वर्ग शामिल है जिसका विरोध आम आदमी नहीं करना चाहता। आत्म सुरक्षा को प्राथमिकता देते हुए फुलो कहानी का गैर-आदिवासी पात्र फुलो की कोई मदद नहीं करता है क्योंकि वह जानता है कि षड्यंत्र में कोई एक व्यक्ति अथवा वर्ग नहीं अपितु एक समूची व्यवस्था है जिसका मुकाबला करना आसान नहीं है।

'निर्णय' कहानी की गैर-आदिवासी पात्र सुभागी आदिवासी समाज के कल्याण हेतु अपना भोग विलास से भरपूर जीवन त्याग कर गाँव का उत्थान करती है। वह सुकन से कहती है कि "शायद तुम्हें नहीं मालूम कि मैं पिछले डेढ़ वर्षों से तुम्हारे गाँव में रह रही हूँ।' सुभागी ने कहना जारी रखा। 'यहाँ ग्राम विकास केंद्र की स्थापना करके काम कर रही हूँ। बच्चों के लिए एक बालवाड़ी केंद्र, गाँव के लिए एक प्राथमिक स्वास्थ्य केंद्र और एक प्रौढ़ शिक्षा केंद्र भी खुल चुके हैं। साथ ही महिलाओं के लिए गृहिणी प्रशिक्षण केंद्र भी चला रही हूँ। सरकारी योगदान से एक स्वयं सेवी संस्था के रूप में।"[7] सुभागी जैसे पात्र आदिवासी विकास हेतु तत्पर रहते हैं पर इनकी संख्या में इजाफा होना अति आवश्यक है। लेखक ने कहानियों के माध्यम से समस्याओं का समाधान करने का रास्ता भी सुझाया है। जंगल की ललकार, सोमा व संकल्पदीप कहानी के मुख्य पात्र नई सोच के साथ आगे आते हैं। 'जंगल की ललकार' कहानी में बुदू मुंडा जेल से वापस आकर देखता है कि उसका बेटा रैय्यती ज़मीन पर पेड़ उगा रहा है। यह रैय्यती जमीन अधिकतर परती पड़ी रहती थी उसे देख कर गाँव के बाकि लोग भी पेड़-पौधे उगा रहे हैं। अपने बेटे पांडु से माजरा पूछने पर पांडु कहता है कि "हम अपना जंगल लगा रहे हैं, आबा! यह गाँव का जंगल होगा। इसे सरकार भी नहीं ले सकती है। यह हमारी रैय्यती खुंटकटी जमीन है। अब हमें तुम्हारे समान जेल जाना नहीं पड़ेगा। हम अपने पेड़ों की लकडियाँ काटेंगे। कोई सिपाही मंगरी या चानो को पकड़ कर नहीं ले जायेगा।"[8] इसी तरह 'सोमा' कहानी का सोमा भी गाँव के लोगों को अपनी उपज का क्रय-विक्रय सहकारिता के आधार पर करने के लिए प्रेरित करता है परन्तु इस तरह की पहल का खामियाजा कई बार जान गंवा कर भुगतना पड़ता है। संकल्पदीप कहानी में लेपा दलालों की जगह सीधे सरकार को अपनी उपज बेचने का फैसला लेता है जिससे गाँव वाले भी प्रभावित होते हैं। परन्तु अंत में उसकी हत्या कर दी जाती है। "सारे गाँव में तुरंत यह बात फैल गयी कि किसी ने लेपा को मार डाला। लेपा एक सुनियोजित षड्यंत्र का शिकार बन गया था।

शहर से आकर गाँवों के हाटों में कौड़ी के मोल सोना बंटोरने वाले व्यापारी लेपा की योजना जानकार, उसे रास्ते का काँटा समझने लगे थे। भाड़े के कुछ गुंडों ने पिछली रात लेपा को मार डाला। वह शहर थोक सामान खरीदने के लिए गया हुआ था। उसके दो अन्य साथी कुछ पीछे रह गए थे। घात लगाकर बैठे गुंडों ने बम मार कर लेपा की हत्या कर दी। पुलिस ने पोस्टमार्टम करने के बाद लाश उसके साथियों के हवाले कर दिया था। लाश के उन व्यापारियों के रास्ते का काँटा साफ़ हो गया था।"[9] अशिक्षित होने के कारण ये अपने शोषण का अनुमान तक ठीक से नहीं लगा पाते साथ ही विरोध के लिए इनके पास ऐसा कुछ नहीं होता जिससे ये

आदिवासी शोषकों को परास्त कर सकें। दुलारी शिक्षित होने के कारण गाँव में होने वालो माप-तौल की धांधली का डटकर मुकाबला करती है। "हाँ, आप लोग लूटते हैं। सबसे पहले तो आपका माप-तौल का बटखरा सही नहीं है। आपका वजन पत्थर के टुकड़ों से बना है। जो है भी उसमें लोहे की जगह सीसा भर दिया है आपने! आपका तराजू भी रस्सी से बना है। आपको काँटा वाला तराजू इस्तेमाल करना चाहिए। आप भाव गिरने का रोना रो रहे हैं। मैं अभी बताती हूँ।"

दुलारी ने पिछले दिन का अखबार निकाल लिया। बाजार भाव का पृष्ठ खोलकर बनिया को दिखाती हुई वह पुनः बोली।

"देखिये, आप भी खुद पढ़कर देख लीजिए। देख लीजिए, बाजार भाव कैसा चल रहा है? इसमें स्पष्ट लिखा है लाह का खरीद भाव चालीस से पैंतालीस रूपये प्रति किलोग्राम है। अगर आपको मुनाफे के साथ अपना खर्च भी निकालना है, तो इस बाजार में लाह की कीमत पैंतीस से चालीस रूपये होनी चाहिए"।[10] दुलारी इस मुद्दे को माप-तौल अधिकारी तक ले जाकर गाँव में होने वाली लूट का अन्त करने में सफल हो जाती है। आदिवासी समाज में एक ओर जहाँ दुलारी जैसी सशक्त शिक्षित महिला है वहीँ दूसरी ओर पालू कहानी की चम्पिया भी है जिसके लिए उसका पिता पालू केवल शादी के बारे में सोचता है जबकि बेटे के लिए वह उच्चतर शिक्षा का स्वप्न देखता है। शिक्षा के अभाव में आदिवासी समाज अपनी लड़ाई तीव्र गति से नहीं लड़ पा रहा है।

लेखक ने आदिवासी समाज में व्याप्त नशे की समस्या को भी रेखांकित किया है जो निस्संदेह एक गम्भीर रूप लेती जा रही है। नशा आदिवासी समाज की संस्कृति का हिस्सा रहा है लेकिन अब जो नशा वे करते है उसके कारण व साधन बदल चुके हैं। अब वह थकान मिटाने व उल्लास मनाने के लिए नहीं अपितु त्रासद जीवन से आहत हो कर नशा करते है साथ ही अब हंड़िया का स्थान शराब व ड्रग्स जैसे नशीले पदार्थों ने ले लिया है। चैतु कहानी का चैतु नशे के लिए घर की हरेक चीज़ बेच देता है जिस से हताश होकर उसकी पत्नी सुकनी सोचती है कि "सुकनी ने कई बार सोचा कि छौवा-मरद को छोड़कर ईंटा-भट्ठा या कहीं रेजा कुली का काम करने के लिए निकल जाए। दिन भर खट कर दो रोटी तो मिल ही जाएगी। चैतु को कौन समझाए? वह अपने पति से निराश हो चुकी थी। कभी-कभी तो जी करता कि टांगी उठाकर अपने मरद के सर पर दे मारे। रोज-रोज के किच-किच से तो मुक्ति मिल जाती।"[11] गैर आदिवासी समाज इन्हें छलने के सारे हथकंडे अपनाता है कभी कम दाम में वस्तुएं खरीदता है तो कभी माप-तौल में बेईमानी करता है। बड़े-बड़े उद्योगपति जब आदिवासी क्षेत्रों में कारखाने और बाँध बनाना शुरू करते है तब विस्थापन की प्रक्रिया शुरू होती है। विस्थापन इन्हें बेरोजगारी, भुखमरी, बलात्कार, मानव तस्करी, बंधुआ मजदूर, बाल श्रम व कई हालातों में हिंसात्मक भी बनाता है। विस्थापन के कारण ये समुदाय अपने निवास स्थान को छोड़कर शहरों की ओर पलायन करने हेतु मजबूर हो जाते है। पलास कहानी का युवा पात्र विस्थापन के कारण और उससे सम्बंधित विषमताओं को रेखांकित करते हुए कहता है कि "अण्डामन्स की ज़िन्दगी को विसार कर मैं वापस छोटानागपुर की मुख्य भूमि में चला आया। बाबा कहा करते थे कि भुखमरी, अकाल और जमींदारों के अत्याचार से तंग आकर वे अण्डामन्स भागे थे। बहुत से लोग भागे इधर-उधर। हजारों आदिवासी छोटानागपुर से आकर असम के चाय बगानों में बस गये।

आज छोटानागपुर में परिवर्तन का भारी दौर चल रहा है। औद्योगिक क्रान्ति के विकास का दौर। लेकिन यहाँ के मूल आदिवासी पुनः बेकार और बेघर हो रहे हैं। खेतों में कारखाने बन रहे हैं, कॉलोनियां बस रही हैं। पहाड़ खोखले हो रहे हैं क्योंकि उनके गर्भ से खनिज निकाले जा रहे हैं। नदियों में बड़े-बड़े बाँध बांधे जा रहे हैं।"[12] कई ऐसे भी मामले है जिनमें आदिवासियों को बहला-फुसलाकर अथवा जबरन शहर ले जाया जाता है। संगी कहानी की मुख्य पात्र दुलारी इस तरह के षड्यंत्र का खुलासा करते हुए स्टेशन मास्टर से कहती है कि "देखिये, इन भोले-भाले गाँव के मजदूरों को शहर के ठेकेदार बहला-फुसला कर दिल्ली-पंजाब ले जा रहे हैं। पूछने पर बता रहे हैं कि ठेकेदार ने इन्हें बीस रूपये प्रतिदिन की मजदूरी के साथ मुफ्त राशन-पानी आदि और इलाज आदि की सुविधा देने की बात कही है। यह कितना बड़ा झूठ और फरेब है। आज इतनी बड़ी रकम कोई भी ठेकेदार अपने मजदूरों को नहीं देता। और देखिए, इनमें जवान बहनें और मासूम बच्चे भी शामिल हैं। इन्हें चोरी-छिपे लिया जा रहा है। रास्ता खर्च-भाड़ा आदि के नाम पर इनसे दो-दो सौ रूपये भी ऐंठ लिए गए हैं। इनके पास टिकट भी नहीं है। कानूनन राज्य से बाहर मजदूरों को रजिस्ट्रेशन कराने के बाद ही ले जाया जा सकता है।"[13] अशिक्षित आदिवासी रोटी की तलाश में गैर आदिवासी समाज के बहकावे मव आसानी से आ जाते हैं|

गैर आदिवासी समाज इनसे इनके क्षेत्र में विकास लाने का वादा करते हुए प्रवेश करते हैं और विनाशकारी परिणाम छोड़ जाते है। इस संदर्भ में फुलो कहानी का यह प्रसंग दृष्टव्य है "दूर दराज स्थित उस कस्बे तक एक कच्ची सड़क जाती थी। मगर ग्रामीण इलाकों में भी अनेक सम्पर्क सड़कों का निर्माण होने लगा है। वैसे अपने ग्राम-प्रवास के दौरान कई बुजुर्गों ने कुछ दबी, कुछ मुखर जुबानों में मुझसे यह कहा भी कि ये सड़कें गाँवों के लोगों

के विकास के लिए कम, जंगलों की वन-संपत्ती शहरों तक सुगमता से ले जाने के लिए ही मुख्यतः बनायी गयी हैं। इन सड़कों के निर्माण से ग्रामीण संस्कृति को आघात ही पहुँचा है।"[14] इसी कहानी में गाँव में व्याप्त पेयजल आदि की समस्याओं को भी रेखांकित किया गया है। "गाँव की पेयजल समस्या का अच्छा नमूना था। यहाँ गाँव वाले सबेरे केऊंद खाकर जलपान करते हैं, गर्मी के दिनों में। दोपहर में फुटकल साग, प्याज नमक आदि के साथ बासी भात खाकर संतुष्ट हो लेते। रात को भी भरपेट भोजन नहीं मिलता सबको।"[15] आदिवासी समाज में विस्थापन वह विनाशकारी प्रक्रिया है जो आदिवासियों को उनकी मूल जड़ों से उखाड़ कर दर-ब-दर भटकने के लिए मजबूर कर देती है। आदिवासी समाज वर्षों से विस्थापन की मार झेलता आ रहा है। बड़ी-बड़ी बाँध परियोजनाएं, बिजली उत्पादन, जमीनों की पट्टेदारी, भूमि हस्तांतरण, वनों की कटाई, वनों में बाहरी लोगों की घुसपैठ, औद्योगीकरण, व्यवसायीकरण आदि सभी विस्थापन के मुख्य कारण हैं। साथ ही ठेकेदार, बिचौलिए, भूमाफिया बड़े-बड़े उद्योगपति, जंगल माफिया आदि वे वर्ग है जिनके माध्यम से विस्थापन की प्रक्रिया को गति मिलती है।

खनिज संसाधनों से संपन्न राज्यों से अधिकाधिक आदिवासी विस्थापित किये गये हैं। आदिवासियों के पास अपनी भूमि के कागज़ात भले ही नहीं है लेकिन वह लंबे समय से उस भूमि पर अपना जीवन यापन करते आये हैं इसलिए उस भूमि और उसके वनों की उसने अपनी निजी संपदा की तरह देखभाल की है। परन्तु आज भी भूमि से सम्बंधित आदिवासी और गैर-आदिवासियों के बीच कोई मुद्दा उठता है तो दलाल व ठेकेदार उनसे उस जमीन के कागज़ात मांगते है जो जाहिर है कि उनके पास नहीं हैं। विस्थापन को लेकर यह एक महत्वपूर्ण मुद्दा है कि जिन लोगों का विस्थापन होता है उन्हें विस्थापन से जुड़ी परियोजनाओं से कोई लाभ नहीं मिलता। विस्थापन के कारण आदिवासी उत्थान की अन्य सारी गतिविधियाँ बाधित हो जाती है। इस समाज की त्रासदी का एक बड़ा कारण जहाँ विस्थापन से जुड़ा है वहीँ दूसरी ओर अशिक्षा के कारण भी इस समाज में शोषण का स्तर बढ़ा है। जब इनका पलायन होता है तब अशिक्षित होने के कारण यह केवल शारीरिक श्रम करने में ही सक्षम होते हैं, उसमें भी इन्हें इनके श्रम का जायज मेहनताना नहीं दिया जाता है। आदिवासी महिलाएं जब पलायन की मार से रोजगार की तलाश में निकलती हैं तब इन्हें गाँव से शहर लाकर बिना किसी आय के घरेलू कार्यों में बंधुआ मजदूर के रूप में लगा दिया जाता है। विस्थापन के कारण जब आदिवासी ज़मीन हड़प ली जाती है। विस्थापन के कारण बलात्कार के आंकड़े भी बढ़े हैं। आदिवासी समाज को असभ्य कहने वाला तथाकथित सभ्य समाज उस समाज की स्त्रियों के प्रति आकर्षित रहता है। आदिवासी समाज उनके साथ जबरन, बहला-फुसला कर या मजबूरी का फायदा उठा कर शारीरिक सम्बन्ध बनाता है और फिर यूं ही दर-ब-दर भटकने के लिए छोड़ देता है। विस्थापन और आर्थिक तंगी के कारण यह समाज शोषण का शिकार होता चला जाता है। कहीं बालश्रम तो कहीं बंधुआ मजदूरी जैसी तमाम समस्याएं विस्थापन के ही परिणाम हैं। 'जंगल की ललकार' कहानी संग्रह की सभी कहानियाँ आदिवासी जीवन में व्याप्त विषमताओं का दस्तावेज़ है| गैर-आदिवासी समाज के स्वार्थपरक दृष्टिकोण ने आदिवासी समाज के किसी भी पक्ष को साबूत नहीं रहने दिया है| आवश्यकता है कि आदिवासी क्षेत्रों में हो रहे गैर कानूनी कार्यों की रोकथाम के लिए कड़े कदम उठाए जाएं|

संदर्भ

1. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.120
2. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.106
3. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.106
4. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.116
5. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.150
6. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.160
7. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.186
8. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.111
9. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.122
10. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.172
11. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.144
12. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.136
13. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.127
14. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.152
15. जंगल की ललकार, वाल्टर भेंगरा 'तरूण', पृ.154

आदिवासी साहित्य में सामाजिक एवं सांस्कृतिक अस्मिता के प्रश्न

कुलदीप कुमार गौतम
शोधार्थी, हिन्दी विभाग
ईश्वर शरण पी.जी. कालेज
(इलाहाबाद विश्वविद्यालय), प्रयागराज
Email-kuldeep26795gautam@gmail.com

शोध सारांश- किसी भी समाज में परिवर्तन होना स्वाभाविक है, और समाज के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य में भी परिवर्तन होता जाता है। आदिवासी साहित्य में भी अपने समय के अनुकूल परिवर्तन हुआ है। यह परिवर्तन प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से आदिवासी और सभ्य कहे जाने वाले शहरी एवं ग्रामीण सभ्यता को भी प्रभावित करता है। आदिवासी समाज की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक स्थिति विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में नगरीय सभ्यता से कहीं ज्यादा बेहतर नजर आती है। नगरीय सभ्यता ने आदिवासी समाज के व्यक्तियों को उपभोक्ता के रूप में प्रयोग किया है, उनके विकास का हवाला देकर सभ्य कहे जाने वाले समाज ने केवल उनका शोषण ही किया है। एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह भी है कि जनजातियों के विभिन्न धर्मों में धर्मांतरण उनके अपने धर्म के होने या न होने का सवाल खड़ा करता है। इस शोध का उद्देश्य इन्हीं सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक प्रश्नों पर विचार करते हुए इस लेख द्वारा आदिवासी समाज में हुए विकासगत परिवर्तन को रेखांकित करना एवं उससे आदिवासी समाज पर पड़नेवाले प्रभाव को दिखाना तथा आदिवासी समाज पर पूँजीवादी विकास व नगरीय सभ्यता के हस्तक्षेप को रेखांकित करना मेरा उद्देश्य है। इसी विकास के नाम पर पूँजिपतियों ने आदिवासियों के जंगल में जो घुसपैठ किया और उससे आदिवासी जीवन एवं उनकी अस्मिता पर जो खतरा बढ़ा है इसे देखने-समझने की कोशिश भी इस लेख का उद्देश्य है।

मुख्य शब्द- *साहित्य और समाज, सांस्कृतिक-सामाजिक परिवर्तन, उपनिवेशवाद और उत्तर आधुनिक्तावाद, सांस्कृतिक विविधता, संत्रास एवं हीनताबोध से मुक्ति, आदिवासी अस्मिता और साहित्य।*

भारतीय समाज विभिन्नताओं का समाज रहा है। इस देश ने तमाम सभ्यताओं के विकास व विनाश को भी देखा है। आज वर्तमान भारतीय समाज में विभिन्नताओं का पुंज बना हुआ है-जिसमें भिन्न-भिन्न धर्म, जाति एवं समुदाय के लोग निवास कर रहे हैं। आज भारत की तमाम जनसंख्या भले ही विकास की बुलंदियों को न केवल पार कर रही है बल्कि चाँद, तारे, सूरज अर्थात् पृथ्वी से बाहरी सभ्यता के रूप बसने की आशा संजोए हुए है। किन्तु आज भी इस देश का या फिर इस देश का ही क्यों सम्पूर्ण विश्व जगत का एक तबका अपनी बुनियादी आवश्यकताओं से भी वंचित है। इसी वंचित समुदाय को आदिवासी या जनजाति आदि नामों से पुकारा गया है। सम्पूर्ण विश्व में भारत आदिवासियों का दूसरा सबसे बड़ा निवास क्षेत्र है। विश्व में सबसे अधिक आदिवासी दक्षिण अफ्रीका में निवास करते हैं। जबकि ''भारत की कुल जनसंख्या का 8.6 प्रतिशत (10 करोड़) जितना एक बड़ा हिस्सा आदिवासियों का है।''[1]

आदिवासी समाज को समझने के लिए यदि हम इसके शाब्दिक अर्थ को समझे तो 'आदिवासी' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है 'आदि' और 'वासी' जिसमें आदि का अर्थ है 'पहले से' और 'वासी' का अर्थ 'निवास करने' से माना जाना चाहिए। इस प्रकार आदिवासी का शब्दिक अर्थ है जो पहले या जो प्राथमिक रूप से विद्यमान हो या रह रहा हो। अर्थात् वह जन समूह जो मूल निवासी है जो मूलतः अपनी प्राथमिक स्थिति में आज भी निवास कर रहा है। मूलतः आदिवासी समाज मानव सभ्यता का प्रारम्भिक रूप है। वह आज भी अपने मूल रूप में किस तरह जीवित रह रहा है यह एक प्रकार सोचने, विचार करने एवं सुधार कर मूख्यधारा से जोड़ने का प्रश्न है किन्तु साथ ही साथ उनकी प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक मूल्यों और मान्यताओं की रक्षा कर उसे सुरक्षित रखने का प्रश्न भी सामने खड़ा होता है। इस प्रश्न पर लगातार विचार-विमर्श आदिवासी एवं गैर आदिवासी विचारकों ने किया है किन्तु गैरआदिवासी विमर्शकार सभ्यता के इस प्रश्न को समझने में सहज न हो पाये हैं।

आज के भूमण्डलीकरण, उपनिवेशवाद एवं उत्तर आधुनिकतावाद के दौर में भी देखें तो आदिवासी समाज इनसे अभी बहुत दूर रहकर भी बच नहीं पाया है। आज के आधुनिकीकरण के दौर में जहाँ उसके जल, जंगल और जमीन की समस्या के विकराल रूप उसके सामने आये हैं तो वहीं पर दूसरी तरफ डिजिटलीकरण से लाभ भी आदिवासी समाज को पहुँचा है। इस उपनिवेशवादी प्रशासन व्यवस्था जो कि आदिवासी समाज में आधुनिकता के लोभ से उनकी जल, जंगल, जमीन हथियाने का कार्य कर रही है। यह प्रश्न आदिवासी चिंतकों को हमेशा अखरता रहा है। दूसरा कि एक आदिवासी भारत के व्यक्ति किस धर्म के व्यक्ति के रूप में जाना जाये? आखिर उसका धर्म कौन सा है? भारतीय संविधान के अनुसार यहाँ निवास करने वाले, हिन्दू, मुस्लिम, ईसाई, सिक्ख, जैन, बौद्ध पारसी इत्यादि के अतिरिक्त एक धार्मिक कॉलम बनाया जाता है जिसको कहा जाता है 'अन्य' यह अन्य किस धर्म का अंश है यह कौन सा धर्म है? क्या आदिवासी धर्म विहीन समाज से आते हैं? तीसरा प्रश्न है कि आदिवासी समाज में हीनता का होना क्योंकि अभी तक उसने अपने ऐतिहासिक पक्ष को देखने का प्रयत्न नहीं किया यदि किया भी है तो वह भी किसी गैर आदिवासी ने जिसने जिस रूप में चाहा है उस रूप में वर्णन किया है। इधर हाल-फिलहाल के कुछ वर्षों में कुछ पुस्तकें जरूर आयी हैं जिन्होंने आदिवासी जनजातियों के वीर सपूतों की महाकथा का वर्णन करने का प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी इस कार्य में इतनी देरी क्यों? इतनी उदासीनता भारतीय विद्वानों द्वारा क्यों? यह सभी प्रश्न आज भी आदिवासी साहित्य के विमर्श के मुख्य विषय एवं उद्देश्य रहे हैं।

आदिवासी समाज आरंभ से ही प्रकृति की गोद में पलने एवं समृद्ध होने वाला समाज रहा है। इस समाज ने महानगरीय सभ्यता की चपेट से बहुत

अलग रहने का प्रयत्न किया है किन्तु वैश्वीकरण ने इस समाज को भी अछूता नहीं छोड़ा है। अर्थात् इस आधुनिकतावादी दौर ने एक दूसरे के सामाजिक, ऐतिहासिक, आर्थिक और सांस्कृतिक पक्ष को प्रभावित किया। यही कारण रहा है कि आदिवासी समाज का भारतीय समाज पर प्रभाव बहुत ही गहरा पड़ा है क्योंकि वर्तमान भारतीय समाज एक आयातित जाति है जबकि आदिवासी जातियाँ भारत की मूल निवासी हैं। अपने एक लेख में प्रमुख आदिवासी महिला चिन्तक वंदना टेटे जी लिखती हैं- "भारतीय प्राचीन इतिहास एवं दंतकथाओं में निहित धार्मिक तथा सांस्कृतिक रीति-रिवाज केवल अनार्यों से आयी हुई है वस्तुतः यह आर्य-भाषा में रूपान्तरण मात्र है।.....संक्षेप में, कर्म तथा परलोक के सिद्धान्त योग-साधना, शिव, देवी तथा विष्णु को परमात्मा के रूप में मानना, वैदिक 'हवन'-पद्धति के समक्ष नई 'पूजा'-रीति का हिन्दुओं में आना, आदि।'' [2]अतः स्पष्ट है कि दोनों समाज के एक- दूसरे से प्रभावित होने की भी अलग ही परंपरा रही है।

आदिवासी समाज को मुख्यतः एक बर्बर, जंगली, क्रूर एवं असभ्य तक कहा जाता रहा है किन्तु यह समाज अपने अस्तित्व, पहचान एवं अपनी संस्कृति को बचाए रखने के संघर्ष के लिए पहचानी जानी चाहिए। किन्तु आदिवासी समाज पर नगरीय भारतीय सभ्यता का इतना भयावह प्रभाव पड़ा है कि डॉ. रामदयाल मुंडा को 'विकास का दर्द' नाम से कविता ही लिखनी पड़ी है और यह जंगल का दर्द क्या है इसको उनकी इन पक्तियों के माध्यम से समझा जा सकता है-

''बन गया हूँ गीदड़
रहा दौड़
शहर की ओर
मरने के पहले
या कि एक पेड़
विशाल शाल का
गिरा
जा रहा चीरा
बीच मशीन आरा
देश के लिए
कहते हैं
विकास के लिए।"[3]

इस कविता में हम देख सकते हैं कि कवि विकास को कैसे परिभाषित कर रहा है जहाँ विकास का पूरा मॉडल प्रकृति के उजाड़ पर टिका है। यद्यपि कि आदिवासी समाज के स्त्रियों के संदर्भ में हम सभ्य कहे जाने वाले समाज को सीख लेने की बात विद्वान व विचारक करते रहते हैं किन्तु ऐसा भी नहीं है कि आदिवासी समाज में स्त्रियों की स्थिति बहुत संतोषजनक हो? आदिम जनजातियों में भी बहुपत्नी प्रथा का प्रचलन देखने को मिल जाता है उदाहराणार्थ-''उत्तर असम में इनके सरदार लोगों की प्रायः बहुत सी पत्नियाँ होती हैं परन्तु साधारण लोग एक ही विवाह से संतुष्ट रहते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि भारत के आदिवासियों में बहु-पत्नी प्रथा का एक बहुत बड़ा कारण आर्थिक है।"[4] अतः यहाँ पर यह स्पष्ट है कि बहुपत्नी प्रथा का एक कारण आर्थिक हो सकता है किन्तु यदि गौर किया जाये तब यह पूंजीवादी या जमींदारी व्यवस्था की ओर संकेत करता है क्योंकि जो व्यक्ति किसी परगना का सरदार बन कर बैठा है शक्तिशाली और तानाशाही कर सकता है अतः उसको छूट प्राप्त है कि वह एक से अधिक पत्नी रख सकता है ऐसे में उस स्त्री की मनोदशा क्या हो सकती यह एक विचारणीय प्रश्न है।

आदिवासी समाज एक सम्पूर्ण व्यावहारिक समाज है इसकी अपनी एक अलग संस्कृति है, इसका अपना एक अलग समाज है जिसमें विकसित शहरी समाज की तुलना में कहीं ज्यादा प्रेम भाव, आतिथ्य एवं सत्कार व मेल-मिलाप है। इस समाज की सांस्कृतिक विविधता एवं मूल संवेदना के पक्ष में गोविंद वल्लभ पंत जी कहते हैं कि-''भारत एक विशाल देश है जहाँ धरातलीय एवं सांस्कृतिक विविधता पायी जाती है। वहाँ आदिवासी समाज का महत्वपूर्ण स्थान है। ये ईश्वर की एक ऐसी अनुपम कृति है जिसने अपनी जीवन शैली स्वयं विकसित की है। उनके जीवन की खुशियाँ उनके लोकगीत, नृत्य की सतरंगी दुनियाँ में दिखाई देती है। इन आदिवासी समाज में सत्य के प्रति प्रेम, जीवन के प्रति लगाव, आत्मविश्वास सर्वत्र दिखाई देता है। ये सच्चे अर्थों में भूमिपुत्र हैं। जो प्रशंसा के पात्र हैं इन जनजातियों को पिछड़ा या असभ्य कहना उचित नहीं है। इनसे गैर जनजाति एवं अन्य लोगों को शिक्षा लेनी चाहिए।"[5] ध्यान रहे कि यहाँ पर आत्मविश्वास शब्द थोड़ा अतिश्योक्तिपूर्ण भाव जरूर प्रदर्शित करने लगता है क्योंकि आदिवासियों में आत्मविश्वास अपने इतिहास के प्रति अपने वीरों के प्रति एवं उनके खोज करने के प्रति बहुत कम दिखाई देता रहा है किन्तु इधर के कुछ वर्षों में कुछ आदिवासी साहित्यकारों ने अपने विस्तृत इतिहास को खोजने का कार्य किया है। इसके सम्बन्ध में रमणिका गुप्ता जी कहती हैं कि ''पूर्वोत्तर के साहित्यकारों ने अपने लोकगीतों, लोक कथाओं से और शोधकर्ताओं ने गांव-गांव जा कर बड़े बुढ़ों से अपना इतिहास जुटाना शुरू कर दिया। उनकी शौर्य-गाथाएँ जो भारतीय इतिहास व साहित्य में स्थान नहीं पा सकी, लोक साहित्य में सदैव मौजूद रही। आज उन पर पूर्वोत्तर की समकालीन कलम भी चल रही है। ये गाथाएं नाटक लिजिन्द्री, कहानी व गीतों के रूप में प्रस्तुत हो रही हैं, तो इतिहास के पृष्ठों को भी सिरज रही है।''[6]आधुनिक युग में आदिवासी महापुरुषों के जितनी शौर्य गथाएँ सुनने को मिलती है उससे कहीं ज्यादा अभी इतिहास के पन्नों में दबी पड़ी है। अतः उनके स्वार्णिम इतिहास को उनके समक्ष रखने से उनमें आत्मगौरव का भाव जागृत होगा जिससे उनको कुण्ठा, संत्रास एवं हीनताबोध से मुक्ति मिल सकती है। उत्तर आधुनिकतावाद केंद्र से अलग हाशिए पर धकेल दिए गए इन्हीं इतिहास आदि पर विचार करने पर जोर देती है।

आदिवासी समाज का धार्मिक प्रश्न उलझा हुआ जान पड़ता है क्योंकि भारतीय प्राचीन समाज में चार वर्ण हुआ करते थे आज के भारत में भी चार ही वर्ग है अब इसमें उसे वर्ग तो दिया गया लेकिन उसके धर्म का प्रश्न आज भी वैसा ही बना है। हम सभ्य समाज के लोगों ने आदिवासियों को केवल उपभोक्ता के रूप में ही जोड़ा हुआ है। जबकि विभिन्न स्थानों पर उनके अपने धर्म होने की बात कही गयी है उदाहरण के लिए विकिपीडिया पर ही लिखा मिल जाता है कि ''आदिवासियों का अपना धर्म भी है। ये प्रकृति-पूजक हैं और वन, पर्वत, नदियों एवं सूर्य की आराधना करते हैं।''

7अब यहाँ प्रश्न यह उठ खड़ा होता है कि क्या हिन्दू समाज प्रकृति-पूजक नहीं है? जबकि वह भी पेड़, पौधों, पत्थरों आदि की पूजा-आराधना करता है फिर उसका धर्म सर्वमान्य है और आदिवासी समाज के लोगों को आज भी सरकारी दस्तावेजों में 'अन्य' वाला कॉलम ही मिलता है जब कि परिभाषा में वह भारत का मूल निवासी है।

आज के साहित्य में एक बात विशेष रूप से देखने को मिलती है कि किसी भी विमर्श पर उस समुदाय या समाज के लेखक, कवि या विचारक द्वारा न लिखकर उस समाज के बाहर जो न उनकी तरह त्रासदी के भुक्तभोगी होते हैं न ही उनके जीवन में घटित होता है लेकिन वह उस विमर्श के मर्मज्ञ बने उपदेश देने लगते हैं। यहाँ इस तथ्य के उल्लेख का अर्थ सिर्फ इतना है कि संदर्भित विमर्श पर उसी समाज के व्यक्ति की भागीदारी अधिक होनी चाहिए न कि बाहर के किसी अन्य की। 'रमणिका गुप्ता' जी ने 'आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी' नामक पुस्तक का सम्पादन करते हुए उसकी भूमिका में लिखती हैं-''आज तक दूसरे लोग ही इन्हें उपदेश देते रहे हैं। ये स्वयं क्या चाहते हैं इसके बजाय केवल यही कहते रहे हैं-'''बस सुनो! जो हम कहते हैं- यही तुम्हारे हितार्थ है- हमारे अनुभव से लाभ उठाओ।'''[8]

अर्थात् यह बिन पढ़े ज्ञानी वाली बात हो गयी है जो वातानुकूलित परिसर से जंगल की आग, पानी, हवा के विशेषज्ञ हो चुके हैं। रमणिका गुप्ता जी वहीं पर आगे लिखती हैं-''उन्हें न तो वे अपने अनुभवों से सीखने का अवसर देते हैं, और ना ही कुछ कहने का।" [9]इसी बात को स्पष्ट करने के लिए वाहरू सोनवणे ने अपनी'स्टेज' नामक कविता में हू-ब-हू व्यक्त किया है-

''हम स्टेज पर गये ही नहीं
और हमें बुलाय भी नहीं
ऊंगली के इशारे से
हमारी जगह
हमें दिखाई गई
वे स्टेज पर खड़ें होकर हमारा दुख
हमें ही बताते रहें।
हम बरबराए
कान देकर वे सुनते रहे
और हमारे कान पकड़ कर
हमें ही धमकाया
माफी मांगो नहीं तो....।"[10]

अर्थात् आदिवासी साहित्य में सहानुभूति का विषय अब बाजार का विषय बन चुका है, उपभोक्ता समझकर इस विकसित समाज ने उनके प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के साथ-साथ इनके क्षेत्र में घुसपैठ कर सामाजिक,आर्थिक एवं सांस्कृतिक शोषण करने का भी कार्य किया है। अर्थात् आदिवासी समाज को तथाकथित सभ्य समाज की सहानुभूति से बचकर स्वानुभूति का मार्ग चुनना आवश्यक है।

किसी समाज के विकास में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण भूमिका शिक्षा व्यवस्था निभाती है, जिस समाज की भाषा, समाज एवं संस्कृति जिस तरह की हो शिक्षा व्यवस्था भी उसी के अनुकूल होनी चाहिए किन्तु आदिवासी समाज के लिए भारतीय शिक्षा व्यवस्था ने मुख्यधारा के अनुरूप ही अवसर प्रदान किया है। किन्तु नई शिक्षा नीति-2020 में भौगोलिक, सामाजिक, भाषायिक एवं सांस्कृतिक परिवेश के आधार पर शिक्षा के माध्यम को चुनने का निर्णय लिया है जिससे उनकी शैक्षिक हालात में सुधार की संभावना है। इसी से उनकी सामाजिक, राजनैतिक, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विरासत को सम्पूर्णता प्रदान होगी। इसीलिए आज के परिवेश में यह भी कहना पूरी तरह ठीक नहीं हो सकता कि आदिवासी समाज को मुख्यधारा के परिवेश से संकट ही उत्पन्न होगा बल्कि तमाम सरकारी नीतियों से शिक्षा, स्वास्थ्य, रोजगार एवं देश की नीतियों में सहभागिता भी सुनिश्चित होगी फिर वर्तमान में शिक्षा व्यवस्था के बदलते स्वरूप ने, शोषण, दमन एवं पक्षपात के विरुद्ध हुए सामाजिक आंदोलनों तथा आदिवासी साहित्य में जन्म लेते विचारकों ने अपने ऐतिहासिक एवं सामाजिक महत्त्व को समझा है जिससे उनमें स्वाभिमान के भाव पुनः प्रस्फुटित हुए हैं। परंतु पूँजीपतियों के हस्तक्षेप से जहाँ उनके जल, जंगल, जमीन का अनियंत्रित दोहन हो रहा है तो वहीं साहित्यिक घुसपैठ से उनके इतिहास, संस्कृति, धर्म और समाज को भी कोई विशेष लाभ नहीं हुआ है। अतः आदिवासी साहित्य पर उन्हीं के समाज की सहभागिता को नकार कर हम उनके विकास की बात करने का दावा ठोक रहे हैं जो केवल हमें उपनिवेशवादी ही साबित कर सकता है। जबकि किसी भी वंचित, शोषित, पीड़ित समाज का विकास उनकी सक्रिय सहभागिता से ही होना है।

संदर्भ-

1. . https://hi.m.wikipedia.org
2. . वाचिकता; आदिवासी दर्शन, साहित्य ओर सौन्दर्यबोध-वंदना टेटे, 2020 ई., राधाकृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली।
3. . आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, सं. रमणिका गुप्ता (आवृत्ति संस्करण 2017 ई.) वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.42
4. . प्राथमिक आदिवासी विमर्श, अश्विनी कुमार पंकज, प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन, रांची, झारखण्ड।
5. .आदिवासी समाज में सामाजिक परिवर्तन एवं विकास के विविध पक्षों का मूल्यांकन-डॉ. मुकेश सागर
6. . आदिवासी शौर्य एवं विद्रोह सम्पादक रमणिका गुप्ता (तीसरा संस्करण 2019 ई.) राधा कृष्णन प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं. 05
7. . https://hi.m.wikipedia.org
8. . आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी, सं. रमणिका गुप्ता, (आवृत्ति संस्करण-2017 ई.), वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. सं.-05
9. . वही..
10. . वही..

******

आत्मकथा के बहाने आदिवासी साहित्य से साक्षात्कार

-डॉ. विनोद कुमार
हिंदी विभाग
पश्चिम बंग राज्य विश्वविद्यालय
कोलकाता **700126**

शोधसार

'जंगल से आगे' सीता रत्न माला विरचित आत्मकथा 'बियोंड द जंगल' का हिन्दी अनुवाद है। यह **1968** में अंग्रेजी में प्रकाशित भारत का पहला आदिवासी आत्मकथा है। इस संस्मरण के कथ्य में नीलगिरि के पहाड़ों पर बसे इरूला आदिवासी समुदाय की आदिवासियत तथा मैदानी भाग की मूल धारा के छलावा, जीवन दर्शन व सांस्कृतिक विरासत को रेखांकित किया गया है। नीलगिरि के पहाड़ों पर बसे इरुला आदिवासी समुदाय की सीता रत्नमाला ऊटी की रहने वाली है। बारह वर्ष **(12)** की आयु से इन्हें डोडा बोर्डिंग स्कूल में पढ़ने का मौका मिला। पढ़ाई पूरी करने के बाद उसने प्रेम प्रसंग में पड़कर नर्स बनने का फैसला किया और प्रशिक्षण के लिए मद्रास (चेन्नई) अस्पताल आई।

वह पूर्व परिचित डॉ कृष्ण राजन के समझ माध्यम से गैर आदिवासी दुनिया को भली-भाँति पायी। गौर करने वाली बात यह है कि सीता रत्नमाला गैर आदिवासी समाज से प्रेम के द्वारा जुड़ती है किन्तु शारीरिक और मानसिक रूप से वह इस कदर झकझोर दी जाती है कि बाध्य होकर उसे अपना प्रेम और गैर आदिवासी समाज छोड़कर अपने समाज में लौट जाना पड़ता है।

इस लिए प्रेम के सम्बन्ध में दोनों समाज की दृष्टि से भी पाठक का परिचय होता है, साथ ही सृष्टि के अन्य जीवों के साथ मनुष्य के संबंध का भी पता चलता है। असल में जीवन दर्शन के निर्माण का यही पहला कदम है। अतः इन दोनों समाज के जीवन दर्शन के पार्थक्य को इस आत्म संस्मरण के माध्यम से समझा जा सकता है|

बीज शब्द – आत्मकथा, आत्मसंस्मरण, आदिवासियत, जीवन-दर्शन, इरुला, साक्षात्कार, सृजनात्मक, राग-विराग, यथार्थ, शालीनता, पुनर्मूल्यांकन, सभ्यता, दीकु, राह - ए - शौक, सर्जनात्मक, जिजीविषा, दुसाहस, अतिश्योक्तिपूर्ण, आत्मनिरीक्षण, आत्मस्वीकार, होड़, मूलधारा, सामूहिकता, सामुदायिकता, स्वनिर्भर, अनूठा, पितृसत्ता, औपनिवेशिक

मूल आलेख

सिर्फ इक कदम उठा था गलत राह-ए-शौक में,
मंजिल तमाम उम्र मुझे ढूंढ़ती रही।
(अब्दुल हमीद असद)

अब्दुल हमीद असद की यह शायरी सीता रत्न माला की रचना 'जंगल के आगे' की सम्पूर्णता को बया करती है|"'जंगल से आगे' जहां हाथियों और बाघों के झुंड गरजते हुए घूमते हैं, और जहां मैदानों को छोड़ हजारों फीट ऊपर पठारों पर सरसराते चले जाते हैं, वहां तक पहुंचने के कुछ ही दुर्गम रास्ते हैं। पहाड जहाँ क्षितिज की तरह है, रहस्मय और विस्मयकारी भय और श्रद्धा से भरे हुए, जिस दुर्गम भूमि पर आत्मकथा साहित्य की सबसे अधिक प्रमाणिक विधा है। भोगे हुए यथार्थ की साहित्य अभिव्यक्ति ही आत्मकथा है। आत्मकथा में अनुभव की अधिकता होने के कारण इसकी विश्वानियता बनी रहती है"।[1]

सीता रत्नमाला न बियोंड द जंगल' नाम से आत्मकथा लिखा, जो **1968** में प्रकाशित हुई। इसका हिंदी अनुवाद आश्विन कुमार पंकज के द्वारा **2018** में हुआ । प्रेम के बहाने होड़ समाज और दिकू समाज के सामाजिक - सांस्कृतिक अंतर को प्रस्तुत किया गया है।

आत्मकथा जीवन की जिजीविषा का सर्जनात्मक प्रतिफल है। व्यक्ति अपने जीवन के ताने-बाने राग-विराग और संघर्ष को एक खास उम्र पर खड़े होकर अपने होने या भोगे हुए यथार्थ का पुनर्मूल्यांकन ही करता है। तो 'आत्मकथा' विद्या का जन्म होता है। इसमें आत्म प्रमुख रहता है और समाज गौण। लेखक अपने जीवन के प्रति जितना अधिक ईमान्दार होता है. वह आत्मकथा उतना ही श्रेष्ठ और लोकप्रिय होती है | आत्मकथा में 'स्व और पर का अंतःसंबन्ध आवश्यक होता है। इससे किसी भी एक का अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन हो तो यह अपनी जीवन्तता खो देती है। इसलिए आत्मकथा लिखना दुसाहस का कार्य है। आत्मकथाकार जितना समाज की कु-प्रर्थाओं के प्रति निर्भय होता है वह उतना ही स्व के प्रति भी। उसमें लेखक घटनाओं, तथ्यों, स्मृतियों, संघर्षों, आत्मस्वीकार इत्यादि तत्वों के प्रति तटस्थ दृष्टिकोण रखता हैं। इस विधा के बारे में डॉ नित्यानंद लिखते हैं "आत्मकथा स्वयं लेखक द्वारा अपने जीवन का संबद्ध वर्णन है। प्रायः दो उद्देश्यों को लेकर आत्मकथा लिखी जाती है - **(1)** आत्मनिर्णय या आत्मपरीक्षण **(2)** दुनिया और समाज के जटिल परिवेश में अपने को जानने समझने की इच्छा।"[2] साहित्य जगत में आत्मकथा लिखने की परम्परा बहुत कम है, क्योंकि मनीषी आत्म पक्ष को जग जाहिर करने में संकोच करते हैं। साहित्य में जहाँ सब का हित निहित हो, लेकिन प्राय: साहित्य का मूल लक्ष्य 'सत्य' को उद्घाटित करना अर्थात सत्यं शिवमं और सुन्दरं पर आधारित था, लेकिन वर्तमान समय तक आते-आते वह दुख, वेदना, करुणा, यातना एवं संघर्ष की अभिव्यक्ति है। प्रो० मैनेजर पाण्डेय - "जहां जीवन की अश्लीलता को शालीनता की चादर से ढककर जीने को ही सभ्यता माना हो, वहाँ बड़े लोगों के बारे में सच कहने-सुनने की आदत का अभाव भी है|"[3]

आत्मकथा का लेखन व्यक्तिगत ईमानदारी और सामाजिक मुखौटे के द्वंद के तनाव को महसूस करता है। लेखक की बेचैनी रहती है कि वह कैसे व्यक्तित्व के अनुभूत प्रसंगों को समाज के सामने व्यक्त करे। यही द्वंद्व आत्मकथा में बार- बार प्रस्तुत होने के लिए व्याकुल रहता है। एक अच्छी

आत्मकथा साबित करती है कि मानव जीवन यापन करना कितना मुश्किल का काम है।

आज से लगभग **50** साल पहले कुछ भारतीय महापुरुषों की आत्मकथा अंग्रेजी में छपी थी। इस सन्दर्भ में वन्दना टेटे लिखती हैं- "आज से **50** साल पहले **1968** में, अंग्रेजी में पाँच भारतीय आत्मकथाएँ छपी। विश्वविख्यात सितार वादक रवि शंकर की 'माई म्यूजिक, माई लाइफ', पी० वी० हरिहरन की 'दस्टोरी ऑफ ए ग्रेजुएट' डोम मोरिस की' माई संस फादर : एन ऑटोबायो ग्राफी', कमल सुंदरराव (कुलकर्णी) डोंगफेरी की 'ऑन द विंग्स ऑफ टाइम' शष्ठी व्रत चक्रवती की 'माई गॉड डाइड यंग' और सीता रत्नमाला की बियोंड द जंगल', ए टेल ऑफ साउथ इंडिया'। सातवें दशक के अन्तिम दौर में आई इन आत्मकथाओं के लेखक पुरुष हैं।- इनमें महिला सिर्फ दो हैं : कमला सुन्दरराव और सीता रत्नमाला। लेकिन सीता की आत्मकथा न तो महज नारीवादी है और न ही व्यक्तिवादी।"[4] यह आत्मकथा अंग्रेजी भारतीय आत्मकथाओं में अनूठा, महत्वपूर्ण व विशिष्ट है। यह भारत के आदिवासी समाज की प्रथम आत्मकथा है। यह आदिवासी साहित्य का ऐतिहासिक दस्तावेज़ है। इस सन्दर्भ में वन्दना टेटे लिखती हैं- "अंग्रेजी साहित्य के शोधकताओं, इतिहाकारों और आलोचकों ने शायद इसलिए बियोंड द जंगल' को भारत की अंग्रेजी आत्मकथाओं में सबसे अलग विशिष्ठ और अनूठा आत्मसंस्मरणात्मक लेखन माना है | आत्मकथा के प्रचलित ढांचे से बिल्कुल भिन्न जिसमें व्यक्ति गौण है और समुदाय महत्व्पूर्ण है।"[5]

इस आत्मकथा से सम्बंधित कुछ ऐतिहासिक तथ्य हैं जिससे नज़र अंदाज नहीं किया जा सकता है | पुस्तक की भूमिका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "कौन है सीता रत्नमाला जिसने परम्परा से बिल्कुल अलग नितांत नयी शैली में ऐसी अद्भुत आत्मकथा लिखी | जिसमें हजारों वर्ष से चली आ रही वाचिक परम्परा की गीतात्मकता और आधुनिक समय के उपन्यास जैसी महाकाव्यात्मकता है जो आत्मकथा के बजाय सदियों से नीलगिरी के पहाड़ों पर रह रहे उन आदिम वाशिंदों का संस्मरण है | इसमें भारत की मैदानी सभ्यता, इतिहास और साहित्य अब तक अपरिचित है |"[6]

मूलधारा की स्त्रियां से कहीं ज्यादा स्वतंत्र और सहज आदिवासी स्त्रियां होती हैं | ये सामूहिक, सामुदायिक और सहजीवी दर्शन को अपना आदर्श पर जीने वाले आदिवासी समाज की महिलाएं कुछ मामलों को छोड़कर अधिकांश मामलों में पुरुषों के समान उन्मुक्त, परिश्रमी, स्वाभिमानी, स्वनिर्भर, साहसी और सामुदायिक चेतना से युक्त रही हैं। आज इस समाज की स्त्रियां अगर सामाजिक रूप से कमजोर हो रही है तो उसका कारण अन्य समाज का अनुकरण है। इस सन्दर्भ में वन्दना टेटे का मानना है कि – "जहां आधुनिक शिक्षा और राजनीतिक चेतना ने सामान्य और दलित वर्ग की स्त्रियों के लिए मुक्ति मार्ग खोला, वहीं इस बाहरी शैक्षणिक और सामाजिक ढांचे ने सामंती और औपनिवेशिक जकड़न से दूर आदिवासी औरतों को व्यक्तिवादी पितृसतात्मक ढांचे में धकेलने का काम किया। 'सभ्य' कही जाने वाली बाहरी व्यवस्था की इस नाकारात्मक भूमिका को समझने में भारतीय भूगोल के दो विपरीत छोरों से आई दो आदिवासी आत्मकथाएं हमारी मदद करती हैं। एक है दक्षिण भारत से **1968** में आई सीता रत्नमाला की आत्मकथा और दूसरी है उत्तर- पूर्व से **2014** में आई तेमसुला आओ की आत्मकथा | लगभग **50** वर्ष के अन्तराल पर छपी दोनों आत्मकथा अंग्रेजी में है जो आत्मकथा नही बल्कि आदिवासी समाज का सामुदायिक आत्मसंस्मरण है |"[7]

"कुक्कू इन द हिल्स' के अलावा सीता रत्नमाला की दो और कहानियां प्रकाशित हैं। 'द डार्क शिप' और 'द पिल्ग्रिम' । ये दोनों कहानियाँ ब्लैकवूड्स मैगजीन' में छपी है। 'द डार्क शिप' मई **1968** के अंक **303,** पृष्ठ **459** पर और द पिल्ग्रिम कहानी दिसम्बर के अंक **304** के पृष्ठ **551** पर **1** 'बियोंड द जंगला' ऑटोबायोग्राफी का एक अंश भी 'ब्लैकवूडस' मैगजीन के **1965** के अंक **238** में 'एबोड ऑफ रंगा' 'शीर्षक से प्रकाशित हुआ है ।"[8] इस आत्मकथा को अंग्रेजी के आलोचक और पाठक एक अलग किस्म का आत्मसंस्मरण मानते हैं। ऑटोबायोग्राफी की प्रचलित अर्थ शैली और तत्व के आधार पर सीता रत्नमाला की आत्मकथा खड़ी नहीं उतरती है। 'वंस अपोन ए लाइफ : बन्ट्र करी एवं एंड बल्डी रैग्स: एक ए मेमोयर' की **2014** भूमिका में साफ तोड़ पर स्वीकार किया गया है कि आत्मकथा के बदले यह आत्म संस्मरण मानते हैं। गोर विडाल ने कहा है- "एक व्यक्ति का अपने जीवन को याद करना संस्मरण है, जबकि आत्मकथा वास्तव में इतिहास है, जिसमें दोबारा से शोध, तारीखों और स्थान से संबंधित तथ्यों को परखना होता है |"[9] इन तथ्यों पर विचार करते हुए, वन्दना टेटे इसे सहोदर मानने की सिफारिश करती हैं।' वह अतीत जो हम सबकी विरासत है और लंबे समय से हमारे दिलों में छुपा हुआ है। यही कारण है कि यह किताब हम सबकी साझी यादों को भी समर्पित है।

'एम.एम. कान्वाडकर ने अपने अप्रकाशित शोध अध्ययन 'ए क्रिटिक्स स्टडीज ऑफ ऑटोबायोग्राफिज इन इंगलिश **(1995)** मे बियोंड द जंगल पर विस्तार से टिप्पणी की है। वे मानते हैं कि सीता रत्नमाला का आत्मसंस्मरण मुख्य रूप से एक आदिवासी लड़की की कहानी है, जो जंगल के लिए अपने प्यार और आजादी की लालसा के बीच भी 'आदिवासी' बनी रहती है।

इस आत्मकथा में बाहरी परिवेश की सच्चाई कम है। इसमें लेखक के जीवन और नीलगिरी पहाड़ियों पर उस समय में रह रहे आदिवासियों के बारे में बहुत ही प्रासंगिक जानकारी है वास्तव में सम्पूर्ण आत्मकथा आदिवासी जीवन के बारे में उसके समग्र दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करती है जिसमें लेखिका के जीवन की आकार देने वाली परिस्थितियां भी शामिल हैं। यह आत्मकथा अत्यन्त विश्वसनीय है क्योंकि इसको लिखते हुए लेखिका ने स्वयं और अपने आसपास की दुनिया के बारे में पूरी गम्भिरता और ईमानदारी का निर्वाह किया है। लेखिका की भावनात्मक सच्चाई से कहीं ज्यादा यह उसके दुनिया और जीवन के बारे में है।"

इसकी संरचना के बारे में कान्वाडकर का मत है कि बियोंड द जंगल की संरचना जरा-सी भी पारंपरिक नहीं है। कुछ पत्र-पत्रिकाओं ने भी इस आत्मकथा पर टिप्पणी की है :-

सीता रत्नमाला की जीवन कथाl किपलिंग का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है' (द नॉर्दर्न इको)। 'जीवन के बारे में एक आदमी आदिम व्यक्ति की गहरी

अन्तदृष्टि ।' (लंकाशायर इवनिंग टेलीग्राफ) 'मैंने वैसी कम ही आत्मकथाएं पढ़ी है जिसमें कहानी कहने या लेखन की विनम्रता और सच्चाई ने मुझे प्रेरित किया है-- लेखक को उसके अनुभव की पूरी और गहरी समझ है | (एडवर्ड बिल्जन द गार्डियन **12** जुलाई **1968)** जंगल से परे एक आदिवासी स्त्री की मुक्ति और पहचान की जुड़वां समस्याओं के लिए पाठकों को उत्तेजित करती है। **(द इंडियन लिटरेचर, 1995)"**

'जंगल से आगे एक आदिवासी लड़की की प्रेम कहानी है। नायिका सीता रत्नमाला और नायक कृष्णा राजन हैं। इस आत्मकथा में प्रेम कहीं स्पष्ट रूप से उभरकर नहीं आया है। बल्कि पूरी आत्मकथा में दो समाज की प्रकृति, जीवन दर्शन और संस्कृति का सुन्दर वातावरण है। कह सकते हैं कि दो समाज की प्रकृति और संस्कृति सामान्तर चलती रहती है। मानो यह रेल लाइन की पहियों के समान कही आपस में नहीं मिलते हैं।

फणीश्वरनाथ रेणु' का उपन्यास 'मैला आँचल' **(1954)** की भूमिका में वे लिखते हैं- "इसमें फूल भी हैं शूल भी, धूल भी है, गुलाब भी, कीचड़ भी है, चन्दन भी, सुन्दरता भी है, कुरूपता भी, मैं किसी से दामन बचाकर निकल नहीं पाया। कथा की सारी अच्छाइयों और बुराइयों के साथ साहित्य की दहलीज पर आ खड़ा हुआ हूँ, पता नहीं अच्छा किया या बुरा जो भी हो, अपनी निष्ठा में कमी महसूस नहीं करता |"**12** सीता रत्नमाला भी अपनी आत्मकथा में निष्ठा, विश्वसनीयता, सजगता के साथ अपनी व्यथा और जीवन की कथा कहती हैं। सीता नीलगिर पर्वत पर बसे जनजातियों का इतिहास और पर्वतीय भू-भाग को बड़ी सुन्दर वर्णन करती हैं। वे लिखती हैं - इसलिए शताब्दियों तक दक्षिणी भारत का नीलगिरि पर्वत शेष भारतीय भू-भाग से बिल्कुल अलग-थलग रहा है। भारतीय इतिहास के तूफानों और बदलाव के बीच उस एक द्वीप की तरह, जो दुर्लभ और सुखी है और भारत के अतित में जिसकी कोई भूमिका नहीं है। वहां रहने वाले आदिवासियों ने खुद को बाहरी दुनिया से अकेला कर रखा है, शान्त और लगभग अज्ञात, जैसे कि वे हमेशा से जीते आये हैं।"**13**

विकास के नाम पर इस दुर्गम घाटियों में रेलवे की लाइन और सड़क आ चुकी है। प्रकृति के मनोरम् दृश्य का अद्भूत वर्णन है। पढ़ने के क्रम में मानों यह सजीव हो उठता है।' मानसून के गुजरते ही हर जीवित चीज फिर से एकदम नयी हो जाती है। लेखिका जब अपने गांव से परिचय करवाती है तब वह अपनी आदिवसियत को नहीं भूलती है। वे कहती हैं- "मेरा गांव एक ऐसे जंगल में है जहां पुरुष, महिलाएं और उनके बच्चे, अन्य जानवर भी, घने पेड़ों और पहाड़ों के सामने बहुत छोटे हैं।" मेरे मां-अप्पा और हमारे कबीले का जीवन प्रकृति के सृष्टिकर्ता पर निर्भर है। जंगल की देख देखभाल करने वाले उस रंगा पर जो पहाड की- शिखर पर रहते हैं। इसीलिए उसका नाम है 'रंगास्वामी शिखर'। हम इरुला लोगों का सर्वोच्च आराध्य। इरुला हमारे आदिवासी समुदाय को यही नाम दिया गया है लोगों ने। इरुला यानी गहरा काला अन्धेरा । गहरे अन्धेरे जंगल में रहने हम काले लोग ! इरुला। "**14**

सीता बचपन में ही माँ की ममता से वंचित हो चुकी थी। ये बचपन में साहसी थी - नदी की बहती हुई धाराओं के खिलाफ ऊपर, झरने की चोटी पर जाना मेरे जरूरी था। चोटी पर जाने से मुझे आत्म बल मिलता था।' सीता तेंदुआ के शावकों को देखने के क्रम में वह वह सुरंग में गिर जाती है। वे लिखती हैं कि 'मेरे पैर बुरी तरह से जख्मी हैं। इस हालत में मुझे सुरक्षित घर ले जाना कितना मुश्किल का काम है।' टूटे हुए पैरों को आदिवासी समाज के लोग किस प्रकार से चिकित्सा करते हैं, उस सन्दर्भ में लेखिका लिखती हैं- "कुरुम्वा आदिवासी समुदाय के पुरुषों में से एक जंगल के जादूगर, पारम्परिक वैद्य - ने मेरे टुटे हुए पैरों पर मिट्टी के लेप का प्लास्टर लगाकर अच्छी तरह से बाँध दिया था। इससे मुझे बहुत आराम मिला।" **15** कुरुम्बा वैद्य के प्रकृति इलाज पर पूरी तरह से भरोसा था और यकीन था कि मैं जल्दी ठीक हो जाऊंगी। बाद में कून्नूर अस्पताल में इलाज के क्रम में डॉ० राजन से सीता की मुलाकात होती है। घर लौटते समय मैं फुसफुसा कर उससे बोली, मैं तुमसे मिलने फिर आऊँगी ।" अस्पताल में कुछ रहने के कारण तमिल और कुछ-कुछ शब्द अंग्रेजी में बोलना और समझना सिख गयी थी। वह स्वयं कहती है हिन्दी नहीं मैं तमिल बोल सकती हूँ और अंग्रेजी बोल सकती हूँ, मैं अपनी भाषा बोल सकती हूं। बाद में मेजर गांगुली द्वारा की गई सिफारिश पर सीता को 'डोड़ा स्थित स्कूल में पढ़ने को दाखिला मिली थी। 'एक दिन कुन्नूर के मजिस्ट्रेट कार्यालय से एक विशेष संदेशवाहक एक छोटा-सा पैकेट लेकर हमारे घर आया। जब अप्पा ने पैकेट खोला तो उसके भीतर एक स्कूल से रहस्मयी पत्र निकला।' पत्रवाहक से पत्र पढ़ने का आग्रह किया। यह पत्र 'भारत सरकार, शिक्षा विभाग, मद्रास ने भेजा था। पत्र को देखकर अप्पा ही नही समाज के सब लोग घबरा गये थे तथा पत्र सुनकर सभी अवाक् हो गए। पत्र में जो कुछ लिखा गया था वह उन सभी की समझ से बाहर था'। पत्र को तीन बार अप्पा के आग्रह पर पढ़ा गया था। लेखिका का बार-बार पूछना कि 'और कितने दिन बचे हैं। स्कूल जाने की उत्साह का कहीं न कहीं संकेत है। सीता पढ़ाई का महत्व समझने लगी थी। अप्पा और सीता के लिए शहर, रेलवे स्टेशन, शहर स्कूल सब के सब अनजाने थे। मानों दूसरी दुनिया हो। स्कूल के वातावरण के सन्दर्भ में वे लिखती हैं- "जिस तरह से वे सब मुझसे सवाल कर रही थी और मुझे जिस अंदाज से देख रही थीं, उससे यह साफ हो गया था कि उन्हें मेरा स्कूल आना हर्गिज पसन्द नहीं है।" वे आगे लिखती हैं - "उनके बीच पूरी तरह से बाहरी हूँ" **16** निम्न जाति में जन्म लेने की गुनाह मैं कर चुकी थी। भोजन के सन्दर्भ में वे लिखती हैं- "एक दिन में तीन बार भोजन, गाँव के हिसाब से यह विलासिता थी। सिर्फ दोपहर का भोजन ही पूरे दिन के भोजन से अधिक होता था। यहां का भोजन एक दावत की तरह थी। जंगल में भोजन का अर्थ भूख से बचने के लिए पेट भरने के अलावा कुछ भी नहीं होती और खाने को आकर्षक बनाने का कोई सवाल ही नहीं उठता है।"[17] स्कूल के बारे में और पढाई के बारे में सोचती है और सीता लिखती है- "मेरी दिली इच्छा होती जैसे दूसरी लड़कियां यहाँ है। जैसे मैं हूँ यहां वैसे ही सभी लड़कियों को स्कूल में होना चाहिए खास करके हमारे गाँव की कुछ लड़कियों को। जैसे मुंडी ।' स्कूल ने उन्हें आत्म विश्वास दिया और बदले में उन्होने स्कूल को आत्मविश्वास दिया। लेकिन स्कूल ने मुझे उनकी तरह ही स्वीकार नहीं किया। "मैंने उन लड़कियों और खुद के बीच उसी तरह से स्वीकृति और अस्वीकृति का अलगाव महसूस किया, जो प्रचुर धन और भयंकर गरीबी के बीच तथा शहरी जीवन और आदिवासी गांव की जिंदगी के बीच के विशाल खाई में होता है।"[18] इन्हें बार-बार जंगली प्राणी होने का एहशास

करवाया जाता था। स्कूल से ही डॉक्टर राजन को पत्र लिखती है।

"प्रिय डॉक्टर राजन,...मैं स्कूल में हूँ। मुझे पता है कैसे पढ़ना है। मुझे पता है कैसे लिखना है। मैं आपसे मिलने और देखने आ सकती हूँ।....इस तरह स्कूल की पढ़ाई समाप्त हो गया था। पुनः मद्रास में नर्स बनने का प्रशिक्षण हेतु मौका मिला। अप्पा को यह बात पसंद नहीं थी | सीता लिखती है – "अप्पा कभी मैदानी इलाके में कभी नहीं रहे थे और वे इस बात को लेकर आशंकित थे कि वहां मेरे साथ क्या हो सकता है ?

सीता मद्रास शहर के वातावरण में पुन: घूल-मिल गयी। वही डॉ० राजन भी पहले से थे। दोनों के बीच भौगोलिक दूरियां अवश्य खत्म हो गयी थी लेकिन मानसिक दूरियां बढ़ने लगी थी। डॉ. राजन अपने मित्र डॉ. राव से परिचय करते हुए कहते हैं- कुन्नूर अस्पताल में कोई नौ या दस साल पहले । जब सीता से खाने के साथ मिली थी | सीता और डॉ. राव भारतीय समाज दर्शन पर गम्भीरता पूर्ण विचार कर रह थे। विवाह के सन्दर्भ में डॉ. राव का विचार साफ है। वे कहते हैं- "नहीं, मैं तुमको यकीन दिलाता हूँ कि राजन के माता-पिता आने वाली नस्लों में अपने विशेष प्रजातीय गुणधर्म की निरंतरता सुनिश्चित करने को लेकर सोचते रहते हैं। विवाह इसके अलावा और कुछ नहीं। वे इस उद्देश्य के लिए सबसे अच्छी संभावित माँ चुनते हैं और उसके साथ अपने लड़के की शादी करते हैं। इसी तरह लड़की के परिवार वाले भी उसी लड़के को प्राथमिकता देते हैं जिसमें उनकी निरंतरता की सबसे अच्छी संभावनाएं होती हैं। यह एक आदर्श व्यवस्था है।"[19] नस्ल, विशेष प्रजातीय गुणधर्म, निरंतरता आदर्श व्यवस्था स्वतंत्रता, नैतिकता, बैद्धितकता के सामने प्रेम दुर्बल, हीन, विवश और मूक, होते सीता को एहसास होने लगा। वह अपनी सारी खुशी के साथ जल्दी से गांव के रास्ते पर कदम बढ़ाये और घर पहुंच गई' "अप्पा ने कोई सवाल नहीं किया।"[20] यही आदिवासियत है। यही आदिवासी जीवन दर्शन और आदिवासी संस्कृति भी है |

निष्कर्ष : सीता हमेशा-हमेशा के लिए अपने समाज में लौट जाती है | जहाँ उसका पालन-पोषण हुआ था उसे संस्कार मिले थे | सभ्य कहे जाने वाले गैर आदिवासी समाज में शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से वह जुडती है तत्पश्चात् नर्स बनती है और शारीरिक तथा मानसिक रूप से टूटने के वाबजूद भी गैर आदिवासी समाज से जुड़ने की कोशिश जारी रखती है | किन्तु जड़ता को प्राप्त हो चुकी सामंतवादी व्यवस्था का अवशेष मुख्यधारा उसे वस्तु की तरह उपभोग करता है | उसे कभी मनुष्य की तरह स्वीकार नहीं कर सका | मुख्यधारा के आकर्षण का सारा भ्रम टूट जाता है और वह अपने समाज में लौट जाती है |

सन्दर्भ ग्रंथ :-

1. सीता रत्नमाला – जंगल से आगे (अनु०) अश्विनी कुमार पंकज,, प्यारा केरकेट्टा फाउण्डेशन राँची, सं. 2018 (1968), पृ. सं. – 31
2. डॉ.नित्यानंद तिवारी - साहित्य का स्वरूप, एन.सी.ई. आर.टी, नई दिल्ली, सं.-1985, पृ. सं. – 107
3. पंकज चतुर्वेदी - आत्मकथा की संस्कृति, वाणी नई दिल्ली, संस्करण 2003, पृ०-15
4. सीता रत्नमाला – जंगल से आगे, पृ. सं. – 8
5. वही, पृ. सं. – 8
6. वही, पृ. सं. – 8
7. वही, पृ. सं. – 8
8. वही, पृ. सं. – 24
9. वही, पृ. सं. – 13
10. वही, पृ. सं. – 24
11. फणीश्वरनाथ रेणु- मैला आँचल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण – 39 वाँ, पृ० सं०. भूमिका से
12. सीता रत्नमाला – जंगल से आगे, पृ. सं. - 31
13. वही, पृ. सं. - 32
14. वही, प. सं. - 40
15. वही, पृ. सं. – 55
16. वही, पृ. सं. - 76
17. वही, पृ. सं. – 77
18. वही, पृ. सं. – 71
19. वही, पृ. सं. 232
20. वही, पृ. सं.-255

******

समकालीन आदिवासी हिन्दी कविता : लोक जीवन और साहित्य का बदलता स्वरूप

-प्रफुल्ल कुमार रंजन
शोध छात्र
हिन्दी विभाग, वसंत कन्या महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी
ईमेल- prafullr804@gmail.com
मो. नं.-8840110508

शोध सार-

आदिवासी समाज की गणना पृथ्वी के सबसे आदिम जातियों के रूप में की जाती है। प्रत्येक समाज की जड़े उसके अतीत में धंसी होती है जो लोक संस्कृति व परंपरा के रूप में आगे बढ़ती हैं। आदिवासी समाज की संस्कृति व परंपराओं की जड़ें भी वाचिक रूप में आगे बढ़ती रही है। लिपि और भाषा की खोज के बाद वाचिक परंपरा से लेखन परंपरा का विकास हुआ। लेखन परंपरा में कविता एक महत्वपूर्ण माध्यम बनकर उभरी जिसमें आदिवासी कवियों ने अपने गीत, त्यौहार, उत्सव व जीवन को संकलित करना शुरू किया। इस लेख में हम कविताओं के रूप में दर्ज आदिवासी समाज के लोक की व्याख्या व विश्लेषण करेंगे। साथ ही औद्योगिकीकरण व आजादी के बाद आदिवासी समाज में लोक जीवन व साहित्य पर कैसे व कितना प्रभाव पड़ा है इसकी भी चर्चा की जायेगी। साथ ही इस बात को भी दर्ज किया जायेगा कि वैश्विकरण के बढ़ते संकट के बीच आदिवासी समाज का लोकजीवन विस्थापन, पलायन, रोजगार व सांस्कृतिक हमले से किस कदर प्रभावित हो रहा है।

बीज शब्द-

आदिवासी, जीवन दर्शन, आदिवासी ऐतिहासिकता, सहजीविता, अस्तित्व, विस्थापन, सांस्कृतिकरण, विद्रोह।

मूल आलेख-

आदिवासी कौन? जैसे सवालों से सामना करते हुए हरिराम मीणा कहते हैं कि ''भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों को समझने के लिए ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हमें वर्ण व्यवस्था से होकर वर्तमान प्रमुख रूप से जाति आधारित समाज की व्यवस्था तक गुजरना होता है। जहां तक आदिवासियों का सवाल है तो वे इस सामाजिक प्रणाली का अंग न होकर अलग-थलग रहते आये समुदाय है, जिन्हें वर्ण व जाति आधारित समाज से पृथक देखना होगा। व्यवसाय के आधार पर बनने वाली श्रेणियों की दृष्टि से भी आदिवासी समुदायों का वर्ग भौगोलिक, सांस्कृतिक व नृतत्व वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विशिष्ट ही माना जाता रहा है।''[1]

यह समाज कैसे अस्तित्व में आया यह शोध का विषय अभी भी है लेकिन जो अध्ययन व इतिहास हमारे सामने है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्य-अनार्य संग्राम श्रंखला के दौरान जो ज्ञात मूल जन विजित कर लिये गये और दास, सेवक या शूद्र के रूप में जिनके साथ व्यवहार किया गया वे आज का दलित समाज है जिसने मुख्य रूप से अछूत होने का दंश सहा। जो जन समूह विजेताओं की पकड़ से बाहर रहे, खदेड़ दिये गए या बचकर दूर दराज सुरक्षित दुर्गम जंगलों पहाड़ों में शरण लेने को विवश हुए वे आज के आदिवासी कहे जा सकते है। ''जिसे हम 5000 वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता कहते है वह मूलरूप से हमारी आदिवासी सभ्यता ही है, वह सभ्यता जो भारत भूखण्ड के मूल निवासियों ने विकसित की है। मनुष्य और प्रकृति की सहभागिता, सहयोग और सह अस्तित्व का जीवन दर्शन इन्हीं आदिवासी समाजों की देन है। भारत के पास बहुत व्यापक और पुष्ट लोक संस्कृति की परंपरा है। लोक संस्कृति के विकास का मूल स्त्रोत ही आदिम समाज की बहुआयामी कल्पनाशीलता और उसकी रचनाशीलता से जुड़ा हुआ है। आदिवासियों के पास मन और बुद्धि की मानवीय प्रयोगशाला रही है, जिसमें आदिम कलाओं उत्कीर्ण पाषाण चित्रों, प्रकृति के साथ तन्मय उल्लासपूर्ण लास और नृत्य, स्वरों का समायोजन और मौखिक वाचिक परंपरा का लोक साहित्य प्रारम्भ से ही मौजूद है। इसकी उम्र वेदों की प्रकृति मूलक ऋचाओं से भी अधिक है। आर्यो के ऋग्वैदिक प्रकृति गीत तो बहुत बाद के है। भारतीय लोक साहित्य, लोक नृत्यों और लोक कलाओं का जन्मदाता रहा है। हमारा आदिवासी समुदाय, उनके कबीले और

कुनबे। भारत की आर्य सभ्यता और संस्कृति ने अपना अधिकांश कलात्मक वैभव उसी मूल आदिवासी सभ्यता से ग्रहण करके विकसित किया है। आदिवासी कलाओं ने जो वानस्पति रंग ईजाद किये थे उन्हें ही लेकर हमारी समस्त कला सृष्टि निर्मित हुई है। आर्य ऋषियों, मुनियों, साधकों, आध्यात्मवादियों ने जो गेरूआ रंग स्वीकार और अंगीकार किया वह पाषाणी रंग अर्वाचीन आदिवासी कला का आधारभूत रंग है। आदिवासियों ने प्रकृति से जो गीत, गीति गायन, नृत्य, लय और तन्मयता अर्जित की थी, वही आर्यकालीन कलाओं में मौजूद है।"[2] इसलिए हम भारत के अपने मूल निवासियों के ऋणी है क्योंकि हमारी सारी कलाओं बाद की सदियों के लिखित साहित्य की परंपरा इन्हीं विकसित आदि सभ्यता की छाया में विकसित हुई है। आज के आदिवासी समाज की अस्मिता ही जल, जंगल और जमीन से आबद्ध है। उनकी संपूर्ण सामाजिक संरचना और जीवन यापन का साधन जल, जंगल जमीन ही है। जमीन के इन्हीं तत्वों से मिलकर आदिवासी समुदायों की भाषा, शिक्षा, संस्कृति और जीवन शैली विकसित हुई है, जो शहरी या मैदानी पहचान से एकदम पृथक है।

हम सालों से पढ़ते आ रहें है कि साहित्य समाज का दर्पण होता है। लेकिन क्या आप इस बात से सहमत है कि औपनिवेशिक लेखकों ने भारत का जो साहित्यिक पाठ किया वह वास्तविक था? उनकी नजर में भारत गरीब, कमजोर व असभ्य लोगों का देश था। जो विजेता होता है उसकी नजर में विजित लोगों के समाज के लिए ऐसे ही उपमानों के प्रयोग किये गये। ठीक ऐसे ही गैर आदिवासी समाजों की नजर में आदिवासी समाज जंगली, बर्बर व असभ्य नजर आया। गैर आदिवासी लेखकों ने अपने साहित्य में भी इनकों इसी रूप में दर्ज किया। यही कारण है कि आजादी के पहले व बाद में जब आदिवासी समाज ने शिक्षा हासिल की उसकी पहली प्राथमिकता थी अपनी छवि के सही मूल्यांकन की। इस प्रक्रिया में कविता ने एक बेहतर माध्यम का काम दिया। आज भारतीय साहित्य के जिस दर्पण में हजारों साल से आदिवासी समाज का जो विकृत रूप दिखाया गया है उस विकृत रूप को हटाकर उसके वास्तविक प्राकृतिक रूप को देश और संसार को दिखाना ही आदिवासी साहित्यकारों का सबसे बड़ा दायित्व है।

"इससे पहले कि वे पुनः तुम्हारा
अपने ग्रंथों में बन्दर, भालू या अन्य किसी जानवर
के रूप में करे वर्णन
तुम्हें अपने आदमी होने की
खोजनी होगी परिभाषा
उनके सिद्धांतों, स्थापनाओं मंत्तव्यों के विरूद्ध
उनके बर्बर वैचारिक हमलों के विरूद्ध
रचने होगें
स्वयं ग्रंथ।"[3]

किसी समाज का जीवन उस क्षेत्र की प्रकृति और मनुष्य द्वारा उस प्रकृति के संस्करण के बीच चलता है। यह क्रिया और प्रतिक्रिया प्रकृति और मनुष्य की पारस्परिक निर्भरता के आधार पर चलती है। प्रकृति मनुष्य का सम्पोषण करती है और मनुष्य प्रकृति का। यह सहजीविता इतनी घनीभूत है कि एक के बिना दूसरे का जीवन संभव नहीं है। आदिवासी समाजों की सबसे अच्छी बात ये होती है कि वे प्राकृतिक संसाधनों को सामुदायिक सम्पत्ति मानते है। उनकी व्यवस्था में व्यक्ति की जगह समुदाय चिंता के केंद्र में होता है। आदिवासी प्रथाओं में भी इस सामुदायिक चेतना को महसूस किया जा सकता है जो अब कानून बन चुका है। (जैसे-विलकिंसन रूल, संथाल परगना टेंनेंसी एक्ट तथा छोटानागपुर टेनेंसी एक्ट)। इन तीनों कानूनों की आत्मा में यही बात दर्ज है कि जमीन, न व्यक्ति, न पुरूष और न स्त्री की है। यह समुदाय की है, समाज की है, इसलिए किसी व्यक्ति द्वारा इसका हस्तान्तरण अवैध होगा। जसिंता केरकट्टा कहती है-

"मैं नही जानता
अपने पड़ोस को भी ठीक से
मेरी कल्पना में रहता है ''समाज''
जिसके लिए मैं लड़ता हूँ।"[4]

नैसर्गिक रूप से वाचिक रहा आदिवासी समाज एक ऐसी सत्ता रहित सभ्यता और संस्कृति का वाहक है जिसमें वायदें करार, दस्तावेजी प्रमाण आदि लिखित साहित्य की आवश्यकता नहीं थी। उन्होंने एक ऐसी जीवन प्रणाली विकसित की जो लचीली है और जिसमें वर्तमान और भविष्य की पीढ़ियाँ एक समान रूप से अपने अनुभवों और समसामायिक जरूरतों के मुताबिक जोड़ घटा सकती है। आदिवासी समाज ने लिखित दस्तावेजों और

ऐतिहासिक साक्ष्यों से अधिक शब्दों पर भरोसा किया और प्रकृति से सीखने समझने की प्रक्रिया में सामुहिक चेतना का विकास किया जो बताता है कि यदि यह जीवन यर्थात् है या दुनिया यथार्थ है तो इस जगत में बोले गये शुद्ध भी यथार्थ हैं। आदिवासी जीवन दर्शन को परिभाषित करते हुए एक लेख में वंदना टेटे कहती है-आदिवासी दर्शन प्रकृतिवादी है। आदिवासी समाज धरती, प्रकृति और सृष्टि के ज्ञात-अज्ञात निर्देश अनुशासन और विधान को सर्वोच्च स्थान देता है। उसके दर्शन में सत्य-असत्य, सुंदर-असुंदर, मनुष्य-अमनुष्य जैसी कोई अवधारणा नहीं है न ही वह मनुष्य को उसके बुद्धि-विवके अथवा मनुष्यता के कारण महान मानता है। उसका दृढ़ विश्वास है कि सृष्टि में जो कुछ भी सजीव और निर्जीव है, सब समान है। न कोई बड़ा है न कोई छोटा। न कोई दलित है न कोई ब्राह्मण। सब अर्थवान है एवं सबका अस्तित्व एक समान है। चाहे वह कीड़ा हो, पौधा हो या कि मनुष्य हो।"[5]

आदिवासी विश्वास को पुरखा कहावतों, गीतों और कथाओं में मौखिक रूप से सहेजने और हस्तांतरित करने की परंपरा रही है। सामुहिकता आदिवासी संस्कृति का मूल आधार है। इनके जीवन में नृत्य है, गीत है, संगीत है, आखेट है और अनुष्ठान है। इन सबके बिना आदिवासी नहीं हुआ जा सकता। गीत गाने के लिए नाचना जरूरी है, नाचने के लिए बजाना जरूरी है और इन सबके लिए प्रकृति का साहचर्य होना जरूरी है, सामूहिक होना जरूरी है। बाहरी समाजों की तरह यहाँ कोई अकेला गीतकार, गायक, वादक या नर्तक नहीं होता है। सामुहिकता की भावनाओं से भरी है आदिवासी कविता का स्वर युवा कवि पार्वती तिर्की की कविता-

"बसन्त के मौसम में
फूलों के खिलने पर वे लोग
चिड़ियों के साथ खुश हुए
क्योंकि इन चिड़ियों ने ही
हवाओं में मधुर राग छेड़ा
और उनके अनुराग ने ही
बादलों को धरती पर उतारा
जिससे उसकी मिट्टी
हमेशा उपजाऊ बनी रही।"[6]

प्रारंभिक आदिवासी कविताओं का स्वर बेहद तीव्र व प्रतिरोधी किस्म का था लेकिन हाल के वर्षों में कविताओं का स्वर स्थानिकता व आदिवासी समाज के भीतरी अंतद्वंदो को लेकर लिखी जा रही है। कल तक जो आदिवासी समाज ग्रामीण व अपने देशी स्वभाव के कारण जाना जाता था आज वहाँ शहरी वातावरण का प्रभाव साफ तौर से देखा जा सकता है। इन सब बाहरी हस्तक्षेपों के बावजूद भी आदिवासी समाज आज भी तथाकथित मुख्यधारा के समाज से अलग सांस्कृतिक साहचर्य के साथ जीवन यापन कर रहा है।

आदिवासी लोक को समझने के लिए सबसे जरूरी है आदिवासी स्त्री को समझना। आदिवासी समाज अपने मौलिक रूप में मातृसतात्मक समाज रहा है। लेकिन वहां भी अलग-अलग समुदायों के अपने-अपने नियम है। आदिवासियों की अति प्राचीन संस्कृति को लोक साहित्य में देखें तो पायेगे कि स्त्री आदिम युग में अपने आप में संपूर्ण थी, विशेषकर लोक कथाओं में। जब तक आदिवासी समाज में गोत्र का बंटबारा हुआ तब तक परिवार की अवधारणा बन चुकी थी और परिवार में स्त्री पत्नी होने के साथ-साथ सहयोगिनी के रूप में प्रतिष्ठित थी। वह अपने विचार पारिवारिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी। लोकगीतों में स्त्री सदैव सुख दुख की साथी के रूप में ही मिलती है। लेकिन आगे चलाकर अन्य जातियों के सम्पर्क में आने के बाद लोक मूल्यों में भारी बदलाव भी देखने को मिलता है।

रमणिका गुप्ता लिखती हैं- "भारतीय संस्कृति के बिल्कुल विपरित आदिवासी स्त्री को अपना वर खुद चुनने की इजाजत है। इसके लिए वह न तो दण्डित होती है और न दोषी करार दी जाती है। उनके यहाँ घोटुल प्रथा चालू थी जहां युवा लड़के-लड़कियों को एक साथ रखकर सब प्रकार का ज्ञान दिया जाता था। यह उनका प्रशिक्षण स्थल था। इसलिए भारत की अन्य स्त्रियों के विपरित आदिवासी लड़कियां लड़कों को देखकर न तो मोम की तरह पिघलती है और न बर्फ की तरफ पानी-पानी हो जाती है बल्कि वे उससे बतियाती है, परखती है और अगर जीवन साथ निभाने का स्कोप देखती है तो दोनों रजामंदी से व्याह भी कर लेते है।"[7]

"बहुत डांटती हो मां, बाबा बहुत डाटते है
पसंद किए लड़के के पास चली जाऊंगी
पसंद की हुई लड़की के पास चला जाऊंगा।"[8]

उपरोक्त आदिवासी कुड़ुख गीतों के अनुवाद में एक लड़की की मीठी उलाहना देखी जा सकती है।

अपनी एक कविता 'उतनी दूर मत ब्याहना बाबा' में निर्मला पुतुल कहती हैं -

"मत चुनना ऐसा पर
जो पोचई और हड़िया में डूबा रहता हो अक्सर
काहिल निकम्मा हो
माहिर हो मेले से लड़कियां उड़ा ले जाने में
ऐसा वर मत चुनना मेरी खातिर।"[9]

आदिवासी लोक जीवन को समझने का दूसरा सबसे मजबूत स्तंभ भाषा है। इनके गीत-गानों व त्योहारों का अधिकांश भाग आदिवासी बोली व भाषाओं में है जहां हिन्दी भाषी समाज की पहुंच सीमित है। हिन्दी कविताओं के रूप में जो मिलता है वह उनके लोक जीवन का भाषानुवाद है। किसी भी भाषा को संस्कृति का प्रतिरूप ही माना जाता है। किसी भी समाज की जातीय चेतना उसकी अपनी भाषा और संस्कृति में व्यक्त होती है। भाषा का मरना उसकी संस्कृति के मरने का प्रमाण होता है। इस संबंध में प्रो. प्रभाकर सिंह कहते हैं कि ''भूमंडलीकरण की इस आंधी में सबसे बड़ा खतरा भाषाओं पर है, खासकर जनभाषाओं और आदिवासी भाषाओं पर है। इन भाषाओं पर सबसे अधिक खतरा इसलिए है कि इनका संरक्षण नहीं है वह वाचिक और मौखिक परम्परा में है।"[10]

इन्हीं भाषाओं व बोलियों के संरक्षण में समुचा आदिवासी बौद्धिक समुदाय लगा हुआ है ताकि इनके माध्यम से वह अपने समाज व संस्कृति का संरक्षण कर सके।

"भर रही है
कोई आदिम भाषा
हथियारों से लैस वे
नहीं आए उसे बचाने
व्यस्त रहे चुराने में
उसके गले से अद्भुत हार
उसके कानों से बालियां
उसकी छाती से गोदने।"[11]

हाल के वर्षों में आदिवासी समाज भाषाई, धार्मिक व सांस्कृतिक स्तर पर संक्रमण काल के दौर से गुजर रहा है। विकास के नाम पर हुए दोहन ने जितना पर्यावरण को नुकसान पहुंचाया है उससे कहीं अधिक नुकसान आदिवासी समाज का हुआ है। जंगल आदिवासियों का घर होता है लेकिन सत्ता ने विकास व कानून की अपनी व्याख्या कर उनसे उनका घर छिन लिया। विस्थापन आदिवासी समाज की सबसे बड़ी समस्या है। विस्थापन केवल मानव का ही नहीं होता है। बल्कि उसके साथ-साथ उनकी भाषा व संस्कृति का भी होता है। भारतीय आदिवासियों को बाहर के हमलावरों या अंग्रेजों के उपनिवेशवाद ने तो नुकसान पहुंचाया ही उससे भी ज्यादा नुकसान भारत की सरकार, नौकरशाही और भारत के मैदानी लोगों के उपनिवेशवाद ने पहुंचाया। आजादी के पहले भारत के मैदानी इलाकों के सूदखोरों, जमीदारों और व्यापारियों ने उनका बहुत शोषण किया है। वहीं आजादी के बाद औद्योगिक विकास व सरकार की पूँजीवादी नीतियों के कारण वे अपने ही देश में विस्थापितों की तरह जीवन जीने को मजबूर होते चले गये समकालीन आदिवासी कविता दोहरे स्तरों पर लड़ रही है। एक तरफ वह सरकारी नीतियों व पूँजीपतियों से लड़ रही है तो दूसरी तरफ अपने उन लोगों से जो इन मिशनरियों के एजेंट के तौर पर आदिवासी समाज में काम कर रहे है। आदिवासी हिन्दी कविता आदिवासी समाज के कठिन एवं विपरित परिस्थितियों से जुड़े जीवन से संबंधित है अतः स्वाभाविक है कि इसमें मनोरंजन के लिए स्थान नही है इसके बरक्स निरंतर विभिन्न परिस्थितियों से जूझते रहने का चित्रण अधिक है। भिन्न भौगोलिक एवं पर्यावरणीय परिस्थितियों में जैसे पेड़-पौधे एवं जीव जन्तु जीवित रहते है लेकिन अपने भौगोलिक क्षेत्र या पर्यावरण से अलग कर दिए जाने पर वे या तो मर जाते है या उनके रूप या आकार में परिवर्तन हो जाता है वही गति साहित्य से जुड़े प्रश्नों की भी है। हर भाषा या समाज का साहित्य इसी तरह अपने भूगोल एवं मानसिक पर्यावरण में विकसित होता है, जो बाद में अपने से भिन्न परिवेश के साहित्य से संवाद स्थापित कर देश दुनिया को कुछ कदम आगे ले जाने का कार्य करता है। आदिवासी हिन्दी कविता ने ठीक यही काम किया है। उसने दुनिया को अपनी कविता के माध्यम से बताया उनका समाज कैसा था, कैसा है और किन-किन दैनिक संघर्षों से होकर गुजर रहा है।

"वह कौन सा जंगली जानवर था चुड़का सोरेन

जो जंगल लकड़ी बीनने गयी तुम्हारी बहन मंगली को
उठाकर ले भागा?
तुम्हारी भाषा में बोलता वह कौन है
जो तुम्हारे भीतर बैठा कुतर रहा है
तुम्हारे विश्वास की जड़े?"[12]

अतः निष्कर्ष के रूप में हम कह सकते है कि आदिवासी साहित्य लोकतंत्र के एक सार्थक पहलू के रूप में उभर रहा है। यह साहित्य केवल आत्म सम्मान का संघर्ष मात्र नहीं है बल्कि इसमें विकास, विस्थापन, कहीं पर पिछड़ जाने या हार जाने के बावजूद धूल झाड़कर उठ लेने के बाद पुनः संघर्ष करने आकांक्षा भी है। इसमें जीवन को हर तरह से बेहतर बनाने की जबरदस्त ललक है। जंगल, पहाड़ की हरियाली, खेल खलिहान के अन्न, बचाने, नई परिस्थितियों में खुद को खोजने एवं परिभाषित करने की आकांक्षा इसमें समाहित है। जल, जंगल जमीन और जीवन के प्रश्नों को अपने लिए सीमित न कर देश दुनिया से समकालीन आदिवासी हिन्दी कविता अपनी व्यापकता में अपनी जीवन शैली की सीमा से परे उन हर मानवीय पक्षों, संघर्षों एवं संवेदनाओं को जगाता है, झिंझोड़ता है, ललकारता है जो किसी कारण वश जबरन सुला दिए, दबा दिए या उपेक्षित कर दिये गए थे। इसमें हर अमानवीय और असंवैधानिक पहलुओं के प्रति स्वतः स्फूर्त विरोध है।

किसी भी समाज की आरंभिक रचनाएं उस भाषा के लोकगीतों में ही दर्ज होती है। अतः आदिवासी समाज की भी प्रारंभिक रचनाएं उनके लोकगीतों में है मांदर की थापों के रूप में जिंदा है तो वही दूसरी ओर शहरीकरण से प्रभावित होकर सेमिनारों, संगोष्ठियों की बहसों का मुद्दा बन कर भी अपनी उपस्थिति दर्ज करा रही है। इस तरह आदिवासी हिन्दी कविता आदिवासी समाज की समस्याओं के साथ-साथ भारत में होने वाले बदलावों व घटनाओं को अपनी कविता का विषय बनाकर चल रही है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची-

1. हरिराम मीणा, आदिवासी दुनिया, चुनिंदा मुद्दों का विमर्श, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नई दिल्ली, 2016
2. रमणिका गुप्ता, भारत का आदिवासी स्वर (सं0) अनन्य प्रकाशन, 2018, पृ0 27
3. महादेव टोप्पो, जंगल पहाड़ के पाठ, अनुज्ञा बुक्स, दिल्ली, 2017, पृ0 14
4. जसिंता केरकेट्टा, जड़ों की जमीन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2018, पृ0 156
5. वंदना टेटे (सं0) आदिवासी दर्शन और साहित्य, नेशन प्रेस डांट काम इंडिया, 2021, पृ0 37
6. पार्वती तिर्की, फिर उगना, राधाकृष्ण, पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2023, पृ0 45
7. रमणिका गुप्ता, भारत का आदिवासी स्वर (सं0) अनन्य प्रकाशन, 2018, पृ0 27
8. पार्वती तिर्की, फिर उगना, राधाकृष्ण, पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2023, पृ0 127
9. निर्मला पुतुल, नगाड़े की तरह बजते है शब्द, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 2012, पृ0 50
10. अनुज लुगुन (सं0) आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, अनन्य प्रकाशन, दिल्ली, 2018, पृ0 58
11. जसिंता केरकेट्टा, ईश्वर और बाजार, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2022, पृ0 72
12. अनुज लुगुन, अघोषित उलगुलान,, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, 2023,पृष्ठ 118

*****

'आदिवासी संस्कृति और आंदोलन' ग्रंथ आदिवासी वर्ग की आचारसंहिता

-डॉ. गोरख निळोबा बनसोडे
सहयोगी प्राध्यापक,
हिंदी विभाग, सरदार बाबासाहेब माने महाविद्यालय, रहिमतपुर
तह. कोरेगांव जि. सातारा
महाराष्ट्र 415 511
gorakhbansode1971@gmail.com

शोध सारांश - वहारु सोनवणे महाराष्ट्र के नंदुरबार इस आदिवासी क्षेत्र में जन्मे एक आदिवासी पढ़े-लिखे शिक्षित बेरोजगार युवक थे l लेकिन अंबरसिंह इस आदिवासी कार्यकर्ता के संपर्क में आने के बाद आदिवासियों की समस्याएं देखकर लोगों का कार्यकर्ता, वक्ता, तथा लेखक बनकर अपना पुरा जीवन आदिवासी वर्ग के लिए समर्पित करते है l

दिन - रात आदिवासी लोगों की समस्याएं सुलझाने में लगे रहते है l जहाँ कही आदिवासी पर अन्याय - अत्याचार होता है वहां उपस्थित होकर उन्हें सामाजिक, शासकीय मदद के लिए प्रयासरत रहते है l

आदिवासी वर्ग ने शिक्षा लेकर जागृत होना चाहिए l नौकरी प्राप्त करे, खेती करें, और अपनी आदिवासी संस्कृति से जुड़कर रहे l ऐसी आदिवासी जीवन जीने की उनकी आदर्श विचारधारा थी l इसलिए वे महाराष्ट्र तथा देश के आदिवासी प्रदेश की यात्रा करते रहे l आदिवासी समाज में युवा वर्ग को सभा संमेलन, पुस्तक लेखन के माध्यम से मार्गदर्शन करते रहे l आदिवासी लोग शराब के व्यसन से दूर रहे, पति -पत्नी में झगड़े न हो, समाज में आपस में वैरभाव निर्माण न हो, एकता के सूत्र में रहकर भाईचारे से रहे, आदिवासी संस्कृति का पालन करके आदर्श जीवन यापन करे l आदी बातों पर वे जोर देते थे l

वहारु सोनवणे जी वर्तमान काल के एक आदर्श आदिवासी कार्यकर्ता एवं लेखक है l आदिवासी वर्ग के साथ उनका भी जीवन उपेक्षित तथा यातनामय है l वे आज भी शहरी संस्कृति की साधन सुविधाओं से दूर आदिवासी गांव में रहकर उसी सभ्यता से जुड़े रहे है l आज उनका साहित्य स्कूल - विश्वविद्यालयों में पढाया जाता है l उन्हें अनेक पुरस्कार देकर सामाजिक शासकीय स्तर पर सम्मानित किया गया है l

प्रस्ताविक - मराठी भाषा के सुपरिचित कवि - लेखक तथा आदिवासी कार्यकर्ता वहारु सोनवणे जी ने 'आदिवासी संस्कृती आणि चळवळ' नामक आदिवासी संस्कृति के प्रति अस्मिता जागृत करनेवाली मराठी किताब लिखी है | आज यह ग्रंथ आदिवासी साहित्य और मराठी साहित्य में चर्चा का विषय बन गया है | आदिवासी वर्ग की संस्कृति यह विषय अनेक लोगों के लिए अनभिज्ञ हो सकता है l अन्य प्रांतीय अध्ययन कर्ताओं को इस मराठी किताब का परिचय हो इस उद्देश्य से यह अनुसन्धात्मक तथा समीक्षात्मक रुप में लेख पाठकों के सामने प्रस्तुत कर रहा हूं l

बीज शब्द : आदिवासी, संस्कृति, समानता, क्रांति, परिवर्तन, इतिहास, जीवन, दुःख, व्यवहार, प्रश्न, वर्ग, समस्याएं, भोगवाद, अतिक्रमण,मानव, समूह, पंथ, मानवमुक्ती, जीवंनमूल्य, शोषण, जात, धर्म वर्ण, अस्तित्व, आदी l

वहारु सोनवणे : जीवन और साहित्यिक परिचय -

वहारु सोनवणे जी का पुरा नाम वहारु फूलसिंग सोनवणे है, लेकिन साहित्यिक और सामाजिक जगत में लोग उन्हें प्रेम तथा आदर से 'वहारुभाऊ' इसी नाम से संबोधित करते है | उनका जन्म 6 अगस्त 1950 को महाराष्ट्र के गांव श्रीखेडे पोष्ट रायखेड तहसिल शहादा जिला नंदुरबार इस प्रदेश के एक आदिवासी भिल परिवार में हुआ | महाविद्यालयीन शिक्षा प्रारंभ हुई थी लेकिन आर्थिक कमजोरी और बाद में सामाजिक कार्य के कारण बीच में ही शिक्षा को छोड़ना पडा | अध्यक्ष, श्रमिक संगठन, शहादा (धुलिया) संस्थापक सदस्य, आदिवासी एकता परिषद, (महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, दादर, नगर, हवेली), अध्यक्ष, विद्रोही सांस्कृतिक आंदोलन महाराष्ट्र राज्य आदी युवा अवस्था से आज उम्र के 75 वे साल तक करीबन 14 राज्य तथा राष्ट्रीय आदिवासी विविध संगठनों के अध्यक्ष तथा सदस्य के पदों पर कार्यरत रहकर आदिवासी वर्ग को न्याय देने का सार्थक प्रयास किया |

वहारु सोनवणे जी का सन 1987 में 'गोधड' 1990 में 5 वे आदिवासी साहित्य संम्मेलन पालघर की अध्यक्षीय पुस्तिका, सन 2000 में वहारु सोनवणे कविता संग्रह, 2008 में 'गोधड' कविता संग्रह का हिंदी अनुवाद 'पहाड हिलने लगे' सन 2014 में 'रोडाली' कविता संग्रह प्रकाशित हुआ | इसके साथ उन्होंने

अनेqक पत्र - पत्रिकाओं में विविध लेख तथा शोध आलेख प्रकाशित किए है |

सम्मान :

वहारु सोनवणे जी को साहित्यिक और सामाजिक कार्य के लिए विविध सम्मानों से नवाजा गया है | 'गोधड' महाराष्ट्र कविता संग्रह के लिए महाराष्ट्र राज्य साहित्य और संस्कृति मंडल मुंबई की ओर से यशवंतराव सम्मान, महाराष्ट्र शासन आदिवासी विकास विभाग की ओर से आदिवासी सम्मान, महाराष्ट्र फाउंडेशन समाजकार्य सम्मान, भारत आदिवासी सम्मान, रांची झारखंड आदी विविध सम्मानों से उन्हें सम्मानित किया है |

पुस्तक का बाह्य परिचय :

सम्यक विद्रोही प्रबोधन संस्था, कोल्हापुर प्रकाशन से 11अप्रैल 2021 में इस किताब का प्रकाशन हुआ है | इस 204 पृष्ठों की किताब की कीमत 250 रूपये है | किताब की अर्पणपत्रिका में लेखक वहारु सोनवणे जी ने लिखा है, "आदिवासी अस्तित्व, अस्मिता और संस्कृति की रक्षा करने के लिए हर एक प्रयास करनेवाले और आदिवासी आंदोलन में मानवीय मूल्यों की खोज करनेवाले सभी को.."

पुस्तक का मुखपृष्ठ इतना बेहतरीन और सुंदर बन पड़ा है की पाठक के हाथ पड़ते ही पाठक का मन उसे पढ़ने के लिए आकर्षित करता है | किताब पर आदिवासी स्त्री - पुरुष का मनोहारी चित्र है | चित्र में पती - पत्नी आदिवासी वेश - भूषा में सुशोभित है | दोनों का वर्ण पूरा काला है, महिला के माथे पर

टोकरी है, कम कपड़े परिधान किए इस नारी ने हाथ पैर तथा गले में आभूषण पहने है | पुरुष के माथे पर राजा की तरह मुकुट तथा बैल के सिंग लगाए है, उसने भी कमर के नीचे का पर्याप्त कपड़ा पहना है | कंधे पर तौलिया या गमछा रखा हुआ है | हाथ में लगभग उसके कद की लंबी लाठी है | नारी की तरह उसके भी हाथ पैर तथा गले में आभूषण है |

इस मुखपृष्ठ से आदिवासी जीवन की पारिवारिक, सामाजिक आदर्श संस्कृति का पूरा परिचय मिलता है | मुखपृष्ठ पर पहले नारी दिखाई है, पुरुष बाद मे, दोनों का कद आभूषण समान दिखाया है, इससे साबित होता है, यह नारी प्रधान संस्कृति है, आदिवासी लोग मातृसत्ताक होकर भी परिवार में दोनों को समान अधिकार है | दोनों समान मेहनत करनेवाले है |

किताब के प्रारंभ में लेखक वाहरू सोनवणे जी ने किताब के बारेमें अपनी भूमिका 'मनोगत' शीर्षक में दी है | उसकी पहली ही पंक्ति में वे स्पष्ट करते है, 'आदिवासी संस्कृति और आंदोलन' यह किताब विविध अखबार, साप्ताहिक, मासिक, तिमाही मासिक आदी पत्र - पत्रिकाओं में लेख के रूप में संकलित है |

इस धरती का पहला मानव आदिवासी है | आदिवासियोंकी संस्कृति श्रम, समूह, सहकार्य, समता बंधुता, स्वतंत्रता, प्रेम और विश्वास आदी मानवीय मूल्यों पर आधारित है |

आज का आदिवासी विविध धर्म, पंथ, पक्ष के प्रभाव में अपना जीवन जी रहा है | यह आदिवासी इस भोगवादी संस्कृति से बाहर आकर अपनी संस्कृति के प्रति आस्था, सम्मान रखकर संस्कृति का रक्षण करें, अपना जीवन संघर्ष समझने के लिए प्रस्तुत किताब उपयुक्त होगी ऐसी कामना करता हूँ |

प्रस्तुत किताब को कॉमरेड डॉ. भारत पाटणकर जी ने 'वाहरुभाऊ : एक समग्र क्रांतिकारी विचार' इस शीर्षक से प्रस्तावना दी है | इस प्रस्तावना में डॉ.पाटणकर जी ने वाहरु सोनवणे जी के पूरे जीवन और कार्य का आलेख प्रस्तुत किया है | वे वाहरुभाऊ की चरित्रगत विशेषताएं भी प्रस्तुत करते है | इसके साथ वाहरुभाऊ की आदिवासी जीवनगत संकल्पना को विशद किया है |

पुस्तक का अंतर्गत परिचय : पुस्तक के कुल छ भाग किए है, आत्मकथनात्मक लेख, साहित्य और संस्कृति के बारेमें भाषण, जीवनीपरक लेख, चिंतनात्मक लेख, अनुसंधनात्मक लेख, शायमा (पाठशाला पर कहानी) |

1.आत्मकथनात्मक लेख - मैं और श्रमिक संगठन - इस लेख में वाहरू सोनवणे जी ने अपनी पारिवारिक गरीबी की स्थिति, गिरवी खेत, बेरोजगार जीवन, मित्रों के साथ मजदूरी,भूमिहीनों के लिए खेती प्राप्त करने के प्रयास, आदिवासी कार्यकर्ता अंबरसिंह का परिचय हुआ | नौकरी के बारेमें चर्चा करते समय अंबरसिंह कहते है, "समाज में गरीब लोगों की इतनी समस्याएं होने के बावजूद आपके मन में नौकरी के बारेमें कैसे विचार आते है |"[1] इस वाक्य से वाहरू सोनवणे के जीवन में क्रांतिकारी परिवर्तन हो जाता है |

इसके बाद उन्होंने आदिवासी शोषित-पीड़ित लोगों के लिए एक कार्यकर्ता बनकर आजीवन कार्य करने का विचार करते है | सुबह घर से बाहर निकलकर रात देर तक लोगों की समस्याएं सुलझाना, अन्याय अत्याचार दूर करना, जातिव्यवस्था, अंधविश्वास के खिलाफ प्रबोधन करने का कार्य करने लगे | एक गांव एक पनघट, जाति निर्मूलन, दलित अत्याचार विरोधी आंदोलन, मराठवाडा नामांतर आंदोलन आदी अनेक कार्य में सहभाग लिया |

2. साहित्य और संस्कृति के बारेमें भाषण -

1.पांचवा आदिवासी साहित्य संम्मेलन, पालघर

2. दूसरा विद्रोही साहित्य -संस्कृति संम्मेलन, कोल्हापुर

3. दूसरा राज्यस्तरीय आदिवासी साहित्य संम्मेलन, जुन्नर, पूना

इन संम्मेलनो में मनुष्य जाति का जन्म मूल अफ्रीका में हुआ है | आदिवासी विश्व के मूलनिवासी है |

आदिवासी की कोई जाति नही है वह जमात है | आदिवासी लोग हिंदू नही है | आदी मुख्य विषयों पर जोर दिया है | आदिवासी संस्कृति का जतन करने को आदिवासियों को प्रोत्साहित किया | संम्मेलनों में अपनी कविताओं का पाठ किया | पूरी तन्मयता के साथ संम्मेलनों का आयोजन किया, अध्यक्षता स्वीकार की |

3.जीवनीपरक लेख -

1.डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर और शोषित समाज

2. अंबरसिंह महाराज : शोषण व्यवस्था के विरोधी बुलंद आवाज़ -

3.आदिवासी एकता परिषद का प्रणेता : काका दोधड

4. भुजंग मेश्राम : आदिवासी साहित्य आंदोलन का आधारस्तंभ

5. वीरसिंग पाडवी -

इन व्यक्तियों का तथा उनके कार्य का बहुत बड़ा प्रभाव वाहरू सोनवणे जी के जीवन पर पड़ा है |

4. चिंतनात्मक लेख -

1.आदिवासी संस्कृति और विकास की संकल्पना

2. आदिवासी साहित्य, संस्कृति और अस्मिता

3. आदिवासियों का आंदोलन

4. आदिवासी हिंदू नही है

5. शबरीकुम्भ और आदिवासी

6. आदिवासियों की घर वापसी

7. आदिवासी संस्कृति : जतन और विकास

8. 9 ऑगस्ट : विश्व आदिवासी गौरव दिवस

9. आदिवासी मध्यम वर्ग की जिम्मेदारी

इन चिंतनात्मक लेखों मे श्रम, संस्कृति और सहयोग ये मनुष्य के मानवीय जीवनमूल्य है |यही आदिवासी संस्कृति का आधार है | आधुनिक काल के त्यौहार, विवाह में आई हुई भोगवादी संस्कृति के कारण आदिवासी संस्कृति विकृत हो गई है | मानवीय

मूल्यो का विकास होगा तभी शोषणमुक्त समाज का निर्माण होगा | ऐसा वाहरूभाऊ का मानना है | इतिहास में सही रुपमे आदिवासी वर्ग की दखल नही ली है | खाज्या नाईक, तंट्या भील, भागोजी नाईक, बिरसा मुंडा का इतिहास उन्हें मान्य नही है | आदिवासी इस जगत के मूलनिवासी है, वे हिंदू नही है | ब्राह्मणवादियों ने आदिवासियों को वनवासी नाम दिया है, यह नाम हमें मान्य नही है |

महाभारत के द्रोणाचार्य ने एकलव्य को धनुर्विद्या की शिक्षा देने के लिए नकारा और गुरु दक्षिणा में उसका अंगूठा काट लिया | यह सही है क्या? ऐसा विज्ञानवादी तथा परिवर्तनवादी प्रश्न वाहरुभाऊ आधुनिक समाजव्यवस्था को विद्रोही स्वर में पूछते है | आदिवासी किसी पर भी अन्याय-अत्याचार नही करते, किसी प्रकार का भेद भी नहीं करते, प्रकृति ही आदिवासियों का घर है, वे समूह से रहते है, फल खाकर जीवन जीते है, वे धन संपत्ती का संचय नही करते, उनके मन में स्वार्थभाव नही होता |

9 अगस्त यह विश्व आदिवासी दिवस मनाया जाता है, वास्को - डी - गामा ने भारत की खोज की उसी प्रकार कोलंबस ने अमरीका की खोज की | उसे 500 साल हो गए उसी की ख़ुशी में स्वेत वर्ण के लोग समारोह का आयोजन करने वाले थे लेकिन उसी समय वहां के लाखों मूलनिवासी

आदिवासी रेड इंडियन लोगों की हत्या की गई | इस दुःखद घटना पर अफ्रीका और मित्र राष्ट्रोने निषेध व्यक्त किया | अपना बलिदान दिए मूलनिवासी रेड इंडियन लोगों के गौरव में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने 1993 से 9 अगस्त विश्व आदिवासी दिवस मनाया गया |

वाहरूभाऊ के मतानुसार, "आदिवासी रीती रिवाज, परंपरा और आदिवासी संस्कृति को कनिष्ठ मानते हुए प्रतिष्ठा के नामपर शोषण, वर्चस्व और विषमता पर आधारित भोगवादी संस्कृति आदिवासी वर्ग पर लादी जाने के कारण आदिवासियों का पुरा जीवन ही बदल डाला है l"[2] आदिवासी समूह के लोगो ने अपनी आदिवासी संस्कृति, साहित्य और परंपरा का रक्षण करना अपनी जिम्मेदारी समझनी चाहिए |

5. संशोधनपरक लेख -

1 आदिवासी और नवीन आर्थिक नीति

2. केलकर समिति

3. शिक्षा

4. आदिवासियों की हस्तानतरित जमीन

5. आदिवासियों का 2006 का वनाधिकार कानून

6. वनऔषधी

7. स्वाभिमान योजना

6. शायमा (पाठशाला)

वाहरूभाऊ जी ने अपने अनेक सालों के साहित्यिक - सामाजिक कार्य के अनुभव तथा अभ्यास से कुछ अनुसंधनात्मक तथ्य निकाले है, जो आदिवासियों के प्रगति विषयक मार्गदर्शक सूचना स्वरुप है |

1991 के जागतिक नवीन आर्थिक नीति का आदिवासियों के समग्र जीवनयापन पर परिणाम हुआ है, जागतीकीकरण, उदारीकरण, बाजारीकरण के कारण सरकार की ओर से राष्ट्रीय और बहु-राष्ट्रीय कंपनियों के लिए आदिवासियों के जंगल उद्योग व्यवसाय के लिए मांगे जा रहे है | इससे आदिवासियों का जंगल, खेती का प्राकृतिक जीवन नष्ट होगा | इस बारेमें डॉ.संजय साळीवकर कहते है, "एक ज़माने में जंगल के राजा होनेवाले आदिवासियों को जंगल से वंचित रहना पड़ रहा है l"[3] आदिवासी पुरी तरह जंगल से बाहर होने पर उदरनिर्वाह के लिए रोजगार के पीछे लगेंगे | कुछ लोग स्थानांनतरित होंगे, बाद में बेरोजगार होंगे, शोषण बढ़ता जाएगा, आदिवासियों की संस्कृति, मुक्त जीवन सुरक्षित रहना चाहिए इसलिए आनेवाली इस भयानक व्यवस्था का हमें विरोध करना चाहिए, इसके बगैर दूसरा कोई मार्ग नही है | ऐसा वाहरूभाऊ का कहना है |

केलकर समिति के माध्यम से आदिवासियों के जीवन में सुधार करने का प्रयास किया है | महाराष्ट्र में 47 आदिवासी जनजातियां है | भाषाओँ से संस्कृति का विकास होता है | कथा, कविता, गीत से विद्यार्थियों को मूल्यशिक्षण देना आवश्यक है | आश्रमशाला और

छात्रावास में आदिवासी क्रांतिकारक और संतों की फोटो और किताबें रखे | स्कूल में आदिवासी संस्कृति के रक्षण में आदिवासियों के खेल रखे | आदिवासियों के क्रांतिकारकों के जीवन पर सांस्कृतिक कार्यक्रम रखे | आदी केलकर समिति की कुछ योजनाएं वाहरूभाऊ के अध्ययन के कारण सम्मत हुई |

आदिवासी वर्ग में नारी वर्ग का बड़ा सम्मान है | उसे समान काम के लिए समान दाम दिया जाता है | वह अधिक स्वतंत्र हैं | नारी सम्मान के बारेमें डॉ. देवीदास खोडेवाड कहते है, " प्राचीन काल से आदिवासी समाज में नारी को श्रेष्ठ स्थान दिया है, आधुनिक काल में भी नारी जन्म का स्वागत किया जाता है l" [4] आदिवासी नारी को पती पीड़ा देता हैं तब वह नारी उसे छोड़कर दूसरा विवाह करती हैं | पती से पीड़ित बनने पर वह कभी- भी आत्महत्या नही करती | उसे अपने पती को चुनने का अधिकार हैं |

शायमा (पाठशाला) :

शायमा यह आदिवासी शब्द हैं, उसका अर्थ हैं - पाठशाला | यह एक आदिवासी कथा दी हैं | इस कथा का पुरा माहोल वाहरूभाऊ का गांव श्रीखेड हैं | जो

1000-1200 लोगों का छोटा-सा आदिवासी गांव हैं |

करन नामक एक बस से सफर करने वाले यात्री को

उतारा जाता है | उसे जाना था एक गांव और वह अनपढ़ होने के कारण दूसरी ही बस में बैठ जाता हैं |

अर्थात आदिवासी लोगों में शिक्षा अत्यंत आवश्यक हैं | अब शिक्षा यही सुधार का महत्वपूर्ण मार्ग हैं | यह वाहरूभाऊ को इस कथा से बताना हैं | आदिवासियों के शिक्षा के बारेमें मा.रा. लामखडे कहते है, "आदिवासी आज तक शैक्षिक प्रगती से दूर ही रहे है, इसलिए वे सभी प्रकार की प्रगती से दूर है l"[5]

निष्कर्ष - वाहरू सोनवणे जी की किताब 'आदिवासी संस्कृति और आंदोलन' यह आदिवासी वर्ग के साथ दीन - दलित, पीड़ित - शोषित वर्ग के लिए मार्गदर्शक हैं | चाह हो तो मार्ग निकलता हैं | वाहरू सोनवणे जी सामान्य व्यक्ति थे लेकिन आदिवासी लोगों की पीड़ा दूर करने का कार्य हाथ में लेकर तन - मन - धन से सफल बनाते हैं और आज एक सुपरिचित लेखक, कार्यकर्ता के रुप में असामान्य व्यक्तिमत्व के धनी बन गए है | ऐसे यशस्वी कार्यकर्ता एवं साहित्यिक वाहरू सोनवणे जी का यशस्वी लेखक के रुप में अभिनंदन..! उन्हें भविष्यकालीन कार्य के लिए हार्दिक- हार्दिक मंगल कामनाएं …!

संदर्भ ग्रंथ सूची -

1.वाहरू सोनवणे,'आदिवासी संस्कृती आणि चळवळ', सम्यक विद्रोही प्रबोधन संस्था, कोल्हापूर, प्र.सं. सन 2021 ई. पृ.22

2.वही पृ.154

3.डॉ.संजय साळीवकर, 'मानवी अधिकार आणि सामाजिक न्याय',श्री. मंगेश प्रकाशन, नागपुर, प्र.सं. सन 2018 ई. पृ.114

4.डॉ. देवीदास खोडेवाड, 'महाराष्ट्रतील आदिवासी समाज जीवन',विद्या बुक्स पब्लिशर्स, औरंगाबाद, प्र.सं. सन 2018 ई. पृ.91

5. मा.रा. लामखडे, आदिवासी ठाकर आणि त्यांची लोकगीते' पद्मगंधा प्रकाशन, पुणे, प्र.सं. सन 2003 ई. पृ.25

******

अन्य विमर्श

उपयोगकर्ताओं को सूचना सेवाएँ प्रदान करने में विशष्टि कृषि पुस्तकालय की प्रभावशीलता का विश्लेषणात्मक अध्ययन

-राम प्रसाद कुर्रे,
शोधार्थी
ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग,
मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर , छत्तीसगढ

-डॉ.कल्पना चंद्राकार,
शोध निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष,
ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग, मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर , छत्तीसगढ,

सारांश

यह शोध–पत्र इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय पुस्तकालय, रायपुर, छत्तीसगढ़ द्वारा प्रदान की गई सेवाओं पर किए गए अध्ययन का परिणाम है। यह कार्य पुस्तकालय की सेवाओं और संकायों द्वारा उन सेवाओं के उपयोग पर केंद्रित है और आईजीकेवी के छात्र संग्रह और सेवाओं की उपलब्धता और उपयोग के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है, कि पुस्तकालय में पुस्तकों, पत्रिकाओं (राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों) का एक समृद्ध संग्रह है। सी डी रोम में सीएबीआई, एग्रीकोला, एजीआरआईएस जैसे डेटाबेस, विज्ञान प्रत्यक्ष जैसे विभिन्न डेटाबेस तक पहुंच, कृषि में ई–संसाधनों के लिए कंसोरटियम (सीईआरए) डॉक्टरेट थीसिस रिपोजिटरी कृषिप्रभा। पुस्तकालय में प्रकाशनों का एक अलग विभाग है जो डिजिटलीकरण की परियोजनाएं चलाता है, कृषि से संबंधित कई साहित्य प्रकाशित करता है । यह पुस्तकालय सोल एवं लीबसीस जैसे सॉफ्टवेयर का उपयोग करके पूरी तरह से स्वचालित है तथा अपने उपयोगकर्ताओं को संतुष्ट करने में और ऊंचाइयों को प्राप्त करने की इसकी उच्च दृष्टि है।

मुख्य सांकेतिक कुंजी शब्दः सूचना सेवा, कृषि सूचना सेवा, सूचना स्रोत आधारित सेवाएँ, पुस्तकालय सेवा

परिचय

पंडित जवाहर लाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय, जबलपुर, मध्यप्रदे''ा से अलग होकर इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ़ की स्थापना राज्य की अधिनियम के अंतर्गत 20 जनवरी 1987 को अस्तित्व में आया। इस वि''वविद्यालय का नामकरण तत्कालिन प्रधानमंत्री स्व. श्रीमति इंदिरा गांधी के नाम पर किया गया। जिसका मुख्य उद्दे''य कृषि एवं संबंधित विज्ञानों के क्षेत्र में शिक्षा की व्यवस्था करना और शोध कार्यो में वि''ोष तौर पर कृषि तथा संबंधित विज्ञानों में विकास करना है, इस हेतु निरन्तर कार्यक्रमों तथा सूचना और तकनीक के स्थानान्तरण कार्य के द्व ारा ऐसे उद्दे''यों की पूर्ति करना जिनका लक्ष्य ग्रामीण व्यक्तियों के सामाजिक एवं आर्थिक स्तर को सुधारना है।

छत्तीसगढ़ राज्य के निर्माण के प''चात् पुष्प के उत्पादन के विकास पर अधिक ध्यान दिया जा रहा है और ऐसी उपज ली जा रही जो क्षेत्र के तापमान और वातावरण के अनुरुप उपजायी जा सके।

नेहरू पुस्तकालय, इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय का केंद्रीय पुस्तकालय है। इसे भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद द्वारा मध्य भारत के क्षेत्रीय पुस्तकालय के रूप में मान्यता दी गई है। इसका उद्दे''य विश्वविद्यालय के संकायों और छात्रों की सूचना आवश्यकताओं को पूरा करना है, साथ ही विश्वविद्यालय के संबद्ध संस्थानों की जरूरतों को पूरा करना है। जिन संस्थानों को नेहरू पुस्तकालय द्वारा सेवा प्रदान करने की आवश्यकता है, उनका उल्लेख नीचे किया गया है–

एस.ए.कॉलेज ऑफ डेयरी टेक्नोलॉजी, रायपुर

कृषि अभियांत्रिकी संकाय, रायपुर

पशुपालन महाविद्यालय, अंजोरा, दुर्ग

टीसीबी कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चर ऑफ रिसर्च स्टेशन, बिलासपुर

एसजी कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चर ऑफ रिसर्च स्टेशन, जगदलपुर

आरएमडी कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चर, अंबिकापुर

एसके कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चर ऑफ रिसर्च स्टेशन, कबीरधाम

कॉलेज ऑफ फेशरीज, कबीरधाम

बीआरएसएम कॉलेज ऑफ एग्रीकल्चर इंजीनियरिंग एंड टेक्नोलॉजी, मुंगेली, बिलासपुर

उद्यानिकी महाविद्यालय, राजनांदगांव

डाटा विश्लेषण

प्रस्तुत शोध–पत्र में इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़) के केंद्रीय पुस्तकालय के उपयोगकर्ताओं में से विद्यार्थी तथा शिक्षकों से प्रश्नावली के माध्यम से प्राथमिक आंकड़े एकत्रित किये गये हैं। केंद्रीय पुस्तकालय के उपयोगकर्ताओं को कुल 120 प्रश्नावली वितरित की गई जिसमें से विद्यार्थीयों से 76 प्रश्नावली प्राप्त हुई तथा शिक्षकों से 08 प्रश्नावली प्राप्त हुई। इस प्रकार इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़) में निदर्शन के आधार पर कुल 120 प्रश्नावली वितरित की गई थी, जिसमें से 84 प्रश्नावली, 70 प्रतिशत प्राप्त हुई, प्राप्त प्रश्नावली से प्राथमिक आंकड़ों का एकत्रितकरण, संग्रहण, व्यवस्थापन एवं विश्लेषण उपयुक्त सांख्यिकीय विधि तथा तालिका द्वारा किया गया है।

श्रेणी :– पुस्तकालय में वितरित किये गये प्रश्नावली में से प्राप्त प्रश्नावली के आधार पर सर्वेक्षण में भाग लेने वाले विद्यार्थी तथा शिक्षकों की श्रेणी को तालिका क्रमांक 1 में देखा जा सकता है–

तालिका क्रमांक 1: सर्वेक्षण में भाग लेने वाले

सरल क्रम. इंक	श्रेणियाँ		योग	प्रतिशत	योग	प्रतिशत
1	विद्यार्थी	स्नातक	62	73.8	76	90.47
		स्नातकोत्तर	8	9.52		
		अनुसंधान विद्वान	6	7.14		
2	शिक्षक	व्याख्याता	3	3.57	8	9.52
		प्राध्यापक	2	2.38		
		वरिष्ठ प्राध्यापक	3	3.57		
योग			**84**	**100**	**84**	**100**

उपरोक्त सांख्यिकीय तालिका क्रमांक 1 के अनुसार, सर्वेक्षण में भाग लेने वाले विद्यार्थीयों कुल संख्या 76 (90,47 प्रतिशत) है, और शिक्षकों की कुल संख्या 8 (9.52 प्रतिशत) है।

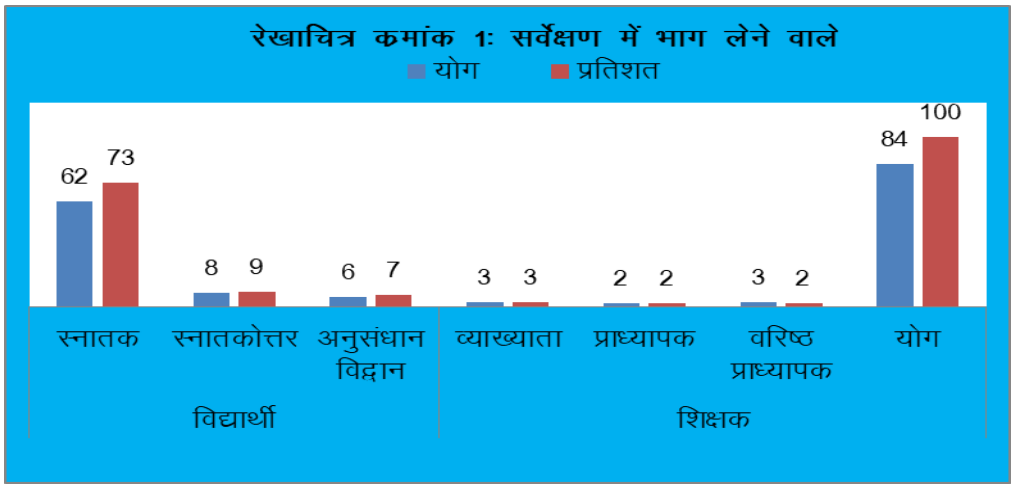

सूचना सेवाओं का उपयोग:–पुस्तकालय में वितरित किये गये प्रश्नावली में से प्राप्त प्रश्नावली के आधार पर उपयोगकर्ताओं द्वारा उपयोग की जाने वाली विभिन्न सूचना सेवाओं को तालिका कमांक 2 में देखा जा सकता है–

तालिका कमांक 2: पुस्तकालय सूचना सेवाएँ

सरल कम.	सूचना सेवाएँ	विद्यार्थी		शिक्षक		योग	प्रतिशत
		उपयोगकर्ता	प्रतिशत	उपयोगकर्ता	प्रतिशत		
1	संदर्भ सेवा	16	9.69	6	11.53	22	10.28
2	दस्तावेजीकरण सेवा	12	7.40	4	7.69	16	7.47
3	ग्रंथ सूची सेवा	20	12.34	8	15.38	28	13.08
4	अनुक्रमणिका सेवा	4	2.46	5	9.61	9	4.20
5	सारकरण सेवा	3	8.85	5	9.61	8	3.73
6	इंटर लाइब्रेरी लोन सेवा	25	15.43	4	7.69	29	13.55
7	अनुवाद सेवा	3	1.85	1	1.92	3	1.40
8	फोटोकॉपी सेवा	39	24.07	6	11.53	45	21.02
9	वर्तमान जागरूकता सेवा	2	1.23	1	1.92	3	1.40
10	समाचार पत्र कतरन सेवा	13	8.02	2	3.84	15	7.00
11	रेफरल सेवा	4	2.46	1	1.92	5	2.33
12	कृषि विस्तार सेवा	15	9.25	6	11.53	21	9.81
13	माइक्रोफिल्म सेवा	2	1.23	0	0.00	2	0.93
14	सूचना सेवा का चयनात्मक प्रसार	4	2.46	2	3.84	6	2.80
15	अन्य	0	0.00	1	1.92	1	0.46
योग		**162**	**100**	**52**	**100**	**214**	**100**

उपरोक्त सांख्यिकीय तालिका क्रमांक 2 के अनुसार, उपयोगकर्ताओं के द्वारा फोटोकॉपी सेवा पुस्तकालय में सबसे अधिक उपयोग की जाने वाली सेवा है, अर्थात, 39 (24.07 प्रतिशत), और माइक्रोफिल्म सेवा छात्रों के बीच सबसे कम उपयोग की जाने वाली सेवा है। सबसे कम उपयोग के पीछे का कारण इस सेवा के बारे में उपयोगकर्ताओं के बीच जागरूकता की कमी है। संकाय ग्रंथसूची सेवा का सबसे अधिक उपयोग करते हैं और अनुवाद सेवा और रेफरल सेवा का सबसे कम उपयोग करते हैं।

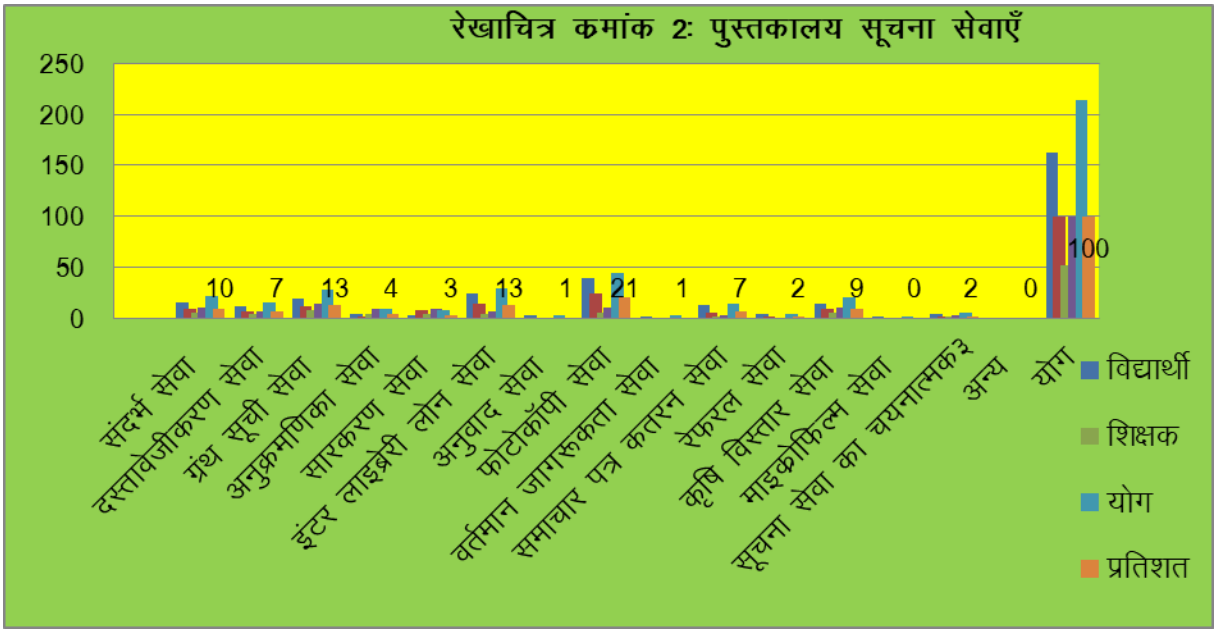

पुस्तकालय सूचना सेवा से उद्देश्य :– पुस्तकालय में वितरित किये गये प्रश्नावली में से प्राप्त प्रश्नावली के आधार पर विद्यार्थी तथा शिक्षकों के पुस्तकालय सूचना सेवा को तालिका क्रमांक 3 में देखा जा सकता है :–

तालिका क्रमांक 3: पुस्तकालय सूचना सेवा से उद्देश्य

सरल क्रम.ांक	उद्देश्य	विद्यार्थी		शिक्षक		योग	प्रतिशत
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत		
1	परीक्षा में सफलता	24	17.91	1	5.26	25	16.33
2	व्यक्तित्व में विकास	45	33.58	8	42.10	53	34.64
3	ज्ञान का विस्तार	63	47.01	8	42.10	71	46.40
4	अन्य	2	1.49	2	10.52	4	2.61
योग		**134**	**100**	**19**	**100**	**153**	**100**

उपरोक्त प्रस्तुत सांख्यिकीय तालिका क्रमांक 3 के अनुसार, पुस्तकालय सूचना सेवा में विद्यार्थी का सबसे अधिक उद्दे''य ज्ञान का विस्तार 63 (47.01 प्रति''ात) है तथा सबसे कम अन्य 02 (1.49 प्रति''ात) उद्दे''य है शिक्षक का अधिक उद्दे''य व्यक्तित्व का विकास, ज्ञान का विस्तार 04 (42.10 प्रति''ात) है। तथा सबसे कम उद्दे''य परीक्षा में

सफलता 01 (5.26 प्रतिशत) है।

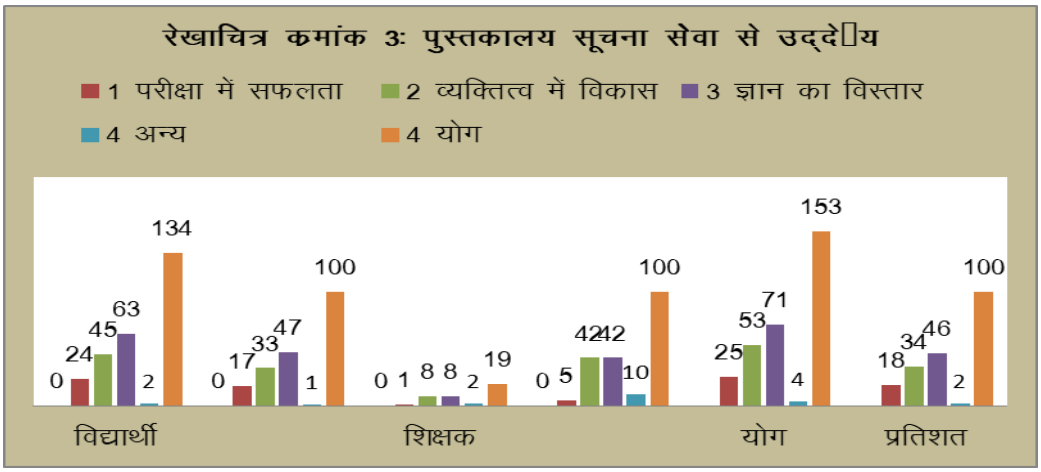

सूचना सेवा से संतुश्ट :– पुस्तकालय में वितरित किये गये प्रश्नावली में से प्राप्त प्रश्नावली के आधार पर विद्यार्थी तथा शिक्षकों के सूचना सेवा से संतुष्टि को तालिका कमांक 4 में देखा जा सकता है :–

तालिका कमांक 4: सूचना सेवा से संतुष्ट

सरल कमांक	संतुष्ट	विद्यार्थी		शिक्षक		योग	प्रतिशात
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत		
1	हां	46	69.69	8	100	54	72.97
2	नहीं	20	30.30	0	0	20	27.02
योग		**66**	**100**	**8**	**100**	**74**	**100**

उपरोक्त प्रस्तुत सांख्यिकीय तालिका कमांक 4 के अनुसार, सूचना सेवा से कुल संतुष्ट 74 विद्यार्थी समुह में योग 66 है जिसमें अधिक हां 46 (69.69 प्रतिशत) है तथा कम नहीं 20 (30.30 प्रतिशत) है शिक्षक समुह में कुल योग 08 है जिसमें अधिक हां 08 (100 प्रति''ात) है तथा नहीं 00 (00 प्रतिशत) है।

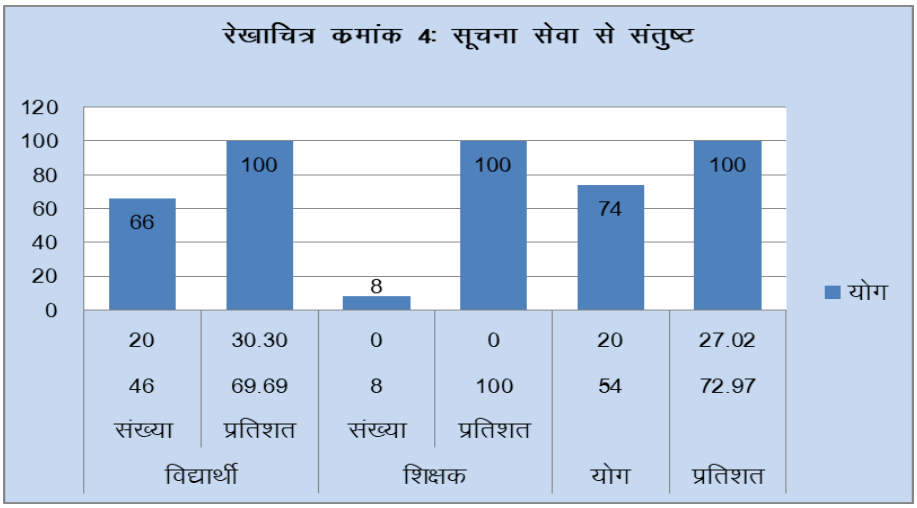

सूचना सेवा की आशा/अपेक्षा :– पुस्तकालय में वितरित किये गये प्रश्नावली में से प्राप्त प्रश्नावली के आधार पर विद्यार्थी तथा शिक्षकों के सूचना सेवा की कुल आशा/अपेक्षा को तालिका कमांक 5 में देखा जा सकता है :–

तालिका कमांक 5: सूचना सेवा की आशा/अपेक्षा

सरल कमांक	आशा/अपेक्षा	विद्यार्थी		शिक्षक		योग	प्रतिशत
		संख्या	प्रतिशत	संख्या	प्रतिशत		
1	ई–संसाधन	36	36	5	33.33	41	35.65
2	श्रव्य दृश्य सामग्री (सी डी/डी वी डी)	32	32	3	20	35	30.43
3	विडियो कॉन्फ्रेंसिंग	31	31	6	4	37	32.17
4	अन्य	1	1	1	6.66	2	1.73
योग		**100**	**100**	**15**	**100**	**115**	**100**

उपरोक्त प्रस्तुत सांख्यिकीय तालिका कमांक 5 के अनुसार, सूचना सेवा से आशा/अपेक्षा विद्यार्थी में सबसे अधिक ई–संसाधन 36 (36 प्रतिशत) है तथा सबसे कम अन्य 01 (01 प्रति"ात) है, शिक्षक में सबसे अधिक विडियो कॉन्फ्रेंसिंग 0.6 (40 प्रतिशत) है तथा सबसे कम अन्य 01 (6.66 प्रति"ात) है।

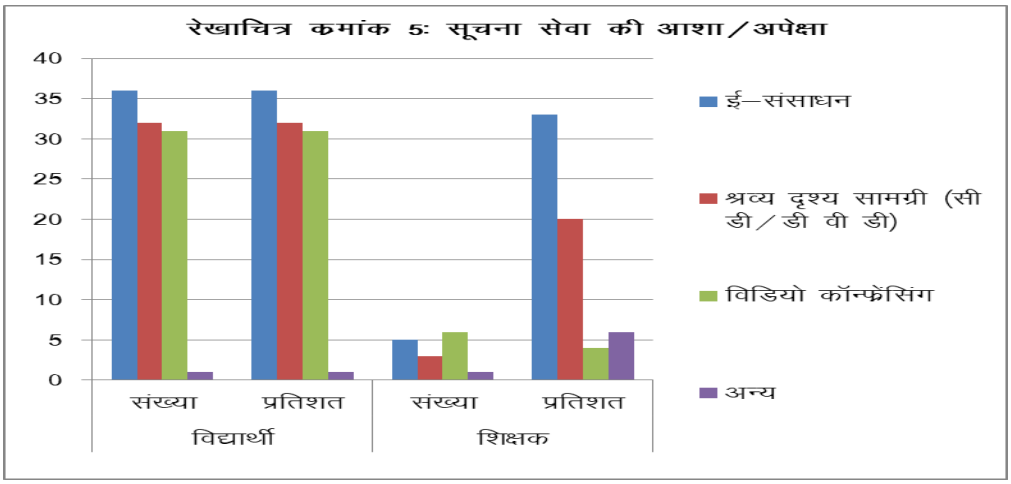

निष्कर्ष :–

अपने इस सर्वेक्षण में इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय रायपुर (छत्तीसगढ़) के केंद्रीय पुस्तकालय में वितरित किये गये प्रश्नावली में से प्राप्त प्रश्नावली के माध्यम से डाटा एकत्रित किया गया है। जिससे नेहरू, पुस्तकालय की व्यवस्था समस्या तथा आव''यकताओं को बारीकी से समझा है व निष्कर्ष निकाला है।

छत्तीसगढ़ राज्य के कृषि विकास में इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर के नेहरू पुस्तकालय का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यहां न केवल कृषि से संबंधित विभिन्न पाठ्यक्रमों के विद्यार्थियों, प्राध्यापकों, शोध वैज्ञा. निकों एवं कृषक समाज से जुड़े संबंधित व्यक्तियों की आव''यकतानुसार उन्हें कृषि साहित्य एवं सूचनाओं को उपलब्ध कराया जा रहा है, बल्कि विश्व स्तर के कृषि साहित्य को संरक्षित एवं व्यवस्थित कर नवीनतम् सूचना प्रौद्योगिकी के माध्यम से उपयोगकर्ताओं को उपलब्ध किया जा रहा है, जिसका ना केवल छत्तीसगढ़ में ही नहीं, अपितु समस्त मध्य भारत के छात्र–छात्राओं, शोधार्थियों, प्राध्यापकों, कृषि वैज्ञानिकों एवं कृषि विस्तार कार्यकर्ताओं द्वारा उपयोग किया जा रहा है। यहां उपलब्ध आलेखों, पाठ्य–सामग्री, इलेक्ट्रानिक स्वरूप में करने एवं डाटा एन्ट्री कर आव''यक हार्डवेयर एवं साफ्टवेयर के माध्यम से, कम से कम समय में अधिक से अधिक सूचना को शीघ्रतापूर्वक उपयोगकर्ताओं को प्रदान किया जा रहा है।

अंचल के कृषि उपयोगकर्ताओं के विचारों के माध्यम से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यदि आव''यकताओं को ध्यान में रखकर पुस्तकालय एवं सूचना सेवाएं प्रदान की जाये तो न केवल पुस्तकालय का सूचना तंत्र और अधिक विकसित होगा वरन् कृषि, अनुसंधान एवं प्रसार में लगे प्राध्यापक, वैज्ञानिक एवं अन्य संबंधित व्यक्तियों के समय तथा ऊर्जा का श्रेष्ठ उपयोग के साथ–साथ यहां उपयोगकर्ताओं को उनके विषय से संबंधित नवीनतम् जानकारी मिलने का भी सुअवसर प्राप्त होगा। जिससे कृषि विकास के सतत् अनुसंधान में लगे वैज्ञानिकों, प्रसारकों एवं उपयोगकर्ताओं के समय एवं ऊर्जा का श्रेष्ठ उपयोग होगा जिससे कृषि में नित्य नये शोध परिणामों के माध्यम से मात्र इसी का नहीं अपितु विश्व कृषि परिदृश्य में सकारात्मक परिवर्तन संभव होगा।

भारत एक कृषि प्रधान देश है जहां आज भी ग्रामीण अंचल में आजीविका का मुख्य आधार कृषि है इस जीवनोपयोगी व्यवसाय के लिए आव''यक है कि कृषि आधारित नवीनत्म तकनीकी ज्ञान जो कि संभव है कृषि ज्ञान के सागर नेहरू पुस्तकालय से जहां पर कृषि से संबंधित ज्ञान को संग्रहित, संरक्षित कर उनका उपयोग अध्ययन एवं

प्रसार– प्रचार में किया जा रहा है।

देश में इंदिरा गांधी कृषि विश्विद्यालय रायपुर के नेहरू पुस्तकालय को एक विशिष्ट स्थान प्राप्त है, जो न केवल छत्तीसगढ़ वर्न सम्पूर्ण मध्य भारत के उपयोगकर्ताओं को कृषि ज्ञान का पोषण करता है, जहां न केवल कृषि साहित्य भौतिक स्वरूप में उपलब्ध है वर्न सम्पूर्ण विश्व की कृषि आधारित जानकारी इलेक्ट्रानिक स्वरूप में भी उपलब्ध है तथा नवीनत्म तकनीकी इंफारमेशन लैन, सी. डी. रोम डाटाबेस एवं आनलाईन पब्लिक एक्सेस केटलॉग आदि के माध्यम से उपलब्ध कराई जा रही है।

यहां प्रमुख सेवाओं में सूचना एवं प्रलेखन सेवा, कम्प्यूटर सार सेवा, सूचना पुनः प्राप्ति सेवा, प्रशिक्षण सेवा, स्नातकोत्तर स्तरीय पाठ्यक्रय–जैविक साहित्य एवं ग्रंथ सूची सेवा, नवागन्तुक प्रदर्शन सेवा और पुस्तक आदान–प्रदान सेवा प्रमुख है।

नेहरू पुस्तकालय के प्रलेखन केन्द्र में 1992 से सम्पूर्ण विश्व के एग्रीकल्चरल डाटाबेस का संग्रह है जिसमें कैब, एग्रीस, एग्रीकोला प्रमुख है जहां से लाखों की संख्या में सन्दर्भ सार सहित उपयोग किये जा सकते हैं। जो कि विश्वविद्यालय परिसर के एरिया नेटवर्क पर भी उपलब्ध है। पत्र पत्रिका विभाग में 200 से अधिक देशी, विदेशी पत्र पत्रिकाओं को भी नियमित रूप से भौतिक एवं ऑनलाइन दोनों स्वरूप में मंगाया जा रहा है इसके बैक वाल्यूम भी उपलब्ध है यहां पर कृषि विश्वविद्यालय के प्रकाशन, वार्षिक प्रतिवेदन भी उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त यहां पर पाठ्य पुस्तक विभाग में लगभग 40 हजार पाठ्य सामग्री का संग्रह है जो के अत्यधिक उपयोगी है।

प्रदेश के इस महत्वपूर्ण पुस्तकालय एवं सूचना केन्द्र नेहरू पुस्तकालय के निरन्तर विकास और दोहन करने की आव''यकता है जिसका समुचित उपयोग कर कृषि शिक्षा एवं शोध परिणामों के माध्यम से प्राप्त नव. ीनतम् तकनीकी ज्ञान का संचार कृषकों एवं कृषि से सम्बंधित व्यक्तियों में एक नई क्रांति का सूत्रपात किया जा सकता है जिसमें न केवल छत्तीसगढ़ के कृषकों के जीवन स्तर को उन्नत किया जा सकता है, अपितु कृषि आधारित रोजगार में वृद्धि भी की जा सकती है, जिससे यहां के कृषकों के समक्ष उत्पन्न होने वाली पलायन की समस्या का समाधान भी किया जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर (छत्तीसगढ़) के नेहरू पुस्तकालय के उचित विकास के लिए कृषि सूचना सेवा में आव''यकतानुसार सूचना सेवा में विशिष्ट आधुनिकीकृत सेवा में आवश्यक परिवर्तन करना विचारणीय है, जिससे उपयोगकर्ताओं की आवश्यकतानुसार कृषि शिक्षा एवं अनुसंधान उपलब्ध हो सके तथा देश की प्रगति के लिए कृषि शिक्षा का विस्तार करना आवश्यक है ।

अतः वित्तीय एवं मानवीय संसाधन के विकास के लिए तकनीकी सूचना का विकास करना आवश्यक है।

सुझाव :–

प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति करना चाहिए।

पाठ्य सामग्री अद्यतन उपलब्ध किया जाना चाहिए।

पुस्तकालय समय सीमा में वृद्धि किया जाना चाहिए।

कम्प्यूटर एवं इंटरनेट तथा वाईफाई की सुविधा में वृद्धि करनी चाहिए।

सर्कुलेशन काउंटर का विस्तार करना चाहिए।

फोटोकापी सेवा का विस्तार किया जाना चाहिए।

पुस्तकालय संग्रहण में वृद्धि की किया जाना चाहिए।

पुस्तकालय संग्रह उच्च गुणवत्ता युक्त एवं पाठ्यक्रम पर आधारित होनी चाहिए।

उपयोगकर्ताओं को समय पर प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए।

अध्ययन कक्ष का विस्तार किया जाना चाहिए।

पुस्तक सर्कुलेशन की संख्या में वृद्धि करनी चाहिए।

उपरोक्त अध्ययन से पता चलता है कि इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय का पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं की सूचना आवश्यकताओं को पूरा करने में काफी हद तक सफल है। पुस्तकालय में इलेक्ट्रॉनिक संदर्भ स्रोतों का बहुत अच्छा संग्रह है, जिसका अर्थ है कि यह अपने उपयोगकर्ताओं को सबसे अद्यतन जानकारी प्रदान करने में सक्षम है। यद्यपि यह पाया गया है कि पुस्तकालय कंप्यूटर–आधारित और इंटरनेट–आधारित इलेक्ट्रॉनिक संसाधनों से अच्छी तरह सुसज्जित है।

एक अच्छी तरह से संरचित उपयोगकर्ता जागरूकता कार्यक्रम आयोजित किया जाना चाहिए, और प्रत्येक नए उपयोगकर्ता को पुस्तकालय का अवलोकन दिया जाना चाहिए ताकि पुस्तकालय के संसाधन का उचित उपयोग हो सके, जिससे पुस्तकालय के उद्देश्यों की पूर्ति हो सके।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1.हसन एन. (2012)। राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान प्रणाली के अंतर्गत वेब आधारित कृषि सूचना प्रणाली एवं सेवा. डेसीडॉक जर्नल ऑफ लाइब्रेरी एंड इंफॉर्मेशन टेक्नोलॉजी, 32(1), 24–30.

2.कपिल,एच.के. (2010)। अनुसंधान विधियां. आगरा : एच.पी. भार्गव बुब हाऊस. पृ.सं.147–149,160,218, 282–283.

3.पटेल, ओम प्रकाश एवं सेनगुप्ता, सूपर्ण. (2010)। सम्पूर्ण. छत्तीसगढ़ में पुस्तकालय नेटवर्कों द्वारा सूचना संसाधनों की साझेदारी, ग्रंथालय विज्ञान पत्रिका, खण्ड 41. पृ. सं. 88–95.

4.नेहरू पुस्कालय, इंदिरा गांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुरः युगबोध डिजिटल प्रिन्टस, 2007.

5.सूद, सिंह, दिनेश. (2002)। ग्रंथालय विज्ञान की रूपरेखा. पटनाः नोवेल्टी एण्ड कम्पनी. पृ.सं. 262–265.

6.पवन, उषा एवं गुप्ता, पी.के. (1994)। सुचना तकनीकें एवं ग्रंथालयः ग्रंथालय विज्ञान पत्रिका, भाग 25, अंक 1,2 जनवरी–जून. पृ. सं. 110–111.

7.त्रिपाठी, एस.एम. (1993)। संदर्भ एवं सूचना सेवा के नवीन आयाम, आगरा : वाई. के. पब्लि''ार्स. पृ. सं. 6–6, 77–78, 106–125.

8.पाण्डे, माधव एवं सेंगर, आर.बी.एस. छत्तीसगढ़ के कृषि विकास में महिला सशक्तिकरण. नेहरू पुस्तकालय, इंदिरागांधी कृषि विश्वविद्यालय, रायपुर छ.ग.

9ण्पुस्तकालय सेवा, नेहरू पुस्तकालय, इंदिरा गांधी कृषि वि''वविद्यालय, रायपुर.

10.www.igau.edu.in

****

कोविड-19 लॉकडाउन के दौरान कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय में पुस्तकालय सूचना संसाधनों और सेवाओं के साथ उपयोगकर्ता संतुष्टि की खोज : एक व्यावसायिक परीक्षा

-हर्षा एम. पाटील
शोधार्थी
ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग,
मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ

-डॉ. कल्पना चंद्राकार
शोध निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष,
ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग,
मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ,

सारांश

विश्वविद्यालय में पुस्तकालय सूचना संसाधनों एवं सेवाएं प्रदान करने में ज्ञान संसाधन केंद्र अर्थात पुस्तकालय के रूप में प्रमुख भूमिका होती है, पुस्तकालय द्वारा छात्रों के साथ प्रयोक्ता वर्ग के प्रति आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने संसाधनों और सेवाओं को विश्वविद्यालय पुस्तकालय शिक्षा की निरंतरता सुनिश्चित करने में सक्षम होना आवश्यक है। ऑनलाइन डेटाबेस और संग्रह का विस्तार से छात्रों के लिए इंटरनेट कनेक्शन के साथ कहीं से भी विशेषज्ञों के लेख, ई–पुस्तकें और अन्य शैक्षणिक सामग्री तक पहुँचना आसान हो गया। प्रस्तुत शोध पत्र कोविड–19 लॉकडाउन के दौरान नागपुर जिले के कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय रामटेक में पुस्तकालय सूचना संसाधनों और सेवाओं के साथ प्रयोक्ता की संतुष्टि पर केंद्रित है जिसमें प्रयोक्ता वर्ग को प्रदान करने की जाने वाली सूचना संसाधनों और सेवाओं के माध्यम से उनकी सूचना आव''यकता को संतुष्ट करने का सफल प्रयास रहा है।

कुंजी शब्द– कोविड–19, प्रयोक्ता संतुष्टि, सूचना सेवाएं, पुस्तकालय संसाधन।

परिचय

उच्च शैक्षणिक संस्थानों में छात्रों की अध्ययन आवश्यकताओं को पूरा करने में वि''वविद्यालय शिक्षा प्रणाली का महत्वपूर्ण योगदान होता है। उच्च शैक्षणिक संस्थानों में छात्रों के बहुमुखी विकास के लिए समर्पित एवं राष्ट्र के लिए स क्षम नागरिक तैयार करने की जिम्मेदारी के साथ इसे पूरा किया जाता है। विश्वविद्यालय में पुस्तकालय सूचना संसाध ान एवं सेवाएं प्रदान करना ज्ञान संसाधन केंद्र अर्थात पुस्तकालय पर निहित होता है।

कोविड–19 महामारी ने वैश्विक शिक्षा के परिदृश्य को अधिक प्रभावित किया है, जिसके कारण दूरस्थ शिक्षा को व्यापक रूप से अपनाना और पारंपरिक शैक्षणिक परंपरा की पुनर्कल्पना करना आवश्यक हो गया है। इस परिवर्तनकारी दौरान में, पुस्तकालय छात्रों और शिक्षकों की उभरती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपने संसाधनों और सेवाओं को प्रयोक्ताओं तक विश्वविद्यालय शिक्षा की निरंतरता सुनिश्चित करने में आवश्यक भागीदार के रूप में उभरे हैं।

कोविड–19 महामारी के दौरान, पुस्तकालयों ने सूचना संसाधनों तक दूरस्थ पाठक एवं प्रयोक्ताओं तक पहुँच प्रदान करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। कई पुस्तकालयों ने अपने ऑनलाइन डेटाबेस और संग्रह का विस्तार किया है, जिससे छात्रों के लिए इंटरनेट कनेक्शन के साथ कहीं से भी विशेषज्ञों के लेख, ई–पुस्तकें और अन्य शैक्षणिक सामग्री तक पहुँचना संभव हो गया है। इसके अतिरिक्त, पुस्तकालयों ने आभासी संदर्भ सेवाएँ लागू की हैं, जिससे छात्र और संकाय शोध सहायता और मार्गदर्शन के लिए पुस्तकालयाध्यक्ष से जुड़े हैं।

सूचना संसाधनों की उपलब्धता के अतिरिक्त, पुस्तकालय आभासी जुड़ाव और सहयोग के लिए भी केंद्र बन गए हैं। ऑनलाइन प्लेटफॉर्म और वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग तकनीकों ने आभासी अध्ययन स्थान, वार्ता मंच और कार्यशालाओं के निर्माण की सुविधा प्रदान की है। इन सेवाओं ने छात्रों और शिक्षकों के बीच समुदाय आधारित भावना को बढ़ावा दिया है, जिससे महामारी द्वारा लगाई गई शारीरिक दूरी कम हुई है। पुस्तकालयों ने महामारी के दौरान छात्रों के सामने आने वाली मानसिक स्वास्थ्य चुनौतियों में अधिकता को भी पहचाना है। उन्होंने अपने मानसिक स्वास्थ्य संसाधनों का विस्तार किया है, ऑनलाइन परामर्श सेवाओं, तनाव प्रबंधन पर वेबिनार आयोजन किये गये है। पुस्तकालयों ने महामारी के समय में भावना. त्मक बोझ से जूझ रहे छात्रों के लिए एक सहायक वातावरण बनाने के लिए वर्चुअल वर्कशॉप और सहायता समूहों की शुरूआत करने के लिए कैंपस मानसिक स्वास्थ्य पेशेवरों के साथ भागीदारी की है। इसके अलावा, पुस्तकालयों ने दूरस्थ शि क्षा की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए अपनी सेवाओं को तैयार किया है। उन्होंने प्रभावी ऑनलाइन शोध और डिजिटल साक्षरता पर नये उपाय विकसित किए हैं, जिससे छात्रों को आभासी रूप से सीखने के परिदृश्य को पहचान करने में मदद मिली है। पुस्तकालयों ने ऑनलाइन रीडिंग और इंटरैक्टिव लर्निंग मॉड्यूल जैसे अनुकूलित पाठ्यक्रम सामग्री बनाने एवं उपलब्ध कराने के लिए संकाय के साथ भागीदारी की है। महामारी का सामना करते हुए, पुस्तकालयों ने अपनी लचीलापन और अनुकूलता का प्रदर्शन किया है, खुद को विश्वविद्यालय शिक्षा की निरंतरता में अपरिहार्य भागीदारों में बदल दिया है। उनके विस्तारित ऑनलाइन संसाधन, आभासी सेवाएँ, और मानसिक स्वास्थ्य और दूरस्थ शिक्षा के लिए समर्थन ने यह सुनिश्चित किया है कि छात्रों और शिक्षकों के पास इस चुनौतीपूर्ण माहौल में सफल होने के लिए आवश्यक उपकरण और संसाधन हैं।

जैसे–जैसे कोविड–19 महामारी का संक्रमण होता रहेगा, पुस्तकालय विश्वविद्यालय शिक्षा के भविष्य को आकार देने में महत्वपूर्ण अपनी भूमिका से पीछे नहीं रहेंगे। सहयोग और नवाचार अपनाकर, पुस्तकालय छात्रों और शिक्षकों के लिए समर्थन का आधार प्रदान करना जारी रखेंगे, जिससे उन्हें विपद स्थिति के बाद की दुनिया में सफल होने के लिए सक्षम बनाया जा सके।

साहित्यिक समीक्षा

सिंह, बीपी (2023) "Library Services and Preventive Measures in University Libraries during the COVID-19 Pandemic 2021" कोविड–19 महामारी के दौरान और उसके बाद भारत के सभी राज्य और प्रमुख शहरों में लॉकडाउन की स्थिति में थे। भारतीय विश्वविद्यालयों, कॉलेजों और स्कूलों को बंद रखा गया था। अधिकांश छात्र शारीरिक रूप से अपने घरों में बंद थे। इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य इस महामारी के दौरान पुस्तकालय सेवाओं के सर्वोत्तम अभ्यास को विश्वविद्यालय पुस्तकालय के व्यक्तिगत अनुभव के साथ साझा करना है। इस महामारी संकट के दौरान विश्वविद्यालय के पुस्तकालय की स्थिति को प्रस्तुत करता है और घर से कार्य मॉडल के तहत वर्चुअल लाइब्रेरी सेवाओं को वितरित करने के लिए चुनौतियों का वर्णन करता है।

जरीफ, एम और अहमद, पी(2021) "The impact of COVID-19 on university library services: A systematic literature review" में शैक्षणिक पुस्तकालयाध्यक्षों ने कोविड–19 की महामारी की स्थिति के दौरान अपने इलेक्ट्रॉनिक संसाध ानों में सुधार करके अपने संरक्षकों को सुविधा प्रदान कर सकें। यह अध्ययन विश्वविद्यालय पुस्तकालय सेवाओं पर महामारी की स्थिति के प्रभाव के मूल्यांकन के लिए दिशानिर्देश और व्यवस्थित कदम प्रदान करता है। यह पत्र छात्रों के ई–लर्निंग

कार्यक्रमों का समर्थन करने के लिए डिजिटल और इलेक्ट्रॉनिक सेवाओं को अपनाने पर निर्णय लेने में विश्वविद्यालय पुस्तकालयों की भी सहायता करती है। अन्वेषण और चिंतन के माध्यम से यह कोरोनोवायरस के प्रकोप के दौरान विश्वविद्यालय पुस्तकालय सेवाओं पर ज्ञान के एक नए उभरते समूह में योगदान देती है। छात्रों के चले जाने के बाद से विश्वविद्यालय पुस्तकालयों ने अपने पारंपरिक तरीकों को त्याग दिया है और कोविड–19 महामारी के कारण विश्वविद्यालयों परिसर ने ऑनलाइन सेवाएं शुरू कर दी है।

दत्ता, अंकुरण (2020) "COVID-19 and innovation in medical library services: A scoping review of case studies" इस पत्र में कोविड–19 महामारी के कारण चिकित्सा पुस्तकालयों और सूचना केंद्रों की सेवाओं में परिवर्तन हुआ हैं। इस अध्ययन का उद्देश्य कोविड–19 महामारी के दौरान चिकित्सा पुस्तकालयों और सूचना केंद्रों की नवीन सेवाओं की पह. चान करना तथा इस केस स्टडीज और केस श्रृंखला की पहचान करने के लिए पबमेड, वेब ऑफ साइंस (डब्ल्यूओएस), स्कोपस, प्रोक्वेस्ट, लाइब्रेरी, सूचना विज्ञान और प्रौद्योगिकी सार (एलआईएसटीए) डेटाबेस की खोज की गई। परिणामों से पता चला कि कोविड–19 के दौरान चिकित्सा पुस्तकालयों और सूचना केंद्रों के मुख्य उपयोगकर्ता स्वास्थ्य देखभाल प्रदाता और प्राप्तकर्ता, शोधकर्ता, संगठनात्मक कर्मचारी और सामान्य पुस्तकालय उपयोगकर्ता थे। इन पुस्तकालयों में कोविड–19 के दौरान नवीन सेवाएं भी प्रदान की गईं, जिनमें दूरस्थ शिक्षा सेवाएं, आभासी सूचना सेवाएं, आभासी दिशानिर्देश, सूचना संसाधन प्रदान करना और उपचार टीमों को साक्ष्य–आधारित प्रतिक्रिया शामिल हैं। इन नई सेवाओं को प्रदान करने के लिए, चिकित्सा पुस्तकालयों ने पारंपरिक, अर्ध–पारंपरिक और आधुनिक सूचना और संचार प्रौद्योगिकियों जैसे टेलीफोन, ईमेल, ऑनलाइन लाइब्रेरी प्लेटफॉर्म, ई–लर्निंग और सोशल नेटवर्क का उपयोग किया। शोध में प्रस्तुत जानकारी का उपयोग भविष्य में, इसी तरह की गंभीर स्थितियों के दौरान पुस्तकालय सेवाओं को सूचित करने के लिए किया जा सकता हैं।

दत्ता, अकुंरण (2020) "Impact of Digital Social Media on Indian Higher Education: Alternative Approaches of Online Learni" में लेखक डॉक्टर अंकुरण दत्ता ने अपने अध्ययन में कोरोना वायरस कोविड–19 महामारी के कारण सभी उच्च शिक्षण संस्थान को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग ने अपनी सलाह के माध्यम से सभी संस्थानों के ऑनलाइन मोड में कक्षाएं जारी रखने एवं उपयोग के लिए उपलब्ध आईसीटी उपकरणों को शामिल करने का निर्देश दिया। कई संस्थान ज्ञान के प्रसार के लिए विभिन्न सोशल मीडिया प्लेटफॉर्म का उपयोग कर रहे हैं। वर्तमान संकट ने वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग आधारित ऑनलाइन शिक्षा के माध्यम से देश के संपूर्ण शिक्षा ढांचे में क्रांति ला दी है इस पत्र का उद्देश्य छात्रों को सीखने के संसाध ानों का प्रसार करने के लिए उपयोग किए जाने वाले सोशल मीडिया के प्रकार और उनके शैक्षिक नुकसान पर होने वाले प्रभाव का पता लगाना है यह ऑनलाइन कक्षाओं की प्रभावशीलता ई–लर्निंग अध्यापन और स्वरचित गुणात्मक विश्लेषण के माध्यम से इसके परिणाम को भी स्पष्ट करता है।

भैरू, प्रकाश (2020) "Lockdown period and information sources" इस पत्र में कोरोना कोविड–19 वायरस का लॉकडाउन अवधि और लॉकडाउन अवधि के दौरान विभिन्न विश्वविद्यालयों कॉलेजों और संस्थानों द्वारा प्रदान किए गए ऑनलाइन लाइव शैक्षणिक, शिक्षण कार्यक्रम गतिविधियों के संकलन के बारे में जानकारी दी गई है जो सूचना स्त्रोतों के रूप में कार्य करता है पुस्तकालय और सूचना विज्ञान ऑनलाइन घटनाओं पर अधिक जोर देने के साथ, छात्रों और शि क्षकों को उनके शिक्षण सीखने और विस्तार प्रक्रियाओं में सहायता की विभिन्न संस्थानों द्वारा वेबीनार की बढती मात्रा से

पता चलता है कि अन्य ऑनलाइन आयोजनों के मुकाबले वेबीनार कार्यक्रम सबसे लोकप्रिय है। लॉकडाउन के बाद की अवधि में पुस्तकालय की देखभाल के साथ–साथ शिक्षाविदों शोधकर्ताओं के लाभ के लिए दूरस्थ की सेवाएं प्रदान करने में विभिन्न संस्थानों, प्रकाशकों विक्रेताओं की भूमिका पर भी ध्यान केंद्रित करता है।

ढादे, पूजा पी (2020) "Library Services Provided During the COVID-19 Pandemic" प्रस्तुत लेख में भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थानों के पुस्तकालयों द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं के प्रकार की जांच करता है। कोविड–19 वायरस के अचानक और अप्रत्याशित प्रकोप ने पुस्तकालय के पेशेवरों को तेजी से समय सीमा में काम करने के तरीकों का पता लगाने के लिए मजबूर किया जैसे कि जहां भी संभव हो डिजिटल प्लेटफॉर्म पर स्थानांतरित करना और उपयोगकर्ता को पर्याप्त दूरस्थ सेवाएं प्रदान करना महामारी के दौरान सेवाएं प्रदान करने में बाहरी चुनौतियों को देखते हुए इस पेपर का उद्देश्य यह पता लगाना है, कि कैसे प्रौद्योगिकी कोविड–19 महामारी के दौरान भारत के प्रमुख तकनीकी संस्थानों के लिए एक उपयोगी साधन बन गयी एवं लॉकडाउन के बाद की जरूरतों को पूरा करने के लिए दूसरों द्वारा नियमों का पालन किया जाना।

व्यास, मेघना और त्रिवेदी, मयंक (2020) "Research Support Services of The Maharaja Sayajirao University Library During Covid-19: A Survey" अपने सर्वेक्षण अध्ययन में बडौदा के महाराजा सयाजीराव विश्वविद्यालय के विश्वविद्यालय पुस्तकालय द्वारा प्रदान किए गए विभिन्न शिक्षण स्त्रोतों और सेवाओं के लिए संकाय सदस्यों की संतुष्टि स्तर का पता लगाने वाले विभिन्न कारकों का वर्णन और चर्चा की गई है। सर्वेक्षण के परिणाम विश्वविद्यालय के समग्र शैक्षणिक और अनुसंधान विकास के लिए विश्वविद्यालय पुस्तकालय की भूमिका को समझने और पहचानने में सहायक होते हैं।

शोध के उद्देश्य

शोध समस्या कोविड–19 लॉकडाउन के दौरान नागपुर जिलें में स्थित कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय में पुस्तकालय सूचना संसाधनों और सेवाओं के साथ प्रयोक्ता की संतुष्टि पर केंद्रित है। इस लॉकडाउन की अवधि में पुस्तक. ालय प्रयोक्ताओं के अनुभवों की जाँच करके, इस अध्ययन का उद्देश्य प्रयोक्ता की संतुष्टि को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारकों की पहचान करना और सेवा की गुणवत्ता में सुधार के लिए प्रारूप प्रदान करना है।

इस अध्ययन को निर्देशित करने वाले निम्नलिखित शोध उद्देश्य शामिल हैं–

कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय में कोविड–19 के दौरान पुस्तकालय सूचना संसाधनों को जानना?

पुस्तकालय सेवाओं के साथ प्रयोक्ता संतुष्टि स्तर की पहचान करना?

कोविड–19 महामारी में पुस्तकालय सेवाओं को प्रभावित करने वाले कारकों को स्पष्ट करना?

लॉकडाउन के दौरान पुस्तकालय प्रयोक्ताओं को होनी वाली समस्या की पहचान करना?

इस अध्ययन का महत्व कोविड–19 लॉकडाउन के दौरान कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत विश्वविद्यालय में पुस्तकालय प्रयोक्ताओं के अनुभवों पर प्रकाश डालते हुए, इस शोध का उद्देश्य पुस्तकालय संसाधन एवं सेवाओं की प्रगति में योगदान देना और प्रभावी और प्रयोक्ता आधारित सूचना सेवाओं के आयोजन का समर्थन करना है।

शोध प्रविधि

किसी भी शोध अध्ययन के लिए क्षेत्र का निर्धारण होना अनिवार्य होता है इससे शोध परिणाम प्राप्त करने में आसानी होती

है अन्यथा शोध परिणाम में बिखराव उत्पन्न होने की संभावना बनी रहती है। प्रस्तुत शोध अध्ययन में नागपुर जिले के कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत वि"वविद्यालय पुस्तकालय को आंकड़े के लिए चयन किया गया है। पुस्तकालयों में कोविड–19 के दौरान पुस्तकालय सूचना संसाधन एवं सेवाओं पर प्रयोक्ताओं की सूचना आव"यकता को कैसे पूरा किया जा रहा है? इस हेतु उत्तरदाता के लिए संरचित प्र"नावली का निर्माण किया गया था। जिन्हें उत्तरदाता से प्राप्त कर उनका सारणीयन, एक्सेल शीट में आंकड़े का प्रबंधन कर उनका ग्राफिक चित्रण के माध्यम से प्रस्तुत कर प्राप्त परिणामों का वि"लेषण किया गया है।

आंकड़ों का प्रस्तुतीकरण एवं विश्लेशण

कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत वि"वविद्यालय पुस्तकालय से प्राप्त आंकड़ों का प्रस्तुतीकरण कर सारणीयन और विश्लेषण निम्नानुसार किया गया है–

पुस्तक संग्रह के आधार पर

क	संसाधनों के प्रकार	कुल संख्या
1	क्रय पुस्तकें	20546
2	दान स्वरूप पुस्तकें	19521
3	शोध एवं शोधप्रबंध	592
4	ऑडियो वीडियो व सीडी	271

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड

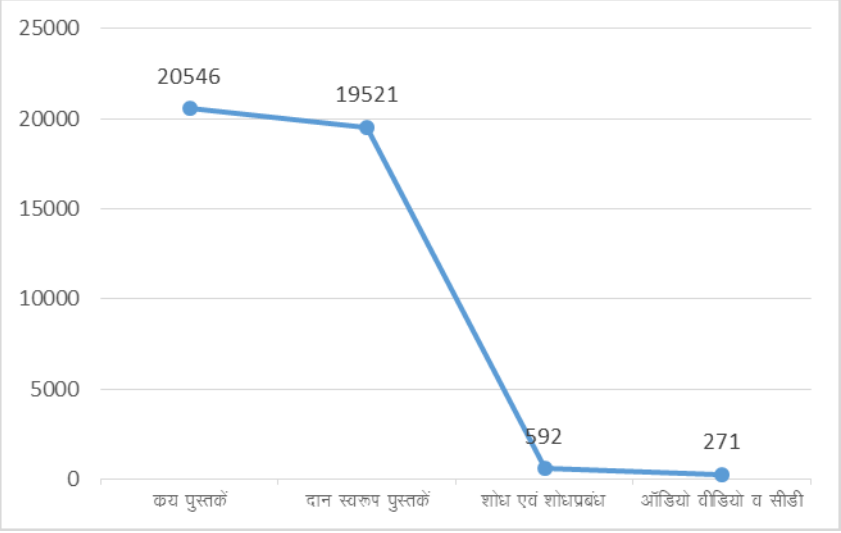

ैसचित्र प्रद"र्निः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 1 से स्पष्ट है कि पुस्तकालय संसाधनों में क्रय किये पुस्तकें सर्वाधिक संख्या में है, दान स्वरूप पुस्तकों का भी अच्छा संग्रह विद्यमान है। शोध एवं शोधप्रबंध 592 और ऑडियो वीडियो व सीडी की संख्या 271 है।

आवधिक संग्रह की संख्या

क	आवधिक संग्रह	कुल संख्या
1	मुद्रित माध्यम	52
2	बैक वाल्युम संग्रह	1299

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड

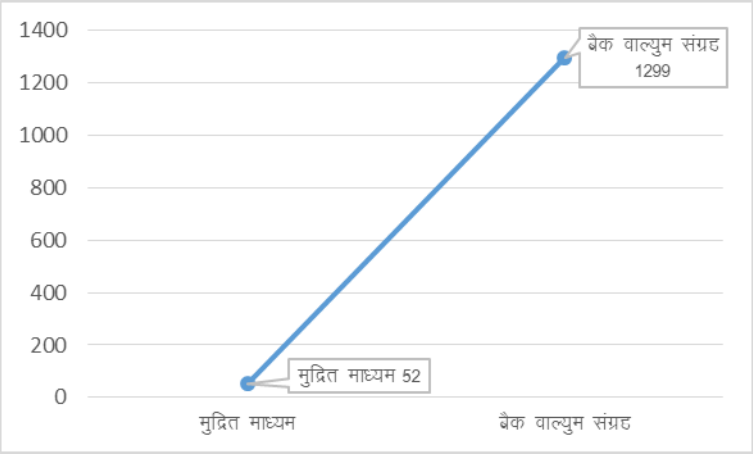

सचित्र प्रदर्शनः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 2 में आवधिक संग्रह की संख्या का वृहद संग्रह विद्यमान है जिसमें 52 मुद्रित माध्यम है और बैक वाल्युम संग्रह की संख्या 1299 है।

क	संदर्भ सामग्री	कुल संख्या
1	शब्दकोश	100
2	विश्वकोश	50
3	शासकीय प्रकाशन	20
4	संदर्भग्रंथ	5
5	वार्षिकी और पचांग	6
6	नक्शा और एटलस	3
7	हस्तलेख	3092
8	अन्य	76

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

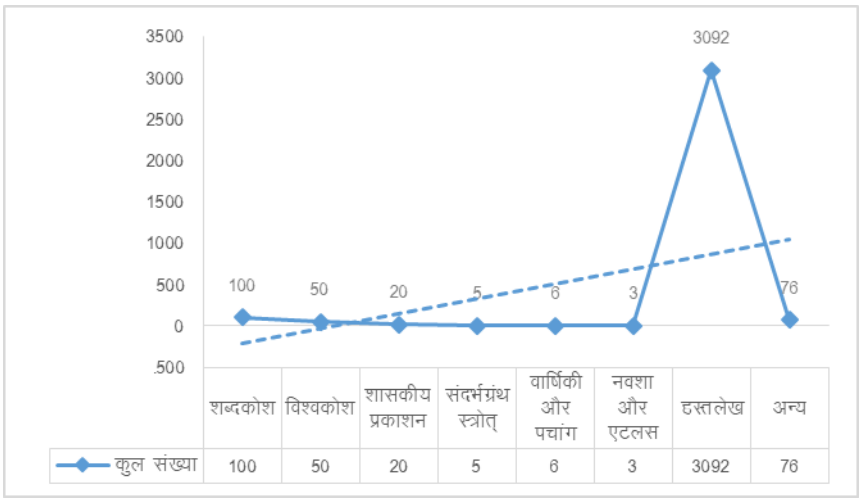

सचित्र प्रदर्शनः प्राथमिक आंकडे

सारणी क्रमांक 3 में विभिन्न प्रकार के संदर्भ सामग्री का विवरण प्रस्तुत है जिसमें शब्दकोश 100, विश्वकोश 50, शासकीय प्रकाशन 20, संदर्भग्रंथ 5, वार्षिकी और पंचांग 6, नक्शा और एटलस 3, हस्तलेख 3092 और अन्य प्रकार की सामग्रीयां 76 है।

पुस्तकालय ई–संसाधनों की संख्या

क	ई–संसाधनों के प्रकार	कुल संख्या
1	ई–पुस्तकें	40000
2	ई–जर्नल	16500
3	ई–डाटाबेस	2
4	नालेज हब और अन्य	1

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

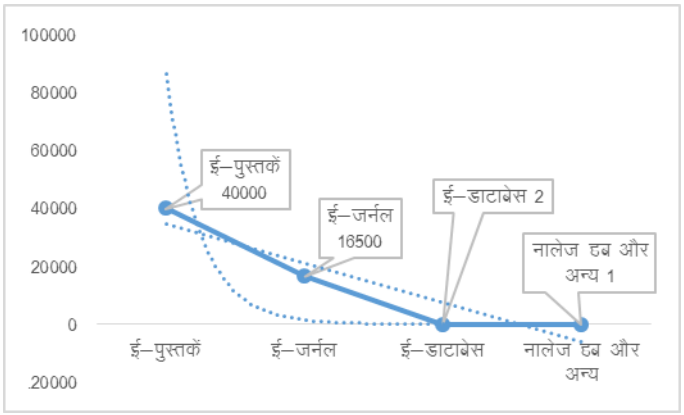

सचित्र प्रदर्शनः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 4 में पुस्तकालय में उपलब्ध ई–संसाधनों में विभिन्न प्रकार के ई–संसाधन है जिनमें प्रमुख रूप से ई–पुस्तकें 40000, ई–जर्नल 16500, ई–डाटाबेस 2 और अन्य नॉलेज हब की संख्या 1 है।

लॉकडाउन के दौरान पुस्तकालय अखबार सदस्यता की संख्या

क	अखबार का नाम	कुल संख्या
1	अंग्रेजी	2
2	मराठी	6
3	हिन्दी	3
4	अन्य	0

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 5 में लॉकडाउन के दौरान पुस्तकालय द्वारा अखबार की सदस्या ली गयी थी जिसमें अग्रेजी के 2, मराठी 6, हिन्दी में सदस्यता 3 रही।

कोविड–19 लॉकडाउन में प्रतिदिन पुस्तकालय प्रयोक्ताओं की संख्या

क	प्रयोक्ता	1–25	25–50	51–100	101–250	251–500	501–1000
1	छात्र	हां	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
2	शोधकर्ता	हां	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
3	संकाय	हां	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
4	कार्यालय सदस्य	हां	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं
5	अन्य	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं	नहीं

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 6 में कोविड–19 लॉकडाउन में प्रतिदिन पुस्तकालय प्रयोक्ताओं की संख्या में प्रयोक्ता वर्गों को विभिन्न संख्या स्तर पर विभाजित कर आंकड़े एकत्रित किए गए है। प्रयोक्ता वर्गों में छात्र, शोधकर्ता, संकाय सदस्य, कार्यालयीन सदस्य रहे जिनकी संख्या 1 से 25 तक पायी गई।

लॉकडाउन के दौरान पुस्तकालय के खुलने वाले विभाग

क	पुस्तकालय अनुभाग	हां / नहीं
1	अधिग्रहण	हां
2	तकनीकी	हां
3	आवधिक	हां
4	संदर्भ	हां
5	परिचालन	हां
6	रखरखाव	हां
7	ब्राउजिंग सेक्शन	नहीं

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 7 से स्पष्ट होता है कि लॉकडाउन के दौरान पुस्तकालय के सभी विभागों को खोला गया था जिनमें

क	उद्देश्य	कोविड–19 से पहले	कोविड–19 के दौरान
1	डिजिटल सूचना संसाधन का प्रयोग	हां	हां
2	संदर्भ सेवा हेतु	हां	हां
3	आदान–प्रदान	हां	हां
4	ई–संसाधन खोज	हां	हां
5	अखबार / पत्रिका अध्ययन	हां	हां
6	साहित्यिक खोज के लिए विशेषज्ञ पूछताछ	हां	हां
7	शोध उद्देश्य	हां	हां
8	सेमिनार तैयारी के लिए	हां	नहीं
9	परीक्षा की तैयारी	हां	नहीं
10	व्याख्यान अनुवर्ती	हां	नहीं

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

ब्राउजिंग सेक्शन प्रयोक्ता नहीं पाये गये।

डद्देश्य के आधार पर पुस्तकालय आने वाले प्रयोक्ता

सारणी क्रमांक 8 में उद्देश्य के आधार पर पुस्तकालय आने वाले प्रयोक्ता में कोविड–19 से पहले और कोविड–19 के दौरान पुस्तकालय आने वाले प्रयोक्ता में भिन्नता पायी गई है।

क्र	उद्देश्य	कोविड–19 से पहले	कोविड–19 के दौरान
1	पुस्तक परिचालन सेवा	हां	हां
2	सामयिक जागरूकता सेवा	हां	हां
3	चयनित सूचना सेवा	हां	हां
4	अंतर ग्रंथालय आदान	हां	नहीं
5	पुस्तकालय दीक्षा	हां	नहीं
6	छायाप्रति	हां	नहीं
7	ईमेल/एसएमएस	हां	हां
8	संदर्भ सेवा	हां	हां
9	विभागीय पुस्तकालय	हां	नहीं
10	प्रयोक्ता शिक्षा	हां	नहीं
11	बुकबैंक	हां	नहीं
12	ओपेक	हां	हां
13	वेबसाइट सेवा	हां	हां
14	सोशल मीडिया मंच	हां	हां
15	ऑनलाइन डाटाबेस	हां	हां
16	इलेक्ट्रॉनिक प्रलेख वितरण	हां	हां
17	अनुवाद सेवा	नहीं	नहीं
18	आभासी यात्रा	हां	हां
19	आस्क अ लाइब्रेरियन	हां	हां
20	साहित्यिक चोरी जांच	हां	हां
21	रिमोट एक्सेस सेवा	हां	हां
22	अखबार कतरन सेवा	हां	नहीं
23	संदर्भग्रंथ संग्रहण	हां	नहीं
24	अनुक्रमणिका सेवा	हां	नहीं

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 9 में पुस्तकालय प्रयोक्ताओं को प्रदान की जाने वाले सेवाओं के मामले में पुस्तकालय परिचालन, सामयिक जागरूकता सेवा और अन्य कुछ सेवाओं को जारी रखा गया था ताकि पुस्तकालय प्रयोक्ताओं को ज्यादा समस्या न हो।

10. कोविड–19 के दौरान औसत प्रयोक्ताओं की संख्या

क्र	प्रयोक्ता	कोविड–19 से पहले	कोविड–19 के दौरान
1	छात्र	35	10
2	शोध छात्र	10	3
3	संकाय सदस्य	20	4

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

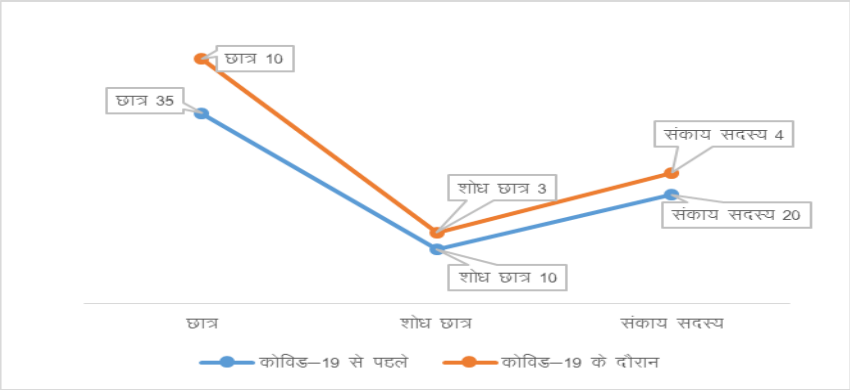

सचित्र प्रदर्शनः प्राथमिक आंकड़े

सारणी क्रमांक 10 में कोविड–19 से पहले पुस्तकालय आने वाले छात्रों की संख्या 35 के लगभग रहती थी वही महामारी के दौरान औसत घट कर 10 हो गयी, शोध छात्रों की संख्या 10 से 3 हो गयी और संकाय सदस्यों में 20 से घटकर 4 हो गयी।

पुस्तकालय सूचना सेवा प्रयोक्ता संतुष्टि

पुस्तकालय प्रयोक्ताओं की संसाधन एवं सेवा संतुष्टि पुस्तकालयों की सफलता का एक महत्वपूर्ण मापदंड है। यह पुस्तक. ालय द्वारा प्रदान की जाने वाली सेवाओं की गुणवत्ता और प्रयोक्ताओं की उन सेवाओं के साथ समग्र संतुष्टि को स्पष्ट करता है। उच्च स्तर की प्रयोक्ता सेवां प्राप्त करने से पुस्तकालयों को अपने प्रयोक्ता आधार को बनाए रखने, नए प्रयोक्ताओं को आकर्षित करने और अपने समुदायों में महत्वपूर्ण संस्थानों के रूप में अपनी भूमिका को मजबूत करने में सहायता मिलती है।

प्रयोक्ता संतुष्टि को प्रभावित करने वाले कारक

पुस्तकालय प्रयोक्ता का संसाधन एवं सेवाओं की संतुष्टि कई कारकों से प्रभावित होती है, जिनमें शामिल हैं।

संसाधनों की उपलब्धता और गुणवत्ता– उच्च शिक्षण संस्थानों में प्रयोक्ता पुस्तकों, पत्रिकाओं, डेटाबेस और अन्य संसाधनों की उपलब्धता और गुणवत्ता की सराहना करते हैं जो उनके शोध, अध्ययन या अवकाश गतिविधियों सहायक होते है।

कार्मिक सहायता और सहयोग– मिलनसार, जानकार और सहायक कर्मचारी प्रयोक्ताओं को आवश्यक जानकारी और संसाध ान ढूंढने में सहायता करके एक सकारात्मक प्रयोक्ता अनुभव बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

पुस्तकालय स्थान और पहुंच– प्रयोक्ता ऐसे पुस्तकालय पसंद करते हैं जो आसानी से सुलभ हों, सुविधाजनक और विस्ता. रित समय तक संचालित करें।

तकनीकी सेवाएँ– उपयोगकर्ता ऑनलाइन कैटलॉग, डिजिटल संसाधन और वाई–फाई एक्सेस जैसी तकनीकी सेवाओं की मांग करते हैं जो उनकी जानकारी प्राप्त करने और उपयोग करने की क्षमता में सुधार करते हैं।

अनुकूल वातावरण– एक अनुकूल, स्वागत योग्य और अच्छी तरह से बनाया हुआ वातावरण प्रयोक्ताओं को अध्ययन, काम या आराम करने के लिए एक अनुकूल स्थान प्रदान करता है।

प्रयोक्ता संतुष्टि में सुधार के लिए कुछ प्रभावी सुझाव

पुस्तकालय प्रयोक्ता संतुष्टि में सुधार के लिए पुस्तकालय कई रणनीतियाँ लागू कर सकते हैं, जिनमें प्रमुख हैं।

प्रयोक्ता प्रतिक्रिया प्राप्त करना– प्रयोक्ता प्रतिक्रिया सर्वेक्षण, केंद्रित समूह और व्यक्तिगत साक्षात्कार के माध्यम से प्रयोक्ता

प्रतिक्रिया प्राप्त करना प्रयोक्ताओं की जरूरतों और चिंताओं को समझने और उनकी संतुष्टि में सुधार के लिए आवश्यक समायोजन करने में सक्षम बनाता है।

संसाधन विविधता में वृद्धि– प्रयोक्ताओं की विभिन्न आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पुस्तकालयों को अपने संसाधनों की विविधता में वृद्धि करनी चाहिए, जिसमें भौतिक पुस्तकें, ई–बुक्स, जर्नल और ऑडियो विजुअल सामग्री शामिल होते हैं।

कार्मिक विकास– पुस्तकालय कर्मचारियों को अपनी दक्षताओं और ज्ञान को विकसित करने के लिए निरंतर प्रशिक्षण और विकास के अवसर प्रदान करना चाहिए, जिससे वे प्रयोक्ताओं को अच्छी व संभव सहायता प्रदान कर सकें।

तकनीकी सेवाओं में सुधार– पुस्तकालयों को उपयोगकर्ताओं को जानकारी प्राप्त करने और उपयोग करने में मदद करने के लिए अपने ऑनलाइन कैटलॉग, डेटाबेस और अन्य तकनीकी सेवाओं में सुधार और उन्नयन करना चाहिए।

वातावरण को बेहतर बनाना– पुस्तकालयों को सुविधाओं को अपग्रेड करके, स्व–सेवा विकल्पों को बढ़ाकर और मिलनसार और आरामदायक रिक्त स्थान बनाकर अपने वातावरण को बेहतर बनाना चाहिए।

उपयोगकर्ता संतुष्टि का मूल्यांकन

उपयोगकर्ता सूचना संसाधन एवं सेवाओं की संतुष्टि का मूल्यांकन करने के लिए, पुस्तकालय विभिन्न तरीकों का उपयोग कर सकते हैं, जैसे कि–

उपयोगकर्ता सर्वेक्षण– सर्वेक्षण उपयोगकर्ताओं की संतुष्टि के स्तर के साथ–साथ सुधार के लिए विशिष्ट सुझाव प्रदान करते हैं।

केंद्रित समूह– केंद्रित समूह उपयोगकर्ताओं को विशिष्ट मुद्दों या सेवाओं के बारे में अपनी राय और अनुभव साझा करने की अनुमति देते हैं।

व्यक्तिगत साक्षात्कार– व्यक्तिगत साक्षात्कार उपयोगकर्ताओं से अधिक गहन प्रतिक्रिया प्राप्त करने की अनुमति देते हैं।

सेवा उपयोग डेटा– सेवा उपयोग डेटा, जैसे परिसंचरण और संदर्भ प्रश्न, उपयोगकर्ता संतुष्टि के अप्रत्यक्ष संकेत प्रदान कर सकते हैं।

टिप्पणी और शिकायतें– उपयोगकर्ता प्रतिक्रिया की निगरानी करके और शिकायतों को प्रभावी ढंग से संभालकर, पुस्तकालय उपयोगकर्ता चिंताओं को दूर कर सकते हैं और संतुष्टि में सुधार कर सकते हैं।

निष्कर्ष एवं सुझाव

नागपुर जिलें में स्थित कवि कुलगुरू कालिदास संस्कृत वि''वविद्यालय में पुस्तकालय में सूचना संसाधनों और सेवाओं के साथ प्रयोक्ता की संतुष्टि पर प्रस्तुत पत्र में पुस्तक और ई–संसाधनों के संग्रहों की संख्या अधिक हैं जहां पुस्तकालय प्रयोक्ताओं को सूचना आवश्यकता को पूरा करने का प्रयास किया जा रहा है। कोविड–19 महामारी के दौरान पुस्तक. ालय द्वारा इस समस्या के लिए पुस्तकालय संसाधनों के उपयोग और सेवाओं के संचालन हेतु विभिन्न अनुभाग खुले रहे परंतु प्रयोक्ता को दी जाने वाली सेवाओं पर अकुंश किया गया था। जिससे कोरोना संक्रमण पर काबू पाया जा सके। प्रयोक्ता सूचना संसाधन एवं सेवाओं की संतुष्टि का मूल्यांकन करने के लिए पुस्तकालय द्वारा विभिन्न उपाय अपनाये गये थे। पहले चरण में ऐसे अनुमान नहीं था लेकिन जैसे–जैसे शैक्षणिक स्थित कठीन होती गयी वैसे इस ओर रणनीतिक रूप से कार्य किया गया और पाठकों के लिए ऐसे आयोजन किया गया जिससे संसाधनों को पाठकों तक पहुंचाया जा सके। पाठकों की संतुष्टि पुस्तकालय संसाधनों के ज्यादा उपयोग में निहित होती हैं इन्हीं धारणा के साथ वि''वविद्यालय में

पुस्तकालय में सूचना संसाधनों और सेवाओं के संचालन को बंद न करके कमी की गयी साथ ही वि''वविद्यालय पुस्तक. ालय अपने पाठकों की संतुष्टि स्तर को बनाए रखने में सफल भी हुए।

संदर्भ

1. Nishant Kashyap Ghatowar & Rajani Kanta Barman. (2024) Exploring the Usage of Management Functions by Medical Library Professionals: Insights from North East India. *Journal of Hospital Librarianship* 24:1, pages 49-61.
2. Verma, N., Deori, M., & Verma, M. (2023). Library services during covid 19. Desidoc Journal of library & Information Technology, 42(6), 341-353. https://doi.org/10.14429/djlit.42.6.18130
3. Singh, B.P.. (2023). Library Services and Preventive Measures in University Libraries during the COVID-19 Pandemic 2021. 10.4018/978-1-7998-7258-0.ch025.
4. Begum, D. and Elahi, M. (2022). Digital library services to support online learning amid covid-19: a study of a private university library in bangladesh. Digital library Perspectives, 38(3), 332-345. https://doi.org/10.1108/dlp-03-2021-0025
5. Dube, T. and Jacobs, L. (2022). Academic library services extension during the covid-19 pandemic: considerations in higher education institutions in the gauteng province, south africa. library Management, 44(1/2), 17-39. https://doi.org/10.1108/lm-04-2022-0039.
6. Wombles, C., Grabeel, K., & Petersen, D. (2022). Determining covid-19's impact on an academic medical library's literature search service. Journal of the Medical library Association Jmla, 110(3), 316-322. https://doi.org/10.5195/jmla.2022.1447
7. Zareef, M., & Ahmad, P. (2021). The impact of COVID-19 on university library services: A systematic literature review. *Library Philosophy and Practice*, *2021*, 1-13.
8. Dutta, Ankuran. (2020). Impact of Digital Social Media on Indian Higher Education: Alternative Approaches of Online Learni.
9. Vyas, Dr.Meghna & Trivedi, Mayank. (2020). Research Support Services of The Maharaja Sayajirao University Library During Covid-19 : A Survey.
10. https://www.researchgate.net/publication/342262153_Lockdown_Period_and_Information_Sources
11. https://digitalcommons.unl.edu/libphilprac/4445/

****

व्यावसायिक संरचना का अध्ययन जनपद उधम सिंह नगर के विशेष संदर्भ में

-रेखा देवी

शोध छात्रा

भूगोल, सरदार भगत सिंह राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

रूद्रपुर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल (उत्तराखण्ड)

-डा. पूनम शाह गंगोला

असिस्टेण्ट प्रोफेसर -भूगोल

सरदार भगत सिंह राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय

रूद्रपुर, कुमाऊँ विश्वविद्यालय नैनीताल (उत्तराखण्ड)

सारांश - जनपद ऊधम सिंह नगर उत्तराखण्ड राज्य का तराई भाग है । यहाँ 2011 की जनगणना (591458) है। जो कुल जनसंख्या का 35% है जनपद में कृषकों की संख्या में कमी आई वर्ष (1991) कृषक (106046) थी जो वर्ष (2011) में घटकर (94677) हो गई ।

जनपद में सीमान्त कर्मकर की संख्या (450762) है और पारिवारिक उद्योग में लगे व्यक्ति (16503) है जो कुल कर्मकर का 2.7% है । अन्य कर्मकर औद्योगिकरण के कारण कृषि में कमी आई है ।

अतः क़षि आधारित उद्योगों की वृद्धि की जाए और पशुपालन को व्यावसायिक स्वरूप प्रदान किया जाए ।

प्रस्तावना - मानव द्वारा जीविकोपार्जन तथा जीवन यापन के लिए की जाने वाली आर्थिक क्रियाओं को व्यवसाय की संज्ञा दी जाती है। व्यावसयिक संरचना के अन्तगर्त कुल जनसंख्या में कार्यरत जनसंख्या के विभिन्न व्यवसाय अथवा कार्यो में सलग्नता का अध्ययन किया जाता है। व्यावसायिक संरचना द्वारा अध्यसित जनसंख्या किसी व्यक्ति विशेष की व्यवसायिक स्थिति उसके सामाजिक दृष्टिकोण, व्यक्तित्व तथा उसके द्वारा स्थापित राजनैतिक समबद्धता एवं परिवर्तन की झलक मिलती है।

रिचर्डस **(1918)**- के अनुसार किसी देश अथवा प्रदेश के विभिन्न व्यवसायों में कार्यरत जनसंख्या के स्वरूप को व्यवसायिक संरचना की संज्ञा दी जाती है।

शर्मा **(1983)** के अनुसार किसी भी क्षेत्रों के लोगो की व्यवसायिक संरचना उसके आर्थिक एवं सामाजिक विकास प्रतिबिम्व है ।

गार्नियन **(1978)** ने कहा कि कार्यरत द्वारा स्वयं तथा अपने आश्रितों का भरण-पोषण करती है। जनसंख्या की रोजी-रोटी और कार्यकुशलता संबधी मापदण्डो को स्पष्ट करती है जो मानव का एक महत्वपूर्ण पहलू होता है प्रस्तुत शोधपत्र मे जनपद उधमसिंह नगर की व्यावसयिक संरचना का उल्लेख किया है ।

अध्ययन क्षेत्र - जनपद ऊधमसिंह नगर उत्तराखण्ड राज्य का एक प्रगतिशील जनपद है। कुमाऊँ मण्डल के दक्षिण बीच स्थित है। जनपद के उत्तर में नैनीताल पश्चिम में मुरादाबाद , बरेली तथा पूर्व में जनपद चम्पावत पूर्व में 28 डिग्री से 58 डिग्री उत्तरी अक्षांश तथा 78 डिग्री से 81 डिग्री पूर्वी देशान्तर के है। दक्षिण पूर्व में नेपाल की सीमाएं मिलती है। जनपद का सम्पूर्ण क्षेत्र तराई का है।

इसका भौगोलिक क्षेत्रफल 2542 वर्ग किमी०है ।

यहाँ पर भूगर्भीय जल का 15मी० से 20 मी० की गहराई पर उपलब्ध हो जाता है। अपनी भौगोलिक संरचना के कारण कृषि क्षेत्र में प्रदेश अग्रणी है।

अध्ययन के उद्देश्य -

जनपद की व्यावसायिक संरचना का अध्ययन करना

जनपद में आर्थिक विकास के स्तर को ज्ञात करना

विधि तन्त्र एवं आकडो का संग्रह -

प्रस्तुत शोध पत्र में द्वतिय आंकडो का आधार जिला सांख्यकीय पत्रिका , प्रकाशित तथा अप्रकाशित स्त्रोतों को बनाया गया है।

जनपद में विकास खण्डवार व्यावसायिक सरंचना

विकास खण्ड	कृषक	कृषक श्रमिक	पारिवारिक उद्योग	अन्य	सीमान्त कर्मकार	कुल कर्मकार
जसपुर	9042	10271	1643	7419	13051	41396
काशीपुर	5485	7503	1107	9034	7710	30839
बाजपुर	10865	74649	677	7437	9786	46414
गदरपुर	9310	18740	806	9348	13132	51336
सितारगंज	20207	16478	1437	9941	15720	63783
खटीमा	21245	8266	1956	12039	32008	75514
वन	2175	1734	563	1675	5955	12102
ग्रामीण	84925	90874	9068	67644	104618	357129
नगरीय	9752	16729	7435	164335	36078	234329
योग	**94677**	**107603**	**16503**	**231979**	**450762**	**591458**

जिला सांख्यकीय पत्रिका **2023**

कृषक - अध्ययन क्षेत्र में कृषक जनसंख्या सबसे अधिक खटीमा विकास खण्ड में (21245) जो कुल कर्मकार का 3.5% है। और सबसे कम काशीपुर (5485) 0.9% है। शहरीकरण के कारण विकासखण्ड में कृषको की कमी हुई है ।

कृषि श्रमिक - कृषक वह होता है जो दूसरे व्यक्ति को खेत कृषक श्रमिक गदरपुर (18740) जो कुल कार्यशील जनसंख्या 3.16% है। और सबसे कम विकासखण्ड काशीपुर (7503) मे है जो मुख्य कर्मकार का 1.26% है।

पारिवारिक उद्योग - जनपद में उद्योग धन्धों में कार्यशील जनसंख्या सबसे अधिक विकासखण्ड खटीमा (1956) जो 0.33% है और सबसे कम बाजपुर विकासखण्ड में (677) जो कुल कार्यशील का 0.11% है।

अन्य कर्मकर - अन्य कर्मकर स्वास्थय प्रशासनिक शिक्षण , स्वास्थय ,मे कार्यरत जनसंख्या को अन्य कर्मकर में समम्लित किया गया है। जनपद में जसपुर विकास खण्ड में (7419) 1.2% है , और सबसे

अधिक विकासखण्ड खटीमा में (12039) जो कार्यशील जनसख्यां की 2% है ।

सीमान्त कर्मकर - सीमान्त कर्मकर वह क्रियाशील जनसंख्या छः महीने तक कार्य करती है और छः महीने खाली रहती है । जनपद में सीमान्त कर्मकर विकासखण्ड खटीमा (32008) जो मुख्य कर्मकर का 5.4% है सीमान्त कर्मकर में सबसे कम विकासखण्ड काशीपुर में (7710) में जो मुख्य कार्यशील जनसंख्या का 1.3% है ।

कुल कर्मकार - जनपद में कुल कर्मकार जनसंख्या विकास खण्ड खटीमा में (75514) है जो कार्यशील जनसंख्या का 12.7% है। कम और विकास खण्ड काशीपुर (30839) में कार्यशील जनसंख्या का 5.21% है।

<u>जनपद में व्यावसायिक संरचना में परिवर्तन **-1991-2011**</u>

वर्ष	कृषक	कृषक श्रमिक	पारिवारिक उद्योग	अन्य	सीमान्त	कुल कर्मकर
1991	106046	75912	2894	101209	63298	345359
2001	96760	57110	6081	140190	92015	302156
2011	94677	101603	16503	231919	140696	591458

<u>जिला सांख्यकीय पत्रिका - 2023</u>

जनपद में वर्ष 2011 में कृषकों की संख्या (106046) थी जो घटकर (94677) रह गई। इसका प्रमुख कारण औद्योगीकरण है। औद्योगिकरण के कारण खेती योग्य भूमि मों कमी हुई है। जनपद में कृषि श्रमिक में बढोत्तरी हुई है । यहाँ 1991 में (75912) संख्या थी जो बढकर (101603) हो गई।

सीमान्त कर्मकर में भी वृद्धि हुई है। 1991 (63298) थी जो वर्ष 2001 में घटकर (6081) हो गयी थी । परन्तु 2011 में घटकर (16503) हो गई ।

कुल कर्मकर में बढोत्तरी हुई है जो 1991 (349359) संख्या जो 2011 में (591458) हो गई है ।

निष्कर्ष - अध्ययन क्षेत्र में व्यवसायिक सरंचना के विशलेष्ण से स्पष्ट होता है कि यहां कृषकों की संख्या में भी कमी आई है । और अन्य कर्मकर तथा सीमान्त कर्मकर में वृद्धि हुई है । अध्ययन क्षेत्र में कृषि आधारित उद्योगो को लगाकर कृषि के प्रति लोगो की रूचि में अभिवृद्धि की जा सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ -

1. सिंह कुमार नन्द, डा० गीतांजलि प्रसाद, गोविन्द डा० जनसंख्या के अध्ययन के आयाम पृष्ठ - 193
2. खर्कवाल सी.एस - उत्तराखण्ड भौतिक सांस्कृतिक एंव आर्थिक परिदृश्य भौगोलिक विशलेश्ण पृष्ठ
3. जैन डा० मामोरिया डा० -भारत की आर्थिक समस्याएं सोलहवां संशोधित संस्करण पृष्ठ- 231
4. चान्दना सी. आर. - जनसंख्या भूगोल पृष्ठ 460
5. सिंह जगदीश डा० (प्रो०) संसाधन भूगोल पृष्ठ 299
6. जिला सांख्यकीय पत्रिका - 2022
7. समाज आर्थिक समीक्षा वर्ष - (2020)

स्थानीय स्वशासन में ग्रामीण महिलाओं की भूमिका
(जनपद पिथौरागढ़ के विकास खंड डीडीहाट के विशेष संदर्भ में)

-रेनू भंडारी
शोधार्थी
समाज शास्त्र विभाग
लक्ष्मण सिंह महर रा.स्ना. महाविद्यालय
पिथौरागढ़, उत्तराखंड

शोध सार: भारत में ग्रामीण स्थानीय स्वशासन पंचायती राज की अवधारणा प्राचीन काल से है जिसको वर्तमान में आधुनिक स्वरूप में प्रस्तुत किया गया है । पंचायती राज की अवधारणा का संबध सत्ता के विकेंद्रीकरण से है । किसी भी समाज के सतत् विकास हेतु प्रत्येक आयु, वर्ग, जाति-धर्म, लिंग व सभी स्तर के लोगों की सक्रिय भागीदारी अति आवश्यक है । किसी भी राष्ट्र के निर्माण में महिलाओं का महत्वपूर्ण योगदान होता है । महिलाओं को सामाजिक,आर्थिक व राजनीतिक विकास में सक्रिय भूमिका निभाने के अवसर प्रदान किए जाने पर सर्वागींण विकास के उद्देश्यों को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है । वर्तमान में पूरे देश में लाखों महिलाएं स्थानीय स्वशासन में प्रत्यक्ष रूप से भागीदारी कर ग्रामीण विकास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन कर महिला सशक्तिकरण की एक मिशाल कायम कर रही हैं ।

प्रस्तावना - लोकतंत्र का सही अर्थ होता है सार्थक भागीदारी एवं उद्देश्यपूर्ण जबावदेही। मजबूत स्थानीय स्वशासन भागीदारी और जवाबदेही को सुनिश्चित करता है । स्थानीय स्वशासन की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह देश के आम नागरिकों के सबसे करीब होता है तथा सभी की भागीदारी सुनिश्चित करने में सक्षम होता है । भारतीय समाज में महिलाओं का स्थान सर्वोपरि है। इसी संदर्भ में पं0 जवाहरलाल नेहरू ने कहा था कि यदि जनता में जागरूकता पैदा करनी है तो पहले महिलाओं में को जागरूक करना होगा । जब महिलाएं आगे बढ़ती हैं तो परिवार आगे बढ़ता है, परिवार के साथ गांव व शहर के साथ पूरा देश आगे बढ़ता है । वर्ष 1992 में भारत सरकार द्वारा शासन के विकेंद्रकरण मा ॅडल को अपनाने तथा भागीदारी एवं समावेशन को मजबूत करने हेतु 73 वें तथा 74 वें संविधान सशोधन को पारित किया गया । 73वें संविधान संशोधन के पश्चात ही पंचायत राज में महिला नेतृत्व की कल्पना की गई ।

शोध के उद्देश्य -

1.पंचायती राज में प्रतिनिधित्व कर रही ग्रामीण महिलाओं की सामाजिक आर्थिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करना ।

2.पंचायती राज व्यवस्था के संदर्भ में ग्रामीण महिला नेत्रियों की नेतृत्व क्षमता का पता लगाना ।

3.ग्रामीण महिला नेत्रियों की राजनीतिक कार्यकृशलता तथा निर्णय लेने की क्षमता का मूल्यांकन करना ।

4.ग्रामीण महिला नेत्रियों की राजनीतिक जागरूकता का पता लगाना ।

अध्ययन क्षेत्र - प्रस्तुत अध्ययन हेतु अध्ययनकर्ता द्वारा उत्तराखंड राज्य के जनपद पिथौरागढ़ में विकास खंड

डीडीहाट को चुना गया है । डीडीहाट विकास खंड में कुल 71 ग्राम पंचायत हैं । विकास खंड डीडीहाट की कुल जनसंख्या 33,505 है जिसमें पुरुष जनसंख्या 16741 तथा महिला जनसंख्या 16764 है । विकास खंड डीडीहाट की साक्षरता दर 81.58 % है ।

विकास खंड डीडीहाट में त्रिस्तरीय पंचायती राज व्यवस्था के आंकड़ें -वर्ष 2019 के अनुसार

विकास खंड डीडीहाट में पंचायती राज व्यवस्था के अंतर्गत कुल 71 ग्राम सभायें, 27 क्षेत्र पंचायतें तथा 03 जिला पंचायतें हैं । वर्ष 2019 के त्रिस्तरीय पंचायती चुनाव के आंकड़ों के अनुसार 71 ग्राम सभाओं में 43 महिला प्रधान, 27 क्षेत्र प्रचायतों में से 16 क्षेत्र पंचायत सदस्य तथा 03 जिला पंचायतों में से 01 महिला जिला पंचायत सदस्य निर्वाचित होकर आई हैं । विकास खंड डीडीहाट में कुल निर्वाचित ग्रामीण महिलाओं की संख्या 60 है, जिसे निम्न तालिका के द्वारा दर्शाया गया है :

	निर्वाचित ग्राम प्रधान			**निर्वाचित क्षेत्र पंचायत सदस्य**			**निर्वाचित जिला पंचायत सदस्य**			**कुल चयनित प्रतिनिधि**
	पुरुष	**महिला**	**कुल**	**पुरुष**	**महिला**	**कुल**	**पुरुष**	**महिला**	**कुल**	
	28	43	71	11	16	27	02	01	03	101
कुल ग्रामीण महिला प्रतिनिधि		43			16			01		60

शोध प्रविधि - किसी भी सामाजिक शोध को वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए विभिन्न अध्ययन प्रणालियों व विधियों का प्रयोग किया जाता है । शोध विषय से संबधित वस्तुपरक तथा तथ्यपरक निष्कर्ष प्राप्त करने हेतु शोधकर्ता को तथ्यों का संकलन, वर्गीकरण, निरीक्षण, परीक्षण व निष्कर्ष आदि के जटिल मार्ग से गुजरना होता है । इस शोध कार्य हेतु पंचायती राज में ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों की भूमिका से संबधित अध्ययन हेतु प्राथमिक व द्वितीयक दोनों प्रकार ाक आंकड़ों को उपयोग में लाया गया । प्राथमिक आंकड़ों का संकलन साक्षात्कार अनुसूची द्वारा किया गया तथा द्वितीयक आंकड़ों हेतु शासकीय प्रकाशन, अध्यादेश, अधिनियम, पूर्व शोध अध्ययन आदि के द्वारा तथ्यों का संकलन किया गया ।

इस अध्ययन में डीडीहाट विकास खंड डीडीहाट में चयनित समस्त ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों का चयन कर साक्षात्कार अनुसूची द्वारा प्राप्त जानकारी निम्न लिखित है-

सारिणी 1- पंचायत की बैठकों में ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों की भागीदारी

क्रम सं0	पंचायत की बैठकों में ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों की भागीदारी	संख्या	%
1.	हाँ	53	88.33
2.	नहीं	07	11.70
	योग	60	100.00

सारिणी -1 में ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों की पंचायत की बैठकों में भागीदारी को दर्शाया गया है । उपरोक्त सारिणी के अनुसार 88.33 प्रतिशत महिलाएं पंचायत की बैठकों में नियमित रूप से भाग लेती हैं जबकि 11.70 प्रतिशत महिलाओं ने माना है कि वे पंचायत की बैठकों में नियमित रूप से भाग नहीं ले पाती । सारिणी के अध्ययन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पंचायत की बैठकों में भाग लेने के मामले में ग्रामीण महिला नेतृत्व का बड़ा प्रतिशत जागरूक है ।

सारिणी 2-ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों के विकास कार्यों से संबधित निर्णय

क्रम सं0	**ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों के विकास कार्यों से संबधित निर्णय**	संख्या	%
1.	स्वयं	48	80
2.	पति या घर के अन्य पुरुष	12	20
	योग	60	100

सरिणी-2 में पंचायत के विकास कार्यों से संबधित निर्णय लेने के बारे में दर्शाया गया है । उपरोक्त सारिणी के अनुसार 80 % महिलाओं ने माना है कि वे क्षेत्र के विकास कार्यों संबधी निर्णय स्वयं लेती हैं जबकि 20 % महिलाओं ने उत्तर दिया कि उनके घर के पुरुष सदस्य विकास कार्यों से संबधित निर्णय लेते हैं ।

सारिणी से स्पष्ट होता है कि ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों में अधिकतम महिलायें पंचायत के विकास कार्यों से संबधित निर्णय स्वयं लेती हैं ।

सारिणी 3- ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों को विकास कार्यों के दौरान होने वाली समस्याओं के प्रकार

क्रम सं0	विकास कार्यों के दौरान होने वाली समस्याओं के प्रकार	संख्या	%
1.	निर्णय लेने में झिझक होती है	06	10
2.	आत्म विश्वास की कमी महसूस होती है	03	05
3.	जनता विकास कार्यों से संतुष्ट नहीं है।	03	05
4.	उपरोक्त सभी	12	20
5.	उपरोक्त में से कोई नहीं	36	60
	योग	60	100

सारिणी -3 पंचायत के विकास कार्यों के दौरान हाने वाली समस्याओं के बारे में है। उपरोक्त सारिणी के अनुसार 10 % महिलाओं ने उत्तर दिया कि उन्हें निर्णय लेने में झिझक होती है।, 5 % महिलाओं ने बताया कि उन्हें आत्मविश्वास की कमी है , 5 % महिलाओं ने माना कि जनता उनके द्वारा किए हुए कार्यों से संतुष्ट नहीं है , 20 % महिलाओं ने माना कि उन्हें उपरोक्त सभी प्रकार की समस्याओं का सामना करना पड़ता है जबकि 60 % महिलाओं ने माना कि उन्हें क्षेत्र में विकास कार्यों के दौरान किसी भी प्रकार की समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता है ।

सारिणी से स्पष्ट होता है कि स्थानीय स्वशासन में आत्मविश्वासी व कुशल नेतृत्व क्षमता वाली ग्रामीण महिलाओं की संख्या अधिक है ।

सारिणी 4- ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों को पंचायती राज व्यवस्था के उद्देश्यों की जानकारी

क्रम सं0	पंचायती राज व्यवस्था के उद्देश्यों की जानकारी	संख्या	%
1.	ग्रामीण जनता की चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रशासन में भागीदारी करना	42	70
2.	चुने हुए प्रतिनिधियों हेतु रोजगार की व्यवस्था करना	12	20
3.	जवाब नहीं दे पाए	06	10
	योग	60	100

सारिणी -4 में ग्रामीण महिला नेत्रियों से पंचायती राज व्यवस्था के उद्देश्यों को जानने का प्रयास किया गया है ।

जिसमें 70 % महिलाओं ने उत्तर दिया है कि पंचायत राज का उद्देश्य ग्रामीण जनता की चुने हुए प्रतिनिधियों के माध्यम से प्रशासन में भागीदारी करना है, 12 % महिलाओं के अनुसार चुने हुए प्रतिनिधियों हेतु रोजगार की व्यवस्था करना तथा 6 % महिला प्रतिनिधि इस प्रश्न का कोई कोई उत्तर नहीं दे पायीं ।

ठससे ज्ञात होता है कि ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों का एक बड़ा प्रतिशत पंचायत राज व्यवस्था में स्थानीय स्वशासन के उद्देश्यों की जानकारी रखता है ।

सारिणी 5- पुनः त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था में पुनः चुनाव लड़ने हेतु

क्रम सं0	**पुनः त्रिस्तरीय पंचायत राज व्यवस्था में पुनः चुनाव लड़ने हेतु**	संख्या	%
1.	हाँ	54	90
2.	नहीं	06	10
	योग	60	100

सारिणी - 5 में ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों से जानने का प्रयास किया गया कि क्या वे पुनः चुनाव लड़ना चाहेंगी? इसमें 90 % महिलाओं ने उत्तर दिया कि वे अवसर मिलने पर पुनः चुनाव में भागीदारी करना चाहेंगी जबकि 10 % महिलाओं ने पुनः चुनाव न लड़ने की इच्छा जताई । इससे ज्ञात होता है कि ग्रामीण महिलाओं में नेतृत्व के प्रतिमान उभर रहे हैं तथा नेतृत्व क्षमता का विकास हो रहा है ।

सारिणी 6- पंचायत राज व्यवस्था में आने वाली समस्याओं के कारण

क्रम सं0	**पंचायत राज व्यवस्था में आने वाली समस्याओं के कारण**	संख्या	%
1.	जनता का अशिक्षित होना	06	10
2.	जातिवाद	03	05
3.	निस्वार्थ नेतृत्व की कमी	09	15
4.	ग्रामीण जनता में जागरूकता की कमी	12	20
5.	उपरोक्त सभी	30	50
	योग	60	100

सारिणी -6 में पंचायत राज व्यवस्था में होने वाली समस्याओं के बारे में ग्रामीण महिलाओं से जानने का प्रयास किया गया है । इसमें 10 % महिलाओं ने जनता का अशिक्षित होना, 5 % महिलाओं ने जातिवाद, 15 % महिलाओं ने

निस्वार्थ नेतृत्व की कमी, 20 % महिलाओं ने जनता में जागरूकता की कमी तथा 50 % महिलाओं ने माना कि उपरोक्त सभी प्रकार की समस्याएं पंचायत राज व्यवस्था में देखने को मिलती हैं ।

इससे ज्ञात होता है कि उपरोक्त सभी प्रकार की समस्याएं पंचायत राज में हैं तथा उनका निदान करने की आवश्यक्ता है ।

निष्कर्षः प्रस्तुत अध्ययन में पंचायती राज में प्रतिनिधित्व कर रही महिलाओं की स्थानीय स्वशासन में भूमिका का अध्ययन किया गया ।इस अध्ययन में सूचनादाताओं द्वारा साक्षात्कार के दौरान प्राप्त उत्तरों के आधार पर निष्कर्ष निकाला गया है कि-

1.कुछ महिला प्रतिनिधियों को छोड़कर सभी ग्रामीण महिला प्रतिनिधि पंचायत की बैटकों में नियमित रूप से भाग लेती हैं ।

2.80 % महिला प्रतिनिधि विकास कार्यों से संबधित निर्णय स्वयं लेती हैं ।

3.60 % महिलाओं ने पंचायत में विकास कार्यों से के दौरान समस्या नहीं होना बताया है जबकि बाकी महिला प्रतिनिधियों ने कुछ समस्याओं का जिक्र किया जिनका प्रतिशत काफी निम्न था ।

4.70 % ग्रामीण महिला प्रतिनिधियों को पंचायत राज व्यवस्था के सही उद्देश्यों की जानकारी है।

5.90 % महिलाएं पुनः चुनाव लड़ने की इच्छुक हैं ।

6.सभी महिला प्रतिनिधियों ने माना है कि जनता का अशिक्षित होना, जातिवाद, निस्वार्थ नेतृत्व की कमी व ग्रामीण जनता में जागरूकता की कमी पंचायत राज व्यवस्था में होने वाली समस्याओं के कारण हैं ।

निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि पंचायती राज संस्था की स्थापना के पश्चात ग्रामीण महिलाओं को बेहतर अवसर प्राप्त हो रहे हैं । तथा वे अपनी जिम्मेदारियों को बखूबी निभा रही हैं, उन्हें राजनीति के क्षेत्र में आगे आकर प्रशासन में भाग लेने का एक बेहतर अवसर प्राप्त हो रहा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि पंचायतों में महिलाओं की भागीदारी से भारत में परिवर्तन आ रहा है। पंचायतों में निर्वाचित महिलाएं समाज की अन्य महिलाओं के लिए प्रेरणास्रोत भी हैं तथा ये निर्वाचित ग्रामीण महिलाएं ग्रामीण जीवन से संबधित विकास कार्यों को ले कर विकास एजेंडा में परिवर्तन भी ला रही हैं ।

संदर्भ सूची:

1.अशोक नायक और हर्षित द्विवेदी 2013, पंचायती राज में ग्रामीण नेतृत्व, महिलाएं एवं राजनीतिक सहभागिता,पाॅइन्टर पब्लिकेशर्स, जयपुर

2. विश्वनाथ गुप्त, 2017 भारत में पंचायती राज, सुरभि प्रकाशन ,प्रीत विहार, नई दिल्ली

3.लक्ष्मीदास, पंचायती राज,बुनियादी शासकीय इकाई, गांधी स्मृति एवं दर्शन समिति, नई दिल्ली

4.सुमित्रा सारंगदेव, 2018 पंचायती राज में महिला नेतृत्व, हिमांशु पब्लिकेशन्स, उदयपुर

5.राकेश शर्मा, 2021, पंचायती राज तब और अब, जाह्नवी प्रकाशन, दिल्ली-110095

6.राम आहूजा,2021,सामाजिक अनुसंधान, रावत पब्लिकेशन्स

7.ग्रामीण विकास समीक्षा, महिला सशक्तिकरण विशेषांक, जनवरी-जून 2006 , राष्ट्रीय ग्रामीण विकास एवं पंचायती राज संस्थान, हैदराबाद-500030

अधिक समावेशी समाज की ओर: जगदगुरू रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय में दिव्यांग सशक्तिकरण के लिए पुस्तकालय सेवाओं का महत्व

-श्रीमती रेनू कपूर
शोधार्थी
ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग,
मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर, छत्तीसगढ

-डॉ. कल्पना चंद्राकार,
शोध निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष,
ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग,
मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर , छत्तीसगढ,

सारांश

जैसे–जैसे शिक्षा और समाज में समावेशिता पर ध्यान केंद्रित किया जा रहा है, दिव्यांग व्यक्तियों के लिए पहुँच और सशक्तिकरण को बढ़ाने में विश्वविद्यालय महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। इस संबंध में, जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.) खुद को दिव्यांग व्यक्तियों की शिक्षा और सशक्तिकरण के लिए प्रतिबद्ध एक अग्रणी संस्थान के रूप में प्रतिष्ठित करता है। विभिन्न विशिष्ट सेवाओं और संसाधनों के कार्यान्वयन के माध्यम से, जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय समावेशिता और पहुँच के प्रतीक के रूप में उभरता है, विशेष रूप से इसकी व्यापक पुस्तकालय सेवाओं द्वारा स्पष्ट होता है। पुस्तकालयों को अक्सर शैक्षणिक संस्थानों का मूल माना जाता है, जो शोध और अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण संसाधन, सहायता और अनुकूल शिक्षण वातावरण प्रदान करते हैं। दिव्यांग छात्रों के शैक्षणिक और व्यक्तिगत विकास को सुविधाजनक बनाने के लिए पुस्तकालय सेवाओं का महत्व बढ़ जाता है। ये सेवाएँ न केवल सूचना और शैक्षिक सामग्री तक पहुँच को आसान बनाती हैं, बल्कि एक समावेशी वातावरण भी बनाती हैं जहाँ हर छात्र, अपनी क्षमताओं के बावजूद, आगे बढ़ सकता है। यह शोध पत्र एक शैक्षिक ढांचे के भीतर दिव्यांग छात्रों की सफलता को बढ़ावा देने में पुस्तकालय सेवाओं की महत्वपूर्ण भूमिका की गहन जाँच करता है। जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय में विशिष्ट पेशकशों की छानबीन करके – जैसे सहायक प्रौद्योगिकियां, संशोधित पठन सामग्री, व्यक्तिगत समर्थन और कर्मचारियों और छात्रों के लिए प्रशिक्षण कार्यक्रम – हमारा लक्ष्य सर्वोत्तम प्रथाओं को उजागर करना है जिन्हें अन्य संस्थानों द्वारा अपनाया जा सकता है। प्रस्तुत शोध में मौजूदा साहित्य और जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय में विशिष्ट प्रथाओं, दोनों से अंतर्दृष्टि को एकीकृत करके, यह शोध उच्च शिक्षा में समावेशिता पर चल रहे योगदान करने की आकांक्षा रखता है।

कुंजी शब्द– पुस्तकालय सेवाएं, समावेशी शिक्षा, दिव्यांग सशक्तिकरण, दिव्यांग विश्वविद्यालय।

परिचय

पुस्तकालय सेवाएँ शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं, जो महत्वपूर्ण संसाधनों के रूप में कार्य करती हैं जो विभिन्न प्रकार की सामग्रियों, सूचनाओं और महत्वपूर्ण शिक्षण अवसरों तक पहुँच प्रदान करती हैं। इस संदर्भ में, सार्वजनिक और शैक्षिक दोनों पुस्तकालय न केवल ज्ञान के भंडार के रूप में कार्य करते हैं, बल्कि विशेष रूप से दिव्यांग व्यक्तियों के लिए सशक्तिकरण के प्रवर्तक के रूप में भी कार्य करते हैं। ये सेवाएँ सूचना की बाधाओं को दूर करने, समावेशिता की भावना को विकसित करने और सीखने के ऐसे रास्ते स्थापित करने में महत्वपूर्ण हैं जो अन्यथा पहुँच से बाहर रह सकते हैं। यह पत्र जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.) में दिव्यांग समुदाय के लिए विशेष रूप से डिजाइन की गई पुस्तकालय सेवाओं की विभिन्न भूमिकाओं और महत्व का पता लगाने का प्रयास करता है। सूचना पहुँच को बढ़ाने, समावेशी

शिक्षण वातावरण को प्रोत्साहित करने और व्यक्तिगत समर्थन प्रदान करने वाले तरीकों पर ध्यान केंद्रित करके, पुस्तकालय एक अधिक न्यायपूर्ण शैक्षणिक परिदृश्य को बढ़ावा दे सकते हैं।

पृष्ठभूमि

जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय (जेआरडीय), चित्रकूट (उ.प्र.) की स्थापना एक महान मिशन के साथ की गई है, दिव्यांग व्यक्तियों की शैक्षिक आवश्यकताओं को पूरा करना। विश्वविद्यालय को इन व्यक्तियों के सामने आने वाली अनूठी चुनौतियों का सामना करने के लिए संरचित किया गया है, यह सुनिश्चित करते हुए कि शिक्षा एक विलासिता नहीं बल्कि सभी के लिए उपलब्ध एक मौलिक अधिकार है। समावेशिता विश्वविद्यालय के मिशन का एक मुख्य तत्व है, जिसका लक्ष्य एक ऐसा माहौल बनाना है जहाँ हर छात्र, अपनी शारीरिक या संज्ञानात्मक क्षमताओं के बावजूद, अकादमिक और व्यक्तिगत दोनों रूप से उत्कृष्टता प्राप्त कर सके। जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय का निर्माण दिव्यांग व्यक्तियों के अधि ाकारों, सम्मान और क्षमता की पुष्टि करने की दिशा में एक व्यापक सामाजिक आंदोलन का प्रतीक है – एक ऐसी स्वीकृति जिसने हाल के दिनों में महत्वपूर्ण गति प्राप्त की है। यह पत्र विशेष रूप से जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय में प्रदान की जाने वाली पुस्तकालय सेवाओं पर ध्यान केंद्रित करेगा, यह विश्लेषण करते हुए कि ये सेवाएँ विश्वविद्यालय के समावेशिता और सशक्तिकरण के मिशन के साथ कैसे संरेखित होती हैं और इसे बढ़ावा देती हैं यह सुलभ सामग्री, अनुकूली प्रौद्योगिकी और अनुकूलित सहायता की एक विस्तृत श्रृंखला प्रदान करता है, जिससे यह सुनिश्चित होता है कि सभी उपयोगकर्ता प्रभावशाली तरीकों से जानकारी से जुड़ सकें। इन पहलुओं की जांच करके, हम जेआरडीयू में दिव्यांग व्यक्तियों की शैक्षिक यात्रा पर पुस्तकालय के प्रभाव और समावेशी शिक्षा के क्षेत्र में पुस्तकालय सेवाओं के व्यापक निहितार्थों के बारे में गहरी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

साहित्यिक समीक्षा

Carolyne, Shikuku. (2024). "Equity and inclusivity in library services for people with disabilities during the COVID-19 pandemic" अध्ययन में दिव्यांगजनों के सामाजिक मॉडल द्वारा निर्देशित, कोविड–19 महामारी के दौरान दिव्यांग जनों (पीडब्ल्यूडी) को सेवाएं प्रदान करने में कैमोसी फ्रेंड्स यूनिवर्सिटी (केएएफयू) पुस्तकालय की तैयारी के स्तर की जांच करने पर ध्यान केंद्रित किया गया। इसका उद्देश्य दिव्यांग लोगों के लिए उपलब्ध सेवाओं के प्रकारों का पता लगाना, सेवाओं तक पहुँचने में उनके सामने आने वाले अवसरों और चुनौतियों की पहचान करना और सेवा प्रावधान में समानता और समावेशिता को बढ़ाने के लिए रणनीतियों का प्रस्ताव करना था। शोध में एक गुणात्मक शोध डिजाइन को अपनाया, जिसमें शारीरिक चुनौतियों, दृश्य और श्रवण दोष वाले उपयोगकर्ताओं के साथ–साथ उद्देश्यपूर्ण नमूने के माध्यम से सेवा प्रदाताओं को लक्षित किया गया। निष्कर्षों से पता चला कि पुस्तकालय में आवश्यक भौतिक सुविध ाओं, उपकरणों, संसाधनों के वैकल्पिक स्वरूपों और दिव्यांग लोगों की जरूरतों को पूरा करने के लिए विशेष कर्मचारियों की कमी थी, जो सेवा प्रावधान में बिनातैयारी का संकेत देता है। अध्ययन में दिव्यांग लोगों के लिए समान और समावेशी पुस्तकालय सेवाओं का समर्थन करने के लिए आवश्यक बुनियादी ढांचे की उपलब्धता सुनिश्चित करने के लिए एक मजबूत कानूनी और नीतिगत ढांचे को मजबूत करने पर जोर दिया गया।

Kirsty, Haberland, et al.(2023). "Providing the Right Support at the Right Time for People With Learning Disabilities: A Mixed-Methods Study to Identify Change Goals for a Demand,

Capacity and Flow Quality Improvement Project" शोध पत्र कोविड–19 महामारी के दौरान और बाद में एकीकृत सामुदायिक शिक्षण दिव्यांगता सेवा की मांग, क्षमता और प्रवाह का मूल्यांकन करने पर केंद्रित है, जिसका उद्देश्य सेवा प्रवाह और संतुष्टि में सुधार करना है। अध्ययन मिश्रित–पद्धति दृष्टिकोण का उपयोग करता है, जिसमें मात्रात्मक डेटा संग्रह को फोकस समूहों और सर्वेक्षणों के साथ जोड़ा जाता है, जिसमें शिक्षण दिव्यांगता सेवा के भीतर विभिन्न विषयों से सेवा उपयोगकर्ता, देखभालकर्ता और कर्मचारी शामिल होते हैं। अध्ययन के निष्कर्ष कोविड–19 के बाद सेवा की मांग में उल्लेखनीय वृद्धि को प्रकट करते हैं, जिसमें मनोचिकित्सा और व्यावसायिक चिकित्सा जैसे विषयों के लिए रेफरल में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

सेवा उपयोगकर्ताओं ने लंबे समय तक प्रतीक्षा करने की सूचना दी, जिसमें सीखने की दिव्यांगता टीम द्वारा देखे जाने के लिए कुछ महीनों या वर्षों तक प्रतीक्षा करनी पड़ी, जिससे बिगड़ती स्थितियों और संचार मुद्दों के बारे में चिंताएँ पैदा हुईं। कर्मचारियों ने अनावश्यक गिरावट को रोकने के लिए जल्द ही हस्तक्षेप करने की इच्छा व्यक्त की और सेवा के भीतर विभिन्न विषयों के बीच सहयोग बढ़ाने की आवश्यकता पर जोर दिया। मात्रात्मक और गुणात्मक दोनों डेटा के विश्लेषण के आधार पर, अध्ययन, पहचाने गए मुद्दों को संबोधित करने के लिए कई परिवर्तन विचारों का प्रस्ताव करता है, जैसे प्रतीक्षा सूची में रोगियों के साथ संचार में सुधार, कई विषयों के साथ संयुक्त मूल्यांकन का आयोजन, और एकीकृत स्वास्थ्य और सामाजिक देखभाल कर्तव्य प्रणाली के माध्यम से अधिक जरूरी केसवर्क आवंटित करना शामिल है।

Anne, Goralzik, et al. (2022). "Shared mobility services: an accessibility assessment from the perspective of people with disabilities" शोध पत्र दिव्यांग लोगों के लिए साझा गतिशीलता सेवाओं की पहुँच का आकलन करने पर केंद्रित है, जिसमें डिजाइन चरण में उनकी जरूरतों पर विचार करने के महत्व पर प्रकाश डाला गया है। इसमें राइड पूलिंग, माइक्रोट्रांजिट, मोटरबाइक टैक्सी, रोबोटैक्सिस, ई–स्कूटर शेयरिंग और बाइक शेयरिंग जैसी विभिन्न उभरती हुई साझा गतिशीलता सेवाओं पर दिव्यांग उपयोगकर्ताओं के विचारों पर चर्चा की गई है। अध्ययन दिव्यांग व्यक्तियों की पहुँच आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वाहनों और सेवा डिजाइन दोनों में सुधार की आवश्यकता पर जोर देता है, सुलभ गतिशीलता समाधान डिजाइन करने में नीति निर्माताओं के लिए सिफारिशें प्रदान करता है। इस पत्र में अनुसंधान डिजाइन सिद्धांतों, यूरोपीय संघ के सामान्य डेटा सुरक्षा विनियमन के अनुरूप डेटा प्रबंधन नीतियों और सूचित सहमति प्रक्रियाओं सहित नैतिक विचारों का भी उल्लेख किया गया है।

यह नवंबर 2020 से फरवरी 2021 तक डेटा संग्रह अवधि को रेखांकित करता है और साझा गतिशीलता सेवाओं की पहुँच पर दृष्टिकोण को व्यापक बनाने के लिए हल्के गतिशीलता हानि वाले लोगों को शामिल करने के लिए दूसरे सर्वेक्षण की योजनाओं का उल्लेख करता है। इसके अतिरिक्त, इस पत्र में उत्तरदाताओं की साझा गतिशीलता सेवाओं का उपयोग विभिन्न यात्रा उद्देश्यों जैसे आवागमन, शैक्षिक गतिविधियों, खरीदारी, नियुक्तियों और अवकाश के लिए करने की इच्छा पर चर्चा की गई है।

Mohammad, Nazim., et al. (2021). "Access to library facilities and services for users with disabilities: a study of Aligarh Muslim University in India" भारत में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में किए गए अध्ययन में दिव्यांग उपयोगकर्ताओं के लिए पुस्तकालय सेवाओं की सुविधा और पहुंच का आकलन करने पर ध्यान केंद्रित किया गया। पिछले शोध मेंदिव्यांग उपयोगकर्ताओं को सूचना और संसाधनों तक समान पहुंच सुनिश्चित करने के

लिए समावेशी पुस्तकालय सेवाएं प्रदान करने के महत्व पर प्रकाश डाला है। अमेरिकी दिव्यांग अधिनियम (ADA) और दिव्यांग व्यक्तियों के अधिकारों पर संयुक्त राष्ट्र सम्मेलन (UNCRPD) के अनुसार, शैक्षणिक संस्थानों के लिए दिव्यांग व्यक्तियों के लिए सुलभ सुविधाएं और सेवाएं प्रदान करना आवश्यक है

क्रिटजिंगर और वैन डेवेंटर (2016) द्वारा किए गए शोध ने दिव्यांग उपयोगकर्ताओं को प्रभावी ढंग से समायोजित करने के लिए पुस्तकालयों में बाधा–मुक्त वातावरण बनाने के महत्व पर जोर दिया। जैगर एट अल द्वारा किए गए अध्ययन। (2008) और पप्पानो (2015) ने दिखाया है कि पुस्तकालय सहायक प्रौद्योगिकी, अनुकूली उपकरण और कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्रदान करके दिव्यांग उपयोगकर्ताओं का समर्थन करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। पत्र में सुझाव देता है कि पुस्तकालय स्थानों में सार्वभौमिक डिजाइन सिद्धांतों को लागू करने से समावेशिता और पहुंच को बढ़ावा देकर दिव्यांगों सहित सभी उपयोगकर्ताओं को लाभ हो सकता है

इसके अतिरिक्त, थॉम्पसन और गिब (2009) द्वारा किए गए शोध में दिव्यांग व्यक्तियों के लिए सेवाओं को डिजाइन करते समय पुस्तकालयों के लिए उपयोगकर्ता–केंद्रित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता पर जोर दिया, जिसमें उनकी विशिष्ट आवश्यकताओं और प्राथमिकताओं को ध्यान में रखा गया है। कुल मिलाकर, मौजूदा साहित्य यह सुनिश्चित करने के महत्व को रेखांकित करता है कि पुस्तकालय की सुविधाएँ और सेवाएँ सुलभ, समावेशी और दिव्यांग उपयोगकर्ताओं की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए तैयार की गई हों।

Anna, Szopa., et al. (2019). "The Auto-Personalization Computing Project in Libraries" शोध पत्र पुस्तकालयों में कम्प्यूटर का उपयोग करते समय दिव्यांग लोगों के सामने आने वाली चुनौतियों को संबोधित करने पर केंद्रित है यह कम्प्यूटर पर पहुँच और उपयोगिता सुविधाओं की खोज के लिए आसान तरीकों की कमी को उजागर करता है, जिससे पुस्तकालय कर्मचारियों और संरक्षकों दोनों के लिए उन्हें प्रभावी ढंग से उपयोग करना मुश्किल हो जाता है अध्ययन मॉर्फिक नामक एक प्रोटोटाइप सॉफ्टवेयर सिस्टम के माध्यम से पुस्तकालयों में कम्प्यूटर के ऑटो–वैयक्तिकरण की अवधारणा को पेश करता है, जिसका उद्देश्य दिव्यांग व्यक्तियों के लिए पहुँच और उपयोगिता में सुधार करना है

यह पत्र पुस्तकालय प्रारूपण में मॉर्फिक जैसी ऑटो–वैयक्तिकरण प्रणालियों के संभावित प्रभाव को समझने के लिए शोध की आवश्यकता पर जोर देता है, जो इस विशिष्ट अनुप्रयोग के बारे में मौजूदा साहित्य में एक अंतर को दर्शाता है। दो अमेरिकी सार्वजनिक पुस्तकालयों में गुणात्मक शोध के माध्यम से, अध्ययन यह पता लगाता है कि ऑटो–वैयक्तिकरण सुविध ाओं के कार्यान्वयन से संरक्षकों को कैसे लाभ हो सकता है, कर्मचारियों के कार्यों को सुव्यवस्थित किया जा सकता है और समग्र पुस्तकालय प्रदर्शन को बढ़ाया जा सकता है।

जेआरडीयू में वर्तमान पुस्तकालय सेवाएँ

जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.) पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने वाली कई तरह की सेवाएँ देने के लिए समर्पित है। अपनी पहलों में, पुस्तकालय समावेशिता और पहुँच पर जोर देती है, यह सुनिश्चित करते हुए कि दिव्यांगों सहित सभी छात्र इसके संसाधनों और सुविधाओं का लाभ उठा सकें।

सुलभ डिजाइन– पुस्तकालय को विभिन्न प्रकार की दिव्यांगताओं को समायोजित करने के लिए सावधानीपूर्वक बनाया गया है। आसान नेविगेशन के लिए स्पर्शनीय संकेत और निर्दिष्ट बैठने के विकल्प जैसी सुविधाएँ भौतिक स्थान को बेहतर बनाती हैं, बाधाओं को कम करते हुए गतिशीलता सीमाओं, दृश्य हानि और अन्य दिव्यांगताओं वाले व्यक्तियों के लिए पहुँच

को सुविधाजनक बनाती हैं।

सहायक तकनीक– अपने उपयोगकर्ताओं की विविध आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए, पुस्तकालय अत्याधुनिक सहायक तकनीक से सुसज्जित है। इसमें दृश्य हानि वाले उपयोगकर्ताओं के लिए स्क्रीन रीडर, बढ़े हुए पाठ की आवश्यकता वाले लोगों के लिए आवर्धक उपकरण और अनुकूली सॉफ्टवेयर जैसे उपकरण शामिल हैं जो छात्रों को डिजिटल सामग्री तक अधिक प्रभावी ढंग से जुड़ने की अनुमति देते हैं। इन तकनीकों को शामिल करके, पुस्तकालय सुनिश्चित करती है कि सभी उपयोगकर्ता उपलब्ध सूचना संसाधनों के साथ बातचीत कर सकें।

अनुकूलित संग्रह– यह स्वीकारते हुए कि सुलभता में केवल भौतिक सुविधाएँ ही शामिल नहीं हैं, पुस्तकालय ने विशेष संग्रह विकसित किए हैं जो विभिन्न सुलभ स्वरूपों में सामग्री प्रदान करते हैं। इन संग्रहों में दृष्टिहीन पाठकों के लिए ब्रेल पुस्तकें, श्रवण सामग्री पसंद करने वालों के लिए ऑडियोबुक और समायोज्य पाठ आकार की अनुमति देने वाली ई–पुस्तकें शामिल हैं, जो उपयोगकर्ताओं को उनकी व्यक्तिगत प्राथमिकताओं और आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उनके पढ़ने के अनुभव को सक्षम बनाती हैं।

कार्यशालाएँ और प्रशिक्षण– पुस्तकालय संसाधन प्रदान करने से परे कार्यशालाओं और प्रशिक्षण सत्रों के माध्यम से कौशल विकास को भी प्रोत्साहित करता है। ये कार्यक्रम विशेष रूप से दिव्यांग छात्रों के बीच सूचना साक्षरता और प्रौद्योगिकी कौशल को बढ़ाने के लिए डिजाइन किए गए हैं। अनुकूलित शैक्षिक अवसर प्रदान करके, पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं को डिजिटल वातावरण में नेविगेट करने, आवश्यक जानकारी खोजने और पुस्तकालय सेवाओं का अधिकतम लाभ उठाने में स क्षम बनाता है।

प्रमुख चुनौतियां

जागरूकता– छात्र पुस्तकालय में उपलब्ध संसाधनों और सेवाओं के उपयोग के बारे में नहीं जानते हैं। ज्ञान की यह कमी उन्हें सुविधाओं का पूरी तरह से उपयोग करने से रोक सकती है, अंततः उनके शैक्षणिक अनुभव के लिए ठीक नहीं होगी है और मूल्यवान सहायता तक पहुँच को सीमित कर सकती है।

स्टाफ विकास– सभी उपयोगकर्ताओं की विविध आवश्यकताओं को प्रभावी ढंग से संबोधित करने के लिए, पुस्तकालय कर्मचारियों के लिए निरंतर प्रशिक्षण प्राप्त करना महत्वपूर्ण है। दिव्यांग छात्रों की अनूठी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए कर्मचारियों को आवश्यक ज्ञान और कौशलयुक्त करना महत्वपूर्ण है। स्टाफ प्रशिक्षण पहल में सुधार से सेवा वितरण में वृद्धि हो सकती है और अधिक समावेशी पुस्तकालय वातावरण को बढ़ावा मिल सकता है।

वित्तीय मुद्दे: वित्तीय सीमाएँ पुस्तकालय के लिए एक और बाधा प्रस्तुत करती हैं। अपर्याप्त फंडिंग उन्नत सहायक तकनीकों को प्राप्त करने और वर्तमान सेवाओं को बनाए रखने के प्रयासों में अवरोध डाल सकती है। पर्याप्त वित्तीय संसाधनों के बिना, पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं की उभरती जरूरतों के अनुकूल होने और व्यापक पहुँच सुनिश्चित करने के लिए अपनी सेवाओं को व्यापक बनाने के लिए संघर्ष कर सकता है।

संक्षेप में, जबकि जेआरडीयू पुस्तकालय पहुंच और समावेशिता को बढ़ाने के उद्देश्य से सेवाओं की एक व्यापक श्रृंखला प्रदान करता है, इन चुनौतियों का समाधान करना महत्वपूर्ण है ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि सभी छात्र पुस्तक. ालय के मूल्यवान संसाधनों और सहायता प्रणालियों से पूरी तरह से लाभान्वित हो सकें।

विचार

जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.) की पुस्तकालय दिव्यांग छात्रों को उनकी शैक्षणिक यात्रा में सशक्त बनाने में महत्वपूर्ण और विविध भूमिका निभाती है। मुख्य रूप से, यह विभिन्न शैक्षणिक संसाधनों – जैसे कि किता. बें, पत्रिकाएँ और डिजिटल डेटाबेस – के लिए एक आवश्यक प्रवेश द्वार के रूप में कार्य करता है, जो शोध और अध्ययन के लिए मौलिक हैं। ये संसाधन दिव्यांग छात्रों को अपने शैक्षणिक प्रयासों में स्वयं को प्रेरित करने, ज्ञान की खोज को बढ़ावा देने और अपने संबंधित क्षेत्रों में उनके योगदान को बढ़ावा देने में सक्षम बनाते हैं।

महत्वपूर्ण जानकारी तक पहुँच प्रदान करने के अलावा, पुस्तकालय दिव्यांग छात्रों के बीच समुदाय की भावना को महत्वपूर्ण रूप से पोषित करती है। यह इन व्यक्तियों के लिए जुड़ने, अपने अनुभव साझा करने और एक–दूसरे के साथ संबंध बनाने के लिए एक सभा स्थल के रूप में कार्य करता है। जब दिव्यांग छात्र अपने शैक्षिक वातावरण में स्वीकार किए जाते हैं और उनका समर्थन किया जाता है, तो वे सफलता प्राप्त करने, चुनौतियों को स्वीकार करने और अपने अधिकारों और आवश्यकताओं की वकालत करने के लिए अधिक इच्छुक होते हैं।

हालांकि, जैसा कि इस पत्र में बताया गया है, JRDU में दिव्यांग छात्रों को सेवा वितरण बढ़ाने के लिए उल्लेखनीय चुनौतियाँ हैं जिनका समाधान किया जाना आव''यक है। एक प्रमुख चिंता पुस्तकालय कर्मचारियों और व्यापक विश्वविद्यालय समुदाय के बीच इन छात्रों की विशिष्ट आवश्यकताओं के बारे में जागरूकता का स्तर है। जागरूकता में सुधार से बेहतर सहायता प्रणाली और अनुकूलित सेवाएं मिल सकती हैं जो दिव्यांग व्यक्तियों द्वारा सामना की जाने वाली विशिष्ट चुनौतियों को पूरा करती हैं। इसके अलावा, दिव्यांग छात्रों की प्रभावी रूप से सहायता करने के लिए आवश्यक कौशल और ज्ञान के साथ पुस्तकालय कर्मचारियों को लैस करने के लिए प्रशिक्षण अनिवार्य है। इस क्षेत्र में कर्मचारियों की दक्षताओं को बढ़ाकर, पुस्तकालय दिव्यांग छात्रों के लिए अधिक प्रभावी संसाधन और सहायता प्रदान कर सकता है, यह सुनिश्चित करते हुए कि वे शैक्षणिक समुदाय के भीतर स्वागत और सराहना महसूस करें। निष्कर्षतः जबकि जेआरडीयू में पुस्तकालय संसाधन पहुंच और समुदाय–निर्माण प्रयासों के माध्यम से दिव्यांगता सशक्तिकरण को सुविधाजनक बनाने में महत्वपूर्ण है, इसे जागरूकता और प्रशिक्षण से संबंधित चुनौतियों पर काबू पाने पर भी ध्यान केंद्रित करना चाहिए।

शोध प्रविधि

प्रस्तुत शोध पत्र में वि''वविद्यालय पुस्तकालय में संसाधन एवं सेवाओं के बारे में पता लगाने और उपयोग के बारे में जानने का प्रयास किया गया है। वि''वविद्यालय के अधिकतर उपयोगकर्ता शारीरिक रूप से दिव्यांग है जिनमें विभिन्न श्रेणी के है जिनमें अस्थि बाधिता, मूक बधिर,दृष्टि बाधिता और श्रवण बाधिता आदि है। शोध हेतु आंकड़े संग्रहण में समस्याओं को ध्यान में रखते हुए उनके लिए संरचित प्र''नावली और अनुसूची का निर्माण किया गया था। जहां पुस्तकालयाध्यक्ष एवं कार्यरत ि''क्षकों को प्र''नावली वितरित किया गया था। पुस्तकालय दिव्यांग उपयोगकर्ता छात्रों की समस्या को समझते हुए उनसे व्यक्तिगत रूप से साक्षात्कार कर अनुसूची पत्रक को पूरा किया गया। वितरित पत्रों में से ि''क्षकों से 19 और छात्रों से 91 सहित 110 प्रत्युत्तर प्राप्त हुए। प्राप्त आंकड़ों का एक्सेल शीट में प्रविष्टि कर सारणीयन व ग्राफिक चित्रण कर आंकड़ों का वि''लेषण किया गया है।

आंकड़ों का सारणीयन एवं विश्लेशण

जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.) में दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं से प्राप्त आंकड़ों का

निम्नानुसार सारणीयन किया गया है–

दिव्यांगता की श्रेणी के अनुसार पुस्तकालय उपयोगकर्ता

स्त्रोतः प्राथमिक आंकड़े

कमांक	श्रेणी	छात्र	शिक्षक	योग	प्रतिशत
1	दृष्टि बाधिता	11	1	12	11%
2	मूक बाधिता	8	0	8	7%
3	श्रवण बाधिता	10	0	10	10%
4	अस्थि बाधिता	62	18	80	72%
	कुल योग	**91**	**19**	**110**	**100%**

सचित्र प्रदर्शनः दिव्यांगता की श्रेणी के अनुसार पुस्तकालय उपयोगकर्ता

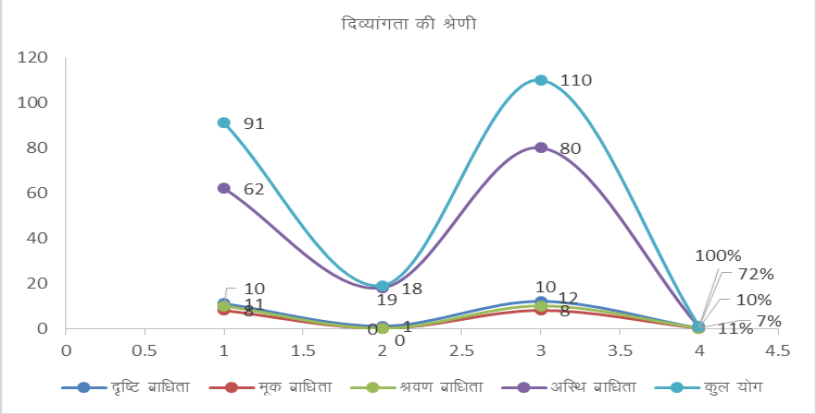

सारणी कमांक 1 के अनुसार दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ता की विभिन्न श्रेणी अनुसार वर्गीकरण किया गया है जिनमें दृष्टि बाधित उपयोगकर्ता छात्रों की संख्या 11 और शिक्षक 1 अर्थात कुल 12 (11%) रहा है, मूक बाधित में केवल 8 छात्र जिनका 7% है, श्रवण से बाधित उपयोक्ता में 10 छात्र अर्थात् 10%, अस्थि बाधिता में छात्रों की संख्या 62 और शिक्षक 18 जिनमें कुल 80 (72%) उपयोगकर्ता पाये गये।

विभिन्न आयु वर्ग के दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ता

स्त्रोतः प्राथमिक आंकडे

कमांक	श्रेणी	छात्र	शिक्षक	योग	प्रतिशत
1	20-25	53	0	53	48%
2	26-30	32	0	32	30%
3	31-35	6	0	6	5%
4	36-40	0	7	7	6%
5	41-50	0	9	9	8%
6	51-60	0	3	3	3%
	कुल योग	**91**	**19**	**110**	**100%**

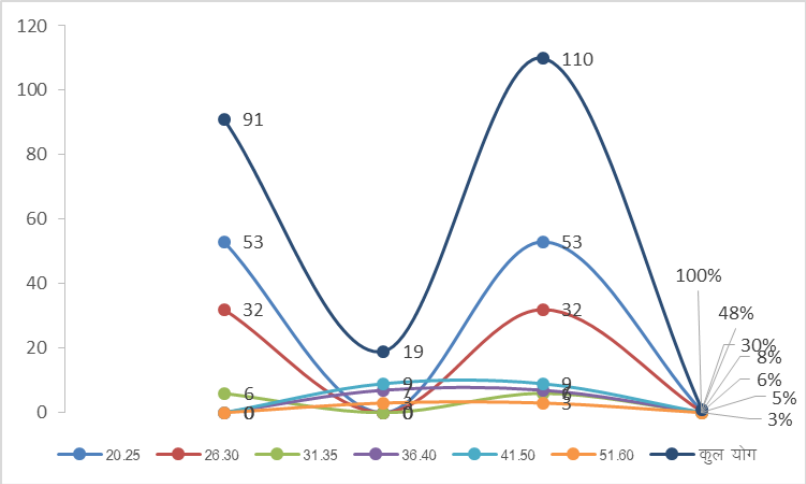

सचित्र प्रदर्शनः विभिन्न आयु वर्ग के दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ता

सारणी कमांक 2 में विभिन्न आयु वर्ग के अनुसार पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं को स्पष्ट किया गया जिनमें 20–25 आयु वर्ग के 53 (48%), 26–30 आयु वर्ग के छात्र 32 (30%), 31–35 आयु वर्ग के 6(6%), 36–35 आयु वर्ग के छात्र शून्य और शिक्षक 7(6%), 41–50 आयु वर्ग के छात्र शून्य, शिक्षक 9(8%), 51–60 आयु वर्ग के छात्र शून्य एवं शिक्षक 3(3%) पाया गया।

दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वारा सूचना स्त्रोतों का उपयोग

कमांक	सूचना स्त्रोत	छात्र	शिक्षक	योग	प्रतिशत
1	पुस्तकें	87	20	107	21%
2	पत्रिकांए	71	17	88	18%
3	शोध पत्रिका	15	17	32	6%
4	प्रश्न पत्र	42	10	52	10%
5	समाचार पत्र	74	19	93	19%
6	शोध ग्रंथ	19	10	29	7%
7	शोध प्रबंध	2	5	7	1%
8	मानचित्र	8	3	11	2%
9	विश्वकोष	3	6	9	2%
10	शब्दकोष	46	6	52	10%
11	निर्देशिका	13	4	17	3%
12	अन्य/ब्रेल लिपि	5	1	6	1%
	कुल योग	**385**	**118**	**503**	**100%**

स्त्रोतः प्राथमिक आंकडे

सचित्र प्रदर्शनः दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वारा सूचना स्त्रोतों का उपयोग

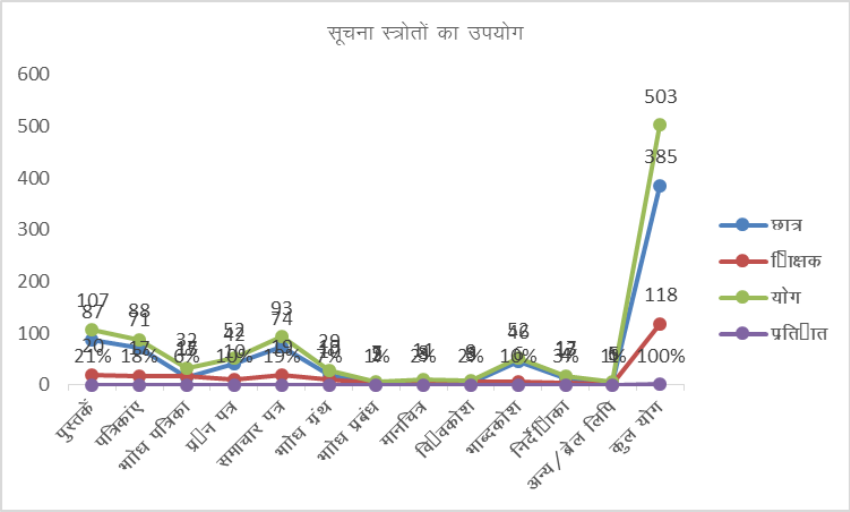

सारणी कमांक 3 में दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वारा सूचना स्त्रोतों का उपयोग के मामले में पुस्तकें उपयोग करने वाले छात्र 87 शिक्षक 20 कुल 107(21%), पत्रिका उपयोग करने वाले छात्र 71 शिक्षक 17 कुल 88 (18%), शोध पत्रिका में छात्र 15 शिक्षक 17 कुल 32 (6%), प्रश्न पत्र छात्र 42 शिक्षक 10 कुल 52 (10%), समाचार के लिए छात्र 74 शिक्षक 19 कुल 93(19%), शोध ग्रंथ के मामले में छात्र 19 शिक्षक 10 कुल 29 (7%), शोध प्रबंध हेतु छात्र 2 शिक्षक 5 कुल 7(1%), मानचित्र में छात्र 8 शिक्षक 3 कुल 11(2%), वि"वकोष उपयोग करने वाले छात्र 3 शिक्षक 6 कुल 9 (2%), शब्दकोष के लिए छात्र 46 शिक्षक 6 कुल 52 (10%), निर्देशिका उपयोग के लिए छात्र 13 शिक्षक 4 कुल 17(3%), अन्य सूचना स्त्रोत के रूप में ब्रेल लिपि उपलब्ध है जिनके उपयोगकर्ता छात्र 5 और शिक्षक 1 कुल 6(1%) है।

4 दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वार सूचना सेवाओं का उपयोग

कमांक	सूचना सेवांए	छात्र	शिक्षक	योग	प्रतिशत
1	संदर्भ सेवा	59	14	73	17%
2	प्रलेखन	30	4	34	9%
3	ग्रंथसूची	15	9	24	6%
4	अनुक्रमणिकरण	8	2	10	3%
5	सारकरण	6	5	11	3%
6	अनुवाद	29	5	34	9%
7	अंतःग्रंथालय ऋण	10	0	10	3%
8	फोटोकॉपी	59	14	73	17%
9	चयनात्मक सूचना सेवा	7	4	11	3%
10	सामयिक चेतना सेवा	36	5	41	10%
11	न्यूज पेपर कटिंग	68	10	78	20%
	कुल योग	**327**	**72**	**399**	**100%**

स्त्रोतः प्राथमिक आंकडे

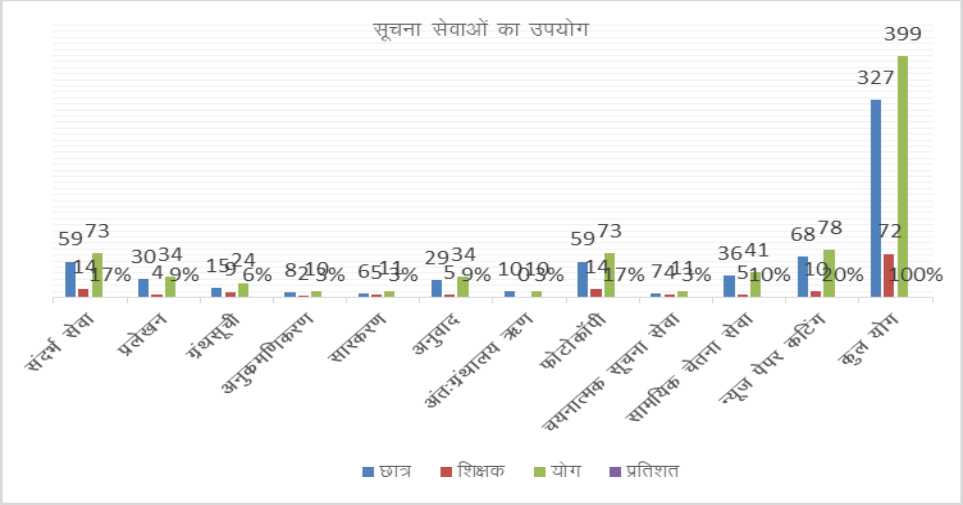

सचित्र प्रदर्शनः दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वार सूचना सेवाओं का उपयोग

सारणी कमांक 4 दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वार सूचना सेवाओं का उपयोग के संबंध में 399 उत्तरदाता में संदर्भ सेवा उपयोग करने वाले छात्र 59 शिक्षक 14 कुल 73 (17%), प्रलेखन में छात्र 30 शिक्षक 4 कुल 34 (9%), ग्रंथ. ासूची के लिए छात्र 15 शिक्षक 9 कुल 24(6%), अनुक्रमणिकरण सेवा में छात्र 8 शिक्षक 2 कुल 10 (3%), सारकरण छात्र 6 शिक्षक 5 कुल 11(3%), अनुवाद में छात्र 29 शिक्षक 5 कुल 34(9%), अंतः ग्रंथालय ऋण छात्र 10 शिक्षक शून्य कुल 10(3%), फोटोकॉपी सेवा उपयोगकर्ता छात्र 59 शिक्षक 14 कुल 73(17%), चयनात्मक सूचना सेवा के मामले में छात्र 7 शिक्षक 4 कुल 11(3%), सामयिक चेतना सेवा में छात्र 36 शिक्षक 5 कुल 41(10%), न्यूज पेपर कटिंग सेवा का उपयोग करने वाले छात्र 68 शिक्षक 78 कुल 78(20%) पाया गया है।

निष्कर्ष

जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय में दिव्यांग छात्रों को सशक्त बनाने पर पुस्तकालय सेवाओं का प्रभाव महत्वपूर्ण है। समावेशी दृढ़ता को बढ़ावा देने और वर्तमान चुनौतियों से निपटने के साथ, पुस्तकालय अपने संरक्षकों के शैि क्षक और व्यक्तिगत विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है। यह अध्ययन दिव्यांग व्यक्तियों की उभरती आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पुस्तकालय सेवाओं के निरंतर मूल्यांकन और वृद्धि के महत्व पर प्रकाश डालता है, जो अंततः एक अधिक समावेशी समाज में योगदान देता है। दिव्यांगता की श्रेणी के अनुसार पुस्तकालय उपयोगकर्ता को देखे तो चार प्रकार के दिव्यांग उपयोगकर्ताओं अध्ययन में पाये गये हैं जिनमें अस्थि बाधित दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ता 72% है और सर्वाधिक कम मूक बधिर जोकि 7% पाया गया है। विभिन्न आयु वर्ग के दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ता में 20–25 आयु वर्ग के ज्यादा पाये गये है जो 48% है। दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वारा सूचना स्त्रोतों का उपयोग के मामले में सर्वाधिक 21% पुस्तकें उपयोग करने वाले हैं, अखबार पढ़ने वाले 19% और सबसे अधिक ब्रेल लिपि के उपयोग करने वाले 1% पाये गये। दिव्यांग पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं द्वार सूचना सेवाओं का उपयोग करने में सर्वाधिक 17% संदर्भ सेवा और फोटोकॉपी सेवा का उपयोग करते पाये गये है। इस प्रकार से देखें तो दिव्यांगों के लिए पुस्तकालय में संसाधनों की उपलब्धता है और सेवाओं में वृद्धि की ओर ध्यान देना आव"यक है ताकि संसाधना और सेवाओं का उपयोग निरंतर होता रहे और वि"वविद्यालय दिव्यांग पुस्तकालय अपने उद्दे"यों को प्राप्त करने में सफल सिद्ध हो सके।

सुझाव

जगद्गुरु रामभद्राचार्य दिव्यांग विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ.प्र.) पुस्तकालय संसाधन और सेवाओं में वृद्धि करने के लिए कुछ सुझाव दिये जा सकते हैं जिनमें से प्रमुख निम्न है–

जागरूकता पहल– जागरूकता बढ़ाने के उद्देश्य से नियमित पहल से छात्रों को उपलब्ध संसाधनों के बारे में सूचित कर सकते है, जिससे दिव्यांग उपयोगकर्ताओं को ज्ञात होने पर इस ओर रूझान बढ़ेगा, जिससे उनका उपयोग बढ़ सकता है।

उपयोगकर्ता प्रतिक्रिया प्रणाली– दिव्यांग छात्रों से निरंतर इनपुट व आउटपुट लेकर उनसे प्रतिक्रिया प्राप्त किया जास सकता है जिससे उनके पसंद–नापसंद के बारे में पता चलेगा है और पुस्तकालय सेवाओं को बेहतर बनाने में सहायता मिल सकती है।

कर्मचारी विकास कार्यक्रम– अधिक समावेशी पुस्तकालय वातावरण बनाने के लिए दिव्यांगता जागरूकता और सहायक प्रौद्योगिकियों पर कर्मचारियों के प्रशिक्षण में सुधार करना आवश्यक है।

बढ़ी हुई निधि– दिव्यांग छात्रों के लिए अनुकूलित पुस्तकालय सेवाओं को बढ़ाने और व्यापक बनाने के लिए अतिरिक्त वित्तीय संसाधनों की आवश्यक पर ध्यान दिया जाना चाहिए है।

संदर्भ स्त्रोत–

1. American Library Association (ALA). (2020). Library Services for Individuals with Disabilities: A Policy Perspective.
2. Gorman, G. E. (2018). The Role of Libraries in Accessibility and Inclusion. Journal of Library Administration, 58(4), 323-339.
3. Hall, S. (2016). Empowerment through Inclusive Education. Disability and Society, 31(2), 242-256.
4. Minor, M. (2019). Assistive Technologies in Libraries: Bridging Gaps for Disabled Students. Library and Information Science Research, 41(1), 14-21.
5. Smith, J. (2021). Best Practices for Library Services to Disabled Users. Journal of Academic Librarianship, 47(3), 102-109.
6. Carolyne, Shikuku. (2024). Equity and inclusivity in library services for people with disabilities during the COVID-19 pandemic. doi: 10.61735/pa3qxq35
7. Kirsty, Haberland., Catriona, Chaplin., Ian, P., Hall., Laura, Checkley. (2023). Providing the Right Support at the Right Time for People With Learning Disabilities: A Mixed-Methods Study to Identify Change Goals for a Demand, Capacity and Flow Quality Improvement Project. British Journal of Psychiatry Open, doi: 10.1192/bjo.2023.89
8. Anne, Goralzik., Alexandra, König., Laura, Alciauskaite., Tally, Hatzakis. (2022). Shared mobility services: an accessibility assessment from the perspective of people with disabilities. European Transport Research Review, 14(1) doi: 10.1186/s12544-022-00559-w
9. Mohammad, Nazim., Areeba, Beg., Mayukh, K., Sarkar. (2021). Access to library facilities and services for users with disabilities: a study of Aligarh Muslim University in India. Journal of Access Services, 18 (1):30-49. doi: 10.1080/15367967.2020.1870120
10. Anna, Szopa., J., Bern, Jordan., David, J., Folmar., Gregg, C., Vanderheiden. (2019). The Auto-Personalization Computing Project in Libraries.. 802-812. doi: 10.1007/978-3-030-19135-1_78

****

सार्वजनिक पुस्तकालय : सामाजिक परिवर्तन और विकास के उत्प्रेरक

- तृप्ति ताम्रकर

शोधार्थी

ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग,

मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर , छत्तीसगढ

-डॉ.कल्पना चंद्राकार,

शोध निर्देशक एवं विभागाध्यक्ष,

ग्रंथालय एवं सूचना विज्ञान विभाग,

मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर , छत्तीसगढ,

सार :– सार्वजनिक पुस्तकालय को समाज के विकास तथा शिक्षा को बढ़ावा देने का श्रेय जाता है। सार्वजनिक पुस्तकालयों को समाज के विकास का दर्पण कहा जाये तो कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। समाज के विकास का आकलन वहां रहने वाले शिक्षित व्यक्तियों से किया जा सकता है। शिक्षा हि देश व समाज की नींव होती है और यह समाज को विकास व उन्नति की ओर अग्रसर करने में सहायक होते है। सार्वजनिक पुस्तकालय शिक्षा के स्तर को उच्च करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते है। शैक्षणिक पुस्तकालय उस संबधिंत शिक्षण संस्थान से जुड़े हुए उपयोगकर्ताओं के लिये होता है, विशिष्ट पुस्तकालय किसी एक विषय विशेष से संबधिंत होते है जबकि सार्वजनिक पुस्तकालय समाज के प्रत्येक व्यक्ति, जाती व आयु वर्ग के समस्त उपयोगकर्ताओं के लिये होते है। प्रस्तुत अध्ययन में सार्वजनिक पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं के लिये क्यों उपयोगी है तथा उनका पुस्तकालय आने का उद्देश्य क्या है, इस पर विचार प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस हेतु सार्वजनिक पुस्तकालयों के उपयोगकर्ताओं से प्रत्यक्ष साक्षात्कार किया गया, उनके विचारों के आधार पर यह अध्ययन प्रस्तुत है।

भाब्द कूंजी – सार्वजनिक पुस्तकालय, समाज, शिक्षा , विकास, उपयोगकर्ता, सूचना।

1 प्रस्तावना :–

विभिन्न जातियों, आयु वर्गों व समूहों के लोगों से मिलकर बना एक विशाल समूह को समाज कहा जाता है। जिसके सभी व्यक्ति, मानवीय क्रियाओं को प्रतिदिन संपन्न करते है। इन क्रियाओं में व्यक्ति का आचरण, दैनिक क्रियाओं का निर्वहन, शिक्षा , सूरक्षा आदि क्रियाएँ सम्मिलित होती है। समाज का विकास व उन्नति का आकलन समाज में रहने वाले व्यक्तियों से किया जाता है। समाज को आगे बढ़ने के लिए शिक्षा आवश्यक है क्योंकि शि क्षा ही समाज आगे बढ़ने का मार्गदर्शन प्रशस्त करती है। शिक्षा से व्यक्तियों में सही सोचने–समझने की क्रिया विकसित होती है। समाज के व्यक्तियों को सही व उचित दिशा प्रदान करने का कार्य शिक्षा के माध्यम से ही किया जा सकता है।

शिक्षा को उच्च स्तर पर पहुँचाने में पुस्तकालय की भूमिका को स्पष्ट तौर पर देखा जाता है। पुस्तकालय व्यक्तियों को ज्ञानार्जन के लिए प्रेरित करता है। उन्हें समाज से जोड़ने का प्रयत्न करता है। सार्वजनिक पुस्तक. ालय समाज का एक महत्वपूर्ण अंग है, जो समाज को विकास की ओर अग्रसर करने में पूर्णतः से सहयोग करता है। समाज का विकास शिक्षा से संबंधित होता है और शिक्षा का संबंध पुस्तकालय से होता है। पुस्तकालय तीन प्रकार के होते है :– (1) शैक्षणिक (2) विशिष्ट (3) सार्वजनिक पुस्तकालय। शैक्षणिक पुस्तकालय केवल किसी एक विषय–विशेष से संबधिंत उपयोगकर्ताओं को सेवाएं प्रदान करते है, परंतु सार्वजनिक पुस्तकालय जो नाम से ही स्पष्ट है, सर्व जनों का पुस्तकालय। यह पुस्तकालय समाज में रहने वाले सभी आयु वर्ग, जाति वर्ग व लिंग के समस्त व्यक्तियों को सेवा प्रदान करने हेतु खुला होता है। यहाँ किसी भी विषय में संबंधित, किसी भी संस्थान से संबंधित कोई भी उपयोगकर्ता पुस्तकालय की सेवाएं प्राप्त कर सकता है। बिना किसी भेदभाव के ये अपनी सेवा देने हेतु तत्पर रहते है। सार्वजनिक पुस्तकालय अपने समाज के व्यक्तियों में चेतना का विकास, उनके ज्ञान में वृद्धि व उनके बौद्धिक क्षमता को बढ़ाते है। जिसमें वे समाज को उन्नति व विकास की ओर बढ़ा सकें।

2. साहित्य समीक्षा :–

सन् 2015 में M. Wilkins Jorden ने सार्वजनिक पुस्तकालय के प्रबंधकों में सामान्य रूप से पाये जाने वाले दक्षताओं की पहचान हेतु एक अध्ययन किया गया। इस अध्ययन का उद्देश्य सार्वजनिक पुस्तक. ालय के प्रबंधकों के दक्षताओं को चिन्हित करना है। इस हेतु एक सर्वेक्षण किया गया, जिसमें प्रबंधकों के अनुरोध को सार्वजनिक लिस्टसर्व में पोस्ट किया गया। प्रतिभागियों से उन कार्यों के संबंध में प्रश्न किया गया जो वे नियमित रूप से करते है। जिससे प्रबंधकों में महत्वपूर्ण कौ''ाल की पहचान की जा सकें। उन्हें दक्षताओं की एक

सूची प्रदान कि गई और उनसे आग्रह किया गया कि वर्तमान व भविष्य में सार्वजनिक पुस्तकालय के प्रबंधकों हेतु सबसे महत्वपूर्ण दक्षता को चिन्हाकित करें।

सन् 2016 में C. Hvenegaard Rasmussen ने सार्वजनिक पुस्तकालयों के उपयोगकर्ताओं के सैद्धांतिक व व्यवहारिक पहलुओं का संपूर्ण विश्लेषण किया है। सार्वजनिक पुस्तकालय में उपयोगकर्ताओं की भागीदारी को समझने हेतु सैद्धांतिक व व्यवहारिक दृष्टिकोणों के उदाहरणों का उपयोग किया गया है। पुस्तकालय एवं सूचना विज्ञान के अलावा अनुसंधान क्षेत्रों ने उपयोगकर्ताओं की भागीदारी पर सैद्धांतिक दृष्टिकोण की एक विकसित क्षृखंला विकसित की है। उपयोगकर्ताओं की भागीदारी को गहनता से समझने हेतु सांस्कृतिक नीति, संग्रहालय अध्ययन तथा सहभागी संस्कृति के उदाहरणों को चयनित किया गया। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि सक्रिय भागीदारी के छह रूप है – स्वंय सेवी कार्यक्रम, इंटरेक्टिव प्रर्द''ान, कार्य''ालायें, सह–निर्माण, उपयोगकर्ता संच. ालित नवाचार तथा बुक–क्लब।

सन् 2022 में C. U. Peter ने नाईजीरिया के एसएमई हेतु व्यवसायिक सूचना स्त्रोत के रूप में सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिये सूचना खोज व्यवहार हेतु विल्सन के सिध्दांत के प्रयोग पर विस्तृत चर्चा की है। सार्वजनिक पुस्तकालय छोटे पैमाने के व्यवसायिक उद्गमों की वृद्धि व सफलता का एक महत्वपूर्ण कारक बन गया है। यह अध्ययन साहित्य समिक्षा के माध्यम से विल्सन के सिध्दांत की पड़ताल करता है।

3. पुस्तकालय और समाज :–

पुस्तकालय को समाज की आधारशीला कहना गलत नहीं होगा। यह एक गतिशील संस्थानों की तरह अनवरत रूप से कार्य करती है। सार्वजनिक पुस्तकालय के महत्व को पुस्तकों का भंडार करने से अत्यधिक बहुक्रियात्मक केन्द्र के रूप में प्राप्त किया गया है। सार्वजनिक पुस्तकालय समाज में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन किया है। सार्वजनिक पुस्तकालय समाज के विकास में किस प्रकार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है उसे हम निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट कर सकते है –

3.1सूचना व ज्ञान तक सरल पहुंच :– सार्वजनिक पुस्तकालय सूचना का एक महत्वपूर्ण केन्द्र होता है। ये पुस्तकालय वि''वसनीय सूचना स्त्रोतों को संकलित कर व्यवस्थित करता है, और उन्हें अपने उपयोगकर्ताओं के लिए प्रसारित करता है।

3.2जीवनपर्यन्त सीखने का केन्द्र :– मनुष्य की प्रवृत्ति जिज्ञासु होती है। वह नये–नये ज्ञान की खोज में हमेशा प्रयासरत होता है। मनुष्य केवल औपचारिक शिक्षा में ही संतुष्ट नहीं रहता, अपितु वह आजीवन नये–नये ज्ञान व खोज को प्राप्त करने के लिए तत्पर होता है। सार्वजनिक पुस्तकालय मनुष्य की इस मुलभूत तथ्य को पहचानतें है और उपयोगकर्ताओं के इस जिज्ञासु व्यवहार को संतुष्ट करने हेतु जीवन पर्यन्त सीखने केन्द्र के रूप में अनवरत कार्य करते है। इससे उनके उपयोगकर्ताओं के ज्ञान कौशल, भाषा कौशल व तकनीकी कौशल में वृद्धि होती है। सार्वजनिक पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं के सीखने की इच्छा को बढ़ावा देते है, जिससे वे समाज विकास में सहायक हो।

3.3सांस्कृतिक विकास :– सार्वजनिक पुस्तकालय सांस्कृतिक धरोहार को समाज के लिए संग्रहित करके र खते है। जिससे आने वाली पीढ़िया हमारी प्राचीन सांस्कृतिक धरोहरों को देखने से व उसके बारे में जानने से अनभिज्ञ न हों। सांस्कृतिक धरोहर समाज की एक ऐसी अमूल्य धरोहर होती है। जिसके खो जाने या नष्ट हो जाने से समाज को बहुत नुकसान होता है।

3.4सामाजिक जनसम्पर्क :– सार्वजनिक पुस्तकालय केवल पुस्तकों को संग्रहित करके रखने वाली संस्था नहीं है, अपितु यह एक सामाजिक जन–सम्पर्क केन्द्र भी है, जो एक सामाज के लोगों को एक–दूसरे से जोड़ता है। सार्वजनिक पुस्तकालय समाज को एकजुटता प्रदान करता है। यह व्यक्तियों में जन–सम्पर्क स्थापित करने वाले केन्द्र का कार्य करता है।

3.5डिजिटल निकटता :– आज का युग डिजिटल युग है। इस युग में डिजिटल जुड़ाव कितना महत्वपूर्ण है, यह सब जानते है। सार्वजनिक पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं को डिजिटल सुविधाएँ प्रदान करते है। (जैसे–कम्प्यूटर, वाई–फाई व इन्टरनेट) जिससे समाज के प्रत्येक सदस्य डिजिटल संसाधनों का उपयोग करने का अवसर प्राप्त करें। डिजिटल संसाधनों का उपयोग कर उपयोगकर्ता अपनी सूचना आव''यकता की पूर्ति व ज्ञान में वृद्धि कर सकें।

3.6शिक्षा हेतु अभिप्रेरणा :– सार्वजनिक पुस्तकालय शिक्षा तंत्र का एक महत्वपूर्ण अंग है। सार्वजनिक पुस्तकालय सभी उम्र के, सभी जातियों के तथा सभी वर्गो के लोगों को शिक्षा के लिए प्रेरित करते है।

सार्वजनिक पुस्तकालय औपचारिक शिक्षा के लिए पूरक का कार्य करते है। ये शिक्षा व ज्ञान प्राप्त करने में आ रही बाधाओं को दूर करता है। युवाओं में सीखने व पढ़ने के प्रति रूचि विकसित करता है।

3.7उद्यमिता व अर्थव्यवस्था :– पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं की उद्यमशीलता में वृद्धि करता है। किसी भी व्यवसाय या संसाधन को शुरू करने से पहले उससे संबंधित सूचनाओं का ज्ञात होना अत्यंत आवश्यक होता है और ये सारी सूचनाएं उसे पुस्तकालय में सरलता से प्राप्त हो जाती है। इससे उनकी उद्यमशीलता को और अधिक अभिप्रेरणा मिलती है। उद्यमिता को जब बढ़ावा मिलता है। उससें गति आती है जिससे समाज की अर्थव्यवस्था पर एक सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

3.8विविधता में एकता :– सार्वजनिक पुस्तकालय विविधता में एकता का प्रतिक है। यह पुस्तकालय बहुतायत जनसंख्या क्षेत्र को बिना किसी भेदभाव के सेवाएं प्रदान करते है। इस पुस्तकालय में समाज के सभी जाति, आयु वर्ग व सभी लिंग के लोगों को अनवरत सेवाएं प्रदान की जाती है।

3.9बौद्धिक स्वतंत्रता :– सार्वजनिक पुस्तकालय समाज के लोगों को सेवाएं देने हेतु बौद्धिक स्वतंत्रता से संबधित सिद्धांतो का पालन करते है। पुस्तकालय में विभिन्न विषय से संबंधित विभिन्न आयु वर्ग से सं. बंधित उपयोगकर्ता आतें है। उनके विचार, उनकी सूचना आव''यकता तथा उनका दृष्टिकोण अलग होता है। जिसे पुस्तकालय द्वारा भली–भांति समझकर उन्हें उनकी आव''यकता पूर्ण करने की पूरी स्व. तंत्रता दी जाती है। पुस्तकालय ऐसे माहौल की संरचना करता है जो उन्हें नये – नये ज्ञान प्राप्त करने की जिज्ञासा को जगाता है।

3.10समय का सदुपयोग :– समय प्रत्येक व्यक्ति के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। सभी व्यक्तियों को अपने समय का सदुपयोग करना चाहिए। अपने खाली समय में व्यक्ति पुस्तकालय आकर अपने ज्ञान में वृद्धि कर अपने समय का सदुपयोग कर सकतें है। अपने मनोरंजन हेतु भी व्यक्ति पुस्तकालय में आकर किताबें पढ़कर अपने समय का सही सदुपयोग कर मनोरंजन के साथ अपने ज्ञान में वृद्धि करते है।

4. पुस्तकालय और शिक्षा :–

सार्वजनिक पुस्तकालय को हमेशा से ही शिक्षा का पूरक माना गया है। शिक्षा में पुस्तकालय की बहुआयामी भूमिका होती है। पुस्तकालय का समाज के सभी व्यक्तियों में व स्वयं समाज के विकास में महत्वपूर्ण योगदान होता है। सार्वजनिक पुस्तकालय और शिक्षा दोनो पूरक है। इसे हम निम्न बिन्दुओं से स्पष्ट कर सकतें है –

4.1 **ज्ञान का भंडार** :– पुस्तकालय एक ज्ञान का भण्डार कहलाता है। पुस्तकालय विभिन्न विषयों से संबंधित पुस्तकें, पत्र– पत्रिकाएं, संदर्भ ग्रंथों को संग्रहित करके रखता है। इनके व्यापक संग्रहण के साथ ही साथ डिजिटल संसाधनों को भी संग्रहित करते है। जिसका उपयोग कर उपयोगकर्ता अपने ज्ञानार्जन व विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

4.2 **पाठ्यचर्चा का सामूहिक केन्द्र** :– पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं को अपने विषय से संबंधित पाठ्य सामग्रियों, अध्ययन विषयों के बारे में आपसी विचार–विमर्श का एक उपयुक्त वातावरण प्रदान करता है। पुस्तकालय में उपयुक्त रूप से पाठ्य सामग्रियों के संग्रहण से उपयोगकर्ता के अध्ययन व उनके पाठ्यक्रम के विकास में महत्वपूर्ण योगदान प्राप्त होता है। पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं को पाठ्यक्रम संबंधी दृष्टिकोण को व्यापकता प्रदान करता है।

4.3 सूचना साक्षरता :– वर्तमान युग डिजिटल युग है। इस युग में सूचनाएं इतनी अधिक मात्रा में उपलब्ध होता है, जिससे उपयोगकर्ता के लिए सही सूचना के चयन में कठिनाई उत्पन्न होती है। असीमित सूचनाओं में से विश्वसनीय सूचना स्त्रोतों को नेवीगेट करने तथा उसका आकलन व मूल्यांकन करना एक विशेष कौ''ाल होता है। सूचनाओं के इस विस्फोटक वातावरण में सूचना साक्षरता अत्यंत आवश्यक है। इस आवश्यकता को पुस्तकालय द्व ारा पूर्ण किया जाता है। पुस्तकालय सूचना साक्षरता से संबंधित प्रशिक्षण प्रदान करता है। जिसके माध्यम से उपयोगकर्ता सही व विश्वसनीय सूचना तक पहुंच सके। उचित रूप से संदर्भो को उद्धृत कर सकें।

4.4 अनुसंधान व नवीन ज्ञान :– पुस्तकालय सदैव नवीन ज्ञान व अनुसंधान को बढ़ावा देने का कार्य करतें है। अनुसंधान में पुस्तकालय एक अपरिहार्य अंग के रूप में कार्य करता है। पुस्तकालय विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं डाटाबेस व नवीन सूचना संसाधनों तक उपयोगकर्ताओं को पहुंच प्रदान करता है। अनुसंधानकर्ता सदैव अपने शोध विषय से संबंधित मूल सूचना हेतु पुस्तकालय के माध्यम से अपने शोध विषय से संबंधित संपूर्ण सूचना एकत्रित कर अपने शोध क्षेत्र में आगे बढ़ता है।

4.5 समानता को प्रबलता :– पुस्तकालय में सबको समानता की दृष्टि से देखा जाता है। पुस्तकालय के प्रत्येक उपयोगकर्ताओं को समान रूप से सभी सूचना सामग्री व सेवाओं का लाभ प्राप्त होता है। सार्वजनिक पुस्तकालय में व्यक्ति की सामाजिक व आर्थिक स्थिति को नहीं देखा जाता, यहां इन अंतरो को मिटाया जाता है, जिससे सभी व्यक्तियों में समानता बनी रहती है। इससे सभी को सीखने व आगे बढ़ने का समान अवसर प्राप्त होता रहे। सार्वजनिक पुस्तकालय सामावे"ाता के सिद्धांत का पालन करते है।

5. सार्वजनिक पुस्तकालय द्वारा दि जाने वाली सेवाएं :–

विभिन्न सार्वजनिक पुस्तकालयों के उपयोगकर्ताओं से विचार–विमर्श कर हमें ज्ञात हुआ कि ये पुस्तक. ालय निम्न सेवाएं या सुविधाएं अपने उपयोगकर्ताओं को प्रदान करते है –

5.1 पाठ्य सामग्री :– सार्वजनिक पुस्तकालय समाज के सभी लोगों के लिये होती है। ये अपने समस्त उपयोगकर्ताओं की सूचना आव"यकता को ध्यान में रखते हुए उनके लिये पाठ्य सामग्री का संग्रहण करते है। संग्रहित पाठ्य सामाग्री का वे उपयोग करके अपने ज्ञान व बौद्धिक क्षमता में वृद्धि कर सकें।

अद्यतन बनायें रखना :– सार्वजनिक पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं को अद्यतन बनायें रखने के लिये दैनिक अखबार, पत्र–पत्रिकाएं, विभिन्न विषयों से संबधिंत विषयक पत्रिकाएं उपलब्ध करवाते है। इसके माध्यम से उपयोगकर्ता दैनिक जीवन में घटित हो रही घटनाओं (चाहे सामाजिक क्षेत्र की हो या आर्थिक क्षेत्र की या फिर राजनैतिक क्षेत्र से हों) से अनभिज्ञ न हों। आज के युग में प्रत्येक व्यक्ति को अद्यतन रहना अत्यंत आवश्यक है।

उपयोगकर्ताओं की सूचना आवश्यकता की पूर्ति :– सार्वजनिक पुस्तकालय का सबसे महत्वपूर्ण कार्य या उत्तरदायित्व अपने उपयोगकर्ताओं की सूचना आव"यकता की पुर्ति करना है। पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं की सूचना आवश्यकता व उसकी रुचि को ज्ञात करता है और उनके द्वारा चाही गई सूचना उपलब्ध करवाता है। उपयोगकर्ता की सूचना आव"यकता के आधार पर पुस्तकालय अपने पठन सामग्री का संग्रहण करते है।

शिक्षा हेतु अनुकुल वातावरण :– सार्वजनिक पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं को पढ़ने व अपने अध्ययन क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये अनुकुल वातावरण प्रदान करता है। इससे उपयोगकर्ता अपने अध्ययन में रुचि व एकाग्रता का अनुभव करते है। अनुकुल वातावरण से वे अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल होते है।

उपयोगकर्ताओं हेतु अभिप्रेरक संगोष्ठियां :– सार्वजनिक पुस्तकालय उपयोगकर्ताओं को उनके विषय क्षेत्र में आगे बढ़ने के लिये विभिन्न अभिप्रेरणादायक संगोष्ठियों का आयोजन भी करते है। इस प्रकार के आयोजनों के माध्यम से उपयोगकर्ता अपने अध्ययन को सही दिशा प्रदान करने की प्रेरणा लेकर सफलता की ऊचांई

पर पहुंचने का प्रयास करते है।

कम्प्यूटर व इन्टरनेट :– वर्तमान युग और कम्प्यूटर दोनों एक दूसरे के अनुयायी है। आज के युग में कम्प्यूटर के बिना कोई भी कार्य की कल्पना करना कठिन है। पुस्तकालय अपने उपयोगकर्ताओं को कम्प्यूटर की सुविधा उपलब्ध करवाते है, जिससे वे आसानी से अपनी सूचना तक पहुंच सकते है। कम्प्यूटर के साथ हि साथ इन्टरनेट व वाय–फाय की सेवाएं भी दि जाती है। इसके माध्यम से उपयोगकर्ता को एक स्थान पर एक हि समय में विश्व के किसी भी प्रकार की सूचना कुछ ही क्षणों में प्राप्त हो जाती है।

6. सार्वजनिक पुस्तकालय और समाज विकास :–

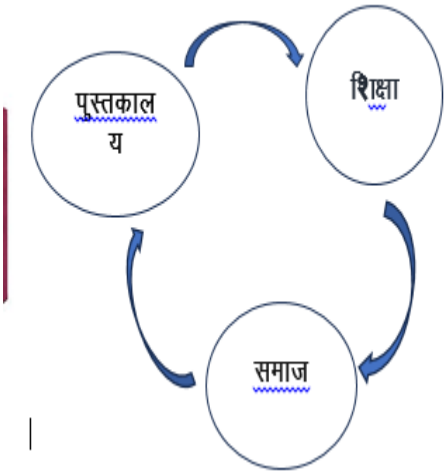

समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्तियों को समानता का अधिकार होता है। लोकतांत्रिक समाज समता को सर्वोपरि महत्व देता है। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी भेदभाव के शिक्षा व विकास प्राप्त होना चाहिए। यह कार्य सार्वजनिक पुस्तकालय द्वारा किया जाता है। सार्वजनिक पुस्तकालय पुस्तकों, पत्र–पत्रिकाओं व सूचनाओं का संग्रहण उपयोगकर्ताओं के उपयोग के लिये करते है। पुस्तकालय बिना किसी भेदभाव के उपयोगकर्ताओं को सेवाएं प्रसारित करते है। समाज परिवर्तनशील है और इस परिवर्तनशील युग में सूचनाओं का दिन प्रतिदिन विस्फोट होता जा रहा है। पुस्तकालय प्राचिन सूचनाओं को भी उतना हि महत्व देता है जितना नविन सूचनाओं को महत्व देता है। सूचना संग्रहण व उसे अद्यतन बनाये रखने के साथ हि साथ पुस्तकालय सूचना सेवाओं में नयी नयी तकनिकों का उपयोग कर तथा उसके माध्यम से सूचना सेवा में वृद्धि लाकर परिवर्तन के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। पुस्तकालय आधुनिक समाज की आधारशिला होती है।

7. निष्कर्ष :–

प्रस्तुत अध्ययन से ज्ञात होता है कि सार्वजनिक पुस्तकालय समाज की एक आधारशीला होती है। सार्वजनिक पुस्तकालय शिक्षा को गति प्रदान करते है, शिक्षा समाज को विकास की ओर लेकर जाती है। यह प्रक्रिया अनवरत चलायमान होती है। पुस्तकालय द्वारा प्रदान की जा रही सेवाओं से समाज के लोग लाभान्वित होकर समाज के विकास में अपना योगदान दे रहे हैं। समाज के लोगों की बुद्धिमता व योग्यता में वृद्धि से

समाज को एक नई व विकसित दिशा मिलती है। समाज को उचित दृष्टिकोण प्राप्त होता है। पुस्तकालय समानता को बढ़ावा देता है। जिससे समाज में समानता की दृष्टिकोण को प्रबलता मिलती है। समाज शिक्षित होगा तो उसको विकास की ओर बढ़ने से कोई नहीं रोक सकता। शिक्षा में पुस्तकालय की भूमिका केवल एक कार्य तक सीमित नहीं रहती बल्कि यह नविन ज्ञान व सीखने की प्रवृति को बढ़ाने का कार्य भी करती है। पुस्तकालय बौद्धिक व शैक्षणिक दोनों प्रकार की गतिविधियों के विकास के लिये एक अभिप्रेरक तत्व का कार्य करती है। ये शिक्षा व ज्ञान का संचालन कर समाज के विकास को गति प्रदान करता है। शिक्षा में पुस्तक. ालय का स्थान व समाज में ज्ञान प्राप्ति का प्रमुख साधन के रूप में पुस्तकालय का एक अलग महत्व है। इसलिये हि सार्वजनिक पुस्तकालयों को समाज विकास का दर्पण के रूप में देखा जा सकता है।

संदर्भ ग्रंथ :–

Peter, U.C. and others. "Application of Wilson's Theory of Information Seeking Behaviour to public library as a source of Business Information for SMEs in Nigeria." Library Philosophy and Practice (e). 2022

Horsfall, Millie N. " Information Need and Seeking behaviour of Library And Information Science : students of River state University in Digital age." International journal of information processing and comunication. 8.1 (2020) : pp 26-34.

Hvenegaard Rasmussen, C. " The participatory public library : the Nordic experience." New Library World. 117.9/10 (2016) : pp546-556.

Wilkins Jordan, M. "Competencies for public library managers : deversity in practice." Library Management. 36.6/7 (2015) : pp462-475.

Ruthven, Joan. " The Information seeking behaviour of online public library clients : a conceptual model." The Australian Library Journal. 59.1-2 (2010) : pp30-45.
https://doi.org/10.1108/LR-01-2016-0008
https://irjlis.com/wp-content

https://digitalcommons.unl.edu/libphilprac/2967/
Webster, F. (1995). Theories of the Information Society. London : Routtedge.

****

पर्यावरण चेतना के विकास में 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका का योगदान

–रूचि कुमारी
शोधार्थी,
भारतीय भाषा विभाग,
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया बिहार

प्रोफेसर, सुरेश चन्द्र,
शोध निर्देशक
भारतीय भाषा विभाग,
दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गया बिहार

सरांष : पत्रिका में तत्कालीन मुद्दों को उठाया जाता है। यह मूलतः साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, त्रैमासिक, छमाही एवं वार्षिक पत्रिका के रूप में प्रकाशित होती है। विषय केन्द्रित पत्रिका बहुत कम प्रकाशित होती हैं। उसमें से भी कुछ ही पत्रिका ऐसी हैं जो लम्बे समय तक प्रकाशित होती हैं। पत्रिकाओं के बारे में कहा जाता है कि इनमें शिशु मृत्यु दर की संख्या अधिक होती है, अर्थात लम्बे समय तक नहीं चल पाती हैं। यदि ऐसी स्थिति में भी कोई पत्रिका चल रही है तो यह सराहनीय कार्य है। ऐसी ही एक पत्रिका 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका है, जो निरन्तर पर्यावरण चेतना के प्रति लोगों में सुचारू रूप से जागरूकता उत्पन्न करती है। यह पत्रिका पर्यावरण में घ ाटित अतीत की घटनाओं का आकलन कर वर्तमान एवं भविष्य को सुरक्षित करने की दिशा प्रदान करती है। इस पत्रिका के प्रत्येक अंक में लोगों के लिए प्रेरणादायक साहित्य प्रकाशित होता है। इसमें पर्यावरण संरक्षण के बीज मंत्र को भी बताया गया है और सभी धर्म में किस प्रकार पर्यावरण की महत्ता है उसे भी दर्शाया गया है। पर्यावरण संरक्षण का दायित्व सिर्फ संस्थान, आंदोलन आदि का नहीं है, बल्कि हम सब का दायित्व है। 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका ने इस दायित्व को निभाते हुए तीन दशक पूरे कर लिए हैं। 'पर्यावरण दिवस' सार्थक तभी होगी जब इस पर अमल किया जाएगा। सिर्फ दिवस मनाने या एक दिन के प्रयास से नहीं होगा। लेखकों को पर्यावरण की दशा एवं दृष्टि पर ध्यान देना होगा। पर्यावरण चेतना के विकास में केवल 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका ही नहीं बल्कि अनेक पत्रिका का योगदान है, किन्तु पत्रिकाओं के क्षेत्र में इसकी पहल 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका ने की।

कुंजीभूत शब्द –पर्यावरण, बीज मंत्र, सराहनीय, समीचीन, अभिसिंचित, त्राहि–त्राहि, पत्रिका, विकास।

पर्यावरण पूरी तरह से मानव जीवन से जुड़ा है। पर्यावरण के बढ़ते प्रदूषण को देख कर कई रचनाकारों ने इस ओर ध्यान आकृर्षित किए है। जिनमें से ही एक सुसान बांकिगघाम है। सुसान बांकिगघाम अपनी ग्रंथ ''अंडरस्टैंडिंग एनवायरनमेंट इ''यूज'' में लिखते है कि ''पर्यावरण की समस्या आने वाले समय में सारे विष्व के लिए एक चुनौती बनकर उभर रही है, इस पर हमें सोचने की आवष्यकता है।'' इसी प्रकार कई पर्यावरण प्रेमी रचनाकारों ने अलग – अलग माध्यम द्वारा पर्यावरण की संरक्षण की बात की है, जिनमें से एक माध्यम पत्रिका भी है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में अन्य गद्य विधाएँ में हिन्दी पत्रिका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। हिन्दी पत्रिका का इतिहास 19वीं सदी से माना जाता है। आरम्भ में पत्रिका समाविष्ट होती थी, लेकिन समकालीन दौर में विषय केन्द्रित पत्रिका निकलने लगी। पर्यावरण प्रदूषण को ध्यान में रखते हुए पर्यावरण केन्द्रित पत्रिका का उदय हुआ। जिसका नाम 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका है। इसका प्रकाशन जनवरी, 1987 ई. से मासिक पत्रिका के रूप में मध्य प्रदेश के रतलाम शहर से प्रारंभ हुआ। इसके संपादक डॉ. खुशालसिंह पुरोहित है। इस पत्रिका की विशेषता यह है कि पर्यावरण पत्रिका के इतिहास में इनका नाम अग्रनीय है। पत्रिका की पहचान सरल शब्दों में अपनी बातों को रखने में है, जिससे कोई भी व्यक्ति आसानी से समझ पाए। मानव और पर्यावरण के संबंध को जोड़ते हुए पर्यावरण के सुरक्षा के प्रति मानव को जागरूक करती है। पत्रिका की शिशु मृत्यु दर ज्यादा होती है, किन्तु 'पर्यावरण डाइजेस्ट' आरम्भ से लेकर अब तक निरन्तर प्रकाशित हो रही है। तत्कालीन समय में पूरे

विश्व में पर्यावरण प्रदूषण चिंता का विषय बना हुआ है। पर्यावरण प्रदूषण केवल मानव के लिए ही नहीं अपितु सभी जीव–जन्तु के लिए खतरा का विषय है। इस बात का प्रमाण प्राचीन समय में पाए जाने वाले विभिन्न प्राजातियों का विलुप्त होना है। प्रदूषण की वजह से काफी तेजी से प्रकृति का संतुलन बिगड़ रहा है। भारत के लोगों में पर्यावरण चेतना सदियों पुरानी है। प्राचीन काल में पर्यावरण संरक्षण को प्राथमिकता दी जाती थी। जिसका उल्लेख सभी धार्मिक ग्रंथ में देखने को मिलता हैं। प्रो. वीरसागर जैन 'धर्म और पर्यावरण' शीर्षक लेख में सभी धर्म में पर्यावरण चेतना उपलब्ध है, को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

''विविध धर्म–दर्षनों के यथा षक्ति किए गए अध्ययन के आधार पर मैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि सभी धर्मों में पर्याप्त मात्रा में पर्यावरण–चेतना पाई जाती है। सभी दर्शनों और धर्मों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार से पर्यावरण–संरक्षण का उपदेष दिया है। जैसे– वेदों में जल, अग्नि, वायु, वनस्पति, सूर्य, चन्द्र आदि को देवता मानकर उनकी उपासना की बाती की गई है इत्यादि।''

धर्म के नाम पर कुछ लोग पर्यावरण को प्रदूषित किए जा रहे है। उदाहरणतः तीर्थयात्रा, पूजा–पाठ, यज्ञ आदि ये अनुष्ठान पर्यावरण के शुद्धि के लिए थे किन्तु कुछ अज्ञान लोगों के कारण यह प्रदूषण का कारण बन गया। लोगों में धर्म के नाम पर अन्ध विश्वास हटाकर के उसे धर्म ग्रन्थों की समीचीन शिक्षा द्वारा रोकना होगा। लोगों को धार्मिक ग्रंथों के माध्यम से पर्यावरण चेतना की बात को समझाते हुए उनमें जागरूकता उत्पन्न करनी होगी। दुनियाँ भर में पर्यावरण संरक्षण के मुद्दे सरकारी एवं गैर–सरकारी स्तर पर पर्यावरण चेतना जगाई जा रही है।

डॉ. खुशालसिंह पुरोहित लिखते हैं–

''पर्यावरण संरक्षण के उपायों की जानकारी हर स्तर तथा हर उम्र के व्यक्ति के लिए आवष्यक है। पर्यावरण संरक्षण की चेतना की सार्थकता तभी हो सकती है, जब हम अपनी नदियाँ, पर्वत, पेड़, पषु–पक्षी, प्राणवायु और हमारी धरती को बचा सके। इसके लिए सामान्यजन को अपने आस–पास हवा–पानी, वनस्पति जगत और प्रकृति उन्मुख जीवन के क्रियाकलापों जैसे पर्यावरणीय मुद्दों से परिचित कराया जाए।''

पर्यावरण चेतना के विकास में 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका का महत्त्वपूर्ण योगदान है। 'पर्यावरण डाइजेस्ट' केवल पत्रिका ही नहीं बल्कि लोगों में पर्यावरण चेतना जागरूक करने का एक सशक्त माध्यम है। पत्रिका में मृत्यु दर अधिक होने के बावजूद यह आरम्भ से लेकर अब तक निरंतर प्रकाशित हो रही है और इन्हें अब तक प्रकाशित होने का श्रेय पर्यावरण प्रेमी को जाता है। यह पत्रिका किसी आंदोलन या संस्थान से नहीं जुड़ी बल्कि हमेशा से ही प्रतिबद्धता लोगों के प्रति रही है। क्रांतिकुमार वैद्य 'पर्यावरण चेतना के संकल्प के तीन दशक' शीर्षक लेख में इस बात को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं–

''म.प्र. के रतलाम शहर से सन् 1987 में ट्रेंडल मशीनी पर मुद्रण से लेकर वर्तमान में ऑफसेट पर बहुरंगी आवरण सहित मुद्रण और इंटरनेट संस्करण तक की यात्रा में पत्रिका में पर्यावरण से जुड़े विभिन्न विषयों पर राष्ट्रीय/अन्तराष्ट्रीय लेखकों, पत्रकारों सामाजिक कार्यकर्ताओं और विचारकों के लगभग चार हजार से अधिक लेख प्रकाषित हुए हैं। इनमें पर्यावरण से जुड़ी ज्वलंत राष्ट्रीय समस्याओं, पर्यावरण और विकास, रचनात्मक प्रयास, प्रदूषण, पर्यावरणीय प्रभाव मूल्यांकन, जलवायु परिवर्तन, जैव विविधता प्रबंधन और वन संरक्षण जैसे सैकड़ों विषय षामिल हैं।''

वर्तमान समय में पर्यावरण के प्रति संवेदना लोगों में कम दे खने को मिलते है, जिसके वजह से पर्यावरण के लिए खतरा तेजी से उत्पन्न हो रही है। 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका इन खतरों से लोगों को अवगत कराते हुए पर्यावरण चेतना जागृत करने में अग्रणीय रही है। डॉ. खुशालसिंह पुरोहित ''पृथ्वी दिवस सार्थक कैसे हो?'' शीर्षक में कवि द्वारा पर्यावरण चेतना के लिए प्रेरणादायी विचार प्रकट करते हुए लिखते है–

''आकाश में बाँह फैलाये,
धरती पर पैर जमाये,
आदमी का होना,
सिर्फ उसका होना नहीं है।
भीतर बाहर के,
हवा, पानी आकाश, मिट्टी,
और वे भी।
जब नहीं रहेंगे
बाहर हवा, पानी, आकाश,

तब आदमी कहाँ होगा?
पर्यावरण की रक्षा,
अपने होने की रक्षा है।''

मानव जीवन का पर्यावरण के विभिन्न अंगों से सीधा संबंध है जैसे – वायु, वृक्ष एवं जल आदि। 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका की विशेषता यह है कि लोगों में पर्यावरण चेतना जागृत करने में सक्षम है। पर्यावरण संरक्षण का बीजमंत्र बताते हुए डॉ. सुनील कुमार अग्रवाल लिखते हैं –

''जो तुम्हें पाना है उसे बोना आरंभ कर दें, यही तो बीज मंत्र है पर्यावरण संरक्षण का आज हम जिन पेड़ों के फल खा रहे है क्या हमने इन्हें लगाया था? यह पेड़ हमारे पुर खों द्वारा बीजरोपित किये गए, उनके द्वारा ही अभिसिचिंत किए गए और संभाले गए। हम तो उनके प्रयास को ही प्रसाद के रूप में पा रहे हैं।''

लेखक उदाहरण के माध्यम से लोगों में पर्यावरण चेतना जागृत करना चाहते है। जिससे आने वाली पीढ़ी भी इसे भोग सके। अन्यथा धीरे–धीरे संसाधन समाप्त हो जायेंगे। पर्यावरण संरक्षण के बीज मंत्र को भी ध्यान में रखते हुए पर्यावरण एवं मानव के बीच तालमेल की आवश्कता है। रवि कुमार गोंड पर्यावरण जागरूकता का अलख जगाते हुए लिखते है कि धरती कष्ट से त्राहि–त्राहि कर रही है, इस कष्ट को खत्म करने के लिए धरती पर वृक्षारोपण की आवश्कता है–

''धरती पीड़ा से भरी, उसके कष्ट अनेक, वृक्षारोपण कार्य है, समाधान बस एक।''

पर्यावरण चेतना में पत्रिका का योगदान बहुत कम देखने को मिलता है। कई पत्रिका पर्यावरण विशेषांक निकालते है तो कुछ मासिक, अर्द्धवार्षिक एवं वार्षिक। कुछ ही पत्रिका ऐसी है जो पर्यावरण केन्द्रित है, जिसकी पहल 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका ने की। पर्यावरण चेतना का स्वर अभी भी बहुत कम लोगों में जागृत हुई है। पर्यावरण को क्षति पहुँचा कर क्या हम लोग सुरक्षित रह सकते है? जीवन रहेगा तभी तो सारी सुख–सुविधाएँ भोग पाऐंगे। तब जाकर किसी विमर्श का अस्तित्व रहेगा जैसे – स्त्री विमर्श, आदिवासी विमर्श, दलित विमर्श, वृद्ध विमर्श आदि। यह तभी सार्थक होगा, जब पर्यावरण विमर्श सार्थक हो। इसके लिए सभी को आगे बढ़ना होगा। हम सभी आपस में मिलकर ही इस विपत्ती से निकल सकते है। पर्यावरण चेतना में पत्रिका महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है। अतः पर्यावरण चेतना के विकास में 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका का अहम योगदान है।

निष्कर्ष – पर्यावरण के संरक्षण के लिए कई तरीके से प्रयास किये जा रहे है, उनमें से ही एक पर्यावरण संबंधित पत्रिका भी है। पर्यावरण केन्द्रित पहली पत्रिका 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका है, जो हिन्दी भाषा से प्रकाशित होती है। यह पत्रिका लोगों में पर्यावरण के संरक्षण के प्रति चेतना जागृत करती है। इस पत्रिका के बाद कई पर्यावरण केद्रित पत्रिका प्रकाशित हुई। अतः यह कहा जा सकता है कि पर्यावरण चेतना के विकास में 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका का योगदान है।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. सुसान बकिंघम, अंडरस्टैंडिंग एनवायरनमेंट इश्यूज, सेज प्रकाशन, नई दिल्ली, मई 2008, प्रथम संस्करण, पृष्ठ संख्या – 38

2- 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका, (संपादक) डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, समन्वय प्रकाशन, रतलाम, नवंबर 2019, धर्म और पर्यावरण, प्रो. वीरसागर जैन, पृष्ठ संख्या – 40

3- 'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका, (संपादक) डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, समन्वय प्रकाशन, रतलाम, जून 2015, पर्यावरण संर क्षण : हम सबका दायित्व, डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, पृष्ठ सं ख्या – 15

4.'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका, (संपादक) डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, समन्वय प्रकाशन, रतलाम, मई 2017, पर्यावरण चेतना के संकल्प के तीन दशक, क्रांतिकुमार वैद्य, पृष्ठ सं ख्या – 4

5.'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका, (संपादक) डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, समन्वय प्रकाशन, रतलाम, मई 2018, पृथ्वी दिवस सार्थक कैसे हो? डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, पृष्ठ संख्या – 34

6.'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका, (संपादक) डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, समन्वय प्रकाशन, रतलाम, नवंबर 2012, पर्यावरण संरक्षण का बीजमंत्र, डॉ. सुनील कुमार अग्रवाल, पृष्ठ संख्या – 15

7.'पर्यावरण डाइजेस्ट' पत्रिका, (संपादक) डॉ. खुशालसिंह पुरोहित, समन्वय प्रकाशन, रतलाम, जून 2013, पर्यावरण ले खन : दशा और दृष्टि, रवि कुमार गोंड, पृष्ठ संख्या – 18

****

शिक्षा के नए आयाम: भारतीय भाषा दर्शन और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020

-रौशन सिंह
शोध छात्र
दर्शन एवं संस्कृति विभाग
संस्कृति विद्यापीठ
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

सारांश

भारतीय भाषा दर्शन एक ऐसा आदर्श है जो हमें भारतीय भाषाओं के सांस्कृतिक, धार्मिक और सामाजिक महत्व को समझने की दिशा प्रदान करता है। यह दर्शन हमें यह बताता है कि भारतीय भाषाएँ केवल भाषा के रूप में नहीं, बल्कि भारतीय सांस्कृतिक और राष्ट्रीय अनुभूति के एक महत्वपूर्ण हिस्से के रूप में भी महत्वपूर्ण हैं। इस शोध पत्र के माध्यम से हम भारतीय भाषा दर्शन का तत्त्वान्वेषण करेंगे और यह देखेंगे कि इसे भारतीय राष्ट्रीय शिक्षा नीति में कैसे शामिल किया जा सकता है। भारतीय भाषा दर्शन एक महत्वपूर्ण विषय है जिसका एक प्रमुख उद्देश्य भारतीय भाषाओं के तत्त्वों, भावनाओं और संस्कृति के अध्ययन के माध्यम से राष्ट्रीयता को समझना भी है। भारत एक विविधता से परिपूर्ण देश है, जहाँ अनेक भाषाएँ, संस्कृतियाँ और सम्प्रदाय हमें एक साथ जीने की शिक्षा देते हैं। इस विविधता में, भारतीय भाषा दर्शन एक महत्वपूर्ण अध्ययन है जो हमें भाषाओं की महत्वपूर्ण भूमिका, संरचना और महत्व को समझाता है।

दर्शन और भाषा का संबंध बड़ा ही घनिष्ठ है। वैसे तो भाषा सभी ज्ञानात्मक अन्वेषणों का अनिवार्य साधन है क्योंकि सभी अन्वेषणों के निष्कर्ष भाषा द्वारा ही व्यक्त किए जाते हैं। यही कारण है कि ज्ञान की सभी शाखाएँ अपने लिए अनुकूल, अपने विषय के प्रतिपादन के लिए सक्षम भाषा बना लेती हैं। दर्शन के साथ भी यह सत्य है। किन्तु दर्शन के लिए भाषा साधन मात्र नहीं है। दर्शन संप्रत्ययों का अध्ययन करता है और संप्रत्यय भाषा में ही व्यक्त होते हैं। अपनी भाषीय अभिव्यक्ति के अतिरिक्त वे हमारी पकड़ में नहीं आ सकते क्योंकि वे कोई स्थूल या सूक्ष्म, भौतिक या मानसिक, पदार्थ नहीं हैं। किसी भी प्रकार के सूक्ष्म से सूक्ष्म, निरीक्षण या प्रयोग द्वारा हम विश्व के किसी कौने में बैठे उन्हें नहीं पा सकते क्योंकि वे इस तरह से पाए जा सकने वाले पदार्थ हैं ही नहीं। भारत में अनेक भाषाएं हैं, जो सांस्कृतिक और भौगोलिक परिपेक्ष्य में विभिन्नता प्रदान करती हैं। भारतीय भाषा दर्शन इस विविधता को समझने का माध्यम है और भाषाओं के इस संघर्ष को उचित संरक्षण और समाहित करने का प्रयास करता है। भारतीय भाषा दर्शन में, भाषाओं के आधार पर सांस्कृतिक एकता की भावना को समझा जाता है। यह हमें बताता है कि भारतीय भाषाएं केवल भाषा का साधन नहीं हैं, बल्कि उनमें विशेष संस्कृति और भावनाएं भी निहित हैं जो हमें सांस्कृतिक एकता की ओर ले जाती हैं। राष्ट्रीय शिक्षा नीति भारतीय भाषाओं के संरक्षण और प्रोत्साहन को उचित मानती है। भारतीय भाषा दर्शन इस उद्देश्य को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नई शिक्षा नीति 2020 ने भारतीय भाषा दर्शन को समर्पित संस्थानों के लिए विशेष ध्यान देने का निर्देश दिया हैं।

सार बिन्दु :- तत्त्वान्वेषण, राष्ट्रीयता, संप्रत्ययों, संस्कृति, नीति
भारतीय भाषा दर्शन और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020

दर्शन की अन्य शाखाओं की तरह भाषा दर्शन भी एक प्रकार से संप्रत्ययात्मक अन्वेषण है। दार्शनिक विश्लेषण किसी भी महत्त्वपूर्ण संप्रत्यय या संप्रत्ययों के समूह को अपना विषय बना सकता है। भाषा हमारे सामाजिक जीवन का एक आवश्यक अंग है। इसके प्रयोग के बिना सामाजिक जीवन संभव नहीं होगा। भाषाविहीन, समाज से पूर्णत: विच्छिन्न, एकांतवासी, मनुष्य की कल्पना भी संभव नहीं लगती। वस्तुत यदि हम उसकी कल्पना कर भी पाएँ तो उसे मनुष्य की संज्ञा देने में हिचकेंगे। भाषा का प्रयोग अनेक प्रकारों में और अनेक लक्ष्यों की सिद्धि के लिए होता है। भाषा का प्रयोग मानवजीवन के लिए आवश्यक है, भाषा मानव जीवन का आवश्यक अंग है। किन्तु हम अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषा का केवल प्रयोग ही नहीं करते हैं, भाषा के विषय में, भाषीय प्रयोगों के विषय में विचार करते हैं, उनकी विवेचना या व्याख्या भी करते हैं।[1] यदि भाषीय प्रयोग को प्रथम स्तरीय क्रिया कहा जाय तो उसकी चर्चा या विवेचना, उसके विषय में सोचने की क्रिया को द्वितीय-स्तरीय क्रिया कह सकते हैं। संक्षेप में इसे हम भाषीय, या भाषा-विषयक, चेतना (चर्चा) या भाषाबोध कहेंगे। यह चेतना सभी में एक समान नहीं होती और अधिकांश प्रयोक्ताओं में अविकसित, अवैश्लेषिक, धूमिल रूप में रहती है। अधिकांश प्रयोक्ता इसका विवेचन-विश्लेषण नहीं करते या नहीं कर सकते। वे इसके विभिन्न अवयवों का न तो सुस्पष्ट ज्ञान रखते, न उनके विषय में अपनी समझ को भाषा में ठीक-ठीक व्यक्त ही कर सकते। प्राय उनमें इन अवयवों के विश्लेषण की न तो क्षमता होती, न अभिलाषा ही। भाषा दार्शनिक अपनी इस चेतना को तीव्र करता है, उसके अंदर बैठकर उन संप्रत्ययों को ढूंढ निकालता है जो आधारिक होते हैं, और उनके पारस्परिक संबंधों, भेदों, विरोधों, उनसे आपादित परिणामों का विश्लेषण कर भाषीय चेतना या समझ के स्वरूप को सुस्पष्ट और सुबोध करता है। संप्रत्यय या संप्रत्ययों के किसी समूह को किसी विशेष दिशा में परिमार्जन या सुनिश्चितीकरण करने की वह संस्तुति भी कर सकता है। भाषा मात्र, या उसके किसी खण्ड के प्रयोगों की व्याख्या के लिए, यह समझाने के लिए, कि क्यों भाषामात्र, या उस विशेष भाषाखण्ड, के अमुक प्रकार के प्रयोग ठीक और अमुक प्रकार के प्रयोग गलत माने जाते हैं, क्यों कहीं तो भाषा सफल होती है और कहीं असफल, वह कोई सिद्धांत भी प्रतिपादित कर सकता है। भाषा, जिस अर्थ में इस पद का प्रयोग यहाँ किया जा रहा है, पूर्णत मानवी क्रियाकलाप है। इसकी अपनी निजी संप्रत्ययात्मक समस्याएँ हैं और हमारे भाषा बोध की भी अपनी संप्रत्ययात्मक समस्याएँ हैं। भाषा दर्शन इन संप्रत्ययात्मक समस्याओं से जूझता है और उनका विश्लेषण समाधान करने का प्रयत्न करता है। भाषा का प्रयोग तो सभी करते हैं, किन्तु भाषा या भाषा बोध में निहित संप्रत्ययों और संप्रत्ययात्मक समस्याओं का अन्वेषण भाषादर्शन करता है। जिस प्रकार धर्मदर्शन हमारे धर्मबोध की, नीतिदर्शन नैतिक बोध की, संप्रत्ययात्मक समस्याओं का अध्ययन करते हैं, उसी तरह भाषा दर्शन भाषा और भाषा बोध की संप्रत्ययात्मक समस्याओं का अध्ययन हैं।

भारतीय भाषा दर्शन बताता है कि भाषाएँ सिर्फ भाषा के माध्यम से ही नहीं, बल्कि राष्ट्रीयता और समृद्धि के माध्यम के रूप में भी महत्वपूर्ण हैं। [2]इससे हमें राष्ट्रीय एकता और सामूहिक विकास की ओर ले जाने की प्रेरणा मिलती है। भारतीय भाषाएँ सिर्फ भाषा ही नहीं, बल्कि एक सांस्कृतिक आधार का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन्हें समझना और संरक्षण करना भारतीय सांस्कृतिक विरासत के प्रति हमारी दायित्वबोध को बढ़ाता है। भारतीय भाषा दर्शन के सिद्धांतों के आधार पर, राष्ट्रीय शिक्षा नीति को भारतीय भाषाओं के प्रोत्साहन और संरक्षण के लिए उनके महत्व को समझने की आवश्यकता है। भारतीय भाषा दर्शन एक ऐसी प्रणाली है जो हमें भारतीय भाषाओं के उत्थान, विकास और महत्व को समझने में मदद करती है। यह दर्शन हमें भारतीय सांस्कृतिक और भाषाई विरासत के महत्व को समझने में मदद करता है। भारतीय भाषा दर्शन भाषाओं को सिर्फ शब्दों और वाक्यों के रूप में नहीं देखता, बल्कि इन्हें सांस्कृतिक और ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में भी देखता है। यह बताता है कि भाषा और सांस्कृतिक भूमिका के बीच गहरा संबंध होता है।

भाषादर्शन और भाषिकी तत्त्वान्वेषण

भाषादर्शन का सम्बन्ध भाषा मात्र से है, जबकि प्राय भाषिकीय अध्ययन विशिष्ट भाषाओं जैसे हिन्दी, मराठी, आदि को, या विभिन्न भाषाखण्डों [3] (जैसे हिन्दी की सकर्मक क्रियाओं) को, अपना विषय बनाता है। तुलनात्मक भाषिकी में भी ध्यान विशिष्ट भाषाओं (हिन्दी, अंग्रेजी) या भाषाखण्डों (हिन्दी और अंग्रेजी के क्रियापद) पर रहता है। दार्शनिक अन्वेषण कभी भी इस तरह सीमित नहीं रहता। भाषा की की दृष्टि से हिन्दी का यह नियम कि सामान्य भूत में सकर्मक क्रिया का कर्ता 'ने' चिन्ह लेता है महत्त्वपूर्ण है, किन्तु भाषादर्शन ऐसे नियमों का अध्ययन नहीं करता। हमें यह भी याद रखना है कि आधुनिक भाषिकी का एक खण्ड, सैद्धान्तिक भाषिकी, भाषामात्र के विवरण, भाषा के सामान्यों की खोज और उनके स्पष्टीकरण को अपना लक्ष्य बनाता है।[4] इस शाखा के उद्भव और विकास बहुत कुछ भाषिकी पर भाषा दर्शन के प्रभाव, या दोनों के पारस्परिक प्रभाव, के परिणाम हैं। फिर भी सैद्धान्तिक भाषिकी भाषिकी का ही अंग है, भाषा दर्शन का नहीं, क्योंकि इसका ध्येय भाषा के सामान्यों का तथ्यात्मक विवरण देना होता है। उस पर भी भाषा दर्शन के साथ इसके घनिष्ट संबंध की अनदेखी करना अनुचित होगा, क्योंकि इससे उसे भाषा के स्वरूप के विषय में प्रामाणिक विवरण मिलता है, और भाषा दर्शन के संप्रत्ययात्मक सूत्रों से सैद्धान्तिक भाषिकी को भाषा के सामान्य रूप को प्रस्तुत करने में सहायता मिलती है। भाषा दर्शन और सैद्धान्तिक भाषिकी वस्तुत दर्शन और विज्ञान, संप्रत्ययात्मक और तथ्यात्मक अन्वेषणों, के सहयोग के अच्छे उदाहरण हैं। भाषिकी को हमने आनुभविक विज्ञानों का एक प्रकार कहा है और यह भी कि हर एक आनुभविक विज्ञान आनुभविक सत्ता के किसी खण्ड का अध्ययन करता है। आनुभविक सत्ता का वह खण्ड जिसे भाषा कहते हैं, भाषिकी के अध्ययन का विषय है। प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्री 'शब्दब्रह्म' संज्ञा का प्रयोग करते हैं और उसे ही व्याकरण और भाषादर्शन का विषय मानते हैं।

समकालीन पश्चिमी भाषाई दर्शन प्राकृतिक और कृत्रिम भाषा में अंतर करता है। प्राकृतिक भाषा को वह भाषा माना जाता है जिसका हमारे रोजमर्रा के जीवन में उपयोग होता हैं। यह विचारों को संप्रेषित करने और संवाद करने का उपकरण है। हमारे विचार से, संचार केवल बोलने और सुनने तक ही सीमित नहीं है। यह विचारों और भाषा के संज्ञान, प्रतिक्रिया और साझाकरण की उपलब्धि है। यदि इसे केवल सूचक या सूचक चिन्ह के रूप में ही स्वीकार किया जायेगा तो उपकरण बन जाने से संचार सम्पन्न नहीं हो सकेगा। विचारों और सूचनाओं को संचित किया जाता है, स्मृति में संरक्षित किया जाता है और भाषा के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाया जाता है, न कि लिखित चिह्नों (लिपियां) के माध्यम से जो मौखिक ध्वनियों (ध्वनिआं) के लिए प्रतिनिधि के रूप में खड़े होते हैं।[5] यदि कोई आकांक्षा नहीं है जो बोलने के लिए प्रोत्साहन का कारण होता है तो मौखिक शोर उत्पन्न नहीं किया जा सकता है और आकांक्षा भाषा की सुगमता से व्यक्त विचार है। मौखिक शोर/इशारे बोधगम्य भाषा के लिए प्रतिनधि के रूप में खड़े होते हैं।

हम भाषा के बिना अमूर्त और सामान्यीकरण ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकते। यह शोध पत्र भाषा को न केवल उपकरण के रूप में देखती है, बल्कि इसे एक संज्ञानात्मक प्राणी के रूप में भी देखती है। उपकरण अविभाज्य की अभिव्यक्ति के साधन हैं जिसके बाद उत्तरार्द्ध को प्रदीप्त किया जाता है। विश्लेषणात्मक योजना अविभाज्य को विभाजित करके समझने में मदद करती है लेकिन वह वास्तव में इन कृत्रिम विभाजनों द्वारा विभाजित नहीं होता है जो अविभाज्य की संपूर्ण-आंशिक समझ के लिए उपयोगी है। सांकेतिक परिधानों के विश्लेषण के माध्यम से, हम वास्तव में अपनी समझ के लिए उपयोगों से उत्पन्न संज्ञान का विश्लेषण करते हैं और जिसके लिए हम अस्तित्व या विचार शब्द का उपयोग करते हैं। अपने ऊपर जब तर्क उठता है तो चेतना सदैव स्थिर होती है। सत्यता मूल चरित्र है जब यह हमारे हितों, मोह, जुनून, महत्वाकांक्षाओं और हमारे प्रति हमारी निष्ठा पर थोपा जाता है, तो यह प्ररस्पर परिवर्तन का विरोध करती है।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में भाषा दर्शन

भारत सरकार की कैबिनेट ने हाल ही में स्कूल और उच्च शिक्षा दोनों क्षेत्र में बड़े पैमाने पर परिवर्तनकारी सुधार लाने के लिए नई शिक्षा नीति 2020 को मंजूरी दी। [6] नई शिक्षा नीति 34 वर्षों के अंतराल के बाद आई है, इसमें मौजूदा शिक्षा प्रणाली में आमूल-चूल परिवर्तन की बात कही गई है। नई शिक्षा नीति 2020 की मुख्य बातों में पांचवीं कक्षा तक मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने का निर्णय भी शामिल है। इसका उद्देश्य राष्ट्र निर्माण पर दीर्घकालिक प्रभाव पैदा करना है। यह छात्र कौशल विकास की चल रही प्रक्रिया पर गहरा प्रभाव डाल सकता है और छात्रों को उस वातावरण के साथ सामाजिक और सांस्कृतिक संबंध स्थापित करने में मदद कर सकता है जिसमें वे रह रहे हैं।

प्राथमिक शिक्षा में मातृभाषा का परिचय - बचपन में एक नई भाषा सीखने के बोझ से ज्ञान के अन्य क्षेत्रों में आगे बढ़ने या अन्य कौशल सीखने के लिए जगह बनाने से बचा जा सकेगा। संवैधानिक दायित्व को पूरा करना भी हमारा कर्तव्य हैं। भारत के संविधान के अनुच्छेद 350 (ए) [7] में यह प्रावधान है कि प्रत्येक राज्य और राज्य के भीतर प्रत्येक स्थानीय प्राधिकरण का यह प्रयास होगा कि वह विशेष रूप से बच्चों को शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा में शिक्षा की पर्याप्त सुविधाएं प्रदान करे। भाषाई अल्पसंख्यक समूहों से संबंधित लोगों में गर्व की भावना विकसित करना मातृभाषा में सीखना प्राथमिक विद्यालय के बच्चों में अपनी संस्कृति और विरासत के प्रति स्वामित्व और गर्व की भावना पैदा कर सकता है। नई शिक्षा नीति त्रिभाषा सूत्र को पूरा करता है प्राथमिक स्तर पर मातृभाषा का परिचय शिक्षा के उच्च स्तर पर अन्य भाषाओं को सीखने के लिए एक मजबूत आधार तैयार करता है। यह बहुभाषावाद और राष्ट्रीय सद्भाव को बढ़ावा देने में मदद कर सकता है।

भाषाओं के विलुप्त होने से बचाव - दुनिया की 4000 भाषाओं में से 10% भाषाएँ जो अगले 50 वर्षों में विलुप्त होने के खतरे का सामना कर रही हैं।[8] दक्षताओं का विकास करना कला और सांस्कृतिक शिक्षा पर यूनेस्को विश्व सम्मेलन ने इस बात पर प्रकाश डाला कि जागरूकता और अभिव्यक्ति उन दक्षताओं में से एक है जो एक बच्चे में विकसित होनी चाहिए। मातृभाषा में अध्ययन अध्यापन से, भाषाई क्षमता निर्माण से, बच्चों में ये दक्षताएँ अधिक आसानी से विकसित हो सकेंगी।

स्थानीय भाषाओं को बढ़ावा- भारत में मातृभाषाओं की बहुलता है। प्राथमिक स्तर पर क्षेत्रीय भाषाओं को बढ़ावा देना अतीत की लगभग सभी शिक्षा नीतियों का अंतर्निहित सिद्धांत रहा है। [9] एक बच्चा अपनी मातृभाषा मे सिखने में सहजता महसूस करता है, इसलिए प्राथमिक स्तर पर उसे अपने आस-पास की दुनिया को समझने में सक्षम बनाने के लिए शिक्षा के माध्यम के रूप में यह सबसे अच्छा विकल्प है। सतत लक्ष्यों को प्राप्त करना भूख, स्वास्थ्य, शिक्षा और न्याय पर एसडीजी में अंतर्निहित प्रारंभिक शिक्षा के लक्ष्य हैं जिन्हें प्राथमिक स्तर पर समग्र शिक्षा पूरा कर सकती है। क्षेत्रीय भाषाओं पर कोठारी आयोग का सुझाव है की भारतीय भाषाओं और साहित्य का ऊर्जावान विकास शैक्षिक और सांस्कृतिक विकास के लिए अनिवार्य है। लोगों की रचनात्मक ऊर्जा को मुक्त करना आवश्यक है। शिक्षा के मानकों में सुधार होगा, ज्ञान लोगों तक प्रसारित होगा और बुद्धिजीवियों और जनता के बीच की खाई कम होगी। अब इन्हें विश्वविद्यालय स्तर पर शिक्षा के माध्यम के रूप में अपनाने के लिए कदम उठाए जाने चाहिए। प्राथमिक उद्देश्य बहुभाषावाद और राष्ट्रीय सद्भाव को बढ़ावा देना होना चाहिए।

त्रिभाषा फॉर्मूला (राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968) पहली भाषा[10]- यह मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा होगी। दूसरी भाषा हिंदी भाषी राज्यों में यह अन्य आधुनिक भारतीय भाषाएं या अंग्रेजी होगी। गैर-हिन्दी भाषी राज्यों में यह हिन्दी या अंग्रेजी होगी। तीसरी भाषा हिंदी भाषी राज्यों में यह अंग्रेजी या आधुनिक भारतीय भाषा होगी। अहिन्दी भाषी राज्य में यह अंग्रेजी अथवा आधुनिक भारतीय भाषा होगी। सतत विकास लक्ष्य और एनईपी 2020 उस परिवर्तन को उत्प्रेरित करने के लिए जिसे दुनिया 2030 तक हासिल करना चाहती है, संयुक्त राष्ट्र ने महिलाओं, बच्चों और किशोरों के स्वास्थ्य के लिए वैश्विक रणनीति 2016 - 2030 तैयार की।[11] इसका उद्देश्य समावेशी और समान गुणवत्ता वाली शिक्षा सुनिश्चित करना और सभी के लिए आजीवन सीखने के अवसरों को बढ़ावा देना है। इसका उद्देश्य प्रारंभिक बचपन के विकास में निवेश को बढ़ावा देना है। प्राथमिक शिक्षा के परिवर्तन के साथ, एनईपी 2020 उन लक्ष्यों को प्राप्त करेगा जो एसडीजी 2030 में प्रारंभिक बचपन के विकास के लिए एक एजेंडे की रूपरेखा तैयार करते हैं। एनईपी के कार्यान्वयन में मुद्दे प्राथमिक विद्यालय शिक्षा को बदलने में सभी हितधारकों को सुव्यवस्थित करने के लिए पर्याप्त जनशक्ति जुटाने की आवश्यकता है। स्कूली शिक्षा के प्राथमिक स्तर पर भाषा पाठ्यक्रम में कला का अपर्याप्त एकीकरण। बुद्धिलब्धि (जो बुद्धि को मापता है) पर अत्यधिक जोर दिया जाता है जो बच्चों के समग्र विकास के लिए भावनात्मक भागफल और आध्यात्मिक भागफल पर ध्यान केंद्रित नहीं करता है। प्राथमिक विद्यालय में मातृभाषा को शिक्षा का माध्यम बनाने के लक्ष्य को प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका कुशल कार्यान्वयन है। इसमें क्षेत्रीय भाषाओं में मानक पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए राज्यों में संस्थान स्थापित करना शामिल है।

निष्कर्ष

हमने देखा है कि हमारे विश्लेषण के लिए भाषा का नियम और ज्ञान का नियम अलग नहीं हैं। भाषा और संचार में क्रियाशील अनुभूति के नियम को ध्यान में रखते हुए यहां एक ऐसा दर्शन प्रदान करने का प्रयास किया गया है जिसके माध्यम से कोई न केवल भाषा और अर्थ, जीवन और संस्कृति को उनकी सभी विविधताओं के साथ व्यापक रूप से समझ और व्याख्या कर सकता है, बल्कि जागरूकता भी प्राप्त कर सकता है।[12] भाषा खेल में तार्किक कौशल भी अंतर्निहित एक संज्ञानात्मक आधार है। चिंतन करते समय एक दार्शनिक न केवल कृत्रिम बल्कि प्राकृतिक भाषा का भी चिंतन करता है। वह उन समस्याओं का दर्शन करके वास्तविक और थोपे हुए के बीच अंतर करता है, जो न केवल वास्तविक पर जो थोपा गया है उससे संबंधित है, बल्कि उस वास्तविकता से भी संबंधित है जो उस पर थोपी गई है। वास्तविक का संबंध प्रत्यक्ष ज्ञान से है जो कुछ समानताओं द्वारा हमारी रुचि और निष्ठा पर थोपा जाता है जो दार्शनिक समस्याओं का कारण बनता है। इन दार्शनिक समस्याओं के समाधान के लिय नई शिक्षा नीति 2020 प्रारम्भिक शिक्षा से लेकर उच्य शिक्षा तक अपनी मातृभाषा या क्षेत्रीय भाषा में अध्ययन करने का निर्देश करता है, जिससे नई कौशल और ज्ञान को सीखने में छात्रों को भारतीय भाषा दर्शन उचित मार्ग प्रस्तुत करता हैं।

1. *स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित दार्शनिक विमर्श* (2005), सागर : विश्वविधायल प्रकाशन
2. देखिए चाम्सकी, नोआम, ऐस्पेक्ट्रम ऑफ दी थियोरी ऑफ सिन्टैक्स, पृ. 4
3. स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित दार्शनिक विमर्श(2005), सागर : विश्वविधायल प्रकाशन
4. स्वातंत्र्योत्तर दार्शनिक प्रकरण : समेकित दार्शनिक विमर्श(2005), सागर : विश्वविधायल प्रकाशन
5. Tiwari D.N (2021). *Language, Being and Cognition,* New Delhi: Global Vision Publishing House.
6. *National Education Policy 2020* , Ministry of Human Resource Development Government of India.
7. Chaturvedi, Amit (30 July 2020). *"'Much to welcome in National Education Policy but...': Shashi Tharoor highlights some challenges*". *Hindustan Times*. New Delhi.
8. Aithal, P. S.; Aithal, Shubhrajyotsna (2019). "Analysis of Higher Education in Indian National Education Policy Proposal 2019 and Its Implementation Challenges". International Journal of Applied Engineering and Management Letters. **3** (2): 1–35. doi:10.47992/IJAEML.2581.7000.0039. SSRN 3417517.
9. "NEP 2020 "undermines" Tamil, halt its implementation: Stalin". The Times of India. PTI. 9 August 2020. Archived from the original on 22 December 2020. Retrieved 9 August 2020
10. Shukla, Ashish (30 July 2020). "Netizens irked with Modi government's 3-language formula in NEP 2020". International Business Times. India. Archived from the original on 9 August 2020. Retrieved 9 August 2020.
11. "No language imposition in new education policy, says drafting panel chief". India Today. New Delhi. 30 July 2020. Archived from the original on 31 July 2020. Retrieved 30 July 2020.
12. Mundle, C. W. K. (1976). A Critique of Linguistic Philosophy. Glover and Blair. London.

राष्ट्र एवं समाज के निर्माण में संस्कृत की भूमिका

-डॉ.सुनिता मीना
संस्कृत विभाग
रामजस कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली

संस्कृत साहित्य प्राचीन से लेकर वर्तमान तक राष्ट्र एवं समाज का चिन्तन करता रहा है क्योंकि साहित्य और समाज का अविनाभाव सम्बन्ध होता है, साहित्य में सामाजिक चित्तवृत्तियों या मनोवृत्तियों की स्वभाविक महक प्राप्त होती है। यह साहित्य समाज एवं सभ्यता का प्रधान वाहक होता है। इसके माध्यम से समाज एवं सभ्यता अपने समुन्नत स्थान को प्राप्त होती है क्योंकि साहित्य जो उपदेश देता है वह कान्ता के समान सुन्दर और मधुर होता है। भारतीय संस्कृति और समाज की अविरल धारा जो अपने आरम्भिक काल में व्यवहृत हुई उसका नेतृत्व भारतीय संस्कृत साहित्य पूर्ण एवं स्वस्थ रूप में आज भी करता आ रहा है। साहित्य में भारतीय समाज और राष्ट्र की आदर्श संहिता वैदिक वाङ्मय से लेकर आधुनिक संस्कृत काव्यग्रन्थों में भी देखी जाती है। ऋग्वेद में मन्त्र द्रष्टा ऋषियों ने एक सुसंगठित समाज का निर्माण राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में करते हुए कहा है–

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा भागं यथा पूर्वे संजानाना उपासते।।
समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहो. मि।।
समानी वा आकृतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।

ऋ. 10.191.204 अथर्व. 6.64.1–3

अर्थात् हमारा सम्पूर्ण समाज साथ–साथ चले, साथ–साथ एक दूसरे के मनोनुकूल वार्ता (व्यवहार–क्रियाकलाप) को स्थापित करें। सब का (मन्त्रणा) विचार समान हों, समितियों में समान अधिकार हो सबका अर्थात् सब की समिति पर पूर्णतः विचार–विमर्श हो। यह बात ऋग्वेद के सामनस्य सूक्त की है जो सर्वप्रथम अथर्ववेद में बाद में संगठन सूक्त में यथावत बतलायी गयी है क्योंकि जब समाज निर्मित एवं विकसित होता है तो राष्ट्र स्वयं विकसित और निर्मित जाता है। अथर्ववेद के संग. ठन सूक्त में मन्त्रद्रष्टा ऋषि ने समाज के उत्कृष्ट संरचनात्मक स्वरूप को व्यवस्थित किया है जिसका अनुपालन यदि आज भी प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति द्वारा किया जाय तो निश्चितरूपेण एक उत्कृष्ट राष्ट्र और समाज का निर्माण सम्भव है। ऋषि का कथन है–

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शान्तिवान्।।
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वासारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया।।

अधर्व.–3.30.2

अर्थात् पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो तथा माता के प्रति श्रद्धा रखने वाला हो। पत्नी मधुर भाषिणी होनी चाहिए तथा पति को भी शान्त और मधुर व्यक्तित्व वाला होना चाहिए। भाई–भाई के साथ, बहन–बहन के साथ तथा भाई और बहन आपस में द्वेष (ईर्ष्या) कभी न करें (समानता के सम्बन्ध का पालन करते हुए भद्र (कल्याणकारक) वाणी परस्पर बोलें। इससे सुन्दर समाज और राष्ट्र के निर्माण का उदाहरण और क्या हो सकता है? हम सबको इस बात पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिसको समाज और राष्ट्र सुरक्षित हो सकता है। इसी प्रकार राष्ट्र के कल्याण की बात यजुर्वेद में बतलायी गयी हैं। मन्त्र द्रष्टा ऋषि परमात्मा से प्रार्थना करता है कि हमारा राष्ट्र सब प्रकार से सुसम्पन्न और समृद्धशाली हो–

ओम् आ ब्राह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम राष्ट्रे राजन्यः शूर
इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम दोग्ध्री ध. नूर्वोढानडवानाशुः सप्तिः
पुरन्धिरयर्योषा जिष्णूरथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरा जायतां।।

यजुर्वेद 22.22

अर्थात् हमारे राष्ट्र में लोग ब्रह्मवर्चसीं, कुशलं, शत्रुओं को परास्त करने में सक्षमं, गाय दूध देने बाली, बैल भार वहन

करने वालें, घोड़े शीघ्रगामी एवं स्त्रियाँ सर्वगुण सम्पन्न हों तथा रथी, महावीर, जयशील, पराक्रम करने वाला तथा सभ्य युवा पुत्र उत्पन्न हों। इस प्रकार वेदों में राष्ट्र एवं समाज के निर्माण की बात स्पष्ट रूप से विभिन्न स्थलों पर कही गई हैं। वेदों के पश्चात्, ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उप. निषदों में भी यही भावनाएँ अभिव्यक्त हुई हैं। तैत्तिरांयोपनिषद् में कहा गया है–

सत्यं वद। धर्म चर। स्वाध्यान्मा प्रमदः।
आचार्याय प्रियां धनमाहत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः।
मातृ देवो भव, पितृ देवो भव, आचार्य देवो भव, अतिथि देवो भव।

ये सब बातें एक सभ्य और उच्च सुशिक्षित समाज की संरचना की नींव हैं इस पर अमल किया जाय तो निश्चयेन एक सभ्य समाज और राष्ट्र निर्मित हो सकता है। आज समाज एवं राष्ट्र में व्याप्त विसंगतियाँ निश्चित दूर हो सकती हैं। यही बातें रामायण, महाभारत, पुराणों, स्मृतियों से होती हुई भास, भवभूति, कालिदास, माघ, भारवि आदि महाकवियों के ग्रन्थों में प्रतिफलित दिखाई पड़ती हैं। पण्डित जवाहरलाल नेहरु जी ने अपने अभिभाषण में कहा है कि "if I was asked what is the greatest treasure which India possesses and what is her finest heritage, I would answer unhesitatingly it is the Sanskrit language and literature and all that is contains- This is magnificent inheritance and so long as this endures and influence the life of our people so long the basic genius of India will continue. - Report of the Sanskrit commission p.72

वैदिक वाङ्मय के उपरान्त कालिदास आदि के काव्यों में वर्णित समस्त पात्र अपने कर्त्तव्यों एवं उत्तरायित्वों का निर्वहन करते हुए सामाजिक एवं राष्ट्रीय विकास में प्रमुख भूमिका निभाते हैं। सबका प्रमुख उद्देश्य लोकमंगल की भावना से भावित था।

प्रजाः प्रजाः स्वा इव तन्त्रयित्वा निषेवते शन्तमना विविक्तम्।
यूथानि संचार्य रविप्रतप्तः शीतं दिवा स्थानमिव द्विपेन्द्र।।

6/5 अभि.

इसी प्रकार आज का हमारा जो वर्तमान संस्कृत साहित्य है उसमें भी पर्याप्त मात्रा में समाज एवं राष्ट्रीयता की भावना के विकास पर कवियों ने ध्यान दिया है। हम संगोष्ठी में उपस्थित आधुनिक संस्कृत महाकवि प्रो अभिराज राजेन्द्र मिश्र की शताधिक काव्य कृतियाँ समाज एवं राष्ट्र के विकास की तथा उसके कल्याण का प्रतिनिधित्व करती हैं। इच्छुगन्धा, पुनर्नवा, हविर्धानी, नाट्यनवगव्यम, नाट्य पञ्चगव्यम, नाट्यनवग्रहम आदि कथा, कहानी, काव्य एवं नाट्य कृतियों में प्रो मिश्र ने समाज में व्याप्त कुत्सित मानसिकताओं, कुरीतियों को दूर करने पर अत्यधिक बल दिया है तथा वर्तमान समाज को दिशा निर्देश प्रदान किया है। इसी प्रकार रेवा प्रसाद द्विवेदी ने 75 सर्गीय महाकाव्य स्वातन्त्रम सम्भवम् भारत के स्वतन्त्रता के हतिहास के साथ–साथ राष्ट्र एवं समाज के निर्माण की बातें अभिव्यक्त हुई हैं।

प्रो. अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने अपनी इच्छुगन्धा नामक कहानी संकलन के एक शीर्षक 'शतपर्विका' में जो दि.वि.वि. के संस्कृत के बी.ए. (आनर्स) के पाठ्यक्रम में निर्धारित है एक पिता का अपनी पुत्रियों से द्वेष वर्णित है जो वाद में पुत्रियों की सेवा से दूर हो जाता है। बड़ी ही रोचक कहानी के माध्यम से कवि ने समाज में व्याप्त पुत्रियों के प्रति पिता की कुत्सित मानसिकता को दूर किया है। प्रो हरिनारायण दीक्षित ने अपने वर्तमान विरचित महाकाव्य में समाज के इसी पुत्र–पुत्री भेद रूपी कुत्सित मानसिकता को दूर करने हेतु कहा है–

सुपाठनीया सुतवत् सुताऽपि भेदो विधेयो न तत्र कश्चन्।
गार्हस्थ्यमानस्य कृते ह्यभाविमावावश्यकौ स्तो रथचक्रसन्निभौ।।

भीष्मचरितम् 18/26

इसी प्रकार उन्होंने समाज में व्याप्त दहेज प्रथा को दूर कर एक सुशिक्षित समाज के निर्माण की बात कही है–

पिता च पुत्रस्य विवाह कर्मणि कांक्षेद् वधूप क्षजनान्न यौतुकम्।
न कल्यवर्तस्य धनस्य लब्धये विमानयेत्सञ्जनतां च सद्गुणान्।।

भीष्मचरितम् 8/27

अर्थात् पिता अपने पुत्र के विवाह में दहेज की लालच करें

तुच्छ धन के लिये व्यचित का अपनी सज्जनता और सद्गुण को पतित नहीं करना चाहिए। यह धातव्य ही की मात्र शास्त्र का आश्रय लेकर कर्त्तव्य का निर्णय नहीं किया जा सकता है अपितु युक्ति और विचार से रहित कार्य से भी धर्म की हानि होती है।

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः।
युक्तिहीने विचरो तु धर्महानिः प्रजायते।।

इस प्रकार संस्कृत वाङ्गमय में प्राचीन साहित्य से लेकर वर्तमान तक राष्ट्र एवं समाज के संवर्धन की बातें कही गयी है। आज इस संगोष्ठी का विषय यही है। आज यहाँ पर विभिन्न संस्कृत के विद्वान् पधारे हुए है जो इस विषय पर आप सब को विस्तृत बातें बतायेगें। मैंने तो थोड़ा कुछ संकेत मात्र कर दिया है।

प्रस्तुत विषय पर रामजस महाविद्यालय के संस्कृत विभाग की संस्कृत परिषद् आज (27 फरवरी 2015 को) एकदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन कर रही है। संस्कृत परिषद् सन् 2017 में अपना शताब्दी समारोह मनाने जा रही है जिसका शुभारम्भ सन् 2010 में "गीता और गांधी" विषयक विचार गोष्ठी से पहले ही हो चुका है। इस शताब्दी वर्ष का आयोजन कॉलेज का संस्कृत विभाग विशेष उत्साह के साथ कर रहा है। विभाग की संस्कृत परिषद् इसी परम्परा में प्रतिवर्ष राष्ट्रीय संगोष्ठियों का आयोजन करती आ रही है। संस्कृत परिषद् द्वारा "राष्ट्र एवं समाज के निर्माण में संस्कृत की भूमिका" विषय पर आयोजित इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में देश के लब्धप्रतिष्ठ विद्व ान्, वरिष्ठ पत्रकार एवं समाज चिन्तक राष्ट्र एवं समाज की ज्वलन्त समस्याओं पर अपने–अपने विचार रखेंगे। इस राष्ट्रीय संगोष्ठी का विषय दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा संस्कृत के स्नातक छात्रों (Hons' Prog. & Allied Courses) के पाठ्यक्रम में निर्धारित है। जिसके फलस्वरूप छात्रों के पाठ्क्रम सम्बन्धी उद्देश्यों की भी पूर्ति होगी तथा शोध सम्बन्धी दिशा में उनको सहायता प्राप्त होगी। जिससे प्रेरित होकर वे एक सशक्त समाज एवं राष्ट्र के निर्माण में अपनी भूमिका सुनिश्चत कर सकें। इस प्रकार यह संगोष्ठी समाज तथा राष्ट्र के निर्माण में बाधक विद्यमान विविध प्रकार की जटिलता को उजागर करते हुए उसके निराकरण का समाधान भी प्रस्तुत करेगी।

राष्ट्र एवं समाज के निर्माण में संस्कृत शास्त्र एवं साहित्य संजीवनी के तुल्य है जिससे राष्ट्र और मानवता के विकास में एक स्वस्थ एवं सशक्त दिशा प्राप्त होगी। अतः इस राष्ट्रीय संगोष्ठी का ध्येय वाक्य **"ऋतं सत्यं तपो राष्ट्र श्रमो धर्मश्च कर्म च"** रखा गया है क्योंकि इस मन्त्र के सातो तत्त्व सप्त पदार्थों के समान ही राष्ट्र एवं समाज के निर्माण में उपादान कारक हैं, जिनके द्वारा आधुनिक राष्ट्र को भी उत्तम राष्ट्र के रूप में निर्मित किया जा सकता है। मैं आशा करता हूँ कि दिल्ली विश्वविद्यालय में इन विषयों का अध्ययन अध्यापन करने वाले छात्रों, शोधार्थियों और अध्यापकों के लिए यह राष्ट्रीय संगोष्ठी अत्यन्त ही उपादेय एवं मार्गदर्शक सिद्ध होगी।

****

भारतीय और पाश्चात्य दर्शन के सन्दर्भ में कारण और कार्य के मध्य 'सम्बन्ध' का दार्शनिक विश्लेषण

-डॉ. दीपक कुमार गुप्ता
सहायक आचार्य, दर्शनशास्त्र विभाग
लक्ष्मीबाई कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

सारांश

अपने आस-पास की किसी भी वस्तु को सम्बन्ध से जोड़कर देखना मनुष्य की आदत है। यहाँ प्रश्न उठता है कि सम्बन्ध कैसा है? दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी होने के कारण हम सम्बन्ध को कार्य-कारण सम्बन्ध के रूप में देखते हैं क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति यह आशा करता है कि यदि कोई कार्य होता है तो उसके पीछे कोई न कोई कारण अवश्य होगा। यह एक महत्वपूर्ण दार्शनिक प्रश्न है कि कार्य कारण सम्बन्ध में 'सम्बन्ध स्थायी या गैर स्थायी होता है या इनके बीच का सम्बन्ध बनाना केवल हमारी मानसिक गतिविधि का परिणाम है। अतः इस लेख में उक्त स्थितियों पर भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों के सन्दर्भ में चर्चा किया जायेगा और यह जानने का प्रयास किया जायेगा कि कौन सा दार्शनिक सम्प्रदाय वैचारिक रूप से उक्त संबंधों के संदर्भ में उचित विचार प्रस्तुत करने में सक्षम है।

***प्रमुख शब्द**: कारणता सिद्धांत, कार्य और कारण, भारतीय दर्शन, पाश्चात्य दर्शन, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, प्रतीत्यसमुत्पाद, ह्यूम, अनुभवजन्यता, आत्मगत संबंध, कर्म-फल।*

ऐसा प्रतीत होता है कि सम्पूर्ण दर्शन की आधारशिला कारणता सिद्धान्त पर ही टिकी हुई है। यह बात केवल भारतीय दर्शन के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं बल्कि पाश्चात्य दर्शन में भी दृष्टिगोचर होती है। कार्य-कारण की धारणा-कारण और कार्य के बीच का संबंध जगत और उसके भीतर हमारे स्थान को समझने में एक केंद्रीय चिंता का विषय है, जो वास्तविकता और अस्तित्व की प्रकृति से लेकर नैतिक व्यवहार और नैतिक जिम्मेदारी तक की चर्चाओं को प्रभावित करता है। चाहे वह आध्यात्मिक जांच के संदर्भ में हो या नैतिक विचार-विमर्श के संदर्भ में, कार्य-कारण की अवधारणा अपरिहार्य बनी हुई है, जो हमारी समझ को निर्देशित करती है कि चीजें कैसे बनती हैं और वे एक-दूसरे से कैसे संबंधित हैं।

दर्शनशास्त्र में, कार्य-कारण को अक्सर ज्ञान-मीमांसा और आध्यात्मिक दोनों दृष्टिकोणों से खोजा जाता है। ज्ञान-मीमांसा इस बात पर गहराई से विचार करती है कि हम कार्य-कारण के बारे में सच्चाई कैसे जानते हैं, जबकि आध्यात्मिक पहलू स्वयं कार्य-कारण संबंध की प्रकृति से संबंधित है। यह दोहरी जांच भारतीय और पाश्चात्य दोनों दार्शनिक परंपराओं में स्पष्ट है, जहां विचारकों ने विभिन्न तरीकों से कारण-कार्य संबंध को समझाने की कोशिश की है।

भारतीय दर्शन में, पदार्थ या द्रव्य की अवधारणा, कार्य-कारण को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। न्याय और वैशेषिक विचारधाराओं के अनुसार, पदार्थ को आवश्यक आधार माना जाता है जो गुणों (गुण) और कार्यों (कर्म) को आधार प्रदान करता है और उन्हें बनाए रखता है। [1] इस अवधारणा का तात्पर्य है कि पदार्थ सभी प्रभावों का भौतिक कारण है, जिसका अर्थ है कि गुण और कार्य स्वतंत्र रूप से अस्तित्व में नहीं रह सकते हैं, बल्कि उन्हें किसी पदार्थ में निहित होना चाहिए। उदाहरण के लिए, वैशेषिक प्रणाली में, पदार्थ को वह आधार माना जाता है जिस पर गुण और कार्य संयुक्त होते हैं, जो इसे उनके अस्तित्व के लिए अपरिहार्य बनाता है। पदार्थ के बिना, गुणों और कार्यों की कल्पना करना असंभव होगा, क्योंकि वे ठोस आधार प्रदान करने के लिए पदार्थ पर निर्भर करते हैं।

पश्चिमी दर्शन में, जॉन लॉक द्वारा एक समानांतर दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, जो जटिल विचारों के अपने सिद्धांत के माध्यम से पदार्थ का विश्लेषण प्रस्तुत करता है। लॉक का तर्क है कि "पदार्थ"[2] की हमारी समझ प्रत्यक्ष अनुभव से नहीं बल्कि संवेदना और प्रतिबिंब से प्राप्त सरल विचारों के संयोजन से उत्पन्न होती है। लॉक के लिए, पदार्थों का अनुमान संवेदी गुणों के सुसंगत समूहन से लगाया जाता है। उदाहरण के लिए, जब हम एक सेब का सामना करते हैं, तो हम लालिमा, गोलाई और मिठास के सरल विचारों को एक जटिल विचार में जोड़ते हैं, जिसे हम तब सेब के पदार्थ के रूप में व्याख्या करते हैं। पदार्थ की यह अवधारणा भौतिक वस्तुओं को समझने के आधार के रूप में कार्य करती है।

वही बर्कले के अनुसार, हम जिन्हें भौतिक वस्तुएँ मानते हैं, वे ईश्वर के मन द्वारा उत्पन्न विचारों का केवल संग्रह हैं। उनका प्रसिद्ध कथन, "एस्से एस्ट पर्सिपी"[3] जो उनके इस दृष्टिकोण को अभिव्यक्त करता है कि वस्तुओं का अस्तित्व उनके प्रत्यक्ष होने पर निर्भर करता है। इस ढांचे में, हमारे अनुभवों का अंतिम कारण भौतिक पदार्थ नहीं बल्कि दैवीय बोध है।

इन भिन्न दृष्टिकोणों के बावजूद न्याय और वैशेषिक विचारधाराओं की तरह लॉक और बर्कले भी भौतिक और आध्यात्मिक दोनों ही पदार्थों के अस्तित्व को समझाने के लिए कार्य-कारण के सिद्धांत पर निर्भर हैं। दोनों ही दार्शनिक परंपराओं में, कार्य-कारण नैतिक विश्वास को रेखांकित करता है कि कार्यों के परिणाम होते हैं। भारतीय दर्शन में, कर्म का नियम यह दर्शाता है कि अच्छे कार्यों से सकारात्मक परिणाम मिलते हैं और बुरे कार्यों से नकारात्मक परिणाम मिलते हैं, जो नैतिक व्यवहार और सामाजिक स्थिरता के महत्व को पुष्ट करता है। इसी तरह, पश्चिमी नैतिक दर्शन में, कार्य-कारण का सिद्धांत इस विश्वास को आकार देने में मौलिक है कि किसी के कार्यों के अनुरूप परिणाम होंगे, जो व्यक्तियों को नैतिक रूप से जिम्मेदार तरीके से कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि दर्शन में ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से प्रमा, तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण से मूल तत्त्व तथा नैतिकता के दृष्टिकोण से नैतिक मूल्यों की मीमांसा की जाती है। समस्या तब उठ खड़ी होती है जब हम उन मूल तत्त्व को समझने की कोशिश करते है जिन पर यह सारी इमारत खड़ी होती है। जब हम द्रव्य की सत्ता सिद्ध करना चाहते है तो पहले उससे उत्पन्न होने वाले सम्वेदनाओं आदि का ज्ञान प्राप्त करते हैं और उन सम्वेदनाओं के कारण-रूप एवं आधार के रूप में किसी वस्तु आदि को मानने के लिये बाध्य होते हैं। इसी वस्तु आदि को द्रव्य की संज्ञा दी जाती है। पाश्चात्य दर्शन में लॉक और भारतीय दर्शन में न्याय आदि का भी यही मानना है।

इसी प्रकार आत्मा आदि को भी सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। यह तर्क दिया जाता है कि हमे जो ज्ञान बाह्य जगत् से प्राप्त होता है उसका अधिष्ठान आत्मा है। यही कारण है कि हम एक वस्तु को पुनः उसी वस्तु के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। अतः यहाँ पुनः पहचान के कारण के रूप में भी आत्मा को सिद्ध किया जाता है। यदि यहाँ वर्कले को देखा जाये तो वह सम्वेदनाओं का कारण आत्मा द्रव्य को ही मानता है।

साथ ही समाज में स्थिरता, सदगुण आदि को बनाने के लिए अच्छे कर्मों को

प्रोत्साहित किया जाता है अर्थात् यह कहा जाता है कि हम जैसा कार्य करेंगे वैसे ही फल की प्राप्ति होगी। यहाँ भी अच्छे फल के कारण के रूप में अच्छे कर्मों को माना गया है। इस प्रकार यह पता चलता है कि कारणता सिद्धान्त की अनिवार्यता से ही प्रमा, आत्मा, ईश्वर, कर्म, फल आदि की व्याख्या और सिद्ध की जाती है। यहाँ यह प्रश्न अनायास ही उपस्थित होता है कि क्या कारणता सिद्धान्त में कारण-कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध होता है। यह प्रश्न अपने आप में ही जटिल है क्योंकि यदि कारणता सिद्धान्त में अनिवार्य सम्बन्ध को नहीं माना जायेगा तो द्रव्य, आत्मा, ईश्वर आदि की संकल्पना या आधार रूप पर आघात होगा। परन्तु इसकी अनिवार्यता के विरुद्ध निम्न तर्क दिये जा सकते है।

यदि कारण-कार्य का सम्बन्ध सत्य, निश्चित और अनिवार्य सम्बन्ध है, तो हमें इस सम्बन्ध की अनिवार्यता का प्रत्यक्षानुभव होना चाहिए। परन्तु यह देखते है कि कार्य-कारण नामक घटनाओं का हमें पृथक् पृथक् अनुभव होता है। हमें ऐसे किसी अनिवार्य सम्बन्ध का इन्द्रियानुभव नहीं होता है जिससे हम कारण-कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध को स्वीकार कर सके। जैसे दिन के बाद रात होती है। इसे देखकर हम दिन को रात का कारण सिद्ध नहीं कर सकते हैं। क्योंकि रात और दिन के मध्य हम अपने इन्द्रियानुभव द्वारा केवल साहचर्य का संवेदन करते है न कि अनिवार्यता के सम्बन्ध का। पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम का कहना है कि कारण तथा कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय न तो हमें किसी संवेदना सम्बन्धी संस्कार से प्राप्त हो सकता है और न ही किसी 'अनुचिंतन' सम्बन्धी संस्कार से। इस विषय में डेविड ह्यूम ने अपनी पुस्तक "ए ट्रीटाइज़ ऑफ़ ह्यूम नेचर" में लिखा है, "हमें कारण तथा कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय न तो किसी संवेदना सम्बन्धी संस्कार से प्राप्त हो सकता है और न ही किसी 'अनुचितंन' सम्बन्धी संस्कार से"। [4] ह्यूम का कहना है कि हमें कारण-कार्य के मध्य अनिवार्य सम्बन्ध का प्रत्यय हमारी आदतों और पूर्वानुभवों से मिलता है, न कि इन्द्रियानुभव से।

परन्तु यहाँ प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब कारण-कार्य में अनिवार्यता का सम्बन्ध है ही नहीं तो हम क्यों यह मानते हैं कि कोई विशेष कारण, विशेष कार्य को सदैव तथा अनिवार्यतः उत्पन्न करता है और भविष्य में भी करता रहेगा।

इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि हमारी आदतें, प्रथा आदि हमें इस अनिवार्य सम्बन्ध को मानने के लिये विवश करती हैं। यह हमारी आदत ही तो है जिसके कारण जब दो घटनायें एक-दूसरे के बार-बार घटती हैं, तो हम उनमें कारणता का अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार कर लेते हैं। उदाहरणार्थ-अग्नि छूने पर सदैव ही हमें ताप का अनुभव होता है, इस कारण जब भी हम अग्नि को देखते हैं तो ताप की आशा करने लगते हैं। अतः पूर्व अनुभव के द्वारा उत्पन्न अपनी इसी आदत के कारण ही हम अग्नि तथा ताप में अनिवार्य सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। परन्तु यदि हमें इसका पूर्वानुभव नहीं होता तो हम केवल इन्द्रिय प्रत्यक्ष के द्वारा इस अनिवार्य सम्बन्ध को कभी नहीं जान सकते हैं। कारण-कार्य के मध्य अनिवार्यता के कारण के रूप में वासना, आदत आदि को पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम और भारतीय दर्शन में बौद्ध आदि भी मानते हैं। इस विषय में डेविड ह्यूम ने अपनी पुस्तक "ए ट्रीटाइज़ ऑफ़ ह्यूम नेचर" में लिखा है, "हमें यह नहीं पता है कि कारण-कार्य के मध्य क्या अनिवार्य सम्बन्ध है, लेकिन हमें यह पता है कि हमारी आदतें और पूर्वानुभव हमें इस अनिवार्य सम्बन्ध को मानने के लिए विवश करते हैं"।[5]

ह्यूम कारण और कार्य के सम्बन्ध को वस्तुगत न मानकर अनुभवजन्य आदत के परिणामस्वरूप उत्पन्न आत्मगत सम्बन्ध मात्र मानते हैं। साथ ही ह्यूम का यह मानना है कि अनुभवजन्य आदत कारण-कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध के प्रत्यय का ही नहीं बल्कि समस्त कर्मों तथा वस्तु-तथ्य सम्बन्धी चिंतन का भी मूल आधार है।[6] परन्तु यहाँ एक बात यही कही जा सकती है कि कार्य-कारण सम्बन्ध के विषय में अनुभव द्वारा केवल यही पता चलता है कि प्रत्येक घटना का कोई कारण होता है परन्तु इससे यह पता नहीं चलता है कि समान कारणों से समान परिणाम या कार्य घटित होंगे। प्रकृति की समरूपता नियम के आधार पर भी कार्य-कारण सम्बन्ध की अनिवार्यता को प्रमाणित करना कठिन है, क्योंकि प्रकृति की समरूपता का भी हमारे पास कोई ठोस प्रमाण नहीं है। अपने अनुभव के आधार पर भी हम असंदिग्ध रूप से नहीं कह सकते हैं कि प्रकृति सब कालों और स्थानों में एक समान व्यवहार करती है क्योंकि हमें प्रकृति की उच्छृंखलता का भी बोध होता है। जैसे- कल-सुबह आकाश में बादल छाये थे, परन्तु आज वैसी बात नहीं है। इसी प्रकार यह कहने में भी कोई तार्किक व्याघात नहीं है कि अग्नि नहीं जलायेगी या बर्फ शीतलता प्रदान नहीं करेगी। फिर भी अपने विश्वास के कारण, कार्य-कारण सम्बन्ध की अनिवार्यता को सत्य माना जाता है क्योंकि इन घटनाओं को हम साथ-साथ देखते चले आ रहे हैं। इनको नियमित देखते रहने के कारण ही हमारी यह आदत या विश्वास है कि अमुक घटना के बाद अमुक घटना अवश्य घटेगी। किन्तु हमारी यह आदत अथवा वह विश्वास सिर्फ स्वाभाविक एवं मनोवैज्ञानिक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कारण-कार्य सम्बन्ध में अनिवार्यता को लेकर समस्या उठती है। परन्तु एक तथ्य स्पष्ट होता है कि कारण और कार्य को तो माना जा सकता है लेकिन सम्बन्ध कैसा है, यह बताना समस्याप्रद है। परन्तु यदि भारतीय दर्शन की ओर रूख किया जाये तो हमें कारण और कार्य को लेकर प्रमुख रूप से तीन मत दिखाई देते हैं।

प्रथम मतानुसार कार्य अपने कारण में, उत्पन्न होने के पूर्व विद्यमान होता है। इसे सत्कार्यवाद कहा जाता है। यहाँ यही बताने का प्रयास किया जाता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में सत् होता है अर्थात् इनके बीच का सम्बन्ध अनिवार्य होता है कार्य, अपनी उत्पत्ति के पूर्ण कारण में विद्यमान रहता है। कार्य अपने कारण का सार है। कार्य तथा कारण वस्तुतः समान प्रक्रिया के व्यक्त-अव्यक्त रूप हैं। [7] सत्कार्यवाद के दो भेद हैं- परिणामवाद तथा विवर्तवाद। परिणामवाद से तात्पर्य है कि कारण वास्तविक रूप में कार्य में परिवर्तित हो जाता है। जैसे तिल तेल में, दूध दही में रूपांतरित होता है। विवर्तवाद के अनुसार परिवर्तन वास्तविक न होकर आभास मात्र होता है। [8]जैसे -रस्सी में सर्प का आभास होना। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि सत्कार्यवाद, मुख्यतः सांख्य का सिद्धान्त है जिसके अनुसार कार्य (प्रभाव), अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमान (सत्) रहता है। इसके अनुसार सत् (जिसका अस्तित्व है वह) असत् (जिसका अस्तित्व नहीं है) से उत्पन्न नहीं हो सकता। इसे परिभषित करते हुए ईश्वरकृष्ण ने अपनी सांख्यकारिका ने कहा है कि-

"असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्यकरणात् कारणभावाच्च सत्कार्यम्" ॥ [9]

अर्थात, *असदकरण :* जिसका अस्तित्व नहीं है, उसे उत्पन्न नहीं किया जा सकता।

उपादानग्रहण : कुछ उत्पन्न करने के लिये सही उपादान (material) होना चाहिये।

सर्वसम्भवाभाव : किसी वस्तु से सब कुछ उत्पन्न नहीं किया जा सकता। बालू से तेल नहीं निकाला जा सकता।

शक्तस्य शक्यकरण : कारण केवल वही कर सकता है जो उसकी कर सकने की सीमा में हो।

कारणभाव : कार्य की प्रकृति, कारण जैसी होती है।

वहीं दूसरे मतानुसार जिसे असत्यकार्यवाद [10]के रूप में जानते हैं, का मानना है कि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में असत् अर्थात् विद्यमान नहीं रहता है बल्कि कार्य की एक नवीन उत्पत्ति होती है। कार्य में कारण का प्राग्भाग अर्थात् कार्य का अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में अभाव होता है। कार्य एक नवीन सृष्टि है और उसकी सत्ता का प्रारम्भ उसकी सृष्टि से होता है।

इसी प्रकार तीसरा मत प्रतीत्यसमुत्पाद[11] कहलाता है। जिसके अनुसार कारण के होने पर

ही कार्य होता है। कारण के नहीं होने पर कार्य नहीं होता है। इनका मानना है कि कार्य की उत्पत्ति के लिए कारण के साथ अनुकूल सहयोगी बाह्य घटकों का भी होना आवश्यक है।

अब हमारे सामने समस्या यह है कि किस को हम अधिक तर्कसंगत मानें यदि हम सत्यकार्यवाद को मानें तो हमारे सामने यह समस्या आती है कि यदि कार्य अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में ही विद्यमान है तो फिर दोनों में से एक ही प्रयोजन की सिद्धि होनी चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसी प्रकार यदि असत्यकार्यवाद को मानें तो भी समस्या उत्पन होती है कि यदि कार्य को कारण में अपनी उत्पत्ति के पूर्व असत् मान लिया जाए तो फिर वैसे कारण से किसी इच्छित कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती, गीता में कहा गया है कि 'नासतो विद्यते भव नाभावो विद्यते सत्।

परन्तु यदि हम प्रतीत्यसमुत्पाद को माने तो हम कुछ समस्याओं से बच सकते हैं। क्योंकि प्रतीत्यसमुत्पाद मध्यम् मार्ग का परिचायक है। यह शाश्वतवाद और उच्छदेवाद के बीच का मार्ग है। प्रतीत्यसमुत्पाद के अनुसार वस्तुए नित्य नहीं हैं, इनकी उत्पत्ति अन्य कारणों से होती है, परन्तु इनका पूर्ण विनाश नहीं होता है। वस्तुएं प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं।

प्रतीत्यसमुत्पाद एक प्रकार की सापेक्षकारणता है। ये सत्यकार्यवाद की भाँति न तो कार्य की अपनी उत्पत्ति के पूर्व कारण में विद्यमानता मानकर उसकी नवीनता का खण्डन करते हैं और न ही असत्यकार्यवाद की भाँति कार्य को कारण से पृथक् और स्वतन्त्र मानकर उसकी स्वतन्व सत्ता को स्थापित करते हैं। यहाँ इस सन्दर्भ में बौद्धों का मत सापेक्षकारणतावाद कहलाता है। इसके अनुसार कार्य को अपनी उत्पत्ति के लिए कारण की अपेक्षा होती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कार्य और कारण तथा इनके मध्य सम्बन्धों को लेकर समस्या उठती है जिसके कारण द्रव्य, आत्मा, ईश्वर आदि की नित्यता एवं आधार पर प्रश्न चिन्ह उठ खड़ा होता है। शायद इन्ही समस्याओं से बचने के लिए पाश्चात्य दर्शन में ह्यूम ने द्रव्य तथा आत्मा आदि को नित्य न मानकर प्रत्ययों का संघात माना है तथा बौद्ध दर्शन में भी बाह्य वस्तुओं का खण्डन करते हुए उसे मानसिक संरचना का एक रूप बताया गया है, जो हमारे मन द्वारा बनाया जाता है तथा बाह्य जगत् में प्रतीत किया जाता है। साथ ही आत्मा को पंच स्कन्धों (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान) का संघात मानते हैं तथा ईश्वर आदि की सत्ता को भी नकारते है, परन्तु पुनर्जन्म को स्वीकार कर जगत् में कर्म नियम की समुचित व्याख्या करते हैं।

उपरोक्त विचारों के आधार पर यह स्पष्ट होता है कि कारणता सिद्धान्त दार्शनिक विमर्श का एक केन्द्रीय तत्व है, जो न केवल भारतीय दर्शन बल्कि पाश्चात्य दर्शन में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। कारण-कार्य के मध्य संबंध की व्याख्या विभिन्न दार्शनिक मतों के माध्यम से की गई है, जिनमें सत्कार्यवाद, असत्यकार्यवाद, और प्रतीत्यसमुत्पाद जैसे प्रमुख सिद्धान्त शामिल हैं। इन सिद्धान्तों में कार्य की उत्पत्ति और कारण के साथ उसके संबंध को लेकर मतभेद हैं, लेकिन सभी यह स्वीकार करते हैं कि कार्य के अस्तित्व के लिए किसी न किसी रूप में कारण की आवश्यकता होती है।

सत्कार्यवाद यह मानता है कि कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व कारण में निहित रहता है, जबकि असत्यकार्यवाद इसे पूरी तरह से अस्वीकार करता है और कार्य को कारण से पृथक् एक नवीन उत्पत्ति के रूप में देखता है। वहीं प्रतीत्यसमुत्पाद सापेक्षकारणता का सिद्धान्त प्रस्तुत करता है, जो कारण और कार्य के संबंध में एक मध्यम मार्ग अपनाता है। यह सिद्धान्त न तो कार्य को कारण में पूर्व विद्यमान मानता है और न ही इसे पूरी तरह से असत् स्वीकार करता है, बल्कि कार्य को कारण और सहायक बाह्य कारकों की अपेक्षा से उत्पन्न मानता है। इसके अतिरिक्त, ह्यूम जैसे पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी कारण-कार्य संबंध की अनिवार्यता को अनुभवजन्य आदत के रूप में देखा है, न कि वस्तुगत सत्य के रूप में। ह्यूम के अनुसार, कारण और कार्य के बीच कोई अनिवार्य संबंध प्रत्यक्ष रूप से अनुभव नहीं किया जा सकता, बल्कि यह हमारे मन में बार-बार के अनुभव से उत्पन्न विश्वास का परिणाम है।

अंततः, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कारणता सिद्धान्त द्रव्य, आत्मा, ईश्वर, कर्म-फल आदि जैसे दार्शनिक मुद्दों की व्याख्या के लिए आवश्यक है, लेकिन इसके स्वरूप और अनिवार्यता पर भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण हैं। कारण-कार्य के बीच संबंध को लेकर अनिश्चितता और जटिलता बनी रहती है, और इसका कोई एकमात्र सर्वमान्य समाधान नहीं है। यह प्रश्न दार्शनिक चिंतन का महत्वपूर्ण क्षेत्र है, जो विभिन्न सिद्धान्तों के बीच संतुलन और विवाद दोनों को जन्म देता है।

1. Vaisheshika Sutra- 1.1.15, Debasish Chakravarty, Vaisheshika Sutra of Kanada (New Delhi: D.K. Print World Ltd, 2004).
2. जगदिश सहाय श्रिवास्तव, पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ (इलाहाबाद: अभिव्यक्ति प्रकाशन, 2017), 78-79.
3. श्रिवास्तव, पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ, 110-111.
4. ह्यूम, डेविड. ए ट्रीटाइज़ ऑफ़ ह्यूम नेचर. (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1739), 161.
5. ह्यूम, डेविड. ए ट्रीटाइज़ ऑफ़ ह्यूम नेचर. (ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1739), 157.
6. श्रिवास्तव, पाश्चात्य दर्शन की दार्शनिक प्रवृत्तियाँ, 140-142.
7. चंद्रधर शर्मा, भारतीय दर्शन: आलोचन और अनुशीलन (दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 2013),140-141.
8. शर्मा, भारतीय दर्शन, 140-141.
9. Sanskrit Documents Collection: accessed February 30, 2022, https://sanskritdocuments.org/doc_z_misc_major_works/IshvarakRiS
10. शर्मा, भारतीय दर्शन, 187-188.
11. शर्मा, भारतीय दर्शन, 50-54.

****

भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन : डॉ.भीमराव अम्बेडकर की भूमिका

-श्वेता सिंह
राजनीति विज्ञान विभाग
सल्तनत बहादुर पी.जी.कालेज, बदलापुर, जौनपुर

भारत में स्वतंत्रता संघर्ष बहुपक्षीय रहा है। इसमें सभी वर्गों, जातियों, धर्मों के लोगों का योगदान रहा है। दलित समुदाय भी संघर्ष में साथ दिया है। भारत में दलित आन्दोलन का लम्बा इतिहास रहा है। अनेक संत महात्मा और समाज सुधारकों ने सामाजिक आर्थिक मुक्ति हेतु महती भूमिका निभायी है। दलित आन्दोलन के प्रारम्भिक प्रयास दक्षिण भारत में हुए। मद्रास में पेरियार रामस्वामी नायकर का अछूतोद्धार कार्यक्रम एक जुझारू संगठन बनकर उभरा। जिसने बाद में चलकर प्रदेश में दलितोंद्धार के क्षेत्र में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। महाराष्ट्र में महात्मा ज्योतिबा फुले इस आन्दोलन के प्रणेता थे। महात्मा फुले के प्रारम्भिक प्रयासों के अतिरिक्त राजा राममोहन राय, दयानन्द सरस्वती, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी विवेकानन्द, ईश्वर चन्द्र विद्यासागर, महात्मा गाँधी आदि संत एवं समाज सुधारकों ने देश भर में अस्पृ''यता निवारण एवं दलित कल्याण कार्यक्रम शुरू किये।

यहाँ उल्लेखनीय है कि इनमें से अधिकांश संत एवं समाज सुधारकों की दलितोद्धार में भूमिका अपीलों, विरोधों एवं रचनात्मक कार्यक्रमों तक सीमित रही। परन्तु दलित आन्दोलन को सीधी लड़ाई से जोड़ने के कार्य डॉ0 अम्बेडकर ने किये। अम्बेडकर का युग नारकीय पीड़ा का युग था। धर्म के नाम पर चल रही सदियों पुरानी असमानतामूलक एवं अन्यायपरक व्यवस्थाओं ने दलितों को प''ुवत जीवन जीने पर विव''ा कर दिया था। दलितों की स्थिति इतनी नारकीय थी कि दास और पशु उनके मुकाबले बेहतर थे। दास और पशु को उनके स्वामी छू सकते थे पर दलितों को छूना तो दूर सवर्ण हिन्दू उनकी परछाई से अपवित्र हो जाते थे और स्नान के बाद ही शुद्ध होते थे। उन्हें न सार्वजनिक कुँओं, तालाबों से पानी लेने का अधिकार था और न विद्यालयों में शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार था। यहां तक कि मंदिरों के दरवाजे भी उनके लिए पूर्णतः बन्द थे। दलित इसे अपनी नियति समझकर जी रहे थे। न उनमें स्थिति बोध था न अधि ाकार बोध।

छुआछूत धार्मिक आडम्बर, अंधविश्वास मानवीय असमानता के उन्मूलन एवं जातिविहीन समतामूलक समाज की स्थापना के लिए डॉ0 अम्बेडकर पूरी तरह से सामाजिक जागृति लाने को तत्पर हो उठे थे। इसके लिए उन्होंने दलित समाज मे आत्मसम्मान, गौरव, अधिकार बोध की नवीन चेतना जागृत करने के लिए एक साथ कई सामाजिक, सांस्कृतिक आन्दोलन को जन्म दिया जिसका मूल उद्देश्य दलित वर्ग को जातीय स्वतंत्रता दिलाकर नागरिक अधिकारों के प्रति मोड़ना था।

महाड़ सत्याग्रह :–

जातिग्रस्त मानसिकता, छुआछूत एवं सामाजिक विषमता के विरूद्ध पहला आन्दोलन महाराष्ट्र के कोलाबा जिले के महाड़ कस्बे में मार्च 1920 में किया। इस कस्बे में चावदार नामक सार्वजनिक तालाब था। इस सरोवर से हिन्दू के अलावा ईसाई, मुस्लिम सब लोग पानी लेते थे लेकिन दलित वर्ग के लोग उस तालाब से पानी नहीं ले सकते थे। पहले भी इसका कई बार विरोध हुआ। 1923 में बम्बई की विधान परिषद ने इस आशय का संकल्प पेश किया कि ''अस्पृ''य वर्गों को छूट दी जाये कि वे उन सभी सार्वजनिक जलाशयों, कुओं, धर्मशालाओं का इस्तेमाल कर सकते है जिनका निर्माण सार्वजनिक निधि से होता हो।

बम्बई सरकार ने 4 अगस्त 1923 को यह प्रस्ताव पारित किया। 11 सितम्बर 1923 को प्रस्ताव कार्यान्वित करने के लिए आदेश पारित किया। इसी के अधीन महाड़ नगर पालिका ने अछूतों को यह अधिकार प्रदान किया कि वह चावदार तालाब से पानी ले सकते हैं परन्तु महाड़ की बहुसंख्यक हिन्दू जनता के कानून पास होने पर भी तालाब से अछूतों को पानी नहीं लेने दिया। उन्होंने यह भी कहा ''जब तक हम तीन प्रकार के सुधार नही कर लेते, किसी स्थायी उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। हमें अपने विचारों को सुसंस्कृत करना चाहिए। हमारी आवाज में शक्ति हो, हमारी बात में वजन होना चाहिए। इसलिए आप लोगों से कहता हूँ कि मृत पशुओं का मांस खाना छोड़ दो। हमें अपने में से ऊँच–नीच और छोटे–बड़े का भेदभाव शीघ्र से शीघ्र समाप्त करना चाहिए। हमारी उन्नति तभी हो सकती है, जब हम अपने में स्वाभिमान की भावना उत्पन्न कर और हम स्वयं को पहचाने।

20 मार्च 1927 को उनके नेतृत्व में 2,5000 अस्पृश्य लोगों के जत्थे मुख्य सड़कों पर निकलते हुये चावदार तालाब पर पहुंचे। अस्पृश्यों ने पहली बार पानी पिया। यह सत्याग्रह कर डॉ0 अम्बेडकर ने दलितों को उनकी सामाजिक हैसियत का बोध कराया था और उन पर थोपी गई निर्योग्यताओं के विरूद्ध उनमें सीधी लड़ाई लड़ने का साहस पैदा किया। शीघ्र ही हिन्दुओं ने अनुभव किया कि यह सब क्या हो गया। उन पर पागलपन सवार हो गया और उन्होंने अस्पृश्यों पर अत्यधिक जुल्म ढाये और धार्मिक विधि–विधान से उसका पानी शुद्ध किया।

डॉ0 अम्बेडकर ने 26 जून 1927 को बहिष्कृत भारत पात्रिका में लिखा ''महाड़ के सनातनियों द्वारा धार्मिक रीति से महाड़ के पानी को पवित्र कर अछूतों का अपमान किया, इसलिए जो लोग उनके इस कार्य की निन्दा करना चाहते है वे बहिष्कृत हितकारिणी सभा के कार्यालय में अपना नाम लि खायें। उन्होंने आगे कहा हकि अछूत हिन्दू धर्म के अन्तर्गत

हैं या नहीं इस बात का हम हमेशा के लिए फैसला करना चाहते है।

सम्मेलन के लिए 25,26,27 दिसम्बर की तिथियां घोषित कर दी गयी। जब हिन्दुओं को पता चला तो उन्होंने जिला मजिस्ट्रेट से आवेदन किया कि दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 144 के अन्तर्गत आदेश जारी करके अस्पृश्यों को चावदार तालाब पर जाने से रोका जाये।

जिला मजिस्ट्रेट ने मना कर दिया कि यह एक सार्वजनिक तालाब है और सभी नागरिकों के लिए खुला हुआ है। अतः हिन्दुओं ने कानून का सहारा लेने का निश्चय किया। तद्नुसार विभिन्न जातियों के नव हिन्दुवादी बने और उन्होंने मिलकर 12 दिसम्बर 1927 को दावा संख्या 405 दायर किया। न्यायधीश ने 14 दिसम्बर 1927 को अम्बेडकर और अन्य प्रतिवादियों के खिलाफ अस्थायी निषेधाज्ञा दे दी।

25 दिसम्बर 1927 को महाड़ में सम्मेलन आरम्भ हुआ। जिला मजिस्ट्रेट परिषद में आये और कहा कि चूंकि चावदार तालाब को निजी सम्पत्ति मानने का दावा दायर है इसलिये फैसले तक आप प्रतीक्षा करें। अतः सम्मेलन इस निष्कर्ष पर **पहुँचा** कि उनकी बेहतरी और सुरक्षा इसी में होगी कि कानून का पालन किया जाये और रात की बैठक में सत्याग्रह स्थगित करने का निर्णय लिया। डॉ0 भीमराव अम्बेडकर ने स्वयं चावदार तालाब पर अछूतों के अधिकार के दावे हेतु कोर्ट का दरवाजा खटखटाया। लम्बी लड़ाई के बाद बम्बई हाईकोर्ट ने मार्च 1937 को अछूतों के पक्ष में अपना निर्णय दिया।

इस प्रकार चावदार आन्दोलन ने अछूतों के आत्मसम्मान, आत्मवि"वास और आत्मनिर्भरता प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इस आन्दोलन के द्वारा अम्बेडकर ने दलितों को अमानुषिक छुआछूत के विरूद्ध उठ खड़े होने की प्ररेणा और सम्मान पूर्वक जीवन प्राप्त करने की दिशा की ओर अग्रसर किया। इस भांति महाड़ में जो क्रांति हुई थी उसके बारे में डॉ0 अम्बेडकर ने कहा "उत्पीड़ित मूक जनता ने बिना उल्लेखनीय अत्याचार के अल्प समय में समान अधिकार प्राप्त कर दिखाये। यह दुनिया के इतिहास में आज अघटित अप्रत्या"ात क्रांति है।

गांधी जी के 1930 के दांडी मार्च का राजनीतिक दृष्टि से जो महत्व था वही सामाजिक दृष्टि से डॉ0 अम्बेडकर के महाड़ सत्याग्रह का था।

डॉ0 अम्बेडकर ने हिन्दू समाज के इतिहास में नया अध्याय लिखा। उन्होंने सदियों से दबे कुचले अछूतों को स्वाबलम्बन और स्वाभिमान का पाठ पढ़ाया। हिन्दू समाज के दमनात्मक कार्यो के विरूद्ध उन्होंने सीधी लड़ाई छेड़कर जातीय स्वतंत्रता एवं सामाजिक न्याय के मंत्र का उद्घोष किया।

कालाराम मंदिर प्रवेश आन्दोलन :–

डॉ0 अम्बेडकर अछूतों व दलितों को सामाजिक समानता और मानवता के धरा पर ले जाने के लिए मंदिर प्रवेश आन्दोलन को छोड़कर नवीन सामाजिक क्रांति का सूत्रपात किया। 1930 में उनका कालाराम मंदिर प्रवेश आन्दोलन शुरू किया। इस आन्दोलन से पूर्व भी मंदिर प्रवेश से सम्बन्धित आन्दोलन हो चुके थे। इस आन्दोलनों की प्रेरणा से ही कालाराम मंदिर सत्याग्रह के अभियान की शुरूआत हुई। अतएव इन प्रमुख आन्दोलन पर संक्षिप्त प्रकाश डालना अनिवार्य हो जाता है–

अमरावती महाराष्ट्र में अम्बादेवी का प्रमुख मंदिर था। 1925 में अछूतों ने इस मंदिर में प्रवेश के लिए आन्दोलन चलाया। हिन्दुओं ने पहले इस आंदोलन को मखौल समझा लेकिन जैसे–जैसे समय बीतता गया इसकी गम्भीरता बढ़ती गयी। इस आन्दोलन की विशेष बात यह थी कि दलित वर्गों के अल. ावा कुर्मी, तेली, मराठा आदि के साथ कुछ उदारवादी ब्राह्मण भी साथ दे रहे थे।

यह आन्दोलन पाँच वर्ष तक जारी रहा। पहले इस आन्दोलन को रोकने के काफी प्रयास हुए लेकिन बाद में आन्दोलन की गम्भीरता देखते हुये सनातनी लोगों ने दलित समुदाय के सम क्ष तीन शर्तें रखी, "पहली, मूर्ति के चारों ओर दीवार बना दी जाये, दूसरी, दीवार के अन्दर केवल पुजारी ही मूर्ति के पास जा सकेगा। तीसरी शर्त यह थी कि जब वे मंदिर में दर्शन पूजन कर रहे हो तब अछूत मंदिर में न जायें।"

मंदिर प्रवेश से जुड़े आन्दोलनकारियों ने इसे भेदपूर्ण माना और इन शर्तो को अस्वीकार करते हुए अपना आन्दोलन जारी र खा। 14 नवम्बर 1927 को अमरावती में ही एक विशाल जनसभा का आयोजन किया गया। इस सभा की अध्यक्षता बाबा साहब डॉ0 अम्बेडकर ने की। यद्यपि सभी के बीच में ही डॉ0 अम्बेडकर को अपने बड़े भाई श्री बालाराव अम्बेडकर के निधन का तार मिला, फिर भी उन्होंने गम्भीरता, धैर्य और साहस से कार्यवाही को पूर्ण किया।

इसी क्रम में बम्बई के मूंबा देवी मंदिर में 15 जनवरी 1928 को प्रवेश आन्दोलन शुरू हुआ। डॉ0 अम्बेडकर के नेतृत्व में जुलूस निकाला गया। जुलूम में नारे लगाये जा रहे थे "अगर हम एक ही ईश्वर की संतान है तो हमें भी मूंबा देवी के मंदिर में पूजा करने का अधिकार है, हमें भी पुरोहित बनने का अधिकार है, अगर हम हिन्दू हैं तो हमें हिन्दुओं के पूरे अधिकार होने चाहिये।" वास्तव में धार्मिक अन्धविश्वासों, रूढवादिता से ग्रसित समाज को झकझोरने वाला यह एक मौलिक प्रश्न था। पूर्वाग्रही समाज के पास कोई उत्तर नहीं था। उत्तर मे केवल उन्होंने सत्याग्रहियों पर ईंट पत्थर और लाठियाँ बरसायी।

1930 में इसी विद्रोही बाने को अपनाये हुये उन्होने कालाराम मंदिर में अस्पृश्यों के प्रवेश एवं पूजा के अधिकार हेतु आन्दोलन को छेड़ दिया। कालाराम मंदिर प्रवेश आन्दोलन की परिणति थी। 2 मार्च 1930 को विशाल सभा को सम्बोधित करते हुए डॉ0 अम्बेडकर ने कहा "हम अपने ध्येय की पूर्ति के लिए हर कष्ट और विपत्ति सहने को तैयार हैं। हम भी मानव है। हम भारत में करोड़ों की संख्या में हैं, हमें केवल प्शुनुमा इन्सान बनाकर नहीं रखा जा सकता। हमारी अज्ञानता, गरीबी, शोषण, अनाचार का आधारभूत कारण हिन्दूधर्म है। हमारे मंदिर प्रवेश आन्दोलन का विरोध किया जाना इस बात को सिद्ध करता है हमारा समाज इस हिन्दू धर्म का अंग नहीं है। अगर हम हिन्दू हैं तो हमें भी ब्राह्मणों के सारे अधिकार मिलने चाहिये।"

अछूतों ने 3 मार्च 1930 से नासिक के कालाराम मंदिर में प्रवेश हेतु सत्याग्रह का निश्चय किया। 3 मार्च 1930 की सुबह ऐतिहासिक संघर्ष शुरू हुआ। 125 पुरूष तथा 25 स्त्रियों का प्रथम दल मंदिर के चारों तरफ तैनात कर दिया गया। आठ हजार सत्याग्रही वहीं अपनी बारी की प्रतीक्षा करने लगे। मंदिर के चारों ओर हथियारबंद पुलिस थी पुजारियों ने मंदिर के प्रवेश द्वार चारों ओर से बन्द कर दिये थे। इन सबके होते मंदिर में प्रवेश करना मुश्किल था।

शंकराचार्य की अध्यक्षता में एक बैठक सवर्ण हिन्दुओं की हो चुकी थी। मंदिर में प्रवेश की समस्या अब गम्भीर रूप ले चुकी थी। आखिर 9 अप्रैल 1930 रामनवमी का दिन आ गया। इस अवसर पर मंदिर से कालाराम की मूर्ति को रथ पर रखकर जुलूस निकाला जाता था। रथ को रस्सियों से खींचा जाता था। सत्याग्रही भी भगवान के रथ में कन्धा लगाकर रथ खींचना चाहत थे। अतः सवर्ण हिन्दुओं और मंदिर के ट्रस्टियों के सामने विकट समस्या थी क्योंकि बाहर सत्याग्रही थे। अतः सवर्ण हिन्दुओं ने आन्दोलनकारियों से यह समझौता किया कि एक ओर रस्सी को सवर्ण हिन्दू खीचेगें। इस पर आन्दोलनकारी तैयार हो गये।

डॉ0 अम्बेडकर अपने कुछ चुनिंदा साथियों को लेकर मंदिर के द्वार के पास पहुंचे कुछ उपद्रवी तत्वों ने उनको झगड़े में फँसा लिया और सनातनी रथ लेकर चल दिये। रूदेकर नामक एक अछूत नौजवान ने दौड़कर रथ पकड़ लिया। इसके बाद तो धर्मान्ध लोगों ने ईंटों डण्डों की मार से आल्दोलनकारियां को लहुलुहान कर दिया। अम्बेडकर का जीवन खतरे में था। सत्याग्रह के नायक दादा साहब भाउराव गायकवाड़ ने उन्हें सुरक्षित स्थान पर चलने के लिए कहा परन्तु अविचल मुद्रा में उन्होंने कहा ''मैं अपने हजारों भाइयों की जान खतरे में डालकर मैदान से भाग जाने के लिए इस आन्दोलन का नेतृत्व नहीं कर रहा हूँ, मेरी जान भले ही चली जाये मैं युद्ध भूमि से हट नहीं सकता।'' सूचना पाकर पुलिस आयी लेकिन उसने अछूतों पर ही डण्डे बरसाये।

कलेक्टर ने रथयात्रा जुलूस पर प्रतिबन्ध लगा दिया। क्योंकि रथयात्रा के समय बाबा साहब के अनुयायी आन्दोलन कर रहे थे। पाँच वर्षों तक आन्दोलन चलता रहा। इस मंदिर प्रवेश आन्दोलन के कारण अस्पृश्यों को गाँव बहिष्कार अत्याचार इत्यादि का सामना करना पड़ा था। फिर भी नासिक का सत्याग्रह चलता रहा। दादा साहब गायकवाड और अमृतराव रणखोबे ने 13 अक्टूबर 1935 तक बराबर जारी रखा। अन्त में डॉ0 अम्बेडकर के प्रयासों से 1935 में मंदिर प्रवेश कानून बनने पर कालाराम मंदिर के दरवाजे अछूतों के लिये खुल सके।

डॉ. अम्बेडकर ने अपने इन विभिन्न आन्दोलनों से सामाजिक एवं धार्मिक क्रांति का सूत्रपात किया। उनका मानना था कि समाज में समानता स्थापित नहीं हो जाती, तब तक समाज में किसी प्रकार का विकास सम्भव नहीं है। मंदिर प्रवेश आन्दोलन के द्वारा उन्होने इस देश के उन दलित शोषित मानवों को उनके अधिकारों का बोध कराया व उनके लिये उन्हें संघर्षशील बनाया।

निष्कर्ष–

डॉ0 अम्बेडकर समाजिक परिवर्तन के अग्रदूत थे। देश के कल्याण के लिए उन्होंने ज्यादा परिवर्तन करने का प्रयास किया। सामाजिक न्याय के प्रथम प्रवक्ता भीमराव अम्बेडकर ही हुए। अम्बेडकर ने ही पहली बार सामाजिक न्याय का उद्घोष किया और उसके अनुरूप ही दलित–क्रांति को रेखांकित किया, जिसके कारण दलितों ने स्वयं को शिक्षित करना ही नहीं सीखा, अपितु उच्च शैक्षिक उपाधियाँ भी प्राप्त की। दलित क्रांति–पथ पर ही दलित–विमर्श को नयी दिशा और दशा मिली। स्पष्ट यह भी हुआ कि दलित–चेतना की चाँदनी और ध ाूप, दोनों रूपों का मूल अम्बेडकर ही सिद्ध हुए।

यह स्पष्ट भी हो गया कि जब दलित वर्ग का कहीं सम्मेलन होता था, तब काँग्रेस पार्टी के नेता लोग उसमें गड़बड़ी कर अशान्ति फैला देते थे। इस प्रकार के उपद्रव को रोकने की दिशा में बाबा साहेब ने स्वयं–सेवक संघ की तरह, दलित नवयुवक–नवयुवतियों का 'समता सैनिक दल' बनाया, जिसका बहुत विशाल सम्मेलन 1942 में किय गया। इस सम्मेलन के माध्यम से उन्होंने दलित युवजन में अनुशासन, आत्मरक्षा, अपने नेताओं की रक्षा समेत अत्याचार का विरोध करने की भावना करने का काम किया, लेकिन ऐसी भावना पूर्णतः नहीं भरी जा सकी, जिसके कारण भी दलित विकासह. ीन ही अधिक प्रतीत हो रहे है। राष्ट्रीय स्वंयसेवक संघ की सेना आज भी बुलन्द दिखती है, लेकिन 'समता सैनिक दल' साकार नहीं दिख रहा है।

सन्दर्भ–

1.डॉ. अंगने लाल– बोधिसत्व बाबा साहब डॉ0 अम्बेडकर जीवन और दर्शन– प्रकाशन– सूचना एवं जन सम्पर्क विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ

2.डॉ. अनिल गजमिये, डॉ0 एन. जे. वाघमारे– भारतरत्न डॉ0 बाबा साहब अम्बेडकर विचार मन्थन खण्ड–1, प्रकाशन– शासकीय कला वाणिज्य विधि महाविद्यालय इन्दौर, (म.प्र.) 1994

3.बुद्ध शरण हंस– डॉ0 अम्बेडकर के विचार, प्रकाशक– अम्बेडकर मिशन, पटना

4.बसन्तमून– डॉ0 बाबा साहब अम्बेडकर, अनुवादक– प्रशान्त पाण्डेय, प्रकाशक– नेशनल बुक ट्रस्ट इण्डिया नई दिल्ली– 1991

5.डॉ0 डी.आर. जाटव– डॉ0 अम्बेडकर के समाजशास्त्रीय विचार, प्रकाशक शकुन्तला जातक समता साहित्य सदन, जयपुर– 1996

6.धनजंय कीर– डॉ0 अम्बेडकर लाईफ एण्ड मिशन बाम्बे पोपुलर प्रकाशन 1971.

प्राथमिक स्तर पर अधिगम परिणामों के विकास का विश्लेषणात्मक अध्ययन

–मोर पाल सिंह ,
शोधार्थी
कुमाऊँ विश्वविद्यालय,नैनीताल,उत्तराखण्ड

- प्रो. रूचि हरीश आर्या
शिक्षाशास्त्र विभाग
राजकीय महाविद्यालय मोरी, उत्तरकाशी, उत्तराखण्ड

सारांश

भारत में शिक्षा की गुणवत्ता के मापन हेतु समय–समय पर अनेकों प्रणालियॉ एवं मानकों का निर्धारण किया गया है। जैसे– प्रतिशत–अंक, न्यूनतक अधिगम स्तर, मानक ग्रेड व अधिगम परिणाम। इन मानकों को पूर्व में किये गये अनुसंधानों एवं राष्ट्रीय स्तर की नीतियों में दिये गये सुझावों एवं तत्कालीन आवश्यकताओं के अनुसार समय–समय पर उन्नत किया गया है। वर्तमान अध्ययन में प्राथमिक स्तर पर अधिगम परिणामों के विकास का विश्लेषण, विषयवस्तु विश्लेषण विधि द्वारा किया है। अध्ययन में पाया गया कि अधिगम परिणामों का यह दस्तावेज ***"प्रारम्भिक स्तर पर सीखने के प्रतिफल 2017"*** *प्राथमिक स्तर की शिक्षा में गुणवत्ता लाने की अपार सम्भावनाओं को समेटे हुए है। अतः अधिगम परिणामों का यह दस्तावोज शिक्षा में नवीन क्रान्ति लाने में सक्षम है।*

कुंजी शब्दः *अधिगम परिणाम, अधिगम संकेतक, व्यावहारिक कौशल, सतत् विकास।*

प्रस्तावना

शिक्षा मानव विकास का आधार है, कोई व्यक्ति अपने जीवन में किस स्तर के कौशलों को धारण करेगा, यह उसके द्वारा अर्जित की जाने वाली शिक्षा पर ही निर्भर करता है। भारतीय नागरिकों द्वारा ग्रहण की गयी शिक्षा की गुणवत्ता के मापन हेतु समय–समय पर अनेकों प्रणालियॉ एवं मानकों का विकास किया गया है। जैसे– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में शैक्षिक गुणवत्ता को मापने हेतु न्यूनतक अधिगम स्तर का निर्धारण मानकों के रूप में किया गया। जिन्हें शिक्षा व्यवस्था में एक शैक्षिक सत्र के अन्त में होने वाली परीक्षा में विद्यार्थियों द्वारा अर्जित प्राप्तांकों से तुलना करके मापा जाता था। इनके मूल्यांकन हेतु परीक्षा–प्रणाली का प्रयोग किया गया। वर्ष 2009 में सतत् एवं व्यापक मूल्यांकन (सीसीई) के अस्तित्व में आने के बाद शैक्षिक गुणवत्ता को ग्रेडिंग प्रणाली से विद्यार्थियों द्वारा अर्जित ग्रेडस् की तुलना मानक ग्रेड से करके मापा जाने लगा। वर्तमान में अधिगम परिणामों को इन मानकों/सन्दर्भ बिन्दुओं के रूप में ही लागू किया जा रहा है। विद्यार्थियों द्वारा अर्जित शैक्षिक गुणवत्ता के मापन हेतु निर्धारित *"अधिगम परिणाम वे संदर्भ बिन्दु हैं जो यह निश्चित करते हैं कि एक शैक्षिक सत्र के अन्त तक विद्यार्थियों के लिए किस स्तर तक के कौशलों को अर्जित करना है।"* एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा शैक्षिक–सत्र 2017–18 से अधिगम परिणामों के "प्रारम्भिक स्तर पर सीखने के प्रतिफल" नामक दस्तावोज को कक्षा 1 से कक्षा 8 तक के लिए लागू किया जा रहा है। जिसे देश के सभी राज्यों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों के सभी सरकारी, एडेड एवं निजी विद्यालयों हेतु बनाया गया है। अधिगम परिणामों के इस दस्तावेज तक पहुचने के लिए विभिन्न सरकारी नीतियों में वर्णित सुझावों का अनुपालन किया गया है और यह माना जा रहा है कि यह दस्तावेज विद्यार्थियों के सीखने के अनुरूप अब तक लाये गये सभी दस्तावेजों में प्रस्तावित सुझावों व जनसामान्य द्वारा दी गयी प्रतिक्रियाओं के समावेशन द्वारा निर्मित अब तक का सबसे उन्नत स्तर का दस्तावेज है। जो भारतीय परिस्थितियों में विद्यार्थियों के सीखने की गुणवत्ता के सन्दर्भ में नई क्रान्ति लाने के लिए प्रतिबद्ध है। इसकी

सहायता से विद्यार्थी सीखे गये कौशलों को अपने व्यावहारिक जीवन में अपनाकर आसानी से सफलता प्राप्त कर सकेंगें।

सम्बन्धित साहित्य का सर्वेक्षण

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1968) ने सर्वप्रथम शैक्षिक प्रभा–वशीलता को बढ़ाने के लिए शिक्षा का त्रिभाषा सूत्र दिया। जिसमें विद्यार्थी की शिक्षा के माध्यम में हिन्दी, अंग्रेजी और मातृभाषा को शामिल किया। इस शिक्षा नीति में ही सव. ंप्रथम 14 वर्ष तक के विद्यार्थियों के लिए निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा के प्रत्यय को दिया गया। इस नीति में परी क्षा प्रणाली में बदलाव लाकर उसमें विद्यार्थियों की समझ और विश्लेषणात्मक कौशलों के मूल्यांकन पर जोर देने को प्रोत्साहित किया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति (1986) ने सर्वप्रथम सार्वभौमिक नामांकन, ठहराव एवं शैक्षिक गुणवत्ता को महत्व दिया। इस नीति में शिक्षा की सार्वभौमिक पहुँच को सुलभ बना ने सम्बन्धी प्रावधान किये। इसका सर्वाधिक चर्चित प्रयास 1.5 किमी. के दायरे में एक प्राथमिक विद्यालय तथा 3 किमी. के दायरे में एक उच्च प्राथमिक विद्यालय के होने को सुनिश्चित करना है। शैक्षिक गुणवत्ता हेतु इस नीति में न्यूनतम अधिगम स्तर (एम.एम.एल.) को लाया गया। जिसके अनुसार प्राथमिक विद्यालय के सभी विद्यार्थियों को इन न्यूनतम अधिगम स्तर को प्राप्त करना अनिवार्य कर दिया गया।

प्रोगाम ऑफ एक्शन (1992) ने राष्ट्रीय एकता की भावना को महत्व देते हुए निजी विद्यालयों को भी आम स्कूल में परिवर्तित करते हुए कॉमन स्कूल सिस्टम की संस्तुति की। परीक्षा प्रणाली के स्थान पर सीसीई एवं सेमेस्टर सिस्टम लागू करने पर जोर दिया। शिक्षा की गुणवत्ता को शिक्षक–शिक्षा की गुणवत्ता पर निर्भर स्वीकार करते हुए शिक्षक–शिक्षा में सुधार पर अत्यधिक जोर दिया।

यशपाल समीति (1993) ने पहली बार शिक्षा में बढ़ते विषयों एवं पुस्तकों की संख्या के स्थान पर शैक्षिक गुणवत्ता को महत्व देते हुए 'लर्निंग विदाउट बर्डन' नामक रिपोर्ट प्रस्तुत की।

राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा (2005) न अधिगम में रचनात्मक उपागम पर जोर देते हुए शिक्षक केन्द्रित शिक्षा के स्थान पर विद्यार्थी केन्द्रित शिक्षा को महत्व दिया। इसने विद्यार्थी को ज्ञान के सक्रिय निर्माता के रूप में स्वीकार करते हुए सम्पूर्ण शिक्षा व्यवस्था को आनन्दमय बनाने पर जोर दिया। ज्ञान को बाहर के जीवन से जोड़ना, रटने की प्रणाली को समाप्त करना, बालकेन्द्रित शिक्षा, तनावमुक्त वातावरण में शिक्षा, पाठ्यक्रम को अधिकाधिक व्यावहारिक बनाना इसके प्रमुख सिद्धान्त रहे।

सतत एवं व्यापक मूल्यांकन (2009) न शैक्षिक गुणवत्ता को निर्धारित करने वाली मूल्यांकन प्रणाली को ही बदल दिया। इसने सत्र के अन्त में होने वाली परीक्षाओं के स्थान पर निरन्तर मूल्यांकन पर जोर दिया जो विद्यार्थियों की शैक्षिक और सहशैक्षिक दोनों पहलुओं का सतत आंकलन करती हो। परीक्षा प्रणाली में अंकों के स्थान पर ग्रेडिग सिस्टम का प्रयोग करते हुए विद्यार्थियों के सभी पक्षों के रचनात्मक एवं योगात्मक मूल्यांकन पर जोर दिया।

असर रिपोर्ट (2013) ने पहली बार नामांकन के स्थान पर लर्निंग आउटकम (अधिगम परिणाम) पर केन्द्रित होने पर बल दिया। जबकि वर्ष 2005–06 से ही प्रथम नामक एन. जी.ओ. की एनुअल स्टेट्स ऑफ एजूकेशन रिपोर्ट (असर) जारी होना प्रारम्भ हो गयी। प्रारम्भ में इस रिपोर्ट का उद्देश्य प्राथमिक विद्यालयों में नामांकन एवं अन्य सुविधाओं की आपूर्ति सम्बन्धित स्थिति का उल्लेख करना था। किन्तु वर्ष 2012 के बाद इसका केन्द्र इन निवेशों (इन्पुटस) से हटकर शैक्षिक गुणवत्ता के उपयुक्त अधिगम परिणामों की

आवश्यकता की ओर मुड़ गया।

एन.सी.ई.आर.टी. (2014) ने प्रत्येक स्तर पर प्रत्येक कक्षा में विद्यार्थियों के मूल्यांकन के लिए अधिगम संकेतकों को **लर्निंग इंडीकेटर एण्ड लर्निंग आउटकम रिपोर्ट** में प्रस्तुत किया। इन संकेतकों के निर्माण का आधार रचनात्मक मूल्यांकन था जिसके द्वारा दिये गये संकेतकों से विद्यार्थियों के अधिगम परिणामों की तुलना करके उनकी प्रगति की तुलना की जा सके।

वर्ल्ड एजूकेशन फोरम रिपोर्ट (2015) ने विश्व के सभी सदस्य देशों में शिक्षा तक पहुॅच, समावेशन एवं समता, लैगिंक समानता, शैक्षिक गुणवत्ता, जीवनपर्यन्त अधिगम उपागम एवं द्वन्द्व और आपदाओं सम्बन्धी मुद्दों पर सामू. हिक प्रतिबद्धता की घोषणा की। इसमें 12 वर्षीय निशुल्क एवं समतामूलक गुणवत्तापूर्ण प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा का प्रावधान किया गया। जिसमें से कम से कम 9 वर्ष की अनिवार्य शिक्षा जो विद्यार्थियों को प्रासंगिक अधिगम परिणामों तक ले जाने में सक्षम हो, प्रदान करना निश्चित किया गया।

सतत विकास लक्ष्य रिपोर्ट (2016) में बताया गया कि वर्ष 2015 तक अधिकांश विकासशील देशों में नामांकन एवं साक्षरता दर में तो वृद्धि हुई, उनकी शैक्षिक गुणवत्ता में अत्यधिक कमी दर्ज की गयी। जिसकों आधार मानते हुए 21 सतत विकास लक्ष्यों में से चौथे लक्ष्य को शिक्षा से सम्बद्ध किया गया और इसमें सभी सदस्य देशों को अधि गम परिणामों आधारित गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करने के लक्ष्य से सम्बद्ध किया गया।

मानव संसाधन एवं विकास मंत्रालय द्वारा वर्ष 2017 में पहली बार अधिगम परिणामों को सुस्पष्ट रूप से परिभाषित करते हुए **"प्रारम्भिक स्तर पर सीखने के प्रतिफल (2017)"** नामक दस्तावोज में अधिगम परिणामों को प्रारम्भिक शिक्षा हेतु जारी किया गया।

अध्ययन की आवश्यकता एवं महत्व

अधिगम परिणामों की प्राप्ति को सीखने के प्रतिफल 2017 द्व ारा प्रारम्भिक स्तर की सभी कक्षाओं हेतु मानदंड़ों के रूप में नियम बनाकर सम्मिलित किया गया है जोकि विद्यार्थियों के सीखने के स्तर के राष्ट्रीय मानकों के रूप में स्थापित कर दिये गये हैं। वर्तमान में सम्पूर्ण देश की प्रारम्भिक स्तर पर शैक्षिक गुणवत्ता के आंकलन का एकमात्र आधार ये अधिगम परिणाम ही हैं। अतः अधिगम परिणामों के अस्तित्व की जानकारी सम्बन्धी अनुसंधान भी अनिवार्य हो जाता है।

अधिगम परिणाम का सम्बन्ध विद्यार्थियों के व्यक्तित्व एवं व्यवहार में आये प्रदर्शन से है, जबकि इससे पूर्व में आये प्रत्यय न्यूनतम अधिगम स्तर (एम.एल.एल.)आदि का सम्बन्ध छात्र के द्वारा अर्जित की गयी जानकारी व उसके स्मृति ज्ञान के प्रदर्शन से था। इसके अतिरिक्त एम.एल.एल. का सम्बन्ध विद्यार्थियों को पढ़ायी जाने वाली निश्चित विषयवस्तु से इन्हें ही अन्तिम उत्पाद लक्ष्यों (एम.एल.एल.) के रूप में हासिल करना था। जबकि अधिगम परिणाम व्यावहारिक परिवर्तन को दर्शाते हैं जिसके लिए विद्यार्थियों को क्या–क्या पढ़ना है ये निश्चित करना होता है। यह बिल्कुल आवश्यक नहीं है कि किसी अधिगम परिणाम की प्राप्ति किसी निश्चित विषयवस्तु से हो ही जाये। बल्कि एक ही अधिगम परिणाम के लिए समान प्रकृति की कई विषयवस्तुओं को जोड़कर पढ़ाया जाना आवश्यक हो सकता है, साथ ही विद्यार्थियों को इस अधिगम परिणाम से सम्बन्धि त अन्य व्यावहारिक एवं जीवन से जुड़ी हुई गतिविधियों में शामिल करना भी निश्चित किया गया है, जिससे वे उसके व्यावहारिक उपयोग को भी समझ सकते हैं। इस प्रकार हमें यह ज्ञात होता है कि निश्चित ही अधिगम परिणामों का विकास इससे पूर्व में आये सभी प्रत्ययों के विकास की मूल–संकल्पना को ध्यान में रखकर किया गया है। अतः अधिगम परिणामों के विकास के अध्ययन की आवश्यकता का भी जन्म होता है।

इसके अतिरिक्त अधिगम परिणामों के विकास के

अध्ययन की आवश्यकता इसलिए भी है क्योंकि अधिगम परिणामों के विकास के गहन अध्ययन द्व ारा ही शिक्षकगण अधिगम परिणामों के प्रत्यय, उनकी आवश्यकता एवं महत्व को भली भॉति समझकर ही उन्हें धरातल पर सक्षम रूप में लागू कर सकते हैं। इससे अभिभावकगण, व्यवस्थापक एवं सामान्यजन भी अधिगम परिणामों की प्राप्ति में अपनी सहयोगी भूमिका को समझकर उसका निर्वहन करने हेतु तत्पर हो सकेंगे।

अध्ययन का उद्देश्यः

प्राथमिक स्तर पर अधिगम परिणामों के विकास का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना।

अध्ययन विधि

वर्तमान अध्ययन में अधिगम परिणामों से सम्बन्धित प्राथमिक एवं द्वितीयक स्रोतों से प्राप्त ऑकड़ो एवं सूचनाओं के विश्लेषण हेतु *"विषयवस्तु विश्लेषण विधि"* का प्रयोग किया गया है।

अधिगम परिणामों की विकास प्रकिया का कमिक विश्लेषण एवं व्याख्या

1.भारत में स्वतंन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त शिक्षा तक अधि ाकाधिक पहुॅच निर्धारित करने के उद्देश्य से अनेकों नीतियॉ बनायी गयीं। सर्वप्रथम 1968 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति में *14 वर्ष तक की आयु के बच्चों के लिए निशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा* के प्रत्यय को शामिल किया गया **(राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1986, पृ.13)**। विद्यार्थियों के प्रदर्शन का मूल्यांकन केवल परीक्षा परिणामों के प्रमाणपत्र के रूप में न होकर उनकी अधिगम उपलब्धि स्तर के सतत मूल्यांकन के रूप में होना चाहिए जिससे वह अपने अधिगम उपलब्धि स्तर में सुधार कर सके **(राष्ट्रीय शिक्षा नीति, 1968, पृ.6)**। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में शिक्षा की पहुॅच को बढ़ाने के साथ–साथ शैक्षिक गुणवत्ता के उद्देश्य हेतु न्यूनतम अधिगम स्तर (एम.एल.एल) नामक प्रत्यय का उदय हुआ। एम.एल.एल. शिक्षक केन्द्रित एवं उत्पाद आधारित थे, जिनमें विद्यार्थी को उसकी कक्षा स्तर के अन्तिम लक्ष्य के रूप में कम से कम इतना अवश्य सीख लेने पर जोर दिया गया। एम.एल. एल. के उपरान्त ही शैक्षिक गुणवत्ता पर बहस को बल मिला। इस नीति में महिला निरक्षरता को दूर करने को भी शामिल किया। प्रत्ययों की समझ के स्तर को बढ़ाने हेतु तकनीकी को शिक्षा के सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया गया।

2.अधिगम प्रकिया में रचनावादी उपागम के आ जाने से विद्यार्थी केन्द्रित अधिगम शैली को महत्व मिला एनसीएफ 2005 ने विद्यार्थी की क्षमता के अनुसार सीखने–सिखाने की प्रकिया को महत्व देते हुए सीखने को ज्ञान के निर्माण की एक प्रकिया के रूप में अपनाया है **(एनसीएफ, 2005)**। इससे प्राथमिक स्तर के पाठ्यक्रम एवं शिक्षण अधिगम प्रकिया में आमूल–चूल परिवर्तन हुए। जहॉ विद्यार्थी अब निष्क्रिय स्रोता न होकर स्वयं के ज्ञान के सक्रिय निर्माता की भूमिका में आ गया, तो वहीं शिक्षक केवल ज्ञान का हस्तांतरण कर्ता न होकर, विद्यार्थियों के अनुभव निर्माण में सहायक की भूमिका में आ गया। शिक्षण–अधिगम प्रकिया, पारस्परिक अन्तःक्रिया के अवसरों के निर्माण पर अधिक निर्भर हो गयी। पाठ्यक्रम को व्यावहारिक बनाने और शिक्षा को विद्यार्थी केन्द्रित बनाने का अभ्यास अधिगम परिणामों की आध ाारशिला रखने में प्रमुख भूमिका में है।

3.असर रिपोर्ट 2013 में कहा गया कि संतोषजनक अधिगम स्तर सुनिश्चित किये बिना शिक्षा की गारंटी के रूप में अधिकाधिक नामांकन अर्थहीन है। रिपोर्ट के अनुसार 2012 से भारतीय शिक्षा प्रणाली का ध्यान अब अर्थपूर्ण अधिगम पर केन्द्रित होना चाहिए क्योंकि इन्होंने पाया कि कक्षा 3 के मात्र 40.2 प्रतिशत विद्यार्थी ही कक्षा 1 के स्तर का

अनुच्छेद पढ़ने में सक्षम पाये गये। कक्षा 5 के औसतन 25.6 प्रतिशत विद्यार्थी ही 3 अंकों की संख्या को 1 अंक की संख्या से भाग देने में सफल पाये गये। असर द्वारा उल्लेखित इस "अधिगम परिणाम" मापन की आव''यकता को भारत सरकार द्वारा 12वीं पंचवर्षीय योजना (2012–2017) में प्राथमिक स्तर की शिक्षा में अधिगम स्तर के मापन में शामिल किया गया।

4.सीखने के स्तर के उपयुक्त मूल्यांकन हेतु नवीन प्रत्ययों के विकास के क्रम में वर्ष 2014 में राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन.सी.ई.आर.टी.) द्वारा *"लर्निंग इंडीकेटर्स एण्ड लर्निंग आउटकमस एट द ऐलीमेंट्री स्टेज"* नामक दस्तावेज लाया गया, जिसमें प्रारम्भिक स्तर हेतु पाठ्यक्रम सम्बन्धी अपेक्षाओं एवं सीखने के संकेतकों को दर्शाया गया। यह संकेतक प्रारम्भिक स्तर की कक्षाओं में अधिगम परिणामों में सुधार पर केन्द्रित करके निर्मित किये गये हैं। सभी हितधारकों के लिए ये अधिगम संकेतक केवल मार्गदर्शी बिन्दुओं के रूप में कार्य करते हैं, संकेतकों तक पहुॅचना या न पहुॅचना विद्यार्थी की अधिगम–गति को निर्धारित करता है न कि किसी कक्षा में विद्यार्थियों के पास अथवा फेल होने की स्थिति को। यद्यपि इस दस्तावेज में अधिगम संकेतकों को अधिगम परिणामों के मूल्यांकन के सन्दर्भ में ही निर्मित किया गया परन्तु इसमें विद्यार्थियों के अधिगम परिणामों को लिखित रूप में नहीं दर्शाया गया **(लर्निंग इंडीकेटर्स एण्ड लर्निंग आउटकम्स एट द ऐलीमेंट्री स्टेज, 2014)**।

5.वर्ष 2016 में वैश्विक समुदाय द्वारा सतत् विकास लक्ष्यों को अपनाया गया, जिसमें क्वालिटी एजूकेशन की प्रतिबद्धता को एक विशिष्ट लक्ष्य के रूप में रखा गया। इस चतुर्थ सतत् विकास लक्ष्य में शैक्षिक निवेश के स्थान पर, शैक्षिक परिणामों की गुणवत्ता पर अधिक जोर दिया गया, जिसने सटीक शैक्षिक मूल्यांकन के महत्व को बहुत अधिक बढ़ा दिया। वैश्विक समुदाय के एक जिम्मेदार भागीदार के रूप में भारत ने भी सतत विकास लक्ष्यों को अपनाया एवं वैश्विक पटल पर अपनी शैक्षिक गुणवत्ता में प्रगति की प्रतिबद्धता को अधिगम परिणामों के सन्दर्भ में स्वीकार किया। **(कौशिक, 2018)**।

6.भारत सरकार द्वारा 20 फरवरी 2017 को शिक्षा का अधिकार अधिनियम (आर.टी.ई. एक्ट) 2009 के रूल 23(2)(सी) में संशोधन करते हुए शैक्षिक गुणवत्ता के मूल्यांकन हेतु कक्षावार एवं विषयवार अधिगम परिणामों को शामिल करने का प्रावधान किया गया **(पी.आई.बी. इण्डिया, 2017)**।

7.आर.टी.ई. एक्ट 2009 में उपरोक्त संशोधन के उपरान्त एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा कक्षावार एवं विषयवार अधिगम परिणामों को परिभाषित करते हुए अप्रैल, 2017 में *"प्रारम्भिक स्तर पर सीखने के प्रतिफल"* दस्तावेज प्रस्तुत किया गया। इस दस्तावेज को राज्य एवं जिला स्तर के सभी हितधारकों के साथ, जनसामान्य की प्रतिक्रियाओं को शामिल करके बनाया गया है। दस्तावेज का प्रमुख उद्देश्य सीखने की गुणवत्ता को बढ़ाना एवं शिक्षकों को अविलम्ब विद्यार्थियों के सीखने के कौशल प्राप्ति को सुनिश्चित करना एवं आव''यकतानुसार सुधारात्मक कदम उठाने को निश्चित करना है।

8.यह दस्तावेज दो प्रारूपों में निर्मित किया गया है, पहले सम्पूर्ण संस्करण में पाठ्यक्रम सम्बन्धी अपेक्षाएं, सीखने–सिखाने की प्रक्रिया और कक्षा 1 से 8 के लिए सुपरिभाषित अधिगम परिणामों को सम्मिलित किया गया है। दूसरे संक्षिप्त संस्करण में केवल प्रत्येक कक्षा के प्रत्येक विषय के लिए निर्धारित अधिगम परिणाम हैं। विद्यालय परिसर में प्रदर्शित करने हेतु संक्षिप्त संस्करण पर आधारित अधिगम परिणामों के पोस्टर्स का निर्माण भी किया गया है।

9."प्रारम्भिक स्तर पर सीखने के प्रतिफल (2017)" में पाठ्यक्रम सम्बन्धी अपेक्षाएं, अधिगम प्रक्रियाएं और क क्षावार एवं विषयवार अधिगम परिणामों को सम्मिलित किया गया है। अधिगम परिणामों का निर्माण, सीखने को एक सतत् प्रक्रिया के रूप में मानकर किया गया है, जिसके दौरान विद्यार्थी अपनी आवश्यकता, क्षमता एवं गति के अनुसार अधिगम परिणामों को अर्जित कर सकते हैं। इन्हें विद्यार्थियों के व्यावहारिक कौशलों के जॉच बिन्दुओं के रूप में परिभाषित किया गया है, जिससे विद्यार्थी कक्षा के बाहर भी इन अधिगम परिणामों को प्राप्त करने की प्रक्रिया में सतत् रूप से प्रतिभाग कर सकें।

निष्कर्ष एवं सुझाव

- उपरोक्त वि''लेषण से स्पष्ट है कि अधिगम परिणामों का यह दस्तावेज पूर्व में शिक्षा की गुणवत्ता हेतु उठाये गये राष्ट्रीय स्तर के क्रमिक पदानुक्रम का उच्चतम स्तर है, तथा यह प्राथमिक स्तर की शिक्षा में गुणवत्ता लाने की अपार सम्भावनाओं को समेटे हुए है। अतः शि क्षा की गुणवत्ता में क्रान्ति लाने में सक्षम है।
- यह दस्तावेज सीखने–सिखाने की वर्तमान शि क्षणशास्त्रीय परिवर्तन (पैडागॉजिकल शिफ्ट) के अनुरूप ही विकसित किया गया है। जिसमें सीखने के केन्द्र में विद्यार्थी एवं उसकी क्षमताओं को रखा गया है। अतः इससे कक्षा–कक्ष में विद्यार्थी की अहमियत बढ़ जाती है, जिसके सीखने की गुणवत्ता हेतु ही सभी व्यवस्थापकों– विद्यालय, शिक्षक, सम्बन्धित अधिकारी आदि को नियुक्त किया जाता है।
- इस दस्तावेज को व्यावहारिक कौशलों को अधिक महत्व देकर निर्मित किया गया है, जिनके नियमित निरीक्षण एवं परिमार्जन में हितकारकों की भूमिका भी बढ़ जाती है। अतः विद्यार्थियों के सीखने की गुणवत्ता को सुनिश्चित करने हेतु अभिभावकों एवं अन्य सभी हितकारकों को सीखने के प्रतिफल के प्रत्ययों एवं उनके मूल्यांकन से परिचित कराना अनिवार्य है।
- इस दस्तावेज में कई अधिगम परिणाम अमूर्त भी हैं जोकि केवल विद्यार्थी के व्यवहार में प्रदर्शित होते हैं। अतः शिक्षकों को विद्यार्थियों के लिखित मूल्यांकन के अतिरिक्त उनके व्यवहार के सतत् अवलोकन को भी अपनी मूल्यांकन शैली में शामिल करना आवश्यक है।
- यह दस्तावेज विद्यार्थी को ही ज्ञान का सक्रिय निर्माता मानकर निर्मित किया गया है अतः शिाक्षकों द्वारा कक्षा–कक्ष में छात्रों की सक्रियता एवं भागीदारी को बढ़ाने हेतु ही शैक्षिक आयोजन करने वांछनीय हैं।
- शिक्षक अब प्रत्येक बच्चे की आवश्यकतानुसार उनकी जिज्ञासाओं को सही दिशा प्रदान करने वाले सुगमकर्ता की भूमिका में हैं अतः उन्हें मुक्त–विचारक की भूमिका में रहकर, विद्यार्थियों द्वारा किये जाने वाले प्रश्नों के स्तर से ही उत्तर प्रदान करते हुए वर्तमान विषयवस्तु तक लाना अनिवार्य है।
- अधिगम परिणामों की प्राप्ति को विद्यार्थियों के सक्रिय व्यवहार में भी आंकलित करना है अतः शिक्षकों को क क्षा–कक्ष में छात्रों द्वारा अधिकाधिक प्रश्न करने की प्रवत्ति को प्रोत्साहन देना अनिवार्य प्रतीत होता है।
- व्यवस्थापकों को विद्यार्थियों द्वारा अधिगम परिणामों को अर्जित करने हेतु आवश्यक सामग्रियों की त्वरित पूर्ति एवं अन्य आवश्यकताओं की जानकारी रखने वाले व्यवस्थापकों की भूमिका में रहना आवश्यक हो गया है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ सूची

1. ASER. (2013). Annual Status of Education Report, New Delhi, pp 1-8. Retrieved on September 25, 2021 from **https://img.asercentre.org/docs/Publications/ASER%20Reports/ASER_2013/ASER%202013%20state%20pages%20Hindi/allindia_hindi.pdf**
2. Learning Without Burden. (1993). Government of

India Ministry of Human Resource Development Department of Education New Delhi. Retrieved on October 12, 2021 from http://14.139.60.153/bitstream/123456789/22/1/122.pdf

3. MHRD. (1968). National Policy on Education. Retrieved on October 14, 2021 from https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/document-reports/NPE-1968.pdf
4. MHRD. (1986). National Policy on Education. Retrieved on October 14, 2021 from https://www.education.gov.in/sites/upload_files/mhrd/files/upload_document/npe.pdf

5.N.C.E.R.T. (2005). National Curriculum Framework. Retrieved on October 28, 2021 from **https://ncert.nic.in/pdf/nc-framework/nf2005-english.pdf**

6.N.C.E.R.T. (2014). Learning Indicators and Learning Outcomes at the Elementary Stage, MHRD, New Dehli. Retrieved from https://www.dsek.nic.in/Misc/learningoutcome.pdf

7.N.C.E.R.T. (2017). *Prarambhik Star par Sikhne ke Pratifal.* MHRD, New Delhi. Retrieved on October 1, 2021 from https://ncert.nic.in/pdf/publication/otherpublications/Learning_Outcomes%E2%80%93Hindi.pdf

8.Press Information Bureau. (2017). New measures to assess Learning Outcomes, Government Of India, New Delhi. Retrieved on 26 September 2021 from https://dsel.education.gov.in/sites/default/files/update/lu3989.pdf

9.UNESCO. (2015). Outcomes of the World Education Forum Report. Retrieved on October 4, 2021 from https://unesdoc.unesco.org/ark:/48223/pf0000234002

10.United Nations, (2016). The Sustainable Development Goals Report. Retrieved on September 27, 2021 from https://unstats.un.org/sdgs/report/2016/the%20sustainable%20development%20goals%20report%202016.pdf

****

यौगिक अभ्यासों का महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन

कु. श्वेता कुर्रे
शोधार्थी,
योग विभाग, मैट्स विश्वविद्यालय, रायपुर, छ. ग.

-डॉ. सुनील कुमार मिश्र
सहायक प्राध्यापक,
योग विभाग, मैट्स विश्वविद्यालय,रायपुर, छ. ग.

सारांश :– वर्तमान समय में षारीरिक से अधिक मानसिक समस्याएं व्याप्त है। पुरूषों की तुलना में अधिकत्तर महिलाएं मानसिक समस्या से ग्रस्त रहती है। महिलाएं अधिक महत्वकांक्षी होती है। महिलाओं का जीवन प्रारंभ से ही संघ र्षपूर्ण रहा है। महिलाएं घर,परिवार,समाज,नौकरी व अन्य जिम्मेदारियों से लदी हुई होती है। सम्पूर्ण जीवन संघर्ष से भरा हुआ होता है। जीवन के दायित्वों को निभाते हुए अप. नी इक्षकाओं को दबा कर रखती है जो कि उनकी आंतरिक पीड़ा का कारण होता है। उनसे जुड़े हुए लोग ऐसी स्थिति में भी अपने ही स्वार्थ का सोचते हैं, अपने कार्य को अधिक महत्वपूर्ण मानते है। महिलाओं से हर परिस्थिति में अपेक्षाएं करते है कि घर,परिवार एवं अन्य सभी दायत्वि उन्हीं का है समाज आदि में बने हुए नियमों का निवर्हन करना उनका ही दायित्व है। ऐसे में महिलाएं अपनी पीड़ा और अन्य समस्या को किसी से व्यक्त न कर पाने के कारण अधिक दुखी रहती हैं। जिसके कारण उनके भीतर हो रहें उद्व वेलना विपरीत परिस्थिति को संभालना उन्हे कठिन लगता है। जीवन से हताषा और निराषा बढती जाती है। जिसके कारण महिलाओं को किसी भी कार्य एवं कार्य परिणाम से संतुष्ट होना कठिन प्रतीत होता है।

महिलाओं के मानसिक दुख एवं असंतुष्टि को दूर करने में योग महत्वपूर्ण होता है। शोध अध्ययन से ज्ञात होता है कि योग महिलाओं के षरीरिक,मानसिक,बौद्धिक एवं आध्यात्मिक समस्याओं को दूर कर स्वास्थ्य प्रदान करने में सहायक होता हैं। ओजेन (2023) ने अपने षोध अध्ययन में देखा कि महिलाएं योग के द्वारा चिंता,अवसाद,मासिक धर्म संबंधी समस्या का समाधान करने एवं षारीरिक जागरूकता को बढ़ाने में सहायक होता है। राजश्री (2019) ने महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य जीवन संतुष्टि और समायोजन पर जीवन मूल्यों के प्रभााव का अध्ययन किया गया। एरियल (2019) ने महाविद्यालय के छात्रों पर षरीरिक छवि असंतुष्टि डर पर योग के प्रभाव का अध्ययन किया जिसमें पाया कि महिलाओं में षारीरिक छवि से असंतुष्टि या भय जैसी धारणा पर षारीरिक मानसिक स्वास्थ्य हेतु योग महत्वपूर्ण है। ब्रिंसले (2019)ने अपने षोध में कोविड़ 19 के समय ऑनलाइन एवं व्यक्तिगत योग का महिलाओं के संतुष्टि स्तर के प्रभाव का अध्ययन किया गया। शोध में पाया गया कि ऑनलाइन योगाभ्यास करने वाले महिलाओं में मानसिक स्वास्थ्य एवं सामर्थ लाभ पाया गया। व्यक्तिगत योग से महिलाओं में अधिक मानसिक स्वास्थ्य, मनोदषा लाभ, षारीरिक संतुष्टि और ऊर्जा में वृद्धि पायी गयी। महिलाओं को योग के प्रति प्रोत्साहन हेतु प्रेरित किया गया। रोमी 2017 ने षारीरिक संतुष्टि और वजन प्रबंधन में योग ध्यान का प्रभाव देखा जिसमें पाया कि योग और ध्यान से महिलाओं के षारीरिक संतुष्टि और वजन प्रबंध न पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। केली 2010 ने योग से महिलाओं के षारीरिक एवं विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया जिसमें पाया गया कि योग केवल शारीरिक फिटनेस ही नही मानसिक और आत्मिक जागरूकता व संतुष्टि के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होता है।

उपरोक्त साहित्य अध्ययन के अनुसार योग से महिलाओं के मानसिक संतुष्टि पर सकारात्मक प्रभाव पड़ता है।

कूट शब्द : योगिक अभ्यास, महिलाएं, मानसिक, संतुष्टि।

प्रस्तावना :– वर्तमान समय में मनुष्यों का जीवन अधिक असंतोषजनक होते जा रहा है। भौतिक सुविधाएं, सुख भोग की सामग्री उपलब्ध होने के पष्चात एवं कठिन परिश्रम का अभाव होने के बाद भी लोग उस सुख भोग का लाभ नहीं उठा पा रहें। वर्तमान समय में मानसिक समस्याओं से ग्रस्त लोगों की संख्या बढ़ती जा रही है। मानसिक समस्याएं कई तरह की होती है जैसे तनाव, क्रोध, चिंता, भय, एकाग्रता का अभाव, स्मृति हास, सामंजस्यता का अभाव, आत्मविष्वास की कमी आदि। ऐसे अनेक समस्याएं है जिसकी वर्तमान में गिनती बढ़ती जा रही है। उन्हीं समस्याओं में एक गंभीर समस्या है ''असंतोष''।

असंतुष्टि एक गंभीर समस्या है इसके होने से व्यक्ति जीवन के सुख व आनंद से वंचित हो जाता है। आंतरिक पीड़ा से ग्रस्त रहते है। उत्साह व कार्यकुषलता का अभाव बना रहता है। यह समस्या महिलाओं में अधिक दे खी जाती है। वे जीवन के प्रति अधिक संवेदनषील होती हैं। उनकी अपेक्षाएं अधूरी रहती हैं। महिलाएं जन्म से ही पारिवारिक एवं सामाजिक बंधन व नियमों में पली बढ़ी होती है। उन्हें अपनी भावनाओं और इक्षकाओं को अधिकतर दबाना पड़ता है। इसे किसी से व्यक्त न कर पाने की समस्या जीवन भर बनी रहती है। महिलाएं सामाजिक कुरीतियों एवं बंधनों के कारण जीवन में अपनी कार्यक्षमता के अनुसार कार्य नही कर पाती और न ही अपनी इच्छा के अनुसार जीवन जी पाती है। लोगों की धारणा एवं स्वभाव के कारण

अपनी मानसिक इक्षकाओं को व्यक्त नही कर पाती जिसके कारण उन्हें जीवन भर मानसिक पीड़ा होती है। महिलाओं के लिए समाज द्वारा बनाए गए दायित्वों व कार्यो को करना अनिवार्य है। पुरूष एवं महिला दोनों अगर वे ऑफिस जाते हैं तब भी केवल महिलाओं को ही घर और अन्य कार्य में सम्मिलित होना है। अगर किसी कारण से महिलाएं ऐसा नही कर पाती हैं तो लोगों द्वारा उल्हाना सुनना पड़ता है। कई ऐसी समस्याएं है जिसके कारण महिलाएं मानसिक रूप से पीड़ित व दुखी रहती है।

वर्तमान समय में संवैधानिक रूप से महिलाओं के उत्थान व सषक्तिकरण के लिए बहुत से योजनाएं एवं नियमावली बनाई गयी है। फिर भी आज भी महिलाएं सामाजिक कुरीतियों जैसे दहेज प्रथा, भ्रण हत्या, बलात्कार, भेदभाव, षिक्षा से वंचित रखना, कार्यकुषलता को नज. रअंदाज करना , आदि समस्याओं से ग्रसित होती है। जिससे महिलाएं असंतुष्ट व दुखी रहती है। महिलाएं जीवन भर अपने साथ हो रहें भेदभाव व अन्य कुरीतियों के कारण असंतुष्ट व मानसिक समस्याओं से ग्रस्त रहती है।

योग से जीवन को सामायोजित बनाए रखने में सहायक होता है। योग से आत्मविष्वास बढ़ती है। योग जीवन में सकारात्मकता को बढ़ाने में सहायक होता है। आत्म विकास, आनंद को प्राप्त करने में सहायक होता है। प्राप्त षोध से ज्ञात होता है कि महिलाओं के भीतर संतुष्टि के भाव को बढ़ाने में योग की भुमिका होती है। श्रीमद्भगवद् गीता के अनुसार ''समत्वं योग उच्यते।'' (2/48) योग से सभी परिस्थिति में सम बने रह सकते है। योग जीवन को सम्यक बनाता है। महिलाएं अपने आंतरिक पीड़ा को योग से दूर कर आनंद एवं उत्साह प्राप्त कर सकती है। महिलाएं योग से जीवन के हर परिस्थिति को संतुलित करना सीख सकती है।

शोध का उद्देश्य :– यौगिक अभ्यासों का महिलाओं के मानसिक संतुष्टि पर पड़ने वाले
प्रभाव का अध्ययन करना।

शोध प्रविधि :– षोध प्रविधि में द्वितीय स्त्रोत (सेकण्ड्री डेटा) का उपयोग किया
जाएगा।

शोध साहित्य समीक्षा :– पूर्व में हुए षोध साहित्य अध्ययन निम्नानुसार है।–

टोजेन गुनेबाकन,मनोल्या एकर आयरिश जर्नल ऑफ मेडिकल सांइस (1971)192(1),467–479, 2023 इस अध्ययन का उद्देष्य महिलाओं में मासिक धर्म के लक्षणों ,जीवन की गुणवता,चिंता–अवसाद स्तर,षारीरिक जागरूकता और आत्म–सम्मान पर टेली योग प्रषिक्षण का प्रभाव 'षोध में 18 से 45 वर्ष के उम्र के बीच के 32 लोगों का यादृचिछक तरीके से चयन कर दो समूहों में बाटा गया। प्रायोगात्मक एवं नियंत्रित प्रायोगात्मक सूमह को नियमित टेली योग जूम मीटिंग के द्वारा 6 सप्ताह में 2 बार 45 दिनों तक कराया गया। नियंत्रित समूह को कुछ भी नही कराया गया। समस्या हेतु निम्न मापन विधि का उपयोग किया गया।मासिक धर्म लक्षण स्केल (एमएसएस),जीवन गुणवता नॉटिघम स्केल (एनएचपी), अवसाद के डिप्रेषन स्केल (बीडीएस),चिंता के लिए (एसटीएआई),षरीर जागरूकता (बीएक्यू),रोसेनबर्ग सेल्फ एस्टीम स्केल आरएसईएस द्वारा किया गया। दोनो समूहों के बीच मूलयों में अंतर का संबंध सभी के मापन के पष्चात (पी <0.05) के मापदंडों में प्रषिक्षण समूह के पक्ष में सांख्यिकीय रूप से अंतर पाया गया। निष्कर्ष में पाया गया कि मासिक धर्म के लक्षणों,अवसाद को कम करने, जीवन गुणवता को बढ़ाने में तथा षरीर जागरूकता बढ़ाने में टेली योग प्रषिक्षण एक सुरक्षित एवं प्रभावी विधि हो सकता है

एडेम डेमिरेजर,मर्सेल बायसर गाजियांटेप यूनिवर्सिटी स्पोर बिलिमलेरी डर्गिसी 8(1),57–69,2023 इस अध्ययन में गतिहीन महिलाओं में षरीर की संरचना लचीलेपन और जीवन की गुणवत्ता पर योग का प्रभाव देखा गया। एक समूह पर प्री पोस्ट विधि का उपयोग किया गया। 33 गतिहीन महिलाओं का चयन किया गया जिनकी आयु 20–47 वर्ष के बीच थी।एचएफ 36 जीवन गुणवत्ता प्रष्नावली का उपयोग षरीर के मापन के लिए किया गया।10 सप्ताह तक सप्ताह में 3 बार योगाभ्यास का एक कार्यक्रम करवाया गया। सांख्यिकीय तकनीक में पाया गया कि (पी $\leq$ 0.05) पाया गया। प्री–पोस्ट डिजा. इन में अंतर पाया गया। निष्कर्ष में पाया गया कि योगाभ्यास करने से सकारात्मकता प्रभाव पड़ता है। गतिहीन महिलाओं में षरीर संरचना में सकारात्मक परिवर्तन पाया गया।

ब्रिंसले,स्माउट एवं डेविसन 2021 कोविड–19 के दौरान ऑनलाईन बनाम व्यक्तिगत योग से संतुष्टि यह षोध ऑस्ट्रेलियाई प्रतिभागियों का एक क्रॉस–अनुभागीय ऑनलाइन सर्वेक्षण।कोविड के समय महिलाओं को ऑनल. इन दिए जाने वाले योग अभ्यास का एवं व्यक्तिगत दिए जाने वाले योग अभ्यास की तुलना के संबंध में अध्ययन करना था। इस षोध से ज्ञात हुआ कि कोविड–19 के समय महिलाएं ऑनलाइन योग की कक्षा में देखा गया कि सुविधा,मानसिक स्वास्थ्य/मूड लाभ और सामर्थ्य में अधिक लाभ हुआ। व्यक्तिगत योग से मानसिक स्वास्थ्य/मनोदषा लाभ,षारीरिक संतुष्टि और ऊर्जावान महसूस कराने में सर्वोच्च अंक प्राप्त किए।

एरियल–गॉर्डन, बाउमन एवं पेरी 2019 ने महाविद्यालय में अध्ययन करने वाले छात्रों पर अध्ययन किया कि क्या महाविद्यालय में अध्ययन करने वाली महिलाएं जो आयु के साथ षरीर छवि असंतुष्टि से डर पर योग का प्रभाव पड़ता है। अमेरिका कॉलेज के 18–30 वर्ष के महिलाओं का यादृच्छिक विधि से चयन कर 12 सप्ताह के लिए दो बार साप्ताहिक योग कक्षाएं करायीं गई जिसमें चयनित

महिलाओं में षारीरिक छवि से असंतुष्टि या भय जैसी ध ाारणा पर उन्हें षारीरिक मानसिक स्वास्थ्य हेतु योग को महत्वपूर्ण बताया। महिलाओं को योग के लिए प्रोत्साहित करने का सुझाव दिया गया।

रोमी,सिब्रिट,ओस्टरमैन,फुलर,एडम्स एवं क्रैमर (2017) योग/ध्यान के उपयोग,षरीर की संतुष्टि और वजन प्रबंधन विधियों के बीच संबंध :8009 ऑस्ट्रेलियाई महिलाओं के राष्ट्रीय क्रॉस–अनुभागीय सर्वेक्षण के परिणाम। इस षोध का उद्देष्य ऑस्ट्रेलियाई महिलाओं के षारीरिक संतुष्टि,वजन,नियंत्रण व्यवहार स्वास्थ्य पर योग/ध्यान के प्रभाव को जानना था।इसमें 34–39 वर्ष की 8009 महिलाओं का चयन किया गया। 8009 महिलाओं में से 49 प्रतिषत अधिक वजन वाली या मोटापे से ग्रस्त थीं। सामान्य बॉडी मास इंडेक्स (बीएमआई) वा. ली 65 प्रतिषत महिलाएं और अधिक वनज/मोटापे वाली लगभग 95 प्रतिषत महिलाएं वजन कम करना चाहती थी। लगभग सामान्य बीएमआई वाली चार में से कम से कम एक महिला षरीर के वजन एवं आकार से असंतुष्ट थी। ची–स्क्वेर्ड परीक्षणों और मल्टीपल लॉजिस्टिक रिग्रेषन मॉडलिंग का उपयोग करके विष्लेषण किया गया। परिणाम में देखा गया कि सामान्य बीएमआई वाले योग/ध्यान उपयोगकर्ता से गैर योग/ध्यान आकार से अधिक संतुष्ट दिखाई देते हैं।

डॉ.शशि कला सिंह 2014 ने कामकाजी और गैर कामकाजी महिलाओं के बीच जीवन संतुष्टि और तनाव का स्तर को ज्ञात करने हेतु षोध कार्य किया। जनसंख्या में 200 प्रतिदर्ष का चयन किया जिसमें 100 कामकाजी और 100 बिना गैर कामकाजी का यादृच्छिक विधि से चयन किया डेटा संग्रहण हेतु आलम और श्रीवास्तव का जीवन संतुष्टि स्केल (1996) और सिंह (2004) द्वारा तनाव स्केल का उपयोग किया । माध्य,मानक विचलन, टी परीक्षण और सहसंबंध की गणना आँकड़ों से की गई। षोध परिणाम में पाया कि कामकाजी एवं गैर कामकाजी महिलाओं की जीवन संतुष्टि (टी 5.52) में काफी अंतर है। गैर कामकाजी महिलाओं के तुलना में कामकाजी महिलाओं के जीवन में अधिक संतुष्ट थीं। तनाव पैमाने में गैर कामकाजी महिलाएं कामकाजी महिलाओं की तुलना में अधिक तनाव पाया गया। जीवन संतुष्टि और तनाव के बीच एक महत्वपूर्ण नकारात्मक सहसंबंध पाया गया।

राजश्री 2013 महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य, जीवन संतुष्टि एवं समायोजन पर जीवन मूल्यों के प्रभाव का अध्ययन किया। कुल 450 षिक्षित कार्यरत महिलाओं का स्तरीय यादृच्छिक विधि से चयन कर वर्णात्मक, सर्वेक्षण एवं साक्षात्कार प्रविधि से उपकरण सामाजिक–आर्थिक स्तर मापनी, जीवन मूल्य मापनी, मानसिक स्वास्थ्य अनुसूची जीवन संतुष्टि मापनी,बेल की समायोजन अनुसूची व स्वनिर्मित सक्षात्कार सूची उपयोग किया। सांख्यिकीय वर्णात्मक एवं अनुमानात्मक सांख्यकीय का उपयोग किया अपने षोध में पाया कि कार्यरत महिलाएं अपने जीवन में अर्न्तनिहित जीवन मूल्यों को महत्व देते हुये जीवन यापन करती हैं वें अपने जीवन में अधिक संतुष्ट रहती है तथा अन्य क्षेत्रों में भी अधिक सफल रहतीं हैं। वे अपने कार्य और गृहस्थ जीवन में अधि ाक समायोजन कर पाती है

केली डेलाने,क्रिस्टीन एंथिस 2010 इन्होंने योग कक्षाओं में महिलाओं के शारीरिक के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया। 99 महिलाओं का चयन करके उन्हें अलग अलग जगह पर योग की अलग अलग अभ्यास करवाया गया। योग के षारीरिक, मानसिक एवं आहार पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया गया। परिणाम में पाया कि वे महिलाएं जो योग करती है वे षारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक जागरूकता एवं संतुष्टि पाया गया। षोध में बताया गया है कि योग को केवल षारीरिक फिटनेस के लिए ही नहीं मानसिक एवं आत्मिक जागरूकता व संतुष्टि के लिए महत्वपूर्ण बताया।

अंकिता अग्रवाल, तन्मयता दुगर, निखिल मयेकर, आफिया जलाल, अन्वेषा भद्रा,सुनीन मारिया बेनेडिक्ट ने अपने महिला कॉलेज छात्रों के मानसिक कल्याण पर योग का प्रभाव, दृष्य मॉडल का उपयोग करके भगवद्गीता से एक विष्लेषणात्मक अध्ययन किया। इन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि मानसिक स्वास्थ्य पर योगाभ्यास से परिवर्तन प्रभाव की जानकारी का पता चलता है। योग षरीर,मन एवं आत्मा में सांमस्य लाने में सहायक होता है। परिस्थितियों को नियंत्रित करने में, नींद की गुणवत्ता को बनाने में, चिंता तनाव को कम करने में सहायक होता है। सकारात्मकता को बढ़ाने में सहायक होता है। जीवन को संतुलित रूप में जीने योग्य बनाता है।

परिणामों का विश्लेषण :–

उपरोक्त षोध साहित्य अध्ययन के आधार पर महिलाओं के मानसिक संतुष्टि पर योगिक अभ्यासों का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। ओजेन गुनेबाकन 2023 ने अपने षोध में महिलाओं में मासिक धर्म के लक्षणों,जीवन की गुणवता,चिंता अवसाद स्तर षारीरिक जागरूकता एवं आत्म सम्मान पर टेली योग प्रषिक्षिण का प्रभाव जानने के लिए 18–45 वर्ष तक के महिलाओं का यादृच्छिक विधि से चयन कर दो समूह नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह में बांटा गया। प्रायोगिक समूह को 45 दिन 6 सप्ताह तक प्रति सप्ताह 2 दिन योग अभ्यास कराया गया। प्रामाणिक षोध स्केल द्वारा मापन किया गया। सांख्यिकीय विधि से पाया गया कि योग अभ्यास के दोनों समूहों में अंतर पाया गया।

एडेम 8(1),57–69, 2023 इस अध्ययन में गतिहीन महिलाओं में षरीर की संरचना लचीलेपन और जीवन की गुणवत्ता पर योग का प्रभाव देखा गया। एक समूह पर प्री पोस्ट विधि का उपयोग किया गया। 33 गतिहीन महिलाओं का चयन

किया गया जिनकी आयु 20–47 वर्ष के बीच थी।एचएफ 36 जीवन गुणवत्ता प्रष्नावली का उपयोग षरीर के मापन के लिए किया गया।10 सप्ताह तक सप्ताह में 3 बार योगाभ्यास का एक कार्यक्रम करवाया गया। सांख्यकीय तकनीक में पाया गया कि (पी ≤0.05) पाया गया। प्री–पोस्ट डिजाइन में अंतर पाया गया। निष्कर्ष में पाया गया कि योगाभ्यास करने से सकारात्मकता प्रभाव पड़ता है। गतिहीन महिलाओं में षरीर संरचना में सकारात्मक परिवर्तन पाया गया।

ब्रिंसले 2021 ने कोविड 19 के दौरान ऑनलाइन बनाम व्यक्तिगत योग से संतुष्टि स्तर का अध्ययन करना था। इन्होंने ऑस्ट्रेलियाई प्रतिभागियों का एक क्रॉस अनुभागीय का ऑनलाइन सर्वेक्षण कर जानने का प्रयास किया गया कि ऑनलाइन और व्यक्तिगत योग का क्या और कितना प्रभाव पड़ता है उन्होने अपने षोध में पाया कि ऑनल. ाइन योग करने वाले प्रतिभागियों पर उनके मानसिक स्वास्थ्य एवं सामर्थ्य में लाभ हुआ वही व्यक्तिगत योग का प्रभाव मानसिक स्वास्थ्य,मनोदषा एवं षारीरिक संतुष्टि और ऊर्जा में अधिक वृद्धि पायी गयी।

एरियल–गॉर्डन, बाउमन एवं पेरी 2019 ने महाविद्यालय में अध्ययन करने वाले छात्रों पर अध्ययन किया कि क्या महा. विद्यालय में अध्ययन करने वाली महिलाएं जो आयु के साथ षरीर छवि असंतुष्टि से डर पर योग का प्रभाव पड़ता है। अमेरिका कॉलेज के 18–30 वर्ष के महिलाओं का यादृच्छिक विधि से चयन कर 12 सप्ताह के लिए दो बार साप्ताहिक योग कक्षाएं करायीं गई जिसमें चयनित महिलाओं में षारीरिक छवि से असंतुष्टि या भय जैसी ध ाारणा पर उन्हें षारीरिक मानसिक स्वास्थ्य हेतु योग को महत्वपूर्ण बताया। महिलाओं को योग के लिए प्रोत्साहित करने का सुझाव दिया गया।

रोमी 2017 ने योग ध्यान के उपयोग षरीर की संतुष्टि और वजन प्रबंधन विधियों के बीच संबंध ज्ञात करने हेतु ऑस्ट्रेलियाई के 8009 महिलाओं का यादृच्छिक तरीके 34–39 वर्ष की अधिक वनज, मोटापे से ग्रस्त महिलाओं का चयन कर नियंत्रित एवं प्रायोगिक समूह में बांटा गया प्री पोस्ट विधि के पष्चात सांख्यिकीय परिणाम में पाया कि योग ध्यान नहीं करने वाली अपेक्षा योग ध्यान करने वाली महिलाओं में संतुष्टि अधिक पायी गयी।

डॉ सिंह 2014 ने कामकाजी और गैर कामकाजी महिलाओं के बीच जीवन संतुष्टि और तनाव का स्तर को ज्ञात करने हेतु षोध कार्य किया। जनसंख्या में 200 प्रतिदर्ष का चयन किया जिसमें 100 कामकाजी और 100 बिना गैर कामकाजी का यादृच्छिक विधि से चयन किया डेटा संग्रहण हेतु आलम और श्रीवास्तव का जीवन संतुष्टि स्केल (1996) और सिंह (2004) द्वारा तनाव स्केल का उपयोग किया । माध्य, मानक विचलन, टी परीक्षण और सहसंबंध की गणना आँकड़ों से की गई। षोध परिणाम में पाया कि कामकाजी एवं गैर कामकाजी महिलाओं की जीवन संतुष्टि (टी 5.52) में काफी अंतर है। गैर कामकाजी महिलाओं के तुलना में कामकाजी महिलाओं के जीवन में अधिक संतुष्ट थीं। तनाव पैमाने में कामकाजी महिलाएं गैर कामकाजी महिलाओं की तुलना में अधिक तनाव पाया गया। जीवन संतुष्टि और तनाव के बीच एक महत्वपूर्ण नकारात्मक सहसंबंध पाया गया।

राजश्री 2013 महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य,जीवन संतुष्टि एवं समायोजन पर जीवन मूल्यों के प्रभाव का अध्ययन किया। कुल 450 षिक्षित कार्यरत महिलाओं का स्तरीय यादृच्छिक विधि से चयन कर वर्णात्मक, सर्वेक्षण एवं साक्षात्कार प्रविधि से उपकरण सामाजिक–आर्थिक स्तर मापनी, जीवन मूल्य मापनी, मानसिक स्वास्थ्य अनुसूची जीवन संतुष्टि मापनी,बेल की समायोजन अनुसूची व स्वनिर्मित सक्षात्कार सूची उपयोग किया। सांख्यिकीय वर्णात्मक एवं अनुमानात्मक सांख्यिकीय का उपयोग किया।

अपने षोध में पाया कि कार्यरत महिलाएं अपने जीवन में अर्न्तनिहित जीवन मूल्यों को महत्व देते हुये जीवन यापन करती हैं वें अपने जीवन में अधिक संतुष्ट रहती है तथा अन्य क्षेत्रों में भी अधिक सफल रहतीं हैं। वे अपने कार्य और गृहस्थ जीवन में अधिक समायोजन कर पाती है।

केली डेलाने,क्रिस्टीन एंथिस 2010 इन्होंने योग कक्षाओं में महिलाओं के षारीरिक के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया। 99 महिलाओं का चयन करके उन्हें अलग अलग जगह पर योग की अलग अलग अभ्यास करवाया गया। योग के षारीरिक, मानसिक एवं आहार पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन किया गया। परिणाम में पाया कि वे महिलाएं जो योग करती है वे षारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक जागरूकता एवं संतुष्टि पाया गया। षोध में बताया गया है कि योग को केवल षारीरिक फिटनेस के लिए ही नहीं मानसिक एवं आत्मिक जागरूकता व संतुष्टि के लिए महत्वपूर्ण बताया।

अग्रवाल ने अपने महिला कॉलेज छात्रों के मानसिक कल्याण पर योग का प्रभाव, दृष्य मॉडल का उपयोग करके भग. वद्गीता से एक विष्लेषणात्मक अध्ययन किया। इन्होंने अपने अध्ययन में पाया कि मानसिक स्वास्थ्य पर योगाभ्यास से परिवर्तन प्रभाव की जानकारी का पता चलता है। योग षरीर, मन एवं आत्मा में सांमस्य लाने में सहायक होता है। परिस्थितियों को नियंत्रित करने में, नींद की गुणवत्ता को बनाने में, चिंता तनाव को कम करने में सहायक होता है। सकारात्मकता को बढ़ाने में सहायक होता है। जीवन को संतुलित रूप में जीने योग्य बनाता है।

उपरोक्त साहित्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महिलाओं के मानसिक संतुष्टि पर योग का सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। योग करने वाले एवं नही करने वाले महिलाओं पर हुए षोध अध्ययन से प्राप्त परिणामों से ज्ञात होता है कि योग नही करने वाले एवं करने वाले महिलाओं की स्वास्थ्य संतुष्टि स्तर में अधिक अंतर पाया गया योग करने वाली

महिलाओं में सकारात्मकता अधिक देखी गयी।

निष्कर्ष:– महिलाओं का जीवन प्रारंभ से ही संघर्ष पूर्ण रहा है। वर्तमान समय में महिलाओं को अधिक सुविधाएं एवं संवैधानिक नियम प्राप्त है। किन्तु यह नियम सामाजिक नीति नियम पुरूष प्रधानता, रूढ़िवादिता विचार आदि के कारण महिलाओं को व्यावहारिक लाभ देने में पूर्णरूप से स क्षम नहीं है। आज भी महिलाएं घरेलू हिंसा, रूढ़िवादिता की समस्या से जूझ रहीं है। नित्य प्रतिदिन अखबारों और पुलिस थानों कई मामले महिलाओं के संबंध में दर्ज हो रहें है जिसमें दहेज प्रताड़ना, बलात्कार, भ्रुण हत्या, चरित्र षंका आदि। महिलाएं पारिवारिक एवं सामाजिक दबाव तथा नियमों के कारण अंतःमुखी होती है। वे अपनी इच्छाओं, भावनाओं एवं मनोस्थिति को किसी से व्यक्त नही कर पाती है जो कि उनकी मानसिक अस्वस्थता का प्रमुख कारण होता है। संवैधानिक नियमों, नारी सषक्तिकरण जैसे कार्यो के पष्चात भी महिलाएं आज भी सामजिक नियमों रूढ़िवादि विचारों की षिकार होती है। वर्तमान समय में प्रतियोगिता और ईष्या भी बढ़ रही है जो एक मानसिक समस्या का प्रमु ख कारण है। एकांकी दृष्टिकोण स्वार्थगत भावना, अनियमित दिनचर्या, खान–पान की गढ़बढ़ी, कार्यव्यवहार में सम्मान का अभाव, प्रोत्साहन की कमी आदि ऐसे अनेक कारण है जिससे महिलाएं मानसिक असंतुष्टि का षिकार होती है। महिलाओं को इन समस्याओं के निदान हेतु स्वास्थ्य जागरूकता, आत्मविष्वास में वृद्धि, आत्मनिर्भर होने की तथा मानसिक संतुलन की आवष्यकता है। योग एक ऐसी विद्या है जिससे समग्र विकास होता है। षोध साहित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि योगाभ्यास करने वाली महिलाओं में हुए अनेक षोध का परिणाम सकारात्मक रहा है। योग करने वाली महिलाओं में देखा गया कि उन्हें षारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक लाभ हुआ है।योग से महिलाओं को मानसिक संतुष्टि प्राप्त हुई है। योग जीवन को संतुलित करते हुए समग्र स्वास्थ्य प्रदान करने में सहायक होता है। अतः यह षोध ''यौगिक अभ्यासों का महिलाओं के मानसिक संतुष्टि पर पड़ने वाले प्रभाव का अध्ययन'' में महिलाओं के मानसिक संतुष्टि को बढ़ाने में सहायक होगा।

संदर्भ ग्रंथ सूची :–

1.अनुपमा, कुमार संजय 2023 योग एवं लिंग का प्रभाव किषोरावस्था एवं जीवन संतुष्टि पर पड़ने वाले प्रभाव The International journal of Indian Psychologywww.creativecommons.org/licenses/by/2.0 issn Dip.18.01.099.20231101 pg 2-3

2.डॉ.समा 2020 महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य में योग की भूमिका पेज क्र.1.2

3. गंगाधर 2019 योग और मानसिक स्वास्थ्य 12–13

4.महाराणा सत्याप्रिया 2023पेषेवर रूप से काम करने वाली घरेलू महिलाओं में अवसाद,आत्म–सम्मान, जीवन की गुणवत्ता और अकेलेपन पर योग का प्रभाव

5.टोजेन गुनेबाकन,मनोल्या एकर आयरिष जर्नल ऑफ मेडिकल सांइस (1971)192(1),467–479, 2023

6.एडेम डेमिरेजर,मर्सेल बायसर गाजियांटेप यूनिवर्सिटी स्पोर बिलिमलेरी डर्गिसी 8(1),57–69,2023

वैकल्पिक और पूरक चिकित्सा जर्नल 27(10),893–896,2021

7.एएच एरियल–डोंगेस,ईएल गॉर्डन,वी बाउमन,एमजी पेरी –सेक्स भूमिकाएं 2019

8.डॉ.षषि कला सिंह 2014 ने कामकाजी और गैर कामकाजी महिलाओं के बीच जीवन संतुष्टि और तनाव का स्तर को ज्ञात

9.डॉ षषि कला सिंह सितंबर 2014 इंटरनेषनल जर्नल ऑफ इंडियन साइकोलॉजी 1(4) डीओआई 10. 25215/0104.0

10. राजश्री 2013 महिलाओं के मानसिक स्वास्थ्य,जीवन संतुष्टि एवं समायोजन पर जीवन मूल्यों के प्रभाव का अध्ययन किया।

11. रोमी लॉचे, डेविड सिब्रिट, थॉमस ओस्टरमैन,निकोलस आर फुलर, जॉन एडमस, होल्गर क्रैमर पोषण 34,58764,2017

12. केली डेलाने, क्रिस्टीन एंथिस इंटरनेषनल जर्नल ऑफ योग थेरेपी 20(1),62–71,2010

****

औपनिवेशवाद के दौरान नगरीकरण का प्रारूप नगर अल्मोड़ा

हेम चन्द्र आर्या
शोधार्थी
इतिहास विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रानीखोत (अल्मोड़ा)

-डॉ. महिराज मेहरा,
सहायक प्राध्यापक
इतिहास विभाग,
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रानीखोत (अल्मोड़ा)

नगरीकरण का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है जो अधिवासित प्रारूप में गत्यात्मक परिवर्तन लाता है। नगर का उदय मानव और प्रकृति के बीच सम्बंधों में परिवर्तन की अपेक्षा मानव–मानव के बीच सम्बंधों का परिवर्तन का प्रतीक है। मानवों के बीच सम्बंधों में इस परिवर्तन को राज्य का अभ्यूदय कहा जाता है। नगरीकरण सामाजिक परिवर्तन की वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी समाज विशेष में नगरों की संख्या में वृद्धि अथवा उन स्थानों द्वारा नगरीय विशेषताओं को ग्रहण करने से लगाया जाता है, जो अभी तक नगर नहीं कहे जाते थे। इस प्रकार नगरीकरण नगरीय विशेषताओं को अपनाने की प्रक्रिया है। जब गांव नगरों के रूप में परिवर्तित हो जाते हैं और यह परिवर्तन प्रक्रिया स्वरूप होता है तो इसी माध्यम को नगरीकरण के नाम से जाना जाता है।

ऐतिहासिक परिपेक्ष्य में नगर व नगरीकरण का प्रारम्भ हम सिंधु घाटी सभ्यता से ही देखते हैं, जहाँ नगर का स्वरूप व नगर के निर्माण में सहायक तत्वों को व्यवस्थित रूप से बसाने, उनकी कार्य प्रणाली, खाद्य प्रसंस्करण, व्यापार, वाणिज्य, रहन–सहन आदि तत्व नगर को नगरीकरण का स्वरूप प्रदान करते हैं, और यहीं से हम नगर की स्थापना, पतन उत्थान आदि को विस्तारित रूप से देखते हैं। नगरों को परिभाषित करने का कार्य सर्वप्रथम गॉर्डन चाइल्ड ने किया।[1]

कुमाँऊ के अन्तर्गत बसा अल्मोड़ा नगर कुमाँऊ क्षेत्र का सबसे प्राचीन जनपद है जो धार्मिक, ऐतिहासिक, शैक्षिक और सांस्कृतिक रूप से सम्पूर्ण कुमाँऊ में अपनी अमिट छाप छोड़ता है। अल्मोड़ा नगर में कुमाँऊ के लगभग हर क्षेत्र की स्थानीय विशेषताऐं विद्यमान हैं।[2] यह नगर अपनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को प्रागैतिहासिक काल से लेकर जहां आदिमानवों ने गतिविधि केन्द्र के रूप में इस क्षेत्र में निवास किया जिनके प्रमाण हमें लखुउड्यार, कसार देवी, फलसीमा, पेटशाल आदि स्थानों से प्राप्त होते हैं।[3] कुणिन्द काल, कत्यूरी काल के दौरान भी यह क्षेत्र मानवीय गतिविधियों का केन्द्र रहा। 1560 में चंद वंश के राजा बालों कल्याण चंद द्वारा इस क्षेत्र को नगर का स्वरूप प्रदान करने हेतु राजधानी का रूपरेखा प्रदत्त की गई। 1563 में जाकर यह कार्य पूर्णत्व को प्राप्त हुआ। चंद राजाओं के समय इस क्षेत्र को आलमनगर, राजपूर, अल्मोड़ा आदि नामों से जाना गया।

औपनिवेशिक शासन के दौरान जब अंग्रेजी हुकुमत के दौरान नगर बसाने की कल्पना की जा रही थी। उससे पूर्व ही चंद राजाओं द्वारा इस क्षेत्र को नगर का स्वरूप प्रदान कर दिया गया था। हालांकि नगर शब्द का प्रचलन ब्रिटिश शासन के दौरान ही किया गया। यह क्षेत्र पुर्तगाली, ब्रिटिश, फ्रांसिसियों द्वारा बसाये गये नगरों से भी प्राचीन रहा है। प्रारम्भिक दौर में नगर अल्मोड़ा को बसाने स्वरूप सिर्फ एक साम्राज्य विस्तार की रूपरेखा तैयार रखने या साम्राज्य को आगे बढ़ाने हेतु एक उपयुक्त स्थान से शासन प्रशासन चलाने हेतु ही की गई थी, किन्तु समय के साथ–साथ संतुलित वातावरण, उपयुक्त जलवायु, सुदृढ़ संचालन, उपयुक्त केन्द्र के हेते इसकी बसावट अपने वर्तम. ान स्वरूप तक विशालता की ओर पहुँच गई है। नगर के प्रारम्भिक दौर में नगर अल्मोड़ा मे बसावट हेतु राजदरबार से सम्बंधित व्यक्तियों को ही इस क्षेत्र में लाकर बसाया गया व इन राजपरिवारों से सम्बंधित सम्बद्ध लोगों को खगमरा कोट के आस–पास ही बसाया गया, कुछ समय पश्चात जब मल्ला महल बनकर तैयार हुआ तो सभी संभ्रान्त व्यक्तियों को मुख्य राजमहल के पास बसाया गया और यहीं से सम्पूर्ण नगर अल्मोड़ा के नगरीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। जहाँ यह बसावट कुछ चुनिंदा लोगों को बसाकर की गई वहीं आज इसका स्वरूप लाखों तक पहुँच गया।[4]

इतिहास में नगर अल्मोड़ा के विकास क्रम को हम छह चरणों में देखते हैं। राजधानी बनने के साथ ही अल्मोड़ा नगर के विकास का प्रथम चरण भीष्म चंद, बालो कल्याण चंद से लेकर कल्याण चंद तक चला। इस दौरान राजनिवास का निर्माण कार्यो का शुभारंभ किया गया। ये निमार्ण कार्य प्रमुख रूप से वर्तमान पल्टन बाजार के आसपास ही किया गया। विकास का दूसरा चरण रूद्रचंद के समय देखा गया, जब राजा द्वारा राजनिवास हेतु मल्ला महल का निर्माण करवाया गया। क्योंकि इस क्षेत्र के निर्माण में गड़बड़ी की गई थी, इसीलिए बाद में ब्रिट्रिश प्रशासकों द्व ारा इसे तोड़कर इसका नवीनीकरण किया गया, जहाँ वर्तम. ान में जिलाधिकारी का कार्यालय विद्यमान है। राजा रूद्रचंद्र के समय ही अल्मोड़ा में कार्य के हिसाब से सामाजिक बसावट की गई प्रतीत होता है। जैसे दुर्गरक्षा हेतु दुर्गपाल, शिल्पियों हेतु राजपुर, राज्य के सलाहकारों हेतु झिजाड़,

चंपानौला, सेलाखोला, जोशीखोला, लेखा जोखा रखने वालों हेतु साहू एवं रतगली निवास आदि। रूद्रचंद्र के शासन काल में ही बसाये गये मुहल्लों के दौरान की महल के आसपास आंशिंक बाजार का स्वरूप भी देखने को मिला, क्योंकि मख्य राजकर्मचारियों की बसावट राजनिवास के आसपास ही की गई थी जिसमें राजकर्मचारियों हेतु आंशिंक बाजार की रूपरेखा इसी समय देखने को मिलती है जो वर्तमान में 2 किलोमीटर के आसपास की है।[5] इसी के साथ ही इस क्षेत्र में बसावट कार्य या गाँव/नौलों के आधार पर ही की गई। चंद काल के दौरान प्रत्येक गाँव/मुहल्ला अपने आप में एक इकाई था। एक से दूसरे मोहल्ले की सीमा रेखा उस वक्त गधेरा हुआ करता था। जानकारों की माने तो तिवारी जाति के लोग अल्मोड़ा के पहले निवासी थे, जो कटारमल स्थित सूर्य मंदिर में बर्तनों की सफाई हेतु रोज एक प्रकार की वनस्पति की आपूर्ति करते थे।[6]

नगर के विकास का तीसरा चरण लक्ष्मी चंद के शासन काल में दिखाई देता है। इस दौरान अपने नीजि उपभोग हेतु बाग–बगीचों के शौकिन होने के चलते ल क्ष्मेश्वर, नरसिंह बाड़ी, पाण्डेखोला, बाड़ी बगीचा आदि स्थ. ानों पर बाड़ियों का निर्माण करवाया। कालान्तर में ये स्थान मोहल्लों के रूप में विकसित हुए। जहाँ सधन आबादी की बसावट देखी गई।[7]

नगर का चौथा विकास बाज बहादूर चंद व उद्यौत चंद के शासन काल में देखा गया । बाज बहादूर चंद ने राजनिवास के किले में नंदा देवी की स्थापना की तथा अपने बाल्यावस्था के पालक नारायण तिवारी का नारायण तिवाड़ी देवालय बनाने हेतु पूर्ण आर्थिक सहायता प्रदान की।[8] इस मंदिर के निमाण से अल्मोड़े नगर का विस्तार हीराडुंगरी के उत्तर पूर्व तक हो गया। राजा उद्योत चंद द्व ारा वर्तमान रैमजे इण्टर कालेज के पास एक नया महल ड्योड़ी पोखर (वर्तमान राजकीय बालिका इण्टर कालेज) और साथ ही त्रिपुरी सुन्दरी, उद्योत चन्द्रेश्वर एवं पार्वतीश्वर मंदिरों का निर्माण किया। यहीं दो मंदिर वर्तमान में नंदा देवी मंदिर के नाम से जाने जाते हैं, क्योंकि बाज बहादूर चंद द्वारा मल्ला महल में स्थापित नंदा देवी प्रतिमा को ट्रेल द्वारा यहां स्थानांतरित किया गया।[9]

अल्मोड़ा नगर के विकास का पाँचवा चरण 1815 से ब्रिटानवी शासन के साथ प्रारम्भ हुआ। जहाँ ब्रिट्रिशों द्व ारा अपने नगरों का निर्माण किया जा रहा था उससे पूर्व ही अल्मोड़ा नगर का स्वरूप ग्रहण कर चुका था। अंग्रजों ने इस क्षेत्र में कई आवासीय और प्रशासनिक भवनों का निर्माण करवाया। इन भवनों के निर्माण के साथ ही अल्मोड़ा में अंग्रेजी/पाश्चात्य वास्तु शिल्प के कुछ उदाहरणों का अर्विभाव हुआ। इनमें मुख्यतः सर्किट हाउस, वर्तमान कछहरी का मुख्य भवन, रौमजे इण्टर कालेज, राजकीय इण्टर कालेज, मुख्य डाकखाना, नौर्मल स्कूल, गिरजाघर आदि है। यहां पर विद्वान एम. पी. जोशी जी इस तथ्य को उजागर करते हैं कि कछहरी को छोड़कर 1844 तक वर्तमान रैमजे कालेज और छावनी क्षेत्र के बीच का स्थान खाली था। इस सन्दर्भ में ट्रैल द्वारा जॉन ॲड़म(सचिव ब्रिटानवी सरकार फोर्ट बिलिअमस कलकत्ता) को लिखा हुआ 22 सितम्बर 1817 का पत्र एक महत्वपूर्ण सूचना देता है कि 1817 में तत्कालीन स्थानीय सेनानायक कर्नल लिअन्स ने छलपूर्वक वर्तमान रैमजे इण्टर कालेज से भी उत्तर की ओर स्थित पहाड़ी को छावनी परिषद बनाने हेतु प्रस्ताव गवर्नर जनरल को भेजा। इस दौरान ट्रैल कार्यकारी कमिश्नर था जिसने इस प्रस्ताव हेतु अपना कड़ा प्रतिरोध जाहिर किया व फोर्ट विलियम को पत्र भेजा जिसके कुछ अंश इस प्रकार हैं।[10]

… should therefore a continued line of cantonments be also formed on the North side of the ridge the inhabitants will be subject to a total deprivation of the necessary article of water. The Northern side of the Ridge is also the only ground now left for the erection of Native houses; the fortifications at each extremity of the town prevents its expansion along the top of the ridge while inhabitants are precluded from building on the Southern side of the Ridge, by the Pioneer lines on the Western part of it and by the Bazar of low cast Hindus on the Eastern part of it.

A consideration of the above will I trust be sufficient to deter Government from authorizing a measure which while it may be productive of considerable inconvenience to a large body of private individuals can prove in no way beneficial to the public interest.

यदि इस क्षेत्र की बसावट की ओर ध्यान से देखा जाये तो प्रतित होता कि यह क्षेत्र चंद काल से ही ब्राह्मण बहुल क्षेत्र था। क्योंकि राजाओं द्वारा संभ्रांत लोगों को ही मु ख्य सीमा में बसाया गया, अन्य समुदाय को नगर से दूरी पर।[11]

एम पी जोशी जी लिखते है कि ट्रेल के आकलन. ानुसार उस दौरान यहां 229 मकान ब्राह्मण समुदाय के, 184 व्यापारियों और बैंकरों के, 40 स्वर्णकारों के, 35 छोटे व्यापारियों के, 35 नर्तकियों के, 19 अन्य, 127 हरिजनों के और 75 मुसलमानों के थे।[12] 1823 में अल्मोड़ा की कुल जनसंख्या 3515 थी। 1872 में अल्मोड़ा की जनसंख्या 5883 थी। जिनमें 35 ईसाई, 755 मुसलमान व शेष 5093 हिन्दु थे। इन हिन्दुओं में भी 1121 हरिजन, 797 बनिया, 264

स्वर्णकार व 2344 ब्राह्मण थे।[13] 1890 ई. के दौरान खरों ओर सघन वनों से घिरा अल्मोड़ा मात्र 6 हजार की आबादी वाला नगर था।[14] 18 वीं शताब्दी के अन्त के दौरान अल्मोड़ा की जनसंख्या इस प्रकार है–[15]

1901– 285104

1911– 330391

1921– 333350

1931– 366642

1941– 432002

1951– 484893

1961– 552843

1971– 646622

1981– 757373

1991– 836679

वहीं वर्तमान परिस्थिति में जनसंख्या का आकलन किया जाये तो नगर अल्मोड़ा की वर्तमान जनसंख्या 622506 जिसमें से 611250 हिन्दु, 7752 मुस्लिम, 1895 इसाई, 256 सिख, 201 बौद्ध, 31 जैन, अन्य 1121 है। इन हिन्दु जनसंख्या में भी अनुसूचित जाति की संख्या 150995 है।[16] यहां पर भी इन आकलनों द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि यह क्षेत्र स्वर्ण बहुल क्षेत्र के रूप में मध्य काल से ही चला आ रहा है।

अल्मोड़ा नगर के विकास का छटा चरण स्वतंत्रता के बाद प्रारम्भ होता है व तब से निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर है। आज यह क्षेत्र विश्वविद्यालयों, मेडिकल कालेजों, सिनेमागृहो, होटल, प्रशासनिक भवनों के साथ सम्पूर्ण क्षेत्रों में अमिट स्थान रखता है।

सन्दर्भ सूची

1. प्रजापति पप्पू सिंह, प्राचीन भारत (पाषाणकाल से 1200 ईस्वी तक) रॉयल पब्लिकेशन रातानाड़ा जोधपुर, 2018, पृष्ठ संख्या–65

2.जोशी मदन मोहन, अल्मोड़ा नगर के कुमाऊँनी आवासीय भवनों का वास्तुशिल्पीय अध्ययन (लघु शोध प्रबन्ध), कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, वर्ष–1986, पृष्ठ संख्या –04

3.बलूनी दिनेश चन्द्र, उत्तराखण्ड का एक जनपद अल्मोड़ा, विनशर पब्लिशिगं कम्पनी देहरादून, 2012, पृष्ठ संख्या–09

4.डसीला इन्द्र सिंह, अल्मोड़ा का इतिहास और कुमाऊँ, अल्मोड़ा किताब घर, 2016 पृष्ठ संख्या– 109–110

5.जोशी महेश्वरी प्रसाद, जोशी कु० ललित प्रभा, उत्तरांचल हिमालय समाज संस्कृति इतिहास एवं पुरातत्व, अल्मोड़ा बुक डिपो, माल रोड, अल्मोड़ा, वर्ष–1994, पृष्ठ संख्या–227

6.अमर उजाला, शनिवार, 27 अक्टूबर 2018, पृष्ठ संख्या–14

7.डसीला इन्द्र सिंह, अल्मोड़ा का इतिहास और कुमाऊँ, अल्मोड़ा किताब घर, 2016 पृष्ठ संख्या–216

8.पाण्डे बद्रीदत्त, कुमाऊँ का इतिहास, श्याम प्रकाशन, अल्मोड़ा 1990–97, पृष्ठ संख्या–290–91

9.उनियाल हेमा ,कुमाऊँ के प्रसिद्ध मन्दिर (धर्म संस्कृति एवं वास्तुशिल्प), तक्षशिला प्रकाशन, 98 ए० हिन्दी पार्क दरियागंज, नई दिल्ली, वर्ष–2005, पृष्ठ संख्या– 175

10.जोशी महेश्वरी प्रसाद, जोशी कु० ललित प्रभा, उत्तरांचल हिमालय समाज संस्कृति इतिहास एवं पुरातत्व, अल्मोड़ा बुक डिपो, माल रोड, अल्मोड़ा, वर्ष–1994, पृष्ठ संख्या–228–29

11-Rizvi saiyid Ali Akhtar, U.P District Gaz-etteers Almora, Government press Aishbagh Lucknow 1981, Page 67-76

12.जोशी एम०पी० ,जोशी ललित प्रभा, उत्तरांचल हिमालय, समाज,संस्कृति, इतिहास एवं पुरातत्त्व, पृष्ठ संख्या– 223

13.एटकिंसन एडविन टी, हिमालयन गजेटियर, ग्रंथ 3, भाग 1, उत्तराखंड प्रकाशन हिमालय संचेतना संस्थान आदिब्रदी चमोली पृष्ठ संख्या–09

14.मनराल मोहन सिंह, उत्तराखण्ड में विवेकानंद, अल्मोड़ा किताब घर, 2015 पृष्ठ संख्या–38

15.पुरवासी प्रत्रिका भाग 7, श्री लक्ष्मी भण्डार (हुक्का क्लब) से प्रकाशित वर्ष, 1998,1999,2000, पृष्ठ संख्या–162

16.अल्मोड़ा जनपद एक दृष्टि में, जिला अर्थ एवं संख्याधिकारी अल्मोड़ा, 2022–23, पृष्ठ संख्या–02–03

****

अँधेरे तले प्रकाश की तलाश करती कविताएँ

-विनीता सिंह
शोधार्थी
(इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय)

जितेन्द्र श्रीवास्तव साहित्य जगत में एक ऐसा नाम है जो किसी परिचय का मोहताज नहीं है| यह नाम अपनी विद्वता, प्रेम और विनम्र स्वभाव से साहित्य, समाज, गाँव, शहर, अमीर, गरीब, छात्र से लेकर सामान्य जन तक के हृदय में विराजमान है | स्वरचित तथा सम्पादित अब तक इनकी लगभग 30 पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं | कविता से लेकर कहानी, आलोचना तक कोई भी क्षेत्र इनसे अनछुआ नहीं है | हालही में नॉटनल द्वारा प्रकाशित इनका कहानी संग्रह "फिर भी यह मन" चर्चा के केंद्र में है |वे न केवल उम्मीद के कवि हैं बल्कि अपने सपनों के प्रति प्रतिबद्ध रहकर परिश्रम और धर्य के साथ उस उम्मीद को साकार करने की कोशिश भी करते हैं |अपनी कविताओं के माध्यम से वे किसान, मजदूर, स्त्री तथा हाशिये पर बैठे तमाम निरीह व्यक्तियों की पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं | साथ ही परिवार, समाज, तथा प्रकृति में प्रेम का संचार कर इस बाजारवादी युग में मनुष्यता को बचाने का हरसंभव प्रयास करते हैं |समाज को बदलने की बेचैनी में वे अन्य के साथ स्वंय को भी सवालों के कटघरे में ला खड़ा करते हैं | यही व्याकुलता इन्हें अन्य कवियों से विशिष्ट बनाती है | मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में "खुद को सवालों के घेरे में लाना, ये अपने आप में बहुत बेहतर मानवीय संबंधों की समझ का मामला है |"[1]

इस कोरोना काल (2020) में जहाँ एक पुत्र अपने मृत पिता को डॉक्टर्स के समझाने के बाद भी इसलिए आग नहीं देता कि पिता को कोरोना था, वहीं एक पुत्री अपने अपंग पिता को मीलों साइकिल चलाकर घर ले आती है ताकि उसके घर की नींव (पिता) सुरक्षित रहें | ऐसे में जितेन्द्र श्रीवास्तव का कविता संग्रह 'बेटियाँ' पूर्ण रूप से प्रासंगिक हो उठता है | जिसके माध्यम से कवि एक बेटी की जिजीविषा, उसकी स्वतंत्रता, उसके स्वप्न तथा उसके अस्तित्व को बचाने की हरसंभव कोशिश करता है | देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक समस्याओं से भी कवि अनभिज्ञ नहीं है | मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में "जितेन्द्र की कविता में अपने समय का समाज, उस समाज की समस्याएँ, चिंताएँ, दुविधाएँ, कभी-कभी संकट भी - वो सब आते हैं |"[2] चाहे वह गाँव का किसान हो या सीवर में काम करता शहरी मजदूर, नैहर-ससुराल से परित्यक्त स्त्री हो या पति की असामयिक मृत्यु से अकेले बच्चों को संभाल रही स्त्री |सभी को कवि ने अपनी कविताओं में स्थान दिया है। कवि का संवेदी मन जब इन्हें शब्दों में पिरोता है तो पाठक भी समाज तथा कवि के हृदय की पीड़ा से पीड़ित हो उठते हैं|

समकालीन समय की सबसे बड़ी समस्या यह है कि लोग अपनी जड़ों को भूलकर शहरी संस्कृति में खोते जा रहे हैं | ऐसे में जितेन्द्र श्रीवास्तव की कविताएँ अपनी जड़, अपने लोक को बचाने की पुरजोर कोशिश करती हैं | अनामिका कहती हैं "जितेन्द्र श्रीवास्तव की बड़ी विशेषता यह है कि उनसे अपनी 'सोनचिरई' नहीं बिसरी और लोक-सन्दर्भों में राजनीतिक विनियोग का सौष्ठव उन्होंने कायदे से साधा | सिर्फ लोक-सन्दर्भों से ही नहीं, शास्त्रीय सन्दर्भों से (कालिदास से, ग़ालिब से....) इनकी कविता सजग संवाद कायम करती है!"[3] 'सोनचिरई' एक ऐसी कविता है जिसने वैश्विक स्तर पर अपनी एक अलग छाप छोड़ी है | 'सोनचिरई' अर्थात सोने की चिड़िया | इस शब्द से एक ऐसी स्त्री को संबोधित किया गया है, जो गुणी, विवेकी तथा सौन्दर्ययुक्त है | लेकिन ये सभी गुण केवल एक कारण से (जो उसमें है भी नहीं) सबको अवगुण प्रतीत होने लगते हैं | उसको संतान उत्पन्न ना होना | इसके लिए उसके पति को कोई दोषी नहीं मानता यहाँ तक कि स्वंय वह पुरुष भी सोनचिरई को ही अक्षम मानता है | यह कैसी विडंबना है कि जिस स्त्री को बांझ मानकर उसके माता-पिता, ससुरालवालों से लेकर समाज तक ठुकरा देता है, कविता के अंत में हम देखते हैं कि उसी स्त्री की अर्थी को उसके आठ बेटे कंधा देते हैं |समाज में स्त्री की यह बड़ी दयनीय स्थिति है कि संतान न होने पर सीधे उसे बांझ ठहरा दिया जाता है | अगर स्त्री बांझ हो सकती है तो क्या पुरुष नपुसक नहीं हो सकते ? प्रस्तुत कविता इस पितृसतात्मक समाज के समक्ष एक बड़ा सवाल खड़ा करती है | क्या विवाह का उद्देश्य केवल संतानोत्पति है ? एक पुरुष के लिए अपनी पत्नी का महत्व केवल इतना भर है कि वह संतान उत्पन्न कर उसकी देखभाल करे, और जो संतान ना हो तो उस स्त्री को त्याग दिया जाए | यह कविता स्त्री विमर्श को एक नई दृष्टि देती है, जहाँ हर तरह के दोष स्त्री पर थोपे जाने का अस्वीकार है |

एक अन्य पहलू पर विचार करें, जैसा कि कहा जाता है 'स्त्री ही स्त्री की दुश्मन है' | उस स्त्री पर बांझपन का ठप्पा लगाने वालों में अधिकतर स्त्रियां हैं | उसकी सास, ननद यहाँ तक कि उसकी जन्मदात्री माँ ने भी उसे नहीं अपनाया |जब एक स्त्री ही स्त्री के साथ खड़ी नहीं होगी तो पितृसत्ता की बुनियाद को कैसे तोड़ा जा सकेगा ! यह सत्य है कि वह स्त्री भी पितृसत्तात्मक सोच की उपज है, लेकिन इस सोच को बदलना भी तो उसी की जिम्मेदारी है| जब कवि कहता है –

"सोनचिरई आठ बेटों की माँ थी
वह स्त्री थी
और स्त्रियाँ कभी बाँझ नहीं होतीं
वे रचती हैं!
वे रचती हैं तभी हम-आप होते हैं
तभी दुनिया होती है
रचने का साहस पुरुषों में नहीं होता
वे होती हैं तभी पुरुष
पुरुष होते हैं |"[4]

तो वह समाज की उस संकीर्ण मानसिकता से लड़ता है, जहाँ स्त्रियों को शोषित, प्रताड़ित होना उसकी नियति मान ली जाती है |जितेंद्र सोनचिरई को आठ बेटों की माँ के रूप में, एक रचयिता के रूप में दिखाकर समाज में होने वाले बड़े बदलाव की ओर इशारा करते हैं | साथ ही सदियों से चली आ रही

स्त्रियों के शोषित स्वरूप, उनकी दीन-हीन अवस्था को बदलने की कोशिश करते हैं |

जिस समय (1995) यह कविता लिखी गई वह ऐसा दौर था, जब साहित्य में तो स्त्री स्वर मुखरित हो रहा था लेकिन समाज में इसका एक बड़ा तबका इससे अनभिज्ञ अंधकारमय जीवन जीने को बाध्य था | जहाँ घर के किसी भी अहित के लिए स्त्री को ही दोषी ठहराया जाता था | सन्तान ना हो तो बाँझ, घर की प्रगति रूक जाए तो कुलक्छनी, मन मुताबिक दहेज़ ना मिले तो दरिद्र घर की आदि ताने सुनकर जीवन जीना स्त्री की नियति थी | धीरे-धीरे स्थितियों में बदलाव आया | स्त्री शिक्षा का प्रसार हुआ, स्त्रियाँ घर से बाहर निकलीं | साहित्य में भी स्त्री स्वतंत्रता व उनके अधिकारों के लिए जोर -शोर से आवाज उठाई जाने लगी | जितेन्द्र भी हमेशा अपनी कविताओं के माध्यम से शांत स्वर में स्त्री शोषण के विरूद्ध निरंतर आवाज उठाते रहें हैं | कभी वह समाज के तमाम पिताओं से अपनी पुत्रियों को सामान हक,अधिकार देने की विनती करते हैं तो कभी बेटियों में अन्याय, शोषण के खिलाफ खड़े होने का साहस भरते हैं -

"उठो
जागो
ओ मेरी बेटियों
देखो
पौ फट चुकी है
सबेरा होने को है "[5]

कवि की अपने देश, समाज तथा संस्कृति के प्रति व्याकुलता उन्हें अपने समकालीनो में विशिष्ट बनाती है |जितेंद्र की कवितायें अनुभव के धरातल पर पगी हुई होती हैं |'और उधर' कविता में वे देश तथा समाज की नींव किसानों की पीड़ा को अभिव्यक्त करते हैं | एक तरफ गन्ना चूसती कवि की प्यारी सी बेटी है तो दूसरी तरफ गन्ना उगाने वाला गरीब किसान और इन दोनों के बीच कवि का व्यथित मन | कवि कहता है -

"गन्ने का रस चूसती मेरी यह बेटी
नहीं जानती है उस पसीने के बारे में
जो बहा होता है खेतों की क्यारियों में
वह उस खून के बारे में भी नहीं जानती
जो बहा दिया जाता है कानून और व्यवस्था के नाम पर
वह पैबंद लगे उन सपनों के बारे में भी नहीं जानती
जिनके हकीकत में बदलने का इंतजार करते
गुजर जाती हैं किसानों की कई पीढियाँ"[6]

जब कवि गन्ने की बात करता है तो उसकी दृष्टि लहलहाते खेतों की सुन्दरता पर नहीं बल्कि उन्हें उगाने वाले किसानों पर जाती है | सबको सुन्दर भविष्य देने वाला किसान अपने और अपने परिवार के सुन्दर भविष्य की कल्पना करते-करते अपना जीवन समाप्त कर देता है | भूमंडलीकरण के आगमन से पूंजीपतियों का जीवन तो आबाद हुआ लेकिन किसान और गरीब होते चले गए | कमल नयन काबरा के शब्दों में "भारत में 80 प्रतिशत किसानों के पास दो हेक्टेयर से कम जमीन है | कुछ राज्यों में तो यह मात्रा और भी कम है | 60 प्रतिशत से ज्यादा खेत पूरी तरह बरखा पर आद्रता के लिए निर्भर होते हैं | इन सिंचाईविहीन खेतों से एक फसल से ज्यादा उगाना संभव नहीं होता है | ग्यारह करोड़ से ज्यादा लोग भूमिहीन मजदूर हैं जिनके पास उत्पादन का कोई भौतिक साजोसामान नहीं होता है |"[7] ऐसे में कवि की चिंता लाजमी है |

"मैं एक खेतिहर का बेटा सोच रहा हूँ
और उधर न जाने कौन से फैसले ले रहे होंगे
देश चलाने वाले |"[8]

कवि का स्वयं को एक खेतिहर का बेटा कहना उन तमाम लोगों के साथ तादात्म्य स्थापित करना है, जो हाशिये पर ढकेल दिए गए हैं| नई अर्थनीति लागू कर जिस सुन्दर भविष्य का सपना दिखाया गया था, वह कोरी कल्पना साबित हुई | 'जय जवान, जय किसान' का नारा लगाने वाले निरंतर उपेक्षित होते चले गए | अब लोगों को किसानों के खून पसीने से बदबू आने लगी तथा विदेशी ब्रांड के परफ्यूम लुभावने लगने लगे | नब्बे के बाद 'किसान आत्महत्या' की ख़बरों में लगातार बढ़ोतरी ही हुई है | भविष्य के चश्मे से देखकर लिखी गई ये कविता कवि के विशाल हृदय में किसानों के लिए उठने वाले हूक का परिचायक है| एक तरफ गन्ना चूसती बेटी है तो दूसरी तरफ संघर्ष करता किसान | कवि का एक मन वात्सल्य में डूबा है तो दूसरा शोषित समाज को बदलने की चिंता से बेचैन | बारिश की बूंदे देखकर कवि मन पुलकित हो उठता है-

"मैं खुश हूँ!
कि इस बारिश से तनिक खुश हुए होंगे
पसीने, कर्ज और पस्ती में डूबे
मेरे देश के किसान
मैं खुश हूँ!"[9]

'मैं इक चिड़िया हूँ पापा' कविता में बेटियों का चिड़िया हो जाना स्त्री स्वतंत्रता की ओर इशारा करता है | कवि उस सुन्दर समाज की कल्पना करता है जहाँ स्त्रियाँ अपने जीवन के निर्णय स्वंय ले सकें,जहाँ उन्हें अपने अधिकार के लिए अपने ही परिवार से लड़ना न पड़े | बेटियाँ भी चिड़ियों की तरह अपने घर, अपने भविष्य का चुनाव सदिच्छा से कर सकें -

"देखो तो पापा
चिड़िया कितनी खुश है !
दाना उसकी चोंच में है
उसका घर
उसकी पसंद है

सोचो तो पापा
मैं तुम्हारी बिटिया
इक चिड़िया हूँ
अपने मन की!
सोचो तो पापा
सोचो न!"[10]

यहाँ एक बेटी अपने पिता से सोचने को कह रही है| यह सोचने की आजादी अधिकतर कवियों के यहाँ नदारद है | कवि देश की तमाम बेटियों से सवाल करने, अधिकार के साथ अपनी बात रखने की अपील करता है | आज भी ऐसे परिवारों की कमी नहीं है, जहाँ शिक्षा से लेकर शादी तक बेटी के किसी भी निर्णय में उसे शामिल नहीं किया जाता | शहर की स्थितियां तो बहुत बदली हैं लेकिन गाँव की सोच अब भी पहले जैसी ही है |

'पुकार' कविता की सुभागी ऐसी ही युवती है | जिसे उसके परिवार

वालों ने एक पियक्कड़ पति के गले बांधकर नियति के भरोसे छोड़ दिया |महज उनतीस वर्ष की सुभागी अपने तीन बच्चों के साथ वैधव्य का बोझ लादे जीवन जीने को मजबूर है |पति की मृत्यु के बाद ना ससुराल में उसके लिए आश्रय है ना नैहर में | समाज की जिम्मेदारियों ने उसे असमय बूढ़ा बना दिया है | कवि व्यथित मन से कहता है -

"वैसे इस देश में अकेली स्त्री नहीं है सुभागी
जिसे उसकी राय जाने बिना
बाँध दिया गया अनजान खूंटे से"[11]

जहाँ पिता अपनी बेटियों को हर परिस्थिति में समझौता करने की सलाह देते हैं, पुत्री का विवाह कर निश्चिन्त हो जाते हैं तथा उसे समझाते हैं कि विवाह के बाद पति का घर ही उसका अपना घर होता है, वहीं कवि बेटियों में साहस भरकर विकट परिस्थिति से लड़ने की सलाह देता है | साथ ही उन पिताओं को भी अपनी पुत्री को भाग्य भरोसे छोड़ने के लिए फटकार लगाता है -

"पिताओं, उठो, कि बेटियाँ पुकार रही हैं
उन्हें मत छोड़ो विधना की मर्जी पर
देखो उनकी भी मर्जी
उनको मत परोसो जीवन भर की लाचारी "[12]

आज जब स्त्रियाँ चाँद पर जा रही हैं, हर क्षेत्र में अपनी अलग पहचान बना रही हैं, ऐसे में यह अत्यंत दुखद है कि समाज का एक तबका ऐसा भी है, जो पुत्र प्राप्ति की चाहत में लिंग जांच करवाकर पुत्री की पुष्टि होने पर गर्भपात करवा देता है| कुछ स्त्रियाँ भी बेटे की चाहत में स्वयं ऐसा करती हैं | "एक अनुमान के अनुसार भारत में पिछले दस वर्षों में करीब डेढ़ करोड़ लड़कियों को जन्म से पहले ही मार डाला गया या फिर पैदाइश के बाद 6 वर्षों के अन्दर ही उनको मौत के मुंह में ढकेल दिया गया | भारत के जनसँख्या आयुक्त और महापंजीयक जेके भाटिया का कहना है कि 1981 में लड़कियों की संख्या 1000 लड़कों के मुकाबले 960 थी जो अब गिरकर 927 पर आ गई है | पंजाब और कुछ अन्य उत्तरी राज्यों में तो यह संख्या 780 तक गिर गई है |"[13] ऐसे में जब कवि कहता है –

"बेटियाँ होती ही शहद हैं
जो मिटा देती हैं
आत्मा की सारी कड़वाहट"[14]

तो कवि के शब्द समाज की इस बीमार मानसिकता के लिए औषधि सरीखे लगते हैं | कवि उन तमाम सामाजिक संरचनाओं पर कुठाराघात करता है जहाँ पुत्र को ही वंशबेल समझकर न जाने कितनी पुत्रियों की भ्रूण हत्या कर दी जाती है | कवि के लिए बेटियाँ प्राणशक्तियां हैं|

इस भूमंडलीकृत समाज में जहाँ परिवार टूटते जा रहे हैं, जितेन्द्र श्रीवास्तव अपनी कविताओं के माध्यम से परिवार, रिश्तों, जीवन मूल्यों को बचाए रखने की हर संभव कोशिश करते हैं | अन्य कवियों की कविताओं में जहाँ पिता-पुत्री की बात की गई है, वहाँ केवल पिता-पुत्री हैं| जबकि कवि जब बेटियों की बात करता हैं तो पत्नी के प्रेम के साथ ही माँ के साहस तथा पिता के परिश्रम को भी नहीं भूलता | यही विशेषता उसे अन्यों से अलगाती हुई विशिष्ट बनाती है | कवि अपनी पत्नी से कहता है –

"ये दिन बीत जाएँगे
धीरज धरो!
कुछ भी ठहरा नहीं रहता

देखो, तुम्हारे पति के पास
एक किसान की विरासत है
उसने अपने पिता की आँखों में
कभी साँझ नहीं देखी
अपनी माँ को कभी हारते नहीं देखा

तुम गौर से देखो अपनी बेटियों को !

ये महज बेटियाँ नहीं
प्राणशक्तियां हैं हमारी"[15]

जितेन्द्र श्रीवास्तव अपनी कविताओं के माध्यम से समाज के उपेक्षित और कमजोर तबके के स्वप्नों को साकार होते देखना चाहते हैं | जहाँ सबको अपने हक़, अधिकार के साथ जीने की आजादी हो | जहाँ प्रेम बरसता हो, ईर्ष्या, द्वेष, कटुता के लिए कोई स्थान न हो | परमानन्द श्रीवास्तव के शब्दों में "जितेन्द्र श्रीवास्तव की काव्य-संवेदना सजग और पर्यत्सुक है | वे जानते हैं आज कविता चुप्पी में भी चीख है |"[16] और यह चीख इस कवि की कविताओं में भी विद्यमान है |

सन्दर्भ:

1. संपादक : होता अरुण, सृजन का आयतन, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, संस्करण : 2015, पृष्ठ 171
2. वही, पृष्ठ 169
3. वही, पृष्ठ 14
4. सम्पादक : वर्मा कमलेश, वर्मा सुचिता, बेटियाँ(बेटियों पर जितेन्द्र श्रीवास्तव की कवितायेँ), के. के. पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2019, पृष्ठ 24
5. वही, पृष्ठ 53
6. वही, पृष्ठ 31
7. काबरा कमल नयन, भूमंडलीकरण के भंवर में भारत, प्रकाशन संसथान, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण : 2008, पृष्ठ159
8. सम्पादक : वर्मा कमलेश, वर्मा सुचिता, बेटियाँ(बेटियों पर जितेन्द्र श्रीवास्तव की कवितायेँ), के. के. पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2019, पृष्ठ 32
9. वही, पृष्ठ 48
10. वही, पृष्ठ 38
11. वही, पृष्ठ 50
12. वही, पृष्ठ 51
13. https://www.bbc.com/hindi/regionalnews/story/2004/04/printable/040428-india-girl
14. सम्पादक : वर्मा कमलेश, वर्मा सुचिता, बेटियाँ(बेटियों पर जितेन्द्र श्रीवास्तव की कवितायेँ), के. के. पब्लिकेशन्स,नई दिल्ली, प्रथम संस्करण : 2019, पृष्ठ 35
15. वही, पृष्ठ 45
16. संपादक : होता अरुण, सृजन का आयतन, यश पब्लिकेशंस, दिल्ली, संस्करण : 2015, पृष्ठ 181

अम्बेडकरवादी साहित्य और डॉ.तेज सिंह

-विष्णु
शोधार्थी पीच.डी. (हिंदी)
दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली
ई मेल- vishutanwar90@gmail.com

डॉ. तेज सिंह आज हम सब के बीच नहीं हैं पर वे अपनी अम्बेडकरवाद साहित्य की अवधारणा के लिए हिंदी पट्टी में हमेशा याद किए जाऐंगे। डॉ. तेज सिंह का जन्म 13 जुलाई 1946 में घोंडली दिल्ली में हुआ था। डॉ. तेज सिंह 15 जुलाई 2014 में कुल 68 वर्ष की आयु में हम सब को छोड़ कर इस दुनिया से चल बसे। डॉ. तेज सिंह को स्वास्थ्य विरासत में नहीं प्राप्त हुआ बल्कि अपने आप को कठोर अनुशासन के दम पर हमेशा खुद को स्वस्थ रखते थे। वह बहुत ही खुशदिल व्यक्ति थे। डॉ. तेज सिंह अनुशासन प्रस्थ व्यक्ति थे। वह सुबह समय से उठकर व्यायाम करते व संतुलित आहार ही खाते थे। इन्हीं की वजह से उनका स्वास्थ्य क्रियाकलाप बहुत अच्छा था। डॉ. तेज सिंह जितने विनम्र व्यक्ति थे उतने ही वह स्पष्टवादी और निर्भीक कहने और सुनने वाले व्यक्ति थे। उनकी ऐसी छवि आज भी हमारे दिलों–दिमाग में बरकरार है। आज हमारे बीच डॉ. तेज सिंह नहीं हैं लेकिन आज भी हम उनको अपने साथ पाते हैं। वह अपने पीछे अपनी धर्मपत्नी विद्या व दो पुत्र व तीन पुत्रियों को छोड़ कर चले गये। डॉ. तेज सिंह ने अपनी उच्च शिक्षा जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से हासिल की थी।

डॉ. तेज सिंह की कुछ प्रमुख प्रकाशित रचनाएँ

नागार्जुन का कथा साहित्य, राष्ट्रीय आंदोलन और हिंदी अन्यास, आज का दलित साहित्य, प्रेमचंद की रंगभूमि एक विवाद–एक संवाद, अम्बेडकरवादी विचारधारा और समाज, दलित समाज व संस्कृति, दलित आत्मवृत का इतिहास, अम्बेडकरवादी साहित्य की अवधारणा आदि।

डॉ. तेज सिंह ने ''अपेक्षा'' पत्रिका का प्रकाशन 2002 से शुरू किया व जनवरी–जून 2014, 46–47 संयुक्तांक का संपादन किया। डॉ. तेज सिंह जी देश के प्रतिष्ठित विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं में लगातार आलोचनात्मक लेखन करते रहे उन्होंने यू.जी.सी की परियोजना के तहत उपनिवेशवाद अनिवेशवाद, राष्ट्रवाद और हिंदी उपन्यास पर शोध कार्य किया था।

डॉ. तेज सिंह ने डॉ. भीम राव अम्बेडकर के समानता, स्वतंत्रता व बंधुत्व को अपने जीवन एवं चरित्र में आत्मसात किया। डॉ. अम्बेडकर के पद चिन्हों पर डॉ. तेज सिंह ने चलने का प्रयास किया और अम्बेडकरवाद को आगे बढ़ाया।

अम्बेडकरवाद का अर्थ : आज के दौर में जिसे देखों बस यही कहता है। ''मैं अम्बेडकरवादी हूँ''। क्या उन्हें ये पता है। ''अम्बेडकरवाद' है क्या? कम ही लोगों को शायद मुश्किल से पता होगा अम्बेडकरवाद क्या है?

''अम्बेडकरवाद'' किसी भी धर्म, जाति, रूढ़िवादिता अंधविश्वास, अज्ञानता किसी भी प्रकार के भेद–भाव या रंगभेद को नहीं मानता अम्बेडकरवाद लोगों को एक रूप से जोड़ने व समानता का अधिकार दिलाने का काम करता है। एक अम्बेडकरवादी होना भी तभी सार्थक कहा जाएगा जब लोगों का दृष्टिकोण बदलेगा जिसमें रूढ़िवादी विचारों का त्याग होगा जो जाति–प्रथा के विपरित होगा परंतु आज भी कुछ लोग अप. नी रूढ़िवादी सोच को छोड़ने को तैयार नहीं है। क्या आज तक किसी की रूढ़िवादी सोच से किसी का भला हुआ है? अगर ऐसा हुआ होता तो शायद आज अम्बेडकरवाद का जन्म नहीं हुआ होता।

अम्बेडकरवाद में छूत व अछूत ऊँच–नीच, स्त्री–पुरुष, सब को समान अधिकार प्राप्त हो यह अम्बेडकरवाद का लक्ष्य है। समाज की रूढ़िवादी दृष्टि की जंजीरों को खत्म किया जा सके यह अम्बेड़करवाद कहता है। ऊँच–नीच, छूत–अछूत की दृष्टि को खत्म कर समानतापूर्ण अधिकार सभी को मिलें। रूढ़िवादी परंपरा को खत्म कर अम्बेड़करवाद की विचारधारा अपनाई जा सके जिसमें हर–इंसान को बराबरी मिले अम्बेडकरवाद एक ऐसा आंदोलन या विचार है जो अन्याय व शोषण के खिलाफ है। जो ब्राह्मणवाद को खत्म करने की एक ऐसी विचारधारा है जिससे क्रांतिकारी विचारधारा उत्पन्न हो।

अम्बेड़करवाद दलित–पिछड़े वर्ग में आत्मसम्मान और स्वाभिमान की भावना जगाता है जिसे दलित समाज की सामाजिक–अस्मिता भी कहा जाता है। इस तरह अम्बेडकरवाद मूलतः मानवतावादी अवधारणा पर आधारित है। वह केवल दलित–पिछडे वर्ग के लोगों की ही मुक्ति नही चाहता बल्कि समस्त मानव समाज की सभी तरह के शोषण–उत्पीड़न से भी मुक्ति का रास्ता तलाशता है। अम्बेडकरवाद श्रमिक वर्ग के नेतृत्व में सामाजिक–क्रांति की संकल्पना प्रस्तुत करके अंतर्राष्ट्रीयवाद की अवधारणा को भी एक मजबूत आधार प्रदान करता है। अम्बेड़करवाद सामाजिक–लोकतंत्र में विश्वास करता है जिसे सवैधानिक तरीकों से ही प्राप्त किया जा सकता है। अम्बेडकरवाद सम्यक् परिवर्तन पर जोर देता है यानि पूर्णतः सामाजिक परिवर्तन चाहता है। अम्बेड़करवाद एक समान रूप से ब्राह्मणवाद और पूंजीवाद को दलित–पिछड़े वर्ग का सबसे बड़ा दुश्मन मानता है। अम्बेडकरवाद संपूर्ण मानव समाज के लिए उन मूल्यों को स्थापित करना चाहता है जो समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व पर आधारित हो। इसलिए उसमें मानव–कल्याण की भावना सर्वोपरि है। वह यह भी मानता है कि समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व में ही, व्यक्ति स्वातंत्र्य की भावना निहित है। एक व्यक्ति एक मूल्य, सामाजिक लोकतंत्र का आधारबिंदु है। इसलिए वह शब्द–प्रमाण और ग्रन्थ–प्रमाण की अवधारणा को अस्वीकार करता है। इस तरह अम्बेड़करवाद डॉ. अम्बेडकर के विचारों का समुच्चय है। इसलिए अम्बेड़करवाद को सिर्फ जाति– प्रथा उन्मूलन तक ही सीमित करके नहीं देखना चाहिए क्योंकि अम्बेडकरवाद एक ऐसा सामाजिक दर्शन है जो

समस्त शोषित–उत्पीड़ित और अपेक्षित मानव की मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है।

अम्बेडकरवाद की परिभाषा

डॉ. तेज सिंह अम्बेडकरवाद के बारे में लिखते हैं –

- ''अम्बेडरकवाद'' केवल डॉ. भीमराव अम्बेडकर के विचारों का ही सार नहीं है, बल्कि वह गौतम बुद्ध, कबीर, फूले, पेरियार आदि चिंतकों के विचारों का सार है जो लबीं चिं. तन–परम्परा में विकसित हुआ है। [1]
- ''अम्डेकरवाद'' ब्राह्मणवाद का विखंडन करके जातिशास्त्र का विखंडन कर देता है दूसरे रूप में ब्राह्मणवाद का वि खंडन मूलतः हिन्दुत्व के जातिशास्त्र का विखंडन करके नये समाजशास्त्र के निर्माण की आधारशिला रख देता है जिसे अम्बेडकरवादी समाजशास्त्र कहा जा सकता है। इसलिए हमारे साहित्य का आधार यही अम्बेडकरवादी समाजशास्त्र है जो हिन्दुत्व के जातिशास्त्र का विखंड़न करके ब्राह्मणवाद का भी विखंडन कर देता है जिससे जातिविहीन वर्ग–विहिन समाज के निर्माण का रास्ता प्रशस्त होता है।[2]

हिन्दू धर्म में वर्ग और जाति के आधार पर हमेशा से ऊँच नीच की भावना ने हिन्दू धर्म को कभी विकास नहीं करने दिया। हमेशा ऊँच–नीच, रंगभेद का ही सर्वोपरि माना जाता है ब्राह्मण के आगे सारे निम्न जाति के ही कहलाते है हिन्दु धर्म मे हमेशा ब्राह्मण को सब कुछ प्राप्त हुआ है मगर हिन्दू धर्म की वर्ण व्यवस्था ने अनुसूचित जाति अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़ावर्ग, आदिवासी, किन्नर, महिलाओं से जीवन के विकास के सभी अधिकार छिन लेते हैं। ऐसे पाखंड़ी समाज में ऐसे धर्म को खत्म करने के लिए अम्बेडकरवाद को विकसित किया गया जिसमें हर इंसान को एक समान अधिकार प्राप्त हो। जिसमे कोई ऊँच–नीच जात–पात का कोई जिकर न हो इसे अम्बेडकरवाद कहा जाएगा। अम्बेड़करवाद मानव के चहुंमुखी विकास पर बल देता है। अंबेडकरवाद मानव के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक सभी अधिकारों को दिलाने का पक्षधर है।

अम्बेडकरवादी साहित्य का अर्थः– अम्बेडकरवादी साहित्य समता, स्वतत्रंता व बधुंत्व जैसे मानवीय मूल्यों को आधार बनाकर लिखा गया साहित्य अम्बेडकरवादी साहित्य है। बुद्ध, कबीर–फूले पेरियार अम्बेडकर के विचार जब एक निश्चित ध ाारणा के तहत सामने आते है तो इसे हम अम्बेडकरवादी विचार कह सकते है। और इसी विचार–धारा के आधार पर लिखा गया साहित्य अम्बेडकरवादी साहित्य कहलाता है।

'अपेक्षा' के अंक–8 जुलाई–सितंम्बर 2004 के अम्बेडकरवादी साहित्य आंदोलन विशेषांक में पहली बार दलित साहित्य की विरोधी प्रवृत्तियो को नकराते हुए उसके स्थान पर अम्बेडकरवादी साहित्य की अवधारणा' प्रस्तुत की गई थी। उस समय भी दलित लेखकों ने अम्बेडकरवादी साहित्य की अवध ाारणा का विरोध किया था लेकिन उनका विरोध नकारात्मक ही सावित हुआ। इस प्रकार उन्होंने दलित साहित्य के स्थान पर ही अम्बेडकरवादी साहित्य का नाम ही स्वीकार कर लिया।

जब पहली बार हमने 'अम्बेडकरवादी साहित्य की अवधारणा' प्रस्तुत की थी तो 'अपेक्षा' के ही कुछ लोगों ने आपत्ति की, कि आप किस आधार पर दलित साहित्य के स्थान पर अम्बेडकरवादी साहित्य की परिभाषा करेंगे? मगर अम्बेडकरवादी साहित्य का आधार हमेशा अम्बेडकरवादी ही होगा यानि कि अम्बेडकरवादी विचारधारा ही होगी।

अम्बेडकरवादी साहित्य की परिभाषाः–

डॉ॰ तेज सिंह अम्बेडकरवादी साहित्य के बारे में लिखते है–

- पहली बार हमने ही ''अम्बेडकरवादी साहित्य' की अवधारणा प्रस्तुत की थी जहाँ तक दलित वैचारिकी की बात कर रहे है उसकी वैचारिकी में अन्तर्विरोध अंतर विरोध है। सवाल यह है कि दलित साहित्य की वैचारिकी में अंतरविरोध कहां से आ रहा है। आज हम देखते है कि अतंर विरोध की जड़ें समाज में है और साहित्य समाज से निरपेक्ष नही है। दलित साहित्य की वैचारिकी का मतलब उसकी विचारधारा से है। मराठी साहित्यकार मानते रहे कि दलित–साहित्य के पीछे अम्बेडकर की विचारधारा काम कर रही है। हमारे साहित्य के प्रेरणा स्रोत डॉ. अम्बेडकर और उनके विचार हैं। अभी तक ऐसा ही माना जा रहा था लेकिन ये विचारों का सीमित दायरा है। मैने बार–बार कहा है कि दलित साहित्य के विचारों को अम्बेडकर के विचारों तक सीमित मत कीजिए। अंबेड़करवादी विचारधारा बुद्ध–फुले–कबीर के विचारों का समन्वित रूप है। इसलिए हमने इसको बहुजन समाज से जोड़कर विकसित किया है।"[3]
- 3कुछ दलित विचारक और दलित लेखक यह समझते हैं कि काशीराम ने अपनी अपनी जाति मज़बूत करने का नारा दिया था या जातिगत चेतना पर गर्व करना सिखाया था, तो वह यह गत सोचते हैं वे काशीराम के राजनीतिक चेतना ठीक से समझ नहीं पाए। दलित विचारकों के बारे में तो नहीं कह सकते लेकिन अधिकांश दलित लेखकों के बारे में दावे के साथ कह सकता हूँ कि उन्होंने न डॉ. अम्बेडकर को ठीक से पढ़ा है और न ही कांशीराम को राजनीतिक चेतना को ठीक से से समझा, बुद्ध–फुले को पढ़ने का सवाल ही पैदा नहीं होता। अगर इन विद्वानों को ठीक से पढ़ा और समझा होता तो वह अपने साहित्य में जातिगत चेतना को बढ़ावा नहीं देते और न अपनी–अपनी जाति पर गर्व करके अपनी–अपनी जाति पर गर्व करते। उन्होंने गलत राजनीतिक समझ के आधार पर अपने साहित्य को जाति चेतना से भर दिया और इस प्रकार उनका साहित्य जातिगत–द्वेष को जन्म देने वाला बनने लगा। एक जाति समुह दूसरे जाति समूह के विरोध में खड़ा होने लगा।[4]
- हम 'दलित' और उस पर आधारित दलित साहित्य का विरोध ा इसलिए कर रहे हैं कि दलित साहित्य को कुछ लोग अनुसूचित जाति तक सीमित करना चाहते हैं। उनकी मान्यता यह है कि अनुसूचित जाति के लेखकों द्वारा लिखा गया साहित्य ही दलित साहित्य है। उनके यहाँ 'दलित' शब्द एक जातिसूचक शब्द बन जाता है। दलित शब्द 'वर्ग' नहीं 'जाति' बन जाता है। और दलित साहित्य जातिवादी साहित्य जाति में एक हीनताबोध छिपा हुआ है उससे वे उबर नहीं पा रहे है। इसलिए मैं बार–बार कहता हूँ कि उनमें और उनके साहित्य में जाति को लेकर जो हीनताबोध है, उस कारण हमने दलित साहित्य की इस प्रवृत्ति को जोरदार ढंग से विरोध किया था और कहा है कि उसके स्थान पर अम्बेडकरवादी साहित्य को आना चाहिए जिसके पीछे अम्बेडकरवादी विचारधारा काम कर रही है।[5]

- हम अम्बेडकरवादी विचारधारा के आधार पर उस सामाजिक चेतना को बदलना चाहते हैं। जो जाति लिंगभेद और वर्ग–भेद पर आधारित है। हम अम्बेडरकवादी जाति. विहीन और वर्गविहीन समाज का संकल्प लेकर चलते हैं। लेकिन दलित साहित्यकार अपनी–अपनी जाति को मजबूत करने की बात कर रहे हैं। आज उनके द्वारा नारा दिया जा रहा है कि अपनी–अपनी जाति मजबूत करो, अप. नी–अपनी जाति पर गर्व करो। बाबा साहेब ने जातिविहीन और वर्गविहीन समाज की स्थापना का संकल्प किया था और यह धारणा मजबूत की थी कि हमें जातिमुक्त और वर्गमुक्त समाज बनाना है। समाज में बराबरी लानी है, समानता लानी है जो निश्चित रूप से सामाजिक लोकतंत्र कायम होने पर ही आएगी।[6]
- डॉ. तेज सिंह लिखते हैं– अम्बेडकरवाद एक विश्वदृष्टि के रूप में उभर कर आ रहा है जो पूरे विश्व में फैल रहा है। हम चाहते हैं कि बाबा साहेब की सामाजिक लोकतंत्र पर आधारित विचारधारा पूरे विश्व में फैले। इस विश्वदृष्टि को हमने अम्बेडकरवाद कहा है। दलित साहित्य में इसका अभाव है। दलित साहित्य में अम्बेडकरवाद नहीं है, दलितवाद है।[7]
- डॉ. तेज सिंह लिखते है– अम्बेडकरवादी साहित्य अम्बेडकरवादी विचारधारा के सारतत्त्व को ग्रहण करके विकसित हो रहा है। हमने और हमारे समर्थक साथी ले खकों ने इसी अम्बेडरकरवादी विचारधारा को अपने साहित्य का आधार बनाया है जो तथाकथित दलित साहित्य से एकदम अलग है। अम्बेडकरवादी साहित्य ही अम्बेडकरवादी विचारधारा को विश्व के साहित्यिक मंच पर पहुँचाएगा। अम्बेडकरवादी विचारधारा के आधार पर ही हम तथाकथित दलित सहित्य और उसके लेखकों की 'जाति चेतना' का पुरजोर विरोध करते हैं। इसके साथ–साथ 'हिंदुत्ववाद और उसका पोषण करने वाली, ब्राह्मणवादी विचारधारा का विखंडन जरूरी है जो अम्बेडकरवादी साहित्य का पहली शर्त हो सकती है।[8]

निष्कर्ष

अम्बेडकरवादी साहित्य में सब लोगों का बराबर व समानता का अधिकार है मगर कुछ लोगों ने हमेशा अम्बेडकरवादी साहित्य को नकारा है ताकि वे लोग जातिगत साहित्य को बढ़ावा दे सकें। जिससे कि जात–पात की भावना बनी रहे और हीनता बोध बना रहे। एक दूसरे के प्रति कुछ तथाकथित लोग दलित साहित्य को इसलिए सर्वोपरि करना चाहते है ताकि तेरा–मेरा हो सिर्फ अपनी जाति का विस्तार कर सकें मगर अम्बेडकरवादी साहित्य इसके विपरित ही कार्य करता है। अम्बेडकरवादी साहित्य में जातियों को अलग–अलग नहीं बल्कि एक समान दृष्टि से देखा जाता है। जिससे कि वर्गों का विभाजन न हो सके ताकि हमारा सामाजिक लोकतंत्र भी कायम रहे मगर कुछ दलित लेखकों ने इस पर हमेशा अपनी गलत टिप्पणी बनाकर दलित साहित्य को बढ़ावा देने की कोशिश में लगे रहते हैं। वह ऐसा इसलिए चाहते हैं ताकि हर जाति का अपना–अपना साहित्य बन जाए जैसे वाल्मीकि अपने साहित्य को 'वाल्मीकि साहित्य कहेंगे, पासी साहित्य होग, आज भी दलित साहित्य में बस चमारवाद और भंगीवाद चल रहा है कोई अपने चमारवाद को मजबूत कर रहा है तो कोई अपने भंगीवाद को। इन सब से बचने के लिए अम्बेडकरवादी साहित्य का होना जरूरी है ताकि सब में समानता बनी रहे और अंबेडकरवादी साहित्य के द्व ारा सभी लोगों का विकास हो सके।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. अंबेडकरवादी साहित्य की अवधारणा – तेज सिंह प्रकाशक – लोकमित्र प्रकाशन प्र.स.–2010
2. अंबेडकरवादी साहित्य विमर्श, ईश गंगनिया प्रकाशक –किताबघर प्र. स. 2006
3.दिल्ली की दलित पत्रकारिता–रूप चंद गौतम प्रकाशक श्री नटराज प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2009
4.मगहर – सं. मुकेश मानस, अतिथि सं. रजनी अनुरागी, अंक–10, जुलाई 2018
5.अपेक्षा–सांदक, तेज सिंह अंक–27,अप्रैल–जून 2009
6.मुख्यधारा के आइने में अंबेडकरवादी साहित्य–ईश कुमार गंगनिया प्रकाशन–अनुभव प्रकाशन, प्र. सं. 2018
7.कदम– सं.कैलाश चंद चौहान अतिथि संपा. अनिता भारती वर्ष–2, अंक–8, फरवरी–अप्रैल 2015
8.'अपेक्षा' – सं. तेजसिंह अंक–8, जुलाई–सितम्बर, 2014
9.दलित विमर्श की भूमिका–कंवल भारती प्रकाशक – साहित्य उपक्रम प्र.सं. 2002
10.हिन्दी दलित साहित्य–मोहन दास नैमिशराय प्रकाशक – साहित्य अकादेमी प्रस.सं. 2011

*****

'दिव्या' उपन्यास में चित्रित नारी-चेतना का आधुनिक रूप

रामचंद्र मीणा
हिन्दी विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

कम्युनिस्ट विचारधारा में नारी को समान अधिकार प्राप्त है। यशपाल के साहित्य में मार्क्सवादी (कम्युनिस्ट) विचार का समावेश वैचारिकी के रूप में अभिव्यक्त हुआ है। इस वैचारिक पृष्ठभूमि में भले ही उनके उपन्यास ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में रचे गए हो अथवा समकालीन स्थिति में लेकिन अपने समकालीन लेखकों में वे ऐसे लेखक हैं जिनके उपन्यासों में समय-सदर्भों की सजग उपस्थिति रहती है।

प्रेमचंदोत्तर हिन्दी उपन्यास में यशपाल कई कारणों से महत्त्वपूर्ण है। भारतीय सामाजिक संरचना में स्त्री की यातना का संदर्भ यशपाल का मुख्य रचनात्मक सरोकार माना जाता है। 'दिव्या' (1945) में वे ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में स्त्री की यातना के सामाजिक कारणों की खोज करते हैं। 'दिव्या' को वे बौद्धकालीन समाज की पृष्ठभूमि में एक ऐतिहासिक कल्पना के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इतिहास को वे विश्लेषण की वस्तु मानते हैं, विश्वास की नहीं। 'दिव्या' में यशपाल सागल के गणसमाज को केन्द्र में रखकर पृथुसेन, मारिश और दिव्या के माध्यम से तत्कालीन सामाजिक अंतर्विरोधें को गहराई से उद्घाटित करते हैं न वर्णाश्रम व्यवस्था पर आधारित समाज ही स्त्री को सम्मान और सुरक्षा का आश्वासन दे सकता है और न ही बौद्धधर्म जो स्त्री के स्वतंत्र व्यक्तित्व को शंका की दृष्टि से देखता है और उसकी स्वाधीनता को बाधित करता है।

''भौतिकवादी, तार्किक चारवाक मारिश तो उसे राज-प्रसाद में महादेवी का आसन दे सकता है और न ही निर्वाण के मिथ्या चिरंतनसुख का आश्वासन दे सकता है। न ही वह संसार के सुख-दुख का अनुभव करता है। इस अनुभूति का आदान-प्रदान ही वह 'दिव्या' से कर सकता है। फिर वह अपने आश्वासन का निष्कर्ष करता है। संतति की परम्परा के रूप में मानव को अमरता दे सकता है। स्वर्ग और निर्वान की मिथ्या कल्पनाओं की निस्सारता समझकर अंततः दिव्या संतान की परंपरा में ही मनुष्य की अमरता को मारिश के भौतिकवादी आश्वासन को स्वीकृति देती है।''[1]

समाज में स्त्री और पुरुष के संबंधों को समानता के स्तर पर मानते हुए यशपाल जी के अनुसार- ''मार्क्सवाद स्त्री-पुरुष के संबंध, पुरुष को सम्पत्ति और धर्म के भय से जकड़ देने के पक्ष में नहीं है। वह स्त्री-पुरुष के संबंध को स्त्री-पुरुष की प्राकृतिक आवश्यकता और कर्त्तव्य का संबंध मानता है। इसलिए वह दोनों में से किसी एक दूसरे का दास बन जाना आवश्यक नहीं समझता।''[2]

समाज में पुरुष को समान अधिकार पाने के लिए आर्थिक दृष्टि से स्त्री की आत्मनिर्भरता आवश्यक है। आर्थिक-पराधीनता के साथ नारी जीवन के विकास में बाधक सामाजिक परंपराएं भी हैं, जिन्हें स्वीकारने को नारी बाध्य है। यशपाल का मानना है कि ''नारी का स्वतंत्र अस्तित्व होना चाहिए, उसे भी आत्मनिर्णय का अधिकार होना चाहिए। यशपाल आधुनिक समाज और परिस्थितियों के अनुकूल नारी को पूर्ण रूप से आत्मनिर्भर देखना चाहते हैं। उनकी दृष्टि में नारी भी मनुष्य है, उसका भी अपना व्यक्तित्व है और अकांक्षाएं हैं, उसे पूर्ण रूप से पारिवारिक या सामाजिक बंधनों में बंधकर नहीं रखा जा सकता। उसे पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए उसको भी समाज के सक्रिय अंग के रूप में देखना चाहिए। सबसे अधिक आवश्यक है उसकी आर्थिक आत्मनिर्भरता जो उसे पुरुष के सम्मुख पंगु और निर्बल बनाने की अपेक्षा आत्मविश्वास की भावना और आत्मनिर्णय के अधिकार से पुष्ट करती है।''[3]

'दिव्या' उपन्यास में नारी के आधुनिक रूप का चित्रांकन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के माध्यम से किया गया है। 'दिव्या' उपन्यास में 'दिव्या' के माध्यम से नारी के आधुनिक स्वरूप का चिंतन के स्तर पर उद्घाटित करने की कोशिश की है। दिव्या का अपने विशाल परिवार के सभी सदस्यों की चहेती होना अन्ततः उसके लिए अभिशाप ही सिद्ध हुआ, क्योंकि उनके स्नेह का अनुचित लाभ उठाकर वह गुप्त नीति से पृथुसेन से मिलती-जुलती है। यहाँ तक कि जिस रात वह गृह त्याग करती है, परिवार के किसी सदस्य को भी यह ज्ञात नहीं था कि कब और कहाँ गई हुई है? आशय यह है कि दिव्या भी तो भोग्या ही रही। पृथुसेन ने उसे भोग कर एक तरफ फेंक दिया। भोगी गयी वह दिव्या उपन्यास में अनेक रूपों में प्रकट होती है। दिव्या की सोच उसका चिंतन उसकी रूहन और उसकी यंत्रणा तब भी स्त्री का विमर्श था, आज भी स्त्री विमर्श है।

प्रो.निर्मला जैन का मानना है कि "'दिव्या' की अंतर्वस्तु की कर्मभूमि वर्ण-व्यवस्था की परिपाटी में जकड़ा हुआ सामंती समाज है। इसी

समाज रूपी वन में वयोवृद्ध, महापंडित धर्मस्थ देवशर्मा कलांतर में वट वृक्ष के समान उपस्थित थे। इन्हीं पभितामह के परिवार में प्रपौत्री दिव्या का जन्म हुआ था। पभितामह की तीन पत्नियों और अनेक पुत्रों-पौत्रों में समृद्ध कुल कन्या का जन्म चिंता का नहीं उल्लास का कारण रहा। यही परिवार में उसकी विशिष्ट स्थिति का कारण तो था ही उसके नामकरण का रहस्य भी था। यह स्थिति भले ही अपवाद रही हो पर इसी पारिवारिक स्थिति ने उसमें वह आत्मनिर्भरता भर दिया था जिसके सहारे आचार्य कुल के प्रति आदर-भाव रखने पर भी रूद्रधीर की द्वितीय पत्नी बनने का प्रस्ताव उसे उत्साहित नहीं करता। यह सामान्य समाज व्यवस्था नहीं है।"[4]

यशपाल ने सामंती युग से नारी को लेकर आधुनिक धरातल पर खड़ा कर दिया है। सुकुमारी 'दिव्या' में व्यक्तित्व प्रधान गुणों का इतना आधिक्य हो गया है कि वह अपने वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हुई भी विशिष्ट और अभूतपूर्व नारी पात्र है। लेखक समाजवादी यथार्थ के दृष्टिकोण से रचना करता है, इसलिए अतीत में भी नारी की परतंत्रता और उस पर पुरुष का एकाधिपत्य की भावना का स्वीकार नहीं चाहता। उसे तो द्वन्द्व और संघर्ष की अग्नि में जुझती हुई नारी की स्वतंत्रता ही स्वीकार्य है। नारी के स्वत्व और आत्मनिर्भरता के पक्षपाती यशपाल 'दिव्या' को भी सामाजिक गतिविधियों और परिस्थितियों के भवर में डालकर उसका भविष्य इसी पर छोड़ देते हैं। 'दिव्या' सामाजिक कुप्रथाओं, विषमताओं और अत्याचारों को देखती और सहन करती हुई उस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि वेश्या ही स्वतंत्र नारी है।

यशपाल जी ने अपने उपन्यास 'दिव्या' में शोषित वेश्या नारी का चित्रण दिव्या के माध्यम से किया है। "'दिव्या' के वेश्या बनने की घोषणा पर उसके कलान्त और विरूप मुख की ओर देखकर मारिश परिहास करता है। तू वेश्या बनना चाहती है, तू वेश्या बनकर समाज की शत्रु बनना चाहती है?"[5]

'दिव्या' पुरुष के सम्मुख अपने को दुर्बल नहीं मानती। वह अभिजात वेश के वैभव और विलास को तुच्छ समझकर ठोकर मार देती है।

'दिव्या' बौद्धिक रूप से दृढ़ और सबल है। वह संघर्षशील है, मूलक अहंवाद की प्रतीक है। वह भिक्षु पृथुसेन की शरण में भी नहीं जाती। उसके विचार थे भिक्षु का धर्म निर्वाण है। नारी प्रवृत्ति का मार्ग है। भिक्षु के धर्म में नारी त्याज्य है। इसलिए वह धूल धूसरित मार्ग के पथिक संतति की परंपरा के रूप में मानव का अमरता देने वाले भौतिकवादी प्रगतिशील पात्र चार्वाक मारिश का आश्रय ग्रहण कर लेती है। 'दिव्या' कर्म में ही नारी जीवन की सार्थकता मानती है। समाज से भयभीत नहीं होती, न ही समाज के सम्मुख नीची बनती है। वह नारीत्व की सुकुमारता और भावुकता जैसे कोमल गुणों से अभिभूत है, तो बौद्धिकता और तार्किकता के आधार पर समाज को परास्त करने की क्षमता रखती है। बुद्धि और तर्क से ही उसने पृथुसेन और रूद्रधीर को परास्त कर दिया।

'दिव्या' पर महत्त्वपूर्ण समीक्षा शांतिप्रिय द्विवेदी की थी। उन्होंने इसे बौ(कालीन ऐतिहासिक उपन्यास के रूप में स्वीकृति देते हुए ही इसकी आलोचना की थी। शांतिप्रिय द्विवेदी को यद्यपि गांधीवादी और भाववादी आलोचक माना जाता रहा है, लेकिन वे उन कुछेक आलोचकों में हैं जिन्होंने आरम्भ से ही यशपाल के पक्ष और समर्थन में लिखा है। द्विवेदी जी उन मार्क्सवादी आलोचकों की भर्त्सना भी करते हैं जो यशपाल को 'रोमांस का रसिक' कहकर उनकी आलोचना करते हैं। शांतिप्रिय द्विवेदी मानते हैं कि "यशपाल का बुनियादी दृष्टिकोण आर्थिक है किन्तु वे मनुष्य की रागात्मक भावना का भी अनुभव करते हैं- इसलिए उनका हृदय स्वप्निल है। दिव्या में नारी सौन्दर्य के आकर्षक चित्रों की उन्होंने सराहना की है। आनावृत न होकर भी वे वासना को उद्दीप्त कर देते हैं। उनमें श्रृंगारिक लालित्य है।"[6]

'दिव्या' उपन्यास में 'दिव्या' द्वारा विशेष परिस्थितियों से विवश परन्तु आत्मरक्षा के लिए संकल्प की तरह सुदृढ़ नारी की दयनीय जीवन को सशक्त वाणी दी गई है। परन्तु असाधारण होते हुए भी पाठक उसके साथ पूर्ण तादात्मय पा लेता है यह उसके चरित्र की बहुत बड़ी विशेषता है। 'दिव्या' द्वारा उपन्यासकार नारी की विवशता के प्रति हमारे अंतःकरण को उद्बुध करता है ओर नारी समस्या की सामाजिक पृष्ठभूमि की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। जो वर्तमान में भी हमें देखने को मिलता है। इस प्रकार इस उपन्यास में ऐतिहासिक यथार्थ के अन्तर्गत यशपाल ने शोषित वर्गों की निरीह स्थिति से लेकर वर्ग-संघर्ष, विभिन्न धार्मिक दार्शनिक विचारधाराओं के परम्परागत द्वन्द्व आदि का जो चित्रण किया गया है। उसके मूल में लेखक की मानवतावादी दृष्टि निहित है।

यशपाल द्वारा नारी मुक्ति के सवाल को सर्वहारा मुक्ति से जोड़कर देखना चाहिए। दिव्या में वे वस्तुतः इन मुद्दों के विकास और द्वंद्वात्मक सूत्रों को पकड़ने के उद्देश्य से ही अतीत में जाते हैं। बौद्धकालीन प्राचीन भारत के राजनैतिक, सांस्कृतिक, सामाजिक तथा धार्मिक वातावरण का विधान करके यशपाल जीवन और जगत के अनेक जटिल प्रश्नों से उलझते हैं। राजतंत्र बनाम गणतंत्र, दास प्रथा बनाम वर्ण प्रथा, वर्णाश्रम व्यवस्था बनाम धर्मचक्र व्यवस्था कुलीन बंधिनी नारी बनाम स्वतंत्र वेश्या नारी आदि

अनेक पेचीदें प्रश्न दिल में आकार लेते दिखाई देते हैं। 'दिव्या' जैसा कि उपन्यास के नाम से ही लक्षित होता है इसमें नारी जीवन और उसके मूल प्रश्नों की प्रमुखता प्राप्त होना सहज स्वाभाविक है। उपन्यासकार ने स्त्री जीवन संबंधी समस्त मूल समस्याओं को 'दिव्या' छाया और सारा आदि के चरित्रों का निर्माण कर प्रगतिवादी दृष्टिकोण से परखने का प्रयास किया है। 'दिव्या' के अतिरिक्त तीनों ही स्त्री पात्रों का जीवन अपूर्ण असफलता एवं निरर्थक कहा जाएगा। सीरों का चरित्र आज की पूंजीवादी वर्ग की भोगवादी उच्छृंखल और दंभी नारी के समकक्ष देखा जा सकता है तो छाया का चरित्र निम्नवर्गीय विवश और निर्दय और क्रूर दमन की शिकार अपृप्त यौवन नारी के समतुल्य है।

'दिव्या' में लेखक का उद्देश्य एक ऐसे विशिष्ट नारी चरित्र का निर्माण करना है जो तमाम प्रकार की विषमताओं की प्रतिमूर्ति है और इन विषमताओं को आत्मसात करती हुई वह पूरे समाज की विषमताओं का प्रतिनिधित्व करती है। पूरे उपन्यास में एक नारी 'दिव्या' के मन के प्रतिकूल, परिस्थितियों के प्रतिकूल अभियान चलाया है, पर कहीं भी सफल नहीं होतीं उसके प्रति समाज के स्वयं उसके परिवार के, संबंधियों के, उसके प्रेमी पृथुसेन के उसके स्वामी व्यापारी के, बौद्धधर्म संघ के और अंत में उसकी जन्मभूमि सागल के नागरिकों के व्यवहार दर्शनीय है। समाज के अभिजात वर्ग के प्रति हीन वर्ग या पीड़क का संघर्ष दिखलाना ही लेखक का उद्देश्य रहा। इसलिए यशपाल जी 'दिव्या' को विपरित परिस्थितियों के घेरे में डाल देते हैं। दिव्या उन परिस्थितियों के उतार-चढ़ाव को सहती है और सामाजिक बुराईयों, अत्याचारों को सहन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुंचती है कि वेश्या ही स्वतंत्र नारी है। क्योंकि वह उस परिस्थिति में आत्मनिर्भर है, उसे किसी के आश्रय में नहीं रहना पड़ेगा।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि दिव्या उपन्यास को हिन्दी जगत के कुछ मूर्धन्य आलोचकों ने अपने अपने निकस पर कसने का प्रयास सफलतापूर्वक किया है। दिव्या यानी नारी का इतिहास संस्कृति और नारी विमर्श की कसौटी पर पूरी तरह कसने का प्रयास किया है। हिन्दी कथा साहित्य में नारी-विमर्श की अवधारणा पर केन्द्रित सैद्धान्तिक बहस यद्यपि पाँचवें-छठे दशक से शुरु हुई लेकिन इसकी आहट तो भारतीय नवजागरण काल से सुनाई देने लगी थी। दिव्या के लेखक यशपाल है। 'दिव्या' के माध्यम से नारी विमर्श की खोज इतिहास में जाकर नजर आती है। उपन्यास की नायिका दिव्या के माध्यम से तत्कालीन समय की नारी की समस्याओं को उद्घाटित किया है जो आज भी नारी की समस्याएँ बनी हुई है।

सहायक ग्रंथ

1. यशपाल, दिव्या (1945), विप्लव प्रकाशन, लखनऊ, संस्करण 1954
2. मधुरेश, यशपाल; व्यक्तित्व और कृतित्व
3. मधुरेश, दिव्या का महत्त्व, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 2008
4. डॉ. सुमन शर्मा, यशपाल के उपन्यासों में नारी चेतना, पैराडाइज पब्लिशर्स, जयपुर, संस्करण 2011
5. डॉ. राजपाल शर्मा, यशपाल और उनकी दिव्या, कला मंदिर प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1971
6. चमनलाल, यशपाल के उपन्यास, प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, संस्करण 2002
7. डॉ. सुदर्शन मल्होत्रा, यशपाल के उपन्यासों का मूल्यांकन, आदर्श साहित्य प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 1973
8. इन्द्रप्रस्थ भारती (त्रैमासिक पत्रिका), सं. नानक चंद, अक्टूबर-दिसम्बर, 2003

सन्दर्भ सूची

1. मधुरेश, दिव्या का महत्त्व, पृ. सं. 14
2. डॉ. सरोज गुप्त, यशपाल; व्यक्तित्व व कृतित्व, पृ. 46
3. पारसनाथ मिश्र, मार्क्सवाद और उपन्यासकार, यशपाल, पृ. 114
4. डॉ. निर्मला जैन, दिव्या में नारी मुक्ति का वृहद स्थान (आलेख)
5. यशपाल, दिव्या, पृ.58
6. मधुरेश, दिव्या का महत्त्व पृष्ठ 12

*****

ग्रामीण भारत के उन्नयन में स्वामी सहजानंद सरस्वती की भूमिका

अनन्त कुमार राय

ए- 62/63, नेहरु विहार, दिल्ली- 54

शोध–सारांश

स्वामी सहजानंद सरस्वती एक युग प्रवर्तक महापुरुष के रूप में जाने जाते हैं, तथा समय के अनुसार अपनी छवि किसानों के लिए भगवान के प्रतीक के रूप में थे | स्वामी सहजानंद सरस्वती का जीवन किसानो के सामाजिक ,आर्थिक, राजनीतिक रूप से उभरने के लिए समर्पित किए थे | स्वामी सहजानन्द सरस्वती का अधिकांश समय देश, किसान आदि की सीमाओ के बंधन से स्वतंत्र है , जो इन्हे कई वर्ष बाद की उनका नाम महत्वपूर्ण तथा प्रासंगिक बनाए हुए है |

प्रमुख शब्द

सामाजिक कार्य , राजनीतिक प्रवेश , किसान सभा , गांधी बनाम सहजानंद सरस्वती का किसान संघर्ष , जाति सभा , सामाजिक दल ,अखिल भारतीय किसान सभा , किसान - काँग्रेस

प्रस्तावना

स्वामी सहजानंद सरस्वती एक युग प्रवर्तक महापुरुष थें, जो अपने समय के पदचाप के आकुल पहचान से किसानों के लिए भगवान के प्रतीक थें। स्वामी सहजानंद जी का जन्म महाशिवरात्रि के दिन संयुक्त प्रान्त के गाजीपुर जिले के देवा नामक गांव में 1889 में हुआ। उनका परिवार कृषि कार्य करने वाले जुझौतिया ब्राह्मण समाज से संबंधित था, जो खानपान और विवाह आदि का संबंध जोड़कर भूमिहार ब्राह्मणों से एकरूप हो गया था। उनके बचपन का नाम नवरंग राय था। कुशाग्र बुद्धि के धनी नवरंग राय की प्रारंभिक शिक्षा गाजीपुर में ही हुई तथा यहीं से इन्होंने 1904 में हिंदी मिडिल परीक्षा में पूरे प्रांत में सातवां स्थान प्राप्त किया। स्वामी सहजानंद जी का विवाह 15 वर्ष की आयु में हो गया। यद्यपि नवरंग राय कुशाग्र बुद्धि के धनी थें फिर भी इनका मन पढ़ाई-लिखाई और सांसारिक गतिरोध से मन उचटने लगा तथा संन्यास की ओर अग्रसर होने लगा। संयोग से इसी बीच पत्नी के निधन और घरवालों द्वारा दूसरी शादी की बात ने उनके संन्यास लेने के इरादे को दृढ़ निश्चयी बना दिया और 1907 की फरवरी में चुपके से काशी जाकर अपारनाथ मठ में बाकायदा सन्यास की दीक्षा दीक्षा ली। इस प्रकार नवरंग राय का नाम स्वामी सहजानंद हुआ।1909-1915 तक काशी में रहकर सहजानंद ने जिस लगन और निष्ठा से शास्त्रों का अध्ययन किया वह बेमिसाल था। इन्होंने व्याकरण सिद्धांत कौमुदी तथा न्याय का भी अध्ययन किया।1915 में मिमांसा और न्याय का विशेष अध्ययन दरभंगा के रामेश्वर लता विद्यालय में रहकर किया। उन्होंने 1911 में विधिवत दंड ग्रहण कर किया और दंडी स्वामी सहजानंद सरस्वती कहलाने लगे। इसी क्रम में 1914 के दिसंबर में बलिया में आयोजित अखिल भारतीय भूमिहार ब्राह्मण महासभा अधिवेशन में दिए व्याख्यान में उन्होंने स्वयं को शास्त्रों के गतिरोध और संकीर्णता से बाहर निकाल कर सामाजिक जीवन के गतिशील और व्यापक प्रवाह की ओर उन्मुख कर दिया । इस व्याख्यान में उन्होंने शास्त्रों के प्रमाण देकर कहा कि भूमिहार भी ब्राह्मण है लेकिन स्वयं भूमिहार समाज के लोग यह मानने को तैयार न थें कि वे भी मैथिली ,कान्यकुब्जों और सरयूपारिणों की तरह ब्राह्मण हैं। उनकी हीन भावना को दूर करने और अपनी मान्यता को स्थापित व प्रमाणित करने के लिए उन्होंने एक तो शास्त्रों से सामग्री संकलित की तथा दूसरे विभिन्न अंचलों में मैथिली, कान्यकुब्जों और सरयूपारिणों आदि के साथ भूमिहारों के विवाह संबंधों की खोज की और अपने अध्ययन अनुसंधान के आधार पर एक ग्रंथ 'भूमिहार ब्राह्मण परिचय' शीर्षक से प्रकाशित किया। बाद में इसे विस्तृत रूप देकर 'ब्रह्मर्षि वंश विस्तार' नाम से प्रकाशित किया। प्रतिक्रिया स्वरूप जब ब्राह्मण ने भूमिहारों की पुरोहितों से इनकार किया तो सहजानंद ने भूमिहारों में संस्कृत और कर्मकांड की शिक्षा का प्रचार शुरू कर दिया। आगे चलकर तो उन्होंने 'कर्मकलाप' नामक कर्मकांड का एक ग्रंथ ही लिख डाला। इस प्रकार स्वामी सहजानंद ने गांव-गांव घूम कर,

सभाओं में व्याख्यान देकर तथा संस्कृत पाठशालायें खोलकर इसे आंदोलन का रूप दे दिया।

सामाजिक कार्य

स्वामी सहजानंद जी 1915 ईस्वी में परिस्थितिवश सामाजिक कार्य क्षेत्र की ओर उन्मुख हुए। इसी अवधि में उन्होंने पुरोहितवाद, कथावाचन के ब्राह्मण जाति के एक उपजाति के एकाधिकार के खिलाफ आन्दोलन खड़ा किया। स्वामी जी किसी भी प्रकार के अन्याय के खिलाफ डट जाने का तथा गिरे हुए को उठाना अपना प्रधान कर्तव्य समझते थें। [1]स्वामी जी ने इस क्रम में 'ब्रह्मर्षि वंश विस्तार', झूठा भय, मिथ्या-अभिमान, ब्राह्मण समाज की स्थिति आदि पुस्तकों का लेखन किया। कुछ व्यक्ति जैसे- सुनील कुमार, पंडित हजारी प्रसाद द्विवेदी, कान्यकुब्ज सभा, सरयूपारीण सभा आदि अन्य संगठनों के पक्ष में उद्धाटित तथ्यों के पक्ष में 'ब्रह्मर्षि वंश विस्तार' में सहमति जताई लेकिन डुमरांव के शाकद्वीपी-मागी ब्राह्मण रजनीकांत शास्त्री एवं उनके समर्थकों ने विरोध नही छोड़ा और पूजा करवाना बंद करने की धमकी दी। इस परिस्थिति में स्वामी जी ने खुद कथावाचन , संस्कृत-अध्ययन की एवं पूजा -पाठ, शादी विवाह, 16 संस्कार, नित्य-कर्म , संध्या वंदन, इत्यादी कर्मो हेतु अत्यंत सरल सुबोध पुस्तक 'कर्मकलाप' का लेखन व प्रकाशन किया। जिससे कि भूमिहार समाज अपना धार्मिक अनुष्ठान स्वयं कर सके। [2] 1935 के आसपास बेला के पास शिलौजा गांव में हुए शास्त्रार्थ में सभी पुरोहितवाद को अपनी जागीर समझने वाले लोग एवं उनके प्रमुख रजनीकांत शास्त्री की हार हुई और उनकी खुद का पुरोहित कर्म एवं जीविका खतरे में पड़ गई। तत्पश्चात उन्होंने स्वामी जी का पैर पकड़कर कहां आप सन्यासी हैं ,दयालु है, सब कुछ कीजिए लेकिन पेट पर लात न मारे। इस प्रकार स्वामी जी ने भूमिहारों को सामाजिक धरातल पर ब्राह्मण के साम्य अधिकार प्रदान किया।

राजनीति में प्रवेश

स्वामी सहजानंद सरस्वती जी के राजनीतिक प्रवेश में समाचार पत्रों की अग्रणी भूमिका रही है क्योंकि 1919-20 के दौरान स्वामी जी अपनी अंग्रेजी को सुधारने के लिए अंग्रेजी समाचार पत्रों को पढ़ना प्रारंभ किया। जिसके प्रभाव स्वरुप भारतीय राजनीतिक हलचलों तथा उसके प्रभावों का असर उनके मन-मस्तिष्क पर पड़ना शुरू हो गया। विवध आन्दोलनकारी घटनाओं यथा- जलियांवाला बाग कांड, खिलाफत आंदोलन, बाल गंगाधर तिलक की मृत्यु, असयोग आंदोलन, कांग्रेस का विशेष कोलकाता अधिवेशन एवं विश्वयुद्ध आदि को पढ़ते हुए धीरे-धीरे अनजाने में ही राजनीति की ओर अग्रसर हुए। 1920 में पटना में उन्होंने गांधी जी, मोहम्मद अली, अब्दुल कलाम आजाद आदि के भाषणों को सुना तत्पश्चात 5 दिसंबर को गांधी जी से बातचीत कर राजनीति के संग्राम में कूद पड़ने का निश्चय किया। इसके प्रभाव स्वरुप उन्होंने नागपुर के कांग्रेस अधिवेशन में भाग लिया और वापस लौटकर बक्सर में कांग्रेस के राजनीतिक काम में जुट गये। 1920 में तिलक की मृत्यु से उपजी प्रखर राष्ट्रवादी आंदोलन और संवेदना से उन्होंने 'तिलक स्वराज कोष' के संग्रहण में भी कार्य किया तथा इसी दौरान असहयोग आंदोलन में जेल गए। जेल में त्यागी कहे जाने वाले कांग्रेसी नेताओं की विलासिता एवं भोगवादिता को इन्होंने प्रत्यक्ष देखा जिसके प्रभाव स्वरूप कांग्रेस के ऐसे नेताओं से इनका विश्वास उठ गया। जेल से आने पर इनका संपर्क सर गणेश दत्त से हुआ जो दानी एवं ऋषि के समान एक उदार जमीदार राजनेता थें। इसका प्रभाव यह हुआ कि स्वामी जी की लोकप्रियता के बल पर सर गणेश दत्ता बिहार में डॉ. राजेंद्र प्रसाद के विरोध के बावजूद चुनाव जीतने में सफल रहे तथा अंग्रेज के अधीन लोकल बोर्ड के मंत्री भी बने। इन्होंने स्वामी जी को बिहटा के 'सीताराम आश्रम' में बसाया और अपने पैसों से आश्रम में अध्ययन, पूजा, भजन तथा ध्यान का समुचित प्रबंध किया। यद्यपि सर गणेश दत्ता जमीदार ब्राह्मणों का प्रतिनिधित्व करते थें तथा परिस्थिति वश स्वामी जी खेतिहर ब्राह्मणों के बीच नायक की छवि रखते थें। भूमिहार ब्राह्मण महासभा के जमींदार एवं गरीब किसान ब्राह्मणों के हित टकराने लगे एवं स्वामी जी छोटे पंडित (भूमिहार) के पक्ष में खड़े हो गये। छोटे पंडित तथा बड़े पंडित (ब्राह्मण) के संघर्ष के अंदर किसान-जमीदार संघर्ष की बीज अंतर्वस्तु में छिपी थी जो बाद में चलकर पुष्पित पल्लवित होकर प्रबल किसान संघर्ष में दृष्टिगत हुयी। भारत में राजनीति का जन्म पूर्व में भी सामाजिक आंदोलन की कोख से ही

हुआ था। यथा- मराठा, जाट, कूका, सिख, अनुशीलन समिति इत्यादि सभी विद्रोहों का जन्म सामाजिक चेतना के विकास के साथ ही हुआ तथा गांधी, पटेल, अरविंद घोष, तिलक इत्यादि राजनेताओं का अभ्युदय भी सामाजिक आंदोलन से ही प्रेरित था। आज भी झारखंड मुक्ति आंदोलन, टिकैत के नेतृत्व के किसान आंदोलन इत्यादि सभी के आन्दोलन का आधार सामाजिक आंदोलन ही है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक संघर्ष की पूर्व पृष्ठभूमि सामाजिक आंदोलन में है तथा स्वामी जी का राजीनीतिक प्रादुर्भाव भी इसी क्रम में हुआ जो भविष्य की राजनीतिक आंदोलन की सफलता की एक पूर्व शर्त 'एक पथ फाइंडर' साबित हुई।

किसान सभा का गठन

किसानों के मध्य भगवान की संज्ञा से उद्धृत किये जाने वाले युगद्रष्टा, जननायक स्वामी सहजानंद का जीवन त्याग और संघर्ष की प्रतिमूर्ति है। यह सर्वज्ञात है कि भारत की संस्कृति ऋषि और कृषि प्रधान रही है तथा इस देश का मानस इन दो तत्वों से ही बना है। संयोगवश स्वामी जी उसी भावभूमि से आते हैं जहां इन दोनों तत्वों की प्रधानता रही है। गंगा-यमुना का मैदानी भाग जितना खेती के लिए उर्वरक रहा है उतना ही साधु संत और तपस्वी की आस्था का साधना केंद्र भी रहा है। 1927 ईस्वी में स्वामी जी ने पश्चिमी किसान सभा की नींव रखी। स्वामी जी ने आत्मबल और मन से दुखियों, शोषितों को छोड़कर अपने मुक्ति की कामना नहीं की। स्वामी जी ने मेरा जीवन संघर्ष में लिखा है कि, "मुनि लोग तो स्वामी बन अपने मुक्ति के लिए एकांतवास करते हैं लेकिन मैं यह कभी नहीं कर सकता, सभी दुखियों को छोड़ मुझे अपनी मुक्ति नहीं चाहिए। मैं तो इन्हीं के साथ रहूंगा और मारूंगा-जिऊंगा।" स्वामी जी ने 1929 ईस्वी में बिहार के सोनपुर मेले के अवसर पर प्रांतीय किसान सभा की नींव रखी। स्वामी जी इसके अध्यक्ष एवं डॉक्टर श्री कृष्णा सिंह सचिव बनाए गए। इस कार्य में रामदयाल बाबू, यमुना कार्थी जी स्वामी जी के प्रमुख सहयोगी थें।[2] किसान आंदोलन के अग्रणी नेता स्वामी सदानंद सरस्वती के द्वारा नारा दिया गया, "कैसे लोगे मालगुजारी, मालगुजारी अब नहीं भरेंगे, लट्ठ हमारा जिंदाबाद....." इसका प्रभाव यह रहा कि किसान आंदोलन की जानकारी रखने वाला हर व्यक्ति इस नारे से भली-भाँती परिचित हो गया।

गांधी बनाम सहजानंद का किसान संघर्ष-

महात्मा गांधी जी ने आजादी के संग्राम में न केवल पूरे भारत वर्ष को संगठित किया अपितु किसानों, मजदूरों के अधिकारों की आवाज को भी बुलंद किया। गांधी जी ने चंपारण में नील की खेती करने वाले किसानों के अधिकार की लड़ाई को सर्वप्रथम आवाज दिया यह उनका प्रथम किसान आन्दोलन था। खुद्दार जमीदार एवं राजकुमार शुक्ल के आग्रह पर उन्होंने इस आंदोलन में भाग लेकर आन्दोलन को सफल बनाया था। नील आंदोलन में गांधी जी का मुद्दा 20 वर्ग मील जमीन में हो रही नील की खेती में अंग्रेज निल्हे द्वारा बढ़े हुए कर में मामूली राहत का था,लेकिन जनता की जरूरत निल्हो को बसाने वाले 2000 वर्ग मील जमीन पर राज करने वाले बेतिया राज के खिलाफ उसके शोषण के विरुद्ध सघर्ष की थी। गांधीजी जमींदार वर्ग के खिलाफ लड़ने के बिल्कुल तैयार नहीं थें और अंग्रेजों से भी सम्मान सहयोग के इच्छुक थें। इस परिस्थिति में अंग्रेजों से गांधी जी का समझौता सम्मान शीघ्र ही संपन्न हो गया। नकली नील के कारखाने बंद होने से यह मुद्दा समाप्त हो गया। यद्यपि तात्कालिक परिस्थितियों में यह आंदोलन मंद पड़ गया लेकिन जनता साम्राज्यवाद के साथ साथ सामंतवाद के विरुद्ध जोर अजमाने को मचलने लगी। दूसरा संघर्ष रांची के जतरा गांव में ताना भगत के नेतृत्व में 1914 में हुआ। इस वैष्णववादी सामाजिक आंदोलन से गांधी जी ने काफी कुछ सीखा और बाद के समय में उनका यह शराब बंदी अहिंसक आन्दोलन गांधीवादी बनकर रह गया। तीसरा आंदोलन चंपारण के खेड़ा जिला और बारदोली जिला में क्रमशः 1922 एवं 1928 में हुआ। यद्यपि गांधी, पटेल और जमीदारों द्वारा शुरू किया गया यह आन्दोलन यहां के पटेल जमींदारों के हाथ से फिसल कर रानी प्रजा, दुबला, हाली इत्यादि गरीब जातियों के हाथ में जाने लगा। यहां भी पटेल पाटीदारों की कुछ मांगे मंजूर कर ससम्मान समझौता कर किसानों को बेहाल छोड़ दिया गया। इस आंदोलन में गांधी का दृष्टिकोण कुछ इस तरह

प्रकट हुआ कि, "कांग्रेस इकाइयां रैयत को यह जानकारी दें कि जमींदार का लगान रोकना कांग्रेस के प्रस्ताव के विरुद्ध है तथा राष्ट्र के लिए अत्यधिक हानिकारक है।[3] बिहार का किसान दानाबंदी, भावली ,बेगारी ,बकास्त बेदखली, ऋणग्रसता, मंदी के असर से बेहाल था। इस भौतिक परीस्थिति में जहां चारो ओर सन्नाटा फैला हुआ था वहीँ स्वामी जी का किसान आंदोलन राष्ट्रीय आंदोलन में खून, जोश एवं आवेग देकर नई आशा का संचार करने वाला साबित हुआ। अब कांग्रेस की पहचान आन्दोलनों से होने लगी है और राष्ट्रीय राजनीति के केंद्र में आने के लिए माध्यम बनाकर विदेश में पढ़े बाबू वर्ग ने भी दिलचस्पी लेना शुरू किया। इसी क्रम में नेहरू, जयप्रकाश, लोहिया, एनजी रंगा इत्यादि सभी सहजानंद जी के समर्थन में आने लगे। स्वामी जी ने अपनी कथा में लिखा है, "जिसका हक़ छिना जाये या छिन गया हो उसे तैयार करके उसका हक उसे वापस दिलाना, यही तो मेरे विचार से आजादी की लड़ाई तथा असली समाज सेवा का रहस्य है।[2] सहजानंद का सामंत विरोधी संघर्ष ही अंततः आजादी की असली लड़ाई साबित हुई।

जाति सभा का गठन

स्वामी सहजानंद जी ने जमीदारों की जातीय सभाओं को छद्म राष्ट्रवाद और राजभक्ति का प्रतीक मानते हुए लोगो से, किसानों से इनसे बचने को कहा । इस सन्दर्भ में तथ्योउपरांत कोलकाता की एक जातीय पत्रिका 'भूमिहार ब्राह्मण' में स्वामी जी के छपे एक लेख के माध्यम से हुआ। स्वामी जी का लंबा लेख उस पत्रिका में किस्तों में प्रकाशित हुआ जो बाद में 'किसानों को फसाने की तैयारी' शीर्षक से अलग पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित हुआ। 1935 में पत्रिका में प्रकाशित स्वामी जी के इस लेख का आशय था कि जमींदार जाति सभा बनाकर किसान की चेतना को तोड़ते हैं, उन्हें विभक्त करते हैं तथा फसाते हैं। जातीय सभा के संचालक की भक्ति ब्रिटिश ताज और झंडे के प्रति है तथा जनता को चाहिए कि वे उनसे सावधान रहें। साम्राज्यवाद को टिकाने वाली चीज़ भारत में जमींदारी है और यही जमींदार जातीय सभाओ के संरक्षक बने हुए हैं। स्वामी जी ने कांग्रेसियों की चरित्र हीनता, कर्तव्य हीनता तथा अंग्रेजों से उनकी मिलीभगत अपने पूर्व जेल प्रवास में ही देख चुके थें।

समाजवादी पार्टी की स्थापना

स्वामी सहजानंद जी गांधी जी से वैचारिक मतभेद होने के बावजूद भी उनके विचारों से अत्यंत प्रभावित थें तथा उनके आदर्श विचारों को लेकर उन्होंने अपना आन्दोलन कार्य जारी रखा। यद्यपि स्वराज प्राप्ति के विषय पर उनकी विचारधारा गांधी जी से अलग थी। जिस कारण उन्होंने सवाल किया स्वराज का असली मतलब क्या है तथा यह किसका स्वराज है? जमीदार का या किसान का?, पूजीपति या मजदूर का? जब समाज विविध वर्गों में बंटा हुआ है एवं उनके हित समरूप नहीं हैं तब एक की आजादी दूसरे के लिए हितकारी कैसे साबित होगी? यही प्रश्न सुभाष चंद्र बोस ने भी दूसरी तरह से किया कि पूर्ण आजादी या डोमिनियन आजादी अर्थात आधी आजादी की मांग कर ही संतोष क्यों करें। यद्यपि नेहरू जी ने 1929-30 के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण आजादी की मांग का समर्थन किया परन्तु 1930-31 के कराची अधिवेशन में गांधी-पटेल गुट के दबाव में फिर औपनिवेशिक स्वराज की मांग में सिमट गए। इस प्रकार स्वामी जी का गाँधी जी से यही सवाल था कि किसकी आजादी? जबकि सुभाष जी का सवाल था कैसी आज़ादी? इस प्रकार सुभाष चन्द्र बोस और स्वामी जी की जोड़ी ने मिलकर सामंत-साम्राज्य विरोधी अपने मोर्चे को और तीव्र किया। यह वैकल्पिक राष्ट्रवाद की धारा थी। यहां राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य कार्य कर रहा था। भारत की आजादी के संघर्ष में गांधी और गांधीवाद के समझौता मूलक जमींदार परस्त नीति ने पूंजीपतियों पर निर्भर राजनीतिक कार्रवाई ने जनता को गांधीवाद से विमुख कर समाजवाद के मार्ग पर प्रशस्त होने के लिए प्रेरित किया।समाजवादी पार्टी की स्थापना बिहार में स्वामी सहजानंद, राहुल राहुल सांकृत्यायन, रामवृक्ष बेनी पुरी एवं क्रांतिकारी राष्ट्रवादी बसावन सिंह द्वारा 1931 में की गयी ।जिसका प्रथम सम्मलेन अंजुमन इस्लामिया ने पटना में 1934 में किया। इस सम्मलेन का ही प्रभाव रहा कि विदेश से पढ़कर आए जयप्रकाश नारायण भी इसमें शामिल हुए। तात्कालिक क्रांतिकारी घटनाओं और आंग्ल सत्ता की दमनकारी नीतियों के प्रतिफल भगत सिंह की फांसी ने भी जयप्रकाश, नरेंद्र देव, अशोक मेहता

इत्यादि लोगों को अपनी तरफ आकर्षित किया। आचार्य नरेंद्र देव पर राष्ट्रवाद, मार्क्सवाद और खुशहाल किसान वर्ग का प्रभाव था। संपूर्णानंद और अच्युत पटवर्धन पर वेदांती समाजवाद का प्रभाव था तथा राम मनोहर लोहिया पर गांधी और हिटलर का प्रभाव था, जो सदैव इन लोगों द्वारा अस्पष्ट व अपरिभाषित ही रखा गया। । इस प्रकार किसानों, मजदूरों व असहायों के अग्रदूत की भूमिका के निर्वहन में स्वामी सहजानंद जी ने समाजवादी पार्टी के वैचारिक और क्रांतिकारी जनांदोलनों को विविध मतभेदों के पश्चात् भी जारी रखा।

अखिल भारतीय किसान सभा का गठन

स्वामी जी ने किसान आंदोलन को संस्थागत स्वरुप प्रदान करने हेतु 17 नवंबर 1929 को बिहार किसान सभा का गठन किया जिसे 11 अप्रैल 1936 में विस्तृत कर अखिल भारतीय किसान सभा के रूप में पुनर्गठित किया गया। इसके गठन में पंडित यदुनंदन शर्मा, पुरुषोत्तम दास टंडन, इंदु लाल, कमला देवी चट्टोपाध्याय, मोहनलाल गौतम, आचार्य नरेंद्र देव, आदि लोगों का महत्वपूर्ण योगदान रहा। सभा के सांगठनिक विकास में बिहटा का सीताराम आश्रम, नियामतपुर के यदुनंदन शर्मा का आश्रम इस संघर्ष का केंद्र बना। इंदु लाल यागनिक के संपादन में दिल्ली से प्रकाशित बुलेटिन 'किसान बुलेटिन' का योगदान इस सभा के बैनर तले लड़ी गई शानदार लड़ाइयों जैसे- टेकारी, भोरी, रेवडा, अमवारी इत्यादि में विशेष योगदान रहा। यद्यपि अखिल भारतीय किसान सभा को नेहरू का नैतिक समर्थन प्राप्त था, परन्तु जब नियामतपुर की किसान सभा बैठक में झंडे का रंग लाल तय किया गया तब नेहरू जी ने इस सभा से किनारा कर लिया। अखिल भारतीय किसान सभा की स्थापना कांग्रेस के लखनऊ सम्मेलन में 1936 में स्वामी जी के नेतृत्व में हुई। इन्होंने 1930 के दशक में बिहार में बकास्त आन्दोलन का नेतृत्व किया जिसका उद्देश्य था जमींदारों द्वारा बकास्त भूमि (बकास्त का अर्थ- स्व खेती) से काश्तकारों की बेदखली का विरोध करना। इस आंदोलन का परिणाम यह हुआ कि बिहार में काश्तकारी अधिनियम और बकास्त भूमि को पारित कर दिया गया।

किसान सभा में समाजवादी नेताओं की बड़ी अच्छी भूमिका रही। यथा- जय प्रकाश नारायण का 1936 ई. में बिहपुर प्रांतीय सभा की अध्यक्षता करना, 1938 ई. में बिहार शरीफ़ के बह्डिया में आयोजित किसान सभा में स्वामी जी के साथ लोहिया की भागीदारी इत्यादि।यद्यपि स्वामी जी की किसान सभा में समाजवादियों की भूमिका अग्रणी रही परन्तु लोगों ने अपने वर्ग संघर्ष के फायदे के लिए इसे इतिहास से हटा दिया। किसान आन्दोलन में समाजवादी नेताओं के सामंतों पर चोट करने और पूंजीवाद के उदय के मध्य यह सवाल उठता है कि सेठ आखिर समाजवादियो को पैसा क्यों देते थें? भारत का पूंजीवाद नवोदित एवं कमजोर था। दौलत सामंतों के हाथ में थी। उनके प्रभाव में रहते पूंजी का विकास संभव न था। दूसरे जब जमींदारी, रजवाड़ी उन्मूलित हो जाती तभी सामंत अपनी जीविका के नए स्रोत हेतु अपने दौलत बाजार में शेयर या ऋण के रूप में उतरारते। सामंतों को कमजोर करने में सेठ अकेले सक्षम नहीं थें। इस कार्य में उन्होंने समाजवादी नेताओं की मदद ली क्योंकि प्रखर समाजवादी नेताओं यथा- एन. जी. रंगा ऑक्सफ़ोर्ड से,जयप्रकाश अमेरिका से तथा लोहिया जर्मनी से पढ़कर आये थें तथा ये सभी गांव में वर्ग-संघर्ष की आंच ज्यादा सहन नहीं कर सकत थें।

किसान सभा तथा कांग्रेस में मतभेद

- कांग्रेस पर जमींदार वर्ग का प्रभुत्व था, किसान जमींदार से पैमाल थें ।
- कांग्रेस साम्राज्यवाद से हर कदम पर समझौता चाहती थी जिस कारण संघर्ष पंगु हो जाता था। जैसे- इर्विन समझौता, लिनलिथिगो समझौता, क्रिप्स समझौता, कैबिनेट मिशन समझौता, बेबल प्लान, माउंटबेटन फार्मूला समझौता इसके उदाहरण हैं।
- साम्राज्यवाद से मिली-जुली कुश्ती की अवधि में कांग्रेसी सामंत विरोध संघर्ष की औपनिवेशिक स्वराज्य तक मुल्तवी रखना चाहते थें।
- स्वामीजी डोमिनियन स्टेटस को पूर्ण आजादी की फांसी कहते थें।

किसान सभा तथा समाजवादी पार्टी में मतभेद

के कारण

- समाजवादी पार्टी अन्त्योगात्वा कांग्रेस की ही पिछलग्गू बनी रही।
- समाजवादी पार्टियों ने गांधीवाद द्वारा स्वीकृत लक्ष्मण रेखा के अधीन ही काम किया।
- वर्ग संघर्ष की जगह तोड़-फोड़, शोहरत और दुसाहस का रास्ता अपनाया।
- इसके कार्यकर्ता शहरी मध्यम वर्ग के थें, जिसमें किसानों का प्रतिनिधित्व अत्यंत कम था।
- समाजवादी पार्टी के नेताओं ने किसान सभा को अपना जन संगठन बनाना चाहा एवं विफल होने पर सभा पर कब्जा करना चाहा लेकिन सफल ना हुए तो विभाजन करा दिया।

किसान सभा तथा कम्युनिस्ट पार्टी में मतभेद के कारण

- किसान सभा को अपनी पार्टी का जन संगठन बनाने के कम्युनिस्ट पार्टी का उपक्रम।
- पाकिस्तान को समर्थन तथा राष्ट्रवादी परिप्रेक्ष्य का अभाव।
- सुभाष जी को वाम-मोर्चा का नेता बनाने से इनकार।
- गांधी जी को आजादी की लड़ाई मात्र का नेता समझना।
- कांग्रेस को संयुक्त मोर्चा समझने की भूल करना।
- कम्युनिस्ट पार्टी द्वारा स्वामी जी पर व्यक्तिवाद, निम्न पूंजीवाद मनोवृति एवं तानाशाही का आरोप।
- गरीब किसानों के साथ सम्मिलित नेतृत्व की अस्वीकृति।

निष्कर्ष

स्वामी जी की आत्मकथा है, जिसमें उनकी कथा बहुत ही कम कही गई है इसके विपरीत इसमें परिवेश, भौतिक मौजूदा परिस्थितियाँ, युग चित्रण, तथ्य निरूपण, तथ्यों का आकलन, समस्या निदान, निष्कर्ष ,सत्य का अन्वेषण, लडाइयों के विभिन्न चरण, विभिन्न राजनीतिक मोड़, सभी वर्गों की भूमिका इत्यादि का चित्रण बहुत ही सटीक और मजबूत ढंग से किया है। कम्युनिस्ट पार्टी से मतभेद का खुलासा एवं हजारीबाग जेल में स्वामी जी का जय प्रकाश से किसानों की तरफ से कैडर, पैसा, सामग्री प्रदान इत्यादि में अवहेलना पर प्रतिरोध एवं मतभेद का वर्णन किसान सभा के संस्मरण में है। इसमें 1914 में सोवियत संघ पर हिटलर के हमले तथा स्वामी जी द्वारा तनिक समय व्यतीत किये बिना सोवियत संघ को बचाने हेतु आवश्यक कर्तव्यों पर जोर देने की बातों का उद्धरण है। भारत विभाजन और पाकिस्तान के उन्नयन के सन्दर्भ में स्वामी जी का मत था कि यदि जमीदारी को समाप्त कर दिया जाता तो पाकिस्तान के मामले में जिन्ना को सफलता नहीं मिलती क्योंकि पाकिस्तान का नारा मुसलमान जमीदारों का नारा था। भारत में बड़े-बड़े आंदोलन हुए जैसे- तेभागा आंदोलन, तेलंगाना, पुनप्रा वायलर तथा सुरमा वैली आदि की जड़ में जमींदारी के प्रभाव देखे जा सकते हैं। इस पुस्तक में स्वामी जी के विचारों को फैलाने की जरूरत पर जोर दिया गया है जिससे यह पता चल सके की किसान कैसे लड़ते हैं | स्वामी जी ने धर्मनिरपेक्षवादियों के राष्ट्र के भीतर कई राष्ट्र की कल्पना को उजागर करने का कार्य किया है। झारखंड को कम्युनिस्ट पार्टी की तरह 'उत्पीड़ित राष्ट्रीयता' न कहकर झारखंड के किसान तथा उनकी आजीविका को आधार माना है। स्वामी जी इसे नस्ल का मामला नहीं मानते थें। इसे वर्ग का मामला मानकर राष्ट्रवादी आंदोलन से इसे एकबद्ध करते थें। जमींदारों द्वारा शोषण, ओझा द्वारा शोषण, ट्रेड यूनियन के मजदूर नेताओं द्वारा शोषण इत्यादि सभी पर संक्षिप्त दिप्पणी यथोयोग्य है। स्वामी सहजानंद जी के दिशा निर्देशों के अनुरूप ग्रामीण भारत के क्षेत्रों में किसानों को विकसित करने की गतिशील घटना की बेहतर समझ विकसित होगी। तत्पश्चात शोध की ज्ञानमीमांसा के बीच अंतर्संबंध में किसानो के सामाजिक विकास में मौजूद उपायों और सैद्धांतिक ज्ञान को मानने का कार्य करेंगे। संपूर्ण अध्ययन में स्वामी जी के सन्यासी जीवन सामाजिक, राजनीतिक तथा विशेष रूप से भारत के किसानों को शक्ति देने के पक्ष को समझने के लिए व्याख्यात्मक अनुसंधान प्रतिमानों पर आधारित होगी।

संदर्भ

1. सेन ,सुनील गुप्ता (संपादित),भारत का कृषि आन्दोलन ,पृष्ट संख्या -38
2. सरस्वती, सहजानंद, (1985), मेरा जीवन संघर्ष, प्रधान,अवधेश (संपा.), दिल्ली ग्रन्थ शिल्पी प्रकाशन, दिल्ली,पृष्ट संख्या ,223
3. शर्मा, राघव शरण (संपा.), स्वामी सहजानंद सरस्वती रचनावली खंड-1 , हिंदी समय (महात्मा गाँधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा

******

आपातकाल का आत्मकथ्य

-डॉ. प्रदीप कुमार सिंह

आत्मकथा लेखक के जीवनकाल, स्मृतियों एवं अनुभवों के बीच तैरने वाले समय प्रवाह की कहानी है इसीलिए इसे कठिन विधा भी माना जाता है, क्योंकि अपने जीवन अनुभवों, घटनाओं का पूरी सत्यता के साथ ज्यों का त्यों वर्णन करना आत्मकथा लेखक के लिए कठिन कार्य होता है। हिन्दी साहित्य में कई ऐसी आत्मकथाएँ हैं जिनमें बड़ी निर्भीकता के साथ लेखक ने अपने समय एवं अनुभवों को उद्धृत किया है। यही कारण है कि हिन्दी आत्मकथाओं में आपातकाल का जिक्र देखने को मिलता है जो इस बात को सिद्ध करता है कि ये आत्मकथा लेखक अपने समय के प्रति कितने सजग थे।

हिन्दी की कुछ चुनिन्दा आत्मकथाओं में ही आपातकाल का विशेष उल्लेख हुआ है, जिसमें मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा का दूसरा खंड 'अपने-अपने पिंजरे' (1995), पद्मा सचदेव की 'बूँदबावड़ी' (1999), शीला झुनझुनवाला की 'कुछ कही-कुछ अनकही' (2000), माता प्रसाद की 'झोपड़ी से राजभवन' (2002), भीष्म साहनी की 'आज के अतीत' (2003), रमणिका गुप्ता की 'आपहुदरी' (2005), रूपनारायण सोनकर की 'नागफनी' (2007), मन्नू भंडारी की 'एक कहानी यह भी' (2007), श्यौराज सिंह बेचैन की 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (2009), मधुरेश की 'आलोचक का आकाश' (2012), महीप सिंह की 'कितनी धूप में कितनी बार' (2013), डॉ. नरेंद्र मोहन की 'कमबख्त निन्दर' (2013), तुलसीराम की आत्मकथा का दूसरा भाग 'मणिकर्णिका' (2013) और विश्वनाथ प्रसाद तिवारी की आत्मकथा 'अस्ति और भवति' (2014) आदि प्रमुख हैं। इन आत्मकथाओं में आत्मकथाकारों ने अपने जीवन संघर्ष में आपातकाल के दिनों में आए बदलाव को उद्धृत किया है जो अपने विस्तार में अधिक व्यापक न होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है।

मोहनदास नैमिशराय की आत्मकथा का दूसरा खंड **'अपने-अपने पिंजरे'** (1995) के दूसरे भाग में लेखक ने आपातकाल की समीक्षा करते हुए उसके बाद के राजनीतिक निष्कर्षों को उभारने का कार्य किया है। लेखक के शब्दों में, "1977 में देखा जाए तो दो-तीन घटनाएँ बहुत महत्त्वपूर्ण हुईं। पहली आपातकाल के खिलाफ जनता पार्टी का सरकार में आना। लोगों ने इसे दूसरी आज़ादी भी कहा, पर वैसा कुछ साबित नहीं हुआ। हल्ला बहुत हुआ और काम कम हुए। दलितों पर उत्पीड़न की घटनाएँ अधिक हुईं। इसी के साथ दूसरी घटना कहें या दुर्घटना बाबूजी को प्रधानमंत्री बनने से रोका गया। क्योंकि वे दलित थे। इस बात का समूचे देश में विरोध हुआ। बीच में तीसरी दुर्घटना हो गई यानी बेलछी हत्याकांड। पूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी दलितों के आँसू पोंछने हाथी पर चढ़ कर बेलछी गईं।"[1] जिससे पुनः बहुजनों में इंदिरा गाँधी के प्रति आत्मविश्वास उभरा और स्वयं इंदिरा गाँधी को भी अपने समाप्त होते राजनीतिक करियर पुनः स्थापित होने की आस जगी। यहीं से वह पुनः राजनीति में वापसी करती हैं और 1980 में एक बार फिर देश के प्रधानमंत्री पद को प्राप्त करती हैं।

माता प्रसाद अपनी आत्मकथा **'झोपड़ी से राजभवन'** (2002) के दूसरे अध्याय 'राजनीति के अखाड़े में' आपातकाल का आँखों देखा वर्णन करते हैं, "इमर्जेंसी काल में कुछ तो अच्छे काम हुए और कुछ गलत। सरकारी अधिकारी और कर्मचारी समय पर कार्यालय में जाने लगे। स्कूल कॉलेज ठीक से चलने लगे, छात्र-अध्यापक अध्ययन-अध्यापन में लग गए, ट्रेने समय पर चलने लगीं, गरीबों को उत्पीड़ित करने से लोग डरने लगे, गरीब वर्ग को बड़ी राहत मिली, चोरी और डकैतियाँ कम हो गईं, बिना मतलब सड़कों पर तेज ध्वनि से लाउडस्पीकर से एलान होने वाले प्रदर्शन और आंदोलन बंद हो गए। आपातकाल से जहाँ कुछ लाभ हुआ वहीं पर कुछ परेशानियाँ बढ़ गईं। सबसे बड़ी परेशानी नसबंदी को लेकर हई। यद्यपि नसबंदी का उद्देश्य बहुत अच्छा था, किन्तु अति उत्साह में अधिकारियों-कर्मचारियों ने आफत ढाए। कर्मचारियों के ट्रांसफर, प्रमोशन, बच्चों के एडमिशन, राशन कार्ड बनवाने में नसबंदी सर्टिफिकेट लेकर काम किया जाता था। अधिकारी गाँवों में पहुँचकर लोगों को पकड़कर बलपूर्वक नसबंदी करने लगे। कहीं-कहीं साधुओं, अविवाहितों की नसबंदियाँ की गईं। इससे जनता में घोर असंतोष व्याप्त हो गया जिसका परिणाम कांग्रेस को 1977 ई. के चुनाव में भोगना पड़ा।"[2] अपने कथन में माता प्रसाद पूरे आपातकाल के परिदृश्य एवं कार्य-व्यापार को स्पष्ट कर देते हैं।

भीष्म साहनी की आत्मकथा **'आज के अतीत'** (2003) में भी आपातकाल का ज़िक्र मिलता है, जो अमृता प्रीतम और साहनी जी के बीच हुए हुए 'हानूश' नाटक की उपलब्धि स्वरूप सामने आता है, "मुझे एक दिन प्रातः अमृता प्रीतम का टेलीफोन आया। मुझे नाटक पर मुबारकबाद देते हुए बोलीं : 'तुमने इमर्जेंसी पर खूब चोट की है। मुबारक हो!' अमृता जी की ओर से मुबारक मिले, इससे तो गहरा संतोष हुआ पर उनका यह कहना कि इमर्जेंसी पर मैंने चोट की है, सुनकर मै ज़रूर चौंका। उन्हें इमर्जेंसी की क्या सूझी? इमर्जेंसी तो मेरे ख़्वाब-ख़याल में भी नहीं थी। बेशक ज़माना इमरजेंसी का ही था जब नाटक ने अंतिम रूप लिया। पर हाँ, इसमें संदेह नहीं कि निरंकुश सत्ताधारियों के रहते, हर युग में, हर समाज में, हानूश जैसे फनकारों-कलाकारों के लिए इमर्जेंसी ही बनी रहती है और वे अपनी निष्ठा और आस्था के लिए यातनाएँ भोगते रहते हैं। यही उनकी नियति है।"[3] भीष्म साहनी के लिए इमरजेंसी सिर्फ 26 जून सन् 1975 से 21 मार्च सन् 1977 तक ही नहीं है।

बल्कि यह तो स्वतंत्रता से पूर्व एवं पश्चात् हर समय व्याप्त रही है, जब-जब जनता का शोषण एवं उनके अधिकारों का हनन किया गया है।

रमणिका गुप्ता अपनी आत्मकथा **'आपहुदरी'** (2005) के माध्यम से वर्ष दर वर्ष अपने जीवनकाल को प्रस्तुत करती हैं, जिसमें 'सिंदरी का छात्र-आंदोलन' और 'गॉडफादर का पतन' सन् 1967 ई. से सन् 1977 ई. तक के राजनीतिक कालखंड को वह अपनी आपबीती द्वारा उद्धृत करती हैं, जिसमें आपातकाल के विभिन्न कथ्य देखने को मिलते हैं लेखिका के शब्दों में, "कांग्रेस सरकार पलटने में छात्रों ने काफी बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। इस बात का अहसास सरकार की सभी साझेदार पार्टियों को था, फलतः छात्रों की बात को गंभीरता से लिया जाने लगा। सरकार से छात्रों की अपेक्षाएँ बहुत बढ़ गयी थीं, जो जायज़-नाजायज़ कुछ भी हो सकती थीं। आंदोलन में छात्रों की भागीदारी और 'सरकार हटाओ नयी सरकार लाओ' अभियान में छात्रों का काफी समय नष्ट हो गया था, इसलिए उनका परीक्षा-फल खराब हो गया था। उच्च शिक्षा व बी.आई.टी. सिंदरी (धनबाद) और रांची के छात्र भारी संख्या में फेल हुए थे। उनकी माँग थी कि उन्हें ग्रेस मार्क दिए जाएँ ताकि वे पास हो सकें।"[4] आपातकाल का अन्य संदर्भ आत्मकथा में इस रूप में आता है, "एमरजेंसी के दिनों में गॉडफादर आपस में लड़-लड़कर कमज़ोर हो गये, तो खुले मंच पर जनता के बीच एक-दूसरे का गला पकड़ने लगे।"[5] ऐसे और कई संदर्भ आत्मकथा में उपस्थित हैं जिसके माध्यम से लेखिका ने उस समय की छवि को अपने अनुभवों के माध्यम से आत्मसात कर शब्दबद्ध किया है।

मन्नू भंडारी अपनी आत्मकथा **'एक कहानी यह भी'** (2007) के पृष्ठ संख्या 132 से 166 तक में आपातकाल के तत्कालीन प्रभाव को अनुभव रूप में जीवंतता प्रदान करती हैं। आपातकाल के पहले दिन का वर्णन करते हुए वह लिखती हैं, "लोकतंत्र में अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता ही तो जनता का सबसे बड़ा हथियार होता है पर उस पर तो सेंसर की ऐसी कैंची चली कि सबकी क़लम कुंद..... ज़बान बंद। न कोई अपनी इच्छा से कुछ लिख सकता था..... न ही कुछ बोल सकता था। हाँ, पहले दिन तो एक-दो अख़बारों ने जैसे-तैसे एक-एक पृष्ठ सप्लीमेंट निकालकर उस दिन हुई गिरफ्तारियों की सूचना ज़रूर लोगों तक पहुँचा दी थी..... पर बाद में तो सब तरफ़ सन्नाटा। भारी संख्या में उस दिन की गिरफ्तारियों की सूचना ने पता नहीं क्यों 9 अगस्त, 1942 की याद ताजा कर दी थी।"[6] ऐसी प्रवृत्ति ने प्रधानमंत्री को सर्वोपरि साबित कर दिया था जिसका वर्णन मन्नू भंडारी इस प्रकार करती हैं, "इंदिरा दरबार में आज लेखक-संपादक लोग जा रहे हैं तो कल प्राध्यापक-प्रोफेसर लोग। आज डॉक्टर-वकील जा रहे हैं तो कल वैज्ञानिक और व्यापारी।"[7] जिससे लोगों में संशय भाव की स्थिति उत्पन्न होने लगी थी, इस संशय के बीच लेखिका आपातकाल के सकारात्मक पक्षों को भी अपनी आत्मकथा में उद्धृत करती हैं, "कुछ भावों को लेकर तो प्रशंसा-भाव भी उभरने लगा था। गाड़ियाँ समय से चलने लगी थीं..... दफ़्तरों में बाबू हो या अफसर काम के समय सब अपनी सीट पर हाज़िर..... और तो और, हम लोग भी घंटी बजते ही रजिस्टर लेकर क्लास की ओर लपकते। वैसे महिलाएँ तो आपातकाल के बिना भी क्लास लेने के मामले में काफी पाबंद ही होती हैं..... पर कई पुरुष प्राध्यापकों ने तो क्लास न लेने के रिकॉर्ड कायम कर रखे थे और कोई-कोई तो इसका ज़िक्र बड़े गर्व से करते थे। आपातकाल लगते ही वे लोग भी लाइन से लग गए। हड़तालें ख़त्म सो सब जगह काम सुचारू रूप से चलने लगा था। इन्हीं सब बातों को देखकर ही शायद विनोबा भावे ने इसे अनुशासन-पर्व की संज्ञा दे डाली थी।"[8] आपातकाल की ऐसी कई व्याख्याएँ मन्नू भंडारी की आत्मकथा में वर्णित हुई हैं, जिसे आपातकाल के स्वानुभूति पूर्ण चित्रण की श्रेणी में रखा जा सकता है।

तुलसीराम अपनी आत्मकथा के दूसरे भाग **'मणिकर्णिका'** (2013) में अस्सी के दशक की राजनीति पर विशेष बल दिया है। लेखक आत्मकथा के छठे अध्याय 'वैचारिक द्वंद्व' में 'जे.पी. आंदोलन और फासीवाद विरोधी मुहीम' में देश पर आपातकाल लगाए जाने वाले कारणों का समर्थन करते हुए लिखते हैं, "मैं रोज की तरह 25 मई, 1975 की शाम को नेशनल लाइब्रेरी से वापस धरमतल्ला मैदान में ट्राम से उतर आया। अचानक देखा कि एक लड़का हाथ में अख़बारों का बंडल लिए जोर-जोर से चिल्लाकर कह रहा था- 'दिल्ली थेके टेलीग्राम- दिल्ली थेके टेलीग्राम।' ऐसा कहकर वह बड़ी तेजी से इधर-उधर भागता। लोग उसके पीछे-पीछे दौड़ते और पच्चीस पैसे में अखबार का एक पन्ना खरीदते। कुतूहलवश मैंने भी दौड़कर पच्चीस पैसे में वह अखबार खरीद लिया, जो कलकत्ता से प्रकाशित होने वाले अंग्रेजी अखबार 'स्टेट्समैन' का इवनिंग न्यूज था। उसका मोटा मोटा शीर्षक था- 'भारत में इमरजेंसी लागू जयप्रकाश नारायण सहित अनेक नेता गिरफ्तार'। इस खबर से मैं अचंभित अवश्य हुआ, किन्तु जे.पी. आंदोलन के चलते जिस तरह से पूरे उत्तर भारत में भीड़तंत्र का उपद्रव मचा हुआ था, उसे देखते हुए मैंने इमरजेंसी को सही माना।"[9] इसी में आगे वह लिखते हैं, "इमरजेंसी लागू होने के मात्र चौबीस घंटे के अंदर मुझे देखने को मिला कि पहले की तरह ट्रेन में कोई मारामारी नहीं थी। पहले की तरह रेल कर्मचारियों द्वारा घूसखोरी भी नहीं थी। सब कुछ अनुशासित सा लगा। xxxx इमरजेंसी लागू होते ही हजारों जे.पी. समर्थक नेताओं तथा कार्यकर्ताओं को गिरफ्तार कर लिया गया, फिर भी फासिज्म के विरुद्ध कम्युनिस्ट कांग्रेस मुहीम जारी रही। कम्युनिस्ट पार्टी की नीति के अनुसार मैं हर जगह इमरजेंसी का समर्थन करता था तथा फासिस्ट विरोध सभा सम्मेलनों के आयोजन में बनारस से लेकर लखनऊ तक हिस्सा लेने जाता रहा।"[10] तुलसीराम के इन कथनों में आपातकाल के प्रति उनकी प्रतिक्रिया और विचारों को स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है।

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी अपनी आत्मकथा **'अस्ति और भवति'** (2014) में अपने जीवन काल के विभिन्न झंझावातों के बीच सन् 1975 ई. के आपातकाल का भी ज़िक्र करते हैं जिसने उन्हें झकझोर कर रख दिया था। लेखक के शब्दों में, "आत्मकथा के प्रसंग में आपातकाल की घटना पर इतने विस्तार से लिखना अकारण नहीं है। यह घटना देश के साथ जितनी जुड़ी हुई है उतनी ही मेरे 'आत्म' के साथ भी। मेरे व्यक्तित्व और विचारों की

बुनियाद में जो कुछ खास शब्द हैं उनमें सबसे विशिष्ट है 'स्वाधीनता और लोकतंत्र'। जिन दिनों आपातस्थिति की घोषणा हुई थी उन्हीं दिनों मेरा दूसरा कविता संकलन- 'साथ चलते हुए' राजकमल प्रकाशन में छपने के लिए गया था। मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा था कि दो चार को छोड़कर शेष सारी कविताएँ तत्कालीन स्थिति के विरुद्ध थीं, जैसे कि उसके विरोध में ही लिखी गई हों।"[11] इस कथन में लेखक के जीवन और व्यक्तित्व पर पड़े आपातकाल के प्रभाव अथवा अपने समय काल के प्रति सजगता के भाव को देखा जा सकता है, जिसकी व्यापक व्याप्ति उनके कविता कर्म में भी देखने को मिलती है।

कमलेश्वर भी अपने आत्मकथ्य **'मेरा पन्ना : एक सफरनामा'** में आपातकाल की नीतियों और सेंसरशिप का भय दिखाकर विपक्ष द्वारा नियंत्रित करने की कार्य प्रणाली को इस रूप में वर्णित करते हैं, "इस समय तक वामपंथी बुद्धिजीवी आंदोलन को कुचलने के लिए आपातस्थिति को इस्तेमाल करने वाली चांडाल-चौकड़ी का फायदा उठाने वाले लोगों ने केंद्रीय भाषा आयोग के एक सदस्य को कठपुतली बना लिया। भाषा आयोग के सदस्य श्री रामकृष्ण शुक्ल ने तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गाँधी को 'सारिका' के जुलाई 75 अंक के 'मेरा पन्ना' के विरुद्ध एक शिकायती पत्र 1.8.75 को लिखा, जिसमें यह कहा गया था कि 'मेरा पन्ना' का लेखक समुदायों (सवर्णों-अवर्णों) के बीच भयानक वैमनस्य फैला रहा है, अतः उसकी जाँच की जाए और यदि जाँच में वह दोषी पाया जाता है तो उसे दंड दिया जाए।"[12] लेखक आगे लिखते हैं, "आपातस्थिति के दौरान यह जाँच चलती रही। 'मेरा पन्ना' के अंतर्गत प्रकाशित सारे संपादकीयों के अंग्रेजी अनुवाद हुए और रिपोर्ट तैयार कर दी गई कि 'मेरा पन्ना' द्वारा भयानक सामुदायिक वैमनस्य फैलाया जा रहा है, अतः उसके लेखक के विरुद्ध 'उचित कार्यवाई' कर दी जाए!"[13] उक्त कथनों के आलोक में आपातकालीन सेंसरशिप के मामले को स्पष्टता में समझा जा सकता है, जहाँ नियमित रूप से लिखना भी सत्ता पक्ष के विरोध में जाना माना जा रहा था जिसकी उचित गवाही कमलेश्वर अपनी आत्मकथा में प्रस्तुत करते हैं। आपातकाल के बाद जनता पार्टी के सत्ता में आने के बाद 'सारिका' पत्रिका को पुनः तत्कालीन सरकार द्वारा निकालने का आदेश दिया जाता है। साथ ही पूर्वकालिक सरकार की आपातकालीन आलोचना करने को भी कहा जाता है इस संदर्भ में कमलेश्वर लिखते हैं, "जब मैं बोलना चाहता था, तब सत्ता द्वारा कहा गया कि खामोश रहो! जब मैं खामोश रहना चाहता था तो सत्ता द्वारा कहा गया- बोलो। सत्ताओं की क्रूरता की इससे बड़ी मिसाल और क्या हो सकती है? जब लेखक बोलने की आज़ादी चाहता है तो उसे बोलने नहीं दिया जाता, जब वह खामोश रहने की आज़ादी चाहता है तो उसे खामोश नहीं रहने दिया जाता। यानी एक लेखक-पत्रकार-संपादक की आज़ादी सत्ता-सापेक्ष है।"[14] लेखक का यह कथन सत्ता की मंशा को उजागर करने वाला है जिसमें, "जनता सरकार द्वारा बोलने का हुक्म इसलिए नहीं दिया गया था कि वे बोलने देना चाहते थे, या कि उन्होंने अभिव्यक्ति की आज़ादी सत्ता-निरपेक्ष कर दी थी, बल्कि यह आदेश-निवेदन इसलिए था कि 'मेरा पन्ना' का लेखक आपातकाल का 'सताया' हुआ व्यक्ति है, इसलिए वो आपातकाल के संरक्षकों की खाल उधेड़ेगा। उनकी नीयत एक लेखक को बोलने की आज़ादी देने की नहीं थी, बल्कि एक लेखक की आज़ादी को अपने लिए इस्तेमाल करने की थी।"[15]

हिन्दी आत्मकथाओं ने आपातकाल को अपने-अपने स्तर पर प्रस्तुत करने का प्रयास किया है जो व्यापक, सार्थक एवं स्वयंभोगी यथार्थ है। इन आत्मकथाओं के माध्यम से लेखकों ने आपातकाल के ज़ायज और नाज़ायज दोनों ही पक्षों पर अपना मत प्रस्तुत किया है।

संदर्भ ग्रन्थ:-

1. मोहनदास नैमिशराय, *अपने-अपने पिंजरे*, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, तृतीय संस्करण, 2009, पृष्ठ संख्या-122-123
2. माता प्रसाद, *झोपड़ी से राजभवन*, नमन प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संकरण, 2002, पृ.सं.-164
3. भीष्म साहनी, *आज के अतीत*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2003, पृ.सं.-236
4. रमणिका गुप्ता, *आपहुदरी*, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण, 2019, पृष्ठ संख्या-406
5. वही, पृष्ठ संख्या-358
6. मन्नू भंडारी, *एक कहानी यह भी*, राधाकृष्ण प्रकाशन, नई दिल्ली, दूसरी आवृत्ति, 2009, पृ.सं.-132
7. वही, पृष्ठ संख्या-133
8. वही, पृष्ठ संख्या-134
9. तुलसीराम, *मणिकर्णिका*, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पाँचवाँ संस्करण, 2018, पृष्ठ संख्या-165
10. वही, पृष्ठ संख्या-167
11. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, *अस्ति और भवति*, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, नई दिल्ली, पहला संस्करण, 2014, पृष्ठ संख्या-154
12. गंगाप्रसाद विमल (सं.), *कमलेश्वर रचना-संसार*, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 2013, पृष्ठ संख्या-175
13. वही, पृष्ठ संख्या-175
14. वही, पृष्ठ संख्या-180
15. वही, पृष्ठ संख्या-180

******

उपन्यास की लोकप्रियता और पाठक समुदाय

डॉ. कानाराम मीणा

"The novel is the story of a degraded search, a search of authentic values in a world itself degraded, but an otherwise advanced level according to a different made…. These values are specific to each novel and different from one novel to another."[1]-लूसिएँ गोल्डमान

''उपन्यास के पाठ में यह बात निहित होती है कि मनुष्य अकेला नहीं जीता है, उसका एक अतीत, एक वर्तमान और एक भविष्य होता है। उपन्यास यह भी सिद्ध करता है कि इतिहास के बिना कोई समाज नहीं होता और समाज के बिना इतिहास भी नहीं होता है । उपन्यास वह कला रूप है जो एतिहासिक और सामाजिक रूप से परिभाषित मनुष्य की पुनः प्रस्तुति करता है।"[2]- मिशेल जेराफ

उपन्यास हिंदी गद्य साहित्य की एक प्रमुख विधा है जिसका विकास आधुनिक समय में हुआ है । उपन्यास शब्द दो शब्दों के योग से बना है, **'उप'** और **'न्यास'** । 'उप' का अर्थ होता है 'समीप' और न्यास का अर्थ होता है रखी हुई या रखा हुआ । अत: उपन्यास का अर्थ हुआ जीवन के समीप रखकर उसका अध्ययन या व्याख्या करना । इसके अंतर्गत जीवन के प्रतिनिधित्व का दावा करने वाले पात्रों और कार्यों का चित्रण होता है । विशाल दुनिया के विशाल फलक पर मानव के साथ होने वाली घटनाओं का चित्रण उपन्यास में किया जाता है । उपन्यास की कथावस्तु का आधार मानव जीवन और उसके क्रिया कलापों से जुड़ा हुआ होता है । अत: उपन्यास को जीवन की व्याख्या कहा जा सकता है । यही ध्यान में रखते हुए हिन्दी के दो अप्रतिम विद्वानों ने उपन्यास की निम्न परिभाषाएँ दी हैं-

> 'मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसके रहस्यों को खोलना ही उपन्यास का मूलतत्व है।' – प्रेमचन्द
>
> 'उपन्यास व्यक्ति को अपनी परिस्थितियों के साथ सम्बन्ध की अभिव्यक्ति के उत्तरोतर विकास का प्रतिनिधित्व करता है।' – अज्ञेय

अत: संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपन्यास मानव जीवन का उसके समग्र रूप में चित्रण प्रस्तुत करने वाला आधुनिक युग का अत्यंत सशक्त माध्यम है।

उपन्यास में सामाजिक जीवन की वास्तविकता सहज रूप में उपलब्ध होती है । उपन्यास में जीवन का यथार्थ मिलता है । उपन्यास के महत्त्व के बारे में **फणीश्वरनाथ रेणु** ने 'मैला आँचल' की नायिका कमला के माध्यम से कहा है कि, ''उपन्यास पढ़ते समय ऐसा लगता है कि यह देवी, देवता, ऋषि मुनि की कहानी नहीं जैसे यह हम लोगों के गाँव, घर की बात हो।"[3] एक सफल उपन्यासकार अपने उपन्यास में समाज के उसी यथार्थ को अभिव्यक्त करता है जिसमें हम जीवनयापन कर रहे हैं । **प्रेमचन्द** के अनुसार, "सफल उपन्यासकार का सबसे बड़ा लक्षण है कि वह अपने पाठकों के हृदय में उन्हीं भावों को जागृत कर दे, जो उसके पात्रों में हो । पाठक भूल जाए कि वह कोई उपन्यास पढ़ रहा है – उसके और पात्रों के बीच में आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाए।"[4] अत: उपन्यास का मानव की सम्पूर्ण सामाजिक क्रियाओं के साथ अन्तर्सम्बन्ध होता है । उपन्यास मानव जीवन की अभिव्यक्ति व व्याख्या है । उपन्यास मूलतः जीवन के उन पक्षों का भी सफल उद्घाटन कर सकता है जो साहित्य की अन्य कई विधाएँ नहीं कर सकतीं।

किसी भी साहित्यिक कृति के लिए 'पाठक' का होना महत्त्वपूर्ण है । आज लोकप्रिय साहित्य और गम्भीर साहित्य की बहस के केंद्र में पाठक ही है । पश्चिम में उपन्यास के आगमन के साथ ही सबसे बुनियादी जरूरत पाठक का होना था । कहा तो यह भी जा सकता है कि उपन्यास का विकास इतने बड़े पैमाने पर इसीलिए हो सका क्योंकि इसके पास पाठकों की भरमार होने लगी। भारत में उपन्यास लेखन की परंपरा उन्नीसवीं सदी में ही विकसित होती है। उपन्यास कभी भी श्रव्य नहीं रहा, न आज है। उपन्यास की पहचान उसका पाठ्य होना ही है। वास्तविकता तो यह है कि उपन्यास ने महाकाव्य का स्थान ग्रहण किया जिसके बारे में रैल्फ फॉक्स ने विस्तार से अपनी पुस्तक उपन्यास और लोकजीवन में लिखा है। उपन्यास के वाचन के साथ जो स्थितियाँ पैदा हो सकती हैं उसके संदर्भ में गोपाल राय ने लिखा है कि "एक भिन्न परिस्थिति में चार्ल्स डिकेंस अमेरिका में श्रोताओं के समक्ष अपने उपन्यासों का वाचन करने गए थे और इसमें उन्हें सफलता भी मिली थी । पर यह अपवाद है और इसका एक कारण डिकेंस का उपन्यासकार के रूप में बहुत प्रसिद्ध होना भी था।"[5] यानी महाकाव्य जिस तरह से पद्य होने के कारण और संगीतात्मक होने के कारण लोगों में वाचित होते थे, उपन्यास विधागत भिन्नता के कारण उससे अलग दिशा में जाता है। उपन्यास के लिए गद्य का विकास व मुद्रण का होना बहुत जरूरी था । यूरोप में मुद्रण के अविष्कार के साथ गद्य साहित्य के लेखन में तेजी आई और फिर उपन्यास का विकास संभव हुआ । इस क्रम में पाठक बढ़े और पाठकों की वृद्धि ने उपन्यासों को लोकप्रिय बनाना शुरू किया। यह विकास कुछ ऐसा ही है जैसे सिनेमा के विकास ने दर्शकों की संख्या में वृद्धि की और दर्शकों की वृद्धि के साथ सिनेमा सबसे सशक्त और लोकप्रिय माध्यम बनता गया। उपन्यास में 'पाठक' वर्ग के उदय के सन्दर्भ में **गोपाल राय** लिखते हैं कि, "सामन्तवाद के स्थान पर पूंजीवाद के उदय का भी समय लगभग यही है । पूंजीवाद के साथ मध्यवर्ग का भी विकास हुआ, जिसने अपनी विशालता और बौद्धिक जागरूकता के कारण विशाल पाठक वर्ग का भी रूप ले लिया । चौदहवीं-पंद्रहववीं शताब्दी में यूरोप में मध्यवर्गीय पाठक वर्ग पैदा हो गया था, जिसने वहाँ उपन्यास के उदय के लिए बुनियादी संरचना के निर्माण में योग दिया । फलस्वरूप सत्रहवीं शताब्दी के पूर्व ही यूरोप में 'उपन्यास' अस्तित्व में आ गया।" [6]यद्यपि सत्रहवीं सदी में यूरोप में उपन्यास लेखन प्रारम्भ हो गया था

लेकिन अठारहवीं सदी तक पाठक की तलाश जारी रही । इस दौर के सामाजिक, आर्थिक व शैक्षणिक कारणों के चलते उपन्यास का केवल सीमित पाठक वर्ग तक ही था । इसके बाद उन्नीसवीं सदी में जाकर उपन्यास का अभूतपूर्व विकास संभव हुआ।

आयन वाट ने पाठक समुदाय को प्रभावित करने वाले कारणों की चर्चा करते हुए कहा है कि, "इन कारणों में प्रथम तथा अतिस्पष्ट था, साक्षरता का अति सीमित प्रसार । साक्षरता का अर्थ यहाँ अठारहवीं शती के अनुसार क्लासिक भाषाओँ एवं साहित्य विशेषत: लातिनी का ज्ञान न होकर आधुनिक अर्थों में मातृभाषा के लेखन व पठन की सक्षमता था । ऐसी साक्षरता भी अठारहवीं शताब्दी के इग्लैंड में सामान्यत: व्याप्त थी । उदाहरणार्थ इसी शताब्दी के अंत में जेम्स लैकिगंटन ने लिखा कि धार्मिक पत्रों का वितरण करते हुए उसने पाया कि कुछ कृषक और उनके बच्चे तथा निर्धन समुदाय में से तीन चौथाई लोग पढ़ नहीं सकते थे । इस बात को भी साक्ष्य के आधार पर प्रस्तावित किया जा सकता है कि देहात में रहने वाले बहुत से छोटे-छोटे किसान, उनके परिवार तथा श्रमिकों को अधिकांश संख्या बिल्कुल निरक्षर थी । यहाँ तक कि नगरों में भी निर्धन जनता का कुछ अंश विशेषत: सिपाही, नाविक तथा गलियों में रहने वाला निम्नवर्गीय जनसमूह भी अनपढ़ था ।"[7]

हिंदुस्तान में उपन्यास के लिए परिस्थितियाँ औपनिवेशिक शासन के दौर में ही निर्मित हुईं। सन 1800 में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना के साथ गद्य साहित्य का व्यवस्थित विकास प्रारम्भ हुआ । हालांकि फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना व गद्य का लेखन आम जनता के लिए न होकर अंग्रेजी अधिकारियों को हिन्दी-उर्दू के ज्ञान के लिए था, ऐसे में पाठक निर्माण की प्रक्रिया बहुत सीमित थी । हालांकि उन्नीसवीं सदी में शीघ्र ही पाठक समुदाय के निर्माण की सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियाँ निर्मित होने लगीं। गोपाल राय लिखते हैं कि "हिन्दी क्षेत्र में श्रोतावर्ग के पाठक वर्ग में परिणत होने की प्रक्रिया उन्नीसवीं सदी में आरम्भ हुई । प्रशासनिक और धार्मिक कारणों से हिन्दी क्षेत्र में मुद्रण आरम्भ उन्नीसवीं सदी में हुआ ।"[8] इस तरह भारत में पाठक वर्ग के विकास में मुद्रणालयों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है । इस सन्दर्भ में **गोपाल राय** लिखते हैं कि, "लल्लू जी लाल ने अपने मुद्रणालय से तुलसी, बिहारी, नरोत्तमदास, ब्रजवासी दास आदि के काव्य ग्रन्थ छापे थे तथा 1832 ई० के लगभग बनारस और कानपुर में रामचरितमानस का मुद्रण हुआ था । 1846 ई० में कलकत्ता के कश्मीरी मंत्रालय से कहानी रानी केतकी की छपी थी । इससे पहले किसी मुंशी हरिराम पंडित ने रानी केतकी की कहानी देवनागरी लिपि में छापी थी । इन प्रकाशनों के फलस्वरूप हिन्दी के श्रोता-समुदाय के पाठक -समुदाय में रूपांतरण की प्रक्रिया आरम्भ हुई ।..... सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि सामान्य पाठकों की रूचि की पुस्तकें छापने के लिए व्यावसायिक स्तर पर प्रेसों की स्थापना हुई । इनमें सबसे बड़ा और साधन सम्पन्न प्रेस नवल किशोर प्रेस, लखनऊ था जिसने फारसी और देवनागरी दोनों लिपियों में उर्दू दास्तान की बड़ी बड़ी पुस्तकों के अतिरिक्त संस्कृत पुराणों के हिन्दी-उर्दू अनुवाद भी प्रकाशित किए । चूँकि इस काल का हिन्दू मध्यवर्ग अधिकतर उर्दू-फारसी पढ़ता था अत: उसे श्रोता से पाठक बनाने में नवल किशोर प्रेस से छापे पुराणों और उर्दू दास्तान की पुस्तकों ने क्रांतिकारी भूमिका अदा की ।"[9]

किसी भी देश में 'पाठक' के लिए आर्थिक व सामाजिक स्थितियां महत्त्वपूर्ण होती है । क्योंकि बिना अपेक्षित क्रय शक्ति के पाठक वर्ग का निर्माण नहीं हो सकता । उन्नीसवीं सदी का भारत आर्थिक रूप से अत्यंत पिछड़ा हुआ था । भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने आर्थिक हालात और भी खराब कर दिए, जिससे मध्यवर्ग काफी प्रभावित हुआ । जो कारीगर, छोटे व्यवसायिक व सरकारी कर्मचारी थे वे भी कम होते चले गए । ऐसे हालात में बड़े पाठक वर्ग की कल्पना करना भी बेमानी होगी, फिर भी पाठकों की संख्या बढ़नी आरंभ हो चुकी थी। प्रारम्भिक कथा पुस्तकें बैताल पचीसी, सिंहासन बत्तीसी, प्रेमसागर, चन्द्रावली और नासिकेतोपाख्यान सामान्य कथा-प्रेमी पाठकों के लिए नहीं होती थी केवल हिन्दी लिखने वाले पदाधिकारियों के लिए मुद्रित करायी गयी थीं लेकिन समय के साथ और मुद्रण के विकास के साथ स्थितियाँ बदलने लगी थीं । गोपाल राय ठीक लिखते हैं कि "सामान्य पाठकों को ध्यान में रखकर बैताल पचीसी का पहला मुद्रण सम्भवतः 1839 में हुआ था । सिंहासन बत्तीसी के विभिन्न संस्करणों के प्रकाशन काल से स्पष्ट प्रतीत होता है कि इसे सन 1840 ई० के बाद पाठकों में विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई । 1840-70 की अवधि में सिंहासन बत्तीसी के कम से कम तेरह और 1870-80 के बीच कम से कम चौदह संस्करण प्रकाशित हुए । बैताल पचीसी को भी 1840 की बाद ही सामान्य पाठकों के बीच लोकप्रियता प्राप्त हुई ।"[10]

1870-90 के मध्य भारत में उपन्यास लेखन की मौलिक परम्परा का विकास होता है । लेकिन अभी भी उपन्यास का पाठक सीमित था । इस प्रक्रिया में सबसे बड़ी बाधा भारतीय समाज में शिक्षा का अभाव होना था । उपन्यास तक पहुंच केवल उच्च मध्यवर्ग तक थी, सामान्य वर्ग अभी भी इस से वंचित था । सन 1888 ई० में देवकीनन्दन खत्री के 'चन्द्रकान्ता' का प्रकाशन उनके मित्र बाबू अमीर सिंह ने किया । हिन्दी उपन्यास लेखन के 20 वर्ष के इतिहास में 'चन्द्रकान्ता' का आना एक घटना के रूप में चित्रित किया जाता है । शुद्ध व्यवसायिक दृष्टि से लिखा गया यह उपन्यास प्रकाशित होने के साथ ही समकालीन हिन्दी पाठक समुदाय में इसकी धूम मच गई । "चन्द्रकान्ता का प्रकाशन हिन्दी उपन्यास इतिहास में एक ऐसी घटना है जिसने उपन्यास के स्वरूप में अभूतपूर्व परिवर्तन ला दिया । मानो एक पहाड़ी नदी मैदान में उतर आयी हो ।"[11] चन्द्रकान्ता का सामान्य पाठक वर्ग में लोकप्रिय होने का सबसे बड़ा कारण उसकी भाषा थी । "देवकीनन्दन खत्री ने कथा, विचार, शिल्प, भाषा, पुस्तक के आकार-प्रकार और मूल्य सभी दृष्टियों से अपने समय के सम्भावित हिन्दी पाठकों की पठन-क्षमता और रूचि का ध्यान रखा । फलस्वरूप पाठकों ने सहज भाव से स्वीकार किया ।" [12]उपन्यास का कथानक भी पाठक को ध्यान रखते हुए तय किया गया था । उन्होंने परम्परागत प्रेमकथा के साथ ऐयारी और तिलिस्म के ऐसे रोचक और रोमांचक प्रसंग जोड़ दिए जो पाठक को इस उपन्यास से बाँध कर रखते हैं । उपन्यास का एक बयान पढ़ने के बाद पाठक दूसरे बयान में क्या होगा यह जानने के लिए लालायित हो जाता था । इस तरह देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी उपन्यास को नया जन्म दिया है । "1913 ई० में खत्री जी के

देहवसान के बाद हिंदी में हुई पाठक-वर्ग की असाधारण वृद्धि ने प्रेमचन्द को 1915 ई० में हिंदी में आने को प्रेरित किया। यह मानना असंगत न होगा कि प्रेमचन्द को हिंदी में लाने का श्रेय, परोक्ष रूप से, देवकीनन्दन खत्री को भी है। खत्री जी ने पाठक वर्ग के निर्माण के रूप में आवश्यक उपजाऊ जमीन तैयार कर दी जिस पर प्रेमचन्द ने उपन्यास की समृद्ध फसल उगाने में सफलता प्राप्त की।" [13] देवकीनंदन के साथ-साथ किशोरीलाल गोस्वामी भी ऐतिहासिक रोमांस से भरपूर उपन्यास लेखन कर रहे थे। गुलबहार वा आदर्श भातृस्नेह (1906) कनककुसुम व मस्तानी (1904), हीराबाई या बेहयायी का बोरका, सुल्तान रजिया बेगम या रंगमहल में हलाहल आदि उपन्यास लिखे, लेकिन उनके उपन्यास पाठकों में उतने लोकप्रिय नहीं हो सके।

देवकीनंदन खत्री के बाद उनसे प्रभावित होकर गोपालराम गहमरी ने अपराधप्रधान तथा जासूसी उपन्यासों की रचना की। अपने उपन्यासों के प्रकाशन के लिए 1900 ई० में 'जासूस' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन किया। गहमरी जी ने हिन्दी में उत्पन्न पाठक वर्ग को ऐयारी-तिलिस्म प्रधान रोमांस से निकाल कर अपराध प्रधान और जासूसी कथाओं की ओर आकर्षित किया। समकालीन पाठकों में गहमरी जी को पर्याप्त सफलता मिली, लेकिन वे खत्री जी की तरह 'पाठक' को जासूसी के मायाजाल में उलझाकर नहीं रख सके। क्योंकि, "गहमरी जी की अपराध कथाएँ विकसित बुद्धि के पाठकों के लिए संतोषप्रद नहीं हैं। उनकी घटनाओं तथा पात्रों के कार्य कलापों में ऐसी असंगतियाँ है जो परिष्कृत रूचि के पाठकों को खटके बिना नहीं रहती। उनमें आधुनिक जासूसी कला ; रहस्य सृजन और बुद्धितत्व का इतना अभाव है कि विकसित बुद्धि के पाठक उन्हें पढ़कर तृप्ति नहीं पाते। कहीं-कहीं चन्द्रकान्ता के ऐयारों की ऐयारी भी गहमरी जी के उपन्यासों पर हावी हो गयी हैं।"[14]

अत: सन 1891 से 1917 के उपन्यास साहित्य पर नज़र डालने से स्पष्ट है कि उपन्यास को अपने पैरों पर खड़ा करने का श्रेय देवकीनंदन खत्री और उनकी परंपरा के लेखकों को जाता है। किशोरीलाल गोस्वामी, गोपाल गहमरी और ब्रजनन्दन सहाय जैसे उपन्यासकारों ने इसे आगे बढ़ाया। इस सन्दर्भ में **गोपालराय** लिखते हैं कि, "देवकीनन्दन खत्री ने हिन्दी उपन्यास को पाठकों का आधार प्रदान किया, उसे अपने पैरों पर खड़ा किया। 19वीं शताब्दी का अंतिम दशक पूरी तरह से पाठकों के निर्माण का दशक है और इसके एक मात्र अभियंता देवकीनंदन खत्री हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दो दशकों में खत्री जी के अतिरिक्त गोपालराम गहमरी और किशोरीलाल गोस्वामी ने हिन्दी उपन्यास के पाठकीय आधार को सुदृढ़ करने का प्रयत्न किया।"[15]

प्रेमचन्द के आगमन से पूर्व हिन्दी उपन्यास अलग-अलग ढंग से लिखे जा रहे थे या कहें उपन्यास अपने स्वरूप की तलाश कर रहा था। प्रेमचन्द ने उपन्यास को नई दिशा व दशा प्रदान करते हुए उसका विकास किया। उन्होंने उपन्यास को तिलिस्म व जासूसी की दुनिया से निकालकर यथार्थ रूप प्रदान किया। ब्रिटिश सरकार के शोषण व अत्याचार को अपने साहित्य का केंद्र बनाकर लेखन किया। अपने लेखन के माध्यम से जो केवल मनोरंजन प्रदान उपन्यासों की दुनिया में खोया हुआ था उसे यथार्थ दुनिया से परिचय कराते हुए मूल्य चेतना को महत्त्व दिया। प्रेमचन्द जब उपन्यास लेखन प्रारम्भ कर रहे थे तो उन्हें यह पता था कि हिन्दी पाठकों के बीच सामाजिक यथार्थ व मूल्य चेतना को केंद्र में रखकर सफलता मिल सकती हैं। इसलिए उर्दू लेखन त्यागकर वे हिंदी में लेखन करने लगे। जल्द ही वे पाठकों के बीच लोकप्रिय होने लगें। देवकीनन्दन खत्री, किशोरीलाल गोस्वामी, गोपालराम गहमरी, आदि ने हिंदी पाठकों का जो विशाल वर्ग तैयार किया था, वह अब ऐयारी-तिलिस्म, अपराध और विरह-मिलन की कथाओं की दुनिया से बाहर निकलना चाहता था। प्रेमचन्द ने अपने साहित्य संसार से इन्हीं पाठकों को अपना पाठक बना लिया और सन 1918 से 1947 के मध्य उपन्यास ने अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त की। राष्ट्रीय आन्दोलन के इस दौर में पाठक वर्ग बाजार के शिकंजे से बाहर निकलकर यथार्थ की दुनिया से परिचित हो सका। दूसरी ओर लोकप्रिय उपन्यासों की परंपरा भी पाठक वर्ग के साथ अपने संबंध के साथ मजबूती से खड़ी रही। उपन्यास के बाजार ने सामाजिक यथार्थ के साथ मनोरंजन की दुनिया में भी पाठकों का अभूतपूर्व विकास किया। निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपन्यास की लोकप्रियता ने इस दौर में जो ऊंचाई हासिल की वह अभूतपूर्व थी और मनुष्यता की आशाओं-आकांक्षाओं के प्रकाशन के सर्वाधिक सशक्त माध्यमों में से थी।

संदर्भ-

1. Lucien goldman – Towards a sociology of the novel, pg no. 1 -2
2.
3. फणीश्वर नाथ रेणु – मैला आँचल, पृ० सं० – 21, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
4. प्रेमचन्द – कुछ विचार ,पृ० सं० – 64 ,राजकमल प्रकाशन, दिल्ली
5. गोपालराय – हिंदी उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०- 13 , राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
6. वही ,पृ० सं०- 13
7. आयन वाट – उपन्यास का उदय, पृ० सं०- 39, हरियाणा साहित्य, चण्ढीगढ
8. गोपालराय – उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०- 14 , राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
9. गोपालराय – उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०- 15-16
10. वही, पृ० सं०- 20
11. गोपालराय – उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०- 69
12. गोपालराय – उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०- 69
13. वही, पृ० सं०- 71
14. गोपालराय – उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०- 98
15. गोपालराय – उपन्यास का इतिहास, पृ० सं०- 120

*****

समकालीन कविता में सांप्रदायिकता विरोधी स्वर

-शगुफ्ता यास्मीन
शोध छात्रा
पश्चिम बंग राज्य विश्वविद्यालय
बारासात, कोलकाता

शोध सारांश : मौजूदा समय में फासीवाद अपने चरम पर है | धर्म की राजनीति का हर ओर बोलबाला है | दुर्भाग्यपूर्ण है कि सांप्रदायिक उन्माद , धर्मांधता तथा आतंकवाद हमारे समाज का क्रूर , घृणित किन्तु स्थायी यथार्थ बन चुका है | सांप्रदायिकता देश की राजनीतिक दांव – पेंच का एक अहम हिस्सा बन गई है | इन प्रतिकूल परिस्थितियों के तहत सांप्रदायिकता विरोधी वैचारिकी को विकसित करने में समकालीन कविता की अपनी विशेष भूमिका रही है | समकालीन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के मार्फत फासीवादी उत्थान के विरुद्ध वैविध्यपूर्ण स्वरों का संधान किया है | समकालीन कविता सांप्रदायिक के कारक तत्वों की न केवल गहराई से शिनाख्त करती है बल्कि उसके विरुद्ध प्रतिपक्ष की रचना भी करती है | प्रस्तुत शोध आलेख में समकालीन कविता में निहित उक्त संदर्भों की संवीक्षा का गंभीर उपक्रम किया गया है |

बीज शब्द : सांप्रदायिकता , अर्थव्यवस्था , फासीवाद , युगद्रष्टा , संविधान , राष्ट्रियता , डिक्टम , साम्राज्यवाद , प्रेजेंटेशन , इन्टरनेट , सोशल मीडिया , त्रासदी , कोर्पोरेटिभ , प्रोटोकॉल , आतंकवाद , तानाशाहियत , इंडिविजुअलिटी |

मूल आलेख : "हमारे समय की यह विडम्बना ही है कि जिस आग को मनुष्य ने रोशनी और रोटी बनाने के लिए खोजा था आज उसी आग का हत्यारे निर्दोष नागरिकों , स्त्रियों और मासूम बच्चों को जिंदा जलाने , उनके घर – द्वार और काम धंधों को खाक करने के लिए निर्लज्जता और बर्बरता के साथ इस्तेमाल कर रहे हैं ….. हमारी अर्थव्यवस्था में बढ़ रही अपस्फीति भूख , बेरोजगारी और हिंसा का एक ऐसा अध्याय लिख रही है , जो फासीवाद की खुराक बन रहा है | सांप्रदायिक फासीवाद हमारी देहरी लांघ चुका है | यह एक ऐसा दलाल फासीवाद है जो वित्त पूँजी के प्रपंचों से नाभिनालबद्ध है |"[1]

सत्ता और पूँजी द्वारा निर्मित जटिल चक्रव्यूह में फासीवाद के बढ़ते स्पेस की संभावनाओं को व्यक्त करती अधोलिखित पंक्तियाँ समकालीन कवि राजेश जोशी के वर्ष 2002 साहित्य अकादमी सम्मान के अवसर पर दिये गए वक्तव्य से उद्धृत है | कवि वाचित उक्त परिस्थितियाँ हमारे समकालीन परिदृश्य से हूबहू मिलती – जुलती है | साहित्यकार को युगद्रष्टा यूँ ही नहीं कहा जाता |

मौजूदा समय में फासीवाद अपने पूरे शबाब पर है | धर्म की राजनीति का चंहुओर बोलबाला है | व्यवस्था के पास 'धर्म निरपेक्षता' और 'सांप्रदायिकता' की अपनी व्याख्याएँ हैं अपने तर्क हैं | 'देशभक्ति' तथा 'देशद्रोह' की मनमानी परिभाषाएँ निर्धारित की जा रही हैं | नये भारत में नये संविधान के प्रारूप निश्चित करने की पुरजोर कोशिशें जारी हैं , जिसमें सत्तासीन वर्ग की सोच से असहमत हर व्यक्ति देशद्रोही है और उसके डिक्टम को मानने वाला देशभक्त | इस सन्दर्भ में जितेंद्र भाटिया के आलेख 'धर्मांधता के संधिकाल में' से निम्न अंश उल्लेखित करना अप्रासंगिक न होगा – " देशभक्ति वह अमूर्त लेकिन जीती जागती व्यापक अनुभूति है जिसे गांधी बाबा ने लोगों के सुख – दुख में जीते हुए , लंबी मशक्कत के बाद अपने सारे परिधान को त्याग कर एक अदद लंगोटी में देखा था | गला फाड़कर 'भारत माता' का नारा लगाने से आपका देशप्रेम सिद्ध नहीं हो जाता और न ही नारा लगाने से इंकार करते ही आप देशद्रोही साबित हो जाते हैं |"[2] यहाँ देशभक्ति को गाँधीवादी चश्मे से देखना और दिखाना अभीष्ट हरगिज नहीं है बल्कि देशभक्ति तथा राष्ट्रवाद के तथोक्त स्थूल एवं जड़ प्रोफॉर्मा को तोड़ना उसे एक प्रगतिशील सोच से आबद्ध करना ही मूल अभिप्राय है |

साम्राज्यवादी मानसिकता के तहत सांप्रदायिकता एक कारगर राजनीतिक अस्त्र है | सत्ता हथियाने और उसपर बने रहने के लिए अंग्रेजों के शासन काल से लेकर स्वाधीन भारत में आज तक इसका प्रयोग बदस्तूर जारी है | वस्तुतः सांप्रदायिकता धर्म का विकृतीकरण है | यह धर्म की आड़ में हिंसा एवं विद्वेष पर आधारित एक मिथ्या चेतना है | आलोचक मधुरेश के शब्दों में – "सांप्रदायिकता साम्राज्यवाद की कोख से जन्मी उसकी अवैध संतान है , जिसका एकमात्र उद्देश्य साम्राज्यवाद के हितों को पोषित करके जनतंत्र और स्वाधीनता की चेतना एवं संघर्ष को बंद करना होता है |"[3]

सांप्रदायिक दंगों के इतिहास पर विहंगम दृष्टि डालने पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि बदलते समय के अनुरूप सांप्रदायिक चेतना में भी पर्याप्त बदलाव आया है | विभाजन पूर्व एवं विभाजन कालीन सांप्रदायिकता से भिन्न , विकराल तथा बहुरंगी रूप में रूप में विद्यमान है , आज की सांप्रदायिकता | समकालीन कविता इस बदली हुई सांप्रदायिकता के बहुरूपियेपन को शिद्दत से उघाड़ती है |

जाति व धर्म से परे मनुष्य की कल्पना संबंधी अवधारणा को सांप्रदायिकता की रणनीति ने हमेशा चुनौती दी है , फिर चाहे देश विभाजन के समय होने वाला नरसंहार हो अथवा सत्तर के दंगे , बाबरी मस्जिद विध्वंश हो या गोधरा – गुजरात हत्याकांड | इसका सबसे ताजा तरीन उदाहरण 2019 के आम चुनावों के दौरान होने वाले सांप्रदायिक दंगे हैं जो अभी तक रुकने और थमने का नाम नहीं ले रहे हैं | भारतीय राजनीति में सांप्रदायिक मनोवृत्ति का चलन इन दिनों खूब फल – फूल रहा है | जिम्मेदार विजित दल हो या विजेता इन सबके बीच घुट – पीस , मर – कलप रहा है वह एक अदद नागरिक जिसके पास संसाधन कम है , अर्थाभाव है तथा जो रोज़मर्रा की जिंदगी जीने में बदहाल बेहाल है | देवी प्रसाद मिश्र की कविता 'भाई मैं भारतीय नागरिक की भूमिका से हलकान हूँ' इसी एक अदद

नागरिक का आत्मगत संलाप है जो पराभव के कगार पर खड़े हिंदुस्तान की मार्मिक दास्तान बयां करती है ---

" मैं भारतीय नागरिक के पात्र की भूमिका से ही हलकान हूँ ,
मुक्तिबोध की तरह
सबको नंगा देखता और और उसकी सजा पाता
कंगले बनारसी बुनकर की कबीरी थकान हूँ
नरोदा में एक के बाद दूसरा जलाया गया मकान हूँ
कह लीजिये अपने को कोसता हिंदुस्तान हूँ |"[4]

सवाल उठना लाज़मी है कि क्या यही वह मानव सापेक्ष राजनीति का असली मॉडल है जिसकी रूप – रेखा भारतीय संविधान द्वारा निर्मित की गई है | दूसरी तरफ मीडिया जो जनतंत्र का प्रमुख आधार स्तम्भ है , सरकार की मुद्राओं पर कत्थक कलि के समान नृत्य करना ही अपने कर्म की इतिश्री मान बैठा है | सूचनाओं के नाम पर दिखावटी विकास , राजनीतिक आकाओं के यशोगान , इतिहास और संस्कृति के भ्रामक प्रेजेंटेशन , सांप्रदायिक भड़काऊ डिबेट इत्यादि न्यूज जगत के महत्वपूर्ण सरोकार बन गए हैं | यह भी बेहद चिंता का विषय है कि सांप्रदायिक संक्रमण को द्रूत गति से फैलाने के लिए संचार के अत्याधुनिक उपकरणों को माध्यम बनाया जा रहा है – "हाल के वर्षों में सोशल मीडिया , इंटरनेट और मोबाइल को जहरीले सांप्रदायिक प्रोपगैंडा के लिए सबसे अधिक इस्तेमाल किया गया है | इसके तहत बहुत सुनियोजित और संगठित तरीके से मोबाइल , इंटरनेट , सोशल मीडिया और वाट्सएप के जरिये अफवाहों , फर्जी खबरों और तोड़ी – मरोड़ी गई सूचनाओं को आगे बढ़ाया गया , जिनके कारण देश के कई हिस्सों में दंगे भड़कने , अल्पसंख्यक समुदाय या कमजोर वर्गों पर भीड़ के हमले और हत्या और सामूहिक पलायन तक की घटनाएँ हुई हैं |"[5]

मनुष्य तथा मनुष्यता को शर्मसार करती सांप्रदायिकता विरोधी वैचारिकता को विकसित करने में समकालीन कविता की अपनी भूमिका रही है | राजेश जोशी , कात्यायनी , मदन कश्यप , देवी प्रसाद मिश्र , जितेंद्र श्रीवास्तव , पंकज चतुर्वेदी इत्यादि समकालीन रचनाकारों की रचनाओं में फासीवादी उत्थान के विरुद्ध वैविध्यपूर्ण स्वरों का संधान है |

सांप्रदायिकता मानव मन में घृणा का बीजारोपन कर उसे भीतर से अच्छाई और मानवीय मूल्यों से पूर्णत: कंगाल कर एक वहशी दरिंदा बना देती है | इस दरिंदगी की बड़ी ही भयावह एवं वीभत्स्य तस्वीरें समय – समय पर होने वाले सांप्रदायिक दंगों में नुमाया है –

"गंदगी और समस्त मानवीय चीजों से घृणा का सैलाब सा
गुजर जाता है हमारे ऊपर से
और हम देखते है अपने चारों ओर , सड़कों पर , गलियों में फैले
मलबे में दबे जले अधजले शरीर , बिखरे हुए मांस के लोथड़े
गर्भवती स्त्री का पेट चीरकर निकले गए शिशु की छितराई बोटियाँ |"[6]

दरअसल सांप्रदायिक दंगों की चपेट में आकर अकारण अपने प्राण गँवाने वाले अधिकतर साधारण लोग ही होते हैं , जिनका इन सबसे दूर – दूर तक कोई राब्ता नहीं होता | आए दिन इस तरह के प्री – प्लांड हादसों की बढ़ती खबरें इस आशंका को पुष्ट करती है कि हम में से कोई भी , कहीं भी इसके शिकार हो सकते हैं | अनगिनत सपनों , आशाओं , आकांक्षाओं , आस्था , सौंदर्य और रागात्मकता से भरपूर जीवन का इतना सस्ता हो जाना अपने आप में बहुत बड़ी त्रासदी है | इस त्रासदी की अत्यंत कारुणिक छवि असद जैदी 'आसान हिंसा' कविता में उतारते हैं –--

"हिंसा इतनी आसान हो गयी है जितना कि हिंसा का ख्याल
बेख्याली में भी लोगों को मारा जा सकता है
जानवर को हम खाने के लिए मारते हैं सोच – समझकर काटते हैं
मनुष्य को बस मारने के लिए
एक धब्बा जो जल्दी ही फीका पड़ कर उड़ जाता है एक परछाई
जो गायब हो जाती है सर्दी की धूप की तरह |"[7]

संविधान द्वारा प्रस्तावित सेक्युलर राष्ट्र भारत को हिन्दू राष्ट्र में परिवर्तित करने की माँग या मंशा ने सांप्रदायिकता की भावना को बढ़ावा दिया है | 'हिन्दू राष्ट्र' अवधारणा के जनक वी डी सावरकर रहे हैं , जिसे आगे चलकर एस एस गोलवरकर ने दृढ़ वैचारिक आधार प्रदान किया | इस अवधारणा के तई नस्लगत श्रेष्ठता और विशेषाधिकार तथा आहत , अपमानित राष्ट्रियता की दुहाई देकर इसके लिए दूसरे समुदायों को दोषी बताकर 'हिन्दू राष्ट्र' के लक्ष्य को प्राप्त करने की भरसक कोशिशें की गईं | इसकी प्रस्तावना बहुत कुछ हिटलरी फासीवाद से मिलती जुलती है | आश्चर्य की बात तो यह है कि आज इक्कीसवीं सदी में ज्ञान – विज्ञान , इतिहास , तर्क , बौद्धिकता को दरकिनार कर इस विचारधारा की इतिवृत्तात्मकता का महिमामंडन किया जा रहा है | यद्यपि सांप्रदायिक अंधकार को घनीभूत करने में मुस्लिम तत्ववाद की भूमिका को भी नहीं नकारा जा सकता है तथापि एक खास समुदाय के प्रति भयंकर पूर्वग्रह की भावना लोगों में बड़ी तेजी से घर करती जा रही है | देवी प्रसाद मिश्र की प्रख्यात कविता 'मुसलमान' उन सभी पूर्वग्रहों का तथ्यात्मक निराकरण तो करती ही है साथ ही भारतीय मुसलमानों के इतिहास-भूगोल को तटस्थता से खंगालते हुए उनके सांस्कृतिक अवदान को भी रेखांकित करती है –

"वे न होते तो उपमहाद्वीप के संगीत को सुनने वाला खुसरो न होता
वे न होते तो पूरे देश के गुस्से से बेचैन होने वाला कबीर न होता
वे न होते तो भारतीय उपमहाद्वीप के दुख को कहनेवाला गालिब न होता
मुसलमान न होते तो अट्ठारह सौ संतावन न होता |"[8]

राजनीतिक महत्वकांक्षाओं की पूर्ति के लिए धर्म को इस्तेमाल करने का चलन आज बहुत आम हो चला है | धर्म और राजनीति का घालमेल किसी भी देश की शांति , समृद्धि और प्रगतिशीलता में कितना बड़ा बाधक है इसका श्रेष्ठतम उदाहरण पड़ोसी देश पाकिस्तान है | ध्यातव्य है कि इस मुद्दे पर उसके सबसे बड़े निंदक होने के बावजूद आज हमारा देश भी उसी राह पर बड़ी तेजी से चल निकला है | पाकिस्तान के सादृश्य धर्मांधता एवं तानाशाहियत के जद में जकड़े भारत के परिवर्तित भाव – भंगिमा को चर्चित पाकिस्तानी कवयित्री फहमिदा रियाज़ व्यंगात्मक शैली में उघाड़ कर रख देती हैं –

"तुम बिलकुल हम जैसे निकले
अब तक कहाँ छिपे थे भाई
वो मूरखता , वो घामड़पन
जिसमें हमने सदी गंवाई
अरें भाई बहुत बधाई |"[9]

धर्मोन्माद और सांप्रदायिकता का लाभ आज केवल राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित नहीं रह गया है | औद्योगिक घरानों की साख भी इसकी बदौलत खूब फल – फूल रही है | धर्म , सत्ता , राजनीति कॉर्पोरेटिभ जगत से मिलकर जिस प्रोटोकॉल का निर्माण करते हैं , उसे अनावृत्त करने में समकालीन कविता कोई कोर – कसर नहीं छोड़ती | पंकज चतुर्वेदी के यहाँ अभिव्यक्ति का सामर्थ्य देखते ही बनता है –--

" देश के सबसे बड़े
पूँजीपति की अर्धांगिनी से
हाथ मिलते हुए राष्ट्र नेता
इतने गदगद और उपकृत हैं
गोया वह किसी साम्राज्य की
महारानी है |
उसी समय
शाबाशी या कि अंतरंगता में
राष्ट्र नेता की पीठ पर
पूँजीपति ने अपना हाथ
रखा हुआ है |"[10]

राजनीति का साम्प्रदायीकरण और सांप्रदायिकता का राजनीतिकरण वर्तमान भारत का वास्तविक राजनीतिक परिदृश्य है | इसकी निर्मिति में राजनीतिक चेतना शून्य आपराधिक तत्वों की बड़ी अहम भूमिका रही है | आज राजनीति सेवा न रहकर पेशा बन गई है | सत्ता का कामधेनु रूप सबको लुभा – ललचा रहा है | सत्ता सुख और भोगवाद की प्रचंड मादकता इन आपराधिक राजनीतिज्ञों से क्या कुछ नहीं करवाती | छोटे – बड़े भ्रष्टाचार घोटालों से लेकर हत्या , अपहरण , बलात्कार जैसे जघन्य अपराधों तक में इन्हें विशेष छूट प्रदत्त है | सच में विलक्षण और महान है हमारा भारत देश जहां ऐसे आपराधिक बैक ग्राउंड वाले अपढ़ , अर्धशिक्षित राजनीतिज्ञ भारत भाग्य विधाता बने हुए हैं | सत्ता में बने रहने हेतु चुनाव जीतना इनकी प्राथमिक अनिवार्यता है और सांप्रदायिक हिंसा , दंगे – फसाद इसके सर्वोत्तम विकल्प | चुनावों में शिक्षा , रोजगार , चिकित्सा , सड़क , बिजली , पानी , गरीबी इत्यादि विकास संबंधी मुद्दों को विस्थापित कर उनके स्थान पर धर्म , जाति , मंदिर , मस्जिद जैसे गैर जरूरी मुद्दों को वरीयता दी जा रही है | नब्बे के दशक से ही सियासत और चुनावी दंगल का प्रमुख केंद्र अयोध्या हो गया है | शाब्दिक दृष्टि से देखा जाए तो अयोध्या का अर्थ है जहाँ युद्ध न हो | अयोध्या जो अपनी गरिष्ठ सांस्कृतिक विरासत , शांति , आस्था एवं विश्व वाङ्मय में स्थान पाने वाली मानस की आधार भूमि रही है , वह आज सांप्रदायिक राजनीति का सबसे संवेदनशील हिस्सा बन गई है | लोकमंगल की सतत साधना की पवित्र नगरी आज महज चुनावी एजेंडे में जीवित है | अयोध्या के इस सांस्कृतिक विचलन एवं अर्थ संकुचन पर कुँवर नारायण की 'अयोध्या 1992' की कुछ पंक्तियाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य है –

"इससे बड़ा क्या हो सकता है
हमारा दुर्भाग्य
एक विवादित स्थल में सिमटकर
रह गया है तुम्हारा साम्राज्य
आयोध्या इस समय तुम्हारी अयोध्या नहीं
योद्धाओं की लंका है
'मानस' तुम्हारा चरित नहीं
चुनाव का डंका है |"[11]

सांप्रदायिक हिंसा या दंगे - फसाद के साधारणीकरण की प्रक्रिया मानवीय ट्रेजेडी का एक बिल्कुल ही नया अध्याय है | अब यह न तो हमारे लिए कोई अपवादात्मक स्थिति रह गई है और न ही इसकी व्याप्ति किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित है | 'एक भाई का पत्र' शीर्षक कविता में अहमदाबाद शहर को रूपक बनाकर इसकी सार्वदेशिकता को बखूबी व्यंजित किया गया है–

"जब भी देखता हूँ देश का नक्शा
इस किनारे
उस किनारे
यहाँ , वहाँ
जहाँ , तहाँ
दिखता है बस अहमदाबाद , अहमदाबाद
अहमदाबाद इस देश में अब
महज एक जगह का नाम नहीं है भाई |"[12]

भारत जैसे बहुलतावादी धार्मिक – भाषिक एवं सांस्कृतिक देश में 'सांस्कृतिक राष्ट्रवाद' की अवधारणा को भारतीय मानस में जबर्दस्ती चस्पाँ करने के पीछे सत्ताधारियों के अपने राजनीतिक निहितार्थ हैं | समय – समय पर इन निहितार्थों के क्रियान्वन हेतु उठाए गए निर्णयों ने बहुत व्यापक स्तर पर सामाजिक अव्यवस्था , असुरक्षा , अशांति और भय का संचार किया है | इसका सबसे अद्यतन नमूना NRC , CAB , CAA , NPR आदि – आदि है जिसका पूरा नाम तक बहुत कम लोग जानते हैं या होंगे | ऐसे में इसकी आवश्यक शर्तों की जानकारी कुछ खास वर्ग तक ही सीमित है | देश का वह तबका जो सब भाँति सबल – समर्थ – सक्षम है उसके लिए नागरिकता साबित करना तो क्या खरीदना तक भी चुटकी बजाने जितना सरल है | किन्तु मंहगाई , बेरोजगारी एवं दंगे – फसाद की तरह इस नये प्रपंच के भुक्तभोगी देश में हाशियेकृत जीवन ढो रहे अधिसंख्य जन ही बनेंगे |

अच्छे दिन के इंतजार में अपने समय के सबसे बुरे दिन से गुजरते हुए मानव नियति के प्रति समकालीन कविता में गहरी चिंता है | नागरिकता के बरक्स मनुष्य का इस कदर बेमानी हो जाना कितना विनाशक है असम में हुई भयंकर तबाही इसका ज्वलंत प्रमाण है | राजेश जोशी मानवीय मूल्यों और अधिकारों के उद्गाता कवि हैं | उन्होंने कहा है –-"मार्क्स ने कविता को मनुष्यता की भाषा कहा है | मैं मनुष्यता की इस बोली – बानी के पक्ष में बोलना चाहता हूँ , क्योंकि कविता ही मेरी नागरिकता है |"[13] हाल ही में इंटरनेट पर वायरल उनकी कविता 'नागरिक और सरकार' अपने ही देश में

'पहचान के संकट' की पीड़ा से उपजे दर्द का महाख्यान बन जाती है ---

"मैं कहाँ तलाश करूँ अपनी नागरिकता
मैं इसी देश की मिट्टी में घूमा हूँ नंगे पाँव
पर कहाँ छपे हैं मेरे पाँव के निशान
मुझे याद नहीं
मुझे क्या खबर थी कि भूल जाने की आदत
मेरी ही जमीन पर अनागरिक बना देगी
मुझे एक दिन
ओ हुक्मरानों
मैं स्वर्ग भूल कर ही आया हूँ इस धरती पर
तुम अगर मुझे नागरिक मानने से इंकार करते हो
तो मैं भी इंकार करता हूँ
इंकार करता हूँ तुम्हें सरकार मानने से |"[14]

उल्लेख करना बेहद जरूरी है कि एक बहुलतावादी राष्ट्र के व्यापक परिप्रेक्ष्य में नागरिकता की कोई जातीय पहचान नहीं होती | इसके साथ ही हमें आतंकवाद और सांप्रदायिकता की पहचान को भी जाति से अलग कर देखना होगा | समसामयिक राजनीति के संदर्भ में राष्ट्र एवं सत्ता की इंडीविजुअलिटी का अद्वैतवादी अवधारणा में तब्दील होना लोकतन्त्र की लचरता और विफलता का सर्वप्रमुख कारण है , इसका खंडन भी अति आवश्यक है | भारत की जनवादी धर्मनिरपेक्ष परंपरा को चिरंजीवी बनाए रखने के लिए हमें तानाशाहियत का प्रतिरोध करना ही होगा फिर चाहे वह देश की व्यवस्था में किसी भी रूप में मौजूद हो क्योंकि फासीवादी असहिष्णुता किसी को नहीं बक्शती | प्रसिद्ध जर्मन बुद्धिजीवि पास्तर निमोलर ने लिखा है -

"पहले वे यहूदियों के लिए आये
और मैं नहीं बोला
क्योंकि मैं नहीं था यहूदी |
फिर वे कम्युनिस्टों के लिए आये
तब मैं नहीं बोला
क्योंकि मैं नहीं था कम्युनिस्ट
फिर वे कैथोलिकों के लिए आये
फिर भी मैं नहीं बोला
मैं नहीं था कैथोलिक |
फिर वे मेरे लिए आये
और कोई नहीं था
जो मेरे हक में बोलता |"[15]

निष्कर्ष : अंतोगत्वा समकालीन कविता सांप्रदायिकता के कारक तत्वों की न केवल गहराई से पड़ताल करती है बल्कि उसके विरुद्ध प्रतिपक्ष की रचना भी करती है | सत्ता प्रतिष्ठानों की निर्ममता और आतंक को अपने निशाने पर लेती ये कविताएं हमारे समकालीन क्रूर भयावह यथार्थ की निर्भीक एवं निडर अभिव्यक्ति है | इसमें धर्म , संस्कृति तथा इतिहास के राजनीतिक दुरुपयोग पर भी जमकर नोटिस ली गई है | कहना न होगा कि समकालीन कविता सांप्रदायिक संक्रमण और लोकतंत्र की विरोधाभाषी परिस्थितियों के बीच मानवीय अस्तित्व की बेदखली के विरुद्ध अंतहीन वैचारिक संघर्ष का उद्घोष करती है |

संदर्भ सूची

1. जोशी , राजेश , कवि ने कहा , किताबघर प्रकाशन , नई दिल्ली , प्रथम संस्करण : 2012 , पृ॰ सं॰ – 8
2. भाटिया , जितेंद्र ,धर्मांधता के संधिकाल में (आलेख से) , पहल – 104 , सं॰ – ज्ञानरंजन , राजकुमार केशवानी , जुलाई – 2016 , पृ॰ सं॰ – 107
3. मधुरेश , सांप्रदायिकता और हिन्दी कहानी , सापेक्ष , सं॰ महावीर प्रसाद दुर्ग , जनवरी – जून -1989 , पृ॰ सं॰ -184
4. मिश्र , देवीप्रसाद , भाई मैं भारतीय नागरिक के पात्र की भूमिका से हलकान हूँ , पहल – 115 , सं॰ – ज्ञानरंजन , राजकुमार केशवानी , जनवरी – 2019 , पृ॰ सं॰ – 78
5. आनंद प्रधान , सत्य पर भारी पड़ता झूठ , पहल – 106 , सं॰ – ज्ञानरंजन , राजकुमार केशवानी , जनवरी – 2017 , पृ॰ सं॰ – 66
6. कात्यायनी , कवि ने कहा , गुजरात 2002 , किताबघर प्रकाशन , नई दिल्ली , प्रथम संस्करण : 2012 , पृ॰ सं॰ – 48
7. जैदी, असद , आसान हिंसा , पहल – 106 , सं॰ – ज्ञानरंजन , राजकुमार केशवानी ,जनवरी – 2017 , पृ॰ सं॰ – 87
8. http.//kawitakosh.org/kk/%E0%A4%AE
9. https://sabrangindia.in/ann/tum-bilkul-hum-jaise-nikle-pakistani-poets-message
10. चतुर्वेदी ,पंकज , सपने में एक तस्वीर , पहल – 115 , सं॰ – ज्ञानरंजन , राजकुमार केशवानी , जनवरी – 2019 , पृ॰ सं॰ – 93
11. नारायण , कुँवर , कोई दूसरा नहीं , अयोध्या-1992 , राजकमल प्रकाशन , नई दिल्ली , चौथी आवृत्ति : 2011 , पृ॰ सं॰ – 70
12. श्रीवास्तव ,जितेंद्र , उजास , एक भाई का पत्र , सेतु प्रकाशन , नई दिल्ली , प्रथम संस्करण : 2019 , पृ॰ सं॰ – 220
13. जोशी , राजेश , कवि ने कहा , किताबघर प्रकाशन , नई दिल्ली , प्रथम संस्करण :2012 , पृ॰ सं॰ – 9
14. https://youtu.be/WBPZBLKGyk
15. येचुरी ,सीताराम, घृणा की राजनीति ,वाणी प्रकाशन , आवृत्ति:2010 ,पृ॰ सं॰ – 104

******

महाभारत आधारित भास कृत रूपकों में रस

-डॉ. संजीव कुमार सिंह
असिस्टेंट प्रोफेसर, संस्कृत विभाग
दयाल सिंह सांध्य महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय

शोध सार-

महाकवि भास संस्कृत साहित्य के नाटककारों में अग्रगण्य हैं । महामहोपाध्याय श्री टी. गणपति शास्त्री ने तेरह रूपक प्रकाशित कराये तथा उन्हें भास की रचना बतलाया । महाकवि भास ने अपने प्रायः सभी नाटकों की कथावस्तु रामायण एवं महाभारत से ली हैं, कुछ बृहत्कथा पर आधारित हैं । भास की कृतियाँ वस्तु, नेता तथा रस तीनों दृष्टियों से विलक्षण वैचित्रय से भूषित हैं । महाकवि भास के काव्यत्व के विश्लेषण हेतु उनकी रस योजना को जानना आवश्यक है । भास की सभी कृतियाँ रसनिष्पत्ति की दृष्टि से अनुपम हैं । शृंगार, वीर तथा करुण के अभिव्यंजन में भास सिद्धहस्त हैं और शृंगार के अनुचर हास्य का भी सुन्दर समावेश इनकी विशेषता है । भास कृत 13 रूपकों में 6 रूपक मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग, पञ्चरात्र महाभारत पर आधारित हैं । प्रस्तुत शोध पत्र में महाभारत आधारित भास कृत रूपकों में से तीन रूपकों मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य एवं दूतघटोत्कच में रस-योजना पर प्रकाश डाला जाएगा जिसके माध्यम से भास के काव्यत्व को समझने में सरलता होगी ।

बीज-शब्द- स्थायी भाव, आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, संचारी भाव, आस्वादन, रस, दानवीर, युद्धवीर, वीर रस, करुण रस, रस-निष्पत्ति, रुपक

महाकवि भास संस्कृत साहित्य के प्रख्यात एवं लब्धप्रतिष्ठ कवियों में से हैं । महाकवि भास ने अपने रूपकों में जनसाधारण के मनोभावों, हृदय की वृत्तियों एवं विभिन्न परिस्थितियों में उत्पन्न होने वाले मानसिक विकारों का चित्रण बड़ी कुशलता से संपन्न किया है । किसी भी रूपक का आधार वस्तु, नेता एवं रस होता है। यह तीन ही रूपक के सफलता अथवा असफलता का आधार होती है। रसों की संख्या नौ बताई गई हैं- शृंगार, वीर, करुण, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र और शान्त । भास के रूपकों में इन सभी के उदाहरण प्रायः मिल जाते हैं । महाकवि भास द्वारा रचित 13 रूपकों में 6 रूपक मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग, पञ्चरात्र महाभारत पर आधरित हैं । यहाँ हम महाभारत आधारित भास कृत रूपकों में से तीन रूपकों मध्यमव्यायोग, दूतवाक्य, दूतघटोत्कच में वर्णित रस योजना का अध्ययन करेंगे।

मध्यम व्यायोग-

मध्यम व्यायोग का प्रारम्भ घटोत्कच के रौद्र रूप के वातावरण में होता है। वृद्ध ब्राह्मण केशवदास का परिवार घटोत्कच के भयंकर रूप को देखकर भयभीत हो उठता है। ब्राह्मण परिवार द्वारा वर्णित घटोत्कच के रौद्र रूप में भयानक रस की स्वाभाविक अभिव्यञ्जना हुई है-

तरुणरविकरप्रकीर्णकेशो भ्रकुटिपुटोज्ज्वलपिङ्गलायताक्षः।
सतडिदिव घनः सकण्ठसूत्रो युगनिधने प्रतिमाकृतिर्हरस्य॥ [1]

यहाँ स्थायी भाव 'भय' है। हिंस्र स्वभाव वाला घटोत्कच आलम्बन है। विकृत रूप, भयावह चेष्टाएँ, निर्जनता आदि उद्दीपन हैं। ब्राह्मण परिवार के हाथ-पैर का कांपना, रोमांचित हो जाना, विवर्णता, कण्ठावरोध, भागना, गिड़गिड़ाना अनुभाव हैं। शंका, दैन्य, आवेग, चिन्ता, त्रास, चपलता आदि संचारी भाव हैं। घटोत्कच के भयंकर रूप से भयभीत होकर कुमार पिता से पूछता है-

भोस्तात ! को नु खल्वेषः ।
ग्रहयुगलनिभाक्षः पीनविस्तीर्णवक्षाः
कनककपिलकेशः पीतकौशेयवासाः ।
तिमिरनिवहवर्णः पाण्डरोद्वृत्तदंष्ट्रो
नव इव जलगर्भो लीयमानेन्दुलेखः ॥ [2]

दूसरे ब्राह्मण कुमार को घटोत्कच त्रिपुर दाह के समय शंकर के भयंकर क्रोध के समान प्रतीत होता
है । तीसरे ब्राह्मण कुमार को तो घटोत्कच के रूप में साक्षात् मृत्यु ही दिखलाई पड़ती है वह कहता है-

वज्रपातोऽचलेन्द्राणां श्येनः सर्वपतत्रिणाम् ।
मृगेन्द्रो मृगसंघानां मृत्युः पुरुषविग्रहः ॥ [3]

अनन्तर घटोत्कच से रक्षा प्राप्त करने के लिए ब्राह्मण परिवार पाण्डवों का स्मरण करता है । परन्तु यह ज्ञात कर कि पाण्डव शतकुम्भ यज्ञ में सम्मिलित होने महर्षि धौम्य के आश्रम में गये हैं, वे सब पुनः निराश हो जाते हैं और वृद्ध भयभीत हो कर कहता है- 'ओह! हम मारे गये।' [4] भीम की अनुपस्थिति ब्राह्मण परिवार को पुनः भयभीत कर देती है ।

उपर्युक्त सन्दर्भ में भयानक रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। भय साक्षात् रूप में उपस्थित हो गया है और विभाव, अनुभावादि से परिष्पुट हो कर भय स्थायी भाव ने भयानक रस के आस्वादन में सहायता प्रदान की है।

इस रूपक में रौद्र रस की अभिव्यञ्जना भी सफल रूप से हुई है। जब घटोत्कच ब्राह्मण केशवदास के मुक्त होने की शर्त बतलाता है तो वृद्ध ब्राह्मण क्रोध में काँप उठता है- 'हं भो राक्षसापसद ! किमहमब्राह्मणः?[5] इसी प्रकार ब्राह्मण केशवदास से घटोत्कच द्वारा रोके जाने की बात सुन कर भीम को घटोत्कच पर क्रोध आता है और वे कहते हैं 'एवम् अनेन ब्राह्मणजनस्य मार्गविघ्नः कृतः। भवतु, निग्रहिष्यामि तावदेनम् । भोः पुरुषः ! तिष्ठ तिष्ठ। [6] तदुपरान्त भीम घटोत्कच के प्रति उन्मुख हो कर कहते हैं- 'वृद्धस्य विप्रचन्द्रस्य भवान् राहुरिवोत्थितः।[7] ब्राह्मण कुमार के स्थान पर भीम स्वयं घटोत्कच के साथ जाने के लिए तत्पर होते हैं। उन्हें घटोत्कच के परिचय से ज्ञात होता है कि वह हिडिम्बा से उत्पन्न उन्हीं का पुत्र है। वे उसे क्रुद्ध करने के लिए पूछते है- 'यह भीम नामक व्यक्ति कौन है ? ब्रह्मा, महेश, विष्णु, इन्द्र, कुमार कार्त्तिकेय और यमराज में से वह किसके तुल्य हैं ? घटोत्कच- सभी के समान है। भीम - 'यह असत्य है । [8] भीम का यह कथन घटोत्कच को क्रुद्ध कर देता है, वह क्रोध में भीम को मारने की चेष्टा करता है ।

उपर्युक्त सभी स्थलों में क्रोध स्थायी भाव की अभिव्यञ्जना होने से रौद्र रस पाया जाता है। यहाँ आलम्बन घटोत्कच अथवा भीम है। कटुवचन उद्दीपन है। गर्व, अमर्ष, उग्रता आदि संचारी भाव है।

वीर रस की व्यञ्जना भी समुचित रूप से हुई है। प्रधानतः युद्धवीर ही व्यञ्जित हुआ है। दानवीर का अस्तित्व भी विद्यमान है।

बड़ा भाई घटोत्कच के साथ जाने को तत्पर होता है, पर पिता उसे स्नेह के कारण आज्ञा देने में असमर्थ रहते हैं और सबसे छोटे पुत्र को माँ की ममता अवरुद्ध कर लेती है। मध्यम ब्राह्मण कुमार अपना कर्तव्यपालन करने के लिए सहर्ष तैयार हो जाता है। वह अपनी दानवीरता और उदारता का परिचय देते हुए कहता है-

धन्योऽस्मि यद् गुरु प्राणाः स्वैः प्राणैः परिरक्षिताः ।
बन्धुस्नेहाद्धि महतः कायस्नेहस्तु दुर्लभः ॥[9]

इस सन्दर्भ में दानवीर की पुष्टि होती है।

मध्यम पुत्र के चले जाने पर वृद्ध ब्राह्मण शोक व्याकुल हो विलाप करने लगता है और उसके इस विलाप से सामाजिक भी दुःखी हो जाते हैं। यथा-

हा हा परिमुषिताः स्मो भोः! परिमुषिताः स्मः ।
यस्त्रिश्रृंगो मम त्वासीन्मनोज्ञो वंशपर्वतः।
स मध्यश्रृंगभङ्गेन मनस्तपति मे भृशम् ॥ [10]

'हा पुत्रक ! कथं गत एव'

इस स्थल में करुण रस है। यहाँ वृद्ध के लिए मध्यम कुमार आलम्बन हैं और मृत्यु के मुख में उसका जाना उद्दीपन है। विलाप, मुच्छ्रा, रुदन आदि अनुभाव है। निर्वेद, विवाद, भय, जड़ता आदि संचारी हैं। इन विभाव, अनुभावों से परिपुष्ट हो शोक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हो रही है।

अन्त में अद्भुत रस की व्यञ्जना हर्षोद्रेक के साथ हुई है। भीम को पहचान कर हिडिम्बा घटोत्कच से कहती है—'यह तो तुम्हारे पिता हैं।' घटोत्कच को भी आश्चर्य होता है, साथ ही प्रसन्नता भी। वृद्ध ब्राह्मण को भी आश्चर्य मिश्रित हर्ष होता है।

इस प्रकार रूपक के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इसमें एक रस की प्रधानता नहीं है। भयानक, वीर, अद्भुत, करुण और रौद्र रसों की अभिव्यक्ति समान रूप से हुई है।

दूतवाक्यम्

प्रकृत रूपक का मुख्य रस रौद्र है। दुर्योधन अपने शत्रु पाण्डवों के दूत बन कर आये भगवान् कृष्ण के प्रति मात्सर्य भाव से युक्त है। दुर्योधन पाण्डवों का सन्देश सुन कर क्रुद्ध हो जाता है, क्षोभ से उन्मत्त हो जाता है। दुर्योधन की जली-कटी और अन्यायपूर्ण बातें सुन कर भगवान कृष्ण भी क्रुद्ध हो उठते हैं और क्रोध में सुदर्शन का आह्वान करते हैं। यह उनके क्रोध की चरम सीमा है। यह स्थिति आदि से अन्त तक चलती है, अतः रूपक का प्रधान रस रौद्र ही है। वीर रस की व्यञ्जना अङ्ग रूप में हुई है।

कञ्चुकी सभा भवन में प्रवेश कर कृष्ण के आने की सूचना देता है- जयतु महाराजः। एष खलु पाण्डवस्कन्धावाराद् दौत्येनागतः पुरुषोत्तमो नारायणः। [11] कृष्ण के प्रति ऐसे आदरसूचक शब्दों का प्रयोग ही दुर्योधन को क्रुद्ध कर देता है। वह कहता है- 'क्या कंस का सेवक दामोदर ही तुम्हारा पुरुषोत्तम है? जरासन्ध के द्वारा जिसकी कीर्ति नष्ट कर दी गयी है, वही तुम्हारा पुरुषोत्तम है ? क्या महाराजाओं के दरबार में रहने वाले सेवकों का भी ऐसा आचरण हो सकता है? यह वाणी तो बड़ी गर्वीली है। यहाँ से दूर हटो। [12]

इस गद्यांश से ही रौद्र रस का संचार हुआ है।

द्रौपदी चीर हरण के चित्र में चित्रित भीम, नकुल और सहदेव के वर्णन में पुनः रौद्र रस दीप्त होता है। यथा-

'इसकी आँखें क्रोध से विस्फारित हो गई हैं। अधरोष्ठ भी फड़क रहे है। यह उस शत्रु समूह को तृण के समान मान कर समस्त भूपाल मण्डल को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिए ही मानों अपने धनुष की प्रत्यञ्चा को कान तक खिंच रहा है। [13] भीम की आँखों का विस्फारित होना, अधरोष्ठ का फड़कना, नकुल सहदेव के मुखों का आरक्त होना, दाँतों से होठों का दबाना, ये सब क्रोध के परिणाम है। अतएव रौद्र रस का समावेश हुआ है।

दुर्योधन जब पाण्डवों की बात नहीं मानता तब कृष्ण उसे समझाने की चेष्टा करते हैं। कृष्ण की उचित सलाह का दुर्योधन पर विपरीत प्रभाव पड़ता है और कृष्ण को ही अपमानपूर्ण शब्द कहने लगता है तथा अत्यन्त कटूक्तियों का प्रयोग करता है जिससे भगवान् क्रुद्ध हो कर अत्यन्त कठोर वचनों का प्रयोग करते हैं । भगवान् श्री कृष्ण द्वारा अपना विश्वरूप दिखलाने पर भी दुर्योधन की आँखें नहीं खुलती। दुर्योधन अपना पराजय स्वीकार नहीं करता है। इन सभी सन्दर्भों में क्षोभ, क्रोध और ईर्ष्या का वातावरण समाहित रहने से रौद्र रस की अभिव्यक्ति हो रही है।

भगवान् कृष्ण सुदर्शन चक्र का आह्वान करते हुए दुर्योधन से कहते है अब तुम यदि क्षीर समुद्र में या पर्वत की कन्दराओं में अथवा ग्रह-नक्षत्रों से युक्त अन्तरिक्ष में वायु मार्ग से जाओ, तुम्हारे लिए मेरी बाहु शक्ति से संचालित अत्यन्त गतिमान सुदर्शन चक्र कालचक ही सिद्ध होगा।" [14]

इस स्थल में भी रौद्र रस का ही संचार हो रहा है। यतः क्रोध स्थायी भाव की सम्पुष्टि विद्यमान है।

रौद्र रस के सहायक के रूप में इस रूपक के कई सन्दर्भों में वीर रस भी व्यञ्जित हुआ है। भगवान् कृष्ण पाण्डवों के दूत बन कर दुर्योधन की सभा में कञ्चुकी के साथ जाने के लिए तत्पर होते हैं। इसी समय वे भीम और अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा करते हैं। [15]

दुर्योधन को समझाना व्यर्थ जान कर उसे रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते हुए श्रीकृष्ण अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा करते हैं । इस सन्दर्भ में भी बीर रस का परिपाक हुआ है।

'किरातवेषधारी भगवान् शंकर से युद्ध कर के उन्हें सन्तुष्ट कर दिया, खाण्डव वन में अग्नि लगने पर वाणों की वर्षा कर के उसे ढँक दिया तथा इन्द्र को कष्ट देने वाले निवात-कवच को क्रीड़ा करते हुए मार डाला और उसी अकेले अर्जुन से विराटनगर में भीष्म पितामह आदि भी पराजित हुए।" [16]

जब कृष्ण सुदर्शन चक्र को बुलाते हैं और वह आकर अपनी शक्ति का वर्णन करता है, उस सन्दर्भ में भी वीर रस की सफल व्यंजना हुई है। [17]

जब श्रीकृष्ण द्वारा सभा में प्रवेश किये जाने पर आसनस्थ दुर्योधन का अचानक आसन से गिर जाना हास्य रस का सुन्दर निर्दशन है। श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र तथा अन्य अस्त्र शस्त्रों की मूर्तरूप में अवधारणा में अदभुत रस है। इसी प्रकार दुर्योधन तथा अन्य राजाओं द्वारा श्रीकृष्ण को बाँधने के लिए उद्यत होने पर श्रीकृष्ण का इन्द्रजाल भी अद्भुत रस का सञ्चार करता है।

इस प्रकार 56 श्लोकों के इस रूपक में इतने अधिक रसों की निष्पत्ति कर पाना निस्सन्देह प्रशंसनीय है।

दूतघटोत्कच

प्रकृत रूपक का मुख्य रस करुण है। रूपक का प्रारम्भ शोक एवं विषाद से युक्त

वातावरण में होता है, यह वातावरण अन्त तक बना रहता है। करुण रस की व्यञ्जना अभिमन्यु के वध की सूचना प्राप्त धृतराष्ट्र, गान्धारी और पुत्री दुश्शला के वार्तालाप से होती है।

गान्धारी को एक ओर अभिमन्यु के वध से दुःख हो रहा है, और दूसरी ओर इस वध के परिणाम स्वरूप जो भयंकर युद्ध होगा, जिससे दोनों कुलों का नाश सम्भव है, विचार कर वह व्याकुल हो जाती हैं। नाटककार भास ने इस स्थल पर गान्धारी के शोकाभिभूत हृदय का चित्रण कर करुण रस को मूर्तिमत्ता प्रदान की है। वह कहती हैं-

हाय वत्स अभिमन्यु ! हमारे भाग्य दोष के कारण, हो रहे नरसंहारक कुल-विग्रह में तुम बाल-भाव के कारण प्रवेश कर, हे प्रिय पौत्र! अब कहाँ चले गए ? [18]

दुश्शला भी अभिमन्यु के वध से दुःखी हो कर कहती हैं- 'जिसने इस समय वधू उत्तरा को विधवापन दिया है, उसने अपने पक्ष की युवतियों को भी विधवा बना दिया है।' [19]

धृतराष्ट्र, गान्धारी और दुश्शला के बार्तालाप में शोक स्थायी भाव की अभिव्यक्ति हुई है। अतः इस सन्दर्भ में करुण रस है।

दुश्शला की करुण स्थिति का नाटककार भास ने बहुत ही सुन्दर चित्रण किया है। धृतराष्ट्र उसे सान्त्वना देना चाहते हैं पर वे स्वयं अधीर हो कर कहते हैं- हन्त जयद्रथो निहतः। [20] पिता धृतराष्ट्र की इस बात को सुनकर दुश्शला का शोक आँसुओं में बदल जाता है। उसका रुदन सुन कर धृतराष्ट्र उसे समझाते हुए कहते हैं- 'पुत्री मत रो। तुम्हारे पति का सौभाग्य अवश्य ही अरुचिकर है, जिसने कि स्वयं अपने को अर्जुन के बाणों का लक्ष्य बनाया। [21] धृतराष्ट्र के इस कथन को सुन कर दुश्शला अत्यन्त दुःखो हो कर कहने लगी- 'अतएव मुझे आप आज्ञा दें। मैं भी अपनी वधू उत्तरा के साथ जौहर दिखलाने के लिए जाऊँ। [22] दुःख का अत्यन्त मार्मिक रूप यहाँ प्रकट हुआ है। पुत्री के दुःख को सुन कर स्तब्ध पिता और भी स्तब्ध रह जाते हैं। दुःखी दुश्शला के वचन उसके हृदय की पीड़ा का सही अनुभव करा रहे हैं। यहाँ करुण रस की अभिव्यञ्जना इतनी अधिक स्पष्ट है कि पिता, पुत्री और माता, तीनों ही दुःख विभोर हैं।

पुत्रों के प्रति निराश एवं असमर्थ धृतराष्ट्र का कथन पिता के हृदय के भावों की भली प्रकार अभिव्यक्ति कर रहा है। घुतराष्ट्र गान्धारी से कहते हैं - 'आज ही हम अपने अपराध से मृत्यु को प्राप्त होने वाले तुम्हारे पुत्रों को जलाञ्जलि दे दें। हम इस जलाञ्जलि दान के द्वारा राजाओं के शिविर को युद्ध करने से रोक नहीं सकते हैं।" [23]

दुर्योधन, दुःशासन और शकुनि ये तीनों घृतराष्ट्र को आ कर प्रणाम करते हैं। परन्तु दुःखी धृतराष्ट्र उन्हें आशीर्वाद देने में असमर्थ है। उन्हें चुप देख कर सब एक साथ कहते हैं- 'आप क्यों आशीर्वाद नहीं दे रहे हैं? धृतराष्ट्र- 'पुत्र कैसे आशीर्वाद दू? अर्जुन और कृष्ण के हृदय रूप सुभद्रा के पुत्र अभिमन्यु का वध होने पर आप लोग जीवन से पराङ्मुख हो गये हैं। कैसे आशीर्वाद दूँ ?' [24] पिता की बात सुन कर दुर्योधन कहता है-'तात, यह विक्षोभ कैसे हो गया? [25]' पुत्र का यह कथन धृतराष्ट्र दुःख को और अधिक तीव्र कर देता है और उन्हें अपनी पुत्री का वैधव्य साकार होने लगता है। उनके मुख से अचानक निकलता है - 'अनेक पुत्रों वाले इस कुल में सौ पुत्रों ने भी अधिक प्यारी एक कन्या है और वह तुम भाइयों की कृपा से निन्दनीय वैधव्य को प्राप्त करेगी। [26] जब धृतराष्ट्र को ज्ञात होता है कि अकेले जयद्रय ने नहीं बल्कि अनेक राजाओं ने मिल कर अभिमन्यु को मारा है तब तो उन्हें और अधिक दुःख होता है। और इसी दुःख के आवेग में वे पुत्रों की भर्त्सना करते हुए कहते हैं- भोः ! कष्टम्।

बहूनां समवेतानामेकस्मिन्निर्घृणात्मनाम्।
बाले पुत्रे प्रहरतां कथं न पतिता भुजाः ॥ [27]

कृष्ण का सन्देश ले कर आये हुए घटोत्कच कहता है - 'पितामह ! सुनिये हाथ पुत्र अभिमन्यु ! हाय पुत्र कुरुकुल के दीपक ! हाय पुत्र यदुकुल के अंकुर तुम अपनी मां और मामा, मुझ छोड़ कर पितामह के दर्शन की आशा से स्वर्गलोक को चले गये। हे पितामह! एक पुत्र के विनाश से अर्जुन की यह अवस्था हुई है, फिर आपकी अवस्था क्या होगी। तो शीघ्र ही अपने पक्ष की सम्पूर्ण सेना को लौटा लें, जिससे अपने पुत्र शोक से उठी हुई अग्नि में हवि की भाँति आपके ही शरीर एवं प्राण न जल जाए।' [28] घटोत्कच को देख कर धृतराष्ट्र का दुःख उमड़ पड़ता है। धृतराष्ट्र कहते हैं- मैं तो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि गाण्डीवधारी अर्जुन समस्त क्षत्रियों के विनाश में नियुक्त कर दिया गया है। [29] स्पष्ट है कि धृतराष्ट्र और घटोत्कच के उक्त कथन में करुण रस का पूर्ण समावेश हुआ है और शोक स्थायी भाव की अभिव्यञ्जना हुई है।

इस रूपक में वीर रस की व्यञ्जना भी अभिमन्यु और अर्जुन के पराक्रम के वर्णन में घटित हुई है। अभिमन्यु के वध की सूचना धृतराष्ट्र को देते समय भट उसके पराक्रम का सुन्दर चित्रण करता है और कहता है- 'युद्ध-क्षेत्रों में राजाओं को हाथी, रथ, घोड़े आदि की सेना को वध से व्याकुल कर अभिमन्यु ने कौतुकमात्र से अपने पिता अर्जुन के समान पराक्रम प्रदर्शित किया। सुभद्रा का पुत्र युद्ध में चारों ओर से वेगपूर्वक आये हुए सैकड़ों नृपों के द्वारा सहसा ही स्वर्ग में अपने पितामह इन्द्र की गोद में बैठा दिया गया। [30] इसी प्रकार इस रूपक में अर्जुन के पराक्रम का वर्णन भी आया है और वहाँ भी वीर रस की अभिव्यञ्जना हुई है। [31]

घटोत्कच के साथ हुए शकुनि, दुर्योधन और दुश्शासन के वार्तालाप में रौद्र रस का परिपाक हुआ है। क्रोध ने सभी को वशीभूत कर रखा है। घटोत्कच कहता है कि अर्जुन क्षण भर में ही समस्त क्षत्रियों को नष्ट कर देगा। घटोत्कच की इस बात का शकुनि मजाक उड़ाता है, फलस्वरूप पहले से ही क्रुद्ध घटोत्कच और भी अधिक क्रुद्ध हो जाता है। वह शकुनि को ललकारते हुए कहता है-

"जुए के पाशों को छोड़ दो और अपने क्रीड़ा-फलक को युद्धकर्म के योग्य और बाणों के अनुरूप बना लो। यहाँ कहीं स्त्री का अपहरण या राज्य का धोखे से अपहरण करना नहीं है, यहाँ तो अति तीखे बाण और प्राण ही कीड़ा-पाश हैं।" [32]

दुर्योधन घटोत्कच की इस वाणी को सुन कर क्रुद्ध होता है और कहता है - 'शान्त हो जाओ।'

दूत के नियमों का उल्लंघन कर के परुष वचन बोलते हो और हम सब की निन्दा करते हो। तुम दीर्घबाहु, वाद विवाद करते समय कुछ भी विचार नहीं करते। यदि तुम्हें अपनी माता के द्वारा प्राप्त विकराल रूप पर गर्व है तो हम सब भी राक्षसों के समान विकट स्वभाव वाले हैं। [33]

घटोत्कच दुर्योधन के उक्त वार्तालाप को सुन कर क्रोधित हो जाता है और कहता है—पाप शान्त हो ! आप लोग तो राक्षसों से भी अधिक कठोर स्वभाव के हैं, क्योंकि

'निशाचर भी लाक्षागृह में सोये हुए भाइयों को नहीं जलायेंगे। निशाचर भाभी के सिर पर हाथ नहीं लगाते हैं। निशाचरों ने कभी भी युद्ध भूमि में अपने पुत्र का

वध नहीं किया है। यद्यपि राक्षसों का रूप विकराल होता है, उनके स्वभाव में परुषता होती है, फिर भी वे कौरवों के समान निर्दय और क्रूर नहीं होते। आप लोगों के समक्ष तो राक्षसों के कृत्य भी तुच्छ हैं।[34]

घटोत्कच, दुर्योधन और दुशशासन के उक्त वार्तालाप में रौद्र रस का परिपाक हुआ है। यतः क्रोधस्थायी भाव की अभिव्यञ्जना पायी जाती है।

दुर्योधन घटोत्कच से कहता है—'यह दूत है, अतः अपना सन्देश दे कर चला जाय। दूत को हम लोग मारने वाले नहीं हैं।[35] दुर्योधन का यह कथन घटोत्कच की क्रोधाग्नि को और अधिक भड़का देता है, वह दूत होने से इनकार कर देता है और युद्ध करने के लिए तत्पर हो जाता है। इस सन्दर्भ में भी रौद्र रस की योजना पायी जाती है।

इस प्रकार मध्यमव्यायोग में संक्षिप्त एक कथानक के द्वारा अपने परिवार की रक्षा के लिए मध्यम पुत्र का आत्मत्याग, राक्षस तक के हृदय में मातृभक्ति की सर्वोच्च प्रतिष्ठा और साथ ही पाण्डव भीमसेन की शरणागत की रक्षा करने का महान् आदर्श इसमें नाट्यकार ने प्रतिपादित किया है। भीम, घटोत्कच से संबद्ध हो जाने से यह रूपक बीर रस से ओत प्रोत है और सारी स्थिति ब्राह्मण परिवार की करुण दशा के कारण पूर्णतया सहृदयावर्जक बन गई है। दूतवाक्य नामक रूपक रौद्र एवं वीर रस से अनुप्राणित वचनों से व्याप्त है। श्रीकृष्ण द्वारा अपने अस्त्रों का एकाएक आह्वान करना और उनके विराट रूप प्रदर्शन में अद्भुत रस का पुट दिया गया है। हास्य रस का प्रयोग भी दर्शनीय है। इस प्रकार 56 श्लोकों के इस रूपक में इतने अधिक रसों की निष्पत्ति कर पाना निस्सन्देह प्रशंसनीय है। दूतघटोत्कच रूपक का मुख्य रस करुण है। रूपक का प्रारम्भ शोक एवं विषाद से युक्त वातावरण में होता है। इस रूपक में वीर रस की व्यञ्जना भी अभिमन्यु और अर्जुन के पराक्रम के वर्णन में घटित हुई है। साथ ही घटोत्कच के वचनों में रौद्र रस की योजना भी पायी जाती है। इस प्रकार उपर्युक्त रूपकों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि महाकवि भास रस-प्रयोग में अत्यन्त प्रवीन हैं तथा अनेकानेक रसों की निष्पत्ति उन्होंने अपने रूपकों में प्रदर्शित की है।

सन्दर्भ

1. भासनाटकचक्र, द्वितीय भाग, मध्यमव्यायोग, 1/4
2. वही, 1/5
3. वही, 1/7
4. वही, पृष्ठ -18
5. वही, पृष्ठ – 20
6. वही, पृष्ठ – 44
7. वही, पृष्ठ – 44
8. वही, पृष्ठ – 55
9. वही, 1/20
10. वही, 1/23
11. भासनाटकचक्र, द्वितीय भाग, दूतवाक्य, पृष्ठ-11
12. वही, पृष्ठ-12
13. वही, 1/9
14. वही, 1/45
15. वही, 1/25
16. वही, 1/32
17. वही, 1/44
18. भासनाटकचक्र, द्वितीय भाग, दूतघटोत्कच, पृष्ठ-9
19. वही, पृष्ठ-10
20. वही, पृष्ठ-11
21. वही, 1/7
22. वही, पृष्ठ-12
23. वही, 1/10
24. वही, 1/15
25. वही, पृष्ठ-22
26. वही, 1/16
27. वही, 1/17
28. वही, पृष्ठ -40
29. वही, 1/37
30. वही, 1/ 3
31. वही, 1/ 5
32. वही, 1/45
33. वही, 1/46
34. वही, 1/47
35. वही, 1/48

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भास, भासनाटकचक्रम्, समादक, सुधाकर मालवीय, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 2017
2. भास, भासनाटकचक्रम्, व्याख्याकार, श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 2017
3. भास, दूतवाक्यम्, व्याख्याकार, पुष्पा गुप्ता, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2017
4. भास, मध्यमव्यायोग, व्याख्याकार, कपिलदेव गिरि, चौखम्बा पब्लिशर्स, वाराणसी, 2005
5. भास, कर्णभारम्, व्याख्याकार, राकेश कुमार जैन, हंसा प्रकाशन, जयपुर, 2014
6. भास, अभिषेकनाटकम्, व्याख्याकार, गंगा सागर राय, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1988
7. शर्मा, उमाशंकर, संस्कृत साहित्य का इतिहास, चौखम्बा भारती अकादमी, वाराणसी, 2012
8. पुष्पा, गुप्ता, संस्कृत साहित्य का बृहत् इतिहास, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 2011
9. त्रिपाठी, राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2008
10. त्रिपाठी, राधावल्लभ, संस्कृत साहित्य का समग्र इतिहास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 2020
11. राघवन, वी, रसों की संख्या, हिंदी रूपान्तर, राजेन्द्र मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2007

******

महाकाव्य महाभारत में नैतिक दुविधाओं का दार्शनिक अन्वेषण

-Dr. Priyanka Mishra
Assistant Professor
Department of Philosophy and Religion
Faculty of Arts, B.H.U.
Email: priyankamishra@bhu.ac.in

महाकाव्य महाभारत भारतीय संस्कृति और दार्शनिक परंपरा का एक महत्वपूर्ण स्तंभ है, जिसमें मानव जीवन के विभिन्न पहलुओं को गहराई से दर्शाया गया है। इस ग्रंथ में नैतिकता और धर्म के सवालों पर एक गहन दार्शनिक अन्वेषण मिलता है। महाभारत की घटनाएं और पात्र नैतिक दुविधाओं से ग्रस्त हैं, जो हमारे समक्ष जटिल जीवन स्थितियों में सही और गलत के बीच चुनाव की चुनौती प्रस्तुत करती हैं। डॉ.प्रियंका मिश्रा

महाभारत के प्रमुख पात्र, जैसे अर्जुन, युधिष्ठिर, भीष्म और कर्ण, सभी किसी न किसी नैतिक दुविधा का सामना करते हैं। उदाहरण के लिए, अर्जुन की दुविधा उस समय उत्पन्न होती है जब वह कुरुक्षेत्र के युद्ध में अपने ही रिश्तेदारों और गुरु के खिलाफ युद्ध करने को तैयार नहीं होता। इस स्थिति में वह गहन आत्ममंथन करता है और अंततः भगवान श्रीकृष्ण से गीता के माध्यम से मार्गदर्शन प्राप्त करता है। यहाँ पर नैतिकता, कर्तव्य और व्यक्तिगत इच्छाओं के बीच संतुलन खोजने का प्रयास होता है।

The ethical landscape of the Mahabharata is characterized by shades of gray, where the righteous path is seldom clear. This ambiguity in moral decision-making is central to understanding the epic's enduring relevance.[1]

महाभारत एक ऐसा महाकाव्य है जिसमे धर्म, कर्म, ज्ञान, कर्तव्य, न्याय और निष्ठा से संबंधित कई ऐसी नैतिक दुविधाएँ हैं जो दार्शनिक चिंतन का विषय है । महाभारत की कहानी दर्शाती है कि कैसे व्यक्तियों के व्यक्तिगत और नैतिक मूल्यों का परीक्षण किया जा सकता है और ऐसी स्थितियों में उनकी पसंद का उन पर और उनके आसपास के समाज पर क्या प्रभाव पड़ सकता है। महाभारत आने वाली पीढ़ियों के लिए दार्शनिक चिंतन, नैतिक मार्गदर्शन और सांस्कृतिक विरासत का एक समृद्ध स्रोत बना हुआ है। महाभारत में सबसे प्रसिद्ध नैतिक दुविधाओं में से एक युद्ध की पूर्व संध्या पर योद्धा अर्जुन द्वारा सामना किया गया विकल्प है। अर्जुन विकल्पों के बीच की दुविधा में युद्धभूमि में खड़ा है । उसको चुनाव करना है ।

"न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।"
"किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।"[4]
(भगवद्गीता 1.32)

अर्थ: "हे कृष्ण! न मुझे विजय की आकांक्षा है, न राज्य और सुख की। हे गोविन्द! हमें राज्य, भोग, या जीवन से भी क्या लाभ होगा?"

अर्जुन, एक पांडव राजकुमार, युद्ध के मैदान में अपने चचेरे भाइयों, कौरवों का सामना कर रहा है, जिनसे वह लड़ने आया है। हालाँकि, वह अचानक एक योद्धा के रूप में अपने कर्तव्य और विरोधी पक्ष के अपने परिवार के सदस्यों के प्रति अपने प्यार के बारे में असहज महसूस कर रहा है। उनका तर्क है कि लड़ाई में उनके रिश्तेदारों सहित कई मौतें होंगी, और राज्य और संपत्ति की खातिर अपने रिश्तेदारों को मारने में खुद को असहज पाता है और विरत हो कर कृष्ण से प्रश्न करता है। अर्जुन की दुविधा एक सामान्य मानवीय संघर्ष को दर्शाती है, जहाँ व्यक्ति को अपने कर्तव्यों और मानवीय संवेदनाओं के बीच संघर्ष करना पड़ता है। वह अपने सारथी, कृष्ण के सामने अपने संदेह और नैतिक चिंताओं को व्यक्त करता है, जहा उसे श्रीकृष्ण भगवद गीता की शिक्षा देता है, और उसकी दुविधा को हल करने में मदद करने के लिए धर्म, कर्म और मोक्ष जैसी विभिन्न अवधारणाओं के बारे में विस्तार से चर्चा करते हैं।

अर्जुन के सामने आने वाली दुविधा उन नैतिक चुनौतियों और संघर्षों को दर्शाती है जो उन स्थितियों में उत्पन्न हो सकती हैं जहां परिवार, दोस्तों और समाज के प्रति व्यक्तिगत वफादारी और कर्तव्य व्यापक नैतिक सिद्धांतों के विपरीत हो सकते हैं। पात्रों की नैतिक दुविधाएँ उनके परस्पर विरोधी कर्तव्यों, निष्ठाओं और इच्छाओं से उत्पन्न होती हैं। महाभारत की सबसे प्रसिद्ध नैतिक

दुविधाओं में से एक कुरुक्षेत्र युद्ध है, जो पांडवों और कौरवों के बीच लड़ा गया था। पांडव सिंहासन के असली उत्तराधिकारी हैं, लेकिन कौरवों ने सत्ता छोड़ने से इनकार कर दिया। परिणामस्वरूप, पांडवों को अपने परिवार के सदस्यों के खिलाफ युद्ध छेड़ने के लिए मजबूर होना पड़ता है।

कुरुक्षेत्र युद्ध की नैतिक दुविधा विशेष रूप से मार्मिक है क्योंकि यह न्याय और धार्मिकता को बनाए रखने के कर्तव्य के विरुद्ध पारिवारिक निष्ठा को खड़ा करती है। पात्र अपने रिश्तेदारों के प्रति अपने प्यार और व्यापक भलाई के लिए जो उपयुक्त है उसे करने के दायित्व के बीच फंसे हुए हैं। इस संघर्ष का उदाहरण पांडवों में से एक अर्जुन के स्वभाव से मिलता है, जो अपने परिवार के सदस्यों के खिलाफ लड़ने से झिझकता है और भगवान कृष्ण से मार्गदर्शन चाहता है। महाभारत में अन्य नैतिक दुविधाओं में यह प्रश्न शामिल है कि क्या किसी वादे को तोड़ना या अधिक लाभ प्राप्त करने के लिए झूठ बोलना उचित है, यह मुद्दा कि क्या किसी ऐसे व्यक्ति को दंडित करना सही है जिसने अपराध किया है लेकिन पश्चाताप किया है और सुधार किया है, और नैतिक आचरण के साथ व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा को संतुलित करने की चुनौती।

Krishna's discourse to Arjuna in the Bhagavad Gita, particularly regarding karma, explores the deepest moral quandaries of human existence. Krishna urges Arjuna to act, but without attachment, thus resolving the ethical tension between duty and desire.[III]

महाभारत में केंद्रीय दार्शनिक मुद्दों में से एक धर्म की अवधारणा है, जिसका मोटे तौर पर कर्तव्य या धार्मिकता के रूप में अनुवाद किया जा सकता है। महाभारत के पात्र लगातार अपने व्यक्तिगत और सामाजिक कर्तव्यों और दायित्वों से संबंधित सवालों से जूझते रहते हैं। धर्म की प्रकृति और कर्म (कारण और प्रभाव का नियम) और मोक्ष (मुक्ति) से इसके संबंध के बारे में सवाल उठाता है। महाभारत में खोजा गया एक और दार्शनिक मुद्दा वास्तविकता की प्रकृति है। वास्तविकता का एक जटिल और बहुआयामी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसमें अस्तित्व के कई स्तर और स्वयं की प्रकृति पर विभिन्न दृष्टिकोण शामिल हैं।

महाभारत पाठक को वास्तविकता के विभिन्न स्तरों की संभावना और दुनिया की हमारी समझ को आकार देने में धारणा की भूमिका पर विचार करने की चुनौती देता है। धर्म के महत्व पर युधिष्ठिर का कथन:

"धर्मेण हीना: पशुभि: समाना:।[V]

(महाभारत, वन पर्व 313.117)

अर्थ: "जो धर्म से रहित हैं, वे पशुओं के समान हैं"

महाभारत स्वतंत्र इच्छा बनाम नियतिवाद के प्रश्न की भी पड़ताल करता है। पात्रों को अक्सर ऐसी स्थितियों का सामना करना पड़ता है जिसमें उनके कार्य भाग्य या कर्म द्वारा पूर्व निर्धारित लगते हैं। साथ ही, ऐसे पात्रों को प्रस्तुत करता है जो अपनी स्वतंत्र इच्छा का प्रयोग करते हैं और ऐसे विकल्प चुनते हैं जिनके महत्वपूर्ण परिणाम होते हैं। महाभारत मानव एजेंसी की प्रकृति और हमारे जीवन को नियंत्रित करने की हमारी क्षमता की सीमाओं के बारे में सवाल उठाता है।

महाभारत व्यक्ति और समाज के बीच संबंधों पर सवाल उठाता है। सामाजिक मानदंडों और दायित्वों का एक जटिल दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिसमें पात्र समाज में उनकी भूमिका और दूसरों के प्रति उनकी जिम्मेदारियों के बारे में सवालों से जूझते हैं। महाभारत मनुष्य को व्यक्तिगत स्वायत्तता और सामाजिक दायित्व के बीच तनाव पर विचार करने की चुनौती देता है। महाभारत दार्शनिक मुद्दों की एक समृद्ध और जटिल खोज प्रस्तुत करता है जो समकालीन दार्शनिक प्रवचन के लिए प्रासंगिक है। मनुष्य को नैतिकता, वास्तविकता, स्वतंत्र इच्छा और समाज की प्रकृति के बारे में बुनियादी सवालों पर विचार करने के लिए चुनौती देता है, और हमें हमारे अस्तित्व की प्रकृति और हमारे द्वारा चुने गए विकल्पों के बारे में गहराई से सोचने के लिए प्रोत्साहित करता है।

The Mahabharata presents Arjuna's moral dilemma in a profound way, as it is not just about war and violence but about the nature of duty, moral responsibility, and the human struggle to reconcile personal desires with societal obligations.[V]

महाभारत में एक और महत्वपूर्ण दार्शनिक मुद्दा वास्तविकता और स्वयं की प्रकृति है। चेतना की प्रकृति, स्वयं और शरीर के बीच संबंध और अस्तित्व की प्रकृति का पता लगाता है। महाभारत वास्तविकता का एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जहां अस्तित्व के भौतिक और आध्यात्मिक आयाम आपस में जुड़े हुए हैं। उन पात्रों के चित्रण के माध्यम से जो आत्म-प्राप्ति और अतिक्रमण को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, मानव अनुभव की प्रकृति और जीवन के अंतिम उद्देश्य के बारे में सवाल उठाता है।

महाभारत में ज्ञान की प्रकृति और इसे प्राप्त करने के तरीकों के

बारे में बहस भी शामिल है। कई ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जिनमें कारण, रहस्योद्घाटन और अंतर्ज्ञान शामिल हैं। महाभारत के पात्र ज्ञान प्राप्त करने के विभिन्न तरीकों का इस्तेमाल करते हैं, और प्रत्येक दृष्टिकोण के सापेक्ष गुणों के बारे में सवाल उठाता है। विभिन्न ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण वाले पात्रों के बीच बहस के चित्रण के माध्यम से, महाभारत मनुष्यों को ज्ञान की प्रकृति और इसे कैसे प्राप्त किया जाता है, इसके बारे में अपनी धारणाओं की आलोचनात्मक जांच करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

The greatness of the Mahabharata lies in its refusal to simplify the moral dilemmas its characters face. There are no absolute heroes or villains; instead, each character struggles with complex ethical choices, reflecting the nuances of real human life.[VI]

महाभारत सत्ता की प्रकृति और नैतिकता से उसके संबंध के बारे में प्रश्न उठाता है। सत्ता के दुरुपयोग के परिणामों को चित्रित करता है, और उन नैतिक चुनौतियों की पड़ताल करता है जो तब उत्पन्न होती हैं जब व्यक्तियों को अधिकार के पदों पर रखा जाता है। सत्ता के भ्रष्ट प्रभाव से जूझने वाले पात्रों के चित्रण के माध्यम से, महाभारत अनियंत्रित महत्वाकांक्षा के खतरों के बारे में एक सतर्क पाठ प्रदान करता है। महाभारत एक जटिल और बहुआयामी ज्ञान का विशाल सागर है जो कई दार्शनिक मुद्दों को समझने और सुलझाने में दार्शनिकों का मार्गदर्शन करता है। नैतिक दुविधाओं का सामना करने वाले, अस्तित्व संबंधी प्रश्नों से जूझने वाले और ज्ञान और शक्ति की प्रकृति के बारे में बहस में शामिल होने वाले पात्रों के चित्रण के माध्यम से, महाभारत दार्शनिक प्रतिबिंब और जांच के लिए एक समृद्ध संसाधन प्रदान करता है।

महाभारत में अर्जुन की चिंता (एंग्जायटी) एक महत्वपूर्ण विषय है। अर्जुन के संदेह और भय केवल कुरुक्षेत्र युद्ध के बारे में नहीं हैं, बल्कि जीवन और मृत्यु की प्रकृति के बारे में भी हैं। महाभारत के एक खंड, भगवद गीता में, अर्जुन भगवान कृष्ण से मार्गदर्शन चाहते हैं, जो उन्हें योग का ज्ञान प्रदान करते हैं। योग की शिक्षाओं के माध्यम से, अर्जुन को स्पष्टता और शांति की भावना प्राप्त होती है, जिससे वह अपनी चिंता पर काबू पा सकता है और अपना कर्तव्य पूरा कर सकता है। महाभारत में एक और दुविधा पांडवों की पत्नी द्रौपदी की दुविधा (डिलेमा) है। द्रौपदी को पाँच भाइयों से विवाह करने के लिए करने के लिए कहा जाता है, जिससे उसकी व्यक्तिगत इच्छाओं और सामाजिक मानदंडों के बीच संघर्ष की भावना पैदा होती है। द्रौपदी की दुविधा भारतीय समाज की पितृसत्तात्मक प्रकृति और महिलाओं पर इम्पोज़ कर देने वाली दुविधाओं को भी उजागर करती है।

महाभारत उन पात्रों की चिंता को भी चित्रित करता है जो अपनी व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा और नैतिक आचरण से संघर्ष करते हैं। उदाहरण के लिए, कर्ण, एक चरित्र जो एक सारथी का पुत्र है, एक योद्धा बनने और सम्मान और मान्यता प्राप्त करने की इच्छा रखता है। हालाँकि, सम्मान और मान्यता की कर्ण की इच्छा उसे अपने नैतिक मूल्यों के साथ संघर्ष में डाल देती है, जिससे चिंता और तनाव की भावना पैदा होती है।

Karna's tragedy is rooted in his complex moral situation, where his loyalty to Duryodhana forces him into conflict with his own identity and righteousness. His decisions constantly oscillate between personal allegiance and a broader ethical understanding.[VII]

अंत में, महाभारत अपने पात्रों की मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं को चित्रित करता है, जिसमें उनकी दुविधाएँ और चिंताएँ भी शामिल हैं। ये मनोवैज्ञानिक अवस्थाएँ कथा का अभिन्न अंग हैं और मानवीय स्थिति में अंतर्दृष्टि प्रदान करती हैं। महाभारत हमें सिखाता है कि दुविधाएं और चिंताएं मानवीय अनुभव का हिस्सा हैं और ज्ञान और मार्गदर्शन हमें उन पर काबू पाने में मदद कर सकता है।

संदर्भ

I. Miller, Barbara Stoler. The Bhagavad-Gita: Krishna's Counsel in Time of War, (Bantam Classics, 1986), p. 18.

II. भगवद्गीता (महाभारत के भीष्म पर्व का भाग), अनुवादक: गीता प्रेस गोरखपुर, संस्करण: 2017 पृष्ठ संख्या: 24.

III. Radhakrishnan, S. The Bhagavadgita: A Philosophical Approach, (HarperCollins, 1948), p. 87.

IV. The Mahabharata of Vyasa (English translation), अनुवादक: K.M. Ganguli, प्रकाशक: Motilal Banarsidass, संस्करण: 2002, पृष्ठ संख्या: Volume 3, Page 289.

V. Smith, John D. The Mahabharata, (Penguin Classics, 2009), p. 12.

VI. Das, Gurcharan. The Difficulty of Being Good: On the Subtle Art of Dharma, (Penguin Books, 2009), p. 8.

VII. Doniger, Wendy. The Hindus: An Alternative History, (Penguin Press, 2009), p. 476.

*****

औपनिवेशिकता और स्त्री-प्रसंग : खानाबदोश ख्वाहिशें

अनामिका

'खानाबदोश ख्वाहिशें' उपन्यास भूमंडलीकृत संस्कृति में ढली नए युग की नारियों की चुनौतियों, उनके जीवन-संघर्ष, उत्तर आधुनिक जीवन-शैली की कठिनाइयाँ, विकल्पहीनता की स्थिति और भटकन के बीच स्त्रीत्व की तलाश का सपफरनामा है। लेखिका जयंती विभिन्न युगलों के कथा-प्रसंगों के माध्यम से उत्तर-आधुनिक समय की नारी के व्यक्ति, स्वातंत्रय, स्त्री की अस्मिता और निजता के सवालों के कथानक के स्तर पर उठाया है। स्त्राी जीवन के सवालों को सुलझाने के क्रम में उपन्यास की स्त्री पात्रा न केवल साहसी और जुझारू-जीवट है बल्कि कभी-कभी वह क्रांतिकारी-सी प्रतीत होती है। यह अलग बात है कि वह अंतत: सपफल नहीं हो पाती है। इस प्रकार यह उपन्यास हमारे समय की कड़वी सच्चाई से हमें रूबरू कराता है। परंपरागत पितृसत्तात्मक समाज में 'स्त्री' के लिए अपने 'स्पेस' की तलाश करना एक दुष्कर कार्य है क्योंकि पूरा समाज स्त्राी को देह से अलग एक मानवीय अस्तित्व के रूप में स्वीकार नहीं कर पाता है। 'खानाबदोश ख्वाहिशें' उपन्यास में स्त्री होकर अपनी शर्तों पर जीने की ख्वाहिश मुख्य पात्रा निधि के लिए अभिशाप बन जाती है।

'खानाबदोश ख्वाहिशें' उपन्यास पढ़ते हुए जैनेन्द्र के उपन्यास 'त्यागपत्र' की याद बरबस हो आती है। हमें निधि के चरित्रा में 'त्यागपत्र' की मृणाल के चरित्रा का ही उत्तर-औपनिवेशिक विस्तार मिलता है। प्रेम, विवाह, सेक्स का त्रिकोण जो औपनिवेशिक नैतिकता की कसौटी रहा है वही कसौटी आज उत्तर-औपनिवेशिक समय में भी है। पितृसत्तात्मक समाज के ढांचे में 'त्यागपत्रा' की मृणाल ने एक ध्क्का दिया था। लेकिन वह समाज को तोड़ना-पफोड़ना ;विध्वंसद्ध नहीं चाहती थी। पात्रा 'निधि' इस उपन्यास के अंत में घर लौटती तो है लेकिन उसका लौटना वैराग्य की स्थिति में होता है। 'त्यागपत्रा' में मृणाल समाज के अस्तित्व को बनाये रखना चाहती है लेकिन निधि ऐसा कुछ नहीं चाहती है। वह सामाजिक मूल्यों और उसके अस्तित्व को प्रश्नांकित करती है।

'त्यागपत्रा' की मृणाल की किशोरावस्था में प्रेम की छाया है तो दूसरी तरपफ शादी के बाद सामाजिक-बंधन और ऐसी परिस्थितियां हैं, जो उसे वेश्या होने पर मजबूर करती है। मृणाल मुक्ति के लिए स्त्राी संघर्ष करती है लेकिन विडम्बना यह है कि हमारा समाज उसे देह तक सीमित कर देता है। उत्तर-औपनिवेशिक समय में भी स्त्री को लेकर हमारा रूझान परंपरागत ही है। अब तक स्त्रियों को देखने का नज़रिया पुरुष सत्तात्मक रहा है जिसमें स्त्राी एक देह से ज्यादा नहीं है।

'खानाबदोश ख्वाहिशें' उपन्यास में स्त्री-दृष्टि से भारतीय समाज को देखने की कोशिश मिलती है। इस उपन्यास के स्त्राी पात्राों में निधि, सुपफला, बिंदिया एक पीढ़ी की है, निधि की मम्मी, माया दीदी और परी की नानी चन्द्रा इसने पुरानी पीढ़ की है जबकि अरूणिमा और शाल्वी बाद की पीढ़ी की। इस प्रकार तीन पीढ़ियों की महिलाओं के माध्यम से औपनिवेशिक और उत्तर-औपनिवेशिक भारत में स्त्री-पुरुष संबंधें की पड़ताल लेखिका इस उपन्यास के माध्यम से करती है। बिंदिया-उत्तम का परंपरागत विवाह संबंध है। सुपफला

प्रेम-विवाह करती है और बाद में लिव-इन-रिलेशन में रहती है। निधि प्रेम-विवाह शिवम से करना चाहती है, लेकिन अपने जीजा-धीरज से उसे शादी करनी पड़ती है। जयंती ने इन युगल संबंधें के माध्यम से भारतीय समाज के दाम्पत्य संबंधें के खोखलेपन को इस उपन्यास में उद्घाटित किया है।

परम्परागत भारतीय समाज में ऐसी धरणा प्रचलित रही है कि स्त्री के चरित्र और पुरुष के भाग्य को कोई नहीं जान सकता है। इस उपन्यास में उस परम्परागत धरणा को साहित्यिक ढंग से चुनौती दी गयी है। 'सेक्स' संबंध को लेकर एक ग्रंथि भारतीय समाज में है। 'खानाबदोश ख्वाहिशें' उपन्यास के कथानक से स्पष्ट होता है कि सेक्स संबंधी हीनता ग्रंथि से धीरे-धीरे भारतीय समाज को मुक्ति मिल रही है। निधि की मम्मी खुद प्रेम-विवाह करती है लेकिन अ क्षत यौनि 'वो' के लेकर चिंतित रहती है। निधि भी अपने स्त्रीत्व को बचाने को लेकर सतर्क है जबकि अरूणिमा लतीपफ से शारीरिक-संबंध बन जाने को लेकर किसी प्रकार के कुंठा से मुक्त है। उपन्यास की पात्रा चन्द्रा अपने दामाद से शारीरिक संबंध बना लेती है जिसकी उसे ग्लानि है। चन्द्रा अपने कृत को अपना भटकाव कहती है। जबकि निधि की राय उससे अलग है। दृष्टव्य है-

'निधि ने चिहुंककर आंखे खेली। चन्द्रा ने क्या गलत किया है? एक पुरुष से मन और शरीर की तुष्टि पाने की वजह से अपने को कठघरे में क्यों खड़ा कर रही है वह? जो हो गया, उसके साथ आगे क्यों नहीं बढ़ती? एक देह ही तो नहीं, जिसकी वजह से वह बंध्नों में कैद है? देह की मांग ने उसे बेचैन कर दिया। क्या औरत का अपनी देह पर कोई हक नहीं?

क्यों अपने को सजा दे रही हो तुम? कुछ गलत नहीं किया तुमने। जो हो गया, उसे एक सुखद अनुभूति मान आगे बढ़ो। रूको मत। रूकोगी तो मन बिखरेगा। चलो, अपने सुख के लिए जियो। अपने लिए सुख ढूंढो...चन्द्रा एकदम शांत हो गई है। चिंता मुक्त।''[1]

उपन्यास की मुख्य पात्रा निधि जिन सामाजिक परिस्थितियों में वहशी-सी और बोहेमियन जिंदगी जीते शिवम से जुड़ती है। उसमें प्यार का जो उद्दाम वेग है लेकिन वह उन परिस्थितियों से समझौता अध्कि लगता है। मम्मी-पापा की लड़ाई, उन दोनों के मध्य तीसरी औरत की उपस्थिति ने निधि के बाल मन को कुंठित और भयग्रस्त कर दिया है। इसके चलते ही वह शिवम के प्यार के अत्याचार को झेलती है। उपन्यास में आगे निधि पारिवारिक-सामाजिक दमघोंटू नियमों-बंधनों का प्रतिकार करने को विवश होती है।

दूसरी ओर बिंदिया पारिवारिक व्यवस्था के इस दमघोंटू माहौल में भी अपने अस्तित्व को तलाश करती हैं। इन दोनों के बीच राह निकालती पात्रा सुपफला है। इन तीनों पात्रों में भिन्नता के बावजूद एक बात सामान्य है और वह है उनका भटकाव। भटकाव इन तीनों पात्रों के चरित्रा की केंद्रीय विशेषता है। लेखका इन स्त्री पात्रों की चारित्रिाक भिन्नता के बावजूद एक समान परिणति को दिखाकर उत्तर-औपनिवेशिक सामाजिक व्यवस्था को प्रश्नांकित करती है। निधि समाज की दी हुई व्यवस्था के बंध्ा-बंधए ढांचे को तोड़ देती है लेकिन इस टूटन के बाद 'दिशाहीन' हो जाती है। पाठकों के मन में यह प्रश्न उठता है कि निधि की जिंदगी की दिशाहीनता के लिए कौन जिम्मेदार है? क्या वह जिंदगी से कुछ ज्यादा मांग रही है? सम्भवत: उसका उत्तर हमें अपने समय की विभिन्न परिस्थितियों में मिल सके। वस्तुत: यह दिशाहीनता भूमंडलीकृत संस्कृति की 'विकल्पहीनता' का परिणाम है।

सुफला : बिंदास स्त्री

सुपफला का पहला पति संजीव है और दूसरा नीरव। तीसरा पुरुष विश्वनाथ है जो उससे शादी करना चाहता है। सुपफला विश्वनाथ से दोस्ती रखती है और आपसी रिश्ते को

समझने के लिए वक्त चाहती है। उपन्यास में विश्वनाथ ने सुपफला से कहा है-

''नहीं, यहां तो नहीं हो। पता नहीं कब से क्या-क्या सोचे जा रही हो। प्लीज, मेरी बात मानोगी? जैसा चल रहा है, चलने दो। तुम भी खुश हो ना...''

सुफला के होठों पर हल्की-सी मुस्कान आई। उसने बहुत धीमी आवाज में कहा, ''जैसे चल रहा है...लोग जिंदगी-भर तो नहीं भटकते ना? दो-दो कटु संबंधें के बाद मुझे संभल जाना चाहिए। मैं बिना पुरुष के जी सकती हूँ विश्व।''

''मैंने मना कब किया है? पर जीने की जरूरत क्या है? तुम्हारे साथ दिक्कत यह है कि तुम मुझे भी उन्हीं पुरुषों की श्रेणी में लाकर देखती हो, जिन्होंने तुम्हारे साथ गलत किया।''

''ऐसा नहीं है, मैं थक गई हूँ इस तरह जीते-जीते। तुम सिपर्फ मेरे दोस्त बनकर क्यों नहीं रह सकते? तुम इससे ज्यादा क्यों चाहते हो?''

विश्वनाथ ने कुछ नहीं कहा, बड़ी देर तक चुप रहा। अचानक उसने कहा, ''अगर मैं कह रहा हूँ कि तुम मुझसे शादी कर लो, तो क्या यह गलत है?''

''दो-तीन बातें हैं। एक तो हमारी मुलाकात बस एक महीने पुरानी है। दूसरे मैंने तय नहीं किया कि नीरव से हमेशा के लिए अलग रहूं या...''

''तुम इतने सारे पुरुषों को बीच में लटकाकर क्यों र खना चाहती हो?'' विश्वनाथ की आवाज़ में शिकायत थी।

''ऐसा नहीं है, पर मैं तीसरी शादी नहीं करना चाहती। मुझे बहुत हास्यास्पद-सा लगता है। एक शादी नहीं निभी, तो दूसरी तो करते सुना है। पर तीसरी अगर तुम्हारे साथ अनबन हो जाए, तो पिफर क्या होगा? चौथी, पांचवी, शादी।''

विश्वनाथ आहत हो गया, ''तुम मेरा मजाक उड़ा रही हो।''

''अच्छा, कुछ और बात करते हैं। पता है विश्व, मेरी एक सहेली है अनुपमा। वह शादीशुदा नहीं है। मेरी ही उम्र की है। वह कहती है कि आज तक उससे कोई पुरुष नहीं टकराया। वह मुझसे अजीब किस्म का रश्क करती है कि मेरी जिंदगी में एक पुरुष जाता है, तो दूसरा इतनी जल्दी कैसे आ जाता है? ऐसा नहीं कि वह दिखने में बुरी है। अच्छी-खासी नौकरी कर रही है, पत्राकार है।'' [2]

सुपफला की नीरव से शिकायत रहती थी कि नीरव उसे समय नहीं देता है। उसकी प्राथमिकताओं में वह अपने को कहीं नहीं पाती थी। सुफला को एक ऐसे पुरुष की जरूरत है जो से महत्व दें-

''मुझे अब समझ में आ गया कि मुझे तुम क्या समझते रहे हो, क्या दर्जा दिया है तुमने मुझे? तुम्हें एक वाइपफ की नहीं पाटर्नर की जरूरत थी, जो वीकेंड में तुम्हारे साथ मीटिंग पर चले। जितनी देर तुम बॉस की बीबी को शॉपिंग करवाओ, वह होटल के कमरे में बैठी अपने मुंह और जिस्म पर चंदन घिसे, ताकि रात को जब तुम उसके आगोश में जाओ, तो तुम्हें अपनी मनपसंद सुगंध सूंघने को मिले। यही बात है न नीरव, जो तुमने मुझसे शादी की।''[3]

विश्वनाथ के रिश्ते को लेकर गंभीरता पूर्वक विचार करने के बाद सुपफला उससे शादी करने का मन बना लेती है, लेकिन विश्वनाथ का एक नया रूप उसे असमंजस में डाल देता है। पुरुष का यह नया रूप उसके लिए अनोखा-अनजाना है। दृष्टव्य है-

''सुफला के लिए विश्वनाथ का यह रूप अनोखा था। उसने अब तक उसे ठहरा और संजीदा आदमी समझा था। शायद यह भी उसके व्यक्तित्व एक एक पहलू था। सुपफला का मन बैठने लगा। पिछले कुछ दिनों से उसने विश्वनाथ का शादी

का प्रस्ताव मानने का मन बना लिया था। उस व्यक्ति के साथ इसका नीरव और संजीव जैसा तो हाल नहीं हो जाएगा। संजीव बेहद पजेसिव था। नीरव खुदगर्ज। विश्वनाथ नासंजीदा? अच्छा हुआ जो आनन-पफानन में उसने निर्णय नहीं लिया। नीरव के केस में यही हुआ था। नीरव ने शादी का प्रस्ताव रखा और वह पफौरन मान गई। अब लगता है जिंदगी में पुरुष उतना महत्त्वपूर्ण नहीं, जितना अपने पूरे अस्तित्व के साथ जीना। उस जैसी महिला के लिए किसी भी पुरुष के साथ निभाना आसान नहीं है।'' [4]

विश्वनाथ को उसका प्रस्ताव नहीं रूचा, ''तुम वापस जाना चाहती हो? क्यों? तुम खुद मौसी का घर छोड़कर आई थी।''

''इस वक्त वहीं जाना बेहतर लग रहा है। मैं अरू को इस हाल में छोड़ना नहीं चाहती, इसके परिवार वाले इसका जीना मुहाल कर देंगे।''

''अजीब औरत हो। तुम्हें इस तरह दूसरों के पचड़े में पड़ने का क्या शौक है? अपना सोचो ना। तुम कुछ सोचकर यहां रहने आई थी। इतनी जल्दी अपने इरादे मत बदलो।''

''सुफला अरू को धीरज के साथ जाने से नहीं रोक पाई। अरू के जाते ही सुपफला बिखर पड़ी, ''मैं अजीब हूँ कि तुम? मुझे लग रहा था कि तुम दूसरों से अलग होंगे। मुझे उस तरह जीने दोगे जैसा मैं चाहती हूँ। पर तुम भी सबकी तरह हो, बल्कि और ज्यादा खुदगर्ज। अगर ऐसा ही था, तो निधि को ढूंढने और धीरज की बेटी के वापस मिलने को लेकर इतने बेकरार क्यों थे? तुम औरत का दिल नहीं समझ सकते विश्व, इसीलिए शिवानी तुम्हारे साथ नहीं रह पाई।''[5]

''सुफला समझ नहीं पा रही कि क्या करना चाहिए? जिस तरह से वह यहां रहने आई थी, लगा था कि सब कुछ ठीक हो जाएगा। अब उसे वह जिंदगी जीने का मौका मिलेगा, जिसकी उसे ख्वाहिश है। पर ऐसा होता नहीं लग रहा। अजीब कशमकश है। क्या नीरव के पास लौट जाए? वह तो उससे अलग हुआ नहीं, कभी कहा नहीं कि वह अलग होना चाहता है। या विश्वनाथ के साथ नई जिंदगी शुरू करें? पर यह जिंदगी कैसी होगी? वैसी ही जैसी उसने अब तक जी है या अलग। जवाब किसी के पास नहीं। उधेड़बुन है...तनाव है....सबसे ज्यादा तो भ्रम है।''[6]

निधि-दुविधग्रस्त स्त्री

निध्सि ऐसे माता-पिता की संतान है जो आपस में प्रेम नहीं करते हैं जबकि उनका प्रेम-विवाह होता है। ऐसा लगता है कि उसके मम्मी पापा ने साथ रहने का फैसला किसी मजबूरी वश लिया हैं यह मजबूरी का पैफसला उनके बीच कटुता पैदा करता है। दोनों के जीने के अंदाज अलग-अलग हैं। आपसी कटुता घर के माहौल को विषाक्त बना देती है। दस वर्ष की निधि पर इसका घातक प्रभाव पड़ता है। वह अपने माँ-बाप के घर से निकलना चाहती है लेकिन वह जाये तो जाये कहाँ? पहले वह साथ काम करने वाले रूपदत्त से जुड़ती है पिफर उसके दोस्त शिव से प्रेम करने लगती है। शिव के प्रति उसका प्रेम दरअसल उसकी मुक्ति की चाहत का रास्ता है, लेकिन वह अंजाम से पहले खत्म हो गया। शायद भटकना उसके जीवन में लिखा था। ' खानाबदोश ख्वाहिशें' उपन्यास का संदर्भ देखिए-

''पापा घर से भाग कर मुंबई आए थे पिफल्मों में अपनी किस्मत बनाने। प्रतापगढ़ में निम्न मध्यवर्ग में सरकारी मुलाजिम डी.के. श्रीवास्तव के बेटे अकिंचन श्रीवास्तव। पूरी जिंदगी स्ट्रगल करते गुजर गई। नाम बदलकर अक्कु रख लिया। मम्मी के परिवार वाले बरसों पहले ईरान से पहले अहमदाबाद, पिफर मुंबई आए। मम्मी के परिवार का इतिहास बहुत नहीं मालूम निधि को। शायद उन्हें भी नहीं मालूम। मम्मी और सिस्टर पिफल्मों में एक्टर्स का काम करती थी। शायद मम्मी स्कूल भी नहीं जा पाई थी। जो कुछ सीखा। इध्र-उध्र से सीखा। मम्मी-पापा का अपेफयर चला, तो मम्मी की सिस्टर और कुछ रिश्तेदारों ने पापा को घेरकर शादी

करवा दी मम्मी से।'' [7]

''बस इतना ही पता है निधि को। वो भी मम्मी के मुंह से सुना है। मम्मी शायद उसी की उम्र की थीं, जब शादी की थी उन्होंने। दोनों का प्लेटपफार्म अलग था, जिंदगी को लेकर चाहते अलग थीं। दोनों ने अपनी राह नहीं बदलीं, अपनी चाहतें नहीं बदली। बस दो बेटियां हो गई और दरारें बढ़ती चली गई।''[8]

''मम्मी को पसंद नहीं उसका शिवम के साथ रात-बिरात इधर-उधर घूमना। वे उसे साफ शब्दों में कह चुकी हैं कि जो लड़की शादी से पहले 'वो' खो देती है, उसे बाद में लड़के नहीं मिलते। मम्मी 'वो' को लेकर बहुत रोती-गाती थी।[9]

एक अरसे बाद जब निधि और बिंदिया मुम्बई में मिलती है तो निधि से पहले प्रेमी शिवम के बारे में जानना चाहती है। निधि का मानना है कि शिवम के प्रति प्रेम अब नहीं है शायद पहले भी वह उससे प्रेम नहीं करती थी। उपन्यासकार निधि के जीवन में आए पुरुषों के संबंध में निधि की राय को प्रस्तुत अंश में व्यक्त करती हैं-

''बिंदिया कौतुक से उसका चेहरा देखने लगी, जैसे निधि ने उसके मुँह की बात छीन ली हो।''

दोनों ने चुपचाप चाय पी। निधि ने बहुत सोचकर कहा, ''तुम जानना चाहती हो ना कि मैं शिव से मिलना चाहती हूँ कि नहीं। तुम जो सोच रही हो, वैसी नहीं हूँ। उस शिवम को जिसे मैं बारह साल पहले जिंदगी के किसी मोड़ पर छोड़ आई थी, अब वह वहां नहीं खड़ा। मैं भी वैसी नहीं रही। तुम्हें लगता होगा कि मैं पुरुषों के पीछे भागती रही हूँ, शादी हुई, निभा नहीं पाई...''

''ऐसा नहीं है निधि तुम्हारे लिए कभी ऐसा नहीं सोचा''। बिंदिया ने तुरंत कहा।

निधि हल्की-सी हँसी। हँसी क्या? लगा बस होठों के कोर जरा हिले हैं। ''मुझे पता है, दूसरे मेरे में क्या सोचते हैं? मैं सेक्स की भूखी नहीं बिंदिया। मैंने हमेशा अपने लिए ऐसा पुरुष चाहा, जिसकी बांहों में सिर रखकर मैं सुरक्षित महसूस कर सकूं। धीरज अच्छे आदमी हैं। मुझे चाहते थे। मेरे साथ एडजस्ट करने की कोशिश भी करते थे। पर वे मुझमें सुरक्षा ढूंढते थे। मुझे बताओ बिंदिया औरत हमेशा आदमी की चिरौरी भी तो पसंद नहीं करती ना। धीरज के व्यक्तित्व में गहराई चाहती थी मैं। यही गहराई आकाश में भी खोजने की कोशिश की।

आकाश को तुमने कैसे खो दिया?

निधि की आवाज़ भीगी हुई थी, ''मैं शापित हूँ पुरुषों के मामले में। अगर मिला था, तो खो दिया। आकाश मेरा साथ नहीं निभा सकता था। उसकी दुनिया दूसरी थी। अगर वह इस दुनिया से नहीं जाता, तब भी मेरी जिंदगी से तो चला ही जाता।'' [10]

'खानाबदोश ख्वाहिशें' उपन्यास की कथा से स्पष्ट है कि निधि आकाश में रूचि लेती है। आकाश शायद सही पुरुष हो सकता है निधि के लिए, लेकिन आकाश किसी और दुनिया का वासी है। आकाश अपने को आम आदमी, मतलब सामान्य गृहस्थ जीवन से अलग समझता है। लेखिका जयंती ने निधि और आकाश के विकसित होते रिश्ते को इस प्रकार अभिव्यक्त किया है-

''आकाश ने क्या सोचकर यह प्रस्ताव रखा? क्या पुरुषों की नज़र ताड़ जाती है कि वह किसी तार से नहीं जुड़ी? निपट अकेली हैं? या पिफर निधि ही खोजती रही आसरा जिंदगी भर?

बात एक ही थी निधि पहले आकाश के काम के साथ, पिफर उसके साथ जुड़ती चली गयी। आकाश पढ़ा-लिखा था। समझदार भी थां अपने सन्यासी बनने की कहानी उसने टुकड़ों-टुकड़ों में सुनाई थी। किसी भी सांसारिक व्यक्ति के असंसारी बनने जैसी थी उसकी कहानी भी। घर में दादा जी की वजह से पंडित, पूजा आम बात थी। पिता खुद प्रकाण्ड पंडित थे।

आकाश ने इंजीनियरिंग की, लेकिन ज्यादा ध्यान प्रवचन में था। दो साल भिलाई इस्पात संयंत्रा में नौकरी भी की। वहीं से उसने अपना रूख बदला। अकेला रहता था। पूजा-पाठ और सत्संग करने लगा। अच्छा बोलता था। जल्दी ही नाम हो गया। कुछ बातें खास थी उसमें। बिना बोले सिपर्फ हाथ से छूकर संकट दूर करने की बात कह देता। वह अंग्रेजी बोलता था। मध्यमवर्ग का वह पारिवारिक गुरु बन गया। उसके भक्तों में महिलाएँ ज्यादा थीं। तलाकशुदा अकेली रहने वाली या पति से अजिज आने वाली महिलाएं। माया दीदी थी उनमें एक थी। आकाश उनके घर सत्संग करने आया, तो उनका भाई बन बैठा। दोनों ने रिश्ता निभाया भी।

निधि शुरू में उसके दूसरे कार्यकर्ताओं की तरह पूजा की तैयारी करवाती, यात्राओं का विवरण रखती। एक तरह का आनंद आने लगा था निधि को अपने नए काम में, हालांकि वह कभी आकाश को गुरु या बाबा के रूप में नहीं मान पाई। वह पूजा की तैयारी करवा देती, लेकिन कभी पूजा में बैठ नहीं पाती। आकाश जानता था कि वह जिस वजह से उसके पास रहने आई है, वह वजह वो नहीं है, जिसकी वजह से आम लोग उसके पास आते हैं।

वह निधि को ध्यान लगाने को कहता, तो वह चेहरे पर हल्का-सा स्मित लाकर कहती, ''इससे क्या होगा? मुझे शांति मिलेगी? वो तो इस जन्म में मिलने से रही।''

आकाश से निधि ने कुछ नहीं छिपाया। बचपन से अब तक का रेशा-रेशा खोलकर रख दिया। आकाश ने पूरा सुनने के बाद कहा, ''बहुत बेचैन आत्मा हो तुम।''

निधि तड़प गई। बेचैन आत्मा? और वे लोग कौन हैं जो उसे बेचैन कर गए? क्या वही गलत है? अगर वह गलत है, तो फिर क्यों गलत है वह?

आकाश ने उसे टुकड़ों-टुकड़ों में समझाया था, ''दे खो तुमने जो कुछ किया, वह गलत नहीं है। मैं तो नहीं कहूंगा। पर जिनके साथ जुड़ी हुई थी, जिस समाज में तुम रह रही थी, तुमने उसका कायदा तोड़ा। समाज वह बर्दाश्त नहीं कर सकता। अगर सब अपनी तरह जीने लगे, तो समाज का क्या होगा? निधि ने तब सवाल किया था, ''मैंने समाज का ठेका तो नहीं ले रखा।''

यह सवाल तुम नहीं कर सकती। तुम दूसरी तरफ खड़ी हो। तुम यह क्यों जानना चाहती हो कि तुम गलत हो या सही। इसका मतलब है तुम्हें समाज की परवाह है।'' [11]

संदर्भ

1. जयन्ती, खानाबदोश ख्वाहिशें, सामयिक प्रकाशन, पृ. 190
2. जयन्ती, खानाबदोश ख्वाहिशें, सामयिक प्रकाशन, पृ. 93
3. वही, पृ. 88
4. जयन्ती, खानाबदोश ख्वाहिशें, सामयिक प्रकाशन, पृ. 178
5. वही, पृ. 178-179
6. जयन्ती, खानाबदोश ख्वाहिशें, सामयिक प्रकाशन, पृ. 180
7. जयन्ती, खानाबदोश ख्वाहिशें, सामयिक प्रकाशन, पृ. 20
8. वही, पृ. 20
9. वही, पृ. 20
10. जयन्ती, खानाबदोश ख्वाहिशें, सामयिक प्रकाशन, पृ. 140-141
11. जयन्ती, खानाबदोश ख्वाहिशें, सामयिक प्रकाशन, पृ. 110-111

*****

भारतीय उपमहाद्वीप में शास्त्रीय नृत्य भरतनाट्यम् एवं कथकलि का उद्भव एवं विकास

डॉ.कुन्दन कुमार
सहायक प्रोफेसर,
इतिहास विभाग,
हंसराज कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय,दिल्ली
ईमेल kundan@hrc.du.ac.in

सारांश

शास्त्रीय श्रेणी के अंतर्गत आने वाली भारतीय नृत्य शैलियों को संस्कृत या हिन्दी में शास्त्रीय नृत्य कहा जाता है जिसका अर्थ है – 'शास्त्र के अनुसार नृत्य'। शास्त्र का सामान्य अर्थ है – 'संहिता या नियमों का संग्रह'। भारतीय नृत्य के संदर्भ में शास्त्र या तो लिखित ग्रंथ हो सकते हैं या फिर पूरी तरह मौखिक परम्परा में भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिए उत्तर भारत के सबसे महत्त्वपूर्ण शास्त्रीय नृत्य कथक का कोई लिखित शास्त्र नहीं है। उधर मणिपुरी शैली के लिए जिस शास्त्र के लिखे जाने की बात कही जाती है, वह मणिपुर के कई नृत्य गुरुओं को स्वीकार्य नहीं हैं उक्त दो शास्त्रीय शैलियों के नृत्यों के नियम मौ खिक परम्परा में भली–भांति सुरक्षित हैं। इसलिए मौखिक परम्परा वाली शास्त्रीय शैलियों को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है जितना लिखित परम्परा वाले नृत्यों को। आखिर हम यह कैसे भूल सकते हैं कि समस्त धर्मग्रंथों में से परम पवित्र समझे जाने वाले हमारे वेद, मौखिक परम्परा से ही सदियों तक सुरक्षित बने रहे। अतः शास्त्रीय या क्लासिकल नृत्य शैली की परिभाषा एक ऐसे नृत्य के रूप में की जा सकती है जिसमें अपने ही सुविचारित नियमों का कड़ाई से पालन किया जाता हो और जो दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत किया जाता हो।

बीज शब्द : *अल्लारिपु , जातिस्वरम् , शब्दम् , वर्णम्*

प्रस्तावना

नृत्यकला का विकास प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान समय में अनवरत रूप से जारी विविधताओं के साथ आनंददायक एवं मनोरंजक है। मानव में जब चेतना का संचार हुआ तथा सोचना–विचारना शुरू किया तो मानव ने देखा कि जीवन अपने आप को बहुत ही लयबद्ध तरीके से अभिव्यक्त करता है। जैसे हृदय की धड़कन, सांस की गति, चलना–फिरना, यद्यपि वे सभी लक्षण जिनसे शरीर के जीवित होने का पता चलता है। जीवित और मृत के बीच अंतर सिर्फ इतना है कि जीवित व्यक्ति में आंतरिक लयबद्धता होती है जबकि मृत व्यक्ति में इसका अभाव होता है। इसलिए मानव को अपनी विचार क्षमता से इस तथ्य का अहसास हो गया कि अगर वह अपने आपको किसी उदात्त लयबद्ध गति. विधि में संलग्न कर ले तो इससे जीवन की प्रतिष्ठा होगी और उसे अमरत्व का अनुभव होगा, भले ही यह अनुभव क्षणिक ही क्यों न हो। जीवन को महत्व प्रदान करने के लिए नृत्य और संगीत से अधिक उदात्त कोई अन्य तथ्य क्या हो सकती थी?

इसी वजह से मानव ने किसी भी प्रकार की बोली या भाषा बोलने से पहले नृत्य करना प्रारंभ कर दिया था। इसलिए अनेक विद्वानों का मानना है कि नृत्य कला सभी कलाओं की जननी है।

मानव ने पशु–पक्षियों से भी बहुत कुछ सीखा और उसी क्रम में पशु–पक्षियों द्वारा आनन्द व्यक्त करने के लिए अपनाई गई नृत्य–मुद्राओं को भी मानव ने शुरूआती दौर में ज्यों का त्यों अपना लिया। गोरिल्ला द्वारा शिकार करने के बाद सीने पर दोनों हाथों से आघात कर प्रसन्नता व्यक्त करने की नृत्य मुद्रा आज भी आदिवासी संस्कृति में कुछ परिष्कृत रूप में देखी जा सकती है। मौसम बदलने पर काली घटाओं के स्वागत में मोर द्वारा किए जाने वाले नृत्य की मुद्राएं आज भी लगभग प्रत्येक नृत्य–विधा का एक सुंदर भाग मानी जाती है। श्रृंगार और प्रेम की अनुभूति के लिए सांप द्वारा अपनाई गई मुद्राओं को लोक और शास्त्रीय नृत्यों में आज भी स्पष्ट रूप में देखा जा सकता है। नृत्य से संबंधित आदिम जातियों में एक कहावत आमतौर पर प्रचलित है "जो जाति नृत्य करती है वह कभी नष्ट नहीं होती।" जहाँ जीवन है, वहाँ गति है। उस गति में लय है और जहाँ लय है, वहाँ नृत्य जीवन का अनिवार्य अंग है। इस प्रकार नृत्य, प्रसन्नता, उमंग, हर्ष एवं उल्लास को व्यक्त करने का लोकप्रिय माध्यम है। इस तरह के नृत्यों को आज लोक नृत्य कहा जाता है जबकि परिष्कृत किस्म के और अत्यंत विकसित कलात्मक नृत्य शास्त्रीय नृत्य की श्रेणी में आते हैं। लेकिन इस तरह का विभाजन अनगिनत विविधताओं तथा विस्तार वाले भारतीय नृत्यों के संदर्भ में पूरी तरह अप्रासंगिक या असंगत है। आमतौर पर शास्त्रीय विशेषण का अर्थ है "कला की शैली का, या उससे संबंध रखने वाली ऐसी विशिष्टता का निरूपण, जिसमें रुचि या स्थापित आलोचनात्मक मानदंडों का पालन किया जाता हो और जिसमें स्वच्छंदता की बजाय निरंतरता, संतुलन, अनुपात और नियंत्रित भावनाओं के सामान्य प्रभाव को दर्शाते हुए रूप का ध्यान रखा गया हो।" शास्त्रीय नृत्य की श्रेणी में भरतनाट्यम्, कथकलि, कथक, मणिपुरी, ओडिसी, कुचिपुडी आते हैं।

भरतनाट्यम्

भरतनाट्यम् मुख्य रूप से दक्षिण भारत के तमिलनाडु में पुष्पित एवं पल्लवित हुई। देवदासियों द्वारा मंदिरों में यह नृत्य किया जाता रहा है। हालांकि आज यह नृत्य भारत के साथ–साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी लोकप्रिय हो चुका है। (476 ई.) भारत के समकालीन शास्त्रीय नृत्यों में भरतनाट्यम् संभवतः सबसे पुराना है। भरत नाम और नाट्यशास्त्र से जुड़े होने से केवल इसकी पुरातन का संकेत नहीं मिलता बल्कि साहित्य, मूर्तिकला तथा ऐतिहासिक साक्ष्य के माध्यम से भी पुरातन होने की पुष्टि हुई है। साहित्यिक स्रोतों में तमिल साहित्य एवं संस्कृत साहित्य मुख्य है। तमिल स्रोतों में संगम साहित्य (300 ई.पू. से 300 ई.) के शिल. पाधिकरणम् एवं मणिमेखलई में कुट्टु शब्द का दो प्रकार से प्रयोग किया गया है (i) शांति कुट्टु

जिसकी व्याख्या शास्त्रीय प्रकार के नृत्य संबंधी किया गया है। (ii) विनोद कुट्टु इसकी व्याख्या मनोरंजन के प्रकार से किया गया है। संस्कृत साहित्य के नाट्यशास्त्र (200 ई.पू. से 200 ई.) में दक्षिणय का उल्लेख है जिससे नृत्य के कई प्रकार एवं शैली का उल्लेख किया गया है।[1]

इन साहित्यिक स्रोतों के अलावे भी समय–दर–समय भरतनाट्यम् को साहित्यों में स्थ. ान मिलता रहा। इसके साथ ही मंदिरों के निर्माण के साथ दक्षिण भारत में भरतनाट्यम् को मंदिरों के रेलिंग, गोपूरम् तथा मूर्तिकला में महत्त्वपूर्ण स्थ. ान मिला। भरतनाट्यम् मुद्राओं का नृत्य है जो मंदिरों के मूर्तियों में उकेरी गई है। उदाहरणस्वरूप सारंगपाणी मंदिर (कुंभाकोणम्), नटराज मंदिर (चिदंबरम्) के गोपुरम् पर वृहदेश्वर मंदिर गंगईकोण्डचोलपुरम् (राजेन्द्र प्रथम, 1012–1044 ई.), मदुरई तथा कांचीपुरम् आदि मंदिरों में उकेरी गई है। इसके साथ ही भित्ति–चित्र में भी भरतनाट्यम् का साक्ष्य वृहदेश्वर, कांचीपुरम्, पुनामलाई एवं चिदंबरम में है।[2] कर्नाटक संगीत की प्रधानता वाला यह नृत्य एकल और कभी–कभी समूहों में संपन्न किया जाता था।[3] यद्यपि भरतनाट्यम् आज एकल रूप में ही प्रस्तुत किए जाते हैं। यह रूप 19वीं शताब्दी में तंजाउर के राजा सेरफोजी (1798–1832) के दरबार में चार भाइयों चिन्नइया, पोन्नइया, वादिवेलु तथा शिवनंदम् ने इसे अंतिम रूप प्रदान किया।[4]

भरतनाट्यम् नेल्लौर, मेलातुर, सूलमंगलम् आदि गांवों में भागवत मेला परम्परा का एक हिस्सा रहा है। यद्यपि यहाँ सिर्फ पुरुष ही नृत्य प्रस्तुत करते थे। इस दिशा में नई पहल ई. कृष्णा अय्यैर एवं बाद में दूसरे व्यक्तियों के साथ कल्याणी पुत्रियों तथा कुमारी भारती द्वारा शुरू की गई। इस नृत्य में अलग–अलग पृष्ठभूमि से आए व्यक्ति भी शामिल हुए। 1935 ई. में सर्वप्रथम बालासरस्वती ने वाराणसी में परंपरागत पद्ध ति से हटकर सार्वजनिक नृत्य प्रस्तुत की। रुक्मिणी देवी ने भरतनाट्यम् का प्रशिक्षण वरिष्ठ उस्ताद मीना क्षी सुन्दरम् पिल्लई तथा मेयलापुरा के गौरी अम्मा से ली। साथ ही 1936 ई. में उन्होंने पहला अभिनय नृत्य प्रस्तुत की, यह एक नई पहल थी। इस प्रकार परंपरागत देवदासियों के परिवारों से नर्तकियों का उदय हुआ। उन्होंने अपनी कला को सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित करने का निर्णय लिए। हालांकि देवदासी एवं भरतनाट्यम् का अन्योन्याश्रय संबंध रहा है। देवदासियों द्वारा मूलरूप से मंदिरों तक सीमित रही। तीन प्रकार के देवदासियों के समूह मिलते हैं। (i) राजदासी – इन्हें राजाश्रय प्राप्त था तथा शासक को प्रसन्न करने के लिए नृत्य करती थी। (ii) देवदासी – जो सिर्फ मंदिरों में भक्तिभाव से नृत्य करती। (iii) स्वदासी – जो केवल स्वयं के लिए नृत्य करती। कालांतर में देवदासियों में नैतिक पतन के कारण इस प्रथा का अंत हो गया।[5]

भरतनाट्यम् के पुनरुत्थान एवं पुनर्निर्माण के दिशा में, आजादी पश्चात् मुख्य रूप से कार्य हुआ। रुक्मिणी देवी ने संस्था शुरू की, मीनाक्षी सुन्दरम्

पिल्लई ने शिष्यों की प्रशिक्षित करना शुरू की, बालासरस्वती ने गायन आरंभ की तथा शांताराव ने भी प्रमुख योगदान दिए। कुछ ने इसको नए रूप में विकसित किया तथा कुछ ने अपने गुरू की परंपरा को आगे बढ़ाया। विशेषज्ञों द्वारा भरतनाट्यम् को सात चरणों में विभाजित किया गया है –

(i)अल्लारिपु – अर्थात् सृजन के साथ नृत्य शुरू होता है। इसमें विशेष रूप से प्रार्थना एवं पुष्पांजलि मुद्रा एवं भंगिमा अपनाई जाती है। गर्दन, कंधे तथा बांह के साथ शरीर के अंगों एवं उपांगों में खास ढंग से थिरकन पैदा की जाती है। इस नृत्य में देवता को प्रणाम करने की भंगिमा की जाती है।

(ii)जातिस्वरम् – यह नृत्य का दूसरा चरण है। नर्तक या नर्तकी संगीत के आधारभूत तालों पर थिरकता या थिरकती है। यहीं से नृत्य की शुरूआत होती है और नर्तक या नर्तकी इसके वि. भन्न रूपों को प्रस्तुत करते/करती है।

(iii)शब्दम् – इस तीसरे चरण में साहित्यिक शब्दों में ईश्वर अथवा राजा की स्तुति की जाती है। नर्तक या नर्तकी गायन के आधार पर नृत्य करते/ करती हैं तथा शब्दों को बुदबुदाता रहते/रहती हैं। बुदबुदाने के साथ–साथ थिरकन के माध्यम से गीत के बोलों को दृश्य के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न किए जाते हैं।

(iv)वर्णम् – इस नृत्य का चौथा और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण चरण है। नृत्य के सभी पक्षों को प्रदर्शित करने के बाद नर्तक या नर्तकी वर्णम् की ओर बढ़ते/बढ़ती हैं जो सबसे कठिन और जटिल प्रयास होता है। पद संचालन और अंगों की स्थितियों का पूर्ण समन्वय होता है। ताल और लय की विशिष्टता का पूर्ण ध्यान रखते हुए ही मुद्राओं का प्रदर्शन किए जाते हैं। नृत्य और संगीत का अद्भुत संगम होता है। इसकी विशेषता प्रियतम की प्रतीक्षा करती नायिका का भाव प्रस्तुत करना है।

(v)पदम – इस पांचवें चरण में नर्तक या नर्तकी विशेष रूप से शृंगारिक भावजन्य चेष्टाओं का प्रदर्शन करते/करती हैं।

(vi)तिल्लाना – इस चरण में घुंघरुओं के स्तरीयतम् काम की बारी आती है। घुंघरुओं की तीव्र गति से दर्शकों के मन में उत्तेजना उत्पन्न होने लगती है तथा नर्तक या नर्तकी कुशलता से घुंघरुओं की गति पर अपना नियंत्रण प्रस्तुत करते/करती हैं।

(vii)श्लोका – भरतनाट्यम् की अंतिम अवस्था श्लोका है, इस अवस्था तक आते–आते नृत्य अपनी पूर्णता प्राप्त कर लेता है तथा संस्कृत श्लोकों के द्व ारा श्रीकृष्ण की अराधना की जाती है। इस अराधना के साथ ही नृत्य समाप्त हो जाता है।

भरतनाट्यम् के पांच आसन हैं – पदम, सृष्टि, भोग, वीर तथा सिद्ध। इन आसनों के माध्यम से संपूर्ण जीवन–चक्र प्रस्तुत कर दिए जाते हैं। इस नृत्य के आचार्य नत्तुवन कहलाते हैं। भरतनाट्यम् का परिधान विशेष रूप से आकर्षक होता है। करघनी, बाजूबंद तथा कंठ–आभूषण धारण कर चोटी को संवारा जाता है। तिलक, आकर्षक बिंदी और अधरों पर लालिमा

सामान्य रूप से अपनाए जाते हैं। भरतनाट्यम् के मुख्य प्रतिपादक पद्मा सुब्रमन्यम्, चित्र विश्ववेश्व. रम्, अलारमेलू वल्ली, लीला समसन, शांता एवं श्री धनंजयण हैं। दक्षिण भारत का यह आकर्षक शास्त्रीय नृत्य आज भी अपनी परंपरागत शैली में राष्ट्रीय ही नहीं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकप्रिय पह. चान बनाए हुए हैं।

कथकलि

शास्त्रीय नृत्यों में से एक कथकलि नारियलों के राज्य केरल का विशिष्ट शास्त्रीय नृत्य है। कथकलि दो शब्दों कथा और कलि के संधि से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ नृत्य और नाटक होता है।[6] संगीत, कथा तथा अभिनय का सुंदर समन्वय इस नृत्य की विशेषता है एक सामान्य कथकलि दल में 25 की संख्या तक सदस्य होते हैं जो रामायण, महाभारत एवं पुराणों के लोकरंजक प्रसंगों को इस नृत्य के माध्यम से प्रस्तुत करते हैं।[7] नृत्य–नाटक की यह परंपरा कृ ष्ण और राम के रूप में मालाबार क्षेत्रों में लोकप्रिय है। दक्षिण भारत में वैष्णव के आगमन तथा गीत गोविंद परंपरा ने पुराने कर्मकाण्डीय परम्परा के तेय्यम, मुडीयट्यम् आदि को प्रभावित किए। जो लोकप्रिय कुडीयट्टम् तथा कृष्णट्टम् परंपरा के पूर्ण समन्वय से 17वीं शताब्दी से कथकलि के रूप में सामने आया जो मार्शल तकनीक से कला शैली में विकास हुआ। क्षेत्रीय शैली एवं परम्परा की चर्चा भरत ने नाट्यशास्त्र में तो किए ही है। साथ ही शिल्पादिकरम् एवं संगीतरत्नाकर पर जो टिप्पणी लिखा गया, उसमें नाट्य विधान में बदलाव जो शुद्ध नाट्य विधान एवं शुद्ध नृत्य विधान की उल्लेख है। इससे संबंधित शब्द जैसे कुट्टु देशी नृत्य देशी लस्यंग एवं देशी करण है जो 13वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के बीच दक्षिण भारतीय भाषाओं में नृत्य एवं नाट्य विधान पर लिखा गया है। 17वीं शताब्दी में त्रवणकोर राज्य के महाराजा बीरकोरल वर्मा ने इस लोक कला को नया रूप दिए और कथकलि कहा। त्रवणकोर के शासक बलराम वर्मा (1724–98) रचित बलराम भरतम् में विभिन्न भंगिमा जिसमें घुटनों के विभिन्न स्थिति तथा पांव–फैलाव आदि का वर्णन कथकलि नृत्य नाट्य के संदर्भ में किया गया है, जो आज कथकलि की गतिविधि या क्रिया में दिखाई देता है।[8] कथकलि में उपयोग किए जाने वाले संगीत मुख्यतः जयदेव के गीत–गोविंद से प्रभावित हैं।[9] कथकलि के नर्तक स्वयं कुछ नहीं गाते हैं। नर्तक मूक अभिनय करते हैं और उनकी सभी मुद्राएं और भंगिमाएं शरीर और चेहरे से प्रकट होती है। पृष्ठभूमि में गायन और वादन चलता रहता है यद्यपि नर्तक पूर्ण मौन धारण कर अभिनय और मुद्राओं के माध्यम से कथा को प्रस्तुत करते हैं। गीतकारों का एक दल लगातार काव्य और महाकाव्यों का पाठ करते रहते हैं। अन्य शास्त्रीय नृत्यों में श्रृंगार की प्रधानता रहती है यद्यपि कथकलि में सभी नौ रसों का संतुलित उपयोग होता है। मृदंग रुद्रवीणा और बांसुरी की संगत पर नर्तक के पांव के घुंघरु नवरसों की सृष्टि करते हैं।

कथकलि के परिधान में एक रंगबिरंगा घाघरा और चुस्त जाकेट प्रमुख है। अभिनय के अनुरूप केशसज्जा और श्रृंगार किया जाता है। मुकुट, कुंडल, चूड़ी, कवच, नुपूर आदि से सज्जा की जाती है। [10] इस नृत्य में चेहरे का खूब श्रृंगार किया जाता है। इसमें चेहरा लाल और पीले रंगों से रंग दिया जाता है। आंख और बरौनी पर सफेद धारी लगा दी जाती है। इस सफेद धारी को छट्ठी कहते हैं। कथकलि के मुकुट का भी खास महत्त्व है क्योंकि इससे उस कलाकार के स्तर का पता चलता है। इस तरह कथकलि ने केरल के प्राचीन नृत्य नाटक जैसे कुट्टीयटम् तथा यक्कीयारकुथु की प्राचीन परंपरा को जारी र खा है। कथकलि नृत्य नाट्य रात भर चलता है। नृत्य की शुरुआत के पहले चइदकरन होता है जिसमें ढोलक बजाया जाता है। इस नृत्य के मंचन के तुरंत पहले एक अभ्यास सत्र होता है जिसे सेवाकलि कहा जाता है जो मंदिर परिसर में संपन्न होता है। कथकलि परंपरा में जो चरित्र निभाते हैं वे अर्ध्य–मानव–अर्ध्य–शेर (नरसिंह) जोकि प्रहलाद् चरित्रम् में, अर्ध्य–मानव तथा अर्ध्य–पक्षी जो हमसा नल चरित्रम् में निभाया जाता है। इसके साथ ही कीचक वध, दक्ष यज्ञ, सीता स्वयंवर, लव–कुश प्रकरण किए जाते हैं। 20वीं शताब्दी के शुरूआत में कर्मकांडीय नृत्य नाट्य परंपरा जैसे तेय्यम्, भगवती उपासना चलता रहा साथ ही मंदिर नृत्य में कृत्रिम कर्मकांड खासतौर पर कुडीयट्टम्, कथकलि, कृष्णट्टम् एवं रामनट्टम् छोटा तथा टुकड़ों में चलता रहा। कथकलि को एक नई पहचान एवं संवारने में केरल के प्रसिद्ध कवि और नर्तक स्वर्गीय वल्लाथोल ने अथक परिश्रम किए। वल्लाथोल ने कथकलि को एक नया जीवन दिए तथा 1932 ई. में केरल कला मंडलम् की शुरूआत किए, हालांकि 1936 ई. से स्थापित रूप में कार्य किया। इन्होंने विशिष्ट गुरु राममुनी मेनन, कुंजू कुरूप आदि को इकट्ठा किया तथा कथकलि को पूर्ण आयाम दिया।[11] कथकलि के कलाकार स्वर्गीय शंकरम् नंबोदरी, गोपीनाथ, श्री कलामंडलम् रमणकुट्टी नायर, वासुदेवन नंबोदरी, चतुन्नी पाणिकर, शांता राव, मिनल देवी, रूपांडे, आदि हैं।

कथक

शास्त्रीय नृत्यों में सर्वाधिक लोकप्रिय कथक नृत्य है। जिसे नटवरी नृत्य भी कहा जाता है। यह नृत्य मुख्य रूप से उत्तर भारत के राजस्थान, पंजाब, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, बंगाल आदि राज्यों में लोकप्रिय है। कथक शब्द की उत्पत्ति कथा शब्द से हुई है। **'कथानं करोति कथकः'** अर्थात् जो कथा करता है वह कथक है।[12] कथक नृत्य का केन्द्रीय तत्व कथा है। यह माना जाता है कि एक समुदाय जो कहानियां कहता था और इसे नाटक के रूप में खेलता भी था। जैन साहित्य में भी मनोरंजन करने वाले एक खास समुदाय का उल्लेख किया गया है जिन्हें 'कहग' कहा गया है। पाली (बौद्ध) शब्द–कोशों में कथक शब्द का प्रयोग एक उपदेशक

के लिए किया गया है।[13] महाभारत, पुराण तथा नाट्यशास्त्र में भी कथक का उल्लेख किया गया है। इसके साथ ही शारंगदेव रचित संगीतरत्नाकर (13वीं शताब्दी) में कथक की विस्तृत जानकारी मिलती है। कथक आज जिस रूप में मौजूद है उसका श्रेय अवध के नवाबों में खासकर नवाब वाजिद अली शाह को जाता है उन्होंने ही कथक नाम भी दिया।

कथक अपने शुरूआती दौर में मंदिर के प्रांगण तक सीमित था जिसे कीर्तन, भजन एवं ईश्वर की भक्ति के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता था। पूर्व मध्यकालीन भारत (800–1300 ई.) में मंदिरों में जनसाधारण के लिए कथावाचकों द्वारा पौराणिक कथाएं हुआ करती थीं। कथा के बाद कीर्तन होती थी जिसमें नट (भरत भी कहा जाता है) नृत्य करते थे। आगे चलकर नटों ने स्वयं कथा कह–कहकर नृत्य करना प्रारंभ कर दिया। एक ही व्यक्ति द्वारा आकर्षक वस्त्र पहनकर हाव–भाव दर्शाकर, अभिनय मिश्रित नृत्य के साथ कथाओं का प्रस्तुतीकरण दर्शकों को खूब भाया और काफी लोकप्रिय हुई। धीरे–धीरे नट कथक या कत्थक कहलाने लगे।[14] कथक नृत्य के साथ दो मुख्य वाद्ययंत्रों तबला और पखावज का उपयोग होने लगा। अभिनय के तीनों अंग नृत्त (ताल, लय), नृत्य (अभिनय) एवं नाट्य (गत भाव) का अनुसरण किया जाने लगा। कथक में भी अन्य भारतीय शास्त्रीय नृत्य शैली की तरह मुख्य तीन तत्त्व नृत्त (Nṛtta), नृत्य (Nṛtya) एवं नाट्य (Nātya) हैं।

नृत्त में ताल एवं लय मुख्य होते हैं जिसमें संगीत की ताल पर शरीर के विभिन्न अंगों को लचकाया जाता है और फर्श पर पैर पटककर संगीत के साथ ताल एवं लय को बनाए रखा जाता है। साथ ही नृत्य जिसमें अभिनय के माध्यम से नर्तकी विभिन्न मुद्राओं और भंगिमाओं की सहायता से कथा गाती एवं वर्णित करती है। नाट्य जिसमें गत भाव के माध्यम से रामायण, महाभारत, भागवत एवं पुराणों के लोकप्रिय जैसे कृष्ण लीला में माक्खन चोरी, गोवर्द्धन लीला, कालीय दमन, द्रौपदी वस्त्रहरण, नरसिंह अवतार, सीता स्वयंवर, मारीच वध तथा अहिल्या उद्धार आदि प्रस्तुत किया जाता है।[15] कथक के कलाकार शेरवानी, चूड़ीदार पायजामा, अलंकृत टोपी, अंगरखा आदि पहनते हैं इस परिधान पर इस्लाम एवं राजपूत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है।

भरत रचित नाट्यशास्त्र में उल्लेख तथा मुगल राज्य सत्ता के उदय से पहले कथक मुख्य रूप मंदिरों में संपन्न होती थी जिसमें भक्ति (राम और कृष्ण) रस प्रधान था। हिन्दी साहित्य में यह काल रीतिकाल के रूप में जाना जाता है जिसमें ब्रज कविता मुख्य रूप से था। इस काल में सुरदास, मीरा बाई, केशव दास आदि संतों की भक्ति ईश्वर में थी।[16] तथापि मुगल राज्य सत्ता उदय एवं प्रभावों के पश्चात् कथक की यात्रा मंदिरों से राजदरबार की ओर अग्रसर हुई और भक्ति के स्थान पर श्रृंगार रस को प्रधानता मिली। जिसके प्रभाव से नृत्याचार्यों तथा देवदासियों को शहंशाहों की महफिल में कभी भय

तथा कभी चांदी के सिक्कों की खनक ने खींच लाया। इसका सीधा असर कथक के व्यक्तित्व पर पड़ा। परिणामस्वरूप कथक भाव प्रदर्शन से पैरों के संतुलन की ओर मुड़ गया और धीरे–धीरे मुगल काल में ही यह नृत्य पैरों का तमाशा बन गया। इस बदलाव का प्रभाव नृत्य के संपूर्ण स्वरूप पर पड़ा। मुगलई अंदाज, राजदरबारी तहजीब इसका आवश्यक हिस्सा बन गए। कथक की पूरी शब्दावली जो पहले संस्कृतनिष्ठ थी, उर्दू शब्दों में परिवर्तित हो गई। नृत्य का एक अलग ही शास्त्र बनाया गया, जैसे अवतरण, वंदना और अभ्यास जैसे शब्दों का स्थान आमद, सलामी और रियाज ने ले लिया। नृत्यकारों के वस्त्रों में भी राजसी–बू झलकने लगी।[17] अकबर (1556–1605) के काल में कथक को भरपूर प्रोत्साहन मिला। मुगल राजदरबार में प्रोत्साहन का साक्ष्य इस काल के लेखन अकबरनामा (1591–1598), तारीख–ए–खानदान–ए–तिमुरिया (1574–1594) आदि में उल्लेख मिलता है।

इस काल के जैन साहित्य देव संपदा कल्पसूत्र (1475–1500) तथा जामनगर कल्पसूत्र (1501 ई.) में भी कथक का चित्रांकन किया गया है। इस तरह मध्यकाल के साहित्यों, मूर्तिकला तथा चित्रकला में कथक नृत्य का चरित्र प्रदर्शित होता है। हालांकि अकबर के पश्चात् कथक में ठहराव आया तथापि अवध के शासक नवाब वाजिद अली शाह (1847–1856) का युग एक बार फिर कथक के लिए अमृतपात्र लेकर आया। इन्होंने अख्तर पिया के नाम से अनेक ठुमरियों की रचना की और ठाकुर प्रसाद को गुरु बनाकर कथक की शिक्षा भी प्राप्त की। कथक का कथकनटवरी नृत्य नाम भी उन्हीं की देन है। इसके पश्चात् कथक नवीन स्वरूप में आगे बढ़ता गया जिसे समर्पित कलाकारों ने एक नवजीवन दिया। जो आज भी हमारे संस्कृति में प्रतिष्ठित है। कथक में मूल रूप से लखनऊ, बनारस, जयपुर, तथा रायगढ़ (छत्तीसगढ़) घराने हैं। लखनऊ घराने से कथक नृत्य को उच्चतम अवस्था में पहुँचाने वाले मुख्य कलाकार पं. ईश्वरी प्रसाद, ठाकुर प्रसाद महाराज, बृंदादीन महाराज, कालका दीन महाराज, अच्छन महाराज, लच्छू महाराज, शंभू महाराज, गोपीकृष्ण, बिरजू महाराज एवं नर्तकियों में मेनका, तारा चौधरी, सितारा देवी, दमयंती जोशी आदि हैं। बनारस घराने में पूरन लाल, दूल्हाराम, गणेश लाल तथा कृष्ण कुमार जी आदि हैं। जयपुर घराने में मोहनलाल, चिरंजी लाल, नारायण प्रसाद, हनुमान प्रसाद, कुन्दनलाल गंगानी, हरिप्रसाद आकाशचारी, चक्करदार परन, जय कुमारी तथा खेमचंद प्रकाश आदि है। इसके साथ ही जिन्होंने सामूहिक रूप से कथक नृत्य को अपनी सेवा दी उनमें श्रीमती रुक्मणी अरुण्डेल (श्री नीलकंठ शास्त्री की पुत्री), वैजयन्ती माला (नायिका), कुमदिनी लखिया, श्रीमती रेखा विद्यार्थी, शोवना नारायण (इनके गुरु जयपुर घराने के कथकाचार्य पं. कुन्दनलाल गंगानी), रानी कर्णा, रोहिणी भाटे, उमा शर्मा, आदि महान कलाकार हुए।

संदर्भ

1. कपिला वत्स्यायन, *इडियन क्लासिकल डांस*, तृतीय संस्करण, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2007 पृ. 20
2.उपरोक्त, पृ. 21
3.राजेन्द्र मिलन एवं सुशील सरित, *कथा कथक की*, प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली, 2002, पृ. 17
4.कपिला वत्स्यायन, 2007 पृ. 22
5.राजेन्द्र मिलन एवं सुशील सरित, 2002, पृ. 18
6.कपिला वत्स्यायन, 2007, पृ. 33–35
7.राजेन्द्र मिलन एवं सुशील सरित, 2002, पृ. 19
8.कपिला वत्स्यायन, 2007, पृ. 36
9.उपरोक्त, पृ. 34
10.राजेन्द्र मिलन एवं सुशील सरित, 2002, पृ. 20
11.कपिला वत्स्यायन, 2007, पृ. 37
12.राजेन्द्र मिलन एवं सुशील सरित, 2002, पृ. 21
13.उपरोक्त, पृ. 21
14.उपरोक्त, पृ. 22
15.अमित दत्त, 'सम इण्डियन डान्स फोर्म्स'. संपा. कपिला वत्स्यायन, एवं डी.पी. चट्टोपाध्याय, *एसथेटिक थ्योरीज एण्ड फोर्म्स इन इण्डियन टेडिशन*, अध्याय–21, नई दिल्ली, 2008, पृ. 442–448
16.कपिला वत्स्यायन, 2007, पृ. 78
17. राजेन्द्र मिलन एवं सुशील सरित, 2002, पृ. 23
18. कपिला वत्स्यायन, 2007, पृ. 78–79

With Best Compliments from

ASIAN RESOURCE FOUNDATION, INDIA

(An NGO Registered Under Trust Act)
Kalgachia, Barpeta, Assam, PIN-781319
E-mail: arfindia2016@gmail.com

We work for:

* Capacity building of local organizations through management and leadership training, cultural promotion, indigenous technology, environmental rehabilitation and harmonic relations.
* To cooperate with the academic institutions in research works and sustainable development policy and facilitate exchange experiences through meetings seminars and publications.
* To mobilize funds through donations and support education for children, youth and women and income generating activities to improve quality of life of the rural and urban poor and under privileged people.
* To establish educational institution/s for development of scientific temperament and for generating human resources.